इतिहास प्रवेश

भारतीय इतिहास का उन्मीलन

जयचन्द्र विद्यालंकार

पाँचवाँ संस्करण : 1957

प्रकाशक

हिन्दी भवन

इलाहाबाद-3

इतिहास-प्रवेश

(भारतीय इतिहास का उन्मीलन)

प्रारम्भिक काल से आज तक

लेखक

जयचन्द्र विद्यालंकार

प्रकाशक

हिन्दी-भवन

जालन्धर और इलाहाबाद

प्रकाशक—
इन्द्रचन्द्र नारंग
हिन्दी-भवन
३१२ रानी मंडी
इलाहाबाद-३

पहला संस्करण	१६३८-४०
दूसरा संस्करण	१६४१
तीसरा संस्करण	१६४६
चौथा संस्करण	१६५२
पाँचवाँ संस्करण	१६५६-५७

मुद्रक—
इन्द्रचन्द्र नारंग
कमल मुद्रणालय
३१२ रानी मंडी

ग्रंथकार का आदर्श

वन्द्यः कोऽपि सुधास्यन्दास्कन्दी स सुकवेर्गुणः ।
येनायाति यशःकायः स्थैर्यं स्वस्य परस्य च ॥
कोऽन्यः कालमतिक्रान्तं नेतुं प्रत्यक्षतां क्षमः ।
कविप्रजापतींस्त्यक्त्वा रम्यनिर्माणशालिनः ॥
न पश्येत्सर्वसंवेद्यान् भावान् प्रतिभया यदि ।
तदन्यद् दिव्यदृष्टित्वे किमिव ज्ञापकं कवेः ॥
कथादैर्घ्यानुरोधेन वैचित्र्येऽप्यप्रपञ्चिते ।
तदत्र किंचिदस्त्येव वस्तु यत्प्रीतये सताम् ॥
श्लाघ्यः स एव गुणवान् रागद्वेषबहिष्कृता ।
भूतार्थकथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती ॥

(कल्हण की उक्ति लग० ११४९ ई० की)

सुधा के स्राव को मात करने वाला क्रान्तदर्शी लेखक का वह कोई गुण—इतिहास लिखने की योग्यता—वन्दनीय है जिससे अपना और दूसरों का भी यशःकाय स्थायी हो जाता है ।

रम्य निर्माण करने वाले ऐतिहासिक स्रष्टाओं को छोड़ कर और कौन बीते काल को प्रत्यक्ष बना कर दिखा सकता है ?

सर्वसाधारण के वेदनागत भावों को यदि अपनी प्रतिभा से न देखे तो कैसे जाना जाय कि ऐतिहासिक में सच्ची अन्तर्दृष्टि है ?

कहानी लम्बी होने के कारण विविध बातों का प्रपंच नहीं किया जा सका, तो भी इस कृति में सहृदयों को साहित्यिक दृष्टि से भी कुछ खिंचाव तो लगेगा ही ।

वही गुणवान् प्रशंसा के योग्य है सच्चे न्यायाध्यक्ष के समान जिसकी वाणी राग द्वेष से परे रहती हुई तथ्यों को जैसे का तैसा कहती है ।

(उपर्युक्त का १९५६ ई० की भाषा में अनुवाद)

प्रस्तावना

§१. इतिहास का अर्थ—"इतिहास राष्ट्र का आत्मपर्यवेक्षण आत्मानुचिन्तन आत्मस्मरण और आत्मानुध्यान है"*—वह अतीत की ज्योति से अपने वर्तमान स्वरूप को पहचानने और भविष्य के मार्ग को उजियारा करने की चेष्टा है। राष्ट्र की आत्मानुभूति अपने इतिहास के स्मरण द्वारा होती है। संसार की जीवनधारा में किसी राष्ट्र के लोग अपना यथोचित कार्य कर सकें इसके लिए यह आवश्यक है कि वे ठीक ऐतिहासिक दृष्टिक्रम से अपनी स्थिति को देखें पहचानें।

§२. भारतीय इतिहास का पुनरुद्धार—हम भारत के लोग अपने इतिहास को बहुत कुछ भूल गये थे और उसके कुछ अंशों की याद यदि हमें थी भी तो अत्यन्त उलटपुलट और धुँधली। इसी से हम अपनी उपस्थित स्थिति को भी ठीक देख समझ न पाते और यही हमारे पराभव का मुख्य कारण हुआ। हमारे इतिहास का पुनरुद्धार अक्षरशः टुकड़े टुकड़े कर के हुआ। उस पुनरुद्धार का आरम्भ तब हुआ जब युरोपियों ने आ कर हमारे देश की प्राकृतिक स्थिति और हमारी दशा को ठीक ठीक समझना चाहा और इसलिए हमारे अतीत के बारे में पूछने जाँचने लगे। अठारहवीं शताब्दी के मध्य से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक युरोपियों के मुकाबले में भारत के लगातार पराभव की चोट से भारत का नव जागरण आरम्भ हुआ, जिसकी प्रेरणा से बहुत से भारतीयों की भी अपने अतीत के बारे में जिज्ञासा जगी और वे भी उस नई खोज में लग गये। उस खोज से निकले टुकड़ों को जोड़ कर भारत का पहला पूर्ण इतिहास १८९५ ई० में हरप्रसाद शास्त्री ने पेश किया।† उसके

---

* जयचन्द्र विद्यालंकार (२५-४-१९३६)—अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन नागपुर की इतिहास परिषद् के सभापति पद से अभिभाषण।

† हरप्रसाद शास्त्री (१८९७)—ए स्कूल हिस्टरी ऑफ़ इंडिया (भारत का पाठ-

बाद कई अंग्रेजों ने भी वैसे इतिहास लिखे और भारत की शिक्षा का पूरा नियन्त्रण अंग्रेज़ों के हाथ में रहने से वे खूब चले भी। किन्तु इन अंग्रेज़ी इतिहासों में भारत के अतीत को ठीक रूप में और ठीक दृष्टिक्रम से पेश किया जाने के बजाय बहुत कुछ बेढंगे रूप में या तोड़ मरोड़ कर पेश किया जाता रहा।

§ ३. **भारत के अंग्रेज़ी इतिहास**—अंग्रेज़ों द्वारा हमारे इतिहास की यों छीछालेदर होने के तीन कारण थे। एक तो यह कि "अपने इतिहास को समझने के लिए जो अन्तर्दृष्टि हममें हो सकती है, वह विदेशियों में नहीं हो सकती" *। "किसी राष्ट्र के अतीत इतिहास के पुनर्ग्रथन में उस राष्ट्र की सन्तानों को ऐसी सुविधाएँ प्राप्त होती हैं जिन्हें कोई भी विदेशी ... नहीं पा सकता। ... हम (अपने) ऐतिहासिक अतीत के जीवित अवतार हैं; वह अतीत हमारे खून और हमारी हड्डियों में, हमारे विचार और विश्वास में व्याप्त है।"† फलतः विदेशियों के लिए, चाहे वे कितने ही निष्पक्ष हो कर विचार क्यों न करें, अनेक बार हमारे इतिहास की मूल प्रेरणाओं और प्रवृत्तियों को समझना बहुत कठिन होता है। दूसरे, १८७० ई० के लगभग से युरोप की विश्वप्रभुता और युरोपी भूमि और नृवंश की श्रेष्ठता का विचार युरोपी अभिजात वर्ग के दिमाग पर इस तरह आविष्ट हो गया और उस आवेश का रंग उनकी आँखों पर इस तरह छा गया कि इतिहास अथवा विद्यमान मानव जीवन के किसी भी पहलू को वे उस विचार का रंग दिये बिना देख ही न पाते रहे। उन्नीसवीं शताब्दी के पिछले और बीसवीं के पहले अंश का युरोप का बहुत सा ऐतिहासिक और सामाजिक चिन्तन इस विचार से दूषित रहा। पर इन सूक्ष्म कारणों के अतिरिक्त एक बहुत ही स्पष्ट और स्थूल कारण था जिससे अंग्रेज़ लेखक हमारे

शालोपयोगी इतिहास)। यह ग्रंथ पहले १८६५ में बँगला में निकला था। वह मूल बँगला ग्रंथ मुझे देखने को नहीं मिला।

* जयचन्द्र विद्यालंकार (२५-१२-१९३७)—बिहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन आरा की इतिहास परिषद् के सभापति पद से अभिभाषण।

† यदुनाथ सरकार (३०-१२-१९३७)—भारतीय इतिहास परिषद् आरम्भिक अधिवेशन बनारस के सभापति पद से अभिभाषण।

इतिहास को तोड़ मरोड़ कर पेश करते रहे। उनका इसमें सीधा स्वार्थ था। विंसेंट स्मिथ की "औक्सफर्ड हिस्टरी आव इंडिया" की आलोचना करते हुए अपने ज़माने के भारत के प्रमुख समाजशास्त्री अध्यापक विनयकुमार सरकार ने लिखा था—"ऐतिहासिक दृष्टिक्रम से देखने की योग्यता का श्री स्मिथ के लेखों में प्रायः अभाव है।··· औक्सफर्ड हिस्टरी में एक और पक्षपात का भाव है जो कि उन निहित स्वार्थों और उपस्थित शक्तियों की तरफ से, जिनकी सेवा में स्मिथ की विद्वत्ता जुती हुई है, राजनीतिक प्रचार करने के कारण पैदा हुआ है। वह ग्रन्थ भारतीय विद्यालयों के छात्रों द्वारा पाठ्य पुस्तक रूप में रटा जाने को है, इसलिए (उन्हें) घटनाओं को इस प्रकार जुटाना था कि दौड़ते आदमी को भी 'गोरों के बोझे' का युक्तिसंगत होना प्रमाणित दिखाई दे जाय ···।"*

§४. **भारतीय दृष्टि से इतिहास का मनन**—अध्यापक सरकार की इस आलोचना से प्रकट है कि भारत के नव जागरण से प्रेरित वे विद्वान् जिन्हें अंग्रेज़ी ज़माने में भी स्वतन्त्र सोचने और बोलने की हिम्मत थी, अंग्रेज़ों की भारतीय इतिहास विषयक कृतियों की त्रुटियों को बराबर देखते दिखाते रहे। इससे बढ़ कर, वे भारतीय दृष्टि से अपने इतिहास का मनन कर उसके अनेक पहलुओं को पेश करते रहे। हरप्रसाद शास्त्री, म० गो० रानाडे, रमेशचन्द्र दत्त, गौ० ही० ओझा, वि० का० राजवाडे, गो० स० सरदेसाई, काशीप्रसाद जायसवाल, यदुनाथ सरकार, वामनदास वसु, राखालदास बनर्जी, तारकनाथ दास आदि विद्वानों की परम्परा ने भारतीय दृष्टि से अपने इतिहास को खोजने पेश करने का संघर्ष बराबर जारी रक्खा। इस दिमागी संघर्ष में यह भावना कभी न रही कि अपने इतिहास के बुरे पहलुओं को छिपाया या लीप पोत कर दिखाया जाय। प्रत्युत इन विद्वानों ने विभिन्न युगों में भारतीयों की अवनति या अधोगति की दशाओं और कारणों पर जैसा प्रकाश डाला वैसा कोई विदेशी न डाल सकता। यह बात स्पष्ट रूप से कही जाती रही कि "राष्ट्रीय दृष्टि से अपने इतिहास के

---

* वि० कु० सरकार (१६१६)—पोलिटिकल साइंस क्वार्टर्ली न्यूयौर्क जि० ३४ पृ० ६४५–४६।

मनन का यह अर्थ हरगिज़ नहीं कि हम अपने राष्ट्र की कमज़ोरियों को नज़रन्दाज़ करें। उलटा उन्हीं को समझने के लिए हमें अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। और हमीं उन्हें ठीक समझ सकते हैं।"† "राष्ट्रीय इतिहास घटनाओं के वर्णन में सच्चा और उनकी व्याख्या करने में तर्कसंगत होना चाहिए ···। वह राष्ट्रीय होगा इस अर्थ में नहीं कि हमारे अतीत की किन्हीं लज्जास्पद घटनाओं को छिपाने या लज्जास्पद चरित्रों पर सफेदी पोतने की कोशिश करेगा।"*

और इस राष्ट्रीय प्रयत्न की परम्परा में जहाँ भारतीय इतिहास के अनेक पहलू स्पष्ट किये जाते रहे, वहाँ समूचे भारतीय इतिहास को भारतीय दृष्टि से उपस्थित करने की माँग भी बराबर बनी रही। अध्यापक विनयकुमार सरकार ने अपने उस लेख में १९१९ में ही कहा था—"स्मिथ ने जिस सामग्री को बरता है, कोई भारतीय विद्वान् उसी का उपयोग करता तो एक सिरे से दूसरे सिरे तक बिलकुल दूसरी कहानी पेश करता।" भारतीय "प्राच्य" सम्मेलन (ओरियंटल कान्फ़रेंस) के छठे अधिवेशन (पटना १९३०) के सभापति पद से डा० हीरालाल ने कहा था—"इस वेला विशेष कर एक बड़ी आवश्यकता उत्कट रूप से अनुभव होती है और वह है भारतीय दृष्टि से लिखे हुए इतिहास की।" १९३८-३९ में इस ग्रन्थ का प्रथम प्रकाशन उसी आवश्यकता के उत्कट अनुभव का फल था।

जैसा कि इस ग्रन्थ की आलोचना करते हुए डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्ये ने लिखा था—भारतीय दृष्टि से इतिहास कहने का अर्थ अथ से इति तक शुद्ध विज्ञान और सत्य को प्रकाश में लाना और वर्गविशेष (या जातिविशेष) की उत्कृष्टता के विचार की गुलामी से मुक्ति दिलाना ही था, और कुछ नहीं।‡ अंग्रेज़ लेखक अपने लिखे इतिहासों में यह दिखाने का प्रयत्न करते कि युरोपी भूमि नृवंश और सभ्यता भारत की भूमि नृवंश और सभ्यता से उच्चतर हैं। भारत के युवक-युवतियों में इस प्रकार के विचार फैलने से भारत में अंग्रेज़ी

† ज० च० विद्यालंकार (१९३७)—पूर्वोक्त आरा अभिभाषण।

* यदुनाथ सरकार (१९३७)—पूर्वोक्त बनारस अभिभाषण।

‡ सुनीतिकुमार चाटुर्ज्ये (१९४१)—कलकत्ता रिव्यू, फ़रवरी १९४१।

राज की बुनियादें दृढतर होतीं इसलिए उनका ऐसा प्रयत्न स्वाभाविक था। स्वतन्त्र भारतीय ऐतिहासिक उनकी इन स्थापनाओं को जाँचते तो इनमें अनेक हेत्वाभास देखते, जिनका प्रत्याख्यान करते हुए मनुष्य मात्र की समानता दिखाना उनका कार्य होता। यों अंग्रेज़ लेखक भारतीय इतिहास के सत्यों को क्यों धुंध से ढकने का जतन करते रहे, और "भारतीय दृष्टि" से इतिहास प्रस्तुत करने वाले क्यों शुद्ध सत्य को प्रकट करने में अपनी शक्ति लगाते रहे, इसका स्पष्ट कारण था।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन से अध्यापक विनयकुमार सरकार की १९१९ की भविष्योक्ति पूरी तरह सत्य सिद्ध हुई। मेरी पेश की हुई कहानी अंग्रेज़ों द्वारा चलाई हुई कहानी से "बिलकुल दूसरी" है, यह तो इसके प्रत्येक पन्ने से प्रकट होगा। किन्तु इसकी मुख्य विशेषताओं की ओर ध्यान दिलाने की आवश्यकता है, जो कि यहाँ बहुत संक्षेप से किया जायगा।

§५. **भारतीय इतिहास का युगविभाग**—अंग्रेज़ों ने हमारे राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास में काल का फिरकेवार बँटवारा चलाया। उदाहरण के लिए "कैम्ब्रिज शौर्टर हिस्टरी" में वैदिक युग से विजयनगर के पतन तक "हिन्दू काल" की कहानी पहले दी गई है। फिर आठ शताब्दियाँ पीछे लौट कर भारत में इस्लाम के प्रवेश की बात से "मुस्लिम काल" की कहानी आरम्भ की गई है जो १८५७ में बहादुरशाह दूसरे के पतन के साथ समाप्त होती है। फिर चार शताब्दी पीछे लौट कर पुर्तगालियों के भारत आने के वृत्तान्त से "ब्रितानवी काल" आरम्भ किया गया है। इस विभाजन की बेहूदगी मैंने सन् १९३६ में अपने नागपुर अभिभाषण में दिखाई थी।

सातवीं शताब्दी के मध्य से इस्लाम भारत की सीमाओं पर टकराने लगता और आठवीं के शुरू में सिन्ध में स्थापित हो जाता है। इन घटनाओं की उपेक्षा करके क्या प्रतिहार और राष्ट्रकूट साम्राज्यों और उस युग के अन्य हिन्दू राज्यों का ठीक चित्र अंकित किया जा सकता या उनके प्रशासकों की मनःस्थिति की ठीक व्याख्या की जा सकती है? राजेन्द्र चोळ और भोज की कहानी आप "हिन्दू काल" में कह चुकते हैं, और महमूद गज़नवी की 'मुस्लिम

काल' में लाते हैं। तीनों की समकालीनता पर ध्यान दिये बिना क्या भोज का या महमूद का या राजेन्द्र का भी ठीक चरित समझ में आ सकता है? १४वीं शताब्दी के आरम्भ की भारत की दुर्दशा को स्पष्ट किये बिना विजयनगर के उदय की कहानी कहना आकाश में चित्र बनाने के समान है। १६वीं १७वीं शताब्दियों में भारत के तट की युरोपी बस्तियों से भारत के सब बड़े राज्य गोलाबारूद तोपें और तोपची पाते थे। उन युरोपी बस्तियों और उनके साथ भारतीय समुद्र में मँडराने वाले युरोपी चांचियों (जल-डाकुओं) का वृत्तान्त जाने बिना क्या मुगल-मराठा युग के प्रशासकों की परिस्थिति और मनःस्थिति समझी जा सकती है? १७४०-५१ ई० में मराठों को पहलेपहल स्थल-युद्ध की नई युरोपी शैली से वास्ता पड़ा। उस शैली को अधूरा समझ कर पानीपत में उन्होंने उसे बरतना चाहा और यही उनकी हार का कारण हुआ। युरोपी शक्ति के उदय की बात आप 'ब्रितानवी काल' में बतायेंगे और पानीपत की कहानी उससे पहले समझा देना चाहेंगे। क्या यह सम्भव है? पलाशी की लड़ाई १७५७ ई० में हुई और पानीपत की १७६१ में। पर आप पानीपत की कहानी पहले कहते हैं और पलाशी की पीछे! पलाशी के २३ मास बाद रुहेलों का नेता मराठों से समझौते की मिन्नत करता है, पर वे उसकी नहीं सुनते और पंजाब पर चढ़ाई करते हैं। यह बात कितने महत्त्व की है, पर आप पानीपत की कहानी पलाशी से पहले कहते हैं तो आपकी नज़र में यह नहीं आ सकती और यों आप उस युग के इतिहास के तत्त्व को देखने से चूक जाते हैं।

किसी भी युग की समूची परिस्थिति में से एक अंश को साम्प्रदायिक कारण से अलग काट रख कर जो चित्र खींचा जायगा, उसकी पृष्ठभूमि गलत होने से वह मूलतः गलत होगा। "भारतवर्ष के इतिहास को यों मजहबी ढाँचे पर चढ़ाना जीवित प्राणी को काठ के शिकंजे में कसना है।"† "भारतीय इतिहास का साम्प्रदायिक युगविभाग ... एक तरफ उभरा हुआ, एक तरफ पिचका हुआ और बीच बीच में उखड़ा हुआ आइना है जो हमारे इतिहास

---

† नागपुर अभिभाषण।

को अत्यन्त विरूप बना कर दिखाता है।"*

ऊपर के विवेचन से यह भी प्रकट होना चाहिए की अंग्रेज़ों के गढ़े हुए युगों के केवल नाम बदल देने से—'हिन्दू' 'मुस्लिम' और 'ब्रितानवी' 'कालों' को प्राचीन मध्य और अर्वाचीन काल कह देने से—कोई अन्तर नहीं पड़ता, जब तक कि उनके भीतर का विषय-विभाजन उसी ढंग का है। और बारहवीं शताब्दी तक के समूचे काल को प्राचीन और उन्नीसवीं शताब्दी मध्य तक के काल को मध्य काल कहना है भी गलत। कालक्रम से भारत की पूरी परिस्थिति को देखते हुए और उसके राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन के पूरे विकास को टटोलते हुए उस विकास की जो मंजिलें प्रकट होती हैं, वही भारतीय इतिहास के ठीक युगविभाग को सूचित करती हैं। जहाँ तक मुझे मालूम है, अंग्रेज़ों ने भारतीय इतिहास को साम्प्रदायिक युग-विभाग के जिस काठ के शिकंजे में कसा था उससे उसे छुड़ा कर पूरे भारतीय इतिहास का राष्ट्रीय जीवन की विकास-मंजिलों का सूचक युगविभाग पहलेपहल सन् १९३६ में मेरे नागपुर अभिभाषण में ही प्रकट किया गया। देश के प्रमुख विचारकों ने उसकी सत्यता स्वीकार की। इस ग्रंथ का ढाँचा वही है।

इस ग्रंथ के मनन से उस युगविभाग की स्वाभाविकता स्पष्ट दिखाई देगी। यहाँ केवल इतनी बात की ओर और ध्यान खींच दिया जाय कि नागपुर अभिभाषण वाला यह युगविभाग भारत की सांस्कृतिक परिणति की मंजिलें वैसी ही स्पष्ट दिखाता है जैसी राजनीतिक की, यह बात राय कृष्णदास जैसे भारतीय कला इतिहास के मर्मज्ञ ने उस युगविभाग को अपनाते हुए बार बार दोहराई है। भारतीय कलाकृतियों का बौद्ध जैन हिन्दू मुस्लिम आदि शीर्षकों में बँटवारा उनके विषय में बड़ी भ्रान्ति उत्पन्न करता रहा है। "अपने देश की कला में कभी सम्प्रदायपरक भेद नहीं रहा है। उसमें जो कुछ अन्तर है सो राजनीतिक युग वा काल-परक है।"†

* ज० च० विद्यालंकार (१८-६-१९३८)—अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन शिमला में इतिहास-परिषद् के सभापति पद से अभिभाषण।

† कृष्णदास (१९३९)—भारत की चित्रकला पृ० ७११

§६. **समूची सामग्री का सामञ्जस्य**—प्रत्येक काल की पूरी परिस्थिति पर जैसे ध्यान देना चाहिए, वैसे ही उसके इतिहास की समूची सामग्री का सामञ्जस्य करके तथ्यों का निश्चय करना चाहिए। साम्प्रदायिक-दृष्टि-ग्रस्त लोग ऐसा नहीं करते रहे। उदाहरण के लिए, सल्तनत युग चूँकि उनकी दृष्टि में मुस्लिम युग है, इसलिए उसका इतिहास वे मुस्लिम तवारीखों के आधार पर उनकी यथेष्ट जाँच किये बिना ही बनाते रहे। इस कारण उनके चित्र अनेक बार कितने एकतरफा और गलत बने इसका कुछ आभास इस ग्रन्थ में महमूद गजनवी का चरित [७,५§६] अथवा परिशिष्ट ६ अंश २ पढ़ने से और विशेष पता इसके पर्व ७ अध्याय ३ और सल्तनत पर्व का उनके इन्हीं प्रकरणों से मिलान करने से मिलेगा। सब तरफ की सामग्री का सामञ्जस्य करके इस युग के इतिहास के पुनर्निर्माण की पद्धति पहलेपहल मेरे स्वर्गीय गुरु पं० गौ० ही० ओझा, स्व० राखालदास बनर्जी तथा स्व० सा० कृष्णस्वामी ऐयंगर ने अपने राजस्थान बंगाल और उड़ीसा तथा दक्खिन भारत के इतिहासों में दिखाई थी। इस ग्रन्थ में समूचे भारत के लिए वही पद्धति बरती गई है। महमूद, शहाबुद्दीन गोरी और अल्तमश के सिक्के, चित्तौड़ कीर्त्ति-स्तम्भ की दीवारें और संस्कृत के अनेक अभिलेख और ग्रन्थ जो कहानी बताते हैं वह प्रचलित कहानी से कितनी भिन्न है! शम्सुद्दीन इलियासशाह की नेपाल चढ़ाई [८,५§४] का उल्लेख किसी तवारीख में नहीं है, उसका पता मिला है काठमांडू के पशुपतिनाथ मन्दिर में शम्सुद्दीन के खुदवाये संस्कृत शिलालेख से, जिसे पहलेपहल मेरे स्वर्गीय गुरु काशीप्रसादजी जायसवाल ने पढ़ा और प्रकाशित किया। कश्मीर में हिन्दू राज्य के पतन और सल्तनत के उदय का इतिहास, पिछली राजतरंगिणियों के आधार पर, पहलेपहल स्पष्ट रूप में मेरी "भारतीय इतिहास की मीमांसा" और इस ग्रन्थ में ही दिया जा रहा है। समूचे भारत के लिए भी वह कितना शिक्षाप्रद है!

§७. **भारतीय इतिहास की सामासिक धारा**—प्रत्येक युग में समूचे भारत और इतिहास की चौतरफा सामग्री पर ध्यान देने से भारत की विविधता में एकता सुन्दर रूप में प्रकट हुई है। अंग्रेज़ी साँचे के इतिहास

पटना या दिल्ली या कलकत्ता जैसे किसी केन्द्रीय राज्य का पल्ला पकड़ कर भारत का इतिहास कहते और दूसरे प्रदेशों की उपेक्षा करते हैं। जिन युगों में वैसा कोई सहारा न मिले और प्रादेशिक राज्य ही रहे हों उनमें वे भुवनकोश (गज़ेटियर) के ढंग से एक के बाद दूसरे राज्य या राजवंश को लेते हैं जिससे प्रत्येक प्रदेश की शताब्दियों की घटनाएँ एक दूसरे से असम्बद्ध अलग अलग धारा में आती हैं। इस ग्रन्थ की पद्धति में समूचे भारत के घटना-प्रवाह पर एक साथ दृष्टि रखते हुए इसपर ध्यान दिया जाता है कि शक्ति का समतुलन किस प्रकार होता रहा और गुरुताकेन्द्र कैसे एक तरफ से दूसरी तरफ खसकता रहा। किसी माने हुए केन्द्रीय राज्य की घटनाओं को योंही महत्त्व न दे कर "घटनाओं के आपेक्षिक महत्त्व की ... (परख इस कसौटी पर की जाती) है कि किस घटना ने कितने व्यापक प्रदेश पर कितना चिरस्थायी प्रभाव किया।"* यों प्रादेशिक राज्यों के बीच भी भारत की एकता-प्रवृत्ति और भारतीय इतिहास की सामासिक धारा तथा प्रत्येक प्रदेश की उस धारा में देन स्पष्ट दीख पड़ती है, परस्पर असम्बद्ध निर्जीव घटना-तालिका के बजाय जानदार घटना-माला सामने आती है, और प्रत्येक प्रदेश की कहानी अपने पड़ोसियों की कहानी से सम्बद्ध हो जाने के कारण सार्थक लगने लगती है। अंग्रेजी साँचे के इतिहासों और इस ग्रन्थ के ऐसे युगों के वृत्तान्तों के मिलान से यह अन्तर स्पष्ट दिखाई देगा। ८वीं ९वीं शताब्दियों में किस प्रकार भारत में साम्राज्यस्थापना का संघर्ष चलता रहा, प्रायः सातवीं से दसवीं तक और छोटे पैमाने पर बारहवीं तक भी किस प्रकार उत्तर दक्खिन भारत के दो साम्राज्य बने रहे, १४वीं १५वीं शताब्दियों के प्रादेशिक राज्यों ने किस प्रकार देश में राजनीतिक सुव्यवस्था पुनःस्थापित की और सांस्कृतिक पुनरुत्थान में प्रेरणा और सहायता दी, यह इस सामासिक पर्यालोचन की पद्धति से ही प्रकट हुआ है। अंग्रेज़ों को भारत की छिन्न-भिन्नता और भारतीय इतिहास की अर्थहीनता को बढ़ा कर दिखाना था, इसलिए वे इन तथ्यों की ओर से आँख फेर लेते रहे। पर जो कुछ वे दिखाते रहे वह सत्य से

---

* पूर्वोक्त शिमला अभिभाषण (१९३८)।

बहुत भिन्न है।

§८. **बृहत्तर भारत और भारत के विदेश-सम्बन्ध**—अंग्रेज़ ऐतिहासिक एक और बात को बड़े उत्साह से बखानते रहे, और वह थी—भारत का "जगमग एकाकीपन (स्प्लेंडिड आइसोलेशन)", उसका दुनिया से अलग बने रहना! पिछली पौन शताब्दी की ऐतिहासिक खोज ने उससे ठीक उलटी बात सिद्ध की है। भारत के विदेश-सम्बन्धों और बृहत्तर भारत की वह कहानी भारत के इतिहास का अपरिहार्य अंश है। इस ग्रंथ में वह शृंखलाबद्ध रूप में यथास्थान दी गई है, और विश्व-इतिहास के या विदेशों के इतिहास के जिन पहलुओं का भारत पर प्रभाव पड़ा है उन्हें भी स्पष्ट करके दिखाया गया है।

§९. **'भारत में अंग्रेज़ी राज'**—अंग्रेज़ी साँचे के भारत के इतिहासों में ब्रितानवी युग विशेष कर इस ढंग से अंकित किया जाता कि (अध्यापक विनयकुमार सरकार के शब्दों में) अंग्रेज़ों के साम्राज्यनिर्माण का "समूचा रास्ता गुलाबों गुलाबों" से ढका देख पड़े, और कि उनका प्रत्येक प्रतिद्वन्द्वी शठ या सनकी प्रतीत हो! गवर्नर-जनरलों के युद्धों की और "भारत की नैतिक और भौतिक प्रगति" के लिए उनके बनाये कानूनों की कहानी से ही उनके इस युग के इतिहास का ताना-बाना बनता। भारत के पुनर्जागरण को भी अंग्रेज़ों के उन प्रयत्नों का फल बना कर दिखाया जाता—मनुष्य में स्वाधीनता के लिए जो सहज तड़पन है उसकी प्रेरणा से भी भारतीयों ने कभी कुछ किया इस विचार को नज़दीक न फटकने दिया जाता। अंग्रेज़ राजनेताओं की काली करतूतों और साजिशों की तथा इंग्लिस्तान द्वारा भारत के लुंठन और विदोहन-शोषण की कहानी को तो छिपाया ही जाता, भारत के साधनों द्वारा ब्रितानवी साम्राज्य कैसे बढ़ता गया और ब्रितानिया कैसे विश्व-शक्ति बन गया इस पहलू को भी आँखों से ओझल रक्खा जाता। इस तरह के इतिहासों से केवल बच्चे बहलाये जा सकते थे; पश्चिम के अन्य देशों के विद्वान् भी, जो घटनाओं की युक्तिसंगत व्याख्या चाहते, संतुष्ट न हो पाते। इसीलिए, जैसा कि अध्यापक वि० कु० सरकार ने कहा था, पाश्चात्य विद्वान् भारत के ब्रितानवी युग का भी कोई

अच्छा साधारण इतिहास न होने की प्रायः शिकायत करते रहे। भारतीय इतिहास के ब्रितानवी युग के उक्त पहलुओं पर रमेशचन्द्र दत्त, विनायक सावरकर, वामनदास वसु, तारकनाथ दास जैसे भारतीय विद्वान् प्रकाश डालते रहे। इस ग्रन्थ में उनका अनुसरण और उनकी खोजों का पूरा उपयोग किया गया है, और भारतीय इतिहास के ब्रितानवी युग का बहुत संक्षिप्त होते हुए भी पूर्ण इतिहास पहली बार दिया गया है। सन् १६३६ के बाद का घटनापूर्ण इतिहास भी स्पष्ट सुबोध रूप में पहलेपहल इस ग्रन्थ के लघु संस्करण या इसके तीसरे संस्करण में ही दिया गया।

§ १०. **भारतीय इतिहास की राष्ट्रीय विवेचनपद्धति**—ऊपर के विवेचन से प्रकट हुआ होगा कि शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से लिखे भारतीय इतिहास का युगविभाजन और घटनाओं का चुनाव तथा उनके संकलन का क्रम अंग्रेज़ी साँचे के इतिहासों से बहुत भिन्न होना चाहिए। सुनिश्चित और प्रमाणित घटनाओं का उनके आपेक्षिक मूल्य अर्थात् प्रभाव की व्यापकता को देखते हुए सर्वथा सहज स्वाभाविक क्रम से संकलन इस पद्धति की विशेषता होनी चाहिए। अच्छे बुरे किसी पहलू को छिपाया न जाय, प्रत्युत ठीक क्रम और ठीक अनुपात से दिखाया जाय। "आप ··· संक्षिप्त चित्र देना चाहते हैं तो कैमरे का फोकस दूरी पर रखिए। पर यदि आप रंग छू कर शकलें मिटाने की कोशिश करते हैं तो यह ईमानदारी नहीं है। ··· जो घटना कैमरे की मार में आती है उसे रखना ही होगा। यदि हमारे पुरखा कभी गलत रास्ते पर चलते रहे तो ··· बताना चाहिए कि उनका रास्ता गलत था और ··· कि वह क्यों गलत था।"* जिसे हम राष्ट्रीय दृष्टि से भारतीय इतिहास का विवेचन कहते थे, उसकी पद्धति यह थी। चूँकि भारत के अतीत का ठीक ठीक सत्य स्वरूप प्रकट होना हमारी राष्ट्रीय आवश्यकता थी, इसलिए इस प्रकार की विवेचनापद्धति राष्ट्रीय कहलाती थी। इस ग्रन्थ में ठीक इस पद्धति का अनुसरण किया गया है।

इस पद्धति से विद्यार्थियों के दिमाग पर बोझ पड़ने के बजाय उनकी

---

* पूर्वोक्त शिमला अभिभाषण (१६३८)।

रुचि और चिन्तन-शक्ति जगेगी इसकी पूरी आशा है। इस ग्रन्थ के प्रकट होने से पहले नागपुर अभिभाषण को पढ़ कर ही श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा था कि "इस ... वैज्ञानिक और सत्य से भरे ... कालविभाग का आश्रय लिया जाय तो ... छात्रों में अपनी सूझ से देखने की क्षमता उत्पन्न होगी ... ।"

§ ११. भारतीय इतिहास की चित्र-सामग्री – ऐतिहासिक अवशेषों की खोज से जो सामग्री निकली है और आये दिन निकल रही है, उससे भारतीय जनता के अतीत जीवन पर भरपूर प्रकाश पड़ता है। पर जिन्हें भारतीय इतिहास को सूखी घटना-तालिका रूप में पेश करना था, उन्होंने उस सामग्री के बहुत से पहलुओं को भी नज़रन्दाज़ किया। भारतीय अथवा वैज्ञानिक दृष्टि से इतिहास के मनन में उस चित्र-सामग्री के अध्ययन का भी विशिष्ट स्थान है। इस ग्रन्थ से उस सामग्री का ठीक स्वरूप और मूल्य प्रकट होगा। भारतीय इतिहास के अनेक दुर्लभ और महत्त्वपूर्ण चित्र इसमें पहली बार प्रकाशित किये गये हैं। चित्रों के प्रामाणिक होने पर उतना ही ध्यान दिया गया है जितना पाठ्यवस्तु के।

§ १२. शैली और भाषा – छोटे ग्रन्थ में विवादों और व्याख्याओं की गुञ्जाइश न थी, न मूल लेखों के प्रतीक देने की, इसलिए भरसक विवादों के भँवरों से बच कर खेने की कोशिश की गई है। पर घटनाओं की चुनाई जिस स्वाभाविक विकास-क्रम से की गई है उससे वे स्वयं बोलेंगी, स्वयं अपनी व्याख्या करेंगी, अर्थात् उनका पूर्वापर-समन्वय और कारण-कार्य-सम्बन्ध स्वतः स्पष्ट होगा, ऐसी आशा है। मूल लेखों के शब्द भरसक उद्धृत किये गये हैं, और इस ढंग से कि कहानी में ठीक फब जायँ तथा साथ ही उस उस विषय के विज्ञ पहचान लें कि कहाँ से। नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते—निर्मूल कुछ न लिखा जाय और बिना आवश्यकता के कुछ न कहा जाय, यह आदर्श बराबर सामने रक्खा गया है।

भाषा को विषय और उक्त पद्धति और शैली के अनुकूल रखने का पूरा जतन किया गया है। मानव हृदय का कोई ऐसा स्थायीभाव नहीं है जो भारतीय जनता के तीन हज़ार बरस के तजरबे को सुन कर जगता न हो। अत्यन्त

संक्षेप करते हुए भी उस तजरबे का पूरा चित्र देने का जतन किया गया है।

§ १३. उपकारों का स्मरण—स्व० डा० हीरालाल ने "भारतीय दृष्टि से लिखे इतिहास की बड़ी आवश्यकता की" देश भर के मेधावियों में फैली जिस "उत्कट अनुभूति" की चर्चा १९३० में की थी, मुझे भी उस अनुभूति ने १९१९-२१ में बेचैन किया था, जिससे उसकी पूर्त्ति के लिए मैंने तभी से तैयारी आरम्भ की। १९२६ में मैंने लिखाई का वह कार्य आरम्भ किया जिससे बारह बरस पीछे इस ग्रन्थ का प्रथम प्रकाशन हुआ, और आज तीस बरस पीछे पाँचवाँ संस्करण निकल रहा है। इस लम्बी अवधि में मुझे अपने गुरुजनों बुज़ुर्गों मित्रों और सहयोगियों से जिस प्रकार पथदर्शन प्रोत्साहन परामर्श सुझाव और सहायता मिलती रही है, उसके अनेक प्रसंगों का पर्यालोचन आज भी अनेक मधुर और करुण स्मृतियों को जगा देता है। श्रद्धेय पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के चरणों में बैठ कर मैंने १९२१-२२ में इस कार्य के लिए पहली दीक्षा ली थी। मेरे दूसरे गुरु श्रद्धेय काशीप्रसाद जायसवाल कैसे स्नेह और चाव से इस कृति की प्रगति में रुचि लेते और इसमें बराबर मेरा पथदर्शन करते रहे, पर इसका प्रकाशन देख न पाये! इसके पहले सात पर्वों की पहली पांडुलिपि को उन्होंने और श्री राहुल सांकृत्यायन ने ध्यान से पढ़ा और सुधारा था। स्व० डा० हीरालाल ने मध्य काल विषयक मेरे अनेक प्रश्नों के जो उत्तर तत्परता से लिख भेजे थे, वे अब भी मेरे पास रक्खे हैं।

पुस्तक के चित्रों के चुनाव और उनकी प्रामाणिकता के निश्चय के लिए राय कृष्णदास और डा० मोतीचन्द्र ने मेरे साथ बैठ कर एक एक चित्र की विवेचना की थी। बनारस के स्व० बाबू दुर्गाप्रसाद और श्री श्रीनाथ साह ने न केवल अपने प्राचीन सिक्कों के संग्रहों का मुझे उपयोग करने दिया, प्रत्युत जिन सिक्कों के चित्रों की मुझे आवश्यकता थी उनके पैरिस-प्लास्तर के ढार स्वयं तैयार करके मुझे दे दिये। भारतीय पुरातत्त्व विभाग के तत्कालीन अध्यक्ष स्व० श्री काशीनाथ नारायण दीक्षित ने मुझे चित्र दिलवाने में पूरी रुचि लेते हुए सहायता दी।

१९३३-३६ में इलाहाबाद युनिवर्सिटी के उप-ग्रन्थपाल स्व० श्री सरयू-

प्रसाद तथा १९३९ में बम्बई युनिवर्सिटी के ग्रन्थपाल डा० प० जोशी अपने ज़िम्मे के ग्रन्थागारों में मुझे सब प्रकार की सुविधाएँ देते रहे। पिछले तीन बरसों (१९५४–५६) में केन्द्रीय पुरातत्त्व ग्रन्थागार नई दिल्ली के ग्रन्थपाल श्री लव गोविन्द परब मुझे उसी प्रकार सुविधा देते रहे हैं। मित्रवर पं० क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय से तो पिछले २५ बरसों में पुस्तकों विषयक सहायता के अतिरिक्त परामर्श भी मुझे सदा ही मिलता रहा है और रहेगा।

पुस्तक के प्रथम प्रकाशन के बाद स्व० श्री काशीनाथ नारायण दीक्षित, डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्ये, राय कृष्णदास, श्री आनन्द कौशल्यायन और महाराजकुमार डा० रघुवीरसिंह ने जो संशोधन-विषयक परामर्श दिये थे, उनके लिए उनका धन्यवाद मैंने दूसरे संस्करण में ही किया था। उस प्रकार की तथा चित्रों को प्राप्त करने में सहायता तब से अन्य अनेक सज्जनों से मिलती रही है, जिसका उल्लेख जहाँ तहाँ चित्रों के नीचे किया गया है। लोकमान्य टिळक का जो नया चित्र पहलेपहल इस पाँचवें संस्करण में प्रकाशित किया जा रहा है, उसे मेरे विद्वान् मित्र डा० वासुदेव विष्णु गोखले ने खोज कर भेजवाया है।

ग्रन्थ के पाँचवें संस्करण में भूमिका पर्व में भारत के भूगर्भविकास की कहानी भी दी गई है। इसे लिखने में मैंने प्रसिद्ध भूगर्भशास्त्री डा० वाडिया के एक लेख का अनुसरण किया है, जिसके लिए उन्हें अनेकानेक धन्यवाद।

इतने सज्जन मुझे अपनी सहायता का पात्र मानते रहे और मानते हैं, यह मेरा सौभाग्य है। मैं राष्ट्र की एक विशिष्ट आवश्यकता की पूर्त्ति में लगा रहा, जिस आवश्यकता को वे भी उत्कट रूप से अनुभव करते रहे, यह भी उनके जी खोल कर सहायता देने का कारण रहा, इसमें सन्देह नहीं।

§ १४. **ग्रन्थ का नाम**—इस ग्रन्थ का नाम पहले 'भारतीय इतिहास का दिग्दर्शन' अथवा 'इतिहास-प्रवेश' रक्खा गया था। इधर चौथे पाँचवें संस्करणों में इसमें जो परिवर्धन हो गये हैं उनके बाद वह नाम अनुरूप नहीं रहा। हमारी प्राचीन चित्रकला में किसी चित्र की पहली मुख्य रेखाएँ खींचने की परिभाषा थी—उन्मीलन, क्योंकि उन रेखाओं द्वारा चित्र का स्वरूप खुल

जाता है। कालिदास की प्रसिद्ध उक्ति है—उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रम्—मानो तूलिका द्वारा चित्र खोल दिया गया हो। मुगल चित्रकला में इसे खुलाई करना कहते थे, जो कि उन्मीलन का ठीक अनुवाद है। सो यह ग्रन्थ अब 'भारतीय इतिहास का उन्मीलन' है। और अपने इतिहास के इस उन्मीलन द्वारा भारत-सन्तान की आँखों का भी उन्मीलन होता रहे!

§ १५. **इतिहास की शिक्षा**—अंग्रेज़ी ज़माने में हमारे बालकों और युवकों की इतिहास-शिक्षा दूषित रहने के स्पष्ट कारण थे। पर अंग्रेज़ों के जाने के बाद के इन बरसों में भी वे दोष अभी तक दूर नहीं हुए। हमारे गणराज्य का संविधान लिखने वालों ने इस बात को ठीक पहचाना कि भारत की कृष्टि में सामासिक (कम्पोज़िट) एकता है (अनुच्छेद ३५१)। पर अंग्रेज़ी साँचे के जो इतिहास अब भी हमारे बच्चों को पढ़ाये जा रहे हैं वे सामासिक एकता की कहानी सुनाते हैं या बुनियादी और स्थायी छिन्नभिन्नता की? जिस सांप्रदायिक विद्वेष को भड़का कर अंग्रेज़ अपना शासन यहाँ चलाते थे उसे भड़काने में भारतीय इतिहास का मिथ्या-शिक्षण उनका विशेष हथकंडा था। १९४७ का हमारे देश का बँटवारा उसी मिथ्या-शिक्षण के विष-बीजों की फसल थी। पर आज भी वे बीज क्यों पनप रहे हैं?

स्वतन्त्र होने के बाद देश पर जो ज़िम्मेदारियाँ आई हैं, उन्हें ठीक से निभा सकने के लिए बड़ी संख्या में प्रशिक्षित युवकों की आवश्यकता है। इन युवकों के प्रशिक्षण में अपने इतिहास की ठीक शिक्षा का विशेष स्थान है। अपने राष्ट्र के ठीक स्वरूप और स्थिति को तथा उसके आदर्शों को वे इतिहास के आलोक से ही देख समझ सकते हैं। मातृभूमि का यह इतिहास हमारे देश के युवक-युवतियों को ऊँचे आदर्शों की ओर खींचता रहे!

§ १६. **अध्यापकों से निवेदन**—मेरी पेश की हुई कहानी प्रचलित कहानी से 'बिलकुल दूसरी' होने के कारण कुछ लोगों को पहलेपहल नवीन और अपरिचित सी लगती रही, कुछ को अब भी वैसी लगती होगी। पर अपने अतीत और वर्त्तमान को यदि ठीक ठीक समझना है तो इससे परिचित होना ही होगा। हमारा देश क्षेत्रफल और जनसंख्या में बहुत बड़ा है, उसका

इतिहास बहुत लम्बा है। उस इतिहास का पूरा चित्र हृदयंगत करने के लिए कुछ श्रम करना ही पड़ता है। यदि हमारी शिक्षा-पद्धति आरम्भ से ही ठीक दिशा में चले तो वह श्रम हमें अत्यन्त रुचिकर भी लगे, क्योंकि भारत की कहानी जितनी लम्बी और पेचीदा है उतनी ही मनोरंजक भी। दो एक साधारण बातें हैं जिनपर ध्यान देने से छात्रों और अध्यापकों के लिए इस ग्रंथ की शैली से भारतीय इतिहास का पढ़ना पढ़ाना बहुत रुचिकर हो सकता है।

सब से पहले भारत के परम्परागत जनपदों (बंगाल महाराष्ट्र बुन्देल-खंड आदि) को, जो इस ग्रंथ के पहले अध्याय में दिये गये हैं, हृदयंगत कर लीजिए, और घटनाओं का वृत्तांत पढ़ते हुए उल्लिखित स्थानों को बराबर नक्शे या ऐटलस में देखते जाइए। इससे घटनाओं का स्वरूप स्पष्ट समझ में आयगा। दूसरे, यह समझ लीजिए कि सब घटनाओं को कोई भी कभी याद नहीं रख सकता, उनके स्वरूप और उनकी प्रेरणा को समझना ही लक्ष्य होना चाहिए। बहुत सी तिथियाँ और तफसील जो दी गई हैं वे रटने के लिए नहीं, प्रत्युत घटनाओं को स्पष्ट करने के लिए ही। उदाहरण के लिए, ६,८§§ ११,१२ में पलाशी की लड़ाई की, नजीबखाँ के दिल्ली छोड़ने की और रघुनाथ के पंजाब जीतने की ठीक तिथियाँ दी गई हैं। उन तिथियों पर ध्यान देने से यह प्रकट होता है कि अंग्रेज़ों के बंगाल बिहार जीत लेने के २½ मास बाद रुहेलों का नेता मराठों और पठानों के बीच स्थायी सन्धि करा देने का प्रस्ताव करता है, पर मराठा नेता उस दशा में भी उस प्रस्ताव पर ध्यान नहीं देते, और बंगाल बिहार को वापिस लेने का यत्न करने के बजाय पंजाब की ओर व्यर्थ पराक्रम करते हैं! अपनी स्थिति को उन्होंने कितना गलत देखा समझा था! ठीक तिथियाँ जो दी गई हैं सो इसी बात को स्पष्ट करने के लिए, न कि रटने के लिए। इसी प्रकार अर्वाचीन काल की और विशेष कर निकट अतीत की घटनाओं की बहुत सी तफसील की बातें केवल घटनाओं को स्पष्ट और उनके वृत्तान्त को रुचिकर बनाने को दी गई हैं, उनमें के सब नाम या सब बातें कण्ठस्थ कर लेने की आशा विद्यार्थियों से कभी न की जानी चाहिए।

परीक्षाओं के प्रश्नपत्र इन बातों को ध्यान में रख कर बनाने चाहिएँ। यदि मेरा बस चले तो मैं तो अंग्रेज़ों की चलाई परीक्षापद्धति को सर्वथा ही बदल दूँ। उदाहरण रूप में, राष्ट्रीय विद्यापीठों में मैंने यह तजरबा किया और यह सदा ही सफल रहा कि परीक्षा के अवसर पर विद्यार्थियों को पाठ्य ग्रन्थ साथ लाने की इजाजत दे दी। प्रश्न यदि ऐसे हों जिनसे विषय को समझ कर लिखने की योग्यता की जाँच हो सकती हो, जिन्हें हल करने के लिए ग्रन्थ के आगे पीछे कई अंशों का मिलान करना अपेक्षित हो तो ग्रंथ को देख कर भी प्रत्येक छात्र जो कुछ लिखेगा उससे उसकी योग्यता की जाँच हो सकती है। पर जब तक हमारी परीक्षापद्धति में सुधार न हो तब तक भी अध्यापक यदि अपनी साधारण बुद्धि से काम लेंगे तो विद्यार्थियों के लिए अपने देश का इतिहास न केवल कठिन न होगा, प्रत्युत अब तक जैसा सूखा रहा है आगे वैसा ही रुचिकर हो सकेगा।

साधु आश्रम, हुशियारपुर
२७ भादों २०१३ वि०
(११-९-१९५६)

जयचन्द्र

संकेत

ग्रन्थ के प्रत्येक पन्ने पर पर्व अध्याय और परिच्छेद की संख्या दी गई है। पूर्वापर-सम्बन्ध बताने के लिए पीछे या आगे किस विषय की चर्चा कहाँ आई है इसकी सूचना उसके पर्व अध्याय और परिच्छेद की संख्याओं का सीधे कोष्ठों में उल्लेख कर के दी गई है; जैसे पृ० ८०, दूसरे पैरे की दूसरी पंक्ति में "पहले जो राज्य जनों के थे [२, २ § २]" का अर्थ है कि जनों के राज्यों का उल्लेख ऊपर दूसरे पर्व के दूसरे अध्याय के दूसरे परिच्छेद में आ चुका है। जहाँ उसी अध्याय में किसी विषय की चर्चा पहले आई हो, वहाँ केवल परिच्छेद की संख्या द्वारा इसकी सूचना दी गई है; जैसे पृ० २०७ पंक्ति २३ में "[ऊपर § ५]" का अर्थ है कि इस विषय की चर्चा इसी अध्याय के ५वें परिच्छेद में आ चुकी है।

नक्शा-सूची

भूलचूक

पृष्ठ	पंक्ति	छपा है	बना लीजिए
ट	१	ब के सामने	ह के सामने
५	२०	७ ८	७-८
१४८	२३	स्नतंत्र	स्वतंत्र
२६१	६	बाएँ	दाहिने
२६४	५	बाँएँ और दाहिने	दाहिने बाएँ
६४४	६	उससे	उसके
६४८	७	टिकाने	ठिकाने
८१८	८	हरि"	हरि
८३०	७	को	का
६१०	१६	जून में	जून १६४८ में
६१०	२०	अगस्त १६४८ में	अगस्त में

ग्रन्थ का ढाँचा

प्राचीन काल

मध्य काल

अर्वाचीन काल

विषय-तालिका

———

भारतीय इतिहास का उन्मीलन

१. भूमिका पर्व

अध्याय १

हमारा देश

§१. **सीमाएँ**—प्रकृति ने हमारे देश भारतवर्ष की बड़ी स्पष्ट सुन्दर और पक्की हदबन्दी की है। संसार भर में सब से ऊँचा पर्वत हिमालय इसके उत्तर लगातार चला गया है। उत्तरपच्छिम तरफ पामीर और हिन्दकोह† तथा अफगानिस्तान और कलात पठार, और उत्तरपूरब तरफ नामकिउ, पातकोई, नगा‡ और लुशाई के पहाड़ हिमालय के साथ मिल कर हमारे देश का परकोटा बनाते हैं। पूरब, दक्खिन और पच्छिम की बाकी आधी चौहद्दी समुद्र ने पूरी की है। सन् १६४७ में हमारे देश के दो टुकड़े हो गये, तो भी इतिहास की दृष्टि से यह समूचा देश एक ही है।

§२. **उत्तर भारत का मैदान**—हिमालय और पूरवी पच्छिमी समुद्र के बीच उत्तर भारत का खुला और विस्तृत मैदान है। हिमालय से उतरने वाला सब पानी इस मैदान को सींचता हुआ समुद्र में बह जाता है। उस पानी के दो प्रस्रवण अर्थात् बहाव के रास्ते हैं। सिन्ध का पानी हिमालय से निकल

† जिस पर्वत को हाल तक हम हिन्दूकश कहते रहे हैं, अफगानिस्तान की सरकार ने १६५५ में आदेश निकाल कर उसका नाम हिन्दकोह रख दिया है।

‡ स्थानीय उच्चारण नगा है, नागा नहीं। अंग्रेजी में भारतीय नाम कुछ के कुछ बन जाते हैं। इस ग्रन्थ में भरसक उनके ठीक रूप खोज कर दिये गये हैं।

दक्खिन-पच्छिम बह जाता है; गंगा के पानी का रुख दक्खिन-पूरब है।

उत्तर भारत की बरखा अधिकतर पुरवाई चलने पर होती है। पुरवाई जिन बादलों को लाती है वे बंगाल की खाड़ी से उठने वाली भाप के बने होते हैं। इससे उन बादलों का ज़ोर गंगा के काँठे* पर अधिक होता है, सिन्ध के काँठे में कम रह जाता है। इसी कारण गंगा का काँठा सिन्ध के काँठे से अधिक हरा-भरा और आबाद है। यह दुनिया भर के सबसे अधिक उपजाऊ और आबाद प्रदेशों में से है।

सिन्ध और गंगा के पानी का रुख एक तरफ नहीं है। इससे प्रकट है कि दोनों के बीच ऊँचा पनढाल† है, जिसके कारण सतलज और जमना एक दूसरे से हटती गई हैं। सतलज के खादर‡ को जमना के खादर से ऊपर तो कुरुक्षेत्र का बाँगर‡ अलग करता है, और नीचे जा कर उन दोनों के बीच आडावळा†† के पहाड़ और थर या ढाट‡‡ मरुभूमि आ गई है। सिन्ध के काँठे से गंगा के काँठे तक जाना हो तो इस थर को और आडावळा के पहाड़ी जंगलों को लाँघना कठिन होता है। उनके बीच एकमात्र सुगम रास्ता कुरुक्षेत्र-पानीपत के तंग बाँगर में से ही है। इसी कारण यह बाँगर सिन्ध और गंगा के काँठों के बीच भारी नाका है। भारतवर्ष के इतिहास की अनेक भाग्य-निर्णायक लड़ाइयाँ इसी बाँगर में हुई हैं। /

नक्शे में सिन्ध और गंगा काँठों के कई स्पष्ट भाग दिखाई देते हैं।

---

* काँठा=मैदान में किसी नदी के दोनों तरफ की भूमि। किसी नदी का काँठा यदि पहाड़ में घिरा हो तो उसे दून (द्रोणी) कहते हैं। अंग्रेज़ी में दोनों के लिए व्हैली शब्द है।

† पनढाल शब्द इस अर्थ में कुमाऊँ-गढ़वाल में प्रचलित है।

‡ खादर=नदी के काँठे की उपजाऊ ज़मीन। बाँगर=नदियों की पहुँच से बची सूखी ऊँची ज़मीन। ये कुरुक्षेत्र-मेरठ-रुहेलखण्ड के प्रचलित शब्द हैं।

†† अंग्रेज़ी में इसे 'आड़ावली' लिखते हैं, जिसे अशुद्ध पढ़ कर लोगों ने 'अरवली' बना डाला है। आडा=तिरछा; वळा=पहाड़।

‡‡ थर उसका सिन्धी नाम है, ढाट राजस्थानी।

सिन्ध नदी ने ऊपर जहाँ अपनी पाँचों बाँहें फैला रक्खी हैं वह पंजाब है। जहाँ उसका समूचा पानी सिमट कर एक धारा में आ गया है वह सिन्ध प्रान्त है। गंगा-जमना का रुख शुरू में जहाँ दक्खिन-पूरब है, वह उपरला गंगा काँठा या ठेठ हिन्दुस्तान है। बीच में जहाँ गंगा प्रायः पूरब बहती है वह बिचला गंगा काँठा बिहार प्रान्त है, और फिर जहाँ गंगा ने समुद्र की तरफ मुँह फेर कर अपनी बाँहें फैला दी हैं और ब्रह्मपुत्र भी उसमें आ मिला है वह निचला गंगा काँठा बंगाल है। ब्रह्मपुत्र का उपरला अकेला काँठा अलग है, उससे असम ('आसाम') प्रान्त बना है।

§ ३. **मध्य-मेखला**—आडावळा के दक्खिनी भाग से उसकी कई बाँहियाँ पूरब-दक्खिन बढ़ी हुई हैं। इन बाँहियों समेत आडावळा का पुराना नाम पारियात्र है। इसके पूरब, जमना और गंगा काँठों के दक्खिन जो ज़मीन का उठाव लगातार चला गया है, जो कि नदियों के दक्खिन से उत्तर बहने से सूचित होता है, वह विन्ध्य पर्वत के कारण है। विन्ध्य के पूरबी छोर में नर्मदा के स्रोत हैं। उन स्रोतों के पास विन्ध्य एक और पर्वत के साथ अपना कन्धा लगाता है। इस पर्वत की धार मेकल पहाड़ से पूरब तरफ पारसनाथ पहाड़ तक गई है और इसकी एक बाँह पच्छिम तरफ बढ़ी हुई महादेव और सातपुड़ा पहाड़ों के रूप में नर्मदा के बाँयें बाँयें विन्ध्य के बराबर चली गई है। महादेव-सातपुड़ा शृंखला का पुराना नाम ऋक्ष-पर्वत है। उसके पूरब मेकल से पारसनाथ तक के पर्वत को भी या तो ऋक्ष में ही गिना जाता या उसका दूसरा नाम था। इन पर्वतों से मध्यमेखला की रीढ़ बनी है। इस मेखला के उत्तरी अंचल को बनास, चम्बल, बेतवा, केन, सोन आदि नदियाँ धोती हैं। पच्छिमी अंचल को लूनी, साबरमती और मही; दक्खिनी अंचल को नर्मदा, तापी, वर्धा, वेणगंगा, महानदी और वैतरणी; तथा पूरबी अंचल को सुवर्णरेखा और दामोदर। आबू और पारसनाथ पहाड़ मध्यमेखला के पच्छिमी और पूरबी बुर्ज हैं।

इस मेखला के पच्छिमी छोर पर गुजरात-काठियावाड़ का हरा भरा मैदान है। उसके उत्तरपूरब पारियात्र और थर का समूचा प्रदेश राजस्थान

है, जिसका दक्खिनपूरवी अंश मालवा पठार है। आगे बेतवा और केन के काँठों तथा नर्मदा के उपरले काँठे वाला प्रदेश बुन्देलखण्ड है। 'बुन्देला' का अर्थ है विन्ध्य का रहनेवाला, इसलिए बुन्देलखण्ड का अर्थ है विन्ध्य-भूमि। उसके पूरब सोन का उपरला काँठा बघेलखंड है; और सोन के समानान्तर दक्खिन तथा नर्मदा-काँठे के पूरब, महानदी का उपरला काँठा छत्तीसगढ़। बघेलखंड-छत्तीसगढ़ के ठीक उत्तर अवध का मैदान है। अवध का पुराना नाम कोशल था और बघेलखंड-छत्तीसगढ़ का दक्षिण कोशल। बघेलखंड-छत्तीसगढ़ के पूरब मध्यमेखला का बाकी पहाड़ी अंश झाड़खंड या छोटा नागपुर है, और उसके दक्खिन समुद्रतट का प्रदेश उड़ीसा।

§४. **दक्खिन**—तापी या ताप्ती और महानदी के दक्खिन, समुद्र की तरफ बढ़ा हुआ, तिकोना पठार "दक्खिन" कहलाता है। इस तिकोने के पच्छिमी किनारे के साथ-साथ सह्याद्रि या पच्छिमी घाट चला गया है, और पूरवी किनारे पर महेन्द्र और मलय पर्वत अथवा पूरवी घाट। दक्खिन की सब बड़ी नदियाँ पच्छिम से पूरब बहती हैं। इसका यह अर्थ है कि सह्याद्रि के पूरब तरफ ढाल है, और महेन्द्र मलय शृंखलाएँ बीच बीच में ऐसी टूटी हुई हैं कि उनमें से बड़ी नदियाँ लाँघ सकती हैं। पच्छिमी और पूरवी दोनों घाटों और समुद्रों के बीच मैदान की एक एक हरी किनारी है। पच्छिम तरफ की किनारी बहुत सँकरी है, पूरब का हाशिया अच्छा चौड़ा है। पच्छिमी किनारी के उत्तर वाले अंश को कोंकण और दक्खिन वाले अंश को केरल या मलबार कहते हैं। पूरवी किनारी का दक्खिनी अंश चोलमंडल* और उत्तरी अंश कलिंग है।

दक्खिन भारत के पठार को कृष्णा नदी दो भागों में बाँटे हुए है। उसके उत्तर के भाग का पच्छिमी अंश महाराष्ट्र और पूरवी अंश कृष्णा-गोदावरी के मुहानों सहित आन्ध्र या तेलंगाना है। कृष्णा के दक्खिन सह्य और मलय पर्वत एक दूसरे के निकट आते आते नीलगिरि पर मिल गये हैं। उनके मेल से बना

* अंग्रेज़ी कौरोमंडल इसी का बिगड़ा हुआ रूप

ऊँचा पठार कर्णाटक है। कर्णाटक के पूरब तट का मैदान चोलमंडल या तमिळ देश है। नीलगिरि के दक्खिन मलय पर्वत फिर उठ कर भारत की दक्खिनी नोक तक चला गया है। वहाँ उसके पच्छिम केरल और पूरब चोलमंडल है। समुद्र पार सिंहल द्वीप भी इतिहास की दृष्टि से भारतवर्ष का भाग है।

दक्खिन में मैदान के जो तंग फीते हैं, वे उत्तर भारत के विशाल मैदान के मुकाबले में बहुत छोटे हैं। तो भी वे बड़े उपजाऊ हैं। कोंकण और केरल तो मानो भारतवर्ष के बाग ही है। नारियल अनन्नास काजू और बाइस किस्म के केले के सिवाय लौंग इलायची आदि मसालों के पौधे भी केरल में होते हैं, और उसके पड़ोस का मलय पर्वत अपने सुपारी चन्दन और कपूर के जंगलों के लिए प्रसिद्ध है। चोलमंडल का तट उपज और आबादी में गंगा के काँठे से कम नहीं है।' तापी और वर्धा के उपरले काँठों—खानदेश और बराड—की काली मिट्टी अत्यन्त उपजाऊ है। उनमें भारत की सबसे अच्छी कपास पैदा होती है। इसके अलावा दक्खिन और मध्य-मेखला के पहाड़ और पठार अपनी कीमती खनिज सम्पत्ति के लिए सदा से प्रसिद्ध रहे हैं।

§५. **सीमा-पर्वतों के प्रदेश**—भारतवर्ष की उत्तरी सीमा पर जो बड़े-बड़े पहाड़ हैं, उनकी शृंखलाओं के फैलाव के बीच भी अनेक आबाद प्रदेश और बस्तियाँ हैं। सिन्ध और ब्रह्मपुत्र दोनों नद हिमालय की पीठ पीछे कैलाश पर्वत के पास से निकलते हैं। दोनों उलटी दिशाओं को रवाना होते, और ७-८ सौ मील का सफर कर एकाएक भारत के मैदान में ढल पड़ते हैं। उन नदों के उन मोड़ों को आजकल के विद्वान हिमालय की पच्छिमी और पूरबी सीमा मानते हैं। उत्तर भारत के मैदान से सनातन हिम से ढकी ऊँची चोटियों तक हिमालय तीन सीढ़ियों में उठा है। प्राचीन भारतीय उन्हें उपगिरि, बहिर्गिरि और अन्तर्गिरि कहते थे, आधुनिक भूशास्त्री उप-हिमालय, लघु-हिमालय और महा-हिमालय कहते हैं। ये तीन शृंखलाएँ तीन सीढ़ियों की तरह पच्छिम से पूरब लगातार चली गई हैं। उप-हिमालय का नमूना जम्मू से गढ़वाल तक के शिवालक, अवध के उत्तर का डुँडवा पर्वत या नेपाल तराई

की चूड़ियाचौकी है।

लघु-हिमालय की गोद में पच्छिम से पूरब, हज़ारा, कश्मीर, काँगड़ा, कुल्लू, क्यूंठल, गढ़वाल, कुमाऊँ, नेपाल, भूटान आदि रमणीक प्रदेश हैं। इन प्रदेशों की बस्तियाँ प्रायः सब पहाड़ों की कमर पर या उनके बीच तंग दूनों में हैं। किन्तु इनमें से दो प्रदेश लघु-हिमालय के पहाड़ों के बीच घिरे समथर मैदान हैं, एक कश्मीर, दूसरा ठेठ नेपाल। कश्मीर जेहलम या वितस्ता नदी की पहाड़ों से घिरी उपरली उत्तरपच्छिमवाहिनी धारा की ८४ मील लम्बी २५ मील चौड़ी समथर दून है। विद्यमान नेपाल राज्य का पच्छिमी चौथाई अंश घाघरा का प्रस्रवण-क्षेत्र है। उसके पूरब गंडक का प्रस्रवणक्षेत्र है जो सप्तगंडकी कहलाता है। उस राज्य का पूरबी अंश जो कोसी का प्रस्रवणक्षेत्र है सप्तकौशिकी कहलाता है। सप्तगण्डकी और सप्त-कौशिकी के बीच ठेठ नेपाल दून है जिसमें बागमती नदी बहती है। वह २० मील लम्बा १६ मील चौड़ा पहाड़ों के बीच घिरा छोटा सा मैदान है जिसमें काठमांडू, पाटन और भातगाँव बस्तियाँ हैं। कुमाऊँ से सप्तगण्डकी तक हिमालय के मध्य भाग में पहाड़ों के ऊपर अनेक रमणीक ताल हैं। लघु हिमालय की बस्तियों के ऊपर महाहिमालय की चोटियाँ एकाएक उठती हैं। उनकी परम्परा बीच-बीच में जहाँ टूटती है वहीं हिमालय को पार करने के घाटे या जोत हैं।

भारत के उत्तरपूरब के पहाड़ों में मणिपुर, त्रिपुरा आदि बस्तियाँ हैं। इन पहाड़ों की एक बाँही खासी-जयन्तिया और गारो पहाड़ियों के रूप में सीधे पच्छिम बढ़ी हुई है, जिससे उत्तरी बंगाल के आगे ब्रह्मपुत्र का और पूरबी बंगाल के आगे सुरमा नदी का काँठा उत्तरपूरबी सीमान्त पहाड़ों के अन्दर घुसे हुए मैदान के पच्चर से लगते हैं।

उत्तरपच्छिम के पहाड़ी प्रदेश बड़े महत्त्व के हैं। सिन्ध नदी में पच्छिम तरफ से गिलगित, स्वात, कूनड़, काबुल, कुर्रम, गोमल आदि नदियाँ हिन्दकोह और अफगानिस्तान का धोवन लाती हैं। भूमि की बनावट की दृष्टि से इनकी दूनें भी भारतवर्ष के भाग हैं। आजकल अफगानिस्तान अलग राज्य है, किन्तु

पिछले ज़मानों में वह प्रायः भारत के अन्तर्गत रहा है। पामीर और अफगानिस्तान पठारों के उत्तरी छोर असल में भारतवर्ष की उत्तरपच्छिमी सीमा हैं।

पामीर का पठार—जिसे दुनियाँ की छत कहा जाता है—हमारे देश के मस्तक पर मुकुट के समान है। उसके पच्छिमी धोवन को लिये हुए, हिन्दकोह के उस पार, आमू दरिया बहता है। उसी का पुराना नाम वंक्षु है। पामीर का पूरबी धोवन रस्कम या यारकन्द दरिया में जाता है, जिसका पुराना नाम सीता है। सीता नदी आगे चल कर तारीम में जा मिली है। वंक्षु पामीर से निकल कर बदख्शाँ और बलख प्रदेशों की उत्तरी सीमा बनाता गया है। पामीर के पच्छिम बदख्शाँ है और फिर बलख। तीनों हिन्दकोह के उत्तर सटे हुए हैं। वंक्षु, सीता और तारीम के काँठों से हमारे देश का बड़ा सम्बन्ध रहा है।

हिन्दकोह के इस तरफ, उसके और काबुल नदी के बीच, कपिश (काफिरिस्तान) और पच्छिमी गन्धार प्रदेश हैं; फिर हिन्दकोह, पामीर और कृष्णगंगा† दून के बीच दरद देश। पच्छिमी गन्धार के पूरब हिमालय का सबसे पच्छिमी ज़िला हज़ारा है और दरद के दक्खिन कश्मीर। काबुल नदी के दक्खिन, हेलमन्द नदी के बिचले काँठे और सुलेमान पहाड़ तक ठेठ अफगान प्रदेश है। सुलेमान के किनारे से सिन्ध के मैदान की एक नोक—जिसमें सिबी की बस्ती है—पहाड़ों में पच्चर की तरह बढ़ी हुई है। उसी नोक के ऊपर बोलान दर्रा है।

सिन्ध मैदान के पच्छिम पहाड़ों में कलात और लासबेला प्रदेश हैं। वे प्रदेश तथा उनके पच्छिम ठेठ बलोचिस्तान का पूरबी अंश मिला कर अब बलोचिस्तान प्रान्त बनता है। सच कहें तो बलोचिस्तान नाम अंग्रेज़ों ने इस प्रान्त पर झूठमूठ चिपकाया था। इसका उत्तरपूरबी भाग—सिबी बोलान तक का—पठान या अफगान प्रदेश है, तथा कलात-लासबेला के पच्छिम जो असल बलोच प्रदेश है वह भारतवर्ष का भाग नहीं, ईरान का अंश है। इस तरफ हिंगोल नदी और रास (अन्तरीप) मलान हमारे देश की सीमाएँ रही हैं।

† जेहलम में उत्तरपच्छिम से आ कर मिलने वाली नदी।

दरद प्रदेश की पूरबी सीमा हिमालय के घाटे ज़ोजी ला† पर लगती है। उसके पूरब तिब्बत है, जो असम (आसाम) की उत्तरपूरबी सीमा से भी आगे तक चला गया है। तिब्बत का पच्छिमी प्रदेश लदाख अब कश्मीर रियासत में है।

यदि हम भारतवर्ष के उत्तरी और उत्तरपच्छिमी सीमान्त पर ध्यान दें तो दोनों में एक स्पष्ट भेद दिखाई देता है। हिमालय के उस पार तिब्बत लम्बा चौड़ा और बीहड़ पठार है। किन्तु इधर हिन्दूकोह के उस पार आमू और सीर दरिया के काँठे गंगा-जमना के काँठों की तरह हैं। पामीर के पूरब सीता-तारीम का काँठा भी खुला मैदान है। आमू-सीर और तारीम के मैदानों तथा सिन्ध के मैदान के बीच जो पहाड़ी बाँध है वह तिब्बत के पहाड़ी बाँध से बहुत कम चौड़ा है। इसी कारण हिमालय और तिब्बत के आरपार भारत का दूसरे देशों के साथ वैसा सम्बन्ध नहीं रहा, जैसा कि हिन्दूकोह-पामीर के रास्ते से।

§ ६. **समुद्र**—भारत को तीन तरफ से घेरने वाला समुद्र बड़े महत्त्व का है। उसके द्वारा विदेशों से भारत का सम्बन्ध बहुत पुराने काल से रहा है। आजकल के जहाज महासागरों में भी चलते हैं, पर पुराने काल के समुद्री व्यापारपथ प्रायः तट के साथ-साथ थे।) एशिया के नक्शे पर ध्यान देने से दिखाई देगा कि भारतवर्ष के एक तरफ अफरीका, अरब और ईरान हैं, तो दूसरी तरफ हिन्दचीनी प्रायद्वीप, हिन्द-द्वीपावली (इंदोनीसिया) और चीन। अमरीका को हम नई दुनिया कहते हैं। पुरानी दुनिया के लोगों को उसका पता कोई साढ़े चार सौ बरस से मिला है। लेकिन जो पुरानी दुनिया के सभ्य देश थे, उनके समुद्री रास्तों के ठीक बीचोंबीच भारतवर्ष पड़ता था। इसी कारण वह सभ्य जगत् के समुद्री व्यापार का सदा केन्द्र रहा।

§ ७. **भारतवर्ष की विविधता में एकता**—हमारा देश विशाल है, और उसमें अनेक प्रकार के प्रदेश हैं। कहीं खुले विस्तृत मैदान तो कहीं तंग पहाड़ी दूनें, कहीं हरे-भरे खादर तो कहीं बंजर मरुभूमि, इत्यादि। किन्तु हमारे देश की बनावट में कुछ बातें ऐसी भी हैं जो इसकी विविधता में गहरी

---

† ला=घाटा। यह तिब्बती शब्द है।

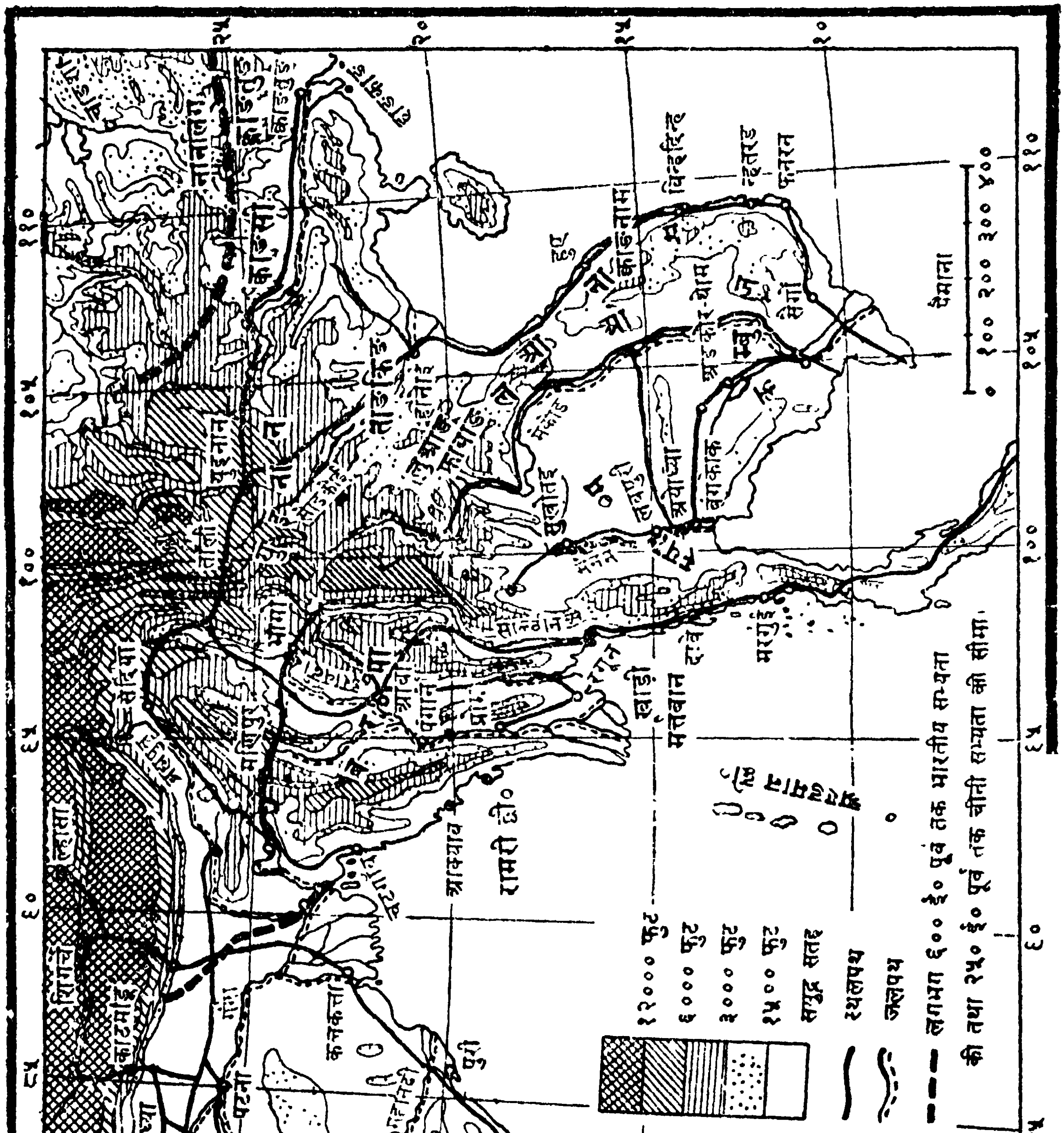
एकता पैदा कर देती है। समुद्र और हिमालय, जो कि इसकी सीमाएँ हैं, इसे स्पष्ट एक देश बना देते हैं। फिर वही समुद्र और हिमालय मानो हमारे समूचे जीवन को भी चलाते हैं। समुद्र से गर्मी में जो भाप के बादल उठते हैं, वे हिमालय को नहीं लाँघ पाते। वे या तो लौट कर भारत के मैदानों पर बरसते हैं, या हिमालय की गोद में बरफ बन कर बैठ जाते और फिर नदियों के रूप में उन्हीं मैदानों को सींचते हुए समुद्र में वापिस जा पहुँचते हैं। समुद्र और हिमालय के बीच पानी उछालने का जो यह खेल लगातार चलता है, इसी से हमारी सर्दी गर्मी और बरसात की ऋतुएँ होती हैं, हमारी खेतीबारी होती है और हमारी नदियों के तथा उनके द्वारा हमारे वाणिज्य व्यापार के रास्ते निश्चित होते हैं। समूचे भारत की ऋतु-पद्धति इसी कारण एक है। सच कहें तो उत्तर भारत का मैदान हिमालय की ही देन है। वह नदियों द्वारा बहा कर लाई हुई उसी की मिट्टी से बना है। नदियों के किनारे ही प्रारम्भिक बस्तियाँ बसीं और नदियों के द्वारा ही उनमें पहले पहल परस्पर व्यापार चला। स्थल के रास्ते भी मनमानी दिशा में नहीं जा सकते, वे नदियों पहाड़ों आदि की बनावट देख कर चलते हैं। इसी कारण हमारे देश में पुराने काल से कई एक प्रमुख रास्ते चले आते हैं, जिनके कारण भारत के विभिन्न प्रदेशों में परस्पर गहरा सम्बन्ध बना रहा है। उन रास्तों की सामान्य दिशा सदा एक सी रही है।

§ ८. **उत्तर भारत के मुख्य राजपथ**—उनमें सबसे मुख्य वह रास्ता है जो उत्तर-भारतीय मैदान को आरपार पच्छिम से पूरब लाँघता है। अटक (सिन्ध नदी) के पच्छिम से चल कर, पंजाब की नदियों को उथले घाटों पर लाँघता हुआ, कुरुक्षेत्र के बाँगर में से हो कर, वह गंगा के काँठे में पहुँचता है और फिर बनारस के पास गंगा के दक्खिन उतर कर उसके दाहिने किनारे के साथ साथ बंगाल के बन्दरगाहों तक जा निकलता है। कुरुक्षेत्र के बाँगर के अतिरिक्त उस रास्ते के दो और बड़े नाके हैं। एक तो सिन्ध और जेहलम नदी के बीच, जहाँ वह नमक-पहाड़ियों की शृङ्खला को लाँघता है; दूसरे बिहार और बंगाल की सीमा पर मुंगेर से राजमहल तक, जहाँ गंगा तक तक बढ़ी हुई झाड़खंड की पहाड़ियाँ उसे तंग दर्रों में से गुज़रने को बाधित करती हैं।

उपरले गंगा काँठे से इस राजपथ की एक बड़ी शाखा हिमालय के नीचे नीचे अवध से असम तक चली गई है। उसी प्रकार एक बड़ी शाखा पंजाब से सिन्ध की तरफ पंजाब की नदियों की दिशा में गई है। इस मुख्य राजपथ से उत्तर तरफ अनेक छोटे रास्ते हिमालय की ओर बढ़ते हैं और फिर हिमालय के पार जाने वाले सीमान्त रास्तों से जा मिलते हैं।

§९. **सीमान्त के रास्ते**—उत्तरपच्छिमी उत्तरी और उत्तरपूरबी सीमान्तों के रास्ते उत्तर भारत के राजपथ के ही बढ़ाव हैं। जेहलम और अटक के बीच से उस राजपथ में से फट कर एक हिमालयगामी रास्ता जेहलम दून के द्वारा कश्मीर में घुसता है। उसीके पड़ोस से रास्तों का एक समूह सीधा सिन्ध दून में ऊपर को, अथवा सिन्ध पार कर स्वात और कूनड़ की दूनों में चढ़ता है, और आगे बढ़ कर हिन्दकोह के घाटों को लाँघता हुआ बदख्शाँ और पामीर में जा पहुँचता है। उसकी शाखाएँ बदख्शाँ से आमू के काँठे में और पामीर में से पूरब उतर कर सीता और तारीम के काँठों में चली जाती हैं। जेहलम से कूनड़ तक के पहाड़ी प्रदेश का पुराना नाम गन्धार है इसलिए इन रास्तों को गन्धार के रास्ते कहना चाहिए।

सीमाप्रान्त के रास्तों का दूसरा बड़ा समूह अफगानिस्तान में से गुजरता है। उनमें से एक प्रसिद्ध रास्ता काबुल नदी का है। आजकल यह अटक से काबुल नदी के दक्खिन—पेशावर और खैबर हो कर—चढ़ता है। पुराने काल में वह काबुल नदी के साथ-साथ जाता था। आगे काबुल के उपरले स्रोतों से हिन्दकोह पर चढ़ कर वह आमू के स्रोतों के साथ बलख और आमू-मैदान में उतर जाता है। कुर्रम की दून से भी अफगानिस्तान में घुसने का रास्ता है। एक और व्यापार-पथ वह है जो डेरा-इस्माइलखाँ से गोमल नदी और दर्रे के रास्ते गज़नी और कन्दहार की तरफ बढ़ता है। और नीचे एक रास्ता सक्खर, सिबी और दर्रा बोलान के निर्जल प्रदेश में से हो कर कन्दहार को, और कन्दहार से हरात को, अफगान पहाड़ों के दक्खिन-दक्खिन चला गया है। सिन्ध के मैदान के ठीक पच्छिम कलात और खीरथर पहाड़ों में से लाँघने वाले रास्ते बड़े विकट हैं। कराची से तट के साथ साथ भी मकरान द्वारा पच्छिम जाने का रास्ता है।



नकशा ३—भारतवर्ष का पूरवी सीमान्त

उत्तरी सीमा पर कश्मीर से असम तक प्रत्येक प्रदेश में से हिमालय के प्रायः १६ हज़ार फुट ऊँचे घाटों पर चढ़ कर तिब्बत में उतरने वाले अनेक रास्ते हैं।

उत्तर-पूरबी सीमान्त पर रास्तों के तीन स्पष्ट समूह हैं। पहला उपरले ब्रह्मपुत्र काँठे से पातकोई पहाड़ों को पार कर छिंद्विं ('चिन्दविन'), इरावती, सालवीन या मेकौङ की उपरली दूनों में पहुँचता, और उन नदियों के साथ हिन्दचीन के खुले मैदान में उतर जाता है। दूसरा सुरमा के काँठे से मणिपुर के पहाड़ लाँघ कर छिंद्विं और इरावती के काँठों में पहुँचता है और फिर उनके साथ, अथवा और पूरब बढ़ कर सालवीन या मेकौङ के साथ, दक्खिन उतरता है। तीसरा चटगाँव से समुद्र-तट के साथ-साथ जाता है।

§ १०. **मध्य-मेखला के रास्ते**—उत्तर भारत को गुजरात और दक्खिन से मिलाने वाले रास्ते सब पारियात्र या विन्ध्य-ऋक्ष को लाँघ कर जाते हैं। सिन्ध से सीधे गुजरात भी जा सकते हैं; पर बीच में थर का दक्खिनी छोर और कच्छ का रन (=अरण्य) पड़ने से वह रास्ता कठिन है। कच्छ का रन असल में उथला कीचड़ है जिसे झाड़-झंखाड़ ने और भी बीहड़ बना दिया है। इस कारण पंजाब से यदि गुजरात या महाराष्ट्र जाना हो तो दिल्ली और राजस्थान के रास्ते जाना होता है। इस प्रकार कुरुक्षेत्र-पानीपत का नाका जैसे पंजाब से गंगा-काँठे के रास्ते को काबू करता है, वैसे ही वह पंजाब और दक्खिन के बीच के रास्तों को भी दबाये हुए है।

अजमेर का नाका राजस्थान के रास्ते के ठीक बीच है। वहीं वह रास्ता आडावळा को पार कर उसके पच्छिम जा निकलता है, और वहीं से उसकी एक शाखा सीधे दक्खिन मालवे को चली जाती है। मालवे का रास्ता, ठेठ हिन्दुस्तान और दक्खिन के ठीक बीच पड़ने से मध्य मेखला के रास्तों में सबसे मुख्य रहा है। मालवे से निकल कर उस रास्ते की एक शाखा पच्छिमी तट के बन्दरगाहों को चली जाती है, और दूसरी नर्मदा और तापी को उपरले घाटों पर लाँघ कर बराड पहुँचती, और फिर वर्धा नदी के साथ पूरबी तट को जाती है। प्रयाग के पास से दक्खिन जाना चाहें तो बुन्देलखंड लाँघ कर

जाते हैं। किन्तु यदि उसके और पूरब, बिहार से दक्खिन जाना हो तो छोटा नागपुर को लाँघने के बजाय उसका चक्कर लगा कर, बंगाल-उड़ीसा हो कर, जाना सुगम होता है। इसी कारण छोटा नागपुर या झाड़खंड को उत्तर से दक्खिन या दक्खिन से उत्तर जाने वाले विजेताओं ने बहुत कम लाँघा है, और उसके जंगलों में आज तक भी बहुत सी आदिम जातियाँ आराम से रहती आ रही हैं। बंगाल से उड़ीसा होता हुआ समुद्रतट के साथ-साथ जाने वाला रास्ता सुगम है।

§ ११. **दक्खिन के रास्ते**—पूरबी तट के इस रास्ते के सिवाय दक्खिन के सब प्रमुख रास्ते उसकी नदियों के बहाव के साथ-साथ पच्छिम से पूरब जाते हैं। एक तापी के घाटों को गोदावरी के मुहाने से, दूसरा उत्तरी महाराष्ट्र को कृष्णा के मुहाने से, तीसरा दक्खिनी महाराष्ट्र और कर्णाटक को कावेरी के मुहाने से, तथा चौथा केरल को कावेरी या वैगै के मैदान से मिलाता है। यह अन्तिम रास्ता नीलगिरि और मलयगिरि के बीच पालक्काड* से गुज़रता है।

गोदावरी और कृष्णा के रास्तों के बीच पड़ने से गोलकुंडा-हैदराबाद पठार का बड़ा महत्त्व है। उसी प्रकार कृष्णा-तुंगभद्रा का दोआब महाराष्ट्र और कर्णाटक के रास्तों को बीचोंबीच काबू करने से बड़े महत्त्व का है। यह दोआब तो दक्खिन का कुरुक्षेत्र है। इस हिसाब से महाराष्ट्र दक्खिन भारत का अफगानिस्तान है, और चोलमंडल उसका गंगा-मैदान। महाराष्ट्र के पठार से कोंकण तट के बन्दरगाहों तक जाने को सह्याद्रि के ऊँचे घाट लाँघने पड़ते हैं। घाटों के वे तंग रास्ते भी महत्त्व के हैं और उनकी तुलना हिन्दकोह और आमू काँठे के बीच के घाटों से हो सकती है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. भारतीय इतिहास की अनेक भाग्य-निर्णायक लड़ाइयाँ कुरुक्षेत्र-पानीपत प्रदेश में क्यों हुईं?

---

* अंग्रेज़ी रूप—पालघाट।

२. पारियात्र और ऋक्ष किन पर्वतों के पुराने नाम हैं ?

३. बघेलखंड, चोलमंडल, बराड, कर्णाटक, हजारा, कपिश और दरद देश की स्थिति बताइए।

४. सुरमा, वंक्षु, सीता, हिंगोल, कृष्णगंगा और कृष्णा नदियां कहाँ हैं ?

५. इतिहास में हमारे देश की सीमाएँ क्या रही हैं ?

६. भारत को एक देश बनाने वाले प्राकृतिक कारण क्या हैं ?

७. भारत की उत्तरपच्छिमी सीमा का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

८. भारत की बहुत सी आदिम जातियाँ छोटा नागपुर में क्यों केन्द्रित हैं ?

९. हिमालय की तीन शृंखलाएँ कौन सी हैं ?

अध्याय २

हमारे देश के लोग

§ १. भारतवर्ष की भाषाएँ और उनके क्षेत्र—भारतवर्ष बड़ा देश है। उसमें कई नृवंशों के लोग रहते हैं। भिन्न-भिन्न नृवंशों को उनकी बोली से पहचाना जाता है। कहावत है "कोस-कोस पर बदले पानी, चार कोस पर बानी।" वास्तव में वाणी या बोली प्रायः सौ डेढ़ सौ मील तक एक सी रहती है, भले ही चार-पाँच कोस पर एकाध शब्द बदल जाय। अड़ोस-पड़ोस की कई बोलियाँ भी गोतिया होती हैं, उनके व्याकरण और शब्दकोष में विशेष अन्तर नहीं पड़ता। प्रायः चार-पाँच बोलियों को मिला कर एक भाषा बनती है। हमें यह देखना है कि भारत में कौन-कौन सी भाषा कहाँ कहाँ है।

कुरुक्षेत्र से प्रयाग या राजमहल तक और हिमालय से विन्ध्य तक की भूमि को प्राचीन काल में मध्यदेश कहते थे। उसके चारों तरफ क्रमशः प्राची, दक्षिणापथ, पश्चिम, और उत्तरापथ देश थे। उत्तरपच्छिम के प्रदेश भी उत्तरापथ में गिने जाते थे।

पुराने मध्यदेश में आजकल लिखने-पढ़ने की भाषा हिन्दी है, पर वास्तव में उसमें चार भाषाक्षेत्र हैं—हिन्दी, राजस्थानी, कोशली और बिहारी। प्राची या पूरब में तीन भाषाएँ हैं—असमिया, बँगला और उड़िया। दक्खिन

में छह—मराठी, तेलुगु, कन्नड, तमिळ, मलयाळम और सिंहली। पच्छिम में तीन—गुजराती, सिन्धी और ब्राहुई। उत्तरपच्छिम में पाँच—पंजाबी, पश्तो, अफगान-पारसी, दरदी या कपिश-कश्मीरी और गल्चा। उत्तर में एक—पहाड़ी। नक्शा ४ में इन सबके क्षेत्र अंकित हैं*। इसे देखने से प्रकट होगा कि भारत के भाषाक्षेत्र तथा उसके वे प्राकृतिक विभाग जिन्हें हमने पिछले अध्याय में देखा है, बहुत कुछ एक हैं।

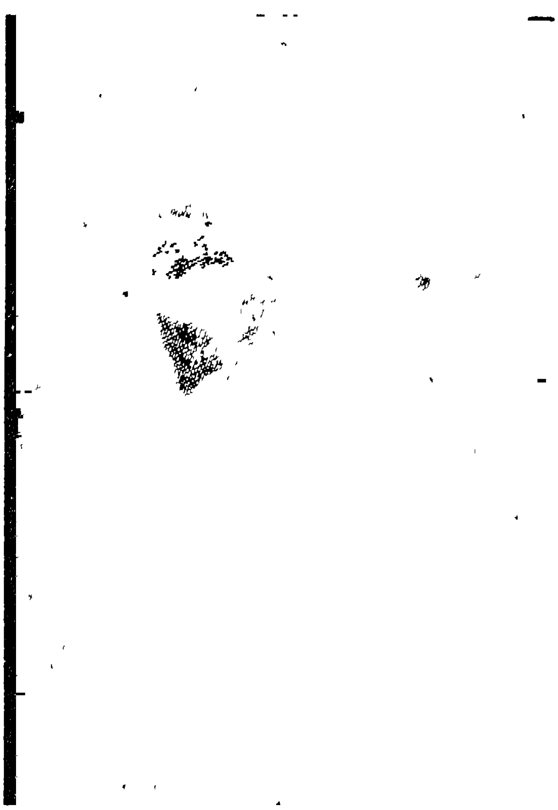
उक्त भाषाओं में दो साधारण से वाक्य किस प्रकार कहे जाते हैं, उनके नमूने परिशिष्ट १ में दिये गये हैं। इन नमूनों पर ध्यान देने से प्रकट होगा कि हिन्दी, बँगला, मराठी, सिंहली, सिन्धी, पंजाबी, कश्मीरी और पश्तो आदि भाषाओं का एक परिवार है, तथा तेलुगु, कन्नड, तमिळ और मलयाळम का एक। हिन्दी आदि का परिवार आर्य तथा तेलुगु आदि का द्राविड कहलाता है। भाषाएँ जीवित सत्ताएँ हैं, उनकी क्रम-परिणति होती रहती है। किसी भाषा का रूप चाहे जितना बदलता जाय, उसमें अपने वंश की विशेषताएँ बनी रहती हैं।

§ २. **आर्य और द्राविड नृवंश**—आर्य और द्राविड भाषाएँ बोलने वालों के पुरखा अलग-अलग नृवंशों के थे। उनके रंग-रूप में भी भेद था। आर्य के चिह्न हैं—रंग गोरा या गेहुँआ, कद ऊँचा, माथा उभरा हुआ, नाक लम्बी और नुकीली, दाढ़ी-मूँछ भरपूर। काला रंग, कद कुछ कम और चौड़ी नाक द्राविडों की विशेषताएँ हैं। किन्तु ऐसा न समझना चाहिए कि आज जो आर्य भाषाएँ बोलते हैं वे सब पुराने आर्यों की ही सन्तान हैं, और जो द्राविड भाषाएँ बोलते हैं वे द्राविडों की ही। दोनों नृवंशों में परस्पर मिश्रण भी खूब हुआ है। दोनों की भाषाओं का भी एक दूसरे पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। बहुत लोगों ने अपनी भाषा छोड़ कर जहाँ बस गये वहाँ की प्रधान भाषा

* ब्राहुई, अफगान-पारसी और गल्चा के नमूने परिशिष्ट में नहीं दिये जा सके। ब्राहुई द्राविड परिवार की है और शेष दोनों आर्य। गंगा और गोदावरी के बीच कई जगह एक द्राविड बोली—गोंडी—है, तथा झाड़खंड में दो द्राविड बोलियाँ—ओराँव और मल्तो—हैं; इनके क्षेत्र नक्शे में दिखाये गये हैं, पर नाम नहीं लिखे गये।

अपना ली। आज भारतवर्ष में ७६·५ फी सदी आर्यभाषी, और २०·५ फी सदी द्राविडभाषी हैं। बाकी ३ फी सदी और लोग हैं।

द्राविड भाषाओं का भारत के बाहर कोई रिश्ता-नाता नहीं दिखाई देता। किन्तु आर्य भाषाओं का परिवार बहुत बड़ा है। ईरान और युरोप की सब मुख्य भाषाएँ इसी वंश की हैं। इन सबको बोलने वालों के पुरखा शुरू में कहीं एक जगह रहते होंगे। आर्य जाति का वह आदिम घर कहाँ था, इसपर अनेक अटकलें लगाई गई हैं। मध्य एशिया, पच्छिमोत्तर युरोप, अरमिनिया, उराल, दान्यूब-काँठा या सिब्रिरिया में



आर्यावर्त्ती आर्य
[श्री देवेन्द्र सत्यार्थी के सौजन्य से]



द्राविड
[श्री आ० अय्यपन के सौजन्य से]

विभिन्न विद्वानों ने आर्यों का मूल अभिजन होने का अन्दाज़ लगाया है।

§ ३. **किरात नृवंश**—भारतवर्ष की जनसंख्या के तीन फी सदी गौण नृवंशों की भाषाएँ बोलने वालों में से आधे से अधिक एक ऐसे नृवंश के हैं, जो हिमालय के उत्तरी अंचल और पूरबी सीमा पर पाया जाता है। इनकी भाषाएँ तिब्बत और बरमा की भाषाओं से मिलती हैं। उन भाषाओं और उनके बोलने वालों को आजकल के विद्वान् तिब्बत-बरमी कहते हैं। उनके वंश को हमारे पुरखा किरात कहते थे। किरात और चीनी नृवंश मिला

कर मनुष्यजाति का एक बड़ा वंश बनता है, जिसे चीनकिरात (Tibeto-Chinese) कहते हैं। उसकी मुख्य पहचानें हैं—नाक की जड़ कुछ चपटी, गालों की हड्डियाँ उभरी हुईं, दाढ़ी मूँछ न के बराबर तथा चेहरा चपटा। नेपाल के नेवार भारतीय किरात का नमूना हैं। हमने भारतीय किरातों की जो संख्या कही है उसमें केवल उनकी गिनती है जो अब भी किरात भाषाएँ बोलते हैं; किन्तु असम बंगाल और हिमालय की जनता में बहुत से आर्यभाषी भी हैं जिनकी नसों में अंशतः चीनकिरात खून बहता है।



भारतीय किरात
[लाहुल (जि० कांगड़ा) के एक सज्जन, फ़ोटो श्री अरुणचंद्र नारंग द्वारा]

§४. मुंड या निषाद नृवंश—दूसरे गौण वंश का नाम मुंड या निषाद है। मुंड भाषाएँ बोलने वाले विशेष कर झाड़खंड या उसके पास-पड़ोस में और खासी-जयन्तिया पहाड़ों में रहते हैं। सन्थाल, मुंडा, शबर, खासी आदि उनमें से मुख्य हैं। उन्हें कोल भी कहते हैं। शकलसूरत में वे कुछ द्राविडों के से हैं, पर उनकी बोली बिलकुल अलग है। भारतवर्ष में वे थोड़े हैं, किन्तु बाहर उनका वंश बहुत दूर-दूर तक फैला है। आज भी हिन्दचीन प्रायद्वीप में उनका बड़ा अंश है, पर किसी ज़माने में तो वहाँ वही लोग बसते थे। हिन्द-द्वीपावली में उसी वंश के लोग हैं। वह वंश संसार के आग्नेय अर्थात् दक्खिनपूरवी कोण में रहता है, इसलिए एक आधुनिक जर्मन विद्वान् ने उसका नाम आग्नेय (Austric) रक्खा



मुंडा
[श्री सुरेश मिश्र के सौजन्य से]

है †। मुंड इसी वंश की एक शाखा है। भारत में उसके बहुत से लोग आर्य और द्राविड भाषाएँ बोलने वालों में मिल चुके हैं। यहाँ के सबसे पुराने निवासी शायद वही हैं।

§५. भारतवर्ष की लिपियाँ और भारतीय वर्णमाला—हमने अभी तक अपने देश की भाषाओं पर ध्यान दिया है। वे भाषाएँ किन लिपियों

नागरी	अ	इ	उ	ए	क	का	कि	कु	के
गुजराती	અ	ઇ	ઉ	એ	ક	કા	કિ	કુ	કે
गुरमुखी	ਅ	ਇ	ਉ	ਏ	ਕ	ਕਾ	ਕਿ	ਕੁ	ਕੇ
बँगला	অ	ই	উ	এ	ক	কা	কি	কু	কে
उड़िया	ଅ	ଇ	ଉ	ଏ	କ	କା	କି	କୁ	କେ
तेलुगु	అ	ఇ	ఉ	ఎ	క	కా	కి	కు	కె
कन्नड	ಅ	ಇ	ಉ	ಎ	ಕ	ಕಾ	ಕಿ	ಕು	ಕೆ
तमिळ	அ	இ	உ	எ	க	கா	கி	கு	கெ
मलयाळम	അ	ഇ	ഉ	എ	ക	കാ	കി	കു	കെ
सिंहली	අ	ඉ	උ	එ	ක	කා	කි	කු	කෙ
तिब्बती	ཨ	ཨི	ཨུ	ཨེ	ག		གི	གུ	གེ
म्रम्म (ब्रमी)	အ	ဣ	ဥ	ဧ	က	ကာ	ကိ	ကု	ကေ
स्यामी	อ	อิ	อุ	เอ	ก	กา	กิ	กุ	เก

में लिखी जाती हैं, यदि हम इसपर ध्यान दें तो हमें कई काम की बातें मालूम होंगी।

† इन सब जातियों के एक ही नृवंश के होने की बात कुछ विवादग्रस्त है।

हिन्दी, मराठी और पर्बतिया (नेपाल राज्य की भाषा, पूर्वी पहाड़ी) की लिखावट बिलकुल एक है। वे तीनों नागरी लिपि में लिखी जाती हैं। नागरी, बँगला और गुजराती में थोड़ा-थोड़ा अन्तर दिखाई देता है, पर तीनों के अक्षर या वर्णमाला बिलकुल एक हैं। नागरी में जैसे अ, आ, इ, ई,...क, ख, ग,... हैं, ठीक वैसे ही गुजराती में और वैसे ही बँगला में। भारत की शेष सब भाषाओं की वर्णमाला भी वही है। बात यह है कि पहले सारे भारत में एक ही लिपि थी और विद्यमान सब लिपियाँ उसी से निकली हैं। वर्णमाला उन सबकी अब भी वही एक है। वह वर्णमाला पहले आर्य भाषाओं की थी, पीछे द्राविड भाषाओं ने भी उसे अपना लिया। आर्य और द्राविड नृवंशों का एक दूसरे से किस प्रकार मिश्रण हुआ है तथा भारत की विविधता के भीतर कैसी एकता है; इसका यह भी एक नमूना है। भारत के बाहर बरमा, तिब्बत, स्याम और कम्बुज (कम्बोदिया) आदि की भाषाओं ने भी हमारी वर्णमाला को अपना रक्खा है। यह कैसे हुआ, सो हम आगे चल कर देखेंगे।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. आधुनिक भारत की मुख्य आर्य और द्राविड भाषाएँ कौन सी हैं और उनमें से कौन कौन किस किस प्रदेश में बोली जाती है?

२. प्राचीन भारत में मध्यदेश किसे कहते थे?

३. भारत में कितने नृवंश हैं? उनकी मुख्य पहचान क्या है?

४. हमारे देश में कितनी मुख्य लिपियाँ हैं और कितनी वर्णमालाएँ? उनमें विद्यमान अन्तर या समानता का कारण बताइए।

५. भारत के बाहर आर्य जाति कहाँ कहाँ पाई जाती है?

परिशिष्ट १

भारतीय भाषाओं के नमूने

आर्य

संस्कृत अहम् अद्य आत्मनो [मम] गृहं एकस्य पितुर् द्वौ पुत्राव्
गच्छामि [व्रजामि, यामि]। आस्ताम्।

पालि	अहं अज्ज मम घरं गच्छामि ।	एकस्स पितुनो द्वे पुत्ता अहेसुं ।
हिन्दी	मैं आज अपने घर जाता हूँ ।	एक बाप [पिता] के दो बेटे [पुत्र] थे ।
गुजराती	हुं आजे मारे घर जाउँछुँ ।	एक बाप ना बे बेटा हता ।
पहाड़ी	आज म आफ्नो घर जान्छु ।	यौटा बाबु को दुइटा छोरा थिये ।
बँगला	आमि आज आमार बाड़ी जाइतेछि ।	एक पितार दुइ पुत्र छिल ।
असमिया	मैं आजि मोर घरलै जाम ।	एजन पितेकर दुजन पुतेक आछिल ।
उड़िया	मुँ आजि आपणा घरकु जाउछि ।	एक पितांकर दुइटि पुत्र थिले ।
मराठी	मी आज आपल्या घरीं जात आहे ।	एक पित्यास दोन पुत्र होते ।
सिंहली	मम अद मदे गेदर यमि ।	एक पियेकुट पुत्रयो देदेनेक वूह ।
पंजाबी	मैं अज आपणे घर जांदा हाँ ।	इक प्यो दे दो पुत्तर सन ।
हिन्दकी (पच्छिमी पंजाबी)	मैं अज आपणे घर वैंदाँ ।	हिक पिउ दे डू पुत्र हन ।
सिन्धी	मां अजु पहिंजे घरि वञाथो ।	हिक पीउजा ब पुट हुआ ।
कश्मीरी	ब छुस अज़ पनुन गर गछान [मैं हूँ आज अपने घर जाता] ।	अकिस मालिस आस्य ज़ न्यचिव्य [एक बाप के थे दो बेटे] ।
पश्तो	ज़ें निन अख़ पुला कोर ते [ला] ज़ूँम ।	यवो पिलार द्वा ज़मन अवू: ।

द्राविड

तेलुगु	नेनु ईरोजनां माइंटिकि वेल्लुचुन्नानु ।	वोक तंड्रिकी इद्दरु कोडुकुलु उंडिरि ।
कन्नड	इयत्तु नानु [नन्न] मनेगे होगुत्तेने [आज मैं मेरे घर जाता हूँ] ।	ओब्ब तन्देगे इब्बरु मक्कलु इद्दरु ।

तमिळ	नान इन्रु एन्नुडैय वीट्टिर्कु पोकिरेन	ओरु तकप्पनारुक्कु इरंडु कुमारर्कल इरुन्दनर
मलयाळम	ञान् इन्नु स्वगृहत्तिल् पोकुन्नु	ओरु पिताविन्नु रंटु पुत्रन्मार उंटायिरुन्नु

किरात

नेवारी	जि थौं थःगु छें वनेत्यना	छम्ह अबुया निम्ह काय् दु

मुंड

मुंडारी	आइङ तिसिङ अपना ओड़ाइङ सेनोताना	मियाद् आपुआ बारिया कोडा-घेनकिङ ताइकेना

अध्याय ३

पृथ्वी जीव और मानव

§ १. **पृथ्वी की पहली चट्टानें और समुद्र बनना**—हमारा देश आज कैसा है और इसमें कौन लोग रहते हैं सो हमने देखा। इनका पुराना वृत्तान्त आरम्भ करते हुए हमें समूची पृथ्वी और मानव योनि के विषय में कुछ जानना चाहिए।

हमारा यह पृथ्वी सूरज के चौगिर्द नियम से घूमती और उससे प्रकाश पाती है। चन्द्रमा पृथ्वी के चौगिर्द घूमता है। हमारी पृथ्वी की तरह और भी आठ पृथ्वियाँ सूरज के चौगिर्द घूमती हैं। ये सब सूर्य के ग्रह हैं। इनमें से कइयों के चन्द्रमा हैं जो इनके उपग्रह हैं। हमारा सूर्य, उसके ग्रह उपग्रह, कभी कभी प्रकट होने वाले धूमकेतु और गिरने वाले उल्का मिला कर सौर परिवार है। अन्तरिक्ष में हमें जो ज्योति के पुञ्ज दिखाई देते हैं, उनमें से कुछ हमारे सौर परिवार के ग्रह हैं जो सूर्य से प्रकाश पा कर चमकते हैं, बाकी तारे। प्रत्येक तारा सूर्य है। हमारा सूर्य हमसे ६ करोड़ २६ लाख मील दूर है, और निकटतम

तारा सूर्य की दूरी से सवा दो लाख गुना दूर !

सूर्य में सब पदार्थों के मूल तत्त्व जलती भाप (गैस) रूप में हैं। सूर्य के सब ग्रह उपग्रह पहले उसके भीतर ही थे। अन्तरिक्ष का कोई दूसरा पिण्ड अपनी परिधि पर घूमता कभी सूर्य के निकट से निकल गया। उसके आकर्षण से सूर्य का कुछ अंश अलग हो गया। यों सूर्य के ग्रह आदि बने। हमारी पृथ्वी इस प्रकार प्रायः दो अरब बरस पहले सूर्य से अलग हुई।

उसके बाद भी करोड़ों बरसों तक यह बहुत गरम रही। पानी की भाप और अन्य भापें इसे घेरे रहतीं। धीरे धीरे पृथ्वी-गोले का बाहरी अंश ठंडा हो कर पपड़ी जमने लगी। यों पृथ्वी की पहली चट्टानें बनीं जो स्फटिक रूप और परतदार हैं। भाप पानी बन कर इन चट्टानों के गड्ढों में जमा होती, पर इनकी गरमी से पानी फिर भाप बन उड़ जाता। लाखों वर्षों तक ऐसे वर्षा होते रहने के बाद नदियों की स्थायी धाराएँ बनीं और पृथ्वी पर के गड्ढों में बहुत सा पानी टिक गया। वही समुद्र और सरोवर हैं। वायु की क्रिया से तथा नदियों और समुद्र की बाढ़ों से पृथ्वी की पहली पपड़ी का जो अंश घिस कट कर बहता उसके जमाव से नई तलछटी चट्टानें बनती गईं।

पृथ्वी का छिलका अब २२ से २५ मील तक मोटा या गहरा है। इसके भीतर सब पदार्थ अब भी गरम द्रव या भाप रूप में हैं। किन्तु इस छिलके की निचली परत में जो कि पहली स्फटिक-रूप या तलछटी चट्टानों से बनी, जीवों का कोई चिह्न नहीं पाया जाता। इसलिए उन चट्टानों के बनने की अवधि को अजीव कल्प कहा जाता है। पृथ्वी की लगभग आधी आयु अजीव कल्प में बीती। उसके बाद से उसमें जीवों के चिह्न मिलने लगते हैं।

§२ **जीवों का विकास**—किसी हरे पत्ते को स्याहीचूस के दो पन्नों के बीच दबा कर रख दें तो वह सूख जायगा, पर उसकी शकल ज्यों की त्यों बनी रहेगी। इसी प्रकार जो जीव या जीवों के अंग चट्टानों में दब जाते हैं वे सूख कर चट्टान हो जाते हैं, पर उनका रूप ज्यों का त्यों बना रहता है। ऐसे पत्थर बने जीवों को हम जीवाश्म कहते हैं। पृथ्वी की ऊपर वाली परतों में भिन्न भिन्न प्रकार के जीवों के चिह्न पाये जाते हैं। उन विभिन्न जीव-चिह्नों के अनुसार ही

उन परतों के नाम रक्खे गये हैं।

जीवों में जन्तु और वनस्पति दोनों की गिनती है, जो भीतर से बढ़ते, सन्तान पैदा करते और मर जाते हैं। जन्तुओं में सबसे निचले वर्ग के वे घोंघे या मुलायम कीड़े हैं जिनकी रीढ़ नहीं होती। फिर रीढ़ वाले हैं। उनमें सबसे निचले दर्जे पर मछलियाँ हैं जो पानी में ही जी सकती हैं। फिर मेंडक जैसे उभयचर हैं। मछलियों और मेंडकों का सन्तान जनने का ढंग यह है कि वे खड़े उथले पानी में गाढ़ी लेस सी छोड़ देते हैं जिनके धूप में पनपने से बच्चे पैदा हो जाते हैं। मेंडकों से ऊपर का वर्ग रेंगने वालों या छाती से चलने वालों (=उरगों) का है। वे अपने अंडे या बच्चे स्थल पर देते हैं, पर उन्हें पालते नहीं। उरगों से ऊँचे वर्ग पक्षियों और मम्मलों (स्तनपायियों) के हैं। वे दोनों अपने बच्चों को पालते और मम्मल तो दूध भी पिलाते हैं। वनस्पतियों में भी इसी प्रकार अनेक नीचे ऊँचे वर्ग हैं।

जन्तुओं वनस्पतियों के वर्गीकरण से देखा जाता है कि जीवों की एक-दूसरे से मिलने वाली हर दो योनियों और वर्गों के बीच ऐसे नमूने मिल जाते हैं जो दोनों के बीच कड़ी प्रतीत होते हैं। अन्त में ऐसे नमूने भी मिलते हैं जिनके विषय में यह कहना कठिन होता है कि वे जन्तु हैं कि वनस्पति। इससे जीवशास्त्री इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि एक ही जीव से सन्तान होते होते और परिस्थिति के भेद से विभिन्न सन्तान के विभिन्न आदतें अपनाने तथा उन आदतों से प्राप्त गुणों के वंशगत होते जाने से जीवों की अनेक योनियों और वर्गों का विकास होता गया। पहला जीव उथले कोसे (गुनगुने) पानी में पैदा हुई लेस सा था। जड प्रकृति में वह चेतन लेस कैसे पैदा हो गई इसकी व्याख्या वैज्ञानिक नहीं कर पाते। किन्तु एक बार उस जीव के पैदा हो जाने से उससे लाखों प्रकार की जीव-योनियों का विभेद और विकास कैसे होता गया इसकी पूरी सिलसिलेवार व्याख्या की जाती है।

§ ३. पुराणजीव मध्यजीव और नवजीव कल्प—पृथ्वी की आदिम अजीव परत के ऊपर वाली परत में भी जीवों के कोई अंश नहीं हैं, पर उसमें ऐसे पदार्थ हैं जिनकी रचना के लिए अधिकतर वैज्ञानिकों के मत में क्रिमियों

की क्रिया आवश्यक थी, अथवा जिसमें घोंघों या उसी प्रकार की मुलायम वनस्पति की छोड़ी हुई रेखाएँ सी मिलती हैं। इस परत के बनने की अवधि ५० करोड़ वर्ष अन्दाज़ की जाती है। इस अवधि में जीवों का उद्भव हुआ अथवा जीवों के रहे होने की सम्भावना है इससे इसे हम जीवसम्भव कल्प कहते हैं।

इससे ऊपर वाली परत की निचली तहों में मछलियों और पानी के पौधों के तथा उपरली तहों में उभयचरों और रेशेदार पर बिना फूल पत्ती वाले पौधों के ठट्ठर मिलते हैं। इसकी सबसे उपरली तह में जीवों के चिह्न लुप्तप्राय हो जाते हैं, मानो तब बदलती परिस्थिति के कारण जीवों का प्रलय आ गया था। इस परत के बनने की अवधि ३०-३५ करोड़ वर्ष थी जिसे पुराणजीव कल्प कहा जाता है।

इससे ऊपर वाली परत में फिर भरपूर कंकाल हैं, किन्तु वे अधिकतर उरगों अर्थात् रेंगने वाले जन्तुओं के हैं। इनमें से अनेक उरग सौ सौ फुट तक के होते थे। उरग अपने अंडे स्थल पर देते हैं। यों इस काल में स्थलचर प्राणी मुख्य हो गये थे। इस परत के बनने का काल १२-१३ करोड़ वर्ष था जिसे मध्यजीव कल्प नाम दिया गया है। इसकी भी सबसे उपरली तह में फिर जीवों के चिह्न नहीं से हैं जिससे प्रकट होता है कि फिर जीवों का प्रलय आ गया था। और उसके ऊपर की परत में जो पंजर मिलते हैं वे अधिकतर पक्षियों और मम्मलों के तथा फूल पत्ती वाले पौधों के हैं। यह परत अन्दाज़न ६-७ करोड़ वर्ष में बनी जिस अवधि का नाम नवजीव कल्प है। पृथ्वी की उपरली सतहों में क्रमशः ऊँचे वर्गों के जीवाश्म मिलने से भी जीवों का क्रम-विकास हुआ सिद्ध होता है।

पुराणजीव मध्यजीव और नवजीव कल्प को क्रमशः प्रथमक द्वितीयक और तृतीयक कल्प भी कहा जाता है। नवजीव कल्प के पाँच उपविभाग हैं—नवजीवोदय काल, नवजीव-प्रभात काल, मध्य नवजीव काल, प्रौढ नवजीव काल और पूर्ण नवजीव काल। इनमें से अन्तिम काल को कुछ विद्वान् तृतीयक कल्प का उपविभाग कहने के बजाय चतुर्थक कल्प भी कह देते हैं। नये

अन्दाज़ों† के अनुसार इस पूर्ण-नवजीव काल का आरम्भ आज से बीस लाख वर्ष पहले हुआ।

§४. मानुष प्राणी का विकास—मानुष प्राणी के पंजर पहलेपहल प्रौढ नवजीव काल की सबसे उपरली तहों में मिलने लगते हैं। तब से ले कर आज से लाख एक वर्ष पहले तक की परतों में से ऐसे पंजर मिलते चलते हैं जिनसे प्रकट होता है कि मानुष प्राणी का विकास क्रमशः कैसे हो रहा था। उसकी टाँगें और हाथ पहले ही मानुष के से हो गये थे अर्थात् वह खड़ा हो कर भाग सकता और हाथ चला सकता था। मनुष्य की पहली विशिष्टता यही थी। हाथ चलाने के साथ साथ वह हथियार भी बनाने लगा। उसके वे पहले हथियार या उपकरण भी उसके पंजरों के साथ साथ मिलते हैं। उसके बाद मानुष प्राणी के दाँत भी मानुष के से हो गये। तो भी दाढ़ की हड्डी पीछे से तंग रही जिससे वह खुल कर बोल न सकता। गरदन भी आगे झुकती रही। भेजे का पिछला अंश जो आँख त्वचा और हाथ पैर को चलाता है, पुष्ट हो गया, पर अगला अंश जो वाणी और विचार को चलाता है, छोटा रहा। धीरे धीरे, आज से पचास एक हज़ार वर्ष पहले के ऐसे कंकाल मिलने लगते हैं जो बिलकुल आज के से मनुष्यों के हैं, प्रत्युत जिनमें से बहुतों की भेजे की पेटियाँ आज के मनुष्यों की से भी बड़ी हैं।

§५. मनुष्य की जीविका और उपकरणों में क्रमोन्नति—(अ) पुराणाश्म काल का आखेटक जीवन—दूसरे जन्तुओं की तरह मनुष्य भी अपनी जीविका पहले केवल आखेट या शिकार से चलाता था—अर्थात् वह अपना भोजन उपजाता नहीं था, प्रकृति में से ढूँढ बटोर लाता था। दूसरे जन्तु जहाँ अपने मुँह या हाथ पैर से आखेट करते, वहाँ मनुष्य हथियारों से भी

---

† आधुनिक अणु-विज्ञान से प्राचीन अवशेषों का काल निश्चित करने का बहुत अच्छा साधन मिल गया है। प्रकृति में कुछ विशिष्ट पदार्थों का आपसे आप अणु-विशरण निश्चित काल में निश्चित मात्रा में होता रहता है। प्राचीन अवशेषों में पाये गये वैसे द्रव्यों के अणु-विशरण की जाँच द्वारा अब उन अवशेषों के काल का निर्धारण किया जाता है।

करने लगा, यही उसकी विशिष्टता थी।

वह ज्यों ज्यों खड़ा हो कर खुल कर चलने और हाथ चलाने लगा त्यों त्यों वह हथियारों से काम लेने लगा। उसके पहले हथियार लकड़ी हड्डी और पत्थर के और बहुत सीधे सादे थे। क्रमशः वह इन्हें आवश्यकतानुसार गढ़ कर कई आकारों के बनाने लगा। पत्थर के हथियार मनुष्य की हड्डियों के साथ साथ ज़मीन में गड़े अब तक मिलते हैं। आरम्भ के हथियारों में इतनी कम गढ़ाई है



पत्थर के हथियार—बाँदा ज़िले से [लखनऊ संग्र०]

कि उन्हें प्राकृतिक पत्थरों से पहचानना भी कठिन होता है। वे आज से पाँच लाख बरस पहले के अन्दाज़ किये गये पर और पुराने हो सकते हैं।

तब से ले कर आज से ५०-६० हज़ार बरस पहले तक की भूमि की परतों में चकमक पत्थर के हथियार बराबर मिलते हैं। उनकी गढ़न क्रम से उन्नत होती जाती है। इन हथियारों को बर्त्तते बर्त्तते ही मनुष्य के हाथ खुले और दिमाग पनपा। चकमक को गढ़ने से आग निकलती है। सो यह अनुमान किया गया है कि उसे गढ़ते गढ़ते मनुष्य ने आग बालना सीख लिया। वह बहुत बड़ा आविष्कार था जिससे दूसरे प्राणियों को जीतने का बहुत बड़ा साधन मनुष्य के हाथ आ गया।

हथियारों का प्रयोग करने के अतिरिक्त मनुष्य जानवरों को फँसाने के लिए फन्दे भी बनाने लगा। जाड़े से बचने के लिए वह खालें ओढ़ता और गुफाओं की शरण लेता।

भोजन की तलाश के लिए आखेटक मनुष्य को बराबर भटकना पड़ता। जब उसके पड़ोस में आखेट काफी न रहता या कोई प्रबल शत्रु पड़ोस में आ जाता, तब वह अपने झुंड के साथ एक जगह छोड़ दूसरी जगह चला जाता।

यों जब मनुष्य शकल-सूरत में पूरा मनुष्य बन रहा था तभी उसने इतनी उन्नति कर ली थी। किन्तु उसकी शकल-सूरत वाणी और मस्तिष्क का पूरा विकास हो जाने के बाद भी १५-२० हज़ार बरस तक उसकी यह आखेटक दशा जारी रही। हथियारों को देखते हुए पुराविदों ने उस अवधि का नाम पुराणाश्म काल अर्थात् पुराने पत्थर-हथियारों का काल रक्खा है। आज से ५०-६० हज़ार बरस पहले तक पहला पुराणाश्म काल रहा। उसके बाद—अर्थात् मनुष्य प्राणी का पूरा विकास हो जाने के बाद—पिछला पुराणाश्म काल शुरू हुआ जो १५-२० हज़ार बरस और चला।

इस पिछले पुराणाश्म काल में पत्थर के ही हथियार अनेकों प्रकार के तथा सुगढ़ बारीक और सुन्दर होते गये। तेज़ धार वाले छुरे और बारीक सुइयाँ तक पत्थर की बनने लगीं। वे सुइयाँ घास के डोरों से खालें सीने के काम आती थीं। मुख्य शस्त्र परशु या कुल्हाड़ा ही रहा। पर उसमें हत्था नहीं होता था। इसलिए उससे लकड़ियाँ बहुत न काटी जा सकतीं, जिससे रहने को मकान भी न बन सकते थे। फिर भी पिछले पुराणाश्मी आखेटक अपने डेरों को बाड़ें बना कर घेरते थे। बर्त्तन बनाना भी वे न जानते थे। इसलिए भोजन को भूनते ही थे, पकाते न थे। एक बार बली हुई आग को वे भरसक बनाये रखते। आगे चल कर वे धनुष-बाण भी बनाने लगे। वह बहुत बड़ी ईजाद थी जिससे शिकार और युद्ध के तरीकों में क्रान्ति हो गई। बाणों की अनियाँ तब पत्थर की ही होती थीं।

(इ) नवाश्म काल—पशुपालन और आरम्भिक कृषि का उदय— शताब्दियों बाद पत्थर के हथियारों पर ओप (पौलिश) दी जाने लगी, फरसे

में छेद कर काठ का हत्था लगाया जाने लगा, हथियार और भी सुगढ़ बनने लगे। इन नये ओपदार हथियारों को पुराविदों ने नवाश्म नाम दिया है। नवाश्मों के ज़माने में मिट्टी के बर्त्तन भी बनने लगे। पर कुम्हार का चाक तब तक नहीं था। वे बर्त्तन हाथ से बनते, अतः भद्दे और बेडौल होते।

आखेटक मनुष्य को बराबर पशुओं का पीछा करना पड़ता, उनकी आदतों को निहारना पड़ता। प्रायः वह उन्हें जीता पकड़ लेता। घास खाने वाले जन्तु झुंडों में चरते हैं। मनुष्यों की टोलियाँ उन झुंडों के पासों पर मँडराया करतीं। कुत्ते भी स्वभाव से उसी तरह मँडराते। कुत्ता मनुष्य से बचे-खुचे टुकड़े पा कर उससे हिलमिल गया और उसका साथ देने लगा। फिर जब ऐसे अवसर आते कि जानवरों के झुंड ऐसे स्थानों में पहुँच जायँ जहाँ उन्हें घेर लेना सुगम हो, तब मनुष्य उन्हें घेर कर रोक रखने लगा, उन्हें नई चरागाहों की ओर ले जाने लगा, अथवा जिन कुछ पशुओं को उसने बाँध कर रख लिया उन्हें चारा ला कर खिलाने लगा। इस प्रकार मनुष्य पशुओं के झुंडों को अपनी सम्पत्ति मानने और पालने लगा। कुत्ते को तो उसने अपने सहायक रूप में पाला और दूसरे जन्तुओं को पहलेपहल इस दृष्टि से पाला कि आगे चल कर जब और आखेट न मिले तब उन्हें खा सके। पर जानवरों को पालना सीख जाने पर वह धीरे धीरे उनकी सवारी करने और उनका दूध भी दुहने लगा।

पशुपालन का आरम्भ होने से यों मनुष्य के जीवन में बड़ी उन्नति हुई। आखेट तब भी मुख्य जीविका रही, पर सवारी करने वाले मनुष्य के लिए दूसरे जानवरों का आखेट करना और सुगम हो गया। साथ ही दूध के रूप में एक नया खाद्य उसे मिल गया।

मनुष्य अपने खाये हुए फलों के बीज जो अपने डेरों के पास डाल देते उनसे बहुत बार नये पौधे उग आते थे। आखेटक दशा में ही किसी पुरुष या स्त्री का ध्यान इस ओर गया और उसे बीज डाल कर पौधे उगाने की सूझी। यों कृषि का आरम्भ हुआ। उस आरम्भिक कृषि में डंडे से अथवा डंडे में सींग जैसी कोई वस्तु बाँध कर बनाई हुई कुदाली से खेत बना कर हाथ

से ही बीज डाला जाता था। प्रायः स्त्रियाँ बीज इकट्ठे कर लेतीं और जब किसी डेरे पर कुछ अरसा रहने का अवसर मिलता तब वहाँ फसल उठा लेती थीं। यों कुछ जंगली दानों की बार-बार कृषि होते होते जौ ज्वार और गेहूँ का विकास हुआ।

उस आखेटक-पशुपालक दशा में जैसे यह आरम्भिक कृषि चली वैसे ही गूँथना और बुनना भी चला। भाँग और अलसी के रेशे से भँगेले† बुने जाने लगे और खालों की तरह पहने जाने लगे।

लकड़ी और पत्थरों से रहने के लिए घर या झोंपड़े भी बनाये जाने लगे। जिन प्रदेशों में झीलें होतीं वहाँ उनमें उथली ओर से पत्थर भर कर रास्ता बना कर अपनी सुरक्षा के लिए झीलों के भीतर वैसे घर बनाये जाते।

आज से १०–१२ हज़ार बरस पहले एशिया के मुख्य भाग, उत्तरी अफरीका और युरोप में मनुष्यों की टोलियाँ इस प्रकार का जीवन बितातीं। यह नवाश्मी काल का जीवन था।

(उ) ताँबे और काँसे का चलन तथा नियमित कृषि—कई हजार बरस तक उक्त प्रकार का जीवन बिताते हुए मनुष्य धीरे-धीरे धातुओं को जान गये। सब से पहले वे सोने से परिचित हुए जिसके टुकड़ों को वे भूषण की तरह बर्तते। उसके बाद उन्होंने ताँबे और उसके समासों—काँसे और पीतल—को पहचाना। पहले वे पत्थर की तरह ताँबे की शिलाओं के भी टुकड़े काट लेते और उन्हें पत्थरभट्ठियों में लगाते थे। कभी ताँबे की शिला लगाई और उसे पसीजते देखा तो उन्हें ताँबे का कमाना और फिर ढालना आ गया।

ताँबे की कच्ची धात कहीं अकेली मिलती है तो कहीं राँगे और जस्ते के साथ। ताँबे में दसवाँ भाग राँगा मिलाने से काँसा बनता है जो ताँबे से बहुत मज़बूत होता है। तांबे और जस्ते के मेल से पीतल बनता है। आज से प्रायः ६-७ हज़ार बरस पहले एशिया, उत्तरी अफरीका और युरोप में बहुत से मनुष्य-

† भँगेला गढ़वाल का शब्द है, जहाँ भाँग के रेशे से वैसा मोटा कपड़ा हाल तक बुना जाता रहा है, शायद अब भी बुना जाता हो।

समूह पत्थर के बजाय ताँबे या काँसे के हथियार बनाने और बर्त्तने लगे।



ताँबे के हथियार—बिठूर (ज़ि० कानपुर), सरथौली (ज़ि० शाहजहाँपुर) तथा राजापुर (ज़ि० बिजनौर) से [लखनऊ संग्र०]

नवाश्म युग से ले कर ताँबे या काँसे का चलन होने तक मनुष्यों की जीवनचर्या में और भी कई प्रकार से उन्नति हुई थी। आखेट के बजाय पशुपालन तब मुख्य जीविका हो गई थी। पशुपालकों को नई चरागाहों की खोज में अनेक बार लम्बी यात्राएँ करनी पड़तीं और रात को भी अपने रेवड़ों का ध्यान रखना पड़ता। यों न केवल सूर्य प्रत्युत तारों को भी देख कर वे दिशा पहचानने लगे और उनका देशों विषयक ज्ञान बढ़ता गया। नदियों के किनारे रहने वाले मछुओं के समूह लकड़ियों के बेड़े बना कर भी यात्राएँ करने लगे।

मनुष्य ने जब हल की ईजाद कर उसमें जानवर जोत कर खेत बनाना शुरू किया तब वास्तविक कृषि का आरम्भ हुआ। नियमित कृषि से मनुष्य को ऋतुओं का ज्ञान भी हुआ, क्योंकि फसल की बुवाई और कटाई ऋतु पर ही निर्भर होती। भेड़ों और ऊँटों की ऊन कात कर बुनना भी इसके साथ ही कभी शुरू हुआ। वस्तुओं का विनिमय भी होने लगा। ताँबा, काँसा और उनके बने हथियार, दुर्लभ पत्थर, सोना, खालें, अलसी या भाँग के रेशों के जाल, ऊनी कपड़ा, नमक आदि उस काल में व्यापार की वस्तुएँ थीं। इन वस्तुओं के लिए डकैती भी होने लगी और ये खिराज या कर रूप में भी ली दी जाने लगीं।

(ऋ) लोहे का चलन और कृषि का विकास—अन्त में आज से लगभग चार हज़ार बरस पहले मनुष्यों ने लोहे को पहचाना और बर्त्तना शुरू किया। तब बहुत मज़बूत और विविध प्रकार के हथियार बनने लगे जिनसे मनुष्यों के जीवन में फिर बड़ी उन्नति हुई।

जो प्रदेश उपजाऊ थे और जिनमें पानी नियम से लगता था, उनमें नियमित खेती होने लग गई, जिससे वहाँ के लोग खूब फूले फले और टिक कर रहने के अभ्यासी हो गये। बाँगरों और जंगलों में विचरने वाले लोग इसके बाद भी खानाबदोश पशुपालक बने रहे।

जितने प्रकार के अन्न शाक और फल आज उगाये जाते हैं उन सब से परिचित होने में विभिन्न मनुष्य-समूहों को कई हज़ार वर्ष लगे। फलों की

कृषि तो बहुत पीछे चली। पशुपालन का आरम्भ होने के हज़ारों वर्ष बाद मुर्गियों का पालना शुरू हुआ।

नियमित कृषि जारी होने पर भूमि का स्वत्व भी शुरू हुआ। तो भी आरम्भ में एक-एक बस्ती की ज़मीन एक-एक समूह की साझी होती थी। एक फ़सल के लिए वह उस समूह के परिवारों में बाँट दी जाती, फ़सल कट जाने पर वह फिर सारे समूह की साझी हो जाती। अगली फ़सल के लिए वह फिर बाँटी जाती।

पर नियमित कृषि चल जाने पर भी तीस-चालीस वर्ष में ज़मीन की उपजाऊ शक्ति घट जाती और तब मनुष्यों के समूहों को नये खेतों की खोज में निकलना पड़ता। धीरे धीरे जब मनुष्यों ने खाद देना सीख लिया और सिंचाई के स्थायी साधन—नालियाँ कुएँ नहरें आदि—बना लिये, तब मनुष्यों के समूह पूरी तरह टिक गये। आगे चल कर बागवानी शुरू होने पर मनुष्य-समूहों की स्थिरता और भी पक्की हुई; क्योंकि बगीचों में लगाये हुए पेड़, अनाज या सब्ज़ी की तरह एक बार फल कर समाप्त नहीं हो जाते, पचासों बरस फल देते हैं।

कृषि में यों उन्नति होने से भूमि का स्वत्व भी धीरे धीरे व्यक्तियों का हो गया, क्योंकि एक पुरुष ने जिस खेत को खाद दे कर पुष्ट किया, जिसमें कुआँ लगाया या पेड़ रोपे, उसे वह एक फ़सल काट लेने के बाद भी छोड़ने को तैयार न हो सकता था।

मनुष्य टिक कर रहने लगे तो टिकाऊ और अच्छे घर भी बनाने लगे। उनके रहन-सहन में तब सब प्रकार से उन्नति होने लगी।

(लृ) **कारीगरी का विकास**—काँसे और लोहे का चलन तथा कृषि का विकास होने से कारीगरी का महत्त्व बढ़ा। कृषि के लिए हल कुदाल आदि, माल ढोने और सवारी के लिए गाड़ियाँ काठियाँ रथ और नावें, रहने के लिए मकान, पहरने के लिए कपड़ा और जूता, एवं युद्ध के लिए शस्त्रास्त्र बनाना सब कारीगरों का ही काम था। कृषक समूहों में बहुत लोग इस प्रकार कारीगरी के ही काम करने लगे और कृषकों को उनके काम के उपकरण दे कर बदले में

उनसे अन्न पाने लगे। वस्तुओं का विनिमय या वाणिज्य जो ताँबे और काँसे के चलन के साथ चला था, लोहे का चलन और कृषि का विकास होने से और बढ़ता गया। धीरे धीरे ऐसी दशा आ गई कि अनाज उपजाना तो साधारण बात हो गई, और मनुष्यों के जो समूह कारीगरी और वाणिज्य में दूसरों से बढ़ जाते वे अपने सुख और उन्नति के साधन अधिक जुटा पाते और दूसरे समूहों को मात दे कर अपने वश में कर लेते। ऐसी दशा आने पर मनुष्यों के समूह कृषि की मंजिल से कारीगरी या व्यवसाय की मंजिल पर पहुँच गये।

आरम्भ में कारीगरी के सब धन्धे मनुष्य अपने हाथ-पैर से या जानवरों की शक्ति से चलाता रहा। आगे चल कर वह प्रकृति की शक्तियों से भी काम लेने लगा। बहते वायु या गिरते पानी के बल से उसने पवनचक्कियाँ और पनचक्कियाँ चलाईं, नावों को चलाने के लिए पालों द्वारा वायु के बहाव का उपयोग किया। पिछली दो शताब्दियों में भाप और बिजली की शक्ति का उपयोग चला और खूब बढ़ा है। आज मनुष्य अणु-विशरण शक्ति को जोतने के प्रयत्न में लगा है।

यों मनुष्य का अपनी जीविका और जीवन के लिए संघर्ष उसे बराबर उन्नति की दिशा में ले जाता जान पड़ता है।

§ ६. मानव समूहों के संघटन का विकास—मनुष्यों ने उक्त प्रकार से अपनी जीविका में जो उन्नति की सो समूहों में रहते हुए। जीविका की प्रगति के साथ-साथ समूहों का स्वरूप भी प्रायः बदलता गया। किसी समूह के भीतर मनुष्यों का एक-दूसरे से कैसा सम्बन्ध है, तथा मनुष्यों का कोई समूह दूसरे किसी समूह से सम्पर्क में आने पर कैसे बर्त्तता है, यह अनेक बार उन समूहों की जीविका के स्वरूप से निश्चित या प्रभावित होता है।

पुराणाश्मी आखेटक दशा में जब आखेटकों के झुंड आपस में लड़ते और एक झुंड दूसरे को हरा देता, तब जीतने वाले हारने वालों को भगा दें या मार दें इसके सिवाय और कुछ न कर सकते थे। हारने वाले पुरुषों को पकड़ कर कैदी या दास बनाने से विजेताओं को कोई लाभ न होता—हाँ, किसी दशा में हारे झुंड की स्त्रियों को वे भले ही पकड़ लेते। मरों की लाशों

को विजेता प्रायः छोड़ देते, पर किन्हीं किन्हीं झुंडों में ऐसी प्रथा भी रही कि वे उन्हें दूसरे जानवरों की तरह खा जाते। वैसे मनुष्यों के झुंड पुरुषादक कहलाते।

यह तो स्पष्ट ही है कि आखेटक खानाबदोश दशा में स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध वैसा टिकाऊ नहीं हो सकता था जैसा पीछे के टिके समूहों में हुआ।

मनुष्य के जिन समूहों ने पशुपालन और पशुओं की सवारी करना पहले सीखा, उन्होंने पैदल चलने वाले आखेटक समूहों को बड़ी आसानी से हरा दिया। इसी प्रकार जिन समूहों ने ताँबे काँसे और फिर लोहे के हथियार पहले बनाये, वे युद्धों में दूसरे से बाजी मार ले गये। हारने वाले या तो मिट गये या विजेताओं के दास बने। पशुपालक जैसे पशुओं से अपना काम लेते, वैसे पराजित दासों से भी ले सकते थे। तो भी खानाबदोश पशुपालकों के पास दासों से कराने के लिए बहुत काम न होता, और खानाबदोशी की दशा में उनके दासों को भाग जाने के भी बहुत अवसर मिलते थे। किन्तु टिके हुए कृषकों के पास दासों से कराने को काम भी खूब था और दासों को वश में रखना भी उनके लिए सुगम था। इसलिए कृषि के विकास के साथ-साथ दासता की प्रथा भी बहुत से मनुष्य-समूहों में खूब पनपी।

कृषि, कारीगरी और टिके जीवन का विकास होने पर ही वस्तुओं के विनिमय या व्यापार, चोरी, डकैती, एक समूह द्वारा दूसरे समूह को हरा कर उससे कर या खिराज वसूलने आदि की पद्धतियाँ भी चलीं।

यों मनुष्यों की जीविका के प्रकारों में परिवर्तन होने के साथ उनके समूहों का ढाँचा भी बदलता गया। पर वह सब समूहों में सदा ठीक एक ही ढंग से बदला हो सो बात नहीं।

साथ ही हमने देखा कि मनुष्य-समूहों के पारस्परिक संघर्ष में प्रगति में पिछड़े समूह प्रायः हार कर मिट जाते रहे। इन हारने और मिटने वालों की दृष्टि से यह बात ठीक नहीं लगती कि मनुष्य लगातार उन्नति कर रहा है, क्योंकि वे किसी मंजिल तक उन्नति करके उसके बाद रुक जाते और गिर पड़ते हैं। किन्तु यदि हम मनुष्यमात्र की अर्थात् समूची मानव जाति की दृष्टि

से देखें, तो मनुष्य लगातार उन्नति करता ही प्रतीत होता है। मनुष्यों का एक समूह जहाँ थक कर उन्नति की मशाल को छोड़ देता वहाँ दूसरा उसे थाम लेता है। और इस उन्नति का श्रेय बहुत कुछ मनुष्यों के जीविका-संघर्ष को प्रतीत होता है।

परन्तु इस सिद्धान्त की सीमा है। मनुष्य की उन्नति-अवनति का एक और पहलू भी है।

§७. मनुष्य की ऊँची प्रवृत्तियाँ—आखेटक मनुष्य जानवरों का पीछा करते करते अपने आखेट को सुरक्षित करने की प्रेरणा से कैसे उन्हें पालने लगा होगा इसका अनुमान हमने ऊपर किया है। किन्तु एक और प्रकार से भी उसे पशुओं को पालने की प्रेरणा मिली हो सकती है। किसी शिकारी ने कभी किसी हिरनी के साथ उसका छोटा सा बच्चा भी पकड़ा, या हिरनी का पेट फाड़ा तो जीता बच्चा निकल आया, जो उसे बहुत प्यारा लगा और उसने उसे पाल लिया। पशुपालन का आरंभ यों भी हुआ हो सकता है। सुन्दर प्राणी को प्यार करने की इच्छा जो उस शिकारी में थी उससे उसे अपनी जीविका में कोई प्रत्यक्ष लाभ नहीं था। फिर भी वह इच्छा थी ही।

पुराने आखेटकों की गुफाओं में जहाँ उनके पत्थर के हथियार पाये गये हैं, वहीं गेरु आदि के रंगों से उन गुफाओं की दीवारों पर उनके बनाये चित्र भी मिले हैं, जिनमें से अनेक बहुत जानदार और सुन्दर हैं। नवाश्मी और ताम्र काल के मिट्टी के बर्त्तनों पर सुन्दर रँगाई और चित्रकारी पाई जाती है। उस चित्रकारी से भी जीविका में कोई लाभ न था।

सुन्दर वस्तुओं को पहचानने और रचने की योग्यता तथा पसन्द करने की प्रवृत्ति की तरह एक और ऊँची प्रवृत्ति भी मनुष्य में है। वह है सचाई को खोजने और ज्ञान पाने की। हमने देखा है कि पशुपालक दशा में मनुष्यों ने तारों को झाँकते हुए तारों की स्थिति जो पहचान ली उससे उन्हें अँधेरी रातों में दिशा पहचान कर रास्ते ढूँढने में बड़ी सहायता मिली। पर वह लाभ पीछे जा कर हुआ। पहलेपहल जिन मनुष्यों ने तारे झाँकना शुरू किया उन्हें तब उससे कोई लाभ नहीं होता था। उन्हें केवल जानने की इच्छा थी।

मनुष्य का ज्ञान बढ़ता जाने से उसकी जीविका बेहतर होती गई इसमें सन्देह नहीं। ज्ञान की नई बातें बहुत बार जीविका के लिए या युद्ध काल में जीवन-रक्षा के लिए लाचार होने पर सूझती हैं यह भी ठीक है। पर मनुष्य के ज्ञान का बहुत बड़ा अंश उन लोगों का खोजा हुआ है जिन्होंने केवल इसलिए उसे खोजा कि उनके अन्दर सत्य की प्यास थी, वे सचाई को जानने के लिए यों ही उत्सुक और आतुर होते थे। उन्हें स्वयं उस ज्ञान को ढूँढ निकालने से कुछ लाभ नहीं हुआ, उलटा बहुत बार हानि हुई और बहुत कष्ट झेलने पड़े। पीछे उनके ज्ञान से सब लोगों को लाभ हुआ यह दूसरी बात है।

मनुष्य में एक और ऊँची प्रवृत्ति भी है। वह है भलाई करने की। मनुष्य सदा अपने या अपने समूह के स्वार्थ के लिए ही नहीं लड़ता। अनेक मनुष्य जिस बात को उचित या न्यायपूर्ण समझते हैं उसके लिए भी लड़ते हैं, और उसके लिए लड़ते हुए अपने स्वार्थ का बलिदान कर बहुत कष्ट झेलते हैं।

भलाई को हम शिव मंगल या कल्याण भी कहते हैं। सत्य शिव और सुन्दर को लक्ष्य करके चलने की मनुष्य में जो प्रवृत्तियाँ हैं उन्हें हम मनुष्य की ऊँची प्रवृत्तियाँ कहते हैं।

ये प्रवृत्तियाँ मनुष्य में सदा रही हैं। सभी युगों में भिन्न भिन्न मनुष्यों में ये न्यूनाधिक होती हैं, पर ऐसा नहीं कि आखेटक दशा से आज तक जीविका की उन्नति के साथ ये बढ़ती या घटती गई हों। जिस आखेटक ने पहलेपहल आग बालने का तरीका निकाला, या जिस पशु-पालक ने हल में बैल जोत कर खेती करने का रास्ता दिखाया, उसकी प्रतिभा भाप-एंजिन या हवाई जहाज की ईजाद करने वालों से कम न थी। दूसरी तरफ, मनुष्य की बुरी प्रवृत्तियाँ भी जीविका की उन्नति के साथ घट नहीं रही हैं। आज जो लोग एक एक अस्त्र से लाखों प्राणियों का संहार करते हैं वे खूँख्वारी में पुराने पुरुषादकों से कम नहीं हैं।

मनुष्य की ऊँची प्रवृत्तियों को कुछ लोग आध्यात्मिक और उसकी स्वार्थ-प्रेरित प्रवृत्तियों को आधिभौतिक कहते हैं। एक पहलू से देखने पर ऐसा

दिखाई देता है कि मनुष्य की आधिभौतिक उन्नति बहुत कुछ इन्हीं आध्यात्मिक प्रवृत्तियों से की गई चेष्टाओं का फल है। आधिभौतिक उन्नति से प्राप्त वैभव जब किसी समूह में अपने मूल-भूत उन्नति के इन प्रेरकों को दबाने लगता है, तब वह समूह अपने पतन और नाश की तैयारी करता है। वैभव के साथ जब तक किसी समूह के अधिक लोग संयम रखते और इन मूल प्रेरणाओं को प्रोत्साहित करते चलते हैं, तब तक वह समूह उन्नति के पथ पर चलता रहता है।

मानव उन्नति और अवनति के सिद्धान्त गणित के से स्पष्ट और निश्चित सूत्रों में नहीं कहे जा सकते। तो भी यह कहा जा सकता है कि जीविका-संघर्ष द्वारा मनुष्य के उन्नति करने की बात में जैसी सचाई है, वैसी ही सचाई 'ऊँची' या 'आध्यात्मिक' प्रवृत्तियों की प्रेरणा से उन्नति करने की बात में भी है।

§ ८. मानव कृष्टियाँ और वंश—कोई मनुष्य-समूह अपनी ऊँची-नीची अच्छी-बुरी सहज प्रवृत्तियों से प्रेरित हो कर जो कुछ रचता है उसे हम उसकी कृष्टि कहते हैं। विभिन्न मनुष्य-समूहों ने विभिन्न युगों में भिन्न भिन्न प्रकार की कृष्टि सिरजी है इसमें सन्देह नहीं। उस विभेद के कारण क्या हैं?

पहला कारण निस्सन्देह देश अर्थात् भूमि जलवायु और प्राकृतिक परिस्थिति है। कोई भी मनुष्य-समूह जैसे देश में रहेगा उसके अनुसार ही रचना करेगा। काल अर्थात् ऐतिहासिक परिस्थिति अर्थात् किसी युगविशेष में चारों तरफ के बनाव भी उसी प्रकार मनुष्यों के बर्ताव और उनकी कृति को प्रभावित करते हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्यों की कृष्टि उनके अपने बीज वंश अथवा नस्ल से प्रभावित होती है ऐसा भी प्रचलित विश्वास है। अनेक जातियों के लोग अपने को सब जातियों में श्रेष्ठ और विधाता की विशिष्ट कृपापात्र जाति मानते और कहते रहे हैं। दूसरी ओर संसार के अनेक श्रेष्ठ पुरुष मनुष्य मात्र की समानता की घोषणा करते आये हैं। दोनों मतों में से किसमें कितना सत्य है इस विवाद में पड़े बिना भी हमें यह जानना चाहिए कि मनुष्य के अनेक वंश और अनेक भाषाएँ होना मानुष प्राणी के विकास का एक पहलू है और इसलिए नृवंश का प्रभाव कृष्टि पर होना स्वाभाविक है।

भारत में बसे हुए चार नृवंशों—आर्य द्राविड आग्नेय और चीन-किरात—का परिचय पिछले अध्याय में दिया गया है। किन्तु भारत को अपने इतिहास में दूसरे अनेक मानव वंशों से भी वास्ता पड़ता रहा है, इसलिए हमें संसार के सभी नृवंशों के विषय में कुछ जानना चाहिए।

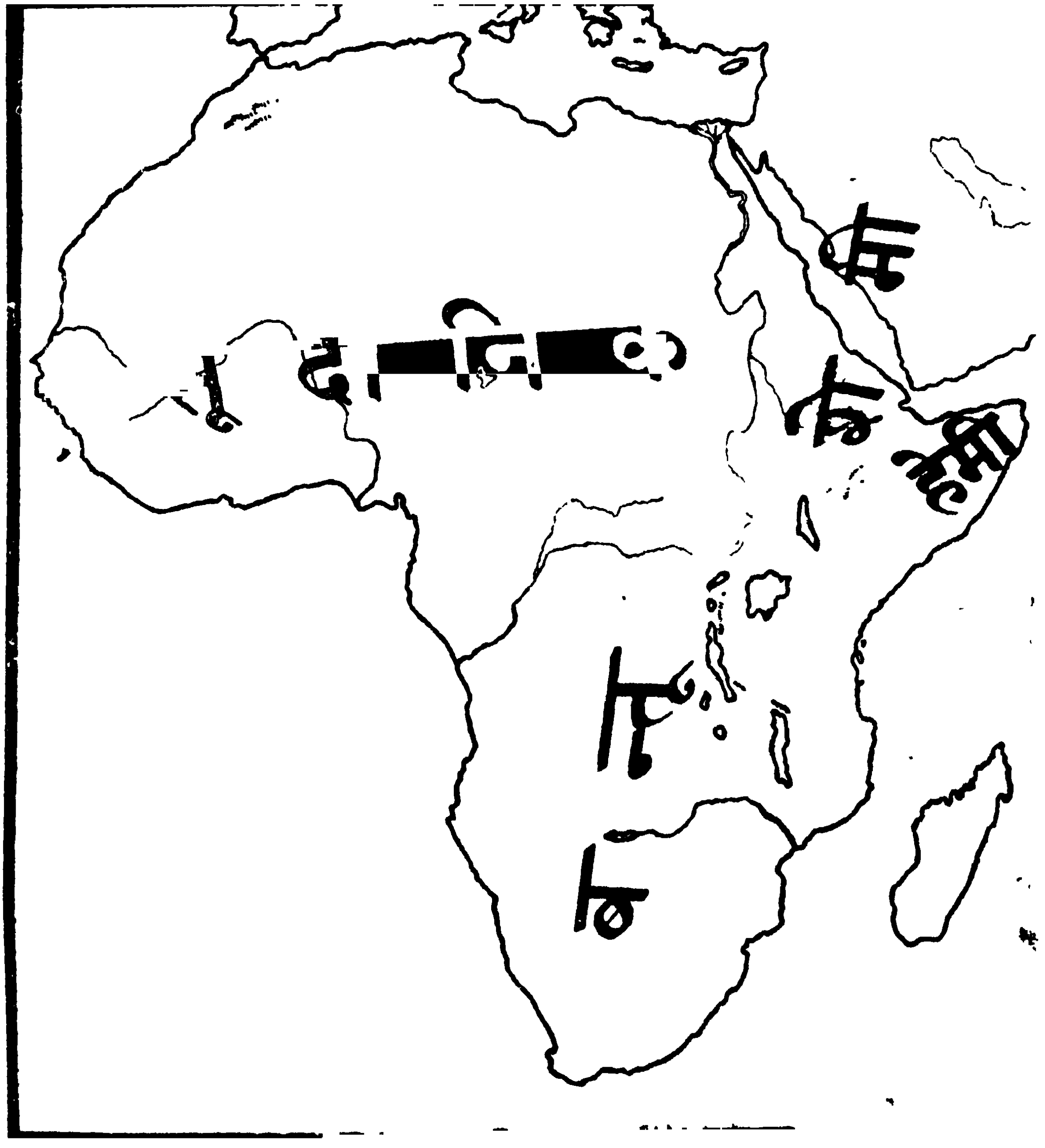
चीन की उत्तरी सीमा पर मंगोल और मंचु देश हैं। हूण और तुर्क लोग भी प्राचीन काल में उन्हीं देशों की उत्तरी सीमा पर रहते थे। मंगोल मंचु और तुर्की भाषाओं को मिला कर एक समूह बनता है। मंगोलिया के अल्तइ पर्वत के नाम पर विद्वानों ने इसका नाम अल्तइक रक्खा है। रूस के ऊराल पर्वत की सीमा पर भी हूणों-तुर्कों से मिलते-जुलते लोग रहते थे। अल्तइक और ऊराली भाषाएँ मिला कर एक वंश बनता है जिसे विद्वानों ने ऊराल-अल्तइक नाम दिया है। युरोप में फ़िनलैंड और हुनगारी की भाषाएँ भी उसी वंश की हैं।

भारत के पच्छिम अरब देश है। अरबी, यहूदियों की हिब्रू और अबीसीनिया या हब्श देश की हब्शियानी भाषाएँ एक वंश की हैं। वह सामी या शेमी (सेमेटिक) कहलाता था। प्राचीन काल में ईरान की खाड़ी पर बावेरु या बाबिल और खल्द नामक बस्तियाँ थीं; उनके उत्तर-पच्छिम अस्सुर लोगों का देश ('असीरिया') था और आधुनिक सीरिया-फिलिस्तीन के तट पर पणि लोगों का देश ('फ़िनीशिया')। बाबिल-खल्दियों, अस्सुरों और पणियों की भाषाएँ भी शेमी वंश की थीं। वे भाषाएँ मिट चुकी हैं। अरब लोग पहले खास अरब में ही रहते थे। सातवीं शताब्दी में वे ईरान की खाड़ी से भूमध्य सागर तक और मिस्र से मोरक्को तक फैल गये। उन सब देशों में अब अरबी बोली जाती है।

बाबिलियों खल्दियों के समकालिक मिस्र के हामी या हेमी (हैमिटिक) लोग थे। उन हेमियों के थोड़े से वंशज अब मिस्र में बचे हैं। उनके अतिरिक्त अफरीका के पूरबी तट पर सोमालिस्तान और उसके पास-पड़ोस की भाषाएँ भी उसी वंश की हैं। बाकी अफरीका में दो बड़े वंश हैं, एक सूदानिक जिसमें सूदान से पच्छिमी अफरीका तक की भाषाएँ हैं, और दूसरा बन्तू जिसमें मध्य

और दक्खिनी अफरीका की।

मंचूरिया के पूरब तरफ एशिया के उत्तरपूरवी कोने, कोरिया, जापान



नक्शा ६   मुख्य मानव नस्लें (२) अफरीका की

और कमचतका प्रायद्वीप की भाषाएँ एक अलग परिवार की हैं। पुरानी दुनिया के उत्तरपूरवी या ईशान कोण में होने से इसे हम ऐशानी† वंश कहते हैं।

---

† अंग्रेजी में हाइपरबोरियन, जिसका मूल यूनानी रूप है इपेरबोरेओस

अमरीका महाद्वीप को युरोप के लोगों ने सोलहवीं सदी में जीता। वहाँ के पुराने लाल इन्दियों का उन्होंने संहार कर दिया या उन्हें बन्द घेरों में रख दिया। उन लाल इन्दियों की भाषाओं के कई वंश अभी तक ज़िन्दा हैं, पर धीरे धीरे मिट रहे हैं। अब उत्तरी अमरीका के बड़े भाग में अंग्रेज़ी, कैनेडा के एक अंश में फ्रांसीसी, ब्राज़ील में पुर्तगाली तथा बाकी सारे दक्खिनी और मध्य अमरीका में स्पेनी चलती है।

जैसा कि पीछे कहा गया है, मनुष्यों के रंग-रूप पर ध्यान देने से भी नृवंशों या मानव नस्लों का भेद दिखाई देता है। भाषा से नस्ल या वंश की पहचान बहुत कुछ होती है, पर सदा नहीं होती, क्योंकि जिस देश में जो लोग प्रबल होते हैं उनकी भाषा दूसरे भी अपना लेते हैं। विभिन्न नृवंशों के लोगों में विवाह होने से भी नस्लों के चिह्न मिटते रहते हैं। जलवायु भोजन और रहन-सहन का भी उन चिह्नों पर प्रभाव पड़ता है।

नृवंशविज्ञानी अर्थात् मानव वंशों की खोज-पड़ताल करने वाले मोटे तौर पर संसार के लोगों को तीन बड़े वंशों में बाँटते हैं। एक गोरा या गेहुँआ वंश जिसमें मुख्य आर्य लोग हैं। दूसरा काला वंश जिसमें मुख्य अफ़रीकी, द्राविड और आग्नेयों की बहुत सी शाखाएँ हैं। सामी और हेमी इन दोनों के बीच में हैं। तीसरा पीला वंश जिसमें चीन-किरात, ऊराल-अल्तइक और ऐशान वंश के लोग हैं। लाल इन्दी भी इस पीले वंश की ही शाखा हैं। बहुत पुराने ज़मानों में उत्तरपूरबी एशिया की भूमि अमरीका से जुड़ी हुई थी, बेरिंग खाड़ी तब नहीं थी, जिससे एशिया से अमरीका तक आखेटक मनुष्य आते जाते थे।

रंग के अतिरिक्त विभिन्न नृवंशों के कद तथा खोपड़ी आँख नाक जबड़े

(बहुवचन इपेरबोरेई)। बोरेओस का अर्थ है उत्तरी या उत्तरपूर्वा पवन; इपेर-बोरेओस = उत्तरी पवन से भी परे अर्थात् अत्यन्त उत्तर का। इपेरबोरेई लोग यूनानी धारणा के अनुसार गोरे रंग नीली आँखों और सुनहरे केशों वाले थे। इस धारणा के रहते जापानियों के अर्थ में इपेरबोरेई शब्द उतना ठीक नहीं है जितना हमारा ऐशान शब्द।

और केशों की बनावट में अन्तर होता है।

गोरे नृवंश का कद प्रायः लम्बा, पीले का प्रायः नाटा होता है।

खोपड़ी की लम्बाई को १०० मानें, और चौड़ाई उसके अनुपात में ७७·७ तक हो तो उसे दीर्घकपाल कहते हैं। यदि चौड़ाई ८० से अधिक हो तो उसे हम वृत्तकपाल अर्थात् गोल खोपड़ी कहते हैं। आर्यों की अधिकतर शाखाएँ दीर्घकपाल हैं; पीली जातियों की वृत्तकपाल। भारत में बंगाली प्रायः वृत्तकपाल हैं, उनका सिर देखते ही चौड़ा लगता है। इसका प्रकट कारण यह है कि बंगालियों में किरातों का खून खूब मिला है। खोपड़ी की लम्बाई चौड़ाई नृवंशों के दूसरे चिह्नों की अपेक्षा बहुत अधिक स्थायी है।

नाक की लम्बाई १०० मानें और चौड़ाई उसके अनुपात से ७० तक हो तो उसे हम सुनास कहते हैं। चौड़ाई ८५ तक हो तो मध्यनास और ८५ से भी अधिक हो तो पृथुनास। आर्य लोग सुनास होते हैं। द्राविडों की मुख्य पहचान चौड़ी नाक है।

दोनों आँखों के बीच में नाक के पुल का कम या अधिक उठा होना एक और पहचान है। पीली जातियों की नाक का पुल बहुत कम उठा होता है, इससे उनकी नाकें चिपटी, गालों की हड्डियाँ उभरी हुई और चेहरे चौड़े दिखाई देते हैं।

मुँह और जबड़े का माथे की सीध से आगे बढ़ा या न बढ़ा होना एक और पहचान है। इसी प्रकार होठों का मोटा या पतला होना। हब्शियों का जबड़ा आगे बढ़ा और होंठ मोटे बाहर निकले हुए होते हैं।

विभिन्न नृवंशों के केशों की बनावट में भी अन्तर है। हब्शियों के केश ऊन की तरह गुच्छेदार, आर्यों के लहरदार और पीली जातियों के सीधे होते हैं। आर्यों की दाढ़ी-मूँछ भरपूर, हब्शियों की मध्यम और पीली जातियों की बहुत कम उगती है।

मनुष्य की भाषाओं और देह-लक्षणों में इतना मौलिक वंशभेद कैसे हो गया? इस विषय में विद्वानों के दो मत हैं। एक यह कि मानुष प्राणी का रूप प्रकट होने से पहले मानुष और वनमानुष का पूर्वज जो प्राणी था, उसी

की विभिन्न नस्लें हो चुकी थीं और उन विभिन्न नस्लों से विभिन्न नृवंशों का विकास हुआ। दूसरा यह कि मानुष प्राणी का उदय एक ही रूप में हुआ, पर पुराणाश्मी काल के ४-५ लाख वर्षों में जब उसका विकास हो रहा था, तब लाखों वर्षों तक विभिन्न मनुष्य-टोलियों के एक-दूसरे से दूर दूर और विभिन्न प्राकृतिक परिस्थितियों में विचरने और रहने से विभिन्न नृवंश बन गये। ध्यान रहे कि मनुष्य की वाणी का विकास भी इसी अवधि में हुआ। इसलिए विभिन्न नृवंशों की भाषाओं का आरम्भ से ही पृथक् पृथक् दिशाओं में उगना और बढ़ना पूरी तरह सम्भावित था।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. जीवाश्म किसे कहते हैं? वह कैसे बनता है?

२. पृथ्वी की विभिन्न परतों में जीवों के चिह्न किस क्रम से पाये जाते हैं?

३. मनुष्य के जीविका-उपार्जन के तरीकों में किस क्रम से उन्नति हुई?

४. पुराणाश्म और नवाश्म का क्या अर्थ है? पुराणाश्म काल और नवाश्म काल कब से कब तक रहे?

५. पुराणाश्मी गुफाओं में की चित्रकारी से क्या सूचित होता है?

६. मुख्य मानव वंश कौन कौन से हैं?

७. दीर्घकपाल और वृत्तकपाल का क्या अर्थ है?

८. दासत्व प्रथा का उद्भव और विकास कैसे हुआ?

९. भूमि-स्वत्व का आरम्भ और विकास कैसे हुआ?

अध्याय ४

भारत का भूगर्भ-विकास तथा सभ्यता का उदय

§१. **आदिकल्पीय और धारवाड़ी मेखला**—पृथ्वी के छिलके के जिस अंश को हम अपना भारत कहते हैं वह दो सर्वथा भिन्न खंडों के मेल से बना है। पहला खंड है दक्खिन और मध्यमेखला का प्रायद्वीप जो प्राचीनतम चट्टानों का बना हुआ और पृथ्वी के सब से पुराने स्थलों में से है। दूसरा खंड है भारत के सीमा-पर्वतों का जो मुख्यतः अत्यन्त मुड़ी-तुड़ी तहदार

तलछटी चट्टानों से बना है और जो दीर्घ काल तक समुद्र के भीतर था। इन दोनों के जीवन की कुछ घटनाओं से उत्तर भारतीय मैदान की रचना हुई है।

प्रायद्वीप-भारत का बड़ा भाग उन अजीव आदिकल्पीय चट्टानों से बना है जो द्रवरूप पृथ्वी के ठंडे होने से उसपर पहलेपहल जमी पपड़ी का अंश हैं। वे स्फटिकरूप परतदार चट्टानें हैं—अभ्रक, तेलिया (ग्रैनाइट), बिल्लौर आदि। अति दीर्घकालीन परिवर्त्तनों से इनकी बनावट अत्यन्त पेचीदा हो गई है। दक्खिन और मध्यमेखला की ७½ लाख वर्गमील सतह इन्होंने छेंक रक्खी है। हिमालय के भीतर का काफी अंश भी इनसे बना है।

इन आदिकल्पीय चट्टानों की बहुत कुछ समकालिक स्लेट संगमरमर आदि की वे चट्टानें हैं जो प्राथमिक पपड़ी के गड्ढों और अवकाशों में प्रथम समुद्र के छोड़े तलछट से बनी हैं। ये भी अत्यन्त रूपान्तरित हो चुकीं, और पूर्णतः अजीव हैं। इन पहली तलछटी चट्टानों का ठीक नमूना धारवाड़ में मिलता है, इसलिए भूगर्भशास्त्री इस स्तर की सभी चट्टानों को धारवाड़ी कहते हैं। धारवाड़ी मेखला के बीच बीच अनेक लम्बी प्रणाडियों में सोना लोहा ताँबा सीसा आदि धातुएँ तथा वैडूर्य लाल नीलम तामड़ा आदि रत्न भरे हैं। धारवाड़ी मेखला समूचे प्रायद्वीप-भारत में फैली तथा मध्य हिमालय के भीतरी भाग में भी है।

§ २. कडपइ पारियात्रिक और विन्ध्यक् मेखला—उस मेखला के बहुत काल बाद का बना हुआ स्लेट चूना-पत्थर आदि चट्टानों का स्तर है, जिसके बीच बीच ज्वालामुखी-उगाल जमे हुए हैं। इसका सबसे अच्छा नमूना आन्ध्रदेश के कडप* जिले में होने से भूगर्भशास्त्री इसे कडपइ मेखला कहते हैं। इसकी चट्टानें भी जीवाश्मरहित हैं, परन्तु इनके मूल जमाव-काल में इनमें जीवांश रहे हों यह सम्भव है, अतः ये जीव-सम्भव कल्प की हैं। कडप

† दक्खिनी भाषाओं में शब्दों का अन्तिम अकार संस्कृत की तरह बोला जाता है। तेलुगु में जिसे कडप लिखते हैं, उसका अंग्रेजी रूप कुड्डापाह (Cuddapah) हो गया है।

के अतिरिक्त छत्तीसगढ़ में और गोदावरी नर्मदा काँठों में भी ये दूर दूर तक फैली हैं।

कडपइ चट्टानों की समकालिक किन्तु उनकी अपेक्षा बहुत अधिक विक्षुब्ध और तहाई हुई ईडर से दिल्ली तक फैली आड़ावळा की तथा ग्वालियर-बिजावर प्रदेश की चट्टानें हैं, जिन्हें दिल्ली में होने से भूगर्भशास्त्रियों ने दिल्लवी नाम दिया है। उन्हें पारियात्रिक कहना बेहतर होगा। कडपइ-पारियात्रिक स्तर १७ से २० हज़ार फ़ुट तक गहरा है।

इस स्तर की नंगी हुई हुई सतह के ऊपर १४००० फ़ुट की तलछटों से बनी प्रायः अविक्षिप्त चट्टान-परम्परा बुन्देलखण्ड-बघेलखण्ड के बड़े क्षेत्र में चली गई है, जिसे भूगर्भशास्त्रियों ने विन्ध्यक नाम दिया है। इसके दो स्पष्ट विभाग हैं, निचला स्लेटों चूनापत्थरों आदि का, उपरला बलुआ पत्थरों का। विन्ध्यक चट्टानें कर्णूल, दक्खिनी महाराष्ट्र और गोदावरी पेनगंगा काँठों में भी हैं। इनके समकालिक ज्वालामुखी-विस्फोट का प्रमाण पच्छिमी राजस्थान के मल्लानी प्रदेश में विद्यमान है, जहाँ इसी स्तर के बीच ज्वालामुखी-उगाल से बनी विशाल सतह है। विन्ध्यक मेखला में अतिसुन्दर और दृढ इमारती पत्थरों का असीम भण्डार तथा चूना और सीमेंट बनाने की बढ़िया सामग्री है। गोलकुण्डा की प्रसिद्ध हीरे की खान इसी स्तर में थी।

विन्ध्यक स्तर में आरम्भिक जीवों कीड़ों आदि के चिह्न पाये जाते हैं, इसलिए यह पुराणजीव कल्प के उदय का सूचक है। इसी स्तर के काल में मध्यमेखला के पर्वतों का भूकम्पों द्वारा अन्तिम और मुख्य उठाव हुआ। हिमालय और उत्तर भारत तब तक गहरे समुद्र में थे।

§ ३. भारत में पुराणजीव और मध्यजीव कल्प, गोंडवानी स्तर और गोंडवानाभूमि—पृथ्वी की पुराणजीव परत को उसके भीतर पाये जाने वाले जीवाश्मों के क्रम से नीचे से ऊपर छह स्तरों में बाँटा जाता है। हिमालय में वे छहों स्तर अन्य देशों की तरह ठीक क्रम से कई हज़ार फ़ुट की गहराई में विद्यमान हैं जो कश्मीर स्पिती (उपरली सतलज में मिलने वाली स्पिती नदी की दून) आदि की कगारों में स्पष्ट दिखाई देते हैं। उनमें

के जीवाश्म सबके सब समुद्री हैं, जिससे यह सूचित है कि हिमालय तब समुद्र में था।

प्रायद्वीपी भारत में पुराणजीव कल्प का कोई भी चिह्न नहीं पाया जाता, जिसका यह अर्थ है कि उन करोड़ों वर्षों में वहाँ तलछट नहीं जमे, भूमि की सतह केवल घिसती-धुलती रही। मध्यमेखला के उठने के बाद से इस काल में वहाँ कोई भूकम्प भी नहीं हुआ।

मध्यजीव कल्प की रचनाएँ प्रायद्वीप-भारत और हिमालय दोनों में हैं। इसके स्पष्ट प्रमाण हैं कि पुराणजीव कल्प के अन्त में और फिर मध्यजीव कल्प में भारी भूचाल आये। दक्खिन में धरती के तनाव से आदिकल्पीय चट्टानों में दरारें पड़ीं और गड्ढे बने। उन गड्ढों में तलछट जमा होने लगा जो अंशतः पुराणजीवी पर अधिकतर मध्यजीवी है। इस बात के भी प्रमाण हैं कि इस कल्प के आरम्भ में ही उत्तरी ध्रुव से फैली हिम की बाढ़ हिमालय-क्षेत्र से उड़ीसा तक फैल गई, जिससे इस काल की निचली सतह में बरफ से घिसे पत्थर और कंकड़ और बरफ के बनाये हुए ग्राव-(पत्थर-) पिंड पाये जाते हैं। हिमालयक्षेत्र में समुद्र की बाढ़ आई और हज़ारा से असम तक समुद्र-तल पहले से अधिक गहरा हो गया। भूमध्यसागर से दक्खिनपच्छिमी चीन तक तब जो महासमुद्र फैला था यह उसका पूरब तरफ बढ़ना था। पीछे इसमें तलछट जमा होने लगा जो सबका सब समुद्री है। धरती के इन गहरे गड्ढों में भारी तलछट भर जाने और जिन स्थलों से वह तलछट बह कर आया उनके अपेक्षया पतला पड़ने से धरती-छिलके का संतुलन बिगड़ता गया जिससे आगे चल कर उसमें झुर्रियाँ पड़ीं। वे झुर्रियाँ ही पृथ्वी के महापर्वत हैं। जैसा कि हम देखेंगे, यह झुर्रियाँ उठने की प्रक्रिया हज़ारों बरसों के भूकम्पों द्वारा हुई।

प्रायद्वीपी भारत की नयी दराड़ों और गड्ढों में जो तलछट जमा हुआ वह नदियों और स्थल का है। उसके जमाव से बनी चट्टानों का नाम भूगर्भ-शास्त्रियों ने गोंडवानी रक्खा है, क्योंकि नर्मदा के दक्खिन के प्रदेश में जो कभी गोंडवाना कहलाता रहा है, उनका ठीक नमूना पाया जाता है। २० हज़ार फुट गहरा यह तलछट का स्तर दामोदर, महानदी और गोदावरी के काँठों में

तथा सातपुड़ा में भी है। गोंडवानी स्तर की जड़ में हिम से घिसे पत्थरों का पाट है, जिसके ऊपर कोयले की धार १० हज़ार फुट तक मोटी है। कोयले की खानें पुराने जंगल हैं जो पृथ्वी के भीतर दब कर उसकी गर्मी से कोयला बन गये हैं। इन दबे वृक्षों का पूरा रूप अनेक खानों के भीतर दिखाई देता है। वे मध्यजीव कल्प के वृक्ष हैं जिनमें फूल-पत्ती नहीं होती थी।

गोंडवानी चट्टानों के मध्य अंश से सूचित होता है कि तब उत्तरी ध्रुव की सी सर्दी के बजाय आधा मरुभूमि का सा जलवायु आ गया था जिससे सघन वनस्पति मिट गये थे। फिर उपरले गोंडवानी स्तर में, जिसमें रवादार चूना-पत्थर की प्रधानता है, जिन उरगों और वनस्पतियों के जीवाश्म हैं वे उनसे मिलते-जुलते हैं जो पृथ्वी के अन्य देशों में उपरले मध्यजीव कल्प में पाये जाते हैं। गोंडवानी चट्टानों के ये विभिन्न स्तर सातपुड़ा, गोदावरी काँठे, राजमहल, कच्छ और तमिलनाड के कई क्षेत्रों के भारी कगारों में दिखाई देते हैं।

इसी प्रकार के भूमि-जमाव जिनमें नीचे हिम-कृत शिलापिंड, फिर कोयले की धारें आदि हैं, तथा जिनमें उरगों और वनस्पतियों की वही योनियाँ जीवाश्म रूप में हैं, आस्ट्रेलिया, मदगस्कर, दक्खिनी अफरीका और सुदूर पातागोनिया (दक्खिनी अमरीका के दक्खिनी छोर के प्रायद्वीप) में भी हैं। इससे भूगर्भशास्त्री यह मानते हैं कि मध्यजीव कल्प में इन सब देशों में स्थल-सम्बन्ध था। उस प्राचीन महादेश का नाम उन्होंने गोंडवानाभूमि रक्खा है। उसकी उत्तरी सीमा पर हिमालय-समुद्र था जो तब दक्खिन-पच्छिमी चीन से भूमध्यसागर के अतलान्तक छोर तक फैला हुआ था। भारत महासागर के भीतर से अफरीका तक स्थल की रीढ़ अब भी टटोली जाती है।

हिमालय में इस कल्प के समुद्री तलछट के स्तर कश्मीर स्पिती गढ़वाल कुमाऊँ सिकिम आदि के अनेक महान् कगारों में देखे जाते हैं। उनका क्रम ठीक वही है जो आल्पी और अन्य युरोपीय मध्यजीव क्षेत्रों में पाया जाता है। उन स्तरों की शृंखला कहीं भी टूटी नहीं है।

उत्तर भारतीय मैदान के नीचे जो शिलाओं का पाट है उसके बारे

में कुछ जानना असम्भव है, क्योंकि उसके ऊपर हज़ारों फुट गहरी मिट्टी और बालू की तहें जमी हैं। तो भी भूगर्भशास्त्रियों का यह अनुमान है कि मध्यजीव कल्प के अन्त में समूचा उत्तर भारत एक ही समुद्र के भीतर न था। पच्छिम भारत या सिन्ध का समुद्र राजस्थान के दक्खिन-पच्छिम से बुन्देलखंड के उत्तर तक पहुँचता था, पूरब तरफ़ असम-बरमा समुद्र अरकान से असम तक फैला था। हिमालय का समुद्र उन दोनों से अलग था। दक्षिण कोशल से उत्तर कोशल की तरफ़ बढ़ा हुआ लक्षणहीन पथरीला स्थल था।

§४. **सह्याद्रि और हिमालय का उठना**—मध्यजीव कल्प के अन्तिम विभाग खटिकीय (Cretaceous) काल के अन्त में दक्खिन भारत में गहरे ज्वालामुखी-विस्फोट हुए। उनसे महाराष्ट्र का मुख्य भाग ६००० फुट ऊँचा पठार बन कर ज्वालामुखी-उगालों में ढक गया। आगे अनेक युगों की घिसाई-धुलाई से उस पठार से बहुत से चपटे शिखर वाले पहाड़ बने जो आज सह्याद्रि में लक्षित होते हैं। इनके कटे कगारों में २० से ८० फुट मोटी ज्वाला-उगाल की तह दिखाई देती है, जिसके बीच बीच नदियों और तालों की छोड़ी जीवाश्म-युक्त तलछट की पतली परते हैं। वे जीवाश्म नवजीव कल्प के आरम्भ के हैं। इन ज्वाला-उगालों में सड़क बनाने की असीम सामग्री है। इनके प्रवाहों के बीच रहे छेदों में हकीक (अगेट) आदि आलंकारिक पत्थरों की नाडियाँ हैं। दक्खिन की अत्यन्त उपजाऊ काली मिट्टी भी इन उगालों के क्षरण से ही बनी मानी जाती है। दक्खिन की ज्वालामुखी-विस्फुटित चट्टानें तृतीयक अथवा नवजीव कल्प के आगमन की सूचक हैं।

गोंडवानाभूमि इस कल्प के आरम्भ में ही अफरीका भारत और आस्त्रेलिया रूप में खण्डित हो गई।

नवजीव कल्प का पहला विभाग—नवजीवोदय काल—बीत जाने पर महान् भूकम्पों की परम्परा शुरू हुई जिससे महा-हिमालय समुद्र के गर्भ से उठ कर पृथ्वी का सर्वोच्च पर्वत बन गया। उस काल के जीवाश्मों युक्त चूना-पत्थर की चट्टानें यों १५–२० हज़ार फुट की ऊँचाई तक उठ गईं। भारत के अन्य सीमापर्वत तथा हिमालय से आल्प तक एशिया-युरोप की समूची पहाड़ी रीढ़

इन्हीं भूकम्पों द्वारा उठी।

हिमालय के नवजीवोदय और नवजीव-प्रभात काल के तलछट समुद्री हैं, उनके ऊपर के स्तरों में मध्य और प्रौढ नवजीव काल के ताज़े पानी और वायु के जीवाश्म हैं। इससे प्रकट है कि नवजीव-प्रभात काल के बाद समुद्र का हिमालय से सम्पर्क नहीं रहा। तृतीयक कल्प के निचले अर्थात् मध्य-नवजीव काल तक के स्तर में नमक-पत्थर और कोयले की तहें तथा मिट्टी-तेल के सोते हैं।

मध्यनवजीव काल के बाद के भूकम्पों से नवजीवप्रभात और मध्य-नवजीव काल के तलछट-जमावों को लिये हुए लघु-हिमालय शृंखला उठ कर महा-हिमालय के नीचे आ खड़ी हुई। उसके चरणों के साथ साथ असम से पंजाब तक उत्तरपच्छिम बहने वाली एक नदी ब्रह्मपुत्र कोसी गंडक कर्णाली अलखनन्दा आदि हिमालय की नदियों का पानी लेती हुई पीछे हटती सिन्ध खाड़ी में मिलती रही। इस नदी का नाम एक भूगर्भशास्त्री ने शिवालक नदी रक्खा है, क्योंकि इसी के स्थान में पीछे शिवालक आदि उप-हिमालय के पर्वत खड़े हुए। एक और भूगर्भशास्त्री ने यह देखते हुए कि इसमें ब्रह्मपुत्र और सिन्ध दोनों नदियों का पानी मिलता था, अंग्रेज़ी में इसका नाम इन्दोब्रह्म रक्खा। हम हिन्दी में इसे ब्रह्मसिन्धु कहेंगे। पूर्णनवजीव काल के आरम्भ अर्थात् आज से २० एक लाख वर्ष पहले तक हिमालय से उतरने वाली नदियाँ इस ब्रह्मसिन्धु में अपना तलछट डालती रहीं। इस तलछट में मम्मलों की अनेक योनियों और जातियों के जीवाश्म हैं, जिनमें मानुषाकृति कपि की भी १५ जातियाँ पाई गई हैं। आज उन मम्मल योनियों और जातियों में से बहुत कम बची हैं। चतुर्थक कल्प के आरम्भ के भूकम्पों से इन तलछटों की १७००० फुट गहरी तह को लिये हुए शिवालक (उपहिमालय) शृंखला उठ खड़ी हुई।

रावलपिंडी प्रदेश को पंजाब के लोग पोठोहार कहते हैं। भूगर्भशास्त्रियों ने उस नाम को अपना लिया है। शिवालकोपरान्त भूचालों से पोठोहार पठार बना और कुरुक्षेत्र प्रदेश भी कुछ ऊँचा उठा। ब्रह्मसिन्धु के बजाय तब सिन्ध और गंगा के अलग-अलग प्रस्रवणक्षेत्र बने। भूतपूर्व ब्रह्मसिन्धु के मुहाने के विशाल पाट में जिसके किनारों पर असीम तलछट का जमाव है, अब जेहलम

के पच्छिम की छोटी सी सोहाँ नदी बहती है ।

§५. चतुर्थक कल्प की हिम-बाढ़ें, कश्मीर और नेपाल झीलें—शिवालक की रचना के बाद उत्तरी जगत् का महान् हिमकाल शुरू हुआ जिसमें उत्तरी ध्रुव से ३६° अक्षांश रेखा तक की भूमि हिम से ढकी गई। उस हिम-बाढ़ के पूरे प्रमाण भूमि-रचना पर हुई हिम की क्रियाओं से तथा जन्तु-वनस्पति-अवशेषों से प्राप्त होते हैं। दीर्घ काल बाद वह बाढ़ उतरी, कुछ अन्तर बाद फिर दूसरी बाढ़ आई। इस प्रकार कुल चार हिम-बाढ़ें क्रमशः आईं और उतरीं। अन्तिम हिम-बाढ़ आज से प्रायः २० हज़ार बरस पहले ही हटी। यों चतुर्थक कल्प का मुख्य भाग हिम-बाढ़ों में ही बीता। मम्मलों की बहुत सी योनियाँ और जातियाँ जो शिवालक-जमाव काल में थीं इन हिम-कालों में लुप्त हो गईं। मानुष प्राणी पूर्णनवजीव काल के आरम्भ में कुछ स्थानों पर प्रकट हो चुका था। हिम-बाढ़ ने उसे दक्खिन धकेल दिया।

हिमालय की हिम-रेखा आज समुद्र-सतह से १३–१५ हज़ार फुट ऊपर है। किन्तु हिमकालों में वहाँ ५००० फुट की ऊँचाई तक हिम की क्रिया होने के प्रमाण हैं। कश्मीर कुमाऊँ आदि के अनेक ताल और शिलाओं के पाट ऐसे गलों† की क्रिया से बने हैं जो आज नहीं हैं। कश्मीर में तथा पंजाब-शिवालक के उपरले स्तर में चारों हिम-कालों और उनके बीच के तीन हिमान्तर कालों के स्पष्ट चिह्न हैं। कश्मीर की विद्यमान दून इन हिम-कालों में बरफ की और फिर हिमान्तर कालों में १००० फुट गहरी पानी की झील बन जाती। उसके पानी का निकास एक ही तरफ था। वह धीरे धीरे खाली होती, फिर भरती। उसके उतार से पहाड़ों के ढाल के साथ अनेक चपटी तलछट-वेदियाँ बन जातीं। कश्मीर दून का आधा अंश आज वैसी वेदियों से बना है जो जेहलम की सतह (५२०० फुट) से ११००० फुट ऊँचाई तक पहाड़ों के ढालों के साथ साथ हैं। कश्मीर में इन्हें करेवा कहते हैं। इनकी निलाई लिये हुई भूरी मिट्टी में कच्चा कोयला

† हिम की नदी (ग्लेशियर) को कुमाऊँ में गल और कश्मीर में गुंत्स कहते हैं, जैसे पिंडारी गल, कोलाहाई गुंत्स।

(लिग्नाइट) मिला है।

उपरले करेवों से मम्मलों के जीवाश्मों के साथ मानव हथियार भी मिले हैं। कश्मीर के अतिरिक्त सोहाँ दून से प्राप्त पत्थर-हथियारों से भी प्रकट हुआ है कि पिछली दो हिमवाढ़ों में उत्तरपच्छिमी भारत में मनुष्य विद्यमान था।

कश्मीर की तरह नेपाल दून भी इस काल में क्रमशः बरफ और पानी की झील बनती रही। वहाँ झील-तलछटों में बनी ऊँची वेदियाँ टाँड़ कहलाती हैं।

§६. **दक्खिन और हिमाचल के पुराने कच्छ तथा चट्टानों की झरझरी टोपी**—नर्मदा और तापी के काँठों में उन नदियों के बनाये विस्तृत पुराने तलछटी कच्छ उनके आज के पाट से ५०० फुट ऊपर तक गहरे चट्टान-पाटों में हैं। गोदावरी कृष्णा कावेरी काँठों में भी कुछ कम विस्तृत वैसे कच्छ हैं। हिमालय की उपरली दूनों में पुराने तलछटों से बने ऊँचे किनारों की ४-५ सतहें हैं जिनमें परस्पर सैकड़ों फुटों का अन्तर है। ये सब पुराने नदी-कच्छ आरम्भिक और मध्य चतुर्थक के हैं। भारत में मनुष्य के प्राचीनतम अवशेष इन्हीं में हैं।

गाडरवारा के ८ मील उत्तर नर्मदा के एक कंकरीले कच्छ के सीधे कगार में से पत्थर की एक कुल्हाड़ी मिली थी। वैसे ही गोदावरी के उपरले काँठे से हकीक का एक चाकू। इनके साथ मिले जीवाश्म पुराने बड़े मम्मलों के हैं जो भारत के विद्यमान मम्मलों से काफी भिन्न हैं। इसलिए ये पुराणाश्म चतुर्थक कल्प की निचली सतह के सिद्ध हुए। हिमालय की नदियों के उपरले कच्छों से मिले जीवाश्म और हथियार इनके बाद के हैं। साबरमती और तुंग-भद्रा के कच्छों से भी पुराणाश्म मिले हैं। सोहाँ की चौड़ी दून में पुराणाश्मों के बीसों "कारखानों" के अवशेष हैं। उनमें से सबसे पुराने दूसरे हिमान्तर युग के हैं।

गर्म देशों में भूमि के नीचे की आधार-शिलाओं के भीतरी परिवर्तन से उनकी उपरली टोपी झरझरी मटियाली हो जाती है। वैसी चट्टानों के साथ कृषि-मिट्टी नहीं जमती, उनके नीचे पानी भी कम होता है, इसलिए मनुष्यों की बस्तियाँ उनपर कम होती हैं। प्रायद्वीपी भारत में वैसी झरझरी मटियाली टोपी

कहीं कहीं दूर दूर तक फैली ५० से २०० फुट तक गहरी है। वह भी चतुर्थक कल्प की रचना है, अतः मनुष्य की समकालिक। भारत में उसमें पहले पुराणाश्मी काल के मानव हथियार काफी संख्या में दबे गड़े मिले हैं।

§ ७. **बंगनपल्ली की गुहाएँ**—कर्णूल ज़िले में बंगनपल्ली के पास कुछ गुफाएँ हैं जिनके तलों पर २०–२५ फुट मोटे चूना-कर्बनित के जमाव हैं। इन जमावों में गड़ी हड्डियाँ हाल के प्राणियों की हैं, अतः वे पूर्णनवजीव काल के उपरले स्तर के हैं। उनमें पत्थर के नहीं पर हड्डी के बने मानव हथियार भी पाये गये हैं जो पुराणाश्मी काल के मध्य और उपरले स्तर के हैं। मनुष्य ने जब नवाश्म बनाना और जानवरों को पालना शुरू किया, इन गुफाओं में उससे ठीक पहले का जीवन-चित्र है।

§ ८. **उत्तर भारत का बांगर खादर और कछार तथा दक्खिन की मिट्टियाँ**—हिमालय और विन्ध्य के बीच का कुण्ड जिसमें समुद्र के हटने पर अनेक जोहड़ बाकी रह गये थे, नदियों की लाई मिट्टी और बालू से धीरे धीरे भर गया। यह भराई एक सी नहीं हुई, बीच बीच में मुड़ी-तुड़ी तहें रह गई हैं, और उत्तरी किनारे पर जहाँ यह मैदान हिमालय से जुड़ता है वहाँ काफी तनाव है, जिससे भूचाल आते हैं। इस मैदान के नीचे २००० फुट तक आधार-शिलाएँ नहीं मिलीं। हाल के गुरुता-मापों से अन्दाज़ किया गया है कि इसकी गहराई ६५०० फुट होगी।

यह भूमि तीन मंज़िलों में बनी। बांगर और पुराने खादर में जिसमें कंकर खूब मिला है, हाथी घोड़े गैंडे आदि की अनेक उच्छिन्न योनियों के कंकाल मिलते हैं, इसलिए वह पूर्णनवजीव काल के मध्य अंश का है। पंजाब के नये खादर में कंकर कम है, तथा जीवित जन्तु-योनियों के अवशेष और आधुनिक मानव के कंकाल और कपाल मिलते हैं, इसलिए वह पूर्णनवजीव काल के उपरले अंश का है। गंगा और सिन्ध का डेल्टा या कछार हाल का है।

गुजरात का मैदान भी गंगा-सिन्ध मैदान का समकालिक है, पर उसका उससे कोई सम्बन्ध नहीं। वह नदियों के अतिरिक्त खाड़ियों और समुद्र के छोड़े तलछटों से भी बना है।

इन मैदानों के नीचे के रूखे और झरझरे स्तरों में ताज़े पानी के अक्षय सोते भी हैं।

गंगा-सिन्ध मैदान मनुष्य के रहने लायक कड़ा और सूखा कुछ विद्वानों के मत में आज से १० हज़ार बरस पहले, कुछ के मत में ५-७ हज़ार बरस पहले ही हुआ।

उत्तरपच्छिमी पंजाब और सिन्ध में शिथिल मिट्टी या बालू की टिब्बियाँ हैं। वे मुख्यतः आँधियों की फेंकी मिट्टी-बालू के जमाव हैं, जिनमें स्तर नहीं हैं, बीच बीच में छेद या नालियाँ सी हैं। उनमें उपरली सोहाँ कृष्टि के से उपकरण तथा जीवित जन्तु-योनियों के जीवाश्म पाये गये हैं।

दक्खिन भारत की मिट्टियाँ प्रायः नीचे वाली चट्टानों के क्षय से बनी हैं। इसीसे वे अत्यन्त प्राचीन और परिपक्व हैं।

§९. भारत और मध्य एशिया के मरु-स्थल—थर या ढाट मरुस्थल चपटा समथर रेत का मैदान ही नहीं है। उसके बीच बीच उसके चट्टानी फर्श के कम ऊँचे उठाव हैं, बीच बीच वायु के जमाए हुए रेत के टीले हैं, और बीच बीच छोटे क्षुप-वनस्पति। उसकी रेत का मुख्य अंश स्फटिक पत्थर के बारीक गोल दाने हैं जिनमें समुद्री घोंघों के टुकड़े मिले हुए हैं। रेत का कुछ अंश चट्टानी टीलों के क्षय से बना है, बाकी दक्खिन-पच्छिमी वायु का कच्छ के रन और निचले सिन्ध-काँठे से उड़ा कर लाया हुआ है। उस वायु को रोकने वाला ऊँचा पर्वत हिमालय दूर है, इसलिए उसकी नमी का लाभ राजस्थान को नहीं मिलता। वहाँ की क्षुद्र नदियाँ बढ़ती बालू को बहा कर नहीं ले जा पातीं। यों दीर्घकालिक शुष्कता से राजस्थान की मरु-दशा क्रमशः बढ़ी है। किन्तु सिन्ध डेल्टा के सूखे नदी-पाटों से सूचित होता है कि मानव इतिहासकाल में भी वहाँ पहले अच्छी आबादी रही है।

कच्छ का रन पहले समुद्र की खाड़ी थी जो उत्तरपूरब की छोटी नदियों के लाये भारी तलछट से भर गई और बहुत इधर के भूचालों से उठ गई है।

भारत के समुद्रों से उठे पानी को रोक कर हिमालय वापिस भेजता है। जो थोड़ा पानी उसके उत्तर तरफ की नालियों से निकल भी जाता है उसे सिन्ध

सतलज और ब्रह्मपुत्र लौटा लाते हैं। यों हिमालय के उत्तर तरफ एशिया के केन्द्र भाग में खुरासान (उत्तरपूर्वी ईरान) से मंगोलिया तक खुश्की बनी रहती है। उनकी वह खुश्की क्रमशः बढ़ रही है। तारीम का काँठा ऐतिहासिक काल में भी काफी उपजाऊ और वनाच्छन्न था। हिम-काल के बचे हुए क्युनलुन के गलों से निकलने वाली अनेक धाराएँ उसे सींचती थीं। वे गल अब क्रमशः क्षीण हो रहे हैं और वे धाराएँ अब बढ़ती बालू को बहा नहीं पाती।

§ १०. **ऐतिहासिक काल के भूपरिवर्तन**—जैसा कि ऊपर कहा गया है पच्छिमी राजस्थान और तारीम काँठे की बहुतेरी बस्तियाँ मानव इतिहास के काल में आ कर मिटी हैं। प्रायद्वीपी भारत के ज्वालामुखी तृतीयक कल्प तक शान्त हो चुके थे, चतुर्थक में भी वहाँ ज़मीन का उठाव-धँसाव कुछ कुछ हुआ, पर अब वहाँ विक्षोभ का कोई कारण नहीं है। पर उत्तर भारत में भूकम्प अब तक होते हैं और आगे भी होंगे।

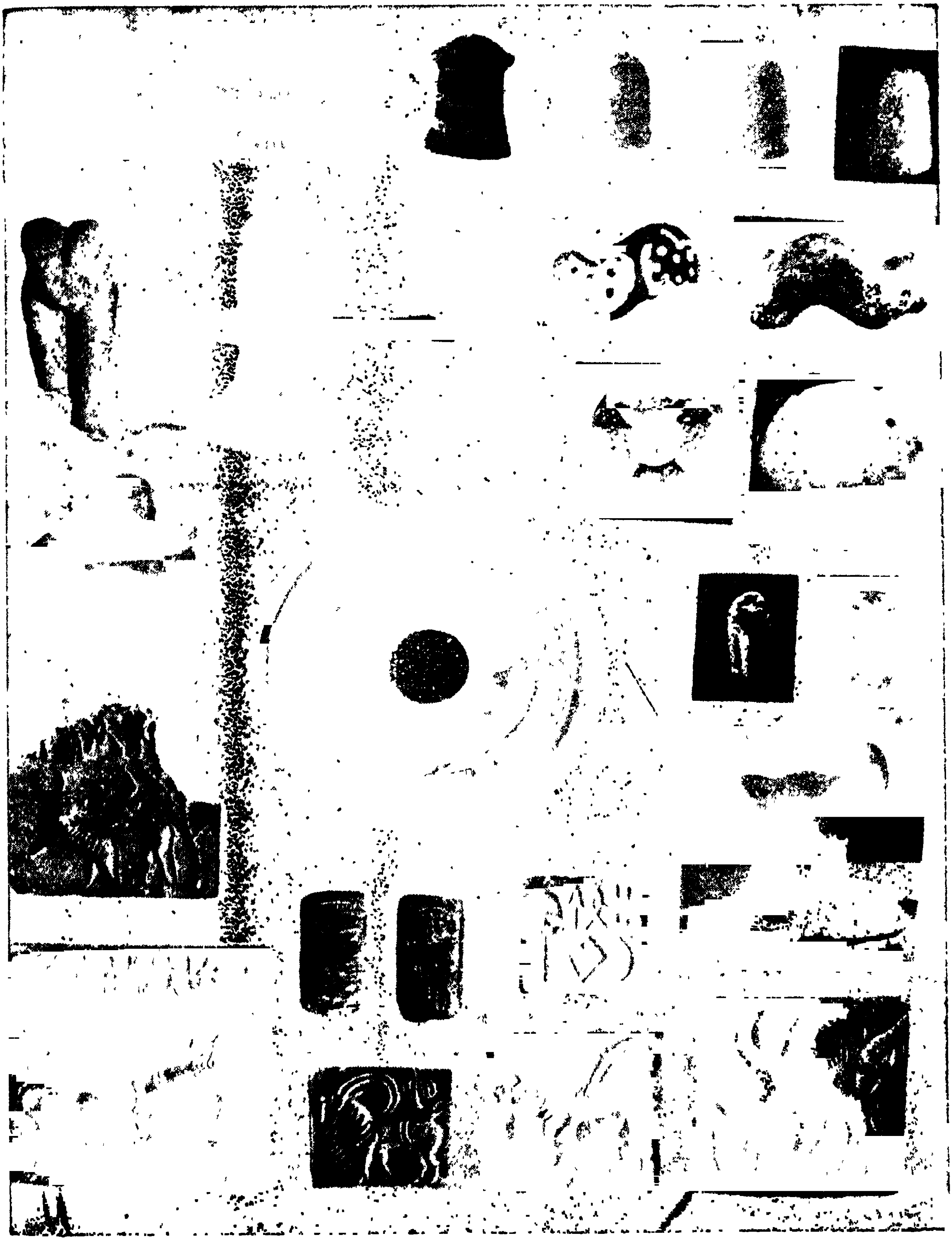
नदियों के रास्तों और समुद्रतट की शकल बदलना साधारण बात है। बंगाल में तामलूक, ताम्रपर्णी के मुहाने पर कोरकई, और सिन्ध में टट्ठा पिछले युगों में बन्दरगाह थे। अब वे सब सूखे में हैं। बाईस सौ वर्ष पहले पटना शहर गंगा और सोन के संगम पर था। आज सोन उसके बारह मील पच्छिम खसक गया है। ब्यास नदी बहुत पुराने काल में आजकल की तरह सतलज में मिलती थी; फिर बहुत काल तक वह अपनी धारा बदल कर मुलतान के नीचे चनाब में मिलती रही। मनुष्य अपने हाथों भी भूमि की अवस्थाओं को बहुत-कुछ बदल लेता है। जंगल काट कर, नहरें निकाल कर, तालाब बाँध कर और दलदलें सुखा कर ज़मीन की शकल बदल डालता और वर्षा के परिमाण को भी बहुत-कुछ घटा-बढ़ा देता है। भारतवर्ष के सब उपजाऊ मैदान पहले घने जंगल थे और हमारे पुरखों ने शताब्दियों मेहनत करके उन्हें साफ किया था।

§ ११. **"सिन्धु काँठे" की कृष्टि**—नदियों के उपजाऊ काँठे कृषक जातियों के फूलने-फलने के लिए विशेष उपयुक्त थे। संसार भर में नदियों के चार काँठे, जिनमें सबसे पहले सभ्यता का विकास हुआ, बहुत प्रसिद्ध हैं।

एक चीन की याङचेक्याङ और होआङहो नदियों के काँठे, दूसरे, हमारे गंगा-जमना और सिन्ध-सतलज के काँठे, तीसरे, ईरान की खाड़ी में गिरने वाली तिग्रिस और फरात नदियों के काँठे, और चौथे, मिस्र की नील नदी का काँठा। नील काँठे में पहलेपहल मिस्र के पुराने निवासी हेमी या हैमेटिक लोगों ने सभ्यता का विकास किया। तिग्रिस-फरात के तटों पर पहले अक्काद और सुमेर नाम की और फिर बाबिल (Babylon) और खल्द (Chaldea) नाम की बस्तियाँ थीं। अक्काद और सुमेर के लोग न जाने किस नृवंश के थे। बाबिली लोग सामी या सैमेटिक जाति के थे। चीन में चीनी जाति थी। हमारे उत्तर भारत में आर्यों के प्रकट होने पर सभ्यता का विशेष विकास हुआ। किन्तु पच्छिम भारत में आज से पाँच हजार वर्ष पहले एक कृष्टि थी जो आर्यों से पहले की हो सकती है।

सन् १९२५-२६ में सिन्ध प्रान्त के लारकानो ज़िले में मुआँ जो दड़ो अथवा मुअन जो दड़ो (अर्थात् मुओं की टिबरी अथवा मुओं का भीटा)* नामक स्थान की खुदाई से बड़ी पुरानी सभ्यता के अवशेष मिले। उस स्थान पर एक सुन्दर नगरी थी जिसकी इमारतें ईंट और पत्थर की थीं और जिसके मकान नालियाँ गलियाँ और बाज़ार बड़े सिलसिले से बने थे। वहाँ के लोग गेहूँ की खेती, कपास के कपड़े बनाना और लिखना भी जानते थे। उस नगरी के खँडहरों में बाट भी पाये गये हैं, जो क्रमशः एक दूसरे से दूने तोल के हैं, जिससे सिद्ध होता है कि वहाँ के लोग गणित भी जानते थे और व्यापार-विनिमय भी करते थे। वहाँ से जो रत्न मिले हैं उनसे सिद्ध होता है कि वहाँ के लोगों का गुजरात कर्णाटक बदख्शाँ और ईरान तक से वाणिज्य-व्यापार था। वहाँ से जो हथियार निकले हैं वे सब पत्थर और ताँबे के हैं; लोहे का पता वहाँ के लोगों को न था। अन्य कई जानवरों से परिचित होते हुए भी वे घोड़े को न जानते थे। कला की रुचि

* बस्ती के खँडहरों के दब जाने से बनी ढेरी को प्रयाग की बोली में भीटा कहते हैं। उसी को पच्छिमी पंजाब में भिड़ या ढेरी, पूरबी पंजाब में थेह, भोजपुरी में भीट या डीह और सिन्धी में दड़ो कहते हैं। खड़ी बोली में वह टिबरी कहलाती है, जैसे देहरादून जिले में राजा रिसालू की टिबरी।



मुअन जो दड़ो की खुदाई में पाई गई मुद्रें, मूर्त्तियाँ आदि
(दूसरी पंक्ति में एक आधुनिक शिवलिंग तुलना के लिए रक्खा है।)
[प्रतिलिपिस्वत्व—भारतीय पुरातत्व-विभाग]

उनमें थी। लिंग-पूजा और योगाभ्यास उनके धर्म-कर्म में सम्मिलित थे।

मुअन जो दड़ो के खँडहर जिस सतह से निकले हैं वह पाँच हज़ार बरस पुराना है। उसी तरह के अवशेष साहीवाल (मंटगुमरी) ज़िले के हड़पा, कलात पठार के नाल आदि स्थानों में भी पाये गये हैं। पिछले दो-चार वर्षों में (१९५२ के बाद) सतलज के उपरले काँठे में रोपड़ से तथा गुजरात के कुछ स्थानों से भी उसी नमूने के अवशेष मिले हैं। उनमें तथा सुमेर अक्काद के अवशेषों में बड़ी समानता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पाँच हज़ार बरस पहले पच्छिम एशिया से पच्छिम भारत तक एक ही कृष्टि फैली थी। वह कृष्टि किन लोगों की थी सो अभी कुछ ठीक नहीं कहा जा सकता। मुअन जो दड़ो की मुहरों के लेख अभी तक पढ़े नहीं जा सके। उनके पढ़े जाने पर इस प्रश्न का निपटारा हो सकेगा।



शव दफ़नाने का मटका—हड़पा से [भा० पु० वि०]

§१२. आर्यों का भारत में प्रकट होना— आज से पाँच हज़ार बरस पहले उत्तर भारत का मैदान पशुपालक कृषक लोगों को अत्यन्त अनुकूल और आकर्षक लगा होगा। हम देखेंगे कि आर्य लोग जब यहाँ प्रकट हुए तब वे पशुपालक और कृषक थे, घुड़सवारी और धातुओं का प्रयोग करते थे। आर्य वंश की विभिन्न शाखाएँ पशुपालक दशा में ही एक दूसरे से अलग हुईं यह उनकी भाषाओं की तुलना

से प्रकट होता है। उन्होंने अपना पहला आखेटक जीवन उत्तर भारत में नहीं बिताया यह निश्चित है, क्योंकि उत्तर भारत का मैदान इतने प्राचीन काल में मनुष्य के रहने योग्य नहीं था। दूसरी तरफ, दक्खिनी रूस में और कास्पी सागर के पूरब अश्काबाद प्रदेश में नवाश्मी कृष्टि के अवशेष मिले हैं जो साथ पाई गई खोपड़ियों से आर्य नृवंश के सिद्ध होते हैं। फलतः, दक्खिनी युरोप और मध्य एशिया में आर्य लोग नवाश्मी काल से विद्यमान थे। इसलिए बहुतेरे विद्वान् यह मानते हैं कि आज से चार-पाँच हज़ार बरस पहले अफगानिस्तान के रास्ते आर्य लोग उत्तर भारत में आये।

किन्तु भारतीय आर्यों की अपनी "अनुश्रुति" अर्थात् परम्परागत आख्यानों में उनके उत्तरपच्छिम से आने की बात कहीं नहीं है। उलटा उसमें ऐसी चर्चा है कि वे सरस्वती के काँठे से भारत के अन्य भागों की तरह उत्तर-पच्छिम की ओर भी फैले। साथ ही, कैलाश-मानसरोवर-प्रदेश और मध्य-हिमालय के स्थानों की चर्चा भारतीय आर्यों की प्राचीनतम अनुश्रुति में है, परन्तु उत्तर भारत में बसने के बाद उन प्रदेशों की ओर फैलने का कोई उल्लेख नहीं है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यों की एक शाखा पूर्वी मध्य एशिया अर्थात् तारीम काँठे से नई चरागाहों की खोज करती पच्छिमी तिब्बत चढ़ी और उसके दक्खिनी छोर पर पहुँचने के बाद लग० ३००० ई० पू० में हिमालय के नीचे उतर गंगा-यमुना-सरस्वती काँठों में आई। अलख-नन्दा-दून (गढ़वाल) से हिमालय के भीतर भीतर वह कश्मीर तक भी फैल गई।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. धारवाड़ी मेखला कौन सी और कहाँ है।

२. धातु भारत-भूगर्भ की किस मेखला में हैं? हीरे किसमें? कोयला किसमें? इमारती पत्थर किसमें?

३. विन्ध्यक चट्टानें किस काल की हैं? तथा गोंडवानी किसकी? वे कहाँ कहाँ हैं?

४. कैसे जाना जाता है कि हिमालय कभी समुद्र के भीतर था? वह कब

ऊपर उठा ?

५. कश्मीर के करेवा क्या वस्तु हैं ? कैसे बने ?

६. भारत में मनुष्य के प्राचीनतम हथियार जो मिले हैं वे कितने पुराने हैं ?

७. हिमालय भारत की ऋतुओं खेती और आबादी को कैसे प्रभावित करता है ?

८. मुअन जो दड़ो वाले लोग किस किस धातु और पशु से परिचित थे और किससे अपरिचित ?

---

२. आरम्भिक आर्य पर्व

अध्याय १

आर्यों का भारत में फैलना

§१. **पौराणिक ख्यातें**—आर्यों का समूचे उत्तर भारत, मध्य मेखला और महाराष्ट्र में फैल जाना हमारे इतिहास की सबसे बड़ी घटना है। उस घटना की अनुश्रुति अर्थात् परम्परा से सुनने में आते हुए आख्यान हमारे पुराण नाम के ग्रन्थों में मिलते हैं। पुराण का अर्थ ही है पुराना आख्यान। शुरू में उन ग्रन्थों में उन आख्यानों या ख्यातों के सिवा और कुछ न था। किन्तु बाद के लोगों ने पुराणों में धर्मोपदेश की और अन्य अनेक विषयों की भी बातें मिला दीं, जिससे आज उनमें से सच को बीनना कठिन हो गया है। तो भी यदि हम समूचे पौराणिक वृत्तान्त का सार ले लें तो उससे भारत के ठीक उस भाग में जिसमें कि आज आर्य भाषाएँ बोली जाती हैं आर्यों के फैलने का सर्वथा स्वाभाविक क्रमबद्ध ब्यौरा निकल आता है।

हमारे पुराणों में आर्य राज्यों के आरम्भ से ले कर गुप्त राजाओं—जिनकी आगे चर्चा की जायगी—तक की ख्यातें हैं। उन ख्यातों में महाभारत का युद्ध बहुत प्रसिद्ध है। उस युद्ध पर आर्य इतिहास का पहला प्रकरण समाप्त होता है। हमारे देश में बहुत लोगों का विश्वास है कि वह युद्ध आज से पाँच हज़ार बरस पहले हुआ था जब कि कलियुग-संवत् चला। किन्तु वह विक्रम संवत् से ३०४४ बरस पहले चला यह बात पीछे की बनी हुई है। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार उस युद्ध के बाद के राजा परीक्षित् से राजा नन्द तक १०१५ या १०५० वर्ष बीते थे, जिससे उस युद्ध का काल लग० १४०० ई० पू० आता है। फिर पुराणों की ख्यातों में मनु वैवस्वत के बेटे इक्ष्वाकु से

भारत युद्ध तक राजाओं की कुल ६३-६४ पीढ़ियाँ लिखी हैं। एक पीढ़ी का समय औसतन १६ बरस मानने से इक्ष्वाकु का काल भारत-युद्ध से प्रायः १५०० बरस पहले आता है। इक्ष्वाकु से पहले की अनुश्रुति सुलझाई नहीं जा सकी, और भारत में आर्यों के फैलने की कहानी प्रायः इक्ष्वाकु के बाद से ही चलती है, इसलिए वहीं से हम अपने इतिहास का आरम्भ करते हैं। शायद किसी का यह ख्याल हो कि एक पीढ़ी के लिए १६ बरस का काल बहुत कम है, हमारे पुरखा बहुत वर्षों तक जिया करते थे। यदि हम यह मान लें कि हमारे पुरखा औसतन १३० बरस जीते थे, तो भी एक राजा जब मरा तब उसके बेटे की आयु १०५ या ११० वर्ष हुई, फिर वह तो केवल २५ या २० बरस ही राज्य कर सकेगा और उसके मरने पर उसका बेटा भी बूढ़ा हो चुकेगा। इस तरह औसत प्रायः वही निकल आयगा।

§ २. **मानव और ऐळ वंश**—पौराणिक अनुश्रुति भारत के प्राचीन इतिहास को मन्वन्तरों अर्थात् मनु-युगों में बाँटती है। प्रत्येक मन्वन्तर का आरम्भ किसी मनु से होता है। पहले के मनु-वंशों के वृत्तान्तों की तह में तथ्य क्या है इसका कुछ आभास अभी तक नहीं मिला। अन्तिम कहानी का आरम्भ मनु वैवस्वत से होता है। उसकी जाँच से कीमती तथ्य मिले हैं।

कहानी के अनुसार वैवस्वत अर्थात् सूर्य-पुत्र मनु के ९ या १० बेटे थे, जिनमें उसने समूचे भारत का राज्य बाँट दिया। सबसे बड़े बेटे इक्ष्वाकु को मध्यदेश (कुरुक्षेत्र से प्रयाग तक के देश) का राज्य मिला, जिसकी राजधानी अयोध्या थी। एक दूसरे बेटे को आजकल के तिरहुत (उत्तरी बिहार) में, एक को बघेलखण्ड में, शर्याति नामक बेटे को गुजरात-काठियावाड़ में और एक बेटे को पंजाब में राज्य मिला, इत्यादि। मनु की इळा नामक एक बेटी थी, जिसका सोम के बेटे बुध के साथ सम्बन्ध होने से पुरूरवस् का जन्म हुआ। इळा का बेटा होने से वह ऐळ कहलाया। ऐळ पुरूरवा का राज्य प्रतिष्ठान में था।

मनु ऐतिहासिक व्यक्ति है कि कल्पित सो कहना कठिन है। इळा भी केवल ऐळ उपनाम की व्याख्या के लिए कल्पित की गई लगती है। पुराणों के

अनुसार मध्य हिमालय अर्थात् कनौर-जौनसार-गढ़वाल प्रदेश का नाम इळावृत वर्ष था; उस इळावृत से आये लोग ऐळ कहलाते हों यह अधिक सम्भावित है। इतना तथ्य इस कहानी में स्पष्ट है कि भारत के इतिहास का पर्दा जब पहले-पहल खुलता है तब अवध, बघेलखंड और तिरहुत में तथा उत्तर भारत के कुछ अन्य भागों में एक वंश के राजा राज्य कर रहे थे जो अपने को मानव या सूर्य वंश का कहते थे, और प्रतिष्ठान में एक और वंश का राज्य था जो अपने को ऐळ या सोम (चन्द्र) वंश कहता था। प्रतिष्ठान कहाँ था यह एक और प्रश्न है। आगे के वृत्तान्त से अनुमान होता है कि वह सरस्वती-यमुना काँठों में कहीं रहा होगा।

इक्ष्वाकु वंश का राज्य अयोध्या में शताब्दियों तक प्रायः अविच्छिन्न चलता रहा। इक्ष्वाकु से महाभारत युद्ध के काल तक उसकी प्रायः पूरी वंशावली पुराण में दी है। दूसरी वंशावलियाँ बीच बीच में टूटी हैं। पर विभिन्न वंशों के चरितों के बीच युद्ध विवाह आदि के समकालिकता-सूचक निर्देश यथेष्ट हैं, और एक आधुनिक विवेचक ने उन निर्देशों की बड़े यत्न से छानबीन कर के इस समूची कालावधि से घटनाओं व्यक्तियों आदि की आपेक्षिक काल-स्थिति निश्चित की है। उस छानबीन के अनुसार मनु से महाभारत युद्ध तक औसत हिसाब से ६५ पीढ़ियाँ हुईं, और इस अवधि की प्रायः सब घटनाओं का काल पीढ़ी के हिसाब से निश्चित हो जाता है।

छठी पीढ़ी के ज़माने में ऐळ वंश में राजा ययाति हुआ। उसके पाँच बेटे हुए—यदु, द्रुह्यु, तुर्वसु, अनु और पूरु। पूरू और तुर्वसु के वंशज मध्यदेश में ही रहे। यदु के वंशज यादव आगे चल कर यमुना के दक्खिन दूर तक फैलते गये। आनवों की एक शाखा पंजाब में जा बसी और दूसरी बिहार के पूर्वी छोर पर, जो अंग देश कहलाया। पंजाब में आनव खूब फूले फले। द्रुह्यु का वंश उसके और आगे उत्तरपच्छिमी पंजाब में जा बसा। इन वंशों के विस्तार का इतिहास ही बहुत कुछ भारत में आर्यों के फैलाव का इतिहास है।

२१वीं पीढ़ी में अयोध्या में राजा मान्धाता हुआ जो पहला सम्राट् और चक्रवर्त्ती था। उसका साम्राज्य नर्मदा तक था। उसके दो पीढ़ी बाद हैहय वंश

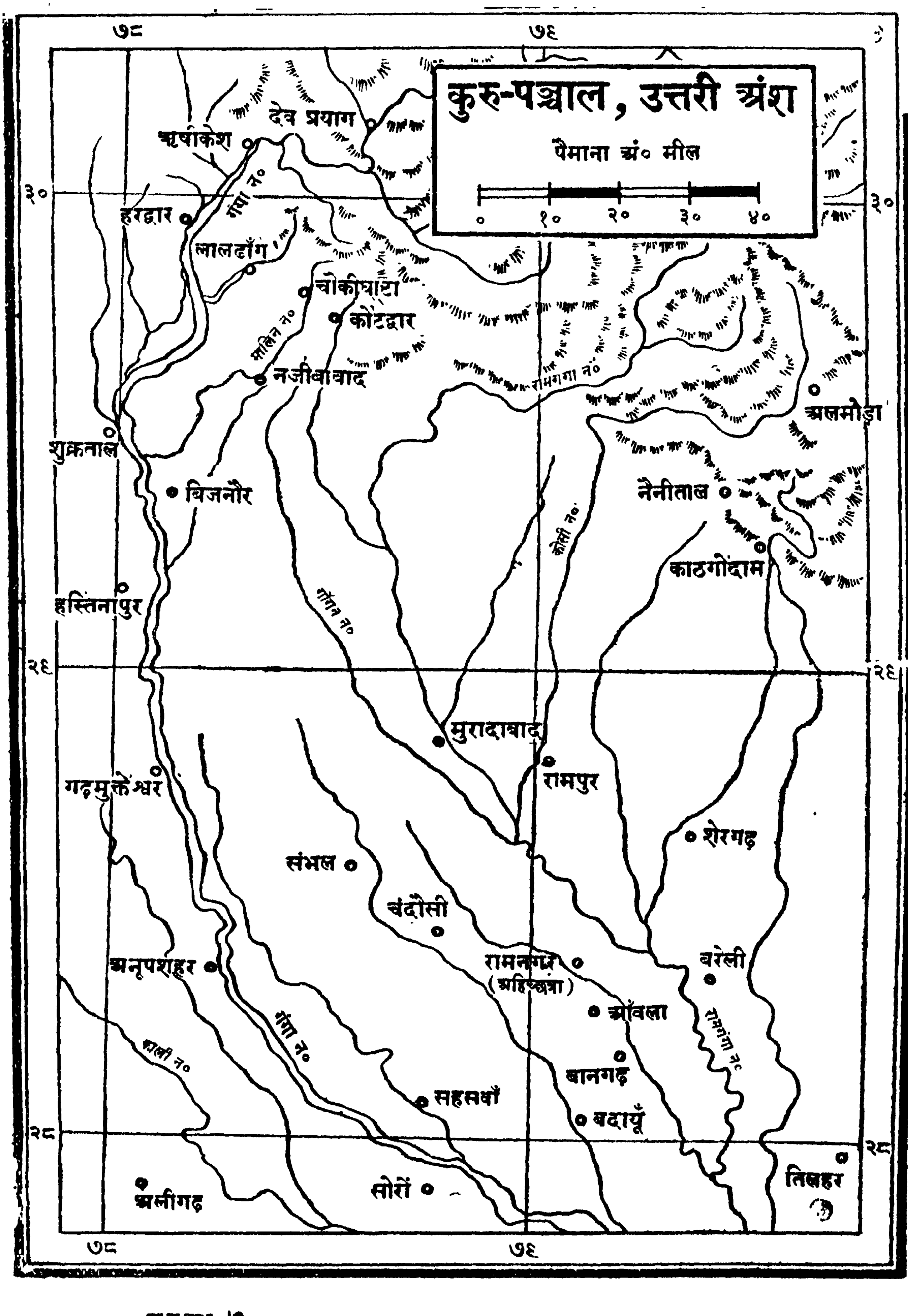
में, जो कि यादवों की एक शाखा थे, राजा महिष्मन्त हुआ, जिसने नर्मदा पर माहिष्मती नगरी बसाई। इस और अगली पीढ़ियों में द्रुह्यु और आनव वंशों से गन्धार, शिवि, केकय, मद्र आदि शाखाएँ फूटीं। ३०वीं पीढ़ी के काल में हैहय वंश में राजा कृतवीर्य हुआ जिसका बेटा अर्जुन बड़ा विजेता हुआ। अयोध्या के वंश में ३३वीं पीढ़ी में राजा हरिश्चन्द्र हुआ। उसकी रानी शैव्या अर्थात् शिवि लोगों में से थी जो कि दक्खिनी पंजाब में बसे आनवों की एक शाखा थे। अयोध्या के ही वंश में ४१वीं पीढ़ी में राजा सगर हुआ जो कृत युग के अन्त और त्रेता युग के आरम्भ में था।

§३ भरत का आख्यान—४३वीं पीढ़ी के काल में पौरव वंश में राजा दुष्यन्त या दुःषन्त हुआ। उसके पुरखा अपना राज खो चुके थे। दुःषन्त ने फिर से नया राज स्थापित किया, जो गंगा-जमना दोआब के उत्तरी हिस्से में प्रायः आजकल के मेरठ - मुज़फ्फरनगर - बिजनौर जिलों में था। दुष्यन्त अपनी जवानी के दिनों में एक बार हिमालय की तराई में शिकार खेलने गया। दो बीहड़ जंगल पार कर उसकी सेना खुले सुनसान मैदान में जा निकली, जिसके आगे



कण्व के आश्रम में दुष्यन्त का आगमन। सहजाति के भीटे (ज़िला इलाहाबाद) की खुदाई से पाये गये शुंग-युग के एक मिट्टी के टिकरे पर अंकित इस सुन्दर चित्र में शकुन्तला की कहानी अंकित जान पड़ती है।

[भा० पु० वि०]


कुरु-पञ्चाल, उत्तरी अंश
पैमाना अं० मील
० १० २० ३० ४०
७८
७९
३०
२९
२८
देव प्रयाग
ऋषीकेश
हरद्वार
गंगा न०
लालढाँग
चौकीघाटा
कोटद्वार
मालिन न०
नजीबाबाद
रामगंगा न०
अलमोड़ा
शुक्रताल
बिजनौर
नैनीताल
कोसी न०
काठगोदाम
हस्तिनापुर
मुरादाबाद
रामपुर
गढ़मुक्तेश्वर
शेरगढ़
संभल
चंदौसी
अनूपशहर
रामनगर
(अहिच्छत्रा)
बरेली
आँवला
रामगंगा न०
गंगा न०
काली न०
बानगढ़
सहसवाँ
बदायूँ
तिलहर
सोरों
अलीगढ़

नक्शा ७

एक मनोरम वन दिखाई दिया । उस वन के परले छोर को मालिनी नदी धोती थी [नक्शा ७], जिसके किनारे किसी ऋषि का आश्रम बसा जान पड़ता था । मालिनी अब मालिन कहलाती है, और गढ़वाल में तराई के पहाड़ों से निकल कर नजीबाबाद के पच्छिम बहती हुई गंगा में जा मिलती है । उसके तट पर का आश्रम कण्व ऋषि का था । गढ़वाल में चौकीघाटा नामक स्थान के उत्तर आज भी लोग किनकसोत नाम का कुंज दिखलाते और उसे कण्व-आश्रम के स्थान पर कहते हैं । आश्रम को देख राजा ने सेना वहीं छोड़ दी और कुछ साथियों के साथ आगे बढ़ा । ऋषि के स्थान की तरफ जाते हुए वह अकेला रह गया । वहाँ उसे "सूखे पत्तों में खिली कली के समान" तापसी वेश में एक युवती दिखाई पड़ी । कण्व फल लाने को बाहर गया हुआ था और दो दिन बाहर ही रहा । उसकी अनुपस्थिति में उसकी पुत्री शकुन्तला ने ही राजा का आतिथ्य किया । दुष्यन्त और शकुन्तला का परस्पर प्रेम और विवाह भी हो गया । कण्व के लौट आने पर शकुन्तला संकोच में बैठी थी, उसका बोझा उतारने को आगे नहीं बढ़ी । सब हाल जान लेने पर पिता ने उसे आशीर्वाद दिया ।

शकुन्तला की कोख से पराक्रमी भरत पैदा हुआ । बड़ा होने पर उसने थानेसर के पास की सरस्वती नदी से गंगा तक और गंगा से अवध की सीमा तक समूचा प्रदेश जीत लिया । वह 'चक्रवर्त्ती' (अर्थात् जिसके रथ का चक्र समूचे आर्यावर्त्त में चले) और सम्राट् कहलाया । उसके नाम से न केवल उसके वंशज प्रत्युत पूर्वज भी भारत कहलाये । और उन भारतों में बड़े-बड़े राजा और ऋषि हुए । भरत के वंश में उससे छठी पीढ़ी पर राजा हस्ती हुआ, जिसने हस्तिनापुर नाम की बस्ती बसा कर उसे अपनी राजधानी बनाया । मेरठ ज़िले के उत्तरपूरवी कोने में अब भी गंगा के पाँच मील पच्छिम हसनापुर नाम का कस्बा उस बस्ती को सूचित करता है [नक्शा ७]।

भरत के राज्य में अवध के पच्छिम का ठेठ हिन्दुस्तान का समूचा प्रदेश था । किन्तु पीछे हस्तिनापुर के राज्य से उसका पूरवी हिस्सा अलग हो गया । वह पंचाल देश कहलाने लगा । उसके भी दो टुकड़े हुए । गंगा-

जमना दोआब का निचला भाग दक्षिण पंचाल कहलाया। उसकी राजधानी काम्पिल्य थी, जिसका नाम आज तक फर्रुखाबाद जिले के काँपिल गाँव के नाम में ज़िन्दा है। उसके उत्तर गंगा पार उत्तर पंचाल था। उसकी राजधानी अहिच्छत्रा थी, जिस के खँडहर बरेली जिले में आँवला कस्बे के नज़दीक रामनगर गाँव में हैं [नक्शा ७]। इटावा-फर्रुखाबाद प्रदेश को अब भी पचार कहते हैं, जो कि 'पंचाल' का रूपान्तर है।

§ ४. **राम दाशरथि का आख्यान**—अयोध्या नगरी में इक्ष्वाकु के वंशजों का राज्य चला आता था। अयोध्या के ही नाम से वह प्रदेश अब अवध कहलाता है। उसका पुराना नाम कोशल था। वहाँ के राजवंश में ६२वीं पीढ़ी पर राजा रघु हुआ। रघु का पोता दशरथ था। दशरथ की तीन रानियों में से बड़ी "कौशल्या" अर्थात् कोशल की थी, दूसरी "कैकेयी" केकय की। इन रानियों के व्यक्तिगत नाम हम नहीं जानते। केकय लोग आनवों की शाखा थे जो चिनाब नदी के पच्छिम नमक-पहाड़ियों तक रहते थे। आजकल के गुजरात, शाहपुर और जेहलम जिले उनके देश को सूचित करते हैं। राजा दशरथ के अपनी रानियों से चार बेटे हुए—कौशल्या से रामचन्द्र, कैकेयी से भरत तथा सुमित्रा से लक्ष्मण और शत्रुघ्न। रामचन्द्र का स्वयंवर-विवाह विदेह (तिरहुत) के राजा सीरध्वज जनक की बेटी सीता से हुआ।

बुढ़ापे में राजा दशरथ ने रामचन्द्र को युवराज-तिलक दे राज-काज से छुट्टी पाने का विचार किया। प्रजा ने राम का अभिषेक करने की स्वीकृति दे दी। उस काल के आर्यावर्त्त में नये राजा को जब राज्य मिलता, तब एक संस्कार होता और राजा को प्रजा के साथ कई प्रतिज्ञाएँ करनी पड़ती थीं। तब उसका 'अभिषेक' अर्थात् सींचने या शुद्ध करने की रस्म होती, जिसके लिए गंगा सरस्वती आदि पवित्र नदियों का पानी लाया जाता, और जिस देश का वह राजा होता, उसके एक तालाब का पानी भी उन पानियों में मिलाया जाता। राम के अभिषेक की सब तैयारी हो चुकने पर रानी कैकेयी ने उसमें विघ्न डाल दिया। राजा दशरथ अपनी जवानी में एक बार युद्ध में घायल और बेहोश हो गया था। रानी कैकेयी तब उसके साथ थी और वह उसे रथ में लिये रथ को

हाँक कर बचा लाई थी। दशरथ ने तब कैकेयी को दो "वर" देने का वचन



रामचन्द्र अहल्या का उद्धार करते हुए
देवगढ़ (जि० झाँसी) के गुप्तकालीन मन्दिर का मूर्त्त दृश्य
[भा० पु० वि०]

दिया था। कैकेयी ने अब ये दो वर माँगे कि राम को १४ वर्ष का वनवास और भरत को राज्य दिया जाय। दशरथ को लाचार उसकी बात माननी पड़ी। सीता और लक्ष्मण भी राम के साथ गये।

राम की वनयात्रा प्रयाग से चित्रकूट, पंचवटी, किष्किन्धा हो कर लंका तक है। प्रचलित विश्वास के अनुसार लंका सिंहल है और पंचवटी गोदावरी तट पर नासिक अथवा बस्तर में पर्णशाला नामक स्थान। किन्तु रामायण के अनुसार चित्रकूट से पंचवटी प्रायः ७८ मील और किष्किन्धा ६६ मील थी। 'लंका' का अर्थ गोंडी द्राविड बोली में टापू, दोआब और ऊँचा टीला तीनों हैं। 'गोदारि' शब्द उस बोली में नदी का वाचक है, उसीका संस्कृत रूप गोदावरी है। विन्ध्य के गोंड लोग अपने को रावण का वंशज मानते आये हैं। यह सब देखते हुए आधुनिक विवेचकों ने निर्णय किया है कि लंका अमरकंटक की चोटी थी, जहाँ से एक तरफ नर्मदा और दूसरी तरफ सोन निकलता है, और जिसके नीचे बड़े जलाशय हैं। वहाँ के निवासी गोंड हैं, जिनके पड़ोस में ओराँव और शबर भी रहते हैं। ओराँव रामायण के वानर हैं, और शबर ऋक्ष। कल्पना ने उनके विचित्र रंग-रूप बना दिये हैं। पर वे मनुष्य जातियाँ ही थीं, और आर्यों के साथ उनके विवाह-सम्बन्ध भी होते थे। आदिम जातियाँ पशुओं पेड़ों आदि की पूजा किया करती हैं, और जिस वस्तु को पूजती हैं, उसके चित्र से अपने देह को आँकती हैं और उसीके नाम से उनका नाम पड़ जाता है। गोंडों में तब कच्चा मांस खाने की प्रथा रही होगी, इसलिए वे राक्षस कहलाये।

अमरकंटक बघेलखंड के दक्खिनी छोर पर है, उसके दक्खिन छत्तीसगढ़ है, जिसका नाम आगे चल कर दक्षिण कोशल पड़ा। उत्तर कोशल से दक्षिण कोशल तक अब एक ही भाषा है [नक्शा ४]। इस प्रकार राम के आख्यान में उत्तर कोशल के आर्यों के दक्खिन बढ़ने का चित्र अंकित है।

वाल्मीकि-रामायण में अंकित राम की वनयात्रा से उस युग में जमना के दक्खिन प्रदेश की दशा पर प्रकाश पड़ता है। चित्रकूट छोड़ने पर राम लक्ष्मण सीता सबसे पहले अत्रि ऋषि के आश्रम में पहुँचे। चित्रकूट के पास

उस आश्रम का स्थान अब भी उसी नाम से बताया जाता है। वहाँ के तपस्वियों ने उन्हें सावधान करते हुए दंडक वन में जाने का सुगम मार्ग बतलाया। कई ऋषियों के आश्रमों को देखते हुए वे शरभंग के आश्रम में पहुँचे। वहाँ उन्हें निकटवर्त्ती सुतीक्ष्ण के आश्रम में जाने की सलाह दी गई, पर साथ ही चेतावनी दी गई कि चित्रकूट से पम्पा तक राक्षसों का बड़ा उपद्रव है। सुतीक्ष्ण के आश्रम में वे कुछ दिन रहे, फिर कई वर्ष घूमघाम कर वहीं लौट आये। वहाँ से चार योजन पर वे अगस्त्य के भाई के आश्रम को गये, फिर उसके निकट ही अगस्त्य के आश्रम को। अगस्त्य ने अपने आश्रम से दो योजन पर गोदावरी तट पर पंचवटी स्थान बताया। वहीं कुटी बना कर वे रहने लगे और वहीं से सीता को राक्षसों का राजा रावण हर ले गया। राम लक्ष्मण सीता की खोज में निकले तो तीन कोस की दूरी पर क्रौंचारण्य में पहुँचे। उसे पार कर पूरब मुड़ने पर घोर वन में घुसे और फिर एक खोह पार कर महारण्य में। वहाँ कबन्ध राक्षस मिला जिसने बताया कि वहाँ से पच्छिम पम्पा सरोवर के तट पर ऋष्यमूक पर्वत है, जिसपर सुग्रीव वानर रहता है। ऋष्यमूक के निकट ही किष्किन्धा थी, जहाँ सुग्रीव का भाई बालि राज करता था। यों चित्रकूट से सुतीक्ष्ण का आश्रम प्रायः ३० मील, वहाँ से पंचवटी लगभग ४८ मील, और पंचवटी से किष्किन्धा लगभग १८ मील थी। और चित्रकूट से ही तब जंगल आरम्भ हो जाते थे, जिनमें गोंड ओराँव और शबर लोग विचरते और आखेट से जीविका करते थे, और जिनके बीच बीच आर्य ऋषियों ने अपने आश्रम बसाये थे।

राम ने बालि को मार कर सुग्रीव को वानरों का राजा बनाया, उसकी और उसके मन्त्री हनुमान की सहायता से सागर अर्थात् जलाशय पर सेतु बना वानर सेना के साथ रावण की राजधानी लंका में प्रवेश किया और रावण को मार सीता को वापिस लिया। फिर १४ वर्ष पूरे होने पर वनवास से लौट कोशल का न्यायपूर्वक शासन किया।

भरत दाशरथि को अपने ननिहाल का केकय राज्य मिला था। केकय के साथ लगा हुआ सिन्धु देश था [नक्शा ८] जिसके अन्तर्गत आजकल

के सिन्धसागर दोआब का नमक-पहाड़ियों के दक्खिन का अंश और डेराजात (सिन्ध काँठे के डेरा-इस्माइलखाँ, डेरा-गाज़ीखाँ ज़िले) शामिल थे। सिन्धु भी भरत के राज्य में था। ईरानी लोग इसी सिन्धु देश को हिन्दु बोलते थे और इसीसे हमारे सारे देश का नाम हिन्द या इन्द पड़ा।

आजकल जिसे हम सिन्ध प्रान्त कहते हैं उसका नाम सौवीर था। सिन्धु कहने से सिन्ध नदी का बिचला काँठा ही समझा जाता था। सिन्धु के उत्तर और केकय के उत्तरपच्छिम गन्धार लोग रहते थे, जो कि द्रुह्यु वंश के थे। भरत दाशरथि के पुत्र तक्ष और पुष्कर थे। कहते हैं उन्होंने गन्धार जीत कर तक्षशिला और पुष्करावती बस्तियाँ बसाई। पुष्करावती कुभा (काबुल) और सुवास्तु (स्वात) नदियों के संगम पर थी। तक्षशिला का प्रदेश पूरबी गन्धार था और पुष्करावती का पच्छिमी गन्धार। आगे चल कर हमें इन प्रदेशों और नगरियों से बहुत वास्ता पड़ेगा [नक्शा ८, ६]।

रामचन्द्र के प्रशासन के साथ त्रेता युग का अन्त हुआ।

§ ५. यादव और पौरव—रामचन्द्र से पहले यादवों की बड़ी वृद्धि हुई थी, पीछे और भी हुई। उनके राज्य मथुरा से गुजरात और विदर्भ तक फैल गये थे। मथुरा का प्रदेश शूरसेन कहलाता था। जमना के दक्खिन का प्रदेश जिसे अब बुन्देलखंड कहते हैं, चेदि कहलाता था; वहाँ भी यादव बसे हुए थे। आजकल के मालवे के पच्छिम भाग को अवन्ति और पूरब को दशार्ण कहते थे (दशार्ण देश में दशार्णा नदी बहती थी जो अब भी धसान कहलाती है)। अवन्ति और दशार्ण में तथा आजकल के गुजरात-काठियावाड़ में भी यादव बसे थे। अवन्ति की राजधानी उज्जयिनी (उज्जैन) के दक्खिन नर्मदा नदी में एक टापू है जिसे आजकल मान्धाता कहते हैं। वहाँ माहिष्मती नाम की यादवों की नगरी थी। अवन्ति से दक्खिन जाने वाले रास्ते को वह सबसे बड़े नाके पर काबू करती थी। उसके दक्खिन विदर्भ देश (बराड) में भी यादव राज्य था [नक्शा ८, ६]।

उधर उत्तर पंचाल में ६७वीं पीढ़ी के काल में राजा सुदास हुआ, जिसने दक्षिण पंचाल जीता, हस्तिनापुर के राजा संवरण को उसकी राजधानी

से मार भगाया, और फिर पंजाब के राष्ट्रों पर चढ़ाई की। परुष्णी (रावी) नदी के किनारे उसने दस राजाओं को इकट्ठा हराया। उनमें पौरव संवरण के अतिरिक्त मत्स्य, तुर्वसु, द्रुह्यु, शिवि, पक्थ आदि के नाम हैं। मत्स्य मथुरा के पच्छिम आजकल के मेवात (अलवर) के लोग थे। पक्थ आधुनिक पठानों के पुरखा थे।

सुदास की मृत्यु के बाद संवरण ने अपना राज्य वापिस ले उत्तर पंचाल भी जीत लिया। संवरण का बेटा प्रतापी कुरु हुआ। उसीके नाम से सरस्वती का काँठा कुरुक्षेत्र कहलाने लगा। कुरु के वंशज कौरव कहलाये। उस वंश की एक छोटी शाखा में ७८वीं पीढ़ी के काल में राजा वसु हुआ। वसु ने चेदि, कौशाम्बी और मगध को जीत लिया। आजकल के प्रयाग का प्रदेश तब वत्स कहलाता था। उसकी राजधानी कौशाम्बी प्रयाग से ३२ मील ऊपर जमना पर थी, जहाँ अब कोसम का ढहा हुआ गढ़ है। मगध दक्खिनी बिहार का नाम था, जिसमें अब पटना और गया ज़िले हैं। वसु के ज़माने से पहले वह निरा जंगल था, और उसमें आर्यों की बस्ती नाम को ही थी; किन्तु वसु के पीछे उसके जो वंशज मगध में रहे, उन्होंने उसे बड़ा राज्य बना दिया। ९२वीं पीढ़ी के ज़माने में वसु के वंश में मगध का राजा जरासन्ध और चेदि का राजा शिशुपाल हुए।

§९. **भारत युद्ध का आख्यान**—कौरव वंश की बड़ी शाखा हस्तिनापुर में राज्य करती रही। उस वंश में ९३वीं पीढ़ी के काल में धृतराष्ट्र और पांडु दो भाई हुए। धृतराष्ट्र की रानी "गान्धारी" अर्थात् गन्धार-राजकुमारी से उसके बहुत से बेटे हुए जिनमें दुर्योधन जेठा था। पांडु की दो रानियाँ थीं—कुन्ती और 'माद्री'। मद्र लोग रावी और चिनाब के बीच रहते थे, उनकी राजधानी शाकल (= स्यालकोट) थी। मद्र की स्त्रियाँ हमारे प्राचीन इतिहास में अद्वितीय सुन्दरियाँ प्रसिद्ध थीं। पांडु की छोटी रानी मद्र की होने से माद्री कहलाई। विवाह से पहले कुन्ती के एक बेटा हो चुका था जिसे उसने शर्म के मारे बहा दिया था। एक सूत (रथ हाँकने वाले) ने उसे उठा कर पाल लिया था। उसका नाम कर्ण था। उसे दुर्योधन ने शरण दी थी। पांडु के बेटे पांडव कहलाये। धृतराष्ट्र के बेटे कौरव ही कहलाते रहे। कौरवों और

पांडवों में बचपन से बड़ी डाह रही।

जरासन्ध ने मगध के राज्य को साम्राज्य बना लिया। सब पड़ोसी राजा उसे अपना बड़ा मानते थे। चेदि का शिशुपाल उसका मित्र था। मथुरा के अन्धक-यादवों का राजा कंस भी, जो जरासन्ध का दामाद था, उसे अपना अधिपति मानता और उसके सहारे प्रजा पर ज़ुल्म करता। अन्धकों ने उसके विरुद्ध अपने पड़ोसी वृष्णि-यादवों से मदद माँगी। वृष्णियों का नेता वासुदेव कृष्ण था। कृष्ण ने कंस को मार डाला। किन्तु जरासन्ध का मुकाबला वे लोग न कर सकते थे। अन्धक और वृष्णि द्वारका की तरफ़ चले गये, जहाँ उनका 'संघ' अर्थात् पंचायती राज्य स्थापित हुआ। इस संघ के दो 'संघ-मुख्य' एक साथ चुने जाते थे। उग्रसेन एक मुखिया था और वासुदेव कृष्ण दूसरा।

इधर पांडवों ने दक्खिन पंचाल के राजा द्रुपद यज्ञसेन की लड़की कृष्णा को स्वयंवर में प्राप्त कर उससे विवाह किया। उन्होंने राज्य में अपना भाग माँगा, पर कौरव उन्हें कुछ न देना चाहते थे। अन्त में यह ठहरा कि जमना पार कुरुक्षेत्र के दक्खिन के जंगल को वे बसा लें। वह जंगल तब खांडव वन कहलाता था। उसे जला कर पांडवों ने वहाँ इन्द्रप्रस्थ नगर बसाया जिसके नाम की याद अब दिल्ली के पुराने किले के पास इन्दरपत बस्ती में है। इन्द्रप्रस्थ की समृद्धि जल्द बढ़ने लगी। पांडव महत्त्वाकांक्षी थे, चुपचाप न बैठ सके। उनके नये राज्य के दक्खिन लगा हुआ शूरसेन देश था, जहाँ जरासंध की तूती बोलती थी। यों जरासन्ध से उनका वैर और वासुदेव कृष्ण से मैत्री हो गई। कृष्ण की सहायता से उन्होंने जरासन्ध को मार डाला। उसका साम्राज्य टूट गया। मगध के ठीक पूरब का अंग देश (मुंगेर-भागलपुर) पहले उसके अधीन था। अब दुर्योधन की सहायता से कर्ण वहाँ का राजा बना। इधर चेदि का राजा शिशुपाल अपने पड़ोसियों में प्रबल हो गया।

आर्यों के महत्त्वाकांक्षी राजा दिग्विजय करके राजसूय या अश्वमेध यज्ञ किया करते थे। पांडवों ने भी राजसूय किया। कई पड़ोसी राजाओं ने खुशी से, कई एक ने डर और दबाव से उनकी शक्ति मानी और उनके यज्ञ में भाग लिया। धृतराष्ट्र के बेटों को अपने भाइयों के विजयोत्सव में आना पड़ा। जरा-

सन्ध के मित्र शिशुपाल को कृष्ण से विशेष चिढ़ थी। उनकी स्पर्धा यहाँ तक बढ़ी कि उसी यज्ञ में कृष्ण ने उसे मार डाला। यों पांडवों के एक और पड़ोसी प्रतिद्वन्द्वी का अन्त हुआ।

कौरवों के मामा गन्धार के शकुनि ने उन्हें पांडवों के पराभव का एक उपाय सुझाया। उस युग के आर्यों में जुआ खेलने का बड़ा व्यसन था। जुए की चुनौती से मुँह मोड़ना वैसा ही लज्जास्पद समझा जाता था जैसा युद्ध से। शकुनि और दुर्योधन ने पांडवों को जुए का निमन्त्रण दिया। उसमें वे अपना राज्य तक हार बैठे, और उन्हें बारह बरस वनवास और एक बरस अज्ञात वास का दंड मिला।

उनके पीछे दुर्योधन ने अपना पक्ष दृढ किया। पांडव तेरहवें बरस अपने राज्य के पड़ोस में मत्स्य (आजकल के अलवर) के राजा विराट के यहाँ आ गये। वह बरस बीतने को था कि कौरवों ने अपने पड़ोसी त्रिगर्त्त (जलन्धर-हुशियारपुर-कांगड़ा जिलों) के राजा के साथ मिल कर मत्स्यों पर धावा मारा और उनके डंगर लूट ले चले। पांडवों की सहायता से विराट ने उन्हें हराया।

उसके बाद पांडवों ने अपना राज्य वापिस माँगा, पर दुर्योधन ने कहा— मैं युद्ध के बिना सुई की नोक बराबर भूमि भी न दूँगा। दोनों पक्षों में युद्ध ठन गया और वह घरेलू आग भभक कर भारत के सब राज्यों में फैल गई। त्रिगर्त्त का राजा दुर्योधन का मित्र था, और गन्धार का शकुनि उसका मामा था। इनके अतिरिक्त सिन्धु देश का राजा जयद्रथ भी उसका बहनोई था। इन तीनों के दबाव से पंजाब के प्रायः सभी राज्य कौरवों की तरफ हो गये। इसी तरह कर्ण के दबाव से पूरब के राज्य भी। मध्यदेश और गुजरात के राज्य दोनों तरफ बँटे थे। यादवों के दोनों तरफ बँटा होने के कारण कृष्ण ने भी खुल कर पांडवों का साथ न दिया, निःशस्त्र सलाहकार रूप में उनकी सहायता की। पांडवों की सेनाएँ मत्स्य की राजधानी उपप्लव्य पर जुटने लगीं; कौरवों की सेनाएँ पंजाब के पूरबी छोर और हस्तिनापुर पर जमा होने लगीं। सन्धि की बातचीत विफल होने पर पांडव सेना उनके बीच उत्तर को बढ़ी, और कुरुक्षेत्र पर दोनों तरफ के प्रवाह आ टकराये। अठारह दिन के घमासान युद्ध के बाद पांडवों की जीत

हुई। वे कुरु देश के राजा और आर्यावर्त्त के सम्राट् हुए।

रामायण की ख्यात से महाभारत की ख्यात की तुलना करें तो यह स्पष्ट होता है कि इस बीच आर्यों की बस्तियाँ काफी फैल गई थीं। वे पूरब तरफ मगध और अंग तक और दक्खिन तरफ माहिष्मती और विदर्भ तक जा पहुँची थीं। यों तो महाभारत में और आगे पूरब और दक्खिन के राजाओं के भी नाम दिये हैं, पर छानबीन से पाया जाता है कि वे पीछे जोड़े गये हैं। विदर्भ और अंग इस युद्ध के काल तक आर्यावर्त्त की अन्तिम सीमाएँ थीं (नक्शा ८)।

महाभारत युद्ध ६२, ६३, ६४, ६५ पीढ़ियों के काल में हुआ। यों अनुश्रुति के अनुसार कृत युग ४० पीढ़ी का, त्रेता २५ और द्वापर ३० पीढ़ियों का था—अर्थात् कृत की अवधि लगभग साढ़े छह शताब्दी, त्रेता की चार शताब्दी और द्वापर की पौने पाँच शताब्दी रही। कृत त्रेता और द्वापर यों ऐतिहासिक युग थे, जैसे मौर्य युग, सातवाहन युग, गुप्त युग, मुगल युग, मराठा युग आदि। पीछे ज्योतिषियों ने भी अपने युगों के लिए यही नाम अपना लिये जिसके कारण हमारे देश में आज तक भ्रम चला आता है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. दुष्यन्त किस वंश का था और कौन से प्रदेश पर राज करता था?

२. उत्तर और दक्खिण पञ्चाल देश कहाँ हैं? उनकी राजधानियों को आधुनिक कौन से स्थान सूचित करते हैं?

३. इक्ष्वाकु से भारत युद्ध तक राजाओं की कुल कितनी पीढ़ियों ने राज किया? रामचन्द्र का काल इक्ष्वाकु से कौन सी पीढ़ी पर है?

४. तक्षशिला और पुष्करावती को किसने स्थापित किया? ये किन प्रदेशों की राजधानियाँ थीं?

५. सदानीरा, सुवास्तु, कुभा, मालिनी और दशार्णा नदियों के आजकल क्या नाम हैं? ये किन प्रदेशों को सींचती हैं?

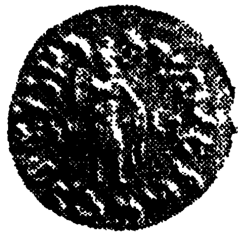
६. राम दशरथि के आख्यान का ऐतिहासिक तत्त्व लिखिए।

७. निम्नलिखित नगरों और देशों को नक्शे में दिखाइए और इनके आधुनिक नाम बताइए—अहिच्छत्रा, हस्तिनापुर, कौशाम्बी, माहिष्मती, अवन्ति, विदर्भ, चेदि, मद्र, मत्स्य और अंग।

अध्याय २

आरम्भिक आर्यों का समाज

§ १. **वेद**—आर्यावर्त्त के आर्यों में वेद नाम का साहित्य प्रचलित था। वेद का अर्थ है ज्ञान। वेद का बड़ा अंश कविता में है। उसमें जो एक-एक साधारण पद्य होता है उसे ऋच् या ऋचा कहते हैं। जो ऋचाएँ गाने लायक हैं, अर्थात् जो गीतियाँ हैं, उन्हें साम कहते हैं। वेद का कुछ अंश गद्य भी है, और उस गद्य के एक एक सन्दर्भ को यजुष् कहते हैं। ऋचाओं सामों और यजुषों को मन्त्र भी कहते हैं।



विश्वामित्र ऋषि दूसरी शताब्दी ई० पू० के औदुम्बर गण के सिक्के पर से

प्रत्येक वेदमन्त्र अर्थात् प्रत्येक ऋचा साम और यजुष् के साथ किसी न किसी ऋषि का नाम जुड़ा हुआ है। बहुत से हिन्दू वेदों को अपौरुषेय मानते हैं। उनका कहना है कि ऋषियों ने वेदों का दर्शन पाया था; वे 'मन्त्रद्रष्टा' थे। आधुनिक और कुछ प्राचीन विवेचक वेद-मन्त्रों को बनाने का श्रेय ऋषियों को देते हैं। उनका कहना है कि ऋषि वे प्रतिभाशाली कवि थे जिन्हों-ने ऋचाएँ (और साम तथा यजुष् भी) रचीं।

आर्य लोग निरे योद्धा नहीं थे। उनमें अपने चारों तरफ की वस्तुओं को ध्यान से देखने और उनके विषय में सोचने-विचारने की उत्कट प्रवृत्ति थी। अपने विचारों को उन्होंने सुन्दर भाषा में प्रकट किया है। सबसे पहला प्रसिद्ध ऋषि विश्वामित्र इक्ष्वाकु से २६वीं पीढ़ी के काल में था। ऋषियों की परम्परा उसके बाद प्रायः चालीस पीढ़ी चलती रही। ऋचाएँ साम और यजुष् पहले फुटकर रूप में थे। भिन्न-भिन्न ऋषियों के परिवारों या शिष्य-परम्पराओं में उनका संग्रह होता गया। यों उनकी संहिताएँ बनीं। संहिता का अर्थ है संकलन या संग्रह।

महाभारत युद्ध के प्रायः दो शताब्दी पहले हमारे देश में लिखने की कला चली। तभी आर्यावर्त्त की भाषा के सब उच्चारणों का पूर्ण विश्लेषण करके

कुछ वैज्ञानिक विचारकों ने भारतीय वर्णमाला-पद्धति का "प्रणयन" किया। इस "ब्राह्मी" वर्णमाला का आविष्कार संसार के सबसे पूर्ण आविष्कारों में से था। अभी तक उच्चारणों का इतना पूर्ण वैज्ञानिक विश्लेषण और किसी वर्ण-पद्धति में नहीं है।

लिखना आरम्भ होने से साहित्य के संकलन की प्रवृत्ति और बढ़ी तथा सब प्रकार के ज्ञान को पुष्टि मिली। महाभारत युद्ध का समकालिक कृष्ण द्वैपायन मुनि हुआ। उसने अन्तिम बार अपने समय तक के समूचे 'वेद' अर्थात् ज्ञान की संहिताएँ बना दीं, जो आज तक चली आती हैं। उसने ऋचाओं की एक संहिता बनाई जिसमें ऋचाओं को छाँट कर ऋषि-वार और विषय-वार बाँट दिया। इसी तरह सामों और यजुषों की अलग-अलग संहिताएँ कर दीं। ये तीनों ऋक्संहिता सामसंहिता और यजुःसंहिता मिल कर "त्रयी" कहलाईं। त्रयी हमारे साहित्य का सबसे पुराना संग्रह है। ऋक्-संहिता में एक हज़ार से अधिक सूक्त या कविताएँ हैं जो दस मंडलों में बँटी हैं। 'सूक्त' का अर्थ है अच्छी उक्ति, सुभाषित। प्रत्येक सूक्त में ३-४ से ले कर ५०–१०० तक ऋचाएँ हैं। सामसंहिता, ऋक्संहिता की लगभग तिहाई है, और उसमें बहुत से साम ऐसे हैं जो ऋक्संहिता में आ चुके हैं। यजुःसंहिता और भी छोटी है, और वह कुल ४० अध्यायों में बँटी है। दूसरे प्रकार के कुछ विविध मन्त्रों को कृष्ण द्वैपायन ने त्रयी से अलग अथर्वसंहिता में संगृहीत किया, और फिर उसी तरह सूतों के आख्यानों की भी एक संहिता बनाई जिसका नाम हुआ पुराणसंहिता। त्रयी के साथ अथर्ववेद और पुराणवेद (अथवा इतिहासवेद) को मिला कर पाँच वेद कहा गया। वेद अर्थात् ज्ञानकोश का इस प्रकार बँटवारा करने के कारण कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास अर्थात् वेद-विभाजक कहलाया।

आजकल जिसे हम हिन्दी की खड़ी बोली कहते हैं वह उसी प्रदेश की ठेठ बोली है, जहाँ हस्तिनापुर और उत्तर पंचाल के प्राचीन राज्य थे। [नक्शा ७]। ऋग्वेद भी उसी प्रदेश की पुरानी भाषा में है। अधिकतर ऋषि भरत वंश के और उत्तर पञ्चाल तथा हस्तिनापुर राज्यों के ही थे।

वेद का मुख्य अंश कविता ही है और उस कविता में भी मुख्यतः देव-

ताओं की स्तुति और प्रार्थना है। पर उससे गणित आदि का अच्छा ज्ञान भी सूचित होता है, जिसका विकास लिखना आरम्भ होने के बाद ही हो सकता था।

§ २. **आर्यों का समूह-संघटन**—आर्य लोग पशुपालक कृषक और योद्धा थे। वे ऐसे छोटे-छोटे समूहों में रहते जो परिवार के नमूने पर बने हुए थे। उन समूहों को वे 'जन' कहते थे। जन के सब आदमी 'सजात' अर्थात् एक ही वंश के कहे जाते। एक जन के सब सजात मिला कर 'विशः' अर्थात् प्रजा कहलाते। कृषक होने के कारण प्रत्येक जन की विशः किसी न किसी प्रदेश में प्रायः बस चुकी थीं, किन्तु कोई कोई विशः 'अनवस्थित' अर्थात् खाना-बदोश भी थीं। प्रत्येक जन की कई खाँपें या टुकड़ियाँ होतीं जो 'ग्राम' कहलाती थीं। ग्राम शब्द का असल अर्थ है जत्था या समुदाय। बाद में एक-एक ग्राम जहाँ बस गया, वह ज़मीन भी ग्राम कहलाने लगी। कई घूमते-फिरते ग्रामों का चर्चा भी मिलती है। ग्राम का नेता 'ग्रामणी' कहलाता। युद्ध के लिए जन के सब लोग ग्रामवार जमा होते थे; उनका वह ग्रामवार जमाव 'संग्राम' कहलाता। उसीसे 'संग्राम' का अर्थ युद्ध हो गया। संग्राम में प्रत्येक जवान अपने शस्त्रास्त्र ले कर और कवच पहन कर आता था। साधारण लोग पैदल और नेता लोग रथों में आते थे। रथ प्रायः बैल के चमड़े से मढ़े होते थे। संग्राम में घुड़सवारों का उल्लेख नहीं मिलता। धनुष भाला बर्छा कृपाण और फरसा मुख्य शस्त्र थे। वाण या शर प्रायः सरकंडे के होते थे और उन की अनी सींग हड्डी या धातु की।

युद्ध आर्यों के जनों में परस्पर भी होते थे और 'दासों' अर्थात् पुराने निवासियों के साथ भी। 'दास' आर्यों से भिन्न रङ्ग के, काले, होते थे और उनकी नाक नुकीली और उभरी न होती थी। इस कारण आर्य लोग उन्हें 'अनासः' अर्थात् बिना नाक के कहते थे।

एक एक ग्राम का मुखिया जैसे ग्रामणी कहलाता था, वैसे ही सारे जन का राजा। वह जन या विशः का राजा होता था न कि भूमि का। उसका राज्य 'जानराज्य' अर्थात् जन का मुखियापन कहलाता और वह एक किस्म का "ज्यैष्ठ्य" यानी जेठापन या नेतृत्व था, न कि स्वामित्व।

§ ३. **वैदिक आर्यों का आर्थिक जीवन**—पशुपालन और कृषि आर्यों की मुख्य जीविकाएँ थीं। कृषि के लिए सिंचाई भी होती थी। खादों का प्रयोग शायद न होता था, बागबानी भी तब शुरू न हुई थी। खेती की उपज मुख्य कर अनाज थे। आर्य लोग कपास को न जानते थे। उस काल में संसार की दूसरी जातियों को भी प्रायः उसका पता न था। लोगों का धन मुख्यतः उनके पशुओं के रेवड़ होते थे। भूमि भी पारिवारिक सम्पत्ति में गिनी जाती थी, पर उसके खरीदने-बेचने का रिवाज नहीं के बराबर था। दाय-भाग से, जंगल साफ करने से या नये देश खोजने या जीतने से नई भूमि पाई जा सकती थी। युद्ध में जीती भूमि राजा की न होती, वह सारे जन में बँट जाती थी। जंगम सम्पत्ति का क्रय-विक्रय या विनिमय काफी था। गाय तो प्रायः सिक्के का काम देती थी; वस्तुओं के दाम गौवों में गिने जाते थे।

निष्क नाम का सोने का सिक्का भी चलता था; पर शुरू में तो वह भूषण था और बाद में प्रायः दान या खंडनी (ransom) देने में उसका अधिक ज़िक्र आता है, व्यापार में नहीं। ऋण देने-लेने की प्रथा थी, और प्रायः जुए में हारना ऋण लेने का कारण होता था। ऋण न चुकाने से दास बनना पड़ता था। दास-दासियाँ जरूर थीं, पर लोग उनपर निर्भर न थे; सब साधारण काम जन के स्वतन्त्र गृहस्थ स्वयं करते थे। कुछ शिल्प भी थे। बढ़ई या रथकार का काम बहुत ऊँचा माना जाता था क्योंकि युद्ध और खेती के लिए रथ हल और गाड़ियाँ वही बनाता था। उसी तरह लोहार (कर्म्मार) की बड़ी प्रतिष्ठा थी; पर कई विद्वानों का कहना है कि वह ताँबे के ही हथियार बनाता था, अर्थात् आर्य लोग तब लोहे को न जानते थे। चमड़ा रँगने और ऊन सन क्षौम (अलसी के रेशे) आदि का कपड़ा बुनने के काम भी ऊँचे गिने जाते थे। स्त्रियाँ चटाइयाँ भी बुनती थीं। प्रत्येक ग्राम में कृषकों के साथ सूत, रथकार, कर्म्मार (लोहार) आदि भी होते थे, जिनकी हैसियत साधारण लोगों से ऊँची—प्रायः ग्रामणी के बराबर—मानी जाती थी। थोड़ा व्यापार भी था। नदियों में तो नावें खूब चलती ही थीं, वे ईरान की खाड़ी में भी किनारे के साथ-साथ जाती थीं, जहाँ के देशों से आर्यावर्त्त के लोगों का सम्पर्क था।

§४. **राज्य-संस्था**—राजनीतिक रूप से संघटित जन को "राष्ट्र" कहते थे। राजा राष्ट्र का मुखिया होता था। वह मनमानी न कर सकता था। विशः अर्थात् प्रजा राजा का "वरण" करती थीं। वरण का यह अर्थ था कि या तो वे उसे चुनती थीं, या यदि वह पिछले राजा का बेटा हो तो उसके राजा बनने की स्वीकृति देती थीं। वरण होने पर राज्याभिषेक होता, जिसमें राजा विशः के साथ 'प्रतिज्ञा' अर्थात् इकरार करता, उसे राज्य की थाती सौंपी जाती और किरीट (मुकुट) पहनाया जाता। वरण राजा की आयु भर के लिए होता, पर यदि वह 'प्रतिज्ञा' तोड़ दे तो उसे निकाला जा सकता था। निर्वासित राजा का कभी कभी फिर भी वरण हो जाता था।

राजा 'समिति' की सहायता से राज्य करता था। राज्य की असल बागडोर उसी समिति के हाथ में रहती। समिति समूची विशः की संस्था थी। उसमें कौन कौन जाते थे सो कहना कठिन है। ग्रामणी सूत रथकार और कर्म्मार उसमें अवश्य शामिल होते थे। राजा का वरण, निर्वासन, पुनर्वरण सब समिति करती थी। उसका एक 'पति' या 'ईशान' होता था। राजा भी समिति में जाता था। समिति के अतिरिक्त 'सभा' नाम की एक संस्था भी थी, जो शायद समिति से छोटी थी। सभा ही राष्ट्र का मुख्य न्यायालय थी। प्रत्येक ग्राम में भी अपनी-अपनी सभा होती थी। उन सभाओं में जवान लोग भी भाग लेते थे। आवश्यक कार्यों के बाद सभा में विनोद की बातें भी होती थीं और तब वह गोष्ठी का काम देती थी। समिति के सदस्य 'राजकृतः' अर्थात् राजा के कर्त्ता-धर्ता होते थे। वे राजा भी कहलाते थे। कई राष्ट्र ऐसे भी थे जिनमें एक राजा न होता; समिति के सदस्य मिल कर ही राज्य करते थे।

§५. **धर्म-कर्म**—आर्यों का धर्म-कर्म आरम्भ में बहुत सरल था। पीछे पुरोहितों की चेष्टाओं से कुछ पेचीदा हो गया। देव-पूजा और पितृ-पूजा उसके मुख्य चिह्न थे। वह पूजा यज्ञ में आहुति देने से होती थी। यज्ञों के लिए प्रत्येक गृहस्थ के घर में सदा अग्नि उपस्थित रहता। नित्य की पूजा में देवताओं की मूर्त्तियाँ तब नहीं थीं। इन्द्र मुख्य देवता था। प्रकृति की बड़ी बड़ी शक्तियों में आर्य लोग दैवी अभिव्यक्ति देखते थे, और उन्हीं शक्तियों की

उन्होंने भिन्न-भिन्न देवताओं के रूप में कल्पना की थी। उदाहरण के लिए द्यौः अर्थात् आकाश एक देवता है; उसी तरह पृथिवी भी; और 'द्यावापृथिवी' का जोड़ा प्रायः इकट्ठा गिना जाता है। वरुण भी द्यौः का एक रूप है, उसकी ज्योति का सूचक। वह धर्मपति है; लोगों के अन्तरात्मा की बात जानता है। उसके हाथ में पाश रहता है। वही नदियों और समुद्र का भी देवता है। द्यावापृथिवी और वरुण की अपेक्षा इन्द्र की महिमा बहुत बड़ी है। वैदिक देवताओं में वही मुख्य है। वह वृष्टि का अधिष्ठाता है, और उसके हाथ में बिजली का वज्र है जिससे वह वृत्र अर्थात् अनावृष्टि के दैत्य को मारता है।

सूर्य के भिन्न-भिन्न गुणों से कई देवताओं की कल्पना हुई है। प्रभात वेला 'उषा' सुन्दरी रूप में प्रकट होती है, उसका प्रेमी सूर्य उसके पीछे-पीछे आता है। उदय होता हुआ सूर्य ही 'मित्र' है, वह मैत्रीपूर्ण देवता मनुष्यों को नींद से उठाता और काम में जुटाता है। सूर्य पूरा उदय हो कर अपनी किरणों से जब जगत् को जीवन देता है, तब वही 'सविता' है। जैसे मित्र उसके तेज का सूचक है और सविता जीवन-शक्ति का, वैसे ही पूषन् उसकी पोषक शक्ति का और विष्णु उसकी क्षिप्र गति का, इत्यादि। अग्नि और सोम की महिमा केवल इन्द्र से कम है। अग्नि के तीन रूप हैं, सूर्य, विद्युत् और अग्नि। 'सोम' वनस्पति भी है, और चन्द्रमा भी। प्रकृति में जो कुछ भयंकर और घातक है, उस सब की जड़ में 'रुद्र' है। किन्तु रुद्र भी शान्त होने पर शिव अर्थात् मंगल रूप धारण कर लेता है। आर्यों की देव-कल्पना मधुर और सौम्य थी; उन्होंने डरावने या अश्लील देवताओं को उसमें जगह न थी। उसमें कवि के स्निग्ध हृदय और अन्तर्दृष्टि की झलक है।

देवताओं की तृप्ति यज्ञ में आहुति या बलि देने से होती थी। दूध घी, अनाज मांस और सोमरस (एक लता का रस) इन सभी वस्तुओं की आहुति दी जाती थी। आहुतियों के साथ ऋचाएँ पढ़ी जातीं और साम गाये जाते थे। ऐसा आख्यान है कि राजा वसु के ज़माने में ऋषियों का एक सम्प्रदाय उठा, जिसका मत यह था कि यज्ञ में मांस के बजाय अन्न की ही आहुति दी जाय। वह सम्प्रदाय भक्ति पर भी ज़ोर देता था।

बाद में यज्ञों का आडम्बर बहुत बढ़ गया, और धनी लोग बड़े-बड़े यज्ञ पुरोहितों से कराने लगे। किन्तु साधारण आर्य अग्नि में अपनी दैनिक आहुति स्वयं दे लेता था। देवों के अतिरिक्त वह पितरों का तर्पण भी स्वयं करता था।

§ ६. सामाजिक जीवन, खान-पान, वेश-भूषा, विनोद आदि— आर्यों का सामाजिक जीवन भी उनके जीवन की अन्य बातों की तरह सरल था। समाज में ऊँचनीच कुछ ज़रूर थी; पर विशेष भेद न थे। रथी और महारथी की हैसियत साधारण योद्धा से कुछ ऊँची थी। तो भी रथियों के वे 'क्षत्रिय' परिवार साधारण विशः का ही अंश थे। आर्य और दास का बड़ा भेद था; पर आर्यों और दासों में भी परस्पर सम्बन्ध हो ही जाते थे।

राजा भरत के काल में दीर्घतमा नाम का ऋषि था। कहते हैं उससे पहले विवाह-संस्था प्रायः नहीं थी; उसने उसे स्थापित किया। तब से विवाह पवित्र और स्थायी सम्बन्ध माना जाने लगा। युवक-युवती को अपना साथी चुनने की स्वतन्त्रता रहती थी। विनोद के कार्यों और स्थानों में उन्हें 'अभ्ययन' (परस्पर मिलने) और 'अभिमनन' (मनाने रिझाने) के यथेष्ट अवसर मिलते थे। राजपुत्रियों के स्वयंवर होते थे। विधवाएँ फिर विवाह कर लेती थीं। स्त्रियाँ हर काम में पुरुषों का साथ देतीं। वेद के ऋषियों में भी लोपामुद्रा आदि अनेक स्त्रियों की गिनती है।

खान-पान बहुत सादा था। दूध दही घी अनाज मांस मुख्य भोजन थे। वेश भी बहुत सादा था। ऊपर नीचे के लिए उत्तरीय और अधोवस्त्र होता था। उष्णीष अर्थात् पगड़ी का रिवाज़ था, जिसे स्त्रियाँ भी पहनती थीं। पुरुष स्त्री दोनों सोने के हार कुंडल केयूर आदि पहनते थे। पुरुष प्रायः केशों का जूड़ा बनाते या काकपक्ष (कानों पर लटकते केश) रखते थे। स्त्रियाँ वेणी बनाती थीं। मिलजुल कर विनोद और व्यायाम खूब होते थे। रथों और वाजि यानी घोड़े की दौड़ का विशेष प्रचार था। उसपर बाजी भी लगाते थे। जुआ खेलने का व्यसन काफी था। संगीत वाद्य और नृत्य का शौक भी बहुत था। आर्य लोग सत्य का बहुत मान करते थे और झूठ से उन्हें बड़ी चिढ़ थी। जब

छोटा बड़े के सामने जाता तब अपना नाम ले कर प्रणाम करता था। बड़ों के नाम का ज़िक्र उनके गोत्र से किया जाता और बोलने में अदब-कायदे की बड़ी पाबन्दी रक्खी जाती थी।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. ऋचा, सूक्त और संहिता का क्या अर्थ है? ऋक् संहिता में लगभग कितने सूक्त हैं?

२. मुनि कृष्ण द्वैपायन को 'वेदव्यास' क्यों कहते हैं?

३. वैदिक समूह की बनावट कैसी थी? संक्षेप से लिखिए।

४. वेदों के ऋषि मुख्यतः किस वंश के थे और वे किस प्रदेश में हुए? उनके काल का इक्ष्वाकु से पीढ़ी बना कर निर्देश कीजिए।

५. 'जन' 'विशः' 'ज्यैष्ठ्य' और 'जानराज्य' शब्दों से आप क्या समझते हैं?

६. 'घूमते-फिरते ग्रामों' और 'संग्राम' का क्या अभिप्राय है?

७. वैदिक राज्यसंस्था में राजा का क्या स्थान था? 'समिति' का महत्त्व क्या था? और 'राजकृतः' कौन होते थे?

८. आरम्भिक आर्यों के समाज में स्त्रियों की कैसी स्थिति थी?

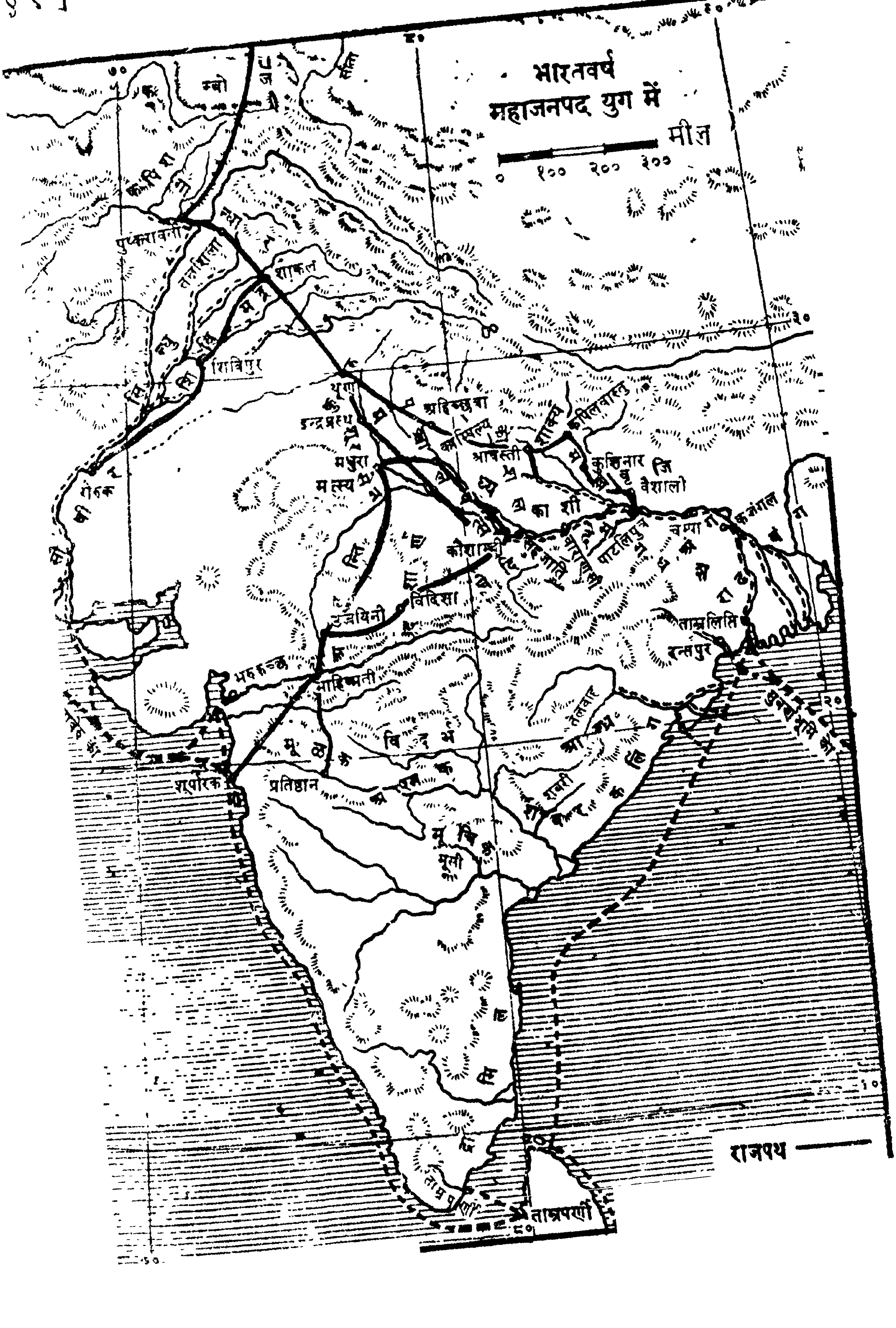
३. महाजनपद पर्व

अध्याय १

जनपद और साम्राज्य

§१. **जनपदों का उदय**—महाभारत युद्ध के बाद हस्तिनापुर का भारत राजवंश वहाँ से उठ कर वत्स देश की राजधानी कौशाम्बी में चला गया। आर्य लोग अब गोदावरी के काँठे में विदर्भ (बराड) से और आगे बढ़ने लगे। वहाँ उनके दो नये राज्य मूळक और अश्मक स्थापित हुए। मूळक की राजधानी 'मूळक का प्रतिष्ठान' (आधुनिक पैठन) उपरले गोदावरी काँठे में थी। अश्मक और नीचे था। उसके पूरब कलिंग (उड़ीसा) था। विदर्भ, मूळक और अश्मक मिल कर बाद का महाराष्ट्र बना। मूळक और अश्मक के परे आन्ध्र, शबर और मूचिक (मूषिक) नाम की अनार्य जातियाँ रहती थीं, जिनसे आर्यों का सम्पर्क था। आन्ध्र लोग तब आजकल के आन्ध्र देश के उत्तरी छोर पर तेल नदी पर रहते थे। बस्तर की शबरी और हैदराबाद की मूसी नदी शबरों और मूचिकों की याद दिलाती हैं [नक्शा ६]।

इसी काल में आर्य राज्यों के अन्दर ही अन्दर एक भारी परिवर्तन हुआ। पहले जो राज्य जनों के थे [२.२ § २], अब वे जनपदों के हो गये। जिन प्रदेशों पर जन बस गये थे, वही उनके जनपद कहलाये। जैसे कुरु 'जन जहाँ बसा वह कुरु जनपद और मद्र जन जहाँ बसा वह मद्र जनपद हुआ। अब 'जान-राज्य' के बजाय 'जानपद राज्य' होने लगे। उदाहरणार्थ, मद्र जनपद में अब जो कोई बस जाता वह मद्रक कहलाता और मद्र राज्य की प्रजा हो सकता था। यही बात और जनपदों में भी थी। उन जनपदों में अब शिल्प और व्यापार भी बढ़ने लगा, जिससे नगरियाँ स्थापित होने लगीं।


भारतवर्ष
महाजनपद युग में
मील
० १०० २०० ३००
पुष्कलावती
तक्षशिला
शाकल
शिविपुर
रोरुक
इन्द्रप्रस्थ
अहिच्छत्रा
काम्पिल्य
श्रावस्ती
कपिलवस्तु
कुशिनार
वैशाली
मथुरा
मत्स्य
काशी
कौशाम्बी
पाटलिपुत्र
चम्पा
कजंगल
उज्जयिनी
विदिशा
ताम्रलिप्ति
दन्तपुर
भरुकच्छ
माहिष्मती
शूर्पारक
प्रतिष्ठान
विदर्भ
मूसी
ताम्रपर्णी
राजपथ

§२. **सोलह महाजनपद**—कुछ काल बाद कुछ जनपदों ने दूसरों का प्रदेश जीत कर और कुछ ने आपस में मिल कर अपनी भूमि बढ़ा ली। वे महाजनपद कहलाये। महाजनपदों का काल आठवीं-सातवीं शताब्दी ई० पू० से पाँचवीं शताब्दी ई० पू० तक है। इनका वृत्तान्त हम विशेष कर बौद्ध और जैन ग्रन्थों से जानते हैं। इन ग्रन्थों में सोलह महाजनपदों के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं, यहाँ तक कि "सोलह महाजनपद" उस युग में एक मुहावरा सा बन गया था। उन सोलह में ये आठ जोड़ियाँ थीं—(१) अंग-मगध (२) काशी-कोशल (३) वृजि-मल्ल (४) चेदि-वत्स (५) कुरु-पंचाल (६) मत्स्य-शूरसेन (७) अश्मक-अवन्ति और (८) गन्धार-कम्बोज।

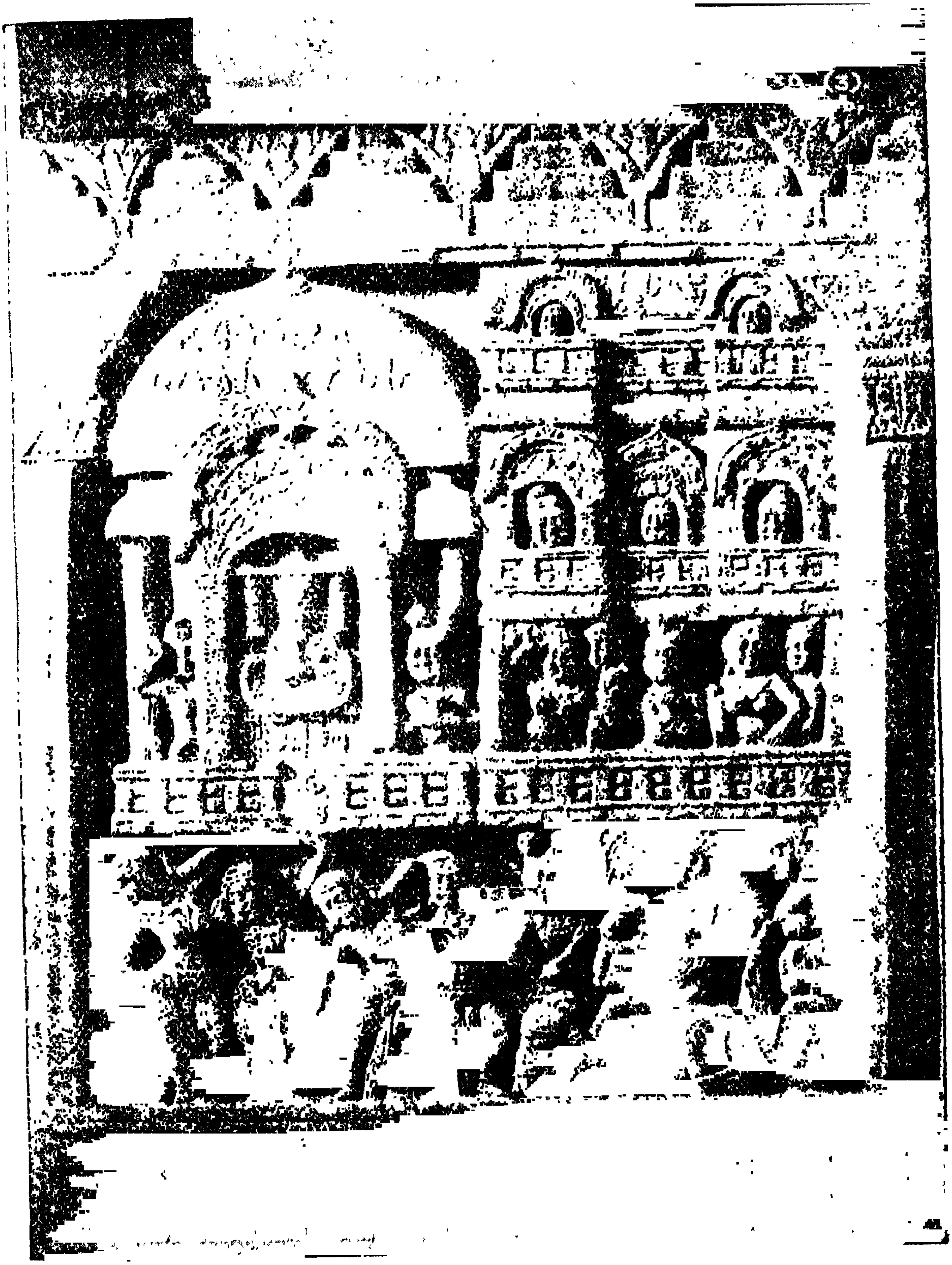
यह गिनती पूरब से चलती है। अंग की राजधानी चम्पा [नक्शा ६] या मालिनी उस समय भारत की समृद्ध नगरियों में से थी। भागलपुर शहर का पच्छिमी भाग चम्पानगर, जो चम्पा नाला या चम्पा नदी के किनारे बसा है, ठीक उसी जगह है। मगध की राजधानी राजगृह थी। वहाँ तब काशी से निकले शिशुनाक वंश के राजा राज्य करते थे।



कोशल महाजनपद का एक आहत सिक्का (दुर्गाप्रसाद-संग्रह से)

काशी राष्ट्र की राजधानी वाराणसी भारतवर्ष भर में सब से समृद्ध और शिल्प व्यापार का सब से बढ़ा-चढ़ा केन्द्र थी। कोशल का साकेत (अयोध्या) नगर भी प्रसिद्ध था; पर इस युग में कोशल की राजधानी अचिरावती (राप्ती) नदी के तट पर श्रावस्ती थी, जिसके खँडहर अब गोंडा-बहराइच जिलों की सीमा पर सहेठ-महेठ गाँवों में हैं।

मल्ल और वृजि-राष्ट्र क्रमशः कोशल के पूरब थे [नक्शा ६]। ये दोनों संघ-राष्ट्र अर्थात् पंचायती राज्य थे। मल्लों का संघ आधुनिक गोरखपुर देवरिया ज़िलों में था। पावा और कुशिनार या कुशिनगर उनके नगर थे। कुशिनगर के अवशेष अब कसिया में हैं।



देवताओं की सभा 'सुधर्मा'—भारहुत स्तूप (शुंग-युग का मूर्त दृश्य)
[भारतीय संग्र०, कलकत्ता; भा० पु० वि०]

वृजि-संघ में दो जन शामिल थे—विदेह और लिच्छवि। विदेह राष्ट्र में जनकों का पुराना राजवंश [२.१ § ४] समाप्त हो कर पञ्चायती राज्य स्थापित हो चुका था। वृजि-संघ की राजधानी वैशाली थी, जिसके खँडहर अब मुज़फ्फ़रपुर ज़िले के बसाढ़ नामक बड़े गाँव में हैं। उसके चौगिर्द तिहरा परकोटा था, जिसमें जगह-जगह द्वार और गोपुर (पहरा देने के मीनार) बने थे। वह बड़ी सुन्दर नगरी थी। कहते हैं वृजियों के ७७०७ राजा होते थे जो सब एक परिषद् में राजकीय मामलों पर विचार करते थे। भगवान् बुद्ध वैशाली नगरी के और वृजि-सङ्घ के संघटन को बहुत पसन्द करते थे। एक बार उन्होंने अपने शिष्यों को वृजियों की परिषद् दिखा कर कहा था, "तुममें से जिन्होंने देवताओं की परिषद् न देखी हो वे इस परिषद् को देखें!" वैशाली नगरी के बीच एक पोखरनी थी, जिसमें उन ७७०७ राजाओं और उनकी रानियों का अभिषेक होता था। इसपर लोहे का जँगला और जाली इसलिए लगी रहती थी कि दूसरा कोई इसमें न नहा सके।

वत्स देश काशी के पच्छिम था, और चेदि (आजकल का बुन्देलखंड) उसके पच्छिम और जमना के दक्खिन। वत्स की राजधानी कौशाम्बी में बुद्ध का समकालिक राजा उदयन राज करता था। भारत वंश का होने के कारण उसका बड़ा आदर था। महाकवि भास ने अपने एक नाटक में कहलाया है—'यह वह भारत वंश है जिसका नाम आम्नाय (वेदों) में प्रविष्ट है'।

कुरु और पंचाल पुराने राष्ट्र थे, जिनकी अब कोई विशेष राजनीतिक शक्ति न रही थी। पर इस युग में भी "कुरुधर्म" अर्थात् कुरु देश के लोगों का आचार सारे भारतवर्ष के लिए आदर्श माना जाता था। मत्स्य और शूरसेन का भी विशेष राजनीतिक महत्त्व न रह गया था।

अवन्ति बड़ा राज्य था। उसकी राजधानी उज्जयिनी व्यापार की बड़ी मंडी थी। दक्खिनी रास्ते का नाका माहिष्मती भी उसीके अधीन था। भरु-कच्छ (भरुच) आदि पच्छिमी बन्दरगाहों और दक्खिन से आने वाले व्यापार-पथ उज्जयिनी पर मिलते थे; वहाँ से एक रास्ता विदिशा (भेलसा), कौशाम्बी हो कर काशी और श्रावस्ती की तरफ़, और दूसरा मथुरा हो कर कुरु और

गन्धार की तरफ, चला जाता था। अश्मक की सीमा अवन्ति से लगती थी, क्योंकि बीच का मूळक राष्ट्र अब उसी में सम्मिलित था।

गन्धार देश की राजधानी तक्षशिला इस युग में विद्या का सबसे बड़ा केन्द्र थी। वहाँ बड़े-बड़े "दिशाप्रमुख" अर्थात् जगत्प्रसिद्ध आचार्य रहते थे, और "तीन वेद तथा अठारह विद्याएँ" पढ़ाई जाती थीं। आयुर्वेद के प्रसिद्ध आचार्य आत्रेयों का गुरुकुल तक्षशिला में ही था। काशी, कोशल, मगध आदि देशों के राजकुमार, सेठों के लड़के और गरीब किसानों के बेटे सभी तक्षशिला पढ़ने पहुँचते थे। वहाँ के आचार्यों के चरणों में बैठे बिना उस युग में भारतवर्ष में कोई मनुष्य पंडित न कहला पाता था। कश्मीर भी गन्धार के अधीन था। पामीर और बदख्शाँ [१,१§५] का नाम कम्बोज था, वह भी तब भारत के अन्तर्गत था।

इन महाजनपदों के अलावा कुछ छोटे जनपद भी थे। कोशल के उत्तर शाक्यों का संघ था जिसकी राजधानी कपिलवास्तु थी। पच्छिमदक्खिनी पंजाब में शिवि [२,१§२] और सिन्धु [२,१§४] राष्ट्र थे। आधुनिक सिन्ध का नाम तब सौवीर राष्ट्र था। उसकी राजधानी रोरुक (आजकल की रोरी) उस युग की सुन्दर नगरियों में गिनी जाती थी।

दक्खिन की तरफ आन्ध्र राष्ट्र, द्रामिल (तमिळ) राष्ट्र और ताम्रपर्णी द्वीप (सिंहल) से अब आर्यों का सम्पर्क बढ़ा हुआ था। उनमें आर्य मुनि और दूसरे आर्य लोग जा-जा कर अपने आश्रम और उपनिवेश बसाते और भरुकच्छ और वाराणसी के व्यापारी जहाज ले कर पहुँचते थे। दूर के नये देशों के विषय में कहानियाँ बन जाती हैं। ताम्रपर्णी के विषय में यह प्रसिद्ध था कि वहाँ यक्षिणियाँ रहती थीं, जो वहाँ भटक कर पहुँचने वाले व्यापारियों को लुभा ले जाती थीं। चम्पा के व्यापारी पूरब तरफ बरमा के तट से व्यापार करते और उसे वे सुवर्णभूमि कहते थे, क्योंकि उधर से सोना आता था और उसके व्यापार में बड़ा लाभ था। भरुकच्छ से बावेरु अर्थात् बाबुल को भी लोग व्यापार करने जाते थे। वहाँ मोर न होता था, और भारत के व्यापारियों ने पहले-पहल मोर ले जा कर एक-एक हज़ार कार्षापण में बेचा

था ! भारतवासियों की पहुँच की इस युग में प्रायः यही सीमाएँ थीं ।

§ ३. **महाजनपदों की चढ़ाऊपरी**—इन जनपदों और महाजनपदों की चढ़ाऊपरी का वृत्तान्त भी मनोरंजक है। सबसे पहले, सातवीं शताब्दी ई० पू० के शुरू में, काशी राष्ट्र ने अपना बड़ा साम्राज्य बना लिया। काशी के बाद कोशल के बढ़ने की बारी आई। दोनों में लम्बा युद्ध चलता रहा। अन्त में कोशल के एक राजा ने काशी को जीत लिया (लगभग ६२५ ई० पू०)*। उस राजा को महाकोशल कह कर याद किया जाता है। उसका बेटा प्रसेनजित् बुद्ध का समकालिक था। उसने तक्षशिला में शिक्षा पाई थी। प्रसेनजित् का बहनोई मगध का राजा बिम्बिसार था। मगध भी इस काल तक अंग को जीत चुका था। वत्स का राजा उदयन और अवन्ति का राजा प्रद्योत भी बुद्ध के समकालिक थे। प्रद्योत को उसके सब पड़ोसी "चंड" (डरावना) कहते थे। मगध, कोशल, वत्स और अवन्ति ये चार बड़े राज्य बुद्ध के ज़माने में मध्यदेश अर्थात् आर्यावर्त्त के केन्द्र भाग में थे। पाँचवाँ बड़ा राज्य गन्धार का था।

मगध की गद्दी पर राजा बिम्बिसार के बाद उसके बेटे अजातशत्रु के बैठते ही (५५२ ई० पू०) मगध और कोशल में युद्ध ठन गया। तीन बार अजातशत्रु ने प्रसेनजित् को हराया; पर चौथी बार बूढ़े प्रसेनजित् ने उसे कैद कर लिया और अपनी लड़की ब्याह में दे कर छोड़ दिया।

इधर चंड प्रद्योत भी आर्यावर्त्त का चक्रवर्ती होना चाहता था। उसका राज्य मथुरा तक फैला था। उसके और मगध के बीच वत्स का राज्य पड़ता था। वत्सराज उदयन को हाथी पकड़ने का शौक था। वह संगीत में अत्यन्त निपुण था और 'हस्ति-कान्त वीणा' बजा कर हाथियों को काबू कर लेता था। एक बार प्रद्योत ने सीमा पर के जंगल में चिथड़े लपेट कर रँगा हुआ काठ का हाथी छोड़वा दिया। उदयन उसे पकड़ने पहुँचा। वीणा बजाने पर

* इस प्रसंग में जितनी तिथियाँ दी गई हैं सब बुद्ध के निर्वाण की प्रचलित तिथि ५४४ ई० पू० मान कर।

हाथी उलटी तरफ दौड़ा। उदयन ने घोड़े पर पीछा किया। उसके साथी पिछड़ गये। प्रद्योत के कुछ सैनिक हाथी के पेट में और कुछ जङ्गल में छिपे हुए



वासवदत्ता-हरण
कौशाम्बी से पाया गया शुंग-युग का पकाई मिट्टी का ठिकरा
[भारत-कलाभवन, बनारस]
हथिनी पर आगे वासवदत्ता और पीछे उदयन है। सबसे पीछे उदयन का मित्र वसन्तक थैली खोल कर पीछा करने वालों से पीछा छुड़ा रहा है।

थे। उन्होंने उदयन को पकड़ लिया। प्रद्योत ने अपने कैदी से अपनी लड़की वासवदत्ता को संगीत सिखाने का काम लिया। कुछ दिन बाद युवक और युवती षड्यन्त्र रच कर भाग निकले! पर कैदी उदयन की अपेक्षा दामाद उदयन प्रद्योत के लिए अधिक उपयोगी हुआ और इसी कारण मगध को 'अब अवन्ति के लिए अधिक सतर्क होना पड़ा (५५० ई० पू०)। किन्तु पाँच

बरस बाद प्रद्योत की मृत्यु हो जाने पर मगध को अवन्ति का डर जाता रहा (५४५ ई० पू०)।

कोशल में प्रसेनजित् के बाद उसका बेटा विरूढक राजा हुआ। जब वह युवराज था तब उसके रिश्तेदार और पड़ोसी शाक्यों ने उसका अपमान किया था, और विरूढक ने उन्हें जड़ से मिटा देने की ठान ली थी। शाक्य वे लोग थे जिनमें बुद्ध ने जन्म लिया था। विरूढक तीन बार उनपर चढ़ाई करते-करते बुद्ध के समझाने से रुक गया, पर अन्त में बुद्ध ने भी दखल देना व्यर्थ समझा। विरूढक ने कपिलवास्तु पर चढ़ाई कर उसे घेरा और शाक्यों का संहार किया।

उसी तरह अजातशत्रु भी अपना राज्य बढ़ाने के लिए वृजि-संघ पर घात लगाये हुए था। जब बुद्ध अपने जीवन में अन्तिम बार राजगृह आये, तब उसने अपने मन्त्री वर्षकार को उनके पास भेज कर जानना चाहा कि बुद्ध इस बारे में क्या कहते हैं। बुद्ध ने वृजियों की बाबत सात प्रश्न पूछे और तब अपनी सम्मति दी।

§४. सात अपरिहाणि-धर्म—बुद्ध के कहने का सार यह था कि (१) जब तक वृजि लोग अपनी परिषदों में नियम से इकट्ठे होते हैं, (२) जब तक वे एक साथ बैठते, एक साथ उद्यम करते, और एक साथ वृजि-कार्यों (राष्ट्रीय कार्यों) को निबाहते हैं, (३) जब तक वे बाकायदा कानून बनाये बिना कोई आज्ञा जारी नहीं करते, बने हुए नियम का उल्लंघन नहीं करते और अपने 'वृजि-धर्म' (राष्ट्रीय नियम और संस्थाओं) के अनुसार मिल कर आचरण करते हैं, (४) जब तक वे अपने वृद्धों (मुखियों) का आदर करते और उनकी सुनने लायक बातें सुनते हैं, (५) जब तक वे अपनी कुल-स्त्रियों और कुल-कुमारियों पर किसी किस्म की ज़ोर-ज़बरदस्ती नहीं करते, (६) जब तक वे अपने-वृजि-चैत्यों (राष्ट्रीय मन्दिरों, पुरखों की समाधियों) का आदर करते और उनके लिए पहले दी हुई धार्मिक बलि को नहीं छीनते, और (७) जब तक वे अपने अर्हतों (त्यागी विद्वानों) की रक्षा और प्रतिष्ठा करते हैं, तब तक उन का अभ्युदय और बढ़ती ही होगी, उनकी हानि नहीं हो सकती। बुद्ध ने ये जो

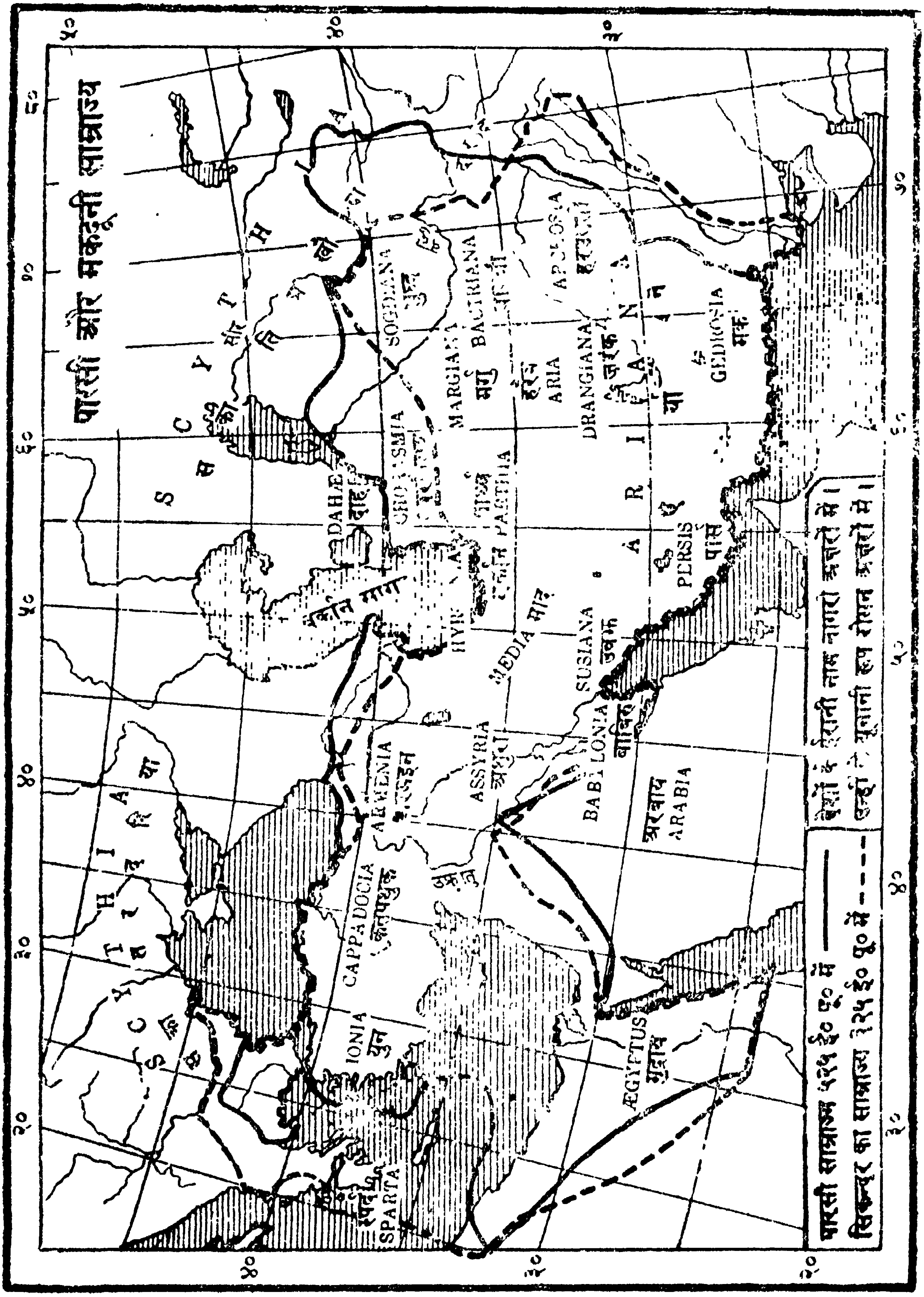
सात सिद्धान्त बताये, ये सात अपरिहाणि-धर्म अर्थात् अवनति न होने (अ-परिहानि) के सात सिद्धान्त कहलाते हैं। राष्ट्रों का अभ्युदय और पतन इन सिद्धान्तों के अनुसार होता कहा जा सकता है।

अजातशत्रु ने समझ लिया कि वह अपनी सैनिक शक्ति से वृजि-संघ को नहीं तोड़ सकता। तो भी उसने निश्चय किया कि "मैं इन्हें अनीति मार्ग में फँसा दूँगा"। उसने अपने गुप्तचरों और रिश्वत द्वारा उनमें फूट डालना शुरू किया और बुद्ध के निर्वाण के चार बरस पीछे वैशाली को जीत लिया (५४० ई० पू०)।

§५. **पारसी साम्राज्य**—भारतवर्ष के पच्छिम में भी आर्यों की कई शाखाएँ रहती थीं। जैसे हमारे पुरखा अपने देश को आर्यावर्त्त कहते थे, वैसे ही अफगानिस्तान के पच्छिम में जो आर्य रहते थे, वे अपने देश को ऐर्यान अर्थात् ऐर्यों या आर्यों का देश कहते थे। उसीसे ईरान शब्द बना है। ईरानी आर्यों में पार्स नाम के लोग ईरान की खाड़ी पर रहते थे, उनके कारण उस देश का नाम पारस पड़ गया था। और आगे पच्छिमी एशिया और यूनान में भी आर्य लोग थे। किन्तु पच्छिमी एशिया और उसके पड़ोस के देशों में तब तक बावेरु मिस्र आदि के शेमी (सैमिटिक) और हेमी (हैमिटिक) राज्यों का प्रभाव अधिक था।

हमारे यहाँ इस युग में जैसे बुद्ध भगवान् हुए, वैसे ही पूर्वी ईरान में ज़रथुस्त नाम के धर्मसुधारक हुए। पारस में हखामनि नामक पुरुष ने सातवीं शताब्दी ई० पू० में अपना राजवंश स्थापित किया था। उस वंश में दिग्विजयी सम्राट् कुरु (Cyrus)* हुआ (५५६—५२६ ई० पू०)। उसके अधीन समूचा ईरान था। बावेरु और मिस्र आदि के शेमी और हेमी राज्यों को भी उसने जीत लिया। अरब और समूचा पच्छिमी एशिया भी उसके साम्राज्य

* कुरु का नाम यूनानी लोग जैसे लिखते थे उसका अंग्रेजी रूप साइरस है। उसका मूल उच्चारण कुरुष् है। "कुरुष्" का अन्तिम ष् प्रथमा एकवचन का सूचक है, जैसा संस्कृत में भी होता है।


पारसी और मकदूनी साम्राज्य
पारसी साम्राज्य ५२५ ई० पू० में
सिकन्दर का साम्राज्य ३२५ ई० पू० में
SOGDIANA
BACTRIANA
MARGIANA
ARIA
DRANGIANA
GEDROSIA
CHORASMIA
DAHAE
PARTHIA
PERSIS
SUSIANA
MEDIA
ASSYRIA
BABYLONIA
ARABIA
ARMENIA
CAPPADOCIA
IONIA
EGYPTUS
SPARTA

में आ गया। यूनान पर भी उसका आधिपत्य हुआ। पूरब की तरफ उसने वंक्षु के काँठे में बलख के इलाके को तथा शकों और मकों के देश को जीत लिया। बलख को हमारे पुरखा वाह्लीक तथा ईरानी लोग बाख्त्री कहते थे। वह भारत और ईरान का साझे का प्रदेश था। शकों की तब तीन बस्तियाँ थीं--एक कास्पिय सागर के तट पर, दूसरी सीर दरिया के काँठे में, और तीसरी शकस्थान में, जिसे अब सीस्तान कहते हैं। मकों का देश मकरान था। शकस्थान और मकरान भारत और ईरान की सीमा के देश थे। इन्हें जीतने के बाद कुरु ने हिन्दकोह के दक्खिन उतर कर भारत पर चढ़ाई की। आजकल जो इलाका काफिरिस्तान कहलाता है, उसकी राजधानी तब कापिशी थी। कुरु ने कापिशी नगरी उजाड़ दी। उसने पक्थों का देश भी जीत लिया। कापिशी और पक्थ-देश तब भारत के अन्दर गिने जाते थे। पक्थ लोग आजकल के पख्तो या पश्तो बोलने वाले पठानों के पुरखा थे और झोब नदी की दून उनका खास देश था। मकरान के रास्ते कुरु ने सौवीर (सिन्ध) पर भी चढ़ाई करनी चाही, पर उधर से हार कर वह केवल सात साथियों के साथ जान बचा कर भागा।

कुरु के बाद इस वंश में विश्तास्प* का बेटा दारयवहु (Darius) प्रसिद्ध हुआ (५२१-४८५ ई० पू०)। उसने भारत के कम्बोज, गन्धार और सिन्धु (यानी डेराजात और सिन्धसागर दोआब) प्रदेश भी जीत लिये। तक्षशिला की तबसे अवनति हुई। दारयवहु ने अपना वृत्तान्त पत्थर की चट्टानों पर खुदवाया है। वह बड़े अभिमान से अपने को "ऐर्य ऐर्यपुत्र" (आर्य आर्यपुत्र) कहता है। उसके अधीन २१ प्रान्त थे, जिनमें से प्रत्येक का शासक क्षथ्रपावन् या क्षथ्रप (क्षत्रप) कहलाता था। सिन्धु प्रान्त से उसे सबसे अधिक आमदनी होती थी, जो उसके यहाँ सोने के रूप में पहुँचती थी।

पारसी साम्राज्य के बराबर बड़ा कोई साम्राज्य इससे पहले संसार में स्थापित न हुआ था। भारत के जो प्रदेश उसके अधीन हुए, वे लगभग ४२५

---

* विश्त = विंशति, बीस; अस्प = अश्व, घोड़ा।

ई० पू० तक स्वतन्त्र हो गये। बाकी साम्राज्य प्रायः सौ बरस और बना रहा।

§६. **मगध का पहला साम्राज्य** (५५०–३६६ ई० पू०)—जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, उत्तर भारत के जिस भाग में आजकल पढ़ने-लिखने



मगध का रथी योद्धा

सन् १६३४ में पटना की नाली की खुदाई में जिस गहराई पर काली मिट्टी का यह टिकरा पाया गया, उससे सिद्ध होता है कि यह मगध के पहले साम्राज्य के युग का है। असल परिमाण। [पटना संग्र०]

की भाषा हिन्दी है, प्रायः उसी को प्राचीन लोग मध्यदेश कहते थे। छठी शताब्दी ई० पू० के उत्तरार्ध में उसमें मगध की तूती बोलने लगी। बिम्बिसार के युग तक मगध ने अंग देश को मिला लिया था। अजातशत्रु के ज़माने में

वह कोशल को नीचा दिखा चुका और वृजि-संघ का राज्य छीन चुका था। उसके मुकाबले में तब केवल अवन्ति बाकी था। अजातशत्रु का पोता राजा अज उदयी हुआ (लग० ४८३—४६७ ई० पू०)। मगध के राज्य में मिथिला भी शामिल हो जाने से उसकी पुरानी राजधानी राजगृह एक कोने में पड़ गई थी। इसलिए उदयी ने गंगा और सोन के संगम पर पाटलिपुत्र नगरी की स्थापना की। पाँडर (पाटलि) पेड़ वहाँ अधिक होने से उसका यह नाम पड़ा। वही आजकल का पटना है। उदयी ने अवन्ति का भी पराभव किया और उसे अपने अधीन कर लिया। मध्यदेश के और सब जनपद इससे पहले या पीछे मगध की छत्रच्छाया में आ गये। उदयी के बेटे नन्दिवर्धन (लग० ४५८—४१८ ई० पू०) और पोते महानन्दी (लग० ४०६—३७४ ई० पू०) के युग में यह साम्राज्य और भी बढ़ गया। नन्दिवर्धन ने कलिंग (उड़ीसा) को भी जीत लिया। उस का प्रभाव भारत के उत्तर-पच्छिमी छोर तक फैला और गन्धार, कपिश, पक्थ और सिन्ध को पारसी साम्राज्य से स्वतन्त्र कराने में सहायक हुआ। पच्छिमी गंधार के पाणिनि नामक विद्वान् का पाटलिपुत्र में राजा नन्द की सभा में जाना प्रसिद्ध है। वह नन्द नन्दिवर्धन ही प्रतीत होता है।

§ ७. पांड्य चोल केरल और सिंहल राष्ट्रों की स्थापना— इधर एक और बड़ी प्रक्रिया इसी काल में जारी थी। दक्खिन में अश्मक के और आगे, भारत के अन्तिम छोर तक, आर्य बस्तियाँ और राज्य स्थापित हो गये। पांडु नाम के लोग पंजाब या मधुरा (मथुरा) में रहते थे। उनकी एक शाखा ने भारत के अन्तिम दक्खिनी कोने में जा कर एक नयी मधुरा बसायी जो अब मदुरा कहलाती है। वह नया राज्य पांड्य कहलाया। पांड्य के पच्छिम, समुद्र-तट पर, चेर राज्य था, और पांड्य के उत्तर चोल। चेर का ही दूसरा रूप केरल है। चेर और चोल राज्य आर्य प्रवासियों ने स्थापित किये या द्राविडों ने सो नहीं कहा जा सकता।

लंका या ताम्रपर्णी द्वीप में भी उत्तर से आर्यों ने आ कर उपनिवेश बसाया। उसका वृत्तान्त मनोरंजक कहानी में गुँथ गया है। वह कहानी यों है। कलिंग देश की राजकुमारी वंग (पूरबी बंगाल) के राजा को ब्याही थी। उनकी

अत्यन्त रूपवती कन्या हुई जो बड़ी निडर भी थी। वह एक बार घर से अकेली भाग कर व्यापारियों के सार्थ (काफिले) के साथ वंग से मगध को चल दी। रास्ते में लाड देश (राढ अर्थात् पच्छिमी बंगाल) के जंगल में कोई सिंह उसे उठा ले गया। उस युवती से उस सिंह के सिंहबाहु नाम का पुत्र और सिंहवल्ली नाम की कन्या हुई। सिंहबाहु ने बड़े हो कर सिंहपुर बसा कर उसे अपनी राजधानी बनाया। उसका बेटा विजय बड़ा क्रूर था। प्रजा के कहने से पिता ने उसे देसनिकाला दे कर सात सौ साथियों के साथ नाव पर बैठा कर छोड़ दिया। "दिशामूढ" हो कर उसकी नाव कोंकण में शूर्पारक पट्टन (मुम्बई के उत्तर आजकल के सोपारा) पर जा लगी। वहाँ के लोगों ने उनका स्वागत किया; पर वे भी विजय के साथियों से ऊब गये। उसी नाव पर वह मंडली फिर रवाना की गई और लंका पहुँची। वहाँ तब यक्ष लोग राज्य करते थे। विजय ने यक्ष राजकुमारी कुवेणी से विवाह किया, पर पीछे उसे त्याग दिया। तब उसने मदुरा के पांड्य राजा की कन्या को ब्याहा और ताम्रपर्णी नगरी बसा कर अड़तीस बरस धर्म से राज्य किया। उसके साथियों ने वहाँ अनुराधपुर, उज्जयिनी आदि नगरियाँ बसायीं। ये लोग सिंहपुर से आये थे, इस कारण इस द्वीप का नाम सिंहल पड़ा, जो अब तक चला आता है।

इस कहानी में चाहे जितना अंश सच का हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि पांड्य आदि बस्तियों की अपेक्षा सिंहल में आर्यों की बहुत बड़ी संख्या पहुँची, क्योंकि पुराने पांड्य, चेर और चोल राष्ट्रों में जहाँ अब द्राविड भाषाएँ बोली जाती हैं, वहाँ सिंहल की भाषा आर्य है। इस प्रकार लगभग ५०० ई० पू० तक आर्य लोग भारतवर्ष के अन्तिम छोरों तक फैल गये और दूसरी जातियाँ पूरी तरह उनके प्रभाव में आ गईं।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. जनों से महाजनपद किस प्रकार बने? सोलह महाजनपदों के नाम और उनकी स्थिति बताइए।

ऐसे महाजनपदों का परिचय दीजिए जिनमें संघराज्य रहा।

साम्राज्य-निर्माण के लिए महाजनपदों में कैसी होड़ चलती थी? उदाहरण

दीजिए।

१. वृजि संघ को लक्ष कर बुद्ध द्वारा कहे राष्ट्रों की उन्नति के सिद्धान्तों का उल्लेख कीजिए।

अलक्सान्दर से पहले भारतभूमि के किस किस अंश पर किस किस विदेशी का आक्रमण हुआ और उसने कहाँ तक सफलता पाई?

सिंहल में आर्य उपनिवेश बसने की कथा लिखिए

अध्याय २

महाजनपद युग का भारतीय जीवन

§ १. **वर्णाश्रम का उदय**—वेद-संहिताएँ बनने के बाद यज्ञों में उनके मन्त्रों का प्रयोग करने के लिए 'ब्राह्मण' नाम के गद्य ग्रन्थ बने। उनके ज़माने को उत्तर वैदिक काल अर्थात् पिछला वैदिक ज़माना कहते हैं। आर्यों का समाज और धर्म तब पहले से अधिक जटिल हो चला था। उस समाज में भिन्न-भिन्न दर्जों का भेद प्रकट होने लगा था। जो रथ में बैठने वाले क्षत्रिय सरदार थे, वे पहले ही साधारण लोगों से कुछ ऊँचे गिने जाते थे। उन्हीं के नमूने पर मन्त्र पढ़ने वाले ब्राह्मणों का भी अब अलग सा वर्ग दिखाई देने लगा। बाकी जो साधारण 'विशः' बचे, वे वैश्य अर्थात् जनसाधारण कहलाने लगे। बहुत से दास लोग भी आर्यों के समाज में मिल गये थे; वे शूद्र कहलाये। दासों के प्रति जो घृणा का भाव था वह शूद्रों के प्रति भी (परन्तु कुछ दर्जे कम) बना रहा। वे आर्यों से भिन्न वर्ण—यानी रंग—के थे।

वर्ण शब्द आर्यों के विभिन्न वर्गों के लिए भी बरता जाने लगा था। किन्तु उस समय के वर्णों के बीच कोई बाँध न बँधा था। तीन वर्णों के आदमी आसानी से एक से दूसरे वर्ण में चले जाते थे। चार आश्रमों अर्थात् मनुष्य-जीवन के चार विभागों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास—का विचार पहले-पहल उत्तर वैदिक काल में ही परिपक्व हुआ। चौथा आश्रम केवल ब्राह्मणों अर्थात् विद्वानों के लिए था।

§२. उपनिषदों का तत्त्वचिन्तन—यज्ञों के कर्मकांड का आडम्बर इस युग में बहुत बढ़ गया। किन्तु आरण्यकों अथवा वानप्रस्थों अर्थात् जङ्गल में रहने वाले मुनियों के आश्रमों में, जो दार्शनिक विचार के केन्द्र थे, उस कर्मकांड के विरुद्ध लहर उठी। उन्हीं आश्रमों में अब उपनिषद्-ग्रन्थों की रचना हुई। उपनिषदों ने सीधे शब्दों में कहा कि "ये यज्ञ फूटी नाव की तरह हैं।" आदर्श को खोजने वाले लोग उनसे ऊब कर विचार और दार्शनिक चिन्तन की तरफ झुकने लगे। किन्तु वे दार्शनिक विचार भी केवल विद्वानों की प्यास बुझा सकते थे। जनसाधारण के लिए या तो यज्ञों का कर्मकांड था, या जड-जन्तु-पूजा। उनसे लोगों का मन नहीं भरता था। लोग मानो किसी सरल मार्ग के लिए तरस रहे थे। काल की आवश्यकता से वैसा मार्ग दिखाने वाले कई महात्मा प्रकट हुए। महावीर और बुद्ध उनमें से मुख्य थे।

§३. बुद्ध का जीवन और उपदेश—श्रावस्ती से ६० मील पर, रोहिणी नदी के पच्छिम, कपिलवास्तु नगरी शाक्यों के संघराष्ट्र की राजधानी थी। रोहिणी के पूरब कोलिय "राजाओं" का देवदह नगर था। शुद्धोदन शाक्य कुछ काल के लिए कपिलवास्तु का राजा अर्थात् राष्ट्रपति था। उसने देवदह की दो शाक्य कन्याओं, माया और प्रजावती, से ब्याह किया था।

बरसों की प्रतीक्षा के बाद महामाया को पुत्र होने की आशा हुई। दोनों बहनें मायके रवाना हुईं। रास्ते में लुम्बिनी के वन में माया ने उस पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम आज संसार के आधे के लगभग स्त्री-पुरुष प्रतिदिन जपते हैं। सात दिन बाद उसे प्रजावती के हाथ सौंप वह परलोक सिधार गई। लुम्बिनी को आजकल रुम्मिनदेई कहते हैं, और वह बस्ती ज़िले की सीमा पर नेपाल की तराई में है।

बालक सिद्धार्थ गौतम की बचपन से ही चिन्ताशील प्रवृत्ति देख कर पिता ने १८ वर्ष की आयु में उसका विवाह कर दिया, तो भी उसकी प्रवृत्ति न बदली। छोटी-छोटी घटनाएँ उसके दिल पर असर कर जातीं। एक दिन रथ में सैर करते हुए उसने एक बूढ़े को कमर झुकाये देखा। इसकी यह दशा क्यों है? बुढ़ापे के कारण। बुढ़ापा क्या चीज़ है? क्या वह इसी पुरुष को सताता

है या सबको ? इत्यादि प्रश्न उसके जी में उठे। इसी तरह सिद्धार्थ ने एक रोगी और एक लाश को देखा। और अन्त में एक शान्त प्रसन्नमुख संन्यासी को देख कर उसके विचार एक संकल्प की ओर बढ़ने लगे।

वह तब अट्ठाइस बरस का था। नदी-तट पर बगीचे में बैठे उसे अपने पुत्र होने की खबर मिली। चारों तरफ उत्सव-गीत गाये जाने लगे। पर सिद्धार्थ के मन में कुछ और ही समा चुका था। उसी धुन को ले कर वह उस रात अन्तिम बार अपनी स्त्री के पास गया। दीये के उजाले में उसने उस युवती को सोते देखा। उसका एक हाथ बच्चे के सिर पर था। जी में आया एक बार बच्चे को गोदी ले लूँ; पर हृदय को कड़ा करके वह उसी रात गृहस्थ को त्याग संन्यास के लिए निकल पड़ा। इसे गौतम का 'महाभिनिष्क्रमण' कहते हैं।

गौतम डील का लम्बा था। उसकी आँखें नीली, रंग गोरा, कान लटकते हुए और हाथ लम्बे थे जिनकी अँगुलियाँ घुटनों तक पहुँचती थीं। केश घूँघर वाले और छाती चौड़ी थी।

मल्लों के देश को जल्द लाँघ सिद्धार्थ वैशाली पहुँचा और वहाँ से राजगृह। उन दोनों स्थानों में उसने दो बड़े दार्शनिकों के पास उस युग की विद्याएँ पढ़ीं। गृहस्थों के हिंसापूर्ण कर्मकांड से ऊब कर वह दर्शन की ओर झुका था। पर उस सूखे दिमागी व्यायाम में भी उसे वह शान्ति न मिली जिसे वह अपने और संसार के लिए खोज रहा था। तब उसने एक और कठिन मार्ग पकड़ा। उसी आश्रम के पाँच विद्यार्थियों को साथी बना, वह गया के पहाड़ी जङ्गलों में उस युग के नियम के अनुसार तपस्या करने गया। वहाँ निरंजना नदी के किनारे छः बरस तक घोर तप करते-करते उसका केवल हाड़-चाम बाकी रह गया।

कहानी है कि एक बार कुछ नाचने वाली स्त्रियाँ गाती हुई उस जंगली राह से गुजरीं। उनके गीत की ध्वनि गौतम के कान में पड़ी। वे गाती थीं, 'अपनी वीणा के तार को ढीला न करो, नहीं तो वह बजेगा नहीं, और उसे इतना कसो भी नहीं कि वह टूट ही जाय!' पथिकों के उस गीत से गौतम को बड़ी शिक्षा मिली। उसने देखा, मैं अपने जीवन के तार को बहुत कसे जा रहा हूँ। तबसे

वह अपने देह की सुध लेने लगा। उसके साथी उसे तप से डरा समझ, साथ छोड़ कर बनारस चले गये। वह अकेला देहाती स्त्रियों से भिक्षा पा पा कर धीरे धीरे स्वास्थ्य प्राप्त करने लगा। सुजाता नाम की युवती ने वहाँ गौतम को बड़ी श्रद्धा से पायस खिलाया।



भगवान बुद्ध—गुप्त युग की एक मूर्त्ति
[भा० पु० वि०]

स्वस्थ होने के बाद एक दिन गौतम एक पीपल के नीचे बैठा विचार करता था। पर ध्यान लगाते ही "मार" (अर्थात् मनुष्य की अपनी वासनाओं) ने उसपर हमला किया। जल्द ही गौतम ने मार को जीत लिया, अर्थात् उसके चित्त के सब विक्षेप शान्त हो गये। तब उसे वह "बोध" (ज्ञान) हुआ जिसके लिए वह भटकता फिरता था। उसी दिन से गौतम "बुद्ध" हुए, और वह पीपल भी बोधि वृक्ष कहलाया। गौतम की बोधि या बूझ क्या थी? वह केवल यह थी कि सरल सच्चा जीवन ही धर्म का सार है; वह सब यज्ञों, शास्त्रार्थों और तपों से बढ़ कर है। संयम-सहित सच्चा आचरण ही असल धर्म है।

बुद्ध अपने बोध से स्वयं सन्तुष्ट हो कर बैठने वाले न थे। 'उत्थान' (उठना, उद्यम करना) और 'अप्रमाद' (कभी ढील न करना) उनके जीवन

और उनकी शिक्षा का मूल मन्त्र था। बनारस पहुँच कर (जहाँ आजकल सारनाथ है) वे अपने पुराने साथियों से मिले और उन्हें समझाया—"भिक्खुओ, संन्यासी को दो अन्तों (सीमाओं) का सेवन न करना चाहिए। वे दो अन्त कौन से हैं? एक तो काम और विषय-सुख में फँसना जो अत्यन्त हीन ग्राम्य और अनार्य है, और दूसरा शरीर को व्यर्थ कष्ट देना जो अनार्य और अनर्थक है। इन दोनों अन्तों को त्याग कर तथागत (ठीक समझ वाले, बुद्ध) ने मध्यमा प्रतिपदा (मध्यम मार्ग) को पकड़ा है, जो आँख खोलने वाली और ज्ञान देने वाली है।" यह मध्यम मार्ग ही बौद्ध धर्म का निचोड़ है!

बुद्ध का यह पहला उपदेश "धर्मचक्र-प्रवर्त्तन" कहलाता है। जिस प्रकार राजा लोग चक्रवर्त्ती बनने के लिए अपने रथ का चक्र चलाते थे, वैसे ही बुद्ध ने धर्म का चक्र चलाया। चौमासे में संन्यासी यात्रा नहीं करते, इसलिए उस चौमासे में वे वहीं रहे। धीरे-धीरे उनके चेलों में साठ भिक्खु और बहुत से उपासक (गृहस्थ अनुयायी) हो गये। बुद्ध ने उन भिक्खुओं को एक "संघ" अर्थात् प्रजातन्त्र के रूप में संघटित कर दिया। बौद्ध धर्म में किसी एक आदमी की हुकूमत न थी, संघ ही सब कुछ था। तब बुद्ध ने कहा—"भिक्खुओ, अब तुम जाओ, जनता के हित के लिए घूमो। कोई भी दो भिक्खु एक तरफ न जाओ।"

स्वयं बुद्ध भी भ्रमण को निकले। सब से पहले वे गया की तरफ गये। वहाँ तीन काश्यप भाई रहते थे जो बड़े विद्वान् कर्मकांडी थे और जिनके पास सैकड़ों विद्यार्थी पढ़ते थे। बुद्ध का उपदेश सुन कर उन्होंने यज्ञों की सब सामग्री निरंजना में बहा दी, और उनके साथ चल दिये। इस बात का मगध की जनता और राजा बिम्बिसार पर बड़ा प्रभाव पड़ा। वे भी बुद्ध के उपासक हो गये। राजगृह के पास सारिपुत्त और मोग्गलान (मौद्गलायन) नाम के दो बड़े विद्वान् ब्राह्मण बुद्ध के चेले बने। बौद्ध संघ में वे उनके "अग्र श्रावक" अर्थात् प्रमुख शिष्य कहलाये।

बुद्ध का यश अब कपिलवास्तु तक पहुँच गया और उन्हें वहाँ का

निमन्त्रण स्वीकार करना पड़ा। वे भिक्खुओं के साथ भिक्षापात्र हाथ में लिये उन्हीं घरों के सामने भिक्षा के लिए मौन खड़े हुए, जिनके वे राजा हो सकते थे! शुद्धोदन शाक्य उन्हें भिक्खुओं सहित अपने महल में लिवा ले गये, जहाँ सब स्त्री-पुरुषों ने उनका उपदेश सुना। किन्तु राहुल की माता (गौतम की पत्नी) उन श्रोताओं में न थी। बुद्धदेव सारिपुत्त और मोग्गलान के साथ स्वयं उसके मकान पर गये। वह उन्हें देख कर एकाएक गिर पड़ी और रोने लगी। जल्द ही उसने अपने को सँभाला और बुद्ध का उपदेश सुना। सात दिन बाद जब फिर बुद्ध शुद्धोदन के घर आये तब उसने राहुल को बतलाया, 'ये तुम्हारे पिता हैं, इनसे अपना पितृ-दाय (बपौती) माँगो।' कुमार राहुल ने बुद्ध के पास जा कर कहा, 'भिक्खु, मुझे मेरा पितृ-दाय दो।' बुद्ध ने सारिपुत्त से कहा, 'राहुल को प्रव्रज्या (संन्यास) दान करो।' तबसे वह कुमार भिक्खु हो गया।

कपिलवास्तु का पंचायती राजा इस बार भद्रक शाक्य था। बुद्ध के वापिस चले जाने पर अनुरुद्ध शाक्य अपनी माँ के पास गया और भिक्खु बनने की आज्ञा माँगने लगा। माँ ने कहा, 'बेटा यदि राजा भद्रक घर छोड़ दे तो तू भी भिक्खु हो जा।' अनुरुद्ध के कहने से भद्रक भी तैयार हो गया। आनन्द आदि कई और शाक्य भी साथ हो गये और मल्ल राष्ट्र की तरफ, जहाँ बुद्ध ठहरे हुए थे, चले। कुछ दूर जा कर उन्होंने अपने गहने और कीमती कपड़े उतार दिये और दुपट्टे में लपेट कर अपने नौकर उपालि नाई को देते हुए कहा, 'जाओ, तुम्हारी जीविका के लिए यह काफी होगा।' पर उपालि के दिल में कुछ और था। वह भी उनके साथ साथ गया। बाद में ये लोग बड़े प्रसिद्ध हुए। आनन्द तो बुद्ध का दिन-रात का साथी, उनका "उपस्थापक" (प्राइवेट सेक्रेटरी) बन गया। उपालि बुद्ध के पीछे संघ का प्रमुख चुना गया।

एक बरस के इस भ्रमण के बाद बुद्ध राजगृह लौट आये। वहाँ उन्हें श्रावस्ती का करोड़पति सेठ सुदत्त अनाथपिंडक निमन्त्रण देने आया। सुदत्त ने बौद्ध संघ को दान करने के लिए श्रावस्ती के राजकुमार जेत से एक बगीचा खरीदना चाहा। जेत ने कहा, 'जितने सोने के सिक्के उस बाग में बिछ जायँ, वह उसकी कीमत है।' सुदत्त ने कहा, 'मैंने बाग ले लिया।' जेत ने कहा, 'मैंने

नहीं बेचा !' तब यह विवाद 'वोहारिक (व्यावहारिक)' (न्यायाधीश) के पास गया। वोहारिक ने सुदत्त के पक्ष में फैसला दिया, क्योंकि जेत ने अधिक से



जेतवन की खरीद और दान

सुदत्त जलपात्र लिये दान करने खड़ा है; गाड़ी पर सिक्के हैं जो बगीचे में बिछाये जा रहे हैं। शुंग-युग के भारहुत स्तूप का मूर्त्त दृश्य [भारतीय संग्र०, कलकत्ता]

अधिक मूल्य कहा था और सुदत्त उतना भी देने को तैयार था। सुदत्त ने तब वह बाग जेतवन खरीद लिया और उसमें बौद्ध संघ के लिए विहार यानी मठ बनवाया।

प्रायः तीन बरस पीछे शुद्धोदन शाक्य का देहान्त हुआ। तब प्रजावती और राहुलमाता देवी ने भिक्खुनी बनने का संकल्प किया। अनेक शाक्य स्त्रियों के साथ वे बुद्ध के पास वैशाली पहुँचीं। कुछ अरसे तक बुद्ध हिचकिचाये, क्योंकि उस काल तक स्त्रियों के लिए संन्यास मार्ग खुला न था। अन्त में आनन्द के कहने से बुद्ध ने स्त्रियों के लिए वह मार्ग खोल दिया। भिक्खुनी संघ की अलग स्थापना हुई। उस संघ ने भी बड़ा काम किया। वृद्ध भिक्खु थेर (स्थविर) कहलाते थे। उसी प्रकार वृद्धा भिक्खुनियाँ थेरी कहलाती थीं। थेरों की वाणियाँ थेरगाथा नाम की पुस्तक में है। वैसे ही थेरियों की थेरीगाथा में।

४५ बरस तक ठेठ हिन्दुस्तान के सब जनपदों में बुद्ध बराबर घूमते रहे। उनके अन्तिम बरसों में उनके पुराने साथी प्रायः उठ गये थे। अपने भ्रमण के ४५वें बरस उन्हें विरूढक की करतूत से कपिलवास्तु के खँडहर देखने पड़े; और वे राजगृह पहुँचे तो अजातशत्रु वैशाली को ढहा देने की घात में था।

वैशाली जा कर वे शहर के बाहर ठहरे। अम्बपाली गणिका को खबर मिली कि बुद्धदेव उसकी आम को बगिया में पधारे हैं। उसने उनके पास जा कर भिक्खु-संघ को भोजन कराने की प्रार्थना की, जो बुद्ध ने चुप रह कर स्वीकार की। लिच्छवि लोग सुन्दर रथों पर सवार हो बुद्ध के दर्शन को चले तो उन्होंने देखा कि अम्बपाली उनके पहियों से पहिया टकराते हुए अपना रथ हाँकती लौट रही है। लिच्छवियों ने पूछा, 'यह क्या बात है कि तू लिच्छवियों के बराबर अपना रथ हाँक रही है?' अम्बपाली ने उत्तर दिया, 'आर्यपुत्रो, मैंने भगवान् को भिक्खु-संघ के साथ कल के भोजन के लिए न्योता जो दिया है।' उन्होंने कहा, 'अम्बपाली, हमसे एक लाख मुद्रा ले कर यह भोजन हमें कराने दे।' उत्तर मिला, 'आर्यपुत्रो, आप मुझे वैशाली का समूचा राज्य दें तब भी यह जेवनार नहीं दूँगी।' निराश हो कर लिच्छवियों ने कहा, 'अम्बका ने हमें हरा दिया।' वे उसकी बगिया की ओर बढ़े। बुद्ध ने उन्हें आते देखा और भिक्खुओं से कहा, 'जिन भिक्खुओं ने तावतिंश देवताओं को नहीं देखा है, वे लिच्छवियों की इस परिषद् को देखें और इससे देवताओं की परिषद् का अनुमान करें!' उपदेश सुन चुकने पर लिच्छवियों ने बुद्ध से दूसरे दिन का भोजन करने की प्रार्थना की।

"लिच्छवियो, मैंने कल के दिन अम्बपाली गणिका का न्योता मान लिया है।" तब उन्होंने निराश हो कर अपने हाथ पटके और कहा—'हमें अम्बका ने हरा दिया!' दूसरे दिन उपदेश सुनने और भोजन कराने के बाद अम्बपाली ने कहा, 'भगवन्, मैं यह आराम (बगीचा) भिक्खुओं के संघ के लिए, जिसके मुखिया बुद्ध हैं, देती हूँ।' वह दान स्वीकार किया गया। अम्बपाली पीछे थेरी हो गई; उसके गीत भी थेरीगाथा में हैं।

वैशाली से बुद्ध एक गाँव गये। वहाँ उनके बड़ा दर्द उठा और मृत्यु निकट दिखाई दी। आनन्द ने कहा, 'भगवन्, जब तक आप भिक्खु-संघ को ठीक राह पर नहीं डाल देते, आशा है तब तक देह न त्यागेंगे।' उत्तर मिला, "आनन्द, भिक्खु-संघ मुझसे क्या आशा करता है? मैंने धर्म का साफ-साफ उपदेश कर दिया। तथागत (बुद्ध) के धर्म में कोई गाँठ या पहेली तो नहीं है। अब तुम अपनी ही ज्योति में चलो, अपनी शरण जाओ...धर्म की ज्योति में, धर्म की शरण में चलो।"

मल्लों के अनेक गाँवों में होते हुए बुद्ध पावा पहुँचे। वहाँ चुन्द लोहार ने उन्हें भोजन कराया और उसमें सुअर का मांस भी परस दिया। गृहस्थों से यह कहने की कि मैं अमुक चीज खाता हूँ अमुक नहीं खाता हूँ, बुद्ध की आदत न थी। उस भोजन से उनका दर्द बढ़ गया; रक्तातिसार हो गया। अन्तिम समय तक बड़ी पीड़ा रही। पावा से वे कुशिनगर को गये जो मल्लों की राजधानी थी। देवरिया जिले में कसिया गाँव उसकी याद कराता है। रास्ते में उन्होंने आनन्द से कहा, "चुन्द के मन में कहीं कोई यह शंका न डाले कि उसके भोजन से बुद्ध का निर्वाण हो गया। आयुष्मान् चुन्द से कहना, मेरे लिए उसका भोजन और सुजाता का भोजन एक समान है।"

नदी में स्नान कर बुद्ध शाल-वन में आसन बिछवा कर लेट गये। तब भी वे भिक्खुओं की शंकाएँ दूर करते रहे। इसी बीच सुभद्र नाम का पंडित बाहर से उनसे कुछ पूछने आया। आनन्द ने उसे रोक दिया, पर पता लगने पर बुद्ध ने पास बुला कर उसे उपदेश दिया। तब उन्होंने कहा, "भिक्खुओ, मैं तुम्हें अन्तिम बार बुलाता हूँ। संसार की सब सत्ताओं की अपनी अपनी आयु है।

अप्रमाद से काम करते जाओ। यही तथागत की अन्तिम वाणी है।" ऐसा कहते हुए, अस्सी बरस की आयु में उन्होंने आँखें मूँद लीं (५४४ ई० पू०)। यही उनका "महापरिनिर्वाण" (बुझना) था।

कुशिनगर के मल्लों ने उनका दाह-कर्म कर के 'धातुओं' (फूलों, अस्थियों) को भालों-धनुषों से घेर आठ दिन तक नाच-गान किया। निर्वाण का समाचार सुन कर चारों तरफ के राष्ट्रों के दूत आ जुटे। उन फूलों के आठ भाग कर वे अपने अपने राष्ट्र में ले गये, जहाँ उनपर स्तूप बनवाये गये। स्तूप उस इमारत को कहते हैं जो किसी पवित्र अवशेष के ऊपर यादगार के रूप में बनाई जाय। उसके अन्दर नींव में अवशेष रक्खा जाता था। यह वैदिक रीति थी।

§४. **वर्धमान महावीर**—भगवान् महावीर बुद्धदेव के समकालीन थे। वे वैशाली के पास कुंडग्राम में वृजिगण के ज्ञात्रिक नाम के कुल में 'राजा' सिद्धार्थ के घर पैदा हुए। उनकी माता का नाम त्रिशला था, और उनका अपना नाम वर्धमान। सिद्धार्थ और त्रिशला तीर्थंकर पार्श्व नामक धर्म-सुधारक के अनुयायी थे, जो प्रायः दो शताब्दी पहले बनारस में हुआ था। बड़े होने पर वर्धमान का यशोदा नाम की देवी से विवाह हुआ, जिससे एक लड़की हुई। माता पिता के मरने पर तीस बरस की आयु में बड़े भाई से आज्ञा ले वर्धमान ने घर छोड़ा। बारह बरस के भ्रमण और तप के बाद उन्होंने "कैवल्य" (ज्ञान) पाया। तबसे वे अर्हत् (पूज्य), जिन (विजेता), निर्ग्रन्थ (बन्धनहीन) और महावीर कहलाने लगे। उनके अनुयायियों को अब हम जैन कहते हैं।

निर्ग्रन्थ ज्ञात्रिकपुत्र अथवा महावीर अर्हत् होने के बाद निर्वाण-काल तक लगातार मिथिला, कोशल आदि में भ्रमण करते रहे। बुद्ध-निर्वाण के एक बरस पहले पावापुरी में उनका निर्वाण हुआ*। बुद्ध और उनकी शिक्षा में मुख्य भेद यह है कि बुद्ध जहाँ मध्यम मार्ग का उपदेश देते थे, वहाँ महावीर तप

* १५वीं शताब्दी से आधुनिक जैन लोग इस पावापुरी को राजगृह के पास मानते आये हैं। एक पावापुरी मल्लों के देश (गोरखपुर) में भी थी।

और कृच्छ्र तप को जीवन-सुधार का मुख्य उपाय मानते थे। दोनों वेद और ईश्वर को न मानते थे। मगध आदि देशों में महावीर की शिक्षा जल्द फैल गई, कलिंग उनके जीते जी उनका अनुयायी हो गया। राजस्थान में उनके निर्वाण के एक शताब्दी बाद ही उनके मत की जड़ जम गई।

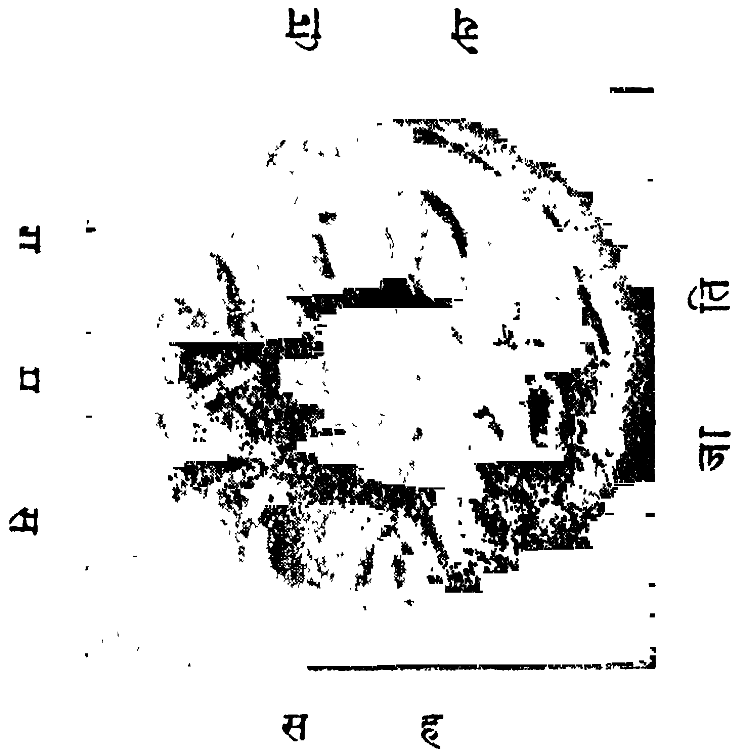
§५. **बुद्ध-युग का आर्थिक जीवन**—वैदिक काल से अब तक भारतवासियों के जीवन में बड़ा परिवर्तन हो गया था। उस काल में आर्यों की मुख्य जीविका पशुपालन और कृषि थी, अब शिल्प और व्यापार भी उनके बराबर बढ़ गये थे। कृषि में भी उन्नति हो चुकी थी। अब आराम और उद्यान (बगीचे) प्रायः हर बस्ती में लग चुके थे। कपास के पौधे का ज्ञान भी आर्यों को इसी युग में हुआ। उससे पहले संसार की अधिकांश जातियाँ कपास की खेती न जानती थीं†। उसकी खेती दूसरे सब देशों ने पहले-पहल भारतवर्ष से ही सीखी। यूनान के लोग जब यहाँ पहले-पहल आये, तब वे कपास देख कर बड़े चकित हुए, और उसे ऊन का पौधा कहने लगे। शिल्प की उन्नति के साथ हर बस्ती में शिल्प से जीविका चलाने वाले शिल्पियों के अलग अलग संघटन बन गये। उन्हें श्रेणियाँ कहते थे। एक नगर के सब बढ़इयों की मिल कर एक "श्रेणी" होती थी। इसी तरह लोहारों, कुम्हारों, मालियों, मल्लाहों, सुनारों आदि की अलग अलग श्रेणियाँ थीं। श्रेणी का एक मुखिया चुना जाता था जिसे प्रमुख या जेट्ठक (जेष्ठक) कहते थे। बनारस जैसी बड़ी नगरियों में एक एक शिल्प के गली-मुहल्ले ही अलग हो गये थे; जैसे दन्तकारवीथी में केवल हाथी-दाँत का काम करने वाले ही रहते थे।

शिल्प के साथ साथ स्थल और जल का व्यापार भी खूब चलने लगा। व्यापारी लोग सार्थों अर्थात् काफिलों में चलते थे। नगरों में व्यापारियों के भी संघटन बन गये थे जिन्हें निगम कहते थे। निगम का मुखिया भी चुना जाता था और सेट्ठी (श्रेष्ठी) कहलाता था। वाराणसी, चम्पा, भरुकच्छ, शूर्पारक आदि

† मुअन जो दड़ो में कपास का कपड़ा पाया गया है। किन्तु आर्यों के साहित्य में उत्तर वैदिक काल से पहले कपास का कहीं पता नहीं मिलता।

के व्यापारी अपने जहाज ले कर सुवर्णभूमि, ताम्रपर्णी और बावेरु (बाबिल) तक जाते थे। सात-सात सौ आदमी जिनमें लम्बी यात्रा कर सकें, इतने बड़े जहाज बनने लगे थे। जहाँ पहले गाँव ही गाँव थे, वहाँ अब शिल्प और व्यापार बढ़ने के कारण बहुत सी नगरियाँ स्थापित हो गई थीं।

§ ६. **राज-काज की संस्थाएँ**—ग्राम भी जहाँ पहले एक तरह के जत्थे थे, वहाँ अब वे कृषकों के संघ हो गये। जनों के राज्य जनपदों के राज्य बन गये थे, सो कह चुके हैं। वैदिक काल में राष्ट्र के सामूहिक जीवन में सबसे छोटी इकाइयाँ ग्राम थे। अब श्रेणी और निगम भी उसी नमूने की इकाइयाँ बन गये। श्रेणियाँ न केवल अपना आर्थिक प्रबन्ध स्वयं करती थीं, प्रत्युत अपने विधि-कानून बनाना, अपने सदस्यों को उनपर चलाना और अपने विवादों का फैसला करना—सब उन्हीं के हाथ में था। यही बात निगमों के बारे में भी थी। नगरियों का प्रबन्ध भी मुख्यतया निगमों के ही हाथ में था। इसलिए नगर की सभा भी पहले-पहल निगम ही कहलाने लगी।



'भीटा' (ज़ि० इलाहाबाद की खुदाई में पाई गई "सहजातिये निगमस" (सहजाति निगम की) मोहर*। [भा० पु० वि०]

राजसभा में भी श्रेणियों और निगमों का बड़ा प्रभाव था। रामायण-

---

* जैसा कि ऊपर [पृ० ५४] कहा जा चुका है, 'भीटा' जातिवाचक संज्ञा है। इलाहाबाद के पास जो भीटा है उसका पुराना नाम सहजाति था। बौद्ध वाङ्मय के अनुसार सहजाति चेदि जनपद का प्रसिद्ध स्थान था। इस मोहर के अक्षरों की लिखावट से और खुदाई में जिस सतह से यह पाई गई है उससे सिद्ध होता है कि यह मौर्य-युग से कुछ पहले की है।

महाभारत की ख्यातें तो पुरानी हैं, पर अब जो रामायण हमें मिलती है उसका अधिकांश और वैसे ही महाभारत का कुछ अंश भी लगभग ५०० ई० पू० का लिखा हुआ है। रामायण में जहाँ रामचन्द्र को युवराज बनाने के लिए राजा दशरथ की सभा का चित्र खींचा गया है, उसमें श्रेणियों के मुखियों और निगमों के श्रेष्ठियों को ऊँचा स्थान दिया है। इसी तरह महाभारत में गन्धर्वों से हारने पर दुर्योधन कहता है कि मैं श्रेणी-मुख्यों को कैसे मुँह दिखाऊँगा। वैदिक काल की समिति अब न रही थी, पर इस युग के छोटे छोटे जनपदों की अपनी परिषदें थीं, जिनमें ग्रामों, श्रेणियों आदि के लोग जमा हो कर ठहराव करते और राजा को सलाह देते थे। कई संघ-राष्ट्रों में राजा न होता था और परिषदें ही सब कुछ करती थीं। परिषदों में प्रस्ताव रखने, भाषण देने, सम्मति लेने आदि के सुशृङ्खल नियम थे। शाक्यों की परिषद् जिस भवन में जुटती थी उसे सन्थागार कहते थे।

इस प्रकार आर्थिक और राजनीतिक जीवन में उन्नति हो जाने के कारण कानूनों की भी ज़रूरत पड़ी और कानून पहले-पहल इसी युग में इकट्ठे किये गये। कानून के दो पहलू थे—धर्म और व्यवहार। धार्मिक सामाजिक जीवन का कानून 'धर्म' कहलाता था, और दीवानी और फौजदारी कानून 'व्यवहार'। मुकद्दमों का फैसला करने वाले न्यायाधीश 'वोहारिक' ('व्यावहारिक') कहलाते थे। श्रेणियों के परस्पर झगड़ों का फैसला करने को एक खास वोहारिक होता था।

§७. **सामाजिक जीवन**—वर्ण और आश्रम का विचार पहले-पहल किस रूप में प्रकट हुआ था, यह बतलाया जा चुका है। पर वर्ण जाति न थे केवल समाज के स्तर थे। आर्यों के समाज की निचली सतह में अब कुछ अनार्य जातियाँ भी शामिल हो गई थीं। वे जातियाँ—निषाद, चंडाल, पुक्कस आदि—नीची गिनी जाती थीं। महाजनपदों के ज़माने में क्षत्रिय लोग भी अपने को एक 'जाति' कहने लगे और सबसे ऊँचा मानते थे। मगध के पहले साम्राज्य के अन्तिम काल में ब्राह्मण भी कहीं-कहीं अपने को 'जाति' कहने लगे थे। क्षत्रिय और ब्राह्मण कल्पित जातियाँ थीं; क्योंकि वास्तव में सब क्षत्रिय और ब्राह्मण एक ही आर्य जाति के थे। बाकी सब प्रजा में कई काम और कई शिल्प

ऊँचे और कई नीचे गिने जाते थे। किन्तु जात-पाँत का भेद तब तक न था। ऊँचे-नीचे लोगों में मिल कर खाना-पीना, ब्याह-शादी सब कुछ चलता था। कुछ ब्राह्मण पिछले काल में अपने को जाति ज़रूर कहने लगे, पर वे साधारण प्रजा से अपने को अलग न कर पाये थे। क्षत्रियों में कुलीनता का विचार सबसे अधिक था, पर आवश्यकता पड़ने पर वे भी सब धन्धे करते और सबसे ब्याह-शादी कर लेते थे। ये सब बातें पालि वाङ्मय से मालूम हुई हैं। तब दास-प्रथा भी थी; पर दास थोड़े थे और उनके साथ अच्छा बर्ताव होता था। वे घरेलू सेवा करते थे, खेती आदि का काम उनसे न लिया जाता था।

§ ८. **बुद्ध-युग का वाङ्मय**—बुद्ध के निर्वाण के बाद ५०० भिक्खु राजगृह में इकट्ठे हुए और उन्होंने बुद्ध के वचनों को मिल कर गाया। वह बौद्धों की पहली "संगीति" थी। सौ बरस बाद दूसरी संगीति वैशाली में हुई, और फिर तीसरी राजा अशोक के काल में पटने में। इन संगीतियों में बौद्धों का धार्मिक वाङ्मय तैयार हुआ। शुरू में उसके दो अंश थे—धम्म और विनय। धम्म में बुद्ध के उपदेश बातचीत रूप में थे; विनय में भिक्खुओं के आचरण के नियम थे। अशोक के काल तक "त्रिपिटक" अर्थात् तीन पेटियाँ बन गईं। विनय का विनयपिटक बना; धम्म का संग्रह सुत्त-(सूक्त-) पिटक में हो गया। सुत्त-पिटक में बुद्ध की सूक्तियाँ हैं। और अभिधम्म-पिटक नाम से तीसरा पिटक बन गया जिसमें बौद्धों का पहला दार्शनिक चिन्तन है। सातवीं-छठी शताब्दी ई० पू० में भारत में बहुत सी मनोरंजक कहानियाँ प्रसिद्ध थीं। उन सब को बुद्ध के पूर्व-जन्म की कहानियों का रूप दे कर और उनका नाम 'जातक' रख कर उन्हें सुत्तपिटक के एक अंश में शामिल किया गया है। ५५० के करीब वे कहानियाँ संसार भर में सबसे पुरानी और अत्यन्त रुचिकर हैं।

भारत के विभिन्न जनपदों में तब संस्कृत के सिवाय बोलचाल की कई बोलियाँ थीं जो प्राकृत कहलाती थीं। त्रिपिटक पहले-पहल पालि नाम की प्राकृत में लिखा गया।

जैन धर्म का वाङ्मय भी काफी बड़ा है। वह कोशल की पुरानी प्राकृत अर्धमागधी में है।

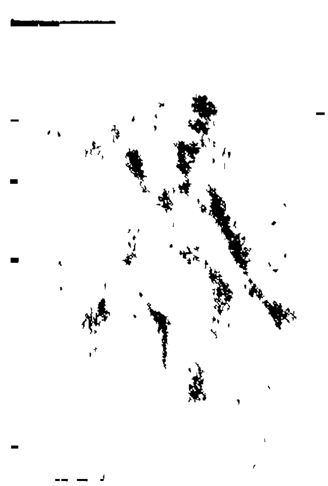
बौद्ध वाङ्मय के साथ-साथ वैदिक वाङ्मय का अंतिम अंश भी बन रहा था। उसमें ब्राह्मणों-उपनिषदों के बाद वेदांग बने। वेदांग छह थे। उनमें से एक व्याकरण था। दूसरा निरुक्त, जिसमें यह देखा जाता था कि शब्दों का विकास और परिवर्तन कैसे हुआ। तीसरा शिक्षा, अर्थात् वर्णों या अक्षरों के उच्चारण की शिक्षा। चौथा छन्द। पाँचवाँ था ज्योतिष और छठा कल्प। ज्योतिष में गणित सम्मिलित था। कल्प के तीन अंश हैं—एक श्रौत, जिसमें यज्ञों का ब्यौरा दिया गया है; दूसरा गृह्य, जिसमें घरेलू संस्कारों का विवरण है; और तीसरा धर्म अर्थात् धार्मिक-सामाजिक विधि-कानून।

इस प्रकार आर्यों के व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक रहन-सहन और संस्कारों के सब नियम कल्प में हैं। वेदांगों का समय ८वीं से ५वीं शताब्दी ई० पू० तक है। व्याकरण, छन्द, ज्योतिष आदि विषय पहले तो वेद के अंग रूप में पैदा हुए, पर पीछे ये स्वतन्त्र विज्ञान बन गये। वेदांग प्रायः सब 'सूत्रों' में हैं। किसी बात को कहने के लिए जो छोटे से छोटा वाक्य बनाया जा सके, उसे सूत्र कहते हैं। ब्राह्मणों उपनिषदों की तरह वेदांग भी आश्रमों में तैयार हुए थे।

पीछे जब वेदों से स्वतन्त्र फुटकर विद्याएँ भी चल पड़ीं, तब कई बड़े मार्के के ग्रन्थ तैयार हुए। भारतवर्ष का "आदि विद्वान्" अर्थात् पहला दार्शनिक कपिल इसी युग में हुआ। तक्षशिला के आत्रेय आयुर्वेद के पहले प्रसिद्ध आचार्य थे। कपिल और आत्रेयों के ग्रन्थ अब मूल रूप में नहीं मिलते। शुल्वसूत्र नामक रेखा-गणित के महत्त्वपूर्ण आरम्भिक ग्रन्थ भी इस युग में तैयार हुए। पच्छिमी गन्धार में पुष्करावती के पास सुवास्तु (स्वात) नदी के काँठे में शालातुर नामी गाँव में, जो आजकल के यूसुफजई इलाके में पड़ता है, ४०० ई० पू० के लगभग व्याकरण का एक बहुत बड़ा विद्वान् पाणिनि हुआ। पाणिनि के जोड़ का वैयाकरण शायद आज तक पैदा नहीं हुआ। पाणिनि ने संस्कृत का बड़ा पूर्ण व्याकरण सूत्रों में लिखा जिसका नाम अष्टाध्यायी है। पाटलिपुत्र के राजा ने पाणिनि को वहाँ बुला कर उसका बड़ा आदर किया।

रामायण का मुख्य अंश और महाभारत का कुछ अंश भी इसी युग

के हैं। भगवद्गीता बुद्ध के बाद लिखी गई। वह महाभारत में और पीछे मिलाई गई। उसका लेखक जो उपदेश देना चाहता था उसने बड़े अच्छे ढंग से उसे कृष्ण के मुँह से युद्ध-क्षेत्र में कहलवा दिया है। पाणिनि की अष्टाध्यायी से पता लगता है कि उससे पहले नाटक-कला शुरू हो चुकी थी और उसपर भी सूत्र लिखे गये थे। सूद जैसे विषय पर भी सूत्र बन गये थे। जिस प्रकार 'धर्मों' का विचार धर्म-सूत्रों में हुआ उसी प्रकार 'व्यवहारों' का विचार अर्थशास्त्रों में किया गया। जातकों की कहानियों से पहले कई अर्थशास्त्र भी तैयार हो चुके थे। उपनिषदों और कपिल के सम्प्रदाय में तथा बौद्धों के अभिधम्म में दार्शनिक विचार पहले-पहल शुरू हुआ था।



पृथिवी-माता ?
नन्दनगढ़ की खुदाई से पाई गई सोने की पत्री पर अंकित मूर्त्ति, असल परिमाण; नन्द-युग की कारीगरी का नमूना। [भा० पु० वि०]

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. महाजनपद युग तक आर्यों में जातिभेद किस क्रम से और किस अंश तक विकसित हुआ ?

२. सिद्धार्थ गौतम और महावीर कहाँ पैदा हुए थे ? उनके पड़ोस में कौन से राज्य थे और उनकी राज्य-संस्था (शासन-प्रणाली) क्या थी ?

३. श्रेणि और निगम किसे कहते हैं ? महाजनपद युग के आर्थिक जीवन, सामाजिक जीवन तथा राज्यसंस्था में उनका क्या स्थान था ?

४. उत्तर वैदिक और आरंभिक बौद्ध वाङ्मय का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

५. धर्म और व्यवहार से क्या अभिप्राय था ?

६. कपास का ज्ञान भारतीय आर्यों को पहले पहल कब हुआ और यहाँ से अन्य देश वालों को किस प्रकार पहुँचा ?

४. नन्द मौर्य साम्राज्य पर्व

(लग० ३६६–२११ ई० पू०)

अध्याय १

नन्द साम्राज्य और अलक्सान्दर की चढ़ाई

(लग० ३६६–३२५ ई० पू०)

§१. **नन्द वंश**—शिशुनाक वंश के राजा महानन्दी के दो बेटों (३७४–३६६ ई० पू०) का अभिभावक महापद्म नन्द था। उन दोनों को मार कर वह स्वयं मगध की गद्दी पर बैठ गया। उसके वंश में केवल दो पीढ़ी राज्य रहा और वह नव नन्द अर्थात् नया नन्द वंश कहलाया। नन्दिवर्धन और महानन्दी उसके मुकाबले में पूर्व नन्द कहलाते हैं।

महापद्म शक्त और चतुर शासक था। मगध के साम्राज्य की शक्ति उसने पहले से अधिक बढ़ा दी। उस साम्राज्य के अधीन जितने छोटे छोटे जनपदों के राजवंश शताब्दियों से चले आते थे, उन सबकी सफाई करके उसने सब जनपदों को सीधे अपने शासन में ले लिया। इसी कारण उसे 'सर्वक्षत्रान्तक' अर्थात् सब क्षत्रियों का अन्त करने वाला कहते थे। वह उग्रसेन भी कहलाता था। 'महापद्म' और 'उग्रसेन' दोनों असल में उसके विरुद (राजकीय उपनाम) थे। महापद्म इस कारण कि उसके कोश में पद्मों धन था, और उग्रसेन इस कारण कि उसकी भयंकर सेना थी। किन्तु वह प्रजापीडक था। उसके बेटों में धन नन्द मुख्य हुआ। उसके ज़माने में मकदूनिया के राजा अलक्सादर ने पंजाब पर चढ़ाई की।

§२. **अलक्सान्दर का दिग्विजय-स्वप्न**—पच्छिमी एशिया और यूनान में एक आर्य जाति ६वीं-८वीं शताब्दी ई० पू० से सभ्यता का विकास करने लगी। भारतीय उन्हें यवन कहते थे। उनके देश में बहुत से छोटे

छोटे राष्ट्र थे, जिनमें से अधिकांश संघ-राष्ट्र थे। छठी शताब्दी ई० पू० से उन्होंने बड़ी उन्नति की। उनके उत्तर तरफ मकदूनिया का पहाड़ी देश था। उसे वे बर्बर अर्थात् जंगली कहते थे। किन्तु चौथी शताब्दी ई० पू० के मध्य में उसी मकदूनिया के राजा फिलिप ने सभ्य यूनान के सब छोटे छोटे राष्ट्रों को, जो आपस में लड़ा करते थे, जीत कर कुचल दिया।

फिलिप का बेटा अलक्सान्दर बचपन से दुनिया जीतने के सपने देखा करता था। उसके सामने कोन सी दुनिया थी? यूनान के उत्तर और पच्छिम के आधुनिक युरोप के देश तो तब निरे जंगली थे। यूनानियों का उनसे कम सम्पर्क था। उन जंगलियों को वे "उत्तरी वायु से परे के लोग" कहा करते थे। किन्तु पूरब तरफ ईरान का विशाल साम्राज्य था। उसके पूरब हिन्द का नाम भी अलक्सान्दर ने सुन रक्खा था, पर उसे वह कोई छोटा सा देश समझता था। उसके आगे चीन का पता उसे न था।



अलकसान्दर भारत में पाये जाने वाले सिक्कों पर का चित्र [दुर्गाप्रसाद संग्रह से]

§ ३. अलक्सान्दर का पारसी साम्राज्य जीतना—राज्य पाते ही अलक्सान्दर दिग्विजय को निकला। विशाल पारसी साम्राज्य अन्दर से बोदा हो चुका था। अलक्सान्दर ने उसपर चढ़ाई की (३३४ ई० पू०)। बोस्फोरस खाड़ी के पास पहली लड़ाई हुई जिसमें जीत कर अलक्सान्दर ने वह प्रायद्वीप ले लिया जो आजकल तुर्की देश का पच्छिमी अंश है। अगले बरस वह आगे बढ़ा। तब सीरिया की सीमा पर पारसी सम्राट् दारयवहु (३य) के साथ उसकी पहली लड़ाई हुई। पारसी सेना का दाहिना बाजू इस लड़ाई में जीत रहा था; फिर भी दारयवहु हिम्मत हार कर लड़ाई के बीच में ही भाग गया। तब अलक्सान्दर ने सारा सीरिया और मिस्र लेते हुए उफ्रातु (फरात) नदी तक का देश अधीन कर लिया।

दो बरस बाद अलक्सान्दर फिर आगे बढ़ा। दारयवहु तिग्रिस (दजला) नदी के इस ओर था। उनकी फिर लड़ाई हुई और दारयवहु फिर लड़ाई के

बीच से जीतता जीतता भाग निकला ! एक वर्ष में ईरान को अधीन कर अलक्सान्दर ने फिर उसका पीछा किया। तब दारयवहु अपने एक सम्बन्धी की शरण लेने बाख्त्री अर्थात् बलख की ओर भागा। दारयवहु को वहाँ पहुँचने के पहले ही उसी के 'क्षत्रपों' (प्रान्त-शासकों) ने पकड़ कर मार डाला।

अलक्सान्दर हरात तक आने के बाद बलख का रास्ता छोड़ दक्खिन मुड़ा और ३३० ई० पू० के अन्त में शकस्थान में हैतुमन्त (=सेतुमन्त, आधुनिक हेलमंद) नदी पर आ निकला। अगले वसन्त में उसने अफगानिस्तान पठार के दक्खिनी छोर पर चढ़ कर हरउवती या अरखुती (आधु० अरगन्दाब)† की दून में प्रवेश किया। वह दून तब भारत में गिनी जाती थी। उस नदी के किनारे एक अलक्सान्द्रिया ‡ बसा कर और उस दून में छावनियाँ डाल कर जाड़ों से पहले वह काबुल दून चला आया और वहाँ से हिन्दकोह चढ़ कर बलख पर उतरा। बलख से उसने वंक्षु नदी (आमू दरिया) पार कर सुग्ध पर चढ़ाई की और उसकी पूर्वी सीमा सीर नदी तक जीतता गया। बलख और सुग्ध के ईरानी सरदारों को दबाने में उसे पौने दो बरस लगे। सुग्ध के युद्ध में ईरानी पक्ष की तरफ से शशिगुप्त नामक भारतीय राजा भी लड़ा जो पारसी साम्राज्य का सामन्त था और जिसका राज्य हिन्दकोह के उत्तर तरफ था। वह प्रकटतः कम्बोज महाजनपद का राजा था। युद्ध में हारने के बाद उस युग की प्रथा के अनुसार शशिगुप्त ने अलक्सान्दर की सेवा स्वीकार की।

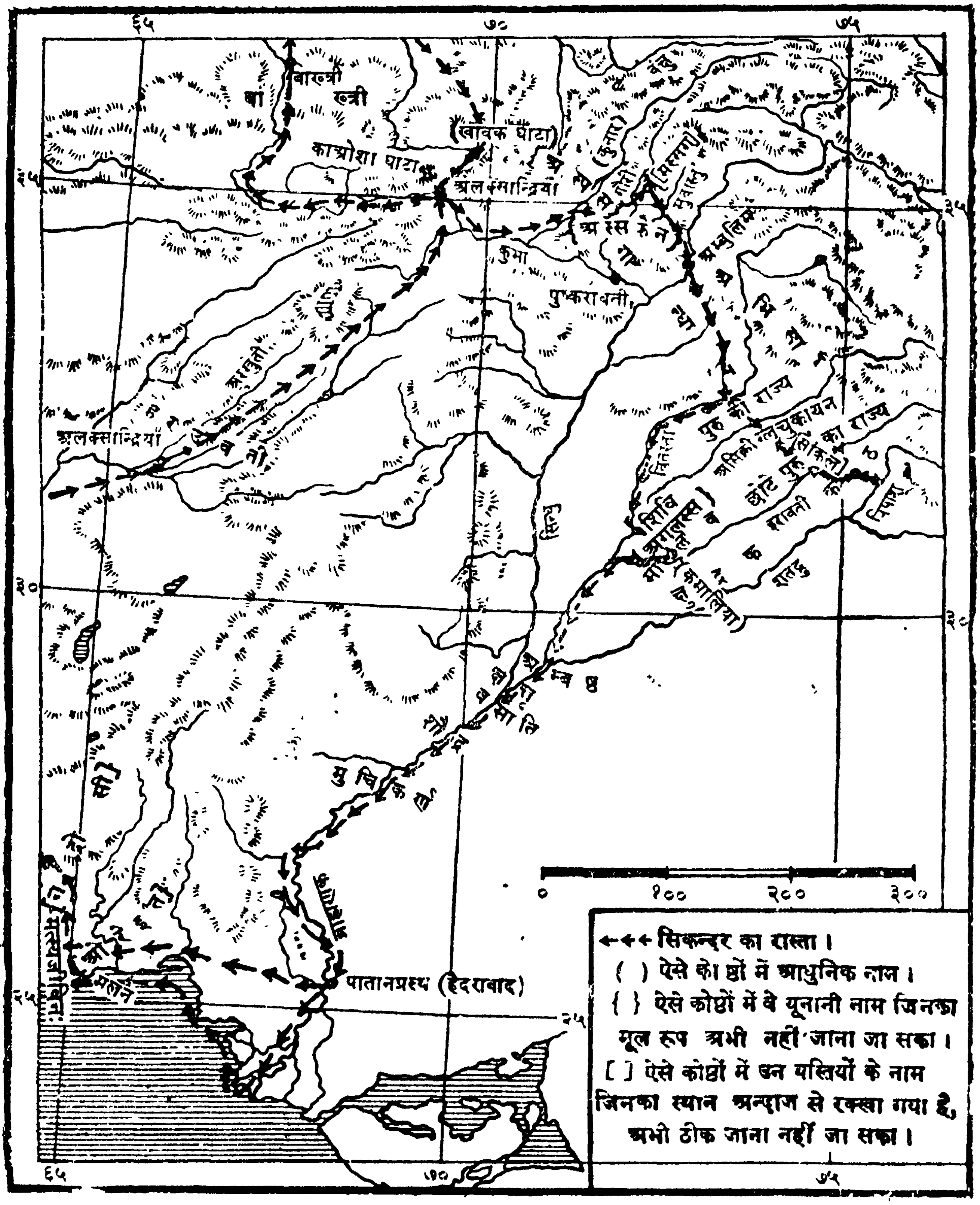
तक्षशिला का युवराज आम्भि सुग्ध में ही अलक्सान्दर के पास अपने जनपद की अधीनता का सन्देश ले कर पहुँचा था। उसके साथ ३२७ ई० पू० की गर्मियों में फिर हिन्दकोह पार कर अलक्सान्दर भारत की सीमा में काबुल

---

† संस्कृत सरस्वती का ईरानी उच्चारण था हरह्वती, हरक्ती या हरउवती। उसीका यूनानी उच्चारण हुआ अरखुती (Arachotia)। अरखुती का रूपान्तर है अरगन्द जो अब उस नदी का नाम है।

‡ कन्दहार उसी अलक्सान्द्रिया का रूपान्तर है। 'अलक्सान्द्रिया' से घिस कर 'अलकन्द' हुआ। संस्कृत में जिले को आहार या हार कहते थे; सो अलकन्द का प्रदेश 'अलकन्दहार' कहलाया जो फिर घिस कर 'कन्दहार' हो गया।

अलक्सान्दर के काल में उत्तर-पच्छिमी भारत



नक्शा—१२

दून में उतरा।

§ ४. **कपिश और पच्छिमी गन्धार में युद्ध**—जिन यूनानी लेखकों ने अलक्सान्दर की विजय-यात्रा का वृत्तान्त लिखा है, वे हिन्दकोह के ठीक दक्खिन से उसकी भारत की चढ़ाई शुरू करते हैं। हिन्दकोह और काबुल नदी के बीच कूनड़ नदी तक का प्रदेश कपिश था, कूनड़ से सिन्ध तक का पच्छिमी गन्धार। काबुल नदी में मिलने वाली अलिषंग, कूनड़, पंजकोरा और स्वात नदियों की दूनों में जो वीर जातियाँ तब रहती थीं, उनके नाम यूनानी उच्चारण के अनुसार अस्सस और अस्सकन थे। शायद इन्हीं नामों में से किसी का रूपान्तर 'अफगान' है। उन जातियों ने चप्पा चप्पा जमीन छोड़ने से पहले सख्त मुकाबला किया। पंजकोरा को तब गौरी कहते थे। उसके पूरब 'मस्सग' नाम के गढ़ में ७ हजार पंजाबी सैनिक भी थे। उन्होंने देखा कि वह गढ़ अब अधिक टहर नहीं सकता तो अपने देश को खिसक जाने की सोची। अलक्सान्दर ने उन्हें गढ़ से निकल जाने की अनुज्ञा दे दी, इस शर्त पर कि वे उसकी तरफ से लड़ें। उन्होंने गढ़ से सात मील दूर डेरा डाला। अलक्सान्दर को पता लगा कि उनका इरादा उसकी तरफ से लड़ने का नहीं, प्रत्युत पंजाब जा कर उसके विरुद्ध आग सुलगाने का है। रात को वे पड़े सोते थे कि अलक्सान्दर ने उनका शिविर घेर उनपर आक्रमण कर दिया। उन सैनिकों ने अपनी स्त्रियों को बीच में रख कर चक्कर बना कर लड़ाई शुरू की। उनमें से एक एक पुरुष और स्त्री ने अन्तिम साँस तक लड़ कर अपनी जान दी। 'मस्सग' के बाद दो और गढ़ों पर वैसी ही लड़ाइयाँ हुईं।

काबुल से तक्षशिला का रास्ता तब खैबर घाट से जाने के बजाय काबुल नदी के साथ साथ पुष्करावती हो कर जाता था। अलक्सान्दर स्वयं जब काबुल नदी के उत्तर के पहाड़ी प्रदेश के दमन में लगा था तब उसने अपने दो सेनापतियों को नदी के साथ साथ पुष्करावती की ओर भेजा था। पुष्करावती का राजा हस्ती अपनी राजधानी में एक मास डट कर लड़ा। अन्त में अलक्सान्दर भी पुष्करावती आया। गौरी-सुवास्तु प्रदेश से हट कर पच्छिमी गन्धार के बहुत योद्धा सिन्धु नदी के किनारे अवर्ण नामक गढ़ में जुटे थे। वह गढ़ नदी

के घाट से ऊपर था। वह भी घोर लड़ाई के बाद लिया गया। हिन्दकोह से सिन्धु नदी तक का भारत का अंचल लेने में यों अलक्सान्दर को छः मास लगे। उसने शशिगुप्त को उस प्रदेश का शासन सौंपा।

सिन्ध के पूरब तरफ पूर्वी गन्धार या तक्षशिला का राज्य था जिसका राजा अलक्सान्दर को पहले से ही बुला रहा था। उसकी सहायता से अलक्सान्दर की सेना ने सिन्ध पार की और तक्षशिला आ कर थकान उतारी।

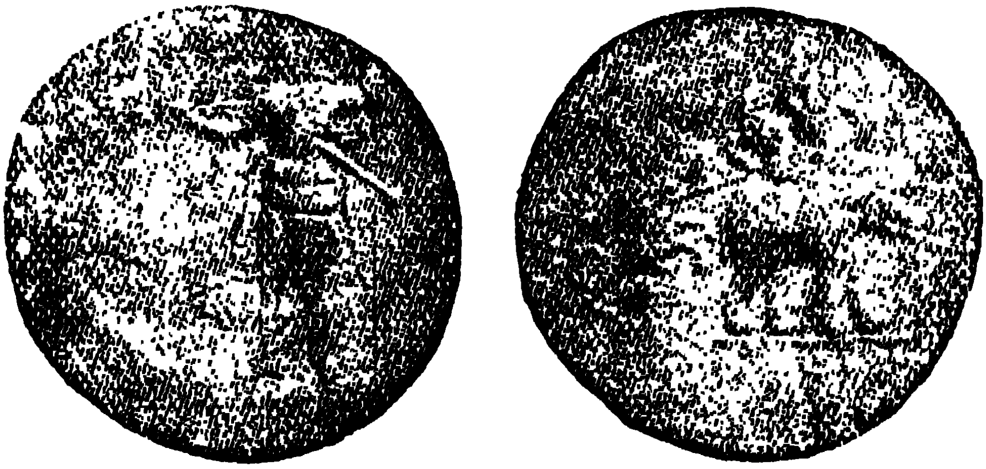
§५. **पुरु से युद्ध**—पर गन्धार के पूरब केकय देश का वीर राजा पुरु सेना के साथ वितस्ता (जेहलम) पर अलक्सान्दर की प्रतीक्षा कर रहा था। केकय के उत्तर लगा हुआ अभिसार देश* था। काबुल के उत्तरी पहाड़ों के अनेक योद्धा भाग कर वहाँ आ जुटे थे। अभिसार का राजा पुरु से मिलने की तैयारी कर रहा था। इससे पहले कि वे दोनों मिल पायँ, सख्त गरमी की परवा न कर, अलक्सान्दर तुरन्त वितस्ता के किनारे पहुँच गया। पुरु सब घाट रोके हुए था। अलक्सान्दर ने पहले तो सेना में ऐसी चहल-पहल रक्खी कि पुरु को रोज़ मालूम हो कि आज हमला होगा; फिर ऐसी रसद जुटानी शुरू की कि मानो अब वह महीनों वहीं टिकेगा। इस तरह पुरु जब कुछ असावधान हुआ, तब एक रात वर्षा में चुपके-चुपके अलक्सान्दर ने अपनी सेना के बड़े अंश को २० मील ऊपर या नीचे हटा कर नदी पार कर ली। पता लगते ही पुरु भी जल्दी उधर बढ़ा।

जम कर लड़ने में अलक्सान्दर भी उसका मुकाबला न कर सकता, पर अलक्सान्दर की असल शक्ति उसके फुर्तीले सवारों में थी। पारसी सम्राट् की तरह पुरु भागा नहीं। जब तक उसकी सेना में ज़रा भी व्यवस्था रही, वह ऊँचे हाथी पर चढ़ा लड़ता रहा। उसके नंगे कन्धे पर शत्रु का बर्छा लगा। अन्त में उसे पीछे हटना पड़ा तो आम्भि ने घोड़ा कुदाते हुए उसका पीछा किया, और पुकार कर उसे अलक्सान्दर का सँदेसा दिया। घायल हाथ से पुरु

---

*आजकल के राजौरी भिम्भर और पुंच प्रदेश, अर्थात् कश्मीर के दक्खिन हिमालय के निचले पहाड़ों का प्रदेश।

ने घृणित देशद्रोही पर बर्छा चलाया, पर आम्भि बच निकला। पुरु को फिर सवारों ने घेर लिया, उनमें से एक उसका मित्र भी था। जब घायल और थका माँदा वह अलक्सान्दर के सामने लाया गया तब अलक्सान्दर ने आगे बढ़ कर उसका स्वागत किया, और दुभाषिये द्वारा पूछा कि उसके साथ कैसा बर्ताव किया



अलक्सान्दर-पुरु-युद्ध का स्मारक पदक
"आम्भि ने घोड़ा कुदाते हुए उस का पीछा किया ··· घायल हाथ से पुरु ने घृणित देशद्रोही पर बर्छा चलाया।"† [दुर्गाप्रसाद संग्रह से]

जाय। "जैसा राजा राजाओं के साथ करते हैं"—पुरु ने अभिमान से उत्तर दिया। अलक्सान्दर ने उसे शशिगुप्त की तरह अपनी सेना में ऊँचा पद दिया।

इधर अलक्सान्दर पंजाब के मध्य तक पहुँच रहा था, उधर पीछे हरउवती और सुवास्तु प्रदेशों में बलवे होने के समाचार आये। उन्हें दबाने के लिए उसने शशिगुप्त के पास और सेना भेजी।

---

† उक्त पदक के पट तरफ जो चित्र है, उसमें पुरु का पीछा करता हुआ आम्भि अंकित प्रतीत होता है। अन्य विद्वानों ने इसकी दूसरी व्याख्या की है। समूचा विवाद यहाँ उठाया नहीं जा सकता। तो भी इस बात की ओर ध्यान दिला दिया जाय कि उन विद्वानों की एक बड़ी युक्ति यह है यह पदक मध्य एशिया से ही पाया गया है। किन्तु इस ग्रन्थ में सन् १९३८ से जो चित्र दिया जा रहा है वह बनारस के स्व० बाबू दुर्गाप्रसाद के संग्रह में के पदक का है। बाबू दुर्गाप्रसाद ने यह पदक कहाँ से पाया था इसका मैंने तब पता नहीं किया। उनकी मृत्यु के बाद अब यह कहाँ है इसका भी मुझे पता नहीं। ये बातें अब खोज का विषय हो गई हैं।

§६ **ग्लुचुकायन और कठ राष्ट्र**—पुरु के राज्य के पूरब असिक्नी अर्थात् चनाब नदी पर ग्लुचुकायन नाम का छोटा सा संघ (गणराज्य) था। उसने भी लड़े बिना हथियार नहीं रक्खे। ग्लुचुकायनों के ३७ कोटले जीत कर अलक्सान्दर ने पुरु के अधीन कर दिये।

असिक्नी के पूरब मद्र देश में पुरु के भतीजे छोटे पुरु का राज्य था। उसने युद्ध नहीं किया। आगे इरावती (रावी) के पूरब कठों का संघ था। उसकी भूमि ठीक वह थी जिसे पंजाब के लोग अब माझा कहते हैं, अर्थात् अमृतसर-पट्टी-तरनतारन प्रदेश। आलक्सान्दर कठ देश पर आ पहुँचा तो कठों ने अपनी राजधानी साङ्कल के चौगिर्द रथों के तीन चक्कर डाल कर शकटव्यूह बनाया और खूब डट कर लड़े। पीछे से बड़े पुरु की कुमुक आने पर ही अलक्सान्दर साङ्कल को ले सका। पर वहाँ उसका जैसा सामना किया गया उससे वह ऐसा खीझ उठा कि साङ्कल को उसने जीतने के बाद मिट्टी में मिला दिया।

कठों के संघ में प्रत्येक बच्चा संघ का माना जाता था। संघ की ओर से वहाँ गृहस्थों की सन्तान के निरीक्षक नियत होते थे। एक महीने की आयु में वे जिस बच्चे को कमज़ोर या कुरूप पाते उसे मरवा देते थे।

विपाशा (ब्यासा या ब्यास) पहुँचने पर मकदूनियों को पता मिला कि उस पार कठ से बड़ा एक और लड़ाकू संघ है, फिर पूरवी पंजाब में और भी बड़ा स्वाधीनताहठी संघ है, जिसके आगे मगध का सम्राट् नन्द अपनी सेना के साथ सचेत है। पूरवी पंजाब का संघ शायद यौधेयों का था जो सतलज के पूरब रहते थे। अलक्सान्दर की सेना यह जान कर घबड़ा उठी कि अभी हिन्दुस्तान की असल शक्ति से तो मुकाबला बाकी ही है। उसने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया। अलक्सान्दर ने उसे बड़े-बड़े बढ़ावे दिये, पर वे सब बहरे कानों पर पड़े। तब घोर निराशता में वह तीन दिन अपने तम्बू में बन्द रहा, और उसे लाचार लौटने का निश्चय करना पड़ा। ब्यासा के किनारे अपने वहाँ तक पहुँचने की याद में उसने वेदियाँ बनवाईं।

रास्ते में कई जगह छावनियाँ छोड़ते हुए मुख्य सेना के साथ वितस्ता

तट उलटे पाँव वापिस आ कर अलक्सान्दर ने दक्खिनी पंजाब और सिन्ध के रास्ते लौटने के लिए भारी तैयारी की और दो हजार नावों का बेड़ा बनवाया। यात्रा के शकुन देख कर नदी के बीच खड़े हो सुनहले बरतन से उसने भारत की नदियों और अन्य देवताओं को अर्घ्य दिया और तब जल और स्थल से सेना को कूच का आदेश दिया।

§ ७. **मालव संघ से युद्ध**—वितस्ता और चनाब के संगम के बायें तरफ शिवि लोगों का संघ था। उसके पड़ोस में ही आजकल के झंग-मघियाना प्रदेश में एक और संघ था जिसका नाम यूनानियों ने अगलस्स लिखा है। शिवियों ने बिना लड़े अधीनता मानी, 'अगलस्स' वीरता से लड़े।

चनाब की धारा में कुछ और नीचे जा कर उसके बाँयें (पूरब) मरुभूमि के किनारे रावी के दोनों तटों पर मालवों का संघ-राज्य था। उसके पड़ोस में ब्यासा के तट पर क्षुद्रक संघ था। ब्यासा तब शायद सतलज में मिलने के बजाय रावी-संगम के नीचे चनाब में मिलती थी। उसके उस पुराने पाट के चिह्न अब भी विद्यमान हैं।

मालव और क्षुद्रक मिल कर लड़ने की सोच रहे थे। वे दोनों राष्ट्र पंजाब में सबसे कड़े लड़ाके और स्वाधीनता-हठी प्रसिद्ध थे। अलक्सान्दर की सेना यह जान कर कि ऐसे वीर संघों से लड़ना होगा, फिर विद्रोह करने पर उतारू हो गई। बड़ी कठिनाई से अलक्सान्दर ने उसे यह समझा कर मनाया कि लड़ाई के बिना अब चारा ही क्या है।

परन्तु मालवों और क्षुद्रकों की कोई खड़ी सेना न थी। उनके सभी कृषक जवानों के इकट्ठे होने से सेना बनती थी। वे लोग अलक्सान्दर की तेज़ चाल का अन्दाज़ भी न कर सके। क्षुद्रक सेना तो आई ही न थी। मालवों ने यह कल्पना भी न की कि सन्दल बार† मरुभूमि को अलक्सान्दर दो दिन में

---

† नदियों के खादर या कछार को पंजाब में कच्छ कहते हैं, जो कि संस्कृत शब्द है। नदियों की पहुँच के परे की सूखी ऊँची मरुभूमि को वहाँ बार कहते हैं। संदल बार अर्थात् चन्द्र नदी (चन्द्रभागा या चनाब) की बार वह थी जिसमें अब नहरें आने के बाद लायलपुर आदि बस्तियाँ बसी हैं।

ही पार कर लेगा और उसकी सेना उनके गाँवों और नगरों पर एकाएक टूट पड़ेगी। अनेक मालव कृषक अपने खेतों पर ही काटे गये। पर उस दशा में भी उन्होंने गहरा मुकाबला किया। मालवों के देश में अलक्सान्दर को ६-७ लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं।

आजकल के कोट कमालिया के स्थान पर मालवों का एक कोट तब भी था। वहाँ पहली बड़ी लड़ाई हुई। उस कोट को लेने के बाद अलक्सान्दर नदी के कच्छ और जंगलों में मालवों का पीछा करता रहा। अन्त में यह देख कर कि अधिकतर मालव रावी के पूरब चले गये हैं, उसने रावी पार की। रावी के घाट पर कुछ काल सामना करने के बाद मालव सेना पड़ोस के एक नगर में हट गई। अलक्सान्दर ने उसे घेर लिया।

अगले दिन उसने नगर के परकोटे पर आक्रमण किया। मालव योद्धा तब भीतरी कोटले में चले गये। अलक्सान्दर सीढ़ी लगा कर स्वयं कोटले की दीवार पर चढ़ा। उसके तीन साथी भी उसके साथ ऊपर पहुँच गये। बाकी अभी सीढ़ी पर थे कि सीढ़ी टूट गई। दीवार पर खड़े अलक्सान्दर पर मालवों के बाण आ कर पड़ने लगे। उस दीवार के साथ वहीं एक पेड़ था। अलक्सान्दर और उसके साथी उसके सहारे नीचे कूद गये और उसके मोटे तने की ओट से लड़ने लगे। तीन साथियों में से एक माथे में बाण खा कर गिरा। एक और बाण अलक्सान्दर का कवच फाड़ कर उसकी छाती में लगा। जिस मालव धनुर्धर ने वह बाण मारा था उसने दौड़ कर अलक्सान्दर पर तलवार चलाई, पर अलक्सान्दर ने उसे काट गिराया। खून बहने के कारण कुछ देर बाद अलक्सान्दर गिर पड़ा। उसके दो साथी उसे ढालों से ढक कर खड़े लड़ते रहे। उसके घायल हो कर गिरने के बाद भारत के क्षत्रियों की प्रथा के अनुसार किसी मालव योद्धा ने उसपर चोट नहीं की। बाहर खड़े मकदूनी सैनिक इस बीच चिन्ता से व्याकुल हो उठे। उन्होंने देखा कोटले की दीवारें मिट्टी की हैं; उनमें कीलें ठोकीं, ऊपर चढ़े। कुछ एक-दूसरे पर खड़े हो कर चढ़े। ऊपर से कूदे। कुछ ने कोटले का दरवाजा तोड़ा। मकदूनी सैनिक तब वहाँ मालव पुरुष स्त्री बच्चा जो सामने आया उसे काटते गये और बेहोश अलक्सान्दर को उठा ले गये।

कुछ अच्छा होने पर अलक्सान्दर नाव द्वारा रावी-चनाब संगम पर अपनी सेना के शिविर में गया। मालवों क्षुद्रकों से तब उसने समझौते की बात चलाई। उन लोगों के सौ या डेढ़ सौ मुखिया अपने रथों में बैठ वहाँ आये। वे असाधारण डील और भव्य चेहरों वाले लोग थे। अलक्सान्दर ने उनके स्वागत में बड़ा भोज किया। उन्होंने कहा हमने आज तक किसी की अधीनता नहीं मानी, पर अलक्सान्दर असाधारण पुरुष और देवों का वंशज है, इसलिए उसका आधिपत्य मानते हैं।

§८. दक्खिनी पंजाब और सिन्ध के राष्ट्र—पंजाब के दक्खिन-पच्छिमी छोर पर अम्बष्ठ, क्षत्त्र और वसाति नामक गणराज्य तथा उत्तरी सिन्ध में शौद्र नामक राष्ट्र था [नक्शा १२]। इन्होंने विशेष मुकाबला नहीं किया। आगे उत्तरी सिन्ध में अन्दाज़ से आधुनिक रोरी-सक्खर के स्थान पर मुचिकर्ण राज्य था। वहाँ के राजा ने अलक्सान्दर के पास अधीनता का सन्देश न भेजा था, पर जब वह एकाएक उसके राष्ट्र पर आ पहुँचा तब अधीनता मान ली। मौचुकर्णिक लोगों का रहन-सहन देख यूनानी बहुत प्रभावित हुए। उनके एक एक ग्राम के सब लोग इकट्ठे बैठ कर भोजन पाते जिसमें अधिकतर ताज़ा शिकार परसा जाता था। स्वास्थ्य के नियमों पर विशेष ध्यान रखने से मौचुकर्णिकों की औसत आयु १३० बरस की होती थी। उनके यहाँ दास न रक्खे जाते थे, धनी निर्धन का भेद न था, सब लोग बराबर थे और वे न्यायालयों की शरण बहुत कम लेते थे।

और आगे ब्राह्मणक राष्ट्र था जिसके लोगों ने न केवल स्वयं अधीनता मानने से इनकार किया, प्रत्युत सारे सिन्ध को लड़ने के लिए उभाड़ा। उनके उभाड़ने से मौचुकर्णिक राजा ने भी विद्रोह किया। अलक्सान्दर ने उनका कड़ा दमन किया; उनके बहुतेरे मुखियों की लाशें खुले रास्तों पर टँगवा दीं।

अन्त में उसकी सेना पातन या पातानप्रस्थ नामक नगर में पहुँची जो आजकल के हैदराबाद की जगह पर था। वहाँ ऐसी राज्यसंस्था थी कि एक साथ दो वंशगत राजा सभा की सहायता से शासन करते थे। पातानप्रस्थ के लोग अधीनता से बचने के लिए देश छोड़ कर भाग गये थे। वहाँ की बड़ी

किलाबन्दी करने और सिन्ध में कई छावनियाँ छोड़ने के बाद जल-सेनापति नियार्कस को समुद्र के रास्ते तट के साथ साथ लौटने का आदेश दे अलक्सान्दर ने स्वयं पच्छिम मुँह फेरा। समुद्र तब पातानप्रस्थ से बहुत दूर न था। नियार्कस को अनुकूल वायु की प्रतीक्षा थी, पर पूरब भागे हुए पातानप्रस्थ के लोगों ने छापे मार मार कर उसका टिकना असम्भव कर दिया, और उसे मानसून से पहले ही अपना बोरिया-बधना उठाना पड़ा। जब अलक्सान्दर ने हिंगोल नदी पार की और नियार्कस ने मलान अन्तरीप लाँघा, तब वे भारत की सीमा से पार माने गये।

उसके मुँह फेरते ही यहाँ बलवे होने लगे। मालवों के देश में अलक्सान्दर की छाती में जो घाव हुआ था उसके कारण घर पहुँचे बिना रास्ते में ही बाबिल नगरी में उसकी जान जाती रही (३२३ ई० पू०)।

§९. **अलक्सान्दर का कार्य**—विशाल ईरानी साम्राज्य को जहाँ उसने चार साल में जीत लिया था, वहाँ भारत के केवल उत्तर-पच्छिमी अंचल में उसे साढ़े तीन बरस लग गये, और यहाँ पग-पग पर सख्त मुकाबला झेलना पड़ा। वह भारत के इस अंचल पर आँधी की तरह आया और बगूले की तरह चला गया। तो भी उसने प्राचीन राष्ट्रों के बीच जो रास्ता खोल दिया वह फिर खुला ही रहा। उसके कारण प्राचीन सभ्य राष्ट्रों की कूप-मंडूकता बहुत कुछ दूर हुई। उसने यूनानी ईरानी और भारतीय आर्यों में बहुत से परस्पर विवाह करा के इन जातियों को मिलाने का यत्न भी किया।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. अलक्सान्दर के जमाने में भारत की उत्तरपच्छिमी सीमा कहाँ से आरंभ होती थी ?

२. पुरु से युद्ध के बाद अलक्सान्दर का भारत के किन संघ-राष्ट्रों से सामना हुआ ? उनकी स्थिति बताइए।

३. अलक्सान्दर के भारत-आक्रमण का प्राचीन जगत् पर क्या प्रभाव पड़ा ?

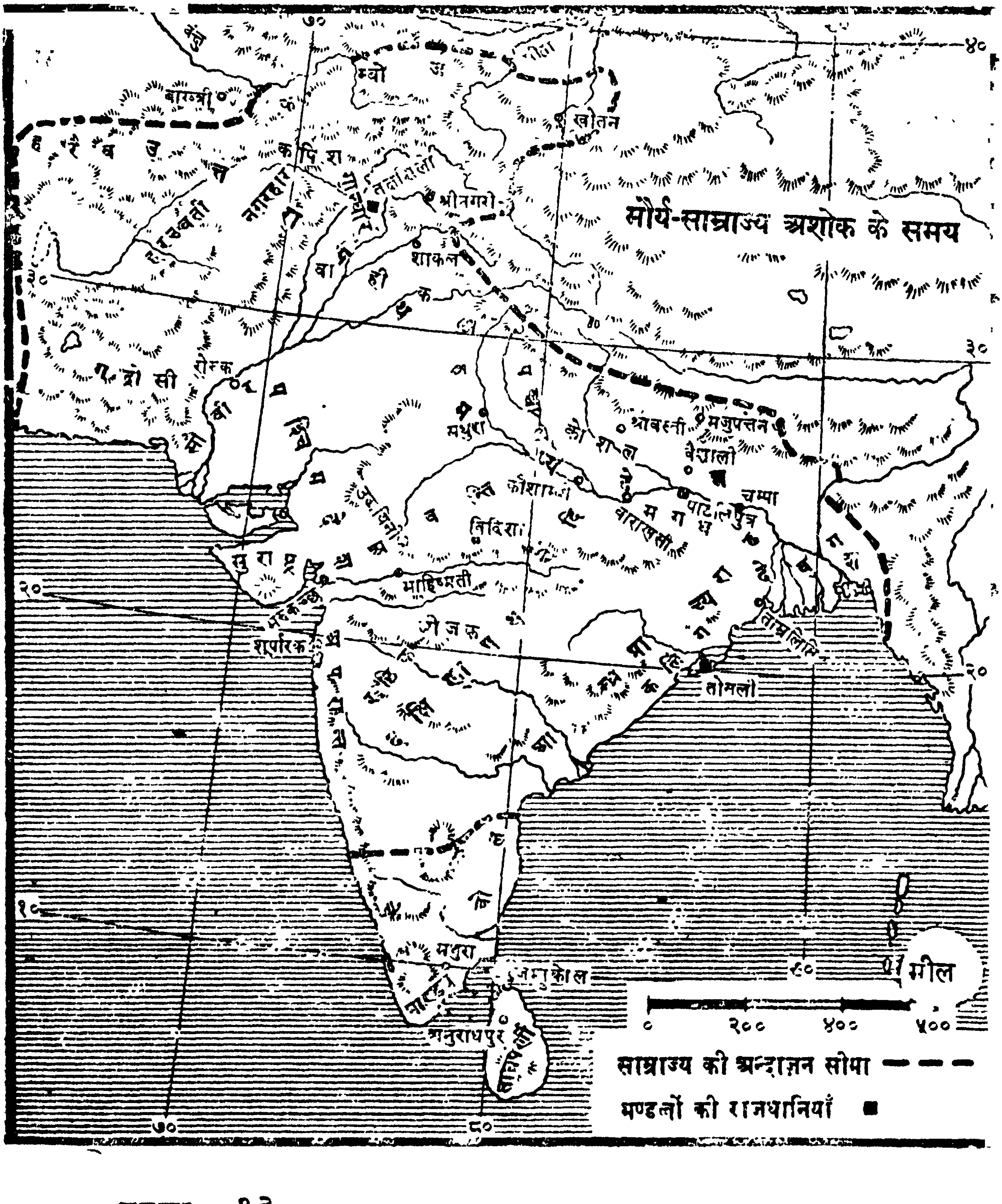
अध्याय २

मौर्य साम्राज्य का दिग्विजय युग

(३२५–२६२ ई० पू०)

§१. **चन्द्रगुप्त मौर्य और चाणक्य**—बुद्ध के काल में हिमालय की तराई में आजकल के चम्पारन ज़िले में पिप्पलीवन के मोरिय लोगों का छोटा सा संघ-राज्य था। उस मोरिय संघ के लोगों में अब चन्द्रगुप्त नामक पुरुष हुआ। 'मोरिय' का संस्कृत रूप मौर्य है; और इस 'मौर्य' नाम पर से यह कहानी पीछे बना ली गई कि चन्द्रगुप्त मुरा नाम की दासी का बेटा था। कोई घटना ऐसी हुई जिससे मोरिय संघ के उस युवक ने प्रजापीडक नन्दों के वंश को उखाड़ फेंकने का संकल्प कर लिया। उसने कई बार बलवा करके अपने साथियों के साथ मगध पर चढ़ाई की, पर हर बार उसे मार खा कर भागना पड़ा। नन्द राजा ने उसे मार डालने की आज्ञा निकाल रक्खी थी, और फाँसी का परवाना सिर पर लिये वह मारा-मारा फिरता था। उस दशा में वह अन्त में पंजाब जा निकला और तक्षशिला पहुँचा। वहाँ उसे एक अपने जैसा धुन का पक्का ब्राह्मण मिल गया। वह विष्णुगुप्त चाणक्य या कौटल्य था। कहते हैं चाणक्य भी एक बार नन्द की सभा में गया और उसे भी वहाँ अपमानित होना पड़ा और नन्द के छिछोरेपन का तजरबा हुआ था। वह भी नन्द को उखाड़ने की धुन में था। चाणक्य और चन्द्रगुप्त दोनों असाधारण कर्तृत्ववान् दृढव्रती और प्रतिभाशाली थे। वे दोनों एक साथ एक ही धन्धे में लग गये। अलक्सान्दर जब तक्षशिला में था तब चन्द्रगुप्त उससे भी जा कर मिला और नन्दों के विशाल साम्राज्य को जीत लेने की चर्चा की। पर अलक्सान्दर से चन्द्रगुप्त की कुछ खरी खरी बातें हो गईं और उसने भी उसे मारने की आज्ञा दी। चन्द्रगुप्त वहाँ से भी बच निकला।

अलक्सान्दर के सेना-संघटन और सेना संचालन के तरीकों को चाणक्य



नक्शा—१३

और चन्द्रगुप्त ने बड़े ध्यान से देखा-समझा। उनमें जो विशेषताएँ थीं उन्हें उन्होंने भारत की सेनाओं में भी अपनाने का निश्चय किया। अलक्सान्दर के मरने के बाद एक बरस के अन्दर ही उन्होंने पंजाब और सिन्ध के राष्ट्रों

को यूनानियों के विरुद्ध उभाड़ दिया और अलक्सान्दर जो सेना वहाँ छोड़ गया था उसे मार भगाया। तब उन्होंने उन्हीं पंजाबी राष्ट्रों से बड़ी सेना खड़ी करके नन्द साम्राज्य पर चढ़ाई की* और पाटलिपुत्र को जा घेरा। नन्द सम्राट् को मार कर चन्द्रगुप्त ने मगध का शासन अपने हाथ में कर लिया (३२२ ई० पू०)। चाणक्य उसका प्रधान अमात्य बना। नन्द राजा का मन्त्री राक्षस नाम का था। उसने इसके बाद भी चन्द्रगुप्त के विरुद्ध विद्रोह कराने के कई जतन किये; किन्तु चाणक्य की चतुराई से वे सब निष्फल हुए।

तभी एक और बड़ा शत्रु चन्द्रगुप्त पर चढ़ाई करने आ रहा था। अलक्सान्दर के पीछे यूनानी साम्राज्य के कई टुकड़े हो गये। उनमें से समूचा पच्छिमी और मध्य एशिया सेलेउक† नामक सेनापति के हिस्से में पड़ा। उसने भारतीय प्रान्तों को वापिस लेने के ख्याल से चढ़ाई की। पर उसके सिन्ध नदी पार करते ही चन्द्रगुप्त ने उसे हरा दिया और सेलेउक को उलटा चार प्रान्त देने पड़े। वे चार प्रान्त ये थे—(१) हिन्दकोह और काबुल का प्रदेश (२) हरात (३) हरह्वती या अरखुती (कन्दहार) और (४) गदरोसिया (कलात, लासबेला, मकरान)। हिन्दकोह के उत्तर तरफ कम्बोज देश अर्थात् बदख्शाँ और पामीर भी मौर्य साम्राज्य के अधीन हो गया। सेलेउक ने चन्द्रगुप्त को अपनी लड़की भी ब्याह दी और अपने दूत मेगास्थेनेस को उसके दरबार में रक्खा। चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने मिल कर अपने साम्राज्य की सेना और शासन का प्रबन्ध भी बहुत अच्छा और मज़बूत किया।

§२. **बिन्दुसार**—चन्द्रगुप्त के बाद उसका बेटा बिन्दुसार अमित्रघात राजा हुआ (२९८ या ३०२ ई० पू०)। उसने प्रायः २५ बरस तक अपने पिता की तरह योग्यता से शासन किया। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार चाणक्य उसके राज्यकाल में भी प्रधान अमात्य रहा और उसने १६ राजधानियाँ जीत

---

* स्व० आचार्य काशीप्रसाद जायसवाल तथा अन्य अनेक विद्वानों का मत था कि चन्द्रगुप्त ने पहले मगध जीता, बाद पंजाब लिया।

† सेलेउकस् (Seleucus) में अन्तिम स् प्रथमा एकवचन का सूचक है।

कर पूरब से पच्छिम समुद्र तक की भूमि बिन्दुसार के अधीन कर दी। वे १६ राजधानियाँ दक्खिनी राष्ट्रों की थीं। उनमें से आन्ध्र राष्ट्र बहुत प्रबल माना



राजा अशोक जुलूस में

अशोक हाथी से उतर कर खड़ा है। उसके आगे एक कुब्जक (बौना) और दोनों तरफ चँवरधारिणियाँ हैं। उसके बायें तरफ चँवरधारिणी के पीछे रानी दीख पड़ती है। [साँची स्तूप के पूरबी तोरण की सबसे निचली बँडेरी, बाहर की तरफ के मूर्त्त दृश्य में से यह मूर्त्त चित्र अशोक के केवल आधी-पौनी शताब्दी बाद की रचना है।]

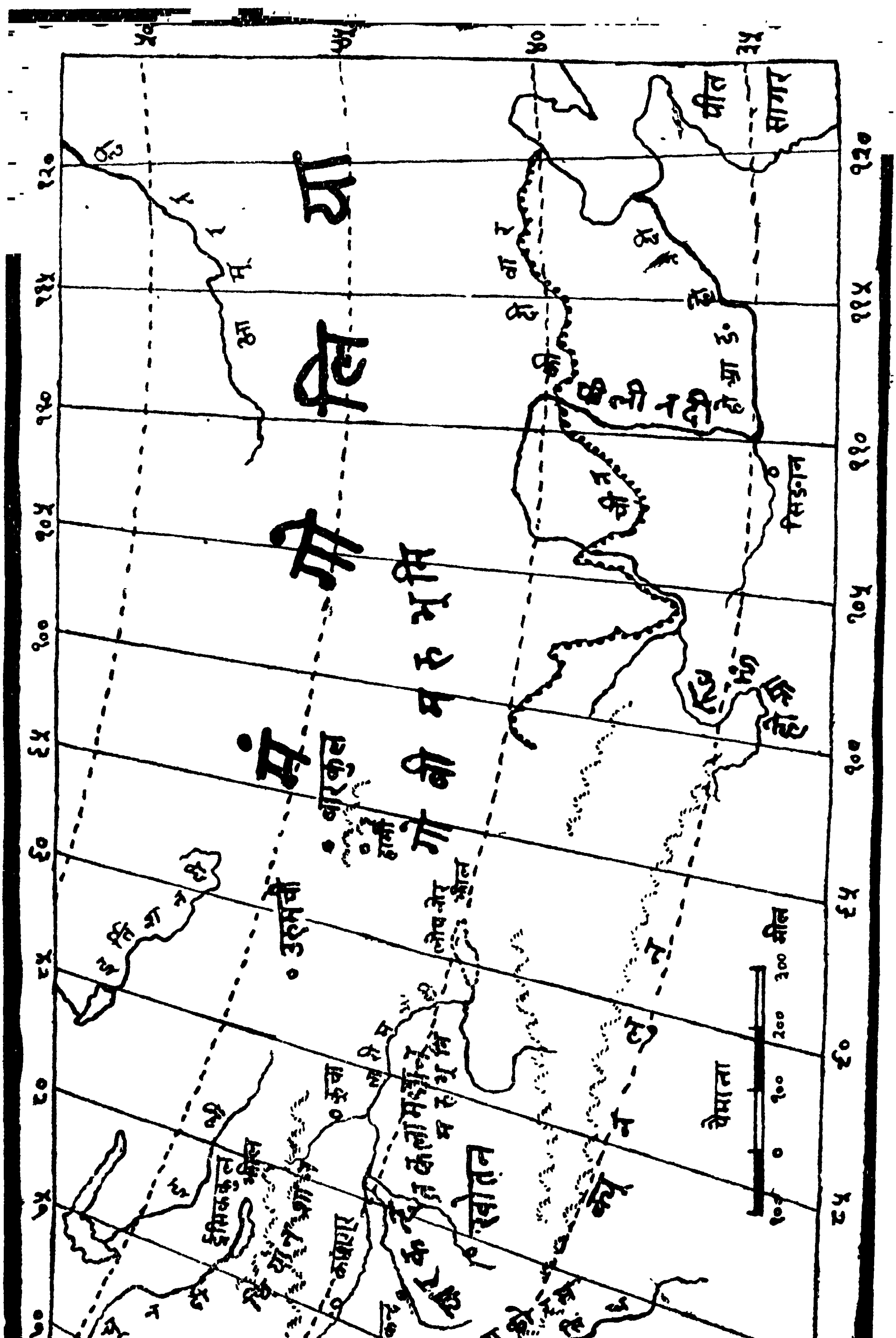
जाता था। मौर्यों की सेनाएँ कोंकण से कर्णाटक तक पहाड़ों पर रास्ते बनाती और उन रास्तों पर अपने रथ दौड़ाती बढ़ती गईं। वे मदुरा के दक्खिन तक जा पहुँचीं, पर पीछे दक्खिनी छोर से हट आईं। मौर्य साम्राज्य की सीमा तब

आधुनिक कर्णाटक के दक्खिनी छोर तक रही। चोल पांड्य चेर और ताम्रपर्णी अर्थात् तमिळनाड केरल और सिंहल दक्खिन तरफ उसके बाहर बचे रह गये।

§ ३. अशोक—बिन्दुसार के बाद उसका बेटा अशोक गद्दी पर बैठा। वह बचपन ही से प्रखर स्वभाव का था। पिता के अधीन वह उज्जैन और तक्षशिला का शासक रह चुका और उसने तक्षशिला का विद्रोह शान्त किया था। कम्बोज से कर्णाटक तक समूचा भारत अब मौर्य साम्राज्य में समा चुका था, तो भी बंगाल मगध और आन्ध्र के बीच तीन तरफ से घिरा कलिंग (उड़ीसा) राष्ट्र स्वतन्त्र ही था। वह बड़ा शक्ति-शाली था। उसकी हाथियों की सेना खूब सधी हुई थी। अपने प्रशासन के बारहवें बरस अशोक ने उसपर चढ़ाई की। कलिंग लोग बड़ी वीरता से लड़े। एक लाख मारे गये, डेढ़ लाख कैद हुए और कई गुने पीछे बीमारी आदि से मरे। कलिंग मौर्यों के अधीन हो गया, पर युद्ध की घटनाओं ने अशोक के हृदय को बदल दिया। अशोक ने तब दिग्विजय के बजाय धर्म-विजय की राह पकड़ी। उसका वर्णन आगे किया जायगा।

§ ४. खोतन उपनिवेश—मौर्य साम्राज्य के अंतर्गत कम्बोज देश (बदख्शाँ-पामीर) था। उसका पूरबी छोर उत्तर-दक्खिन फैले दो समान्तर पर्वतों से बना है जिन्हें अब हम सरीकोल और कन्दर या काशगर कहते हैं। इस पर्वत-पंक्ति के पूरबी ढाल से एक लम्बा पठार चीन की सीमा तक चला गया है, जिसका दक्खिनी बाँध क्युनलुन और अल्तिनताग पर्वतों तथा उत्तरी थियानशान पर्वत से बना है। पामीर और इन पर्वतों का धोवन तारीम नदी के रूप में इस पठार के बीच से जा कर तकला मकान मरुभूमि और लोप नोर* की दलदल में लुप्त हो जाता है। 'इस विशाल देश को अब हम पूरबी तुर्किस्तान कहते हैं और पामीर से अराल-कास्पिय तक के देश को पच्छिमी तुर्किस्तान। प्राचीन काल में यह तुर्किस्तान न था; तुर्क लोग तब इर्तिश नदी के पूरब सिबिरिया ('साइबीरिया') में रहते थे। मध्य एशिया के

* नोर माने झील, सरोवर।



नक्शा १५ पूर्वी मध्य एशिया

इन देशों में तब शक और उनके सजातीय तुखार ऋषिक आदि लोग रहते थे। वे सब आर्य परिवार के थे, और उस काल में खानाबदोश पशुपालक दशा में थे।

अशोक के ज़माने तक भारत के लोग पामीर से लोपनोर तक के गैर-आबाद देश में जाने आने लगे थे। अशोक ने तक्षशिला से कुछ अपराधियों को निर्वासित कर खोतन में उनका उपनिवेश बसाया। खोतन के पूरब, मरुभूमि के दक्खिन लोपनोर तक और कई उपनिवेश बस गये, जिनमें से सबसे पूरब वाला लोपनोर के काँठे में नाभकां† था।

§५. मौर्य साम्राज्य का अनुशासन—शासन के दिन-ब-दिन चलाने को मौर्य युग में अनुशासन कहते थे‡। मौर्य साम्राज्य का अनुशासन बहुत ही व्यवस्थित था। उसका हाल हमें मेगास्थेनेस के लिखे हुए वर्णन से, कौटल्य के लिखे अर्थशास्त्र नाम के ग्रन्थ से और अशोक के खुदवाये हुए लेखों से मिलता है।

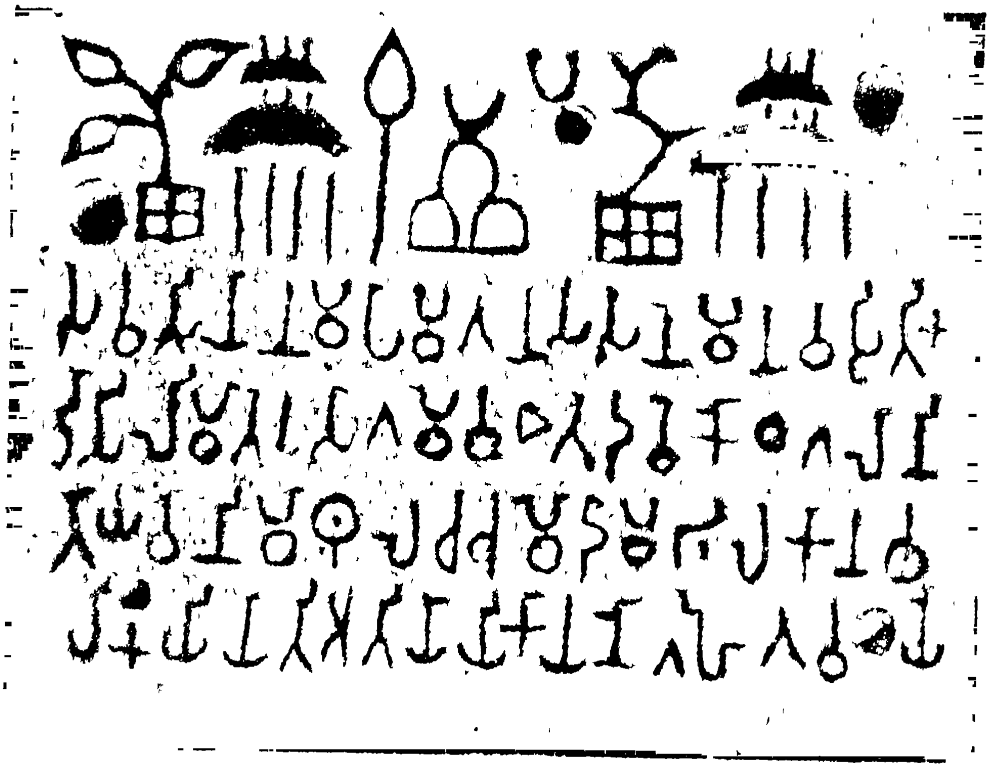
मौर्य सम्राट् अपने को केवल 'राजा' कहते थे और अपने साम्राज्य को

---

† सातवीं शताब्दी के चीनी यात्री य्वान च्वाङ ने इस नाम का रूपान्तर नफोभो दिया है। नफोभो का मूल रूप आधुनिक विद्वानों ने नवभाग अनुमान किया था। पर किसी प्रदेश का वाचक नवभाग नाम हमारे वाङ्मय में कहीं नहीं है। नाभक नाम अशोक के १३वें शिलाभिलेख में कम्बोज के साथ है।

‡ भारत के नये संविधान में इस अर्थ में—अर्थात् अंग्रेजी शब्द ऐडमिनिस्ट्रेशन के अनुवाद रूप में—प्रशासन शब्द रक्खा गया है। पर 'प्रशासन' का प्राचीन अर्थ बिलकुल दूसरा है। किसी राजा का राज-पद पर होना प्रशासन कहलाता था, जैसे 'कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति'। गुप्त युग के लेखों में प्रशासन शब्द का प्रयोग बहुत हुआ है। 'ऐडमिनिस्ट्रेशन' के अर्थ में पुराना शब्द अनुशासन ही है। पिछले कुछ वर्षों में हिन्दी अखबारों ने नियमानुवर्त्तन (डिसिप्लिन) के अर्थ में अनुशासन लिखना आरम्भ कर दिया है, पर वह प्रयोग ठीक नहीं है। प्राचीन परिभाषाओं का ठीक अर्थ समझे बिना आज यदि हम नये मनमाने अर्थों में प्रयोग करते हैं तो भारतीय भाषाओं में प्राचीन इतिहास के विषय में लिखते हुए बड़ा गोलमाल होता है।

'विजित'। राजा 'विजित' का अनुशासन मन्त्रियों और परिषद् की सहायता से करता था। समूचा विजित इन पाँच मंडलों में बँटा था जो शायद 'चक्र' कहलाते थे—(१) मध्यदेश या मध्य-मंडल (२) प्राची (३) दक्खिणापथ (४) अपर जनपद या पश्चिम-देश और (५) उत्तरापथ। जैसा कि भारत के भाषाक्षेत्रों के प्रसंग में कहा जा चुका है, आजकल हिन्दी भाषा का जो



चन्द्रगुप्त मौर्य की जनपद-अनुशासन-शैली का नमूना। सहगौरा (जि० गोरखपुर) से पाये गये इस ताम्रपत्र पर यह लेख है, "श्रावस्ती के महामात्यों की मानवसीति शिविर से आज्ञा—अमुक गाँवों के ये अनाज के कोठार केवल सूखा पड़ने पर किसानों को बाँटने के लिए हैं, अकाल पड़ने पर ये रोके न जायँ।" इस ताम्रपत्र के ऊपर वही चिह्न हैं, जो चन्द्रगुप्त मौर्य के सिक्कों पर पाये गये हैं। [भा० पु० वि०]

क्षेत्र है, प्रायः उसी को प्राचीन लोग मध्यदेश या मध्यमंडल कहते थे। पर आज का राजस्थान तब पश्चिम मंडल में गिना जाता था। मध्यदेश के पूरब कलिंग बंगाल आदि प्राची अर्थात् पूरबी देश कहलाते थे। नर्मदा के दक्खिन दक्खिणापथ था। राजस्थान सिन्ध गुजरात और कोंकण मिला कर अपर जनपद

या पश्चिम देश कहलाता था। पंजाब कश्मीर काबुल आदि उत्तरापथ में गिने जाते थे।

मौर्य युग में मध्यदेश का शासन पाटलिपुत्र से होता था, उत्तरापथ का तक्षशिला से और पश्चिमी मंडल का उज्जयिनी से। दक्षिणापथ की राजधानी सुवर्णगिरि थी। यह शायद कृष्णा-तुंगभद्रा-दोआब में आजकल के रायचूर ज़िले के मस्की नामक स्थान पर थी। पूरब प्रान्त की राजधानी कलिंग में तोसली थी, जिसकी जगह पर अब पुरी ज़िले का धौली कस्बा है। इन राजधानियों में राजा की तरफ से कुमार (राजकुमार) महामात्य (सचिव) या 'राजुक' अनुशासन का निरीक्षण करते थे।

प्रत्येक मंडल के निरीक्षण में कई कई जनपद थे। जनपद वही थे जो पुराने चले आते थे। उन जनपदों की अपनी अपनी राजधानियाँ थीं, जिनमें राजकीय महामात्य प्रजा की परिषद् की सहायता से अनुशासन करते थे। उदाहरण के लिए पाटलिपुत्र-मंडल के निरीक्षण में कौशाम्बी एक जनपद की राजधानी थी। कई जनपदों का सीधा शासन राजा के अधीन था, अर्थात् उनके निरीक्षण के लिए राजकीय महामात्य नियुक्त थे, कई अपने अन्दर के अनुशासन में सर्वथा स्वतन्त्र थे। आन्ध्र विदर्भ कम्बोज आदि साम्राज्यान्तर्गत स्वतन्त्र जनपद थे।

प्रत्येक जनपद का अपना-अपना 'धर्म' और 'व्यवहार' अर्थात् विधि-कानून था। ग्रामों श्रेणियों नगरों के निगमों तथा जनपदों की परिषदें जो नया कानून बनातीं, वह 'चरित्र' कहलाता था। विशेष दशा में राजा अपने 'शासन' अर्थात् आदेश से उन धर्मों व्यवहारों और चरित्रों में रद्दोबदल कर सकता था। जनपदों के अपने अपने "शील वेश भाषा और आचार" थे, तथा प्रत्येक जनपद का अपना देवता अपने उत्सव और अपने "समाज" (खेलों की प्रतियोगिताएँ या टूर्नामेंट) होते थे। प्रजा में अपने अपने जनपद के लिए भक्ति और अभिमान का भाव उत्कट रूप से था।

जनपदों के अन्दर फिर दो तरह के प्रदेश थे। एक तो वे जिनका ठीक ठीक बन्दोबस्त हो चुका था। वे आहारों यानी ज़िलों में बँटे थे। दूसरे जंगली

प्रदेश थे, जो कोट्ट-विषय अर्थात् गढ़ों के क्षेत्र कहलाते थे। एक एक कोट्ट या गढ़ के चौगिर्द जो प्रदेश था उसका अनुशासन उसी गढ़ से चलता था।

ग्रामों और श्रेणियों के राजनीतिक अधिकारों को मौर्य साम्राज्य ने कुछ दबाने का जतन किया। पुराने बन्दोबस्त हुए जनपदों के गाँवों तक में कर की वसूली रक्षा न्याय आदि का काम राजकीय 'पुरुष' यानी अधिकारी करते थे। गाँवों के शासक 'गोप' कहलाते थे। कस्बों और शहरों में दो किस्म के सरकारी न्यायालय थे। एक कंटक-शोधन यानी फौजदारी, दूसरे धर्मस्थ यानी दीवानी। प्रत्येक जनपद के अनुशासन में और बहुत से अधिकरण (महकमे) भी थे। वसूली न्याय आदि के सिवाय सिंचाई खानों आदि के अधिकरण प्रजा की भलाई और राज्य की आमदनी बढ़ाने को थे। कुछ सामाजिक अधिकरण भी थे, जैसे शराबखानों की देख-रेख का। प्रत्येक जनपद में राजा की ओर से प्रतिवेदक रहते थे जिनका काम होता था महत्त्व की घटनाओं का वृत्तान्त नियमित रूप से लिख कर भेजना। अनेक जनपदों में नावध्यक्ष नाम का अधिकारी भी रहता था जो घाटों बन्दरगाहों जहाजों आदि की देख-रेख करता था।

सुराष्ट्र में गिरिनगर (गिरनार) के पास पहाड़ी नदियों को बाँधों से रोक कर चन्द्रगुप्त ने सिंचाई के लिए बड़ा ताल बनवाया था। पटना और भिन्न-भिन्न जनपदों के बीच सड़कों का जाल सा बिछा दिया गया था। मनुष्यों और पशुओं के लिए सरकारी चिकित्सालय थे। मनुष्य-गणना होती थी और वर्षा का माप रक्खा जाता था। हत्या आदि के मामलों में 'आशु-मृतक परीक्षा' अर्थात् शव-परीक्षा करने की रीति जारी थी। ये बातें उस ज़माने में संसार का और कोई राज्य न जानता था। मौर्यों का गुप्तचर और सेना विभाग बहुत मज़बूत था। सेना के छः महकमे—पैदल सवार हाथी रथ जलसेना और रसद के—थे। वे प्रत्येक एक छोटे वर्ग के अधीन होते थे।

पाटलिपुत्र नगर के प्रबन्ध के लिए प्रजा स्वयम् ३० आदमियों की सभा नियुक्त करती थी। उस सभा के पाँच पाँच आदमी बँट कर छह छोटे वर्ग बन जाते थे, जो एक-एक महकमे की देख रेख करते थे। उनमें एक महकमा विदेशियों की और एक शिल्प की देखरेख के लिए भी था। पाटलिपुत्र उस



मौर्ययुगीन पाटलिपुत्र की लकड़ी की इमारतों के खँडहर [फ़ोटो, पटना संग्र०]

युग में संसार में सबसे बड़ा नगर था। उसमें बहुत से विदेशी आ कर रहते थे। विजित की दूसरी नगरियों का प्रबन्ध भी उसी तरह चलता होगा।

दंड-विधान कठोर था, पर मौर्यों ने अपने से पहले के दंड-विधान को बहुत कुछ नरम करने का जतन किया था। कारीगर का हाथ या आँख बेकार कर देने वाले को फाँसी मिलती थी। सिंचाई के तालाब का बाँध तोड़ने वाले को वहीं डुबा दिया जाता था। मेगास्थेनेस लिखता है, "भारतवर्ष के लोग कभी झूठ नहीं बोलते, मकानों में ताले नहीं लगाते और न्यायालयों में बहुत कम जाते हैं।"

यूनान आदि में दास-प्रथा इतनी अधिक थी कि खेती-बारी और मेहनत-मज़दूरी सब दासों से कराई जाती थी। एक-एक स्वतन्त्र गृहस्थ के पाँच पाँच सौ तक दास होते थे, जिनके साथ पशुओं का सा बर्ताव होता था। पर भारत में वह बात न थी। इसी कारण मेगास्थेनेस लिखता है कि भारत में दासता न थी। कौटल्य भी लिखता है, "म्लेच्छों को अपनी सन्तान बेचने या धरोहर रखने से दोष नहीं लगता, पर आर्य कभी दास नहीं हो सकता।" घरेलू सेवा के लिए जो थोड़ी-बहुत दासता थी, उसे भी कौटल्य ने बिलकुल उठाने की चेष्टा की। उसने "आर्य-प्राण" शूद्रों की—अर्थात् उन शूद्रों की जिनमें आर्य रक्त मिला हुआ था—बिक्री आदि पर सख्त बन्धन लगा दिये, और ऐसे नियम बनाये कि दास लोग बहुत आसानी से "आर्य" अर्थात् स्वतन्त्र भारतीय बन सकें। प्रत्येक भारतीय को स्वतन्त्र बनाने के कौटल्य के ये जतन ऐसे थे जिनके लिए आज भी हम आदर के साथ उसका नाम लेते हैं।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. सेलेउक ने चन्द्रगुप्त से हारने के बाद उसे कौन से प्रान्त दिये थे?

२. मौर्य अपने 'विजित' या साम्राज्य को किन किन भागों में बाँटते थे? उनकी व्याख्या कीजिए।

३. मौर्य युग में—(अ) जनपदों का शासन कैसे होता था?
(इ) पाटलिपुत्र का प्रबन्ध कैसे होता था?

४. विदेशियों और भारतीयों की दासता के सम्बन्ध में कौटल्य ने क्या लिखा है? इस सम्बन्ध में उसने क्या किया?

५. अशोक के राज्यकाल में मौर्य साम्राज्य में कौन कौन से प्रदेश मिलाये गये?

६. सीता-काँठे के भारतीय उपनिवेश का परिचय दीजिए।

७. धर्मस्थ और कण्टकशोधन का अर्थ क्या है?

अध्याय ३

अशोक का धर्म-विजय और पिछले मौर्य सम्राट्

(२६५—२११ ई० पू०)

§ १. **अशोक के सुधार**—कलिंग-विजय के बाद अशोक के मन में भारी 'अनुशोचन' हुआ। उसने अनुभव किया कि "जहाँ लोगों का इस प्रकार वध मरण और देशनिकाला हो, वहाँ जीतना न जीतने के बराबर है।" उसने निश्चय किया कि अब मैं ऐसा विजय न करूँगा। अपने बेटों-पोतों के लिए भी उसने यह शिक्षा दर्ज की कि वे "नया विजय न करें और जो विजय बाण खींच कर ही हो सके, उसमें भी क्षमा और लघुदंडता से काम लें। धर्म के द्वारा जो विजय हो उसी को असल विजय मानें।" दक्खिनी सीमा के राज्यों के विषय में उसने अपने अधिकारियों को लिखा, "शायद आप लोग जानना चाहें कि सीमा पर के जो राज्य अभी तक जीते नहीं गये हैं, उनके विषय में राजा क्या चाहता है। मेरी ... यही इच्छा है कि वे मुझसे डरें नहीं, मुझपर भरोसा रक्खें ... वे यह मानें कि जहाँ तक क्षमा का बर्ताव हो सकेगा, राजा हमसे क्षमा का बर्ताव करेगा।"

अपने राज्य के अन्दर भी उसने बहुत सुधार किये। प्राचीन भारत में जानवर लड़ा कर तमाशा देखने का व्यसन बहुत प्रचलित था। उसे 'समाज' अर्थात् इकट्ठा हाँकना कहते थे। अशोक ने अपने यहाँ वह बन्द कर दिया और प्रजा को भी वैसा करने का उपदेश दिया। जो पशु-पक्षी केवल विनोद के लिए मारे जाते थे, उनकी हत्या भी उसने रोक दी। राजा लोग विहार-यात्राएँ करते थे जिनमें शिकार आदि दिल-बहलाव की बातें होती थीं। अशोक ने उसके

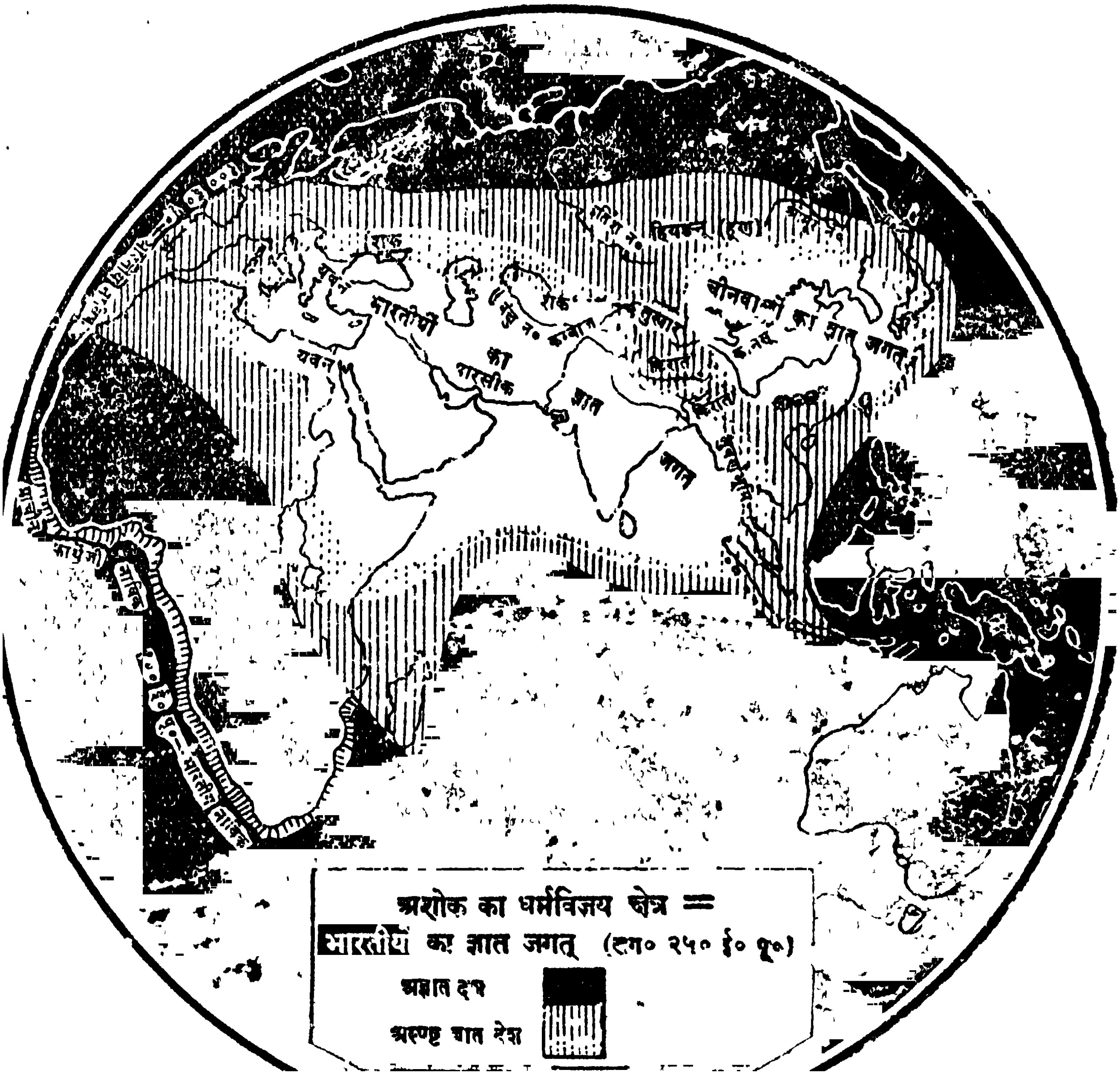
बजाय धर्म-यात्रा शुरू की, जिसमें वह प्रजा की भलाई के उपाय करता था। अपने राजपुरुषों पर उसने कड़ी निगरानी की कि वे प्रजा को पीड़ित न कर पावें। उसने उनसे ताकीद की कि एक भी निरपराध आदमी को उनकी बेपरवाही से कष्ट न हो। जगह जगह मनुष्यों और पशुओं के लिए चिकित्सालय बनवाये और कुएँ खुदवाये। सड़कों पर पेड़ लगवाये। सब पन्थों के लोग आपस में सहिष्णुता और प्रेम से रहें ऐसी शिक्षा देने के लिए उसने "धर्म-महामात्य" नियुक्त किये। उसने लिखा, "प्रियदर्शी राजा (अशोक) चाहता है कि सब पन्थ वाले सब जगह आबाद हों। वे सभी संयम और भाव-शुद्धि चाहते हैं।... सब पन्थों की सार-वृद्धि हो ... इसका मूल वचोगुप्ति (वाणी का संयम) है जिसमें अपने पन्थ वालों का अति आदर और दूसरों की निन्दा न की जाय।"

§२. **अशोक का धर्म-विजय**—किन्तु अशोक ने विजय करना नहीं छोड़ दिया था। दिग्विजय के बजाय उसने अब "धर्म-विजय" शुरू किया। वह नई नीति थी। उसने न केवल अपने विजित में, प्रत्युत चोल चेर पांड्य और सिंहल में, तथा दूसरी तरफ पड़ोस और दूर के सब यूनानी राज्यों में भी, चिकित्सालय बनवाये और रास्तों पर पेड़ लगवाये। इन यूनानी राज्यों के नाम अशोक ने अपने लेखों में दिये हैं। इनसे प्रतीत होता है कि समूचे मध्य और पच्छिमी एशिया, मिस्र, आजकल के बेनगाज़ी तक उत्तरी अफरीका और यूनान तक अशोक के ये धर्म-विजय के कार्य फैले हुए थे।

इसके अलावा अशोक ने बौद्धों की तीसरी 'संगीति' बुलवाई। उसकी तरफ से उसने इन सब देशों में भिक्षु प्रचारक भिजवाये। उन प्रचारकों के कार्यक्षेत्रों को चार भागों में बाँटा जा सकता है—

(१) सबसे पहले दक्खिन भारत और सिंहल। सिंहल में अशोक का बेटा महेन्द्र और उसकी बहन संघमित्रा, जो भिक्षु और भिक्षुणी हो गये थे, गये। वहाँ उन्होंने विजय के वंशज राजा तिष्य को उसके साथियों सहित बौद्ध बनाया। उन लोगों ने बोधि-वृक्ष की एक शाखा सिंहल के लिए मँगवाई। अशोक ने उसे स्वयं काट कर बंगाल के ताम्रलिप्ति (तामलूक) पट्टन से जहाज में भेजा

और अनुराधपुर में वह शाखा रोपी गई। महेन्द्र और संघमित्रा ने सिंहल में जो बौद्ध धर्म का पौधा लगाया, वह भी बोधि-वृक्ष की उस शाखा की तरह धीरे धीरे विशाल वृक्ष बन गया।



नक्शा—१५

(२) उत्तरापथ के गन्धार कश्मीर कम्बोज नाभक आदि देशों में भिक्षु भेजे गये।

(३) इसी प्रकार पूरबी हिमालय के किरात लोगों में और सुवर्णभूमि के आग्नेय लोगों में भी धर्म-प्रचार के लिए भिक्षु गये।

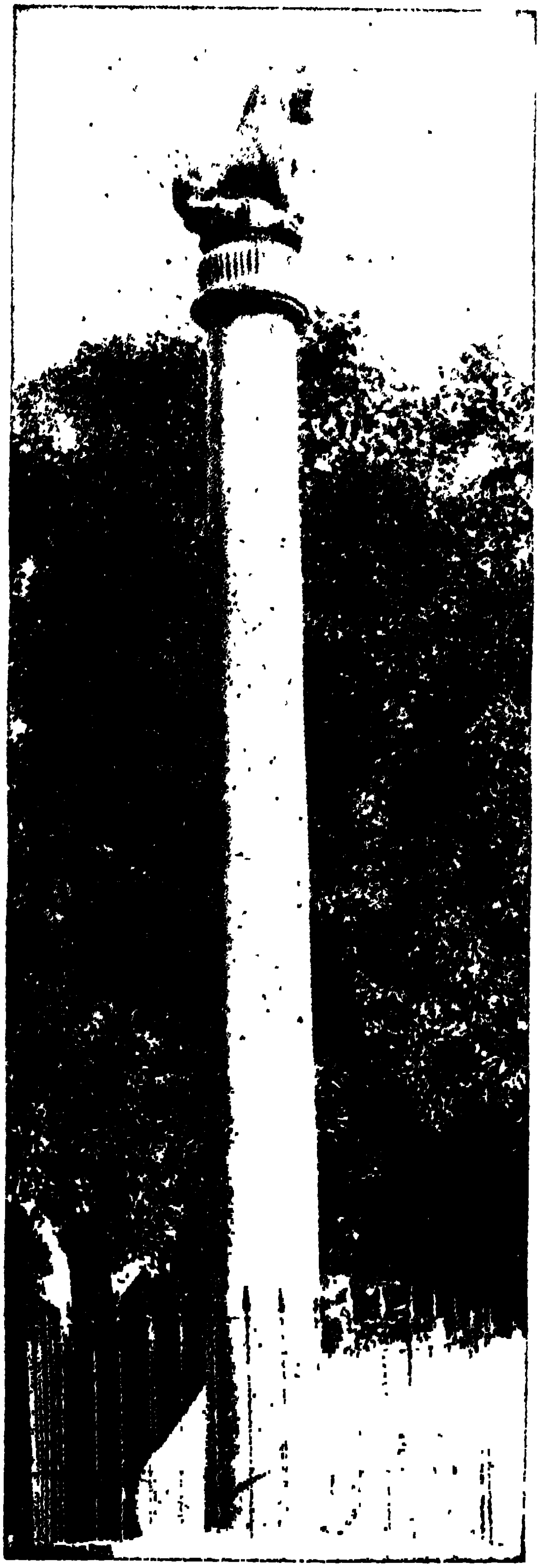
(४) भिक्षुओं का एक दल पच्छिम के यवन राज्यों में गया। उन्होंने पच्छिम एशिया में बुद्ध का सन्देश पहुँचाया। अशोक के अढ़ाई सौ बरस पीछे उसी पच्छिम एशिया के फिलिस्तीन देश में महात्मा ईसा प्रकट हुए, जिनकी शिक्षाएँ भगवान् बुद्ध की शिक्षाओं से बहुत मिलती-जुलती हैं। ईसा की मातृ-भूमि में बुद्ध की शिक्षाएँ अशोक ने ही पहुँचाई थीं।

यह समझ लेना चाहिए कि अशोक ने अपने ज़माने के सारे सभ्य संसार का 'धर्म-विजय' करने की चेष्टा की थी। उस युग में संसार में यूनानी भारतीय और चीनी इन तीन ही सभ्य जातियों के राज्य थे। यूनान के पच्छिम रोम के लोग अभी सभ्यता सीखने ही लगे थे। अशोक ने चीन में अपने भिक्षु न भेजे, इसका कारण यह था कि भारतवर्ष और पच्छिम के लोग तब तक चीन को स्पष्ट रूप से न जानते थे। चीन और भारत के बीच सुवर्णभूमि (हिन्द-चीन प्रायद्वीप) तिब्बत और तारीम-काँठे के विशाल देश हैं। वे तीनों उस काल तक इतने गैर-आबाद थे कि उनके आरपार लाँघ कर चीन और भारत का परस्पर सीधा परिचय न हुआ था—व्यापारियों की मार्फत एक दूसरे का धुँधला ज्ञान कुछ भले ही रहा हो। सुवर्णभूमि, पूरबी हिमालय और कम्बोज देश के लोग भारतवासियों की दृष्टि से सभ्य जगत् के अन्तिम छोरों पर रहते थे। इसलिए जितने संसार को भारतीय जानते थे, उसके अन्तिम किनारों तक अशोक ने अपने धर्म-विजय की चढ़ाइयाँ की थीं [नक्शा १५]।

§ ३. **अशोक की इमारतें और लेख**—अशोक का नाम उसकी इमारतों और लेखों के कारण भी प्रसिद्ध है। उसने पहाड़ी चट्टानों पर और पत्थर के खम्भों पर लेख खुदवाये जिनमें से बहुत से अब तक विद्यमान हैं। चट्टानों पर के लेख पेशावर और हज़ारा जिले में, सुराष्ट्र और उड़ीसा में और देहरादून से मैसूर और हैदराबाद तक मिले हैं। लेखों वाले मुख्य खम्भे छह हैं जो दिल्ली प्रयाग और चम्पारन जिले में हैं। कुछ गौण खम्भे भी हैं जिनमें से एक लुम्बिनी में है। विभिन्न स्थानों पर के चट्टानों पर के लेखों का मज़मून प्रायः



गिरनार की चट्टान पर अशोक के खुदवाये हुए लेख—सन् १८६० में पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा द्वारा लिया हुआ चित्र।



अशोक का स्तम्भ—लौड़िया नन्दनगढ़ (जि० चम्पारन) में [भा० पु० वि०]

एक ही है, उसी प्रकार मुख्य खम्भों पर के लेखों का भी। जिस जिस जनपद में जो लेख हैं वे उसकी प्राकृत में ही लिखे गये हैं, और उनसे यह भी प्रकट होता है कि उस काल की विभिन्न प्राकृतों का एक दूसरे से अन्तर बहुत कम था। शाहबाज़गढ़ी (ज़ि० पेशावर) और मनसेहरा (ज़ि० हज़ारा) की चट्टान पर के लेख खरोष्टी लिपि में हैं, बाकी सब ब्राह्मी में। खरोष्ठी लिपि दाहिने से बाएँ लिखी जाती थी। उसकी वर्णमाला ब्राह्मी की सी है, पर मात्राएँ लगाने संयुक्ताक्षर बनाने आदि की पद्धतियों में कुछ त्रुटि है। खरोष्ठी लिपि भारत में ठीक कब कैसे कहाँ से आई इसका पता अभी तक नहीं लग सका। बहुत सम्भव यह है कि उत्तरपच्छिम भारत में पारसी साम्राज्य के ज़माने में ब्राह्मी वर्णमाला को किसी विदेशी लिपि में लिखने के प्रयत्न से वह बनी। दूसरी शताब्दी ई० के अन्त तक वह भारत के उत्तर-पच्छिमी प्रान्तों में चलती रही।

अशोक के खम्भे कारीगरी के अनोखे नमूने हैं। प्रत्येक ४०-५० फुट ऊँचा और उसका लाठ एक ही पत्थर का तथा उसपर का समूचा परगहा (खंभे

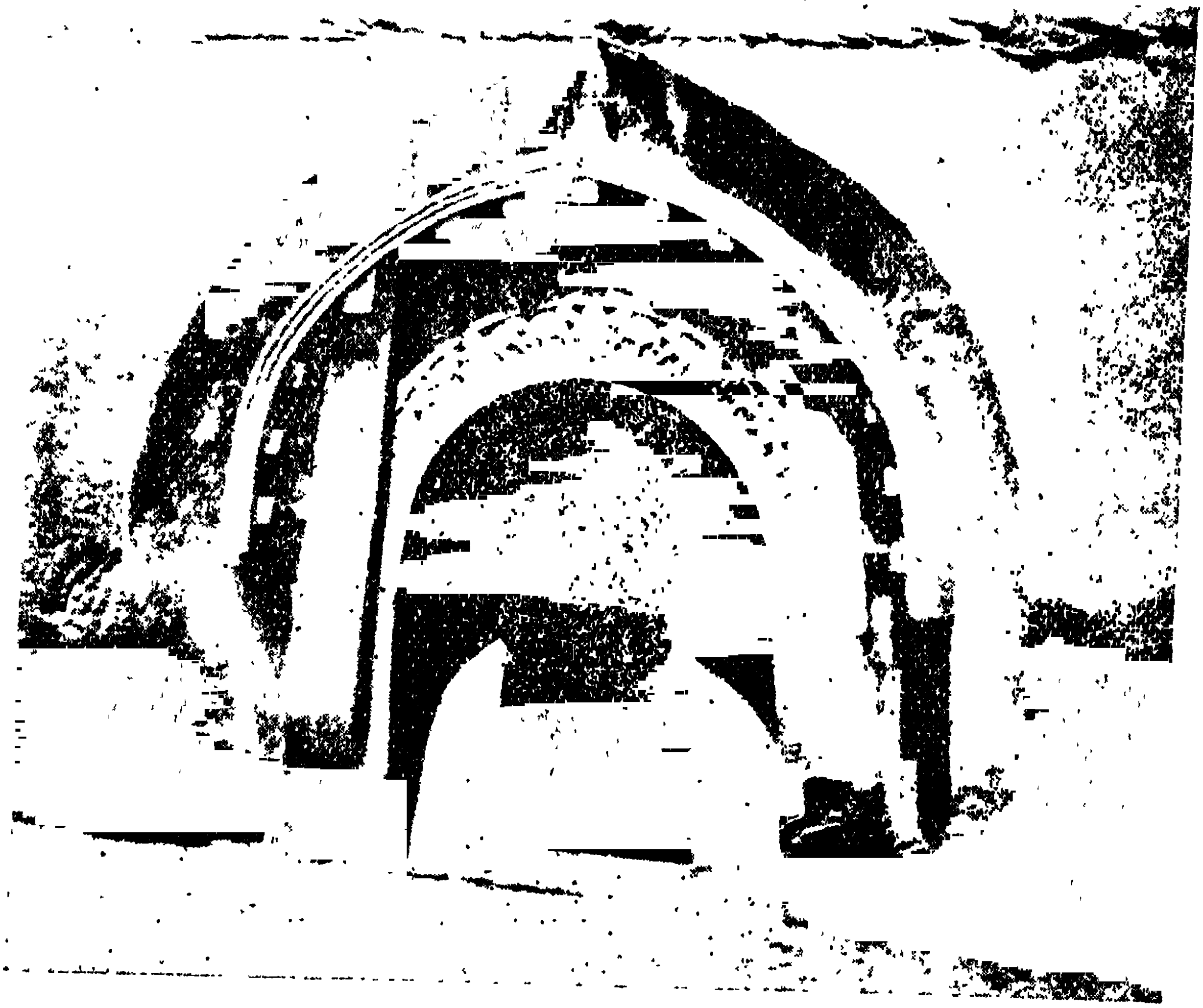
के ऊपर या नीचे का अलंकरण) उसी भाँति एक ही पत्थर में से कटा हुआ है। उनकी ओप (पालिश) की चिकनाई और चमक आज भी ज्यों की त्यों बनी है। वे सब मिर्जापुर-चुनार के पत्थर के हैं और वहीं से सब जगह भेजे गये थे। दिल्ली में फीरोज़शाह के कोटले पर अशोक का जो खम्भा लगा है, उसे फीरोज़शाह तुगलक अम्बाला के पास से वहाँ उठवा लाया था। उस एक खम्भे को रस्सों से खींचने के लिए ८४०० आदमी लगे थे, और सिर्फ डेढ़ सौ मील ले जाने के लिए बड़ा इन्तज़ाम करना पड़ा था। अशोक के इञ्जीनियरों ने उन्हें चुनार से इतनी दूर कैसे भेज दिया सो कुछ कम अचरज की बात नहीं है। उन खम्भों के ऊपर जो सिंह आदि की मूर्तियाँ हैं, वे भी बहुत बढ़िया कारीगरी की हैं।



रामपुरवा (जि० चम्पारन) अशोक-स्तम्भ का वृष-मूर्त्ति युक्त परगहा [भा० पु० वि०]

अशोक ने कितने ही स्तूप भी बनवाये, और बुद्ध की धातुओं (फूलों) को आठ मूल स्तूपों [३,२§३] में से निकलवा कर उन सबमें बाँट दिया। आजकल के काफिरिस्तान का पुराना नाम कपिश है। कपिश की

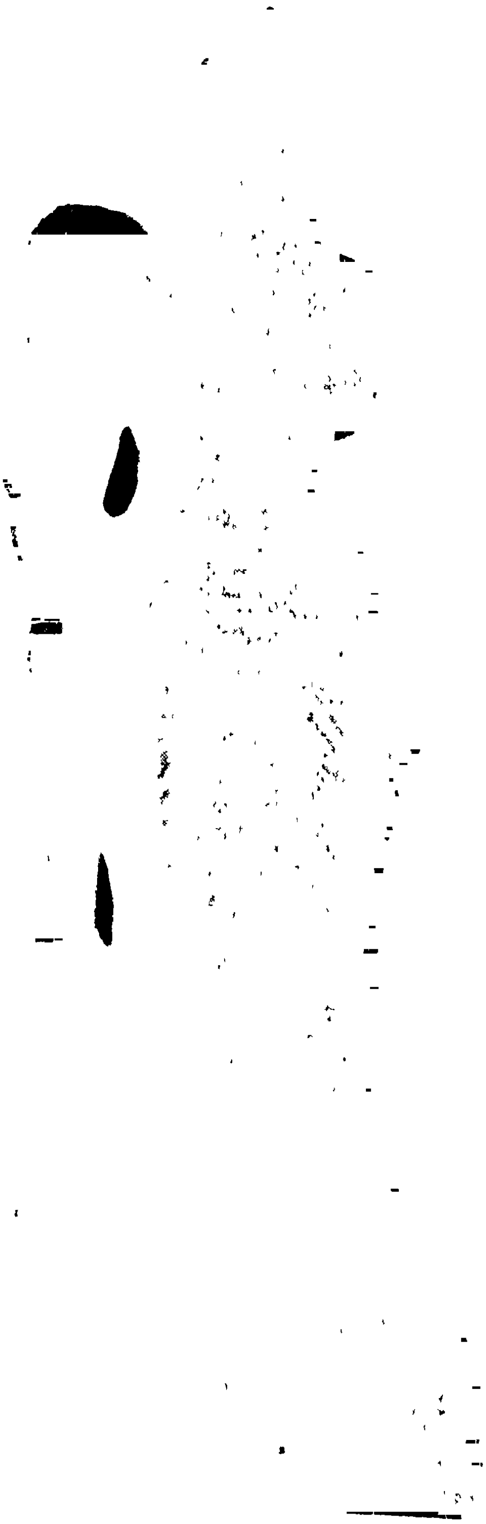
राजधानी कापिशी में अशोक का बनवाया हुआ सौ फुट ऊँचा स्तूप छठी शताब्दी ई० तक मौजूद था। काबुल और पेशावर के बीच जलालाबाद शहर है, जिसका इलाका अब निंग्रहार कहलाता है। उसका पुराना नाम नगरहार था। वहाँ भी अशोक का बनवाया हुआ तीन सौ फुट ऊँचा स्तूप था। कश्मीर की



बराबर पहाड़ी (जि० गया) की चट्टान में राजा दशरथ द्वारा कटवाई गई गुहा, जो लोमश ऋषि की गुफा के नाम से प्रसिद्ध है। [भा० पु० वि०]

राजधानी श्रीनगरी और नेपाल की पुरानी राजधानी पाटन या मंजुपत्तन (नक्शा १३) भी अशोक ने स्थापित की थी। नेपाल में अशोक की बेटी चारुमती और उसका पति देवपाल जा बसे थे।

§४. **पिछले मौर्य सम्राट्**—अशोक के बाद उसके बेटे कुनाल ने राज्य किया, फिर क्रम से कुनाल के दो बेटों दशरथ और सम्प्रति ने। वे



चँवर-धारिणी
पिछले मौर्य युग की कारीगरी का नमूना—दीदारगंज (ज़ि० पटना) से पाई गई मूर्त्ति।
[पटना संग्र०]

तीनों योग्य राजा थे। उनका शासन २५ बरस रहा और २११ ई० पू० में समाप्त हुआ। सम्प्रति ने जैन धर्म के प्रचार के लिए वैसा ही प्रयत्न किया जैसा अशोक ने बौद्ध धर्म के लिए किया था।

§५. मौर्य भारत की सभ्यता— मौर्य काल में भारतवर्ष की समृद्धि और सभ्यता में पहले मगध-साम्राज्य के काल से काफी प्रगति हुई। शिल्प की उन्नति के कारण देश का धन खूब बढ़ा। पाटलिपुत्र तब संसार में सबसे बड़ा नगर था। उसी काल में क्या, सारे प्राचीन काल में उतना बड़ा कोई और नगर नहीं हुआ। उसका घेरा २१½ मील था। चारों तरफ लकड़ी का परकोटा था, जिसमें ६४ दरवाजे और ५७० गोपुर थे। दूर दूर के देशों के लोग वहाँ आते थे।

बौद्ध धर्म के प्रचार की कहानी कही जा चुकी है। मेगास्थेनेस के लेख से जान पड़ता है कि शूरसेन (मथुरा) के लोग अब कृष्ण वासुदेव को देवता की तरह पूजने लगे थे।

मौर्य युग का समाज भी पिछले हिन्दू समाज की अपेक्षा वैदिक समाज से अधिक मिलता जुलता था। स्त्रियों को पूरी स्वतन्त्रता थी। उन्हें दायभाग भी मिलता था। आवश्यकता होने पर धर्मस्थ की अनुज्ञा से विवाह का 'मोक्ष' (तलाक) करवाया जा सकता था।

मौर्य-युग का वाङ्मय प्रायः पिछले महा-

जनपद युग की तरह था। सूत्र शैली में ग्रन्थ लिखना जारी था। महाजनपद युग में आर्यों की बस्तियाँ भारत के दक्खिनी छोर और सिंहल तक फैल गई थीं। अब इस युग में आर्य उपनिवेशकों के संसर्ग से तमिळ भाषा पहलेपहल लिपिबद्ध की गई और उसके व्याकरण का पहलेपहल विश्लेषण किया गया। वह लिखी गई उसी ब्राह्मी वर्णमाला में जो संस्कृत के उच्चारणों की छानबीन से बनी थी। तमिळ को लिपिबद्ध करने और उसका पहला व्याकरण बनाने का श्रेय अगस्त्य मुनि को दिया जाता है, जिसका स्थान मदुरा के निकट पोद्दियील पर्वत बताया जाता है। यह अगस्त्य उस अगस्त्य का वंशज हो सकता है, जिसका आश्रम रामचन्द्र के काल में चित्रकूट और पंचवटी के बीच था [२, १ § ४]।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. अशोक ने कलिंग-विजय के बाद सीमा पर के राज्यों के विषय में अपनी क्या नीति बनाई ?

२. विभिन्न पंथों के लोग आपस में कैसा बर्ताव करें, इस संबंध में अशोक का क्या कहना था ?

३. अशोक ने किन किन देशों का 'धर्मविजय' करने का यत्न किया अथवा उस युग में भारतीयों का ज्ञात जगत् कौन सा था ?

४. क्या आपने अशोक का कोई स्तंभ देखा है ? उसकी विशेषता बताइए। अशोक के स्तम्भ और शिलाभिलेख कहाँ कहाँ पाये गये हैं ?

५. मौर्यकालीन कला के विषय में आप क्या जानते हैं ?

६. आधुनिक हिन्दू स्त्री और मौर्यकालीन स्त्री की सामाजिक स्थिति में क्या अंतर है ?

५. सातवाहन पर्व

(लग० २१० ई० पू० से लग० २०० ई०)

अध्याय १

सातवाहन चेदि यवन शुंग

(लग० २१०—१०० ई० पू०)

§ १. **बलख और पार्थव राज्य**—सेलेउक को जब पच्छिमी से मध्य एशिया तक फैले अपने साम्राज्य में से हरात हरउवती काबुल कम्बोज (बदख्शाँ-पामीर) और गदरोसिया के प्रदेश चन्द्रगुप्त मौर्य को देने पड़े, तब से सेलेउकी साम्राज्य का अपने मध्य एशिया के प्रान्त से सम्बन्ध केवल उत्तरपूर्वी ईरान के रास्ते रह गया था। उस दशा में उस साम्राज्य का मध्य एशिया पर नियन्त्रण रखना बहुत कठिन था। सम्राट् की ओर से वहाँ के शासन के लिए एक क्षत्रप बलख में रहता था। लग० २५० ई० पू० में जब कि भारत में अशोक का प्रशासन चल रहा था, बलख के क्षत्रप दिओदोत ने साम्राज्य से स्वतन्त्र हो अपने को राजा घोषित कर दिया था।

ईरान के उत्तरपूर्वी पहाड़ी छोर में, जो अब खुरासान कहलाता है, पार्थव या पह्लव लोग रहते थे जिससे वह प्रदेश भी पार्थव कहलाता था। पार्थवों के मुखिया अरसक ने ईरान के बड़े भाग को यूनानी साम्राज्य से स्वतन्त्र कर वहाँ अपना राजवंश स्थापित किया (२४८ ई० पू०) जो आगे साढ़े चार सौ बरस तक बना रहा। पार्थवों की प्रधानता के कारण इस युग में सारे ईरान का नाम पार्थव (Parthia) ही रहा।

सेलेउकी साम्राज्य इसके बाद केवल पच्छिमी एशिया में, सीरिया के चौगिर्द, बाकी रह गया। चालीस बरस पीछे सेलेउक-वंशज सम्राट् अन्तिओक ने अपने पूरबी प्रदेशों को वापिस लेने का अन्तिम जतन किया। घोर युद्ध के

बाद उसे पार्थव राजा से सन्धि करनी पड़ी। तब उसने आगे बढ़ कर बलख पर चढ़ाई की। दिओदोत का पोता जो तब वहाँ राज्य कर रहा था, दो बरस बलख के गढ़ में घिरा लड़ता रहा। दोनों पक्ष अन्त में युद्ध से ऊब गये और बलख के राजा ने अपने बेटे देमेत्रिय को सन्धि की बातचीत के लिए भेजा। अन्तिओक नौजवान देमेत्रिय से बहुत प्रभावित हुआ और उसे अपनी लड़की ब्याह दी। बलख से सन्धि कर और नई कुमुक और रसद ले कर अन्तिओक तब भारत की ओर बढ़ा। "उसने हिन्दकोह पार किया और भारतीय राजा सुभागसेन से फिर मैत्री स्थापित कर" कन्दहार शकस्थान के रास्ते वापिस लौट गया (२०५ ई० पू०)। यह सुभागसेन प्रकटतः मौर्य साम्राज्य की ओर से अफगान प्रदेश का शासक था जो अब स्वतन्त्र हो चुका था।

§२. महाराष्ट्र और कलिंग में सातवाहन और चेदि वंश— सम्प्रति के बाद के मौर्य राजा निकम्मे और कर्त्तव्यविमुख निकले। उन्होंने अपनी कमज़ोरी को अशोक वाली क्षमानीति का ढोंग कर के छिपाना चाहा। २१० ई० पू० से उनका साम्राज्य टूटने लगा। सबसे पहले दक्खिन और पूरब के मंडल स्वतन्त्र हुए। दक्खिन में सिमुक नाम के ब्राह्मण ने अपना राज्य स्थापित किया। उसके वंश का नाम सातवाहन* था। सातवाहनों का राज्य आरम्भ में महाराष्ट्र में था, पीछे आन्ध्र तक फैल गया। तब वह आन्ध्र वंश भी कहलाने लगा। इस वंश का राज्य ईरान के पार्थव राज्य की तरह अनेक उतार-चढ़ावों के बीच प्रायः ४५० बरस बना रहा, और इस अवधि में प्रायः वह भारतवर्ष का प्रमुख राज्य रहा। इसी कारण हम इस युग को सातवाहन युग कहते हैं।

कलिंग में तभी एक ऐळ चेदि राजवंश, जो चेदि से दक्षिण कोशल अर्थात् बुन्देलखंड से छत्तीसगढ़ के रास्ते कलिंग पहुँचा था, स्थापित हुआ (लग० २१० ई० पू०)। अफगान प्रदेश में सुभागसेन भी तभी स्वतन्त्र हुआ होगा।

---

* 'सातवाहन' का एक प्राकृत रूप 'सालवाहन' है, जिसका संस्कृत रूपान्तर फिर 'शालिवाहन' किया गया है।

§ ३. अफगानिस्तान में यूनानी राज्य, चेदि-सातवाहन संघर्ष—सुभागसेन की मृत्यु के बाद बलख के यूनानी राजा ने काबुल आदि वे प्रदेश जीत लिये जो सेलेउक ने चन्द्रगुप्त को दिये थे और जो सवा सौ बरस से मौर्यों के शासन में थे। इनमें से हरात प्रदेश शीघ्र बाद यूनानियों से पार्थव राज्य ने छीन लिया (लग० १७० ई० पू०)। शकस्थान (सीस्तान) यदि पहले ही पार्थव राज्य में नहीं था तो हरात के साथ वह भी गया।

महाराष्ट्र में तभी सिमुक का उत्तराधिकारी उसका भतीजा शातकर्णि या सातकर्णि (१म) राजा हुआ। कलिंग में तभी चेदि राजवंश का तीसरा राजा खारवेल गद्दी पर बैठा। अपने राज्याभिषेक के दूसरे बरस खारवेल ने "सातकर्णि की परवा न करके पच्छिम देश को सेना भेजी" जो (हैदराबाद पठार की) मूसी और कृष्णा नदियों तक पहुँची। दो बरस बाद खारवेल ने फिर महाराष्ट्र पर चढ़ाई की और वेणगंगा-वर्धा का प्रदेश छीन कर विदर्भ पर अपनी प्रभुता जमा ली।

§ ४. डिमित और खारवेल—लग० १६० ई० पू० में बलख कम्बोज अफगान पठार और गदरोसिया की राजगद्दी पर देमेत्रिय बैठा। उसने मौर्य साम्राज्य को और ढीला हुआ देख पंजाब पर चढ़ाई कर शाकल (स्यालकोट) को ले लिया, सौवीर देश (सिन्ध प्रान्त) को जीत कर वहाँ अपने नाम से एक नगरी बसाई। सौवीर से वह उज्जयिनी की तरफ बढ़ा। रास्ते में आजकल के चित्तौड़ से छह मील उत्तरपूरब मध्यमिका नगरी पर उसे रुकना पड़ा। उसे उसने घेरा, पर ले न सका और लौट गया।

मौर्य साम्राज्य के पच्छिमी मंडल को लेने का विचार छोड़ तब उसने सीधे उसके मध्यदेश पर धावा मारा। उसने मथुरा ले ली, वहाँ से साकेत (अयोध्या) पर चढ़ाई कर उसे घेर लिया, फिर उसे लेने की प्रतीक्षा न कर आगे बढ़ते हुए पाटलिपुत्र पर आ निकला। मौर्य राजा बृहद्रथ ने अपने को गढ़ में बन्द कर लिया। देमेत्रिय ने गढ़ की खाई के आरपार मिट्टी का सेतु बना लिया। साम्राज्य के सब प्रदेश आकुल हो उठे। नपुंसक मौर्य राजा से कुछ करते न बना तो सेनापति पुष्यमित्र ने उसे सेना का निरीक्षण करने के बहाने बुलाया और सेना

के सामने ही तलवार के घाट उतार दिया। राजहीन राज्य की राजधानी में पुष्यमित्र ने अन्तिम वेला यवनों का डट कर सामना किया।

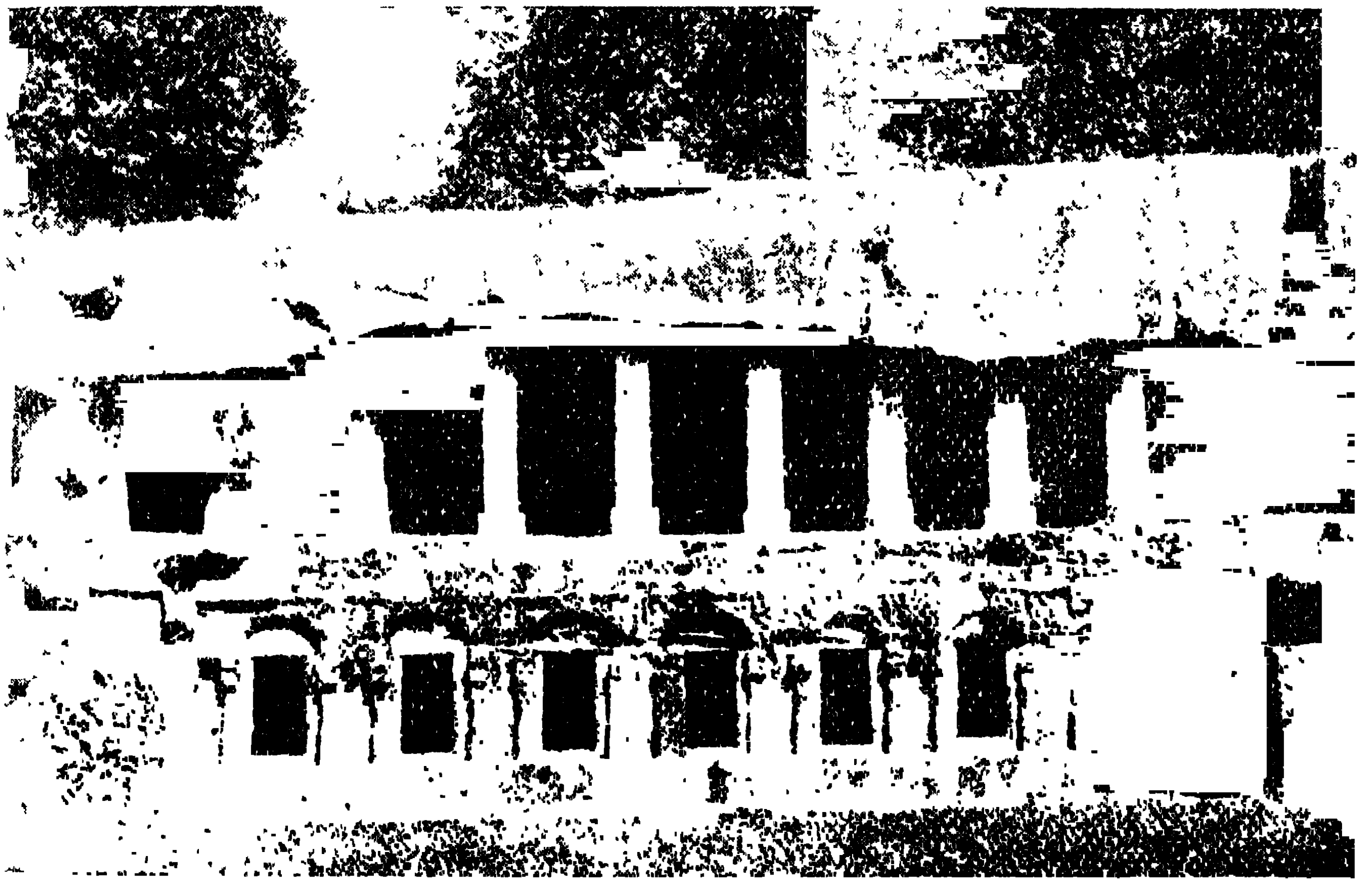
तभी कलिंग का राजा खारवेल झाड़खंड के पहाड़ों को पार करके गया के रास्ते राजगृह तक पहुँच गया। उसे नज़दीक आता देख "यवन राजा डिमित (देमेत्रिय) घबड़ाई सेना और वाहनों को मुश्किल से बचा कर मथुरा को भाग गया।" वह खारवेल के प्रशासन के आठवें बरस की घटना थी।

उसने "दसवें बरस दण्ड सन्धि और साम हाथ में ले भूमि का जय करने भारतवर्ष को प्रस्थान किया ···।" 'भारतवर्ष' से यहाँ ठेठ हिन्दुस्तान का अभिप्राय है। खारवेल की इस चढ़ाई के बाद मथुरा प्रदेश में यवनों का कोई चिह्न नहीं रहा। ठेठ हिन्दुस्तान के यवनों से मुक्त हो जाने पर खारवेल ने दक्खिन मुँह फेरा।

कलिंग से समुद्रतट के साथ साथ तमिळ देश को सीधा रास्ता है। तमिळ राज्यों का एक 'संघात' अर्थात् गुट्ट मौर्य'युग से चला आता था। कलिंग और तमिळ की सीमा पर आव नाम का छोटा सा राज्य था जिसकी राजधानी पिथुंड तमिळ देश का द्वार मानी जाती थी। खारवेल ने अपने प्रशासन के ग्यारहवें बरस "आव राजा की बसाई हुई पिथुंड मंडी को गधों के हल से जुतवा डाला और ··· एक सौ तेरह बरस पुराने तमिळदेश-संघात को तोड़ डाला।" तमिळ देश की राजधानी उन दिनों उरगपुर (आधुनिक तिरुचिरप्पल्ली) थी। प्राचीन भारत की यह प्रथा थी कि किसी नगरी को विजेता जब पूरी तरह मिटा देना चाहते तब उसे उजाड़ कर गधों के हल से जुतवा देते थे।

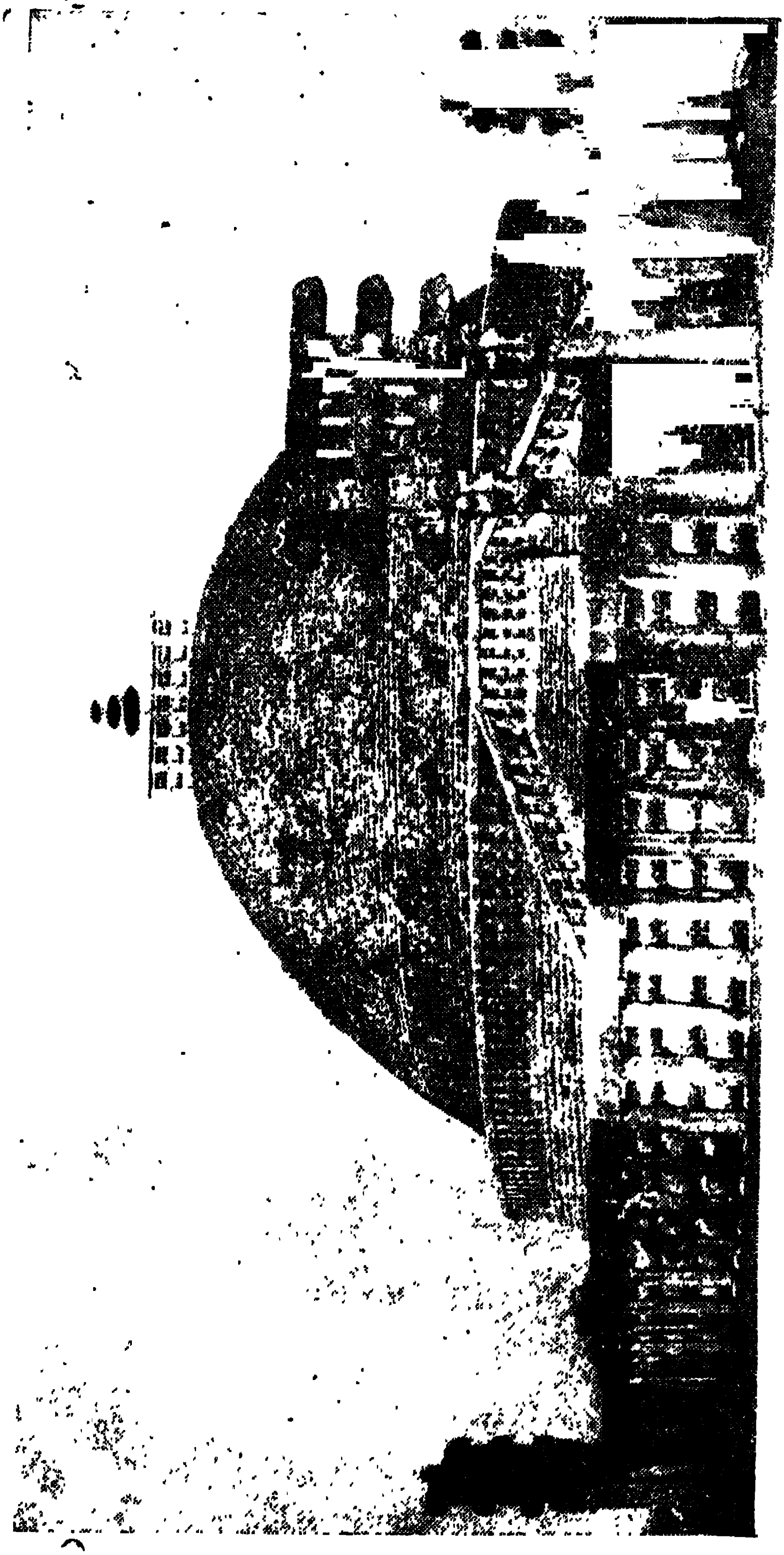
मध्यदेश पच्छिम और दक्खिन को अपने प्रभाव में ले आने के बाद बारहवें बरस खारवेल ने उत्तरापथ (पंजाब) पर चढ़ाई की और वहाँ से मगध के रास्ते लौटा। मगध के नये राजा बृहस्पतिमित्र (पुष्यमित्र) ने उसके आगे झुक कर उसे रिझाया। खारवेल ने यों पंजाब से भारत के दक्खिनी छोर के पांड्य देश तक दिग्विजय किया। पांड्य देश के समुद्र में मोती निकाले जाते थे। उस व्यापार के कारण पांड्य बहुत धनी थे। अब मोतियों के जहाज कलिंग के राजा के पास भेंट में आने लगे।

खारवेल के कारनामों का वृत्तान्त पुरी ज़िले में भुवनेश्वर के पास हातीगुम्फा नामक गुफा की चट्टान पर खुदा है। खारवेल ने कलिंग और भारत का गौरव बढ़ाया, पर कोई टिकाऊ साम्राज्य स्थापित नहीं किया। वह जैन पन्थ का अनुयायी था। प्रकट है कि जैनों के अहिंसावाद में राजाओं के लिए दिग्विजय न करने की प्रेरणा नहीं थी।



रानीगुम्फा
खंडगिरि (जि० पुरी) की चट्टान में खारवेल की रानी का कटवाया हुआ गुहा-विहार
[भा० पु० वि०]

§५. **शुंग साम्राज्य**—खारवेल ने मगध और उत्तर भारत से यूनानियों को खदेड़ा, पर वहाँ अपना साम्राज्य स्थापित नहीं किया। सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने मगध का राज्य अपने हाथ में कर वहाँ फिर से दृढ शासन स्थापित किया और साम्राज्य के जितने अंश को बचा सका उसे फिर से एकच्छत्र शासन में ले आया। बंगाल के समुद्रतट से शाकल (स्यालकोट) तक और दक्खिन तरफ नर्मदा तक उसने नया शुंग साम्राज्य स्थापित किया। विदिशा की दक्खिनी



साँची स्तूप, दक्खिन-पच्छिम ओर का दृश्य

सीमा पर लगे विदर्भ देश (बराड) में मौर्य सम्राट् का नियुक्त किया यज्ञसेन नामक शासक स्वतन्त्र राजा बन बैठा था। पुष्यमित्र ने अपने बेटे अग्निमित्र को उसपर चढ़ाई करने भेजा। अग्निमित्र ने यज्ञसेन को हरा कर वरदा (वर्धा) नदी तक का प्रदेश उससे ले लिया।

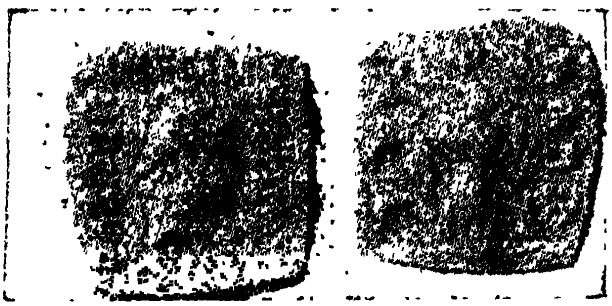
अशोक की क्षमा-नीति निर्बलता की उपज नहीं थी। पर पिछले मौर्यों ने उस क्षमानीति की आड़ में अपनी कर्त्तव्यविमुखता और दुर्बलता को छिपाना चाहा था। बौद्ध मार्ग के प्रभाव से बहुत से युवक जीवन के श्रम से बचने को भिक्षु बन जाते थे। इन दशाओं से लाभ उठा कर जब विदेशी सेनाएँ देश के भीतर तक घुस आईं तब देश में अहिंसावाद और क्षमा-नीति के विरुद्ध लहर उठी। पुष्यमित्र ने कुछ अंश तक बौद्धों का दमन किया और अश्वमेध यज्ञ करने का निश्चय किया। जब तक उसने वह यज्ञ नहीं किया तब तक राजा का पद धारण नहीं किया, अपने को सेनापति ही कहता रहा। उसके यज्ञ-पुरोहितों में पतञ्जलि मुनि भी था, जिसने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर "महाभाष्य" लिखा था।

अश्वमेध की प्रथा वैदिक थी। साम्राज्य-कामी राजा अपने सैनिकों के साथ एक घोड़ा पड़ोसी राज्यों में घुमाते थे। जो राजा अधीनता न मानना चाहे वह उस घोड़े को पकड़ता। यदि पड़ोसी राज्यों से अधीनता मनवा कर वह लौट आय तो यज्ञ रच कर उसमें उस घोड़े की बलि दी जाती। पहले सातवाहन राजा सिमुक ने अश्वमेध किया था और शुंग साम्राज्य के संस्थापक पुष्यमित्र ने भी, यह बौद्ध मार्ग के विरुद्ध प्रतिक्रिया उठने की सूचना थी।

पुष्यमित्र ने अपने पोते वसुमित्र के साथ घोड़ा छोड़ा। सिन्ध नदी के किनारे यवनों ने उसे पकड़ लिया। तब वसुमित्र ने उनसे युद्ध कर उन्हें हराया। महाकवि कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्र नाटक में इस युद्ध का उल्लेख किया तथा अग्निमित्र द्वारा वरदा नदी तक जीतने का वृत्तान्त दिया है। यवनों में इस काल घोर गृह-युद्ध भी चल रहा था, इसलिए भी उन्हें पीछे हटना पड़ा। देमेत्रिय उर्फ डिमित जब भारत में था, उसके एक प्रतिद्वन्द्वी ने तब सिन्ध पार के उसके प्रदेश छीन लिये थे।

पुष्यमित्र के पीछे शुंग वंश का आधिपत्य मथुरा तक निश्चय से बना रहा। शुंगों के सामन्त मथुरा में, उत्तर पंचाल की राजधानी अहिच्छत्रा में, कौशाम्बी में तथा भारहुत (बघेलखंड में सतना के पास) में राज्य करते थे। शुंग राजा पाटलिपुत्र के बजाय अयोध्या में और कभी कभी आकर-देश (पूरबी मालवा) की राजधानी विदिशा (भेलसा) में भी रहते थे। पुष्यमित्र असल में विदिशा का ही रहने वाला था। उसी विदिशा के पास साँची का प्रसिद्ध स्तूप है जिसके चारों तरफ पत्थर की सुन्दर वेदिका (जँगला) शुंगों के काल की या उनके कुछ पहले की बनी हुई है।

§ ६. **यवन राज्य**—उत्तर की तरफ भी अनेक उतार-चढ़ावों के बाद अफगानिस्तान और पच्छिमी पंजाब में चार छोटे छोटे यूनानी राज्य स्थापित हो गये, एक कापिशी में, दूसरा पुष्करावती में, तीसरा तक्षशिला में और चौथा



'काविसिए नगरदेवता' (कापिशी की नगरदेवी) चित, राजा एवुक्रतिद (Eucratides) का चेहरा ; पट, कापिशी की नगरदेवी।

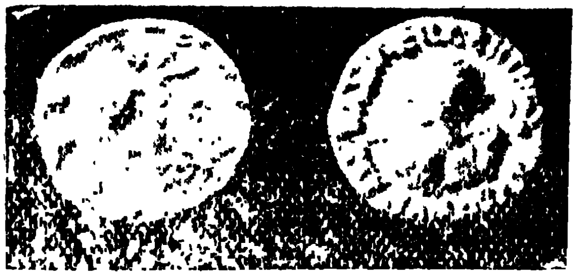


'पखलावदि देवदा (पुष्करावती देवी) चित, नन्दी की मूर्त्ति, लेख—उषभे (वृषभः); पट, पुष्करावती देवी।

शाकल में। इन सब राज्यों के सिक्के अब तक बहुत मिलते हैं। उन सिक्कों के एक तरफ प्रायः यूनानी और दूसरी तरफ प्राकृत लेख होता है। कापिशी के कई सिक्कों पर "कापिशी की नगर-देवता" की मूर्त्ति रहती है और पुष्करावती के सिक्कों पर नन्दी (शिव के वाहन बैल) और "पुष्करावती देवी" की। तक्षशिला और शाकल के सिक्कों पर यूनानी और भारतीय देवताओं की मूर्त्तियाँ तथा बुद्ध के धर्म-चक्र आदि के चिह्न होते हैं।

शाकल में मेनन्द्र (Menander) नाम का यूनानी राजा बड़ा विजेता

हुआ। वह बौद्ध हो गया और उसने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए भी यत्न



मेनन्द्र का सिक्का
चित, यूनानी लेख; पट, प्राकृत लेख।
[श्रीनाथ साह संग्रह]

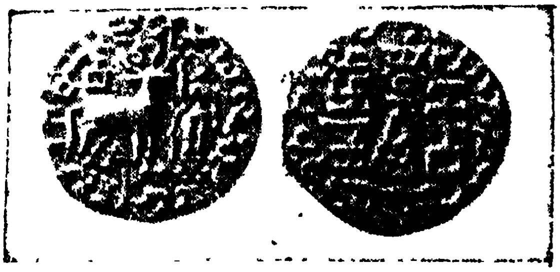


भेलसा में हेलिउदोर का गरुडध्वज जो खाम-बाबा नाम से प्रसिद्ध है।
[फोटो श्री रा० सांकृत्यायन द्वारा]

किया। उसके बौद्ध होने की कहानी मिलिन्दपञ्हो (मिलिन्द के प्रश्न) नामक पालि ग्रन्थ में दी है।

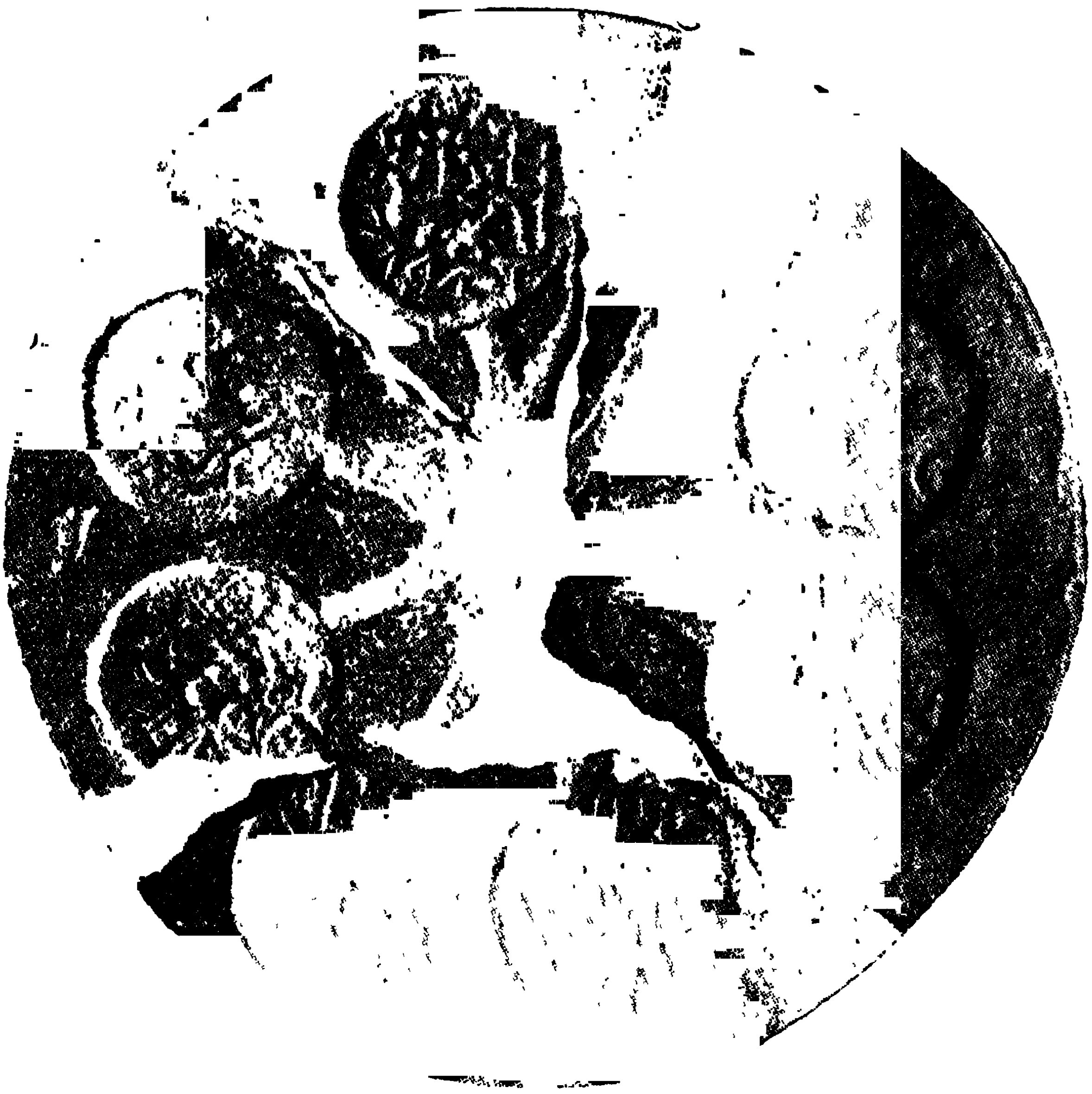
तक्षशिला के यूनानी राजा अन्तलिखित का दूत शुंग राजा के पास विदिशा में गया था। वह यूनानी दूत हेलिउदोर वासुदेव (विष्णु) का उपासक था। वासुदेव की पूजा के लिए उसने वहाँ एक गरुडध्वज बनवाया, जो गरुड की मूर्ति के बिना अब तक खड़ा है।

§७. **गण-राज्यों का पुनरुत्थान**—यूनानी राज्यों और शुंग साम्राज्य के बीच पूरबी पंजाब राजस्थान और सुराष्ट्र में बहुत से संघ-राष्ट्र फिर उठ खड़े हुए। उनके सिक्के अब तक पाये जाते हैं। संघ के बजाय अब गण शब्द चल पड़ा था, क्योंकि संघ से बौद्ध संघ समझा जाने लगा था। सतलज के काँठे और रोहतक प्रदेश में यौधेय नाम का शक्तिशाली गणराज्य था। यौधेयों के वंशज आज भी उसी इलाके में रहते



कुणिन्द गण का सिक्का
[पटना संग्र०]

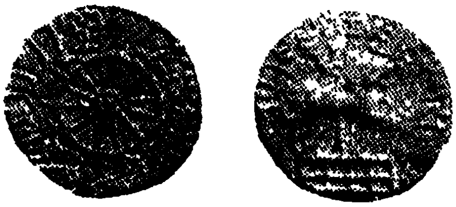
और जोहिये कहलाते हैं। कुणिन्द नाम का गण-राज्य हिमालय की तराई में





यौधेय गण के सिक्के ढालने के मिट्टी के साँचे जो उनकी रोहतक टकसाल के खँडहरों से पाये गये हैं।
[डा० बीरबल साहनी द्वारा पुनरुद्धार, श्रीमती सावित्री साहनी के सौजन्य से]

व्यास से जमना तक था। प्रसिद्ध मालव गण यूनानियों के दबाव के कारण पंजाब छोड़ कर चम्बल के काँठे में आ बसा। सुराष्ट्र में वृष्णि गण था। दक्खिन में सातवाहन वंश का राज्य बना रहा।



वृष्णिगण का सिक्का

§ ८. उज्जयिनी के लिए संघर्ष—मौर्यों के बाद भारतवर्ष के चार मंडलों में चार राजशक्तियाँ उठ खड़ी हुईं, पर पच्छिमी मंडल में ऐसी कोई शक्ति न उठी। इसी कारण उसकी राजधानी उज्जयिनी के लिए चारों तरफ की शक्तियों का आपस में संघर्ष चलता रहा। १०० ई० पू० में वहाँ एक नई शक्ति प्रकट हुई जिसका वृत्तान्त हम आगे कहेंगे।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. सातवाहन युग की अवधि कब से कब तक है? इस कालावधि का नाम सातवाहन युग क्यों है?

२. पार्थव लोग कौन थे और कहाँ रहते थे? ईरान का नाम पार्थव कब से कब तक रहा?

मौर्य साम्राज्य का विघटन कैसे हुआ और उसकी जगह कौन-कौन सी नई शक्तियाँ खड़ी हुईं?

खारवेल के विषय में आप क्या जानते हैं?

५. दिमित पुष्यमित्र और मेनन्द्र का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

६. सङ्घराज्यों को गणराज्य कब और क्यों कहने लगे? दूसरी शताब्दी ई० पू० में भारत के किस किस भाग में कौन से गणराज्यों का होना आप जानते हैं?

७. अलकसान्दर के जमाने में मालवगण कहाँ था? उसने कब वहाँ से किधर प्रवास किया?

८. यौधेयों और कुणिन्दों के गणराज्य कहाँ अवस्थित थे?

९. यवनों ने भारत में बसने पर इस देश की संस्कृति को अपना लिया था, इसके कुछ उदाहरण दीजिए।

अध्याय २

शक सातवाहन पह्लव

(लग० १०० ई० पू०—७८ ई०)

§१. **कम्बोज-वाह्लीक में ऋषिक-तुखारों का आना**—हमारे देश में जब अशोक राज कर रहा था, लगभग तभी चीन में एक बड़ा राजा हुआ, जिसने वहाँ के नौ राज्यों को जीत कर प्रायः सारे चीन* को एक कर दिया। उस राजा का नाम शीः हुआङती अर्थात् पहला सम्राट् प्रसिद्ध हुआ। चीन के उत्तर इर्तिश और आमूर नदियों के बीच हूण लोग रहते थे। वे प्रायः सभ्य चीनी राज्यों पर धावे मार कर उन्हें सताया करते थे। शीः हुआङती ने अपने देश की समूची उत्तरी सीमा पर २००० मील लम्बी मज़बूत दीवार बनवा दी जिससे हूण लोग चीन के अन्दर न घुस पायँ। तब हूणों ने पच्छिम तरफ रुख किया।

तिब्बत और मंगोलिया के बीच चीन का जो भाग गरदन की तरह निकला हुआ है वह कानसू प्रान्त है। उसके पच्छिम लोपनोर और तारीम का देश है, जिसे अब हम चीनी तुर्किस्तान कहते हैं। तुर्क और हूण एक ही नृवंश के लोग थे। कह चुके हैं [४,२§४] कि तब तक उनका घर इर्तिश के पूरब था और मध्य एशिया में वे न पहुँचे थे। कानसू से ले कर यूनान की सीमा तक (मध्य एशिया से कास्पिय और काले सागर के उत्तर होते हुए) जो जातियाँ तब रहती थीं वे सब शक परिवार की थीं। शक लोग भी आर्य थे, किंतु तब तक खानाबदोश थे। कानसू की ठीक सीमा पर शकों से मिलती जुलती एक जाति रहती थी जिसे चीनी लोग "युशि" कहते थे। हमारे महाभारत में उसी का नाम ऋषिक है। ऋषिकों के निकट पच्छिम तुखार लोग रहते थे।

---

*अर्थात् ठेठ चीन को, न कि आजकल के चीन-साम्राज्य को जिसमें मंचूरिया, मंगोलिया, चीनी तुर्किस्तान और तिब्बत भी शामिल हैं। उस युग के ठेठ चीन की दक्खिनी सीमा नान-शान पर्वत तक थी। नान-शान का शब्दार्थ है दक्खिन-पर्वत। उसके दक्खिन के क्वाङतुङ और क्वाङसी प्रान्त तब तक चीन में न समाये थे।

बाद में वे तारीम के उत्तर चले गये थे।

हूणों ने पच्छिम हट कर ऋषिकों पर चढ़ाई की (१७६ ई० पू०) और उन्हें मार भगाया। ऋषिक लोग तब लोपनोर के तट से उठ कर उत्तरपच्छिम गये और तारीम के उत्तर तुखारों के देश में जा कर उनके राजा बन बैठे। १६५ ई० पू० में हूणों ने उनपर वहाँ भी आक्रमण किया और उनके राजा को मार उसकी खोपड़ी से प्याला बना लिया। विधवा रानी के नेतृत्व में अपने ढोरों-डंगरों को हाँकते और तुखारों को भी अपने साथ खदेड़ते हुए ऋषिक तब थियानशान पर्वत को पार कर पच्छिम बढ़े। वहाँ से उनकी एक शाखा दक्खिन झुक कर कम्बोज देश अर्थात् पामीर-बदख्शाँ की तरफ बढ़ी और दूसरी शाखा ने सुग्ध दोआब में शकों की खास बस्ती पर हमला किया। उन्होंने बाख्त्री पर चढ़ाई कर वहाँ के यूनानी राज्य को भी मिटा दिया (लग० १४० ई० पू०)। ऋषिकों की अपेक्षा तुखारों की संख्या अधिक होने से तुखारों का नाम अधिक प्रसिद्ध हुआ। प्राचीन कम्बोज देश में ऋषिक-तुखारों के बस जाने से वह तुखार कहलाने लगा। यह नाम प्रायः एक हज़ार बरस तक चलता रहा।

§२. **शकों का भारत-प्रवास और सिन्ध जीतना**—सुग्ध से खदेड़े जा कर शकों ने हिन्दकोह पार नहीं किया। वे हरात से घूम कर, रास्ते में लूट-मार करते हुए, शकस्थान (सीस्तान) की पुरानी बस्ती में अपने भाईबन्दों के पास जाने लगे। हरात और शकस्थान तब पार्थव राज्य में थे, इसलिए सबसे पहले पार्थवों को उनसे वास्ता पड़ा। दो पार्थव राजा उनसे लड़ते हुए मारे गये (१२८ और १२३ ई० पू०)। तब उन राजाओं के उत्तराधिकारी राजा मिथ्रदात २य (१२३—८८ ई० पू०) ने शकस्थान में शक सरदारों के पास एक कटारी के साथ यह सन्देश भेजा कि अपने परिवारों को बचाना है तो अपने सिर काट कर भेजो, नहीं तो युद्ध में सामने आओ। उस काल उज्जैन का एक जैन साधु कालक वहाँ था। उसने शक सरदारों से कहा—क्यों मारे जाते हो, चलो, हिन्द देश को चलें। यों ६६ शक सरदार शकस्थान से हमारे सौवीर देश या सिन्ध प्रान्त में आये और उसे जीत कर यहाँ अपना राज्य स्थापित किया (ल० ११० ई० पू०)। शकों के ये सरदार शाहि कहलाते

थे और उनका सब से बड़ा राजा शाहानुशाहि।

सिन्ध में उनके पैर ऐसे जम गये कि वह हमारे देश में शकद्वीप* कहलाने लगा, और पच्छिमी लोग उसे हिन्दी शकस्थान (Indo-Skythia) कहने लगे। भारत में वह शकों का केन्द्र था, और वहीं से वे दूसरे प्रान्तों की तरफ बढ़े।

§ ३. सुराष्ट्र उत्तरी महाराष्ट्र उज्जयिनी और मथुरा में शक— सिन्ध से शकों ने सुराष्ट्र और उज्जयिनी पर चढ़ाई की। उस घटना के विषय में बहुत से आख्यान प्रसिद्ध हैं। इनके अनुसार शकों ने १०० ई० पू० में उज्जयिनी जीती, और ५७ ई० पू० तक वहाँ राज्य किया; तब प्रतिष्ठान से राजा विक्रमादित्य ने आ कर उन्हें निकाल दिया। सुराष्ट्र का वृष्णिगण का राज्य प्रकटतः शकों की चढ़ाई में ही मिट गया। इसी काल (लग० ६६–६४ ई० पू०) के नहपान नामक क्षहरात वंश के शक सरदार के सिक्के और उसके दामाद उषवदात के लेख इस प्रदेश में मिलते हैं। उषवदात ने पुष्कर के पास मालव गण को हराया। दक्खिन की तरफ नहपान का अधिकार उत्तरी महाराष्ट्र और कोंकण तक था। उसकी राजधानी भरुकच्छ (भरुच) थी। वह सिक्कों पर अपने को "महाक्षत्रप" कहता है, क्योंकि वह सिन्ध के महाराजा का क्षत्रप था। उषवदात जैन था। नासिक और जुन्नर में उसने बौद्ध भिक्षुओं के लिए पहाड़ कटवा कर कई विहार बनवाये। वैदिक ब्राह्मणों के यज्ञों के लिए भी उसने बहुत दान किये। उसके उन दानों के विषय में एक मनोरञ्जक आख्यान है जिसे हम आगे कहेंगे।

उज्जयिनी से पुष्कर होता हुआ शक राज्य मथुरा तक पहुँच गया (लग० ८० ई० पू०)। वहाँ भी शकों का क्षहरात राजवंश स्थापित हुआ। मथुरा से तब शुंग राज्य मिट गया और इससे शुंग राज्य को ऐसा धक्का लगा कि वह मगध से भी उठ गया। अन्तिम शुंग राजा से काण्व वंश के ब्राह्मण अमात्य ने राज्य छीन लिया (७३ ई० पू०)। काण्व वंश ने मगध में चार पीढ़ी राज्य किया।

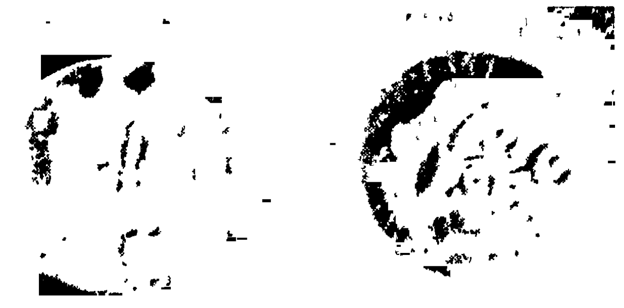
---

* द्वीप शब्द का अर्थ सदा टापू ही न होता था। प्रायः वह दोआब के अर्थ में और कभी कभी देश के अर्थ में भी आता था।

§४. **पंजाब में शक**—एक तरफ मथुरा से पूर्वी पंजाब होते हुए तथा दूसरी तरफ सिन्ध से शक विजेता सीधे गन्धार की तरफ बढ़े (लग० ६० ई० पू०)। मथुरा से आगे बढ़ने पर उनकी रोहतक प्रदेश के यौधेय गण और उसके उत्तर हिमालय तराई के कुणिन्द गण के साथ भीषण लड़ाइयाँ हुईं जिनमें बड़ी मारकाट मची। यौधेय पच्छिम हट कर सतलज तट पर जा बसे। शकों की बाढ़ में पंजाब के यवन राज्य भी बह गये। शकों के स्वात की दून तक पहुँच जाने पर भी काबुल में एक छोटा सा यूनानी राज्य तुखारों और शकों के बीच घिरा हुआ कुछ काल के लिए बचा रहा। सिन्ध से सुराष्ट्र उज्जैन के रास्ते मथुरा तक शक साम्राज्य के फैलने पर जैसे राजस्थान में अनेक गणराज्य उसके बीच टापुओं की तरह घिरे रह गये थे, वैसे ही अब दक्खिनी पंजाब में यौधेय आदि गणराज्य बने रहे।

§५. **गौतमीपुत्र शातकर्णि**—शक लोग जब अपने साम्राज्य को यों पूने से पुष्करावती तक फैला रहे थे, तब प्रतिष्ठान के सातवाहन राजा ने, जिसके राज्य का उत्तरी अंश शकों ने ले लिया था, अच्छा अवसर देख उन्हें दक्खिन से ठेलना शुरू किया। शक साम्राज्य के बीच घिरे हुए गणराज्यों ने भी सातवाहन राजा से सहयोग किया।

इस सम्बन्ध में जैन वाङ्मय में यह आख्यान है कि भरुकच्छ का राजा नहपान "कोषसमृद्ध" था, जब कि प्रतिष्ठान का शालिवाहन या सातवाहन राजा "बल-समृद्ध" (सेना में प्रबल) था। शालिवाहन ने नहपान की राजधानी पर चढ़ाई की। दो बरस उसे घेरे रखने के बाद वह निष्फल लौटा। तब शालिवाहन राजा को अपने शत्रु को हराने की नई युक्ति सूझी। उसने अपने एक अमात्य से रुष्ट होने का दिखावा किया और उसे निकाल दिया। वह अमात्य नहपान के यहाँ पहुँचा। नहपान ने उसकी बातों में आ कर उसे अपना मन्त्री बना लिया। उसके कहने से नहपान ने अपना बहुत सा धन देवमन्दिर तालाब बावड़ियाँ आदि बनवाने में खर्च कर दिया। शालिवाहन ने तब फिर भरुकच्छ पर चढ़ाई की। नहपान अपना कोष खाली होन से काफी सेना भरती न कर सका, शालिवाहन का मुकाबला न कर सका और मारा गया।



नहपान के सिक्कों पर अपना ठप्पा लगाये हुए गौतमीपुत्र के सिक्के (दुर्गाप्रसाद-संग्रह)

प्रतिष्ठान का वही राजा पीछे विक्रमादित्य नाम से प्रसिद्ध हुआ। प्रसिद्ध है कि राजा विक्रमादित्य ने प्रतिष्ठान से आ कर ५७ ई० पू० में उज्जयिनी जीती और शकों का संहार कर विक्रम संवत् चलाया। विक्रमादित्य उस राजा का विरुद था। उसका असल नाम गौतमीपुत्र शातकर्णि था। नहपान से राज्य छीनने के बाद



नासिक में गौतमीपुत्र सातकर्णि का कटवाया हुआ गुहा-विहार [भा० पु० वि०]

गौतमीपुत्र ने उसके सिक्कों को अपनी छाप लगा कर चलाया। इन सिक्कों पर चेहरा नहपान का है; उसके ऊपर ठोके हुए चिह्न गौतमीपुत्र के हैं।



शुंग-सातवाहन-युग में युद्ध का दृश्य; साँची स्तूप, पच्छिमी तोरण, पिछली तरफ़, बिचली बँडेरी पर से

गौतमीपुत्र शातकर्णि की माँ गौतमी बालश्री अपने पोते के राज्यकाल में भी अरसे तक जीवित रही। नासिक में पहाड़ काट कर बनवाये हुए एक विहार में जिसका उस वीरजननी ने दान किया था, उसका खुदवाया हुआ लेख विद्यमान है। उस लेख में उसने बड़ी संयत भाषा में अपने बेटे के कार्यों का वृत्तान्त दिया है। उस लेख के अनुसार गौतमीपुत्र ने नहपान वाले छहरात वंश को "जड़ से उखाड़" कर सातवाहन राज्य को मुक्त किया था, उसके साम्राज्य में सारा दक्खिन भारत सुराष्ट्र और गुजरात तथा राजस्थान का बड़ा भाग भी था।

"उसके वाहनों (युद्ध के घोड़ों ने) तीन समुद्रों का पानी पिया था" अर्थात् भारत के पूरब दक्खिन और पच्छिम के समुद्रों तक उसका साम्राज्य फैला था। वह अपने "पौर जनों के साथ निर्विशेष-सम-सुख दुःख" था, अर्थात् सुख-दुःख में उसका रहन-सहन अपनी प्रजा के समान था।

गौतमीपुत्र सातकर्णि ने जब उज्जैन से शकों को उखाड़ा तब मथुरा के लोगों ने भी वहाँ के शक राज्य को उखाड़ फेंका। पूरवी पंजाब के गणराज्य भी फिर स्वतन्त्र हो उठे। शक राज्य तब केवल सिन्ध और गन्धार में बाकी रहा। पच्छिमी भारत में शक साम्राज्य यों चालीस एक वर्ष ही टिक पाया।

§६. **मालव या विक्रम संवत्**—राजा विक्रमादित्य ने संवत् चलाया यह अनुश्रुति पूरी ठीक नहीं है। पुराने लेखों में उस संवत् को मालव गण का संवत् अथवा "मालव गण की स्थिति (ठहराव, मन्तव्य) से" चला हुआ संवत् कहते हैं। उसका नाम विक्रम-संवत् बहुत पीछे पड़ा। मालव गण और राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि ने इकट्ठे मिल कर उज्जयिनी में शकों को हराया और तब से वह संवत् चला। उज्जयिनी के साथ ही राजस्थान मथुरा और पूरवी पंजाब भी मुक्त हुए इससे प्रकट होता है कि इस सारी मेखला के गणराज्य गौतमीपुत्र को सहयोग दे रहे थे।

§७. **कन्दहार के पह्लव**—मिथ्रदात २य के बाद पार्थव साम्राज्य के कमज़ोर हो जाने पर पूरवी ईरान या शकस्थान में एक छोटा पार्थव राज्य अलग हो गया। पार्थव जाति को पुरानी फारसी और संस्कृत में पह्लव या पह्लव कहते थे। इन पह्लवों ने अपना राज्य शकस्थान से हरउवती की तरफ बढ़ाया, वहाँ से बढ़ कर काबुल के यूनानी राज्य को जीता और गन्धार तथा सिन्ध को भी शकों से छीन लिया (लग० २५ ई० पू०)। तब शकों का राज्य कहीं भी न रह गया। हरउवती के पह्लवों ने लगभग १५-२५ ई० तक अफगानिस्तान गन्धार और सिन्ध पर राज्य किया।

इन पह्लव राजाओं में श्पलिरिष, उसके बेटे अय या अज और अज के बेटे गुदफर या विन्दफर्न का विस्तृत राज्य रहा। श्पलिरिष ने काबुल जीता। अज और विन्दफर्न समूचे उत्तरपच्छिमी भारत के राजा थे। गन्धार को शकों

से अज ने ही जीता।

पह्लव राजा प्रायः बौद्ध थे। हिन्दकोह के दक्खिन के यूनानी सिक्कों की तरह शकस्थान के इन राजाओं के हरउवती में चलने वाले सिक्कों पर भी



अय या अज का सिक्का—घोड़े पर सवार राजा की मूर्त्ति।
[श्रीनाथ साह संग्रह]



गुंदफर का सिक्का; चित, राजा का चेहरा; पट, देवी के चौगिर्द प्राकृत लेख—'महाराज गुदफरनस त्रातारस'।

प्राकृत अवश्य लिखी रहती थी। इसका यह अर्थ है कि काबुल और कन्दहार के प्रदेश तब स्पष्ट रूप से भारत में गिने जाते थे।

§८. **सातवाहनों की चरम उन्नति**—दूसरी शताब्दी ई० पू० में भारत में चार बड़ी शक्तियाँ थीं। शक लोग पाँचवीं शक्ति के रूप में पहलेपहल पच्छिमी मंडल में प्रकट हुए। कलिंग का राज्य शकों से पहले ही क्षीण हो गया था। मध्यदेश के शुंग राज्य और उत्तरापथ के यूनानी राज्यों को शकों ने मिटा दिया। तब केवल दो शक्तियाँ बचीं, एक शक, दूसरे सातवाहन। पहले सातवाहनों को कुछ दबना पड़ा, पर पीछे उन्होंने शकों को "जड़ से उखाड़ दिया।" उसके बाद ५७ ई० पू० से सातवाहनों की शक्ति बढ़ती ही गई।

गौतमीपुत्र का बेटा वासिष्ठीपुत्र पुळुमावी भी योग्य राजा हुआ। उसने अन्दाज़न ४४ से ८ ई० पू० तक राज किया। २८ ई० पू० में सातवाहनों ने काण्व राजा से मगध और मध्यदेश भी जीत लिया। प्रायः तभी रोम में गण-राज्य के स्थान में साम्राज्य स्थापित हुआ। रोम साम्राज्य की पूरबी सीमा फारिस

की खाड़ी पर पार्थव साम्राज्य से लगती थी, क्योंकि यूनान मिस्र और पच्छिमी एशिया के सब यूनानी राज्य उसमें सम्मिलित हो चुके थे। पुळुमावी ने रोम-सम्राट् औगुस्त (स्) के पास दूत भेज कर प्रस्ताव किया कि दोनों मिल कर पार्थव राज्य को जीत लें। किन्तु वैसा हुआ नहीं।

प्रायः सौ बरस तक सातवाहन उत्तरपच्छिमी अंश को छोड़ सारे भारत के सम्राट् रहे। उनकी दक्खिनी सीमा तमिळ राष्ट्रों तक थी, और वे राष्ट्र भी उनके प्रभाव में रहते थे। सातवाहनों का दरबार विद्या का केन्द्र बन गया। सातवाहन युग की समृद्धि अद्वितीय थी। भारतवर्ष के सुदूर कोनों में जो छोटे-मोटे राष्ट्र उनके साम्राज्य के बाहर बचे हुए थे, वे भी प्रत्येक बात में सातवाहन साम्राज्य का अनुकरण करते थे। इस युग के सातवाहनों में से राजा हाल का नाम बहुत प्रसिद्ध है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. हूण ऋषिक और तुखारों के मूल स्थान कहाँ थे?

२. कम्बोज देश तुखार देश कब और कैसे बना?

३. आधुनिक सिन्ध प्रान्त का नाम शकद्वीप कब और कैसे पड़ा?

४. सुग्द किस देश का नाम था? शकों के वहाँ से भारत तक प्रवास का मार्ग क्या था?

५. विक्रम संवत् किस घटना से आरंभ हुआ और उसका प्रवर्त्तक कौन था?

६. गुदफर किस वंश का था और किस प्रदेश पर शासन करता था?

७. निम्नलिखित का संक्षिप्त परिचय लिखिए—

ऋषिक, नहपान, हरउवती, उपवदात और गौतमी बालश्री।

अध्याय ३

ऋषिक और सातवाहन

(लग० २५ ई०—२१० ई०)

§१. तारीम काँठे में चीन और हिन्द का मिलना—लोप झील पर हूणों के आ बसने पर भी सीता तारीम काँठे के आर्यावर्त्ती उपनिवेश, जो

अशोक के काल से वहाँ स्थापित होने लगे थे, पनपते रहे। खोतन की अनुश्रुति के अनुसार वहाँ राजा विजयसम्भव के प्रशासन में आर्य वैरोचन ने खोतन के पशुपालकों को पहलेपहल लिखना सिखाया। इसका यह अर्थ है कि उसने वहाँ के स्थानीय लोगों की भाषा को ब्राह्मी लिपि में लिखने की प्रथा चलाई। आधुनिक विवेचकों के मत से राजा विजयसम्भव अशोक के प्रायः एक शताब्दी बाद हुआ था। यों जब कि इस देश की आदिम जातियाँ पच्छिम तरफ फैल रहीं थी तभी उनके अपने देश में भारतीय सभ्यता की पौध लग रही थी।

पर हूणों ने चीन का पच्छिमी दरवाजा घेर लिया यह बात चीन के सम्राटों को गवारा न हुई। उन्होंने अपने पुराने पड़ोसी ऋषिकों से हूणों के विरुद्ध सहायता लेनी चाही, और इस विचार से चाङ-किएन नामक दूत को ऋषिकों के पास भेजा (१३८ ई० पू०)। रास्ते में दस बरस हूणों की कैद काटने के बाद १२७ ई० पू० में वह वंक्षु के किनारे ऋषिक डेरे में पहुँचा। बलख के बाजार में उसने चीन का रेशम और बाँस की बनी चीजें बिकती देखीं, और पूछा कि वे कहाँ से आई हैं। तब उसे मालूम हुआ कि हिन्दकोह के दक्खिन तरफ 'शिन्तु' (सिन्धु, हिन्द) नाम का विशाल और सभ्य देश है, जिसके आरपार हो कर वह माल आता है। किरात लोग असम के रास्ते चीन और भारत की वस्तुओं का विनिमय करते थे, पर दोनों देशों के शिक्षित लोग तब तक न जानते थे कि वे ठीक कहाँ से वह माल लाते हैं। इधर उत्तर की तरफ चीन के कानसू और भारत के कम्बोज देश के बीच केवल तारीम नदी का लम्बा काँठा था, जो ऋषिकों और तुखारों का मूल निवासस्थान था, और जिसके पूरबी छोर तक भारतीय बस्तियाँ पहुँच गई थीं। चाङ-किएन उसके इस पार निकल आया था, जहाँ से आगे 'शिन्तु' और पार्थव देशों को रास्ते जाते थे। इस प्रकार सभ्य जगत् के पूरबी और पच्छिमी भाग, जो अढ़ाई हज़ार बरस से एक दूसरे के लिए अन्धेरे में पड़े थे, प्रकाश में आ गये।

चाङ-किएन के वापिस पहुँचने पर चीन के सम्राट् ने अपने इस पच्छिमी रास्ते को खुला और सुरक्षित रखने का पक्का निश्चय कर लिया। १२७ से ११६ ई० पू० तक चीनी सेनाओं ने हूणों को मंगोलिया के उत्तर तक

मार भगाया। ऋषिक-तुखारों को अपना पुराना देश भी वापिस मिला। १०२ ई० पू० में एक चीनी सेना सीर की उपरली दून में फरगाना (खोकन्द) तक समूचे मध्य एशिया को जीतती चली आई।

कानसू और कम्बोज के बीच के इस देश को चीन वालों ने दूसरी शताब्दी ई० पू० के अन्त में जब पार किया, तब यहाँ ३६ छोटे छोटे राज्य थे—कुछ भारतीय उपनिवेशकों के और कुछ स्थानीय सरदारों के। हम देख चुके हैं कि भारतीय बस्तियाँ वहाँ उसके डेढ़ शताब्दी पहले—अशोक के काल—से ही बस रही थीं। चीनियों के आने से पहले तारीम काँठे में भारतीय बस चुके थे इससे चीनियों ने वहाँ के बहुत से स्थानों के नाम भारतीयों से ही लिये। सीता (यारकन्द) नदी के भारतीय नाम को अपना कर चीनी उसे अब तक सीतो कहते हैं। चीनसम्राट् ने सीता-तारीम काँठों के सब राज्यों से सम्पर्क किया।



शुंग-सातवाहन-युग में गढ़ पर चढ़ाई का दृश्य; साँची स्तूप, दक्खिनी तोरण, पिछली तरफ ऊब से निचली बँडेरी पर से

खोतन के राज्य ने चीन से सहर्ष मैत्री कर ली। अन्य सब राज्यों पर भी चीन सम्राट् ने अपना प्रभाव जमा लिया। इसके बाद तारीम के काँठे में भारत और चीन दोनों का प्रभाव जारी रहा, इसलिए आधुनिक विद्वान् उस देश को प्राचीन इतिहास में 'चीन-हिन्द' (Ser-india) कहते हैं। 'चीन-हिन्द' या ऋषिक-तुखारों के देश में ऋषिकों के हूणों से भगाये जाने के बाद एक शताब्दी के अन्दर (१६५–६५ ई० पू०) दो बड़ी बातें हो गईं। एक तो यह कि ऋषिक-तुखार लोग इस अरसे में बहुत कुछ सभ्य हो गये, और दूसरे उस देश के द्वारा चीन और भारत का परस्पर सम्बन्ध स्थापित हो गया।

§ २. **कुषाण कफ्स**—अब धीरे-धीरे ऋषिक लोग हिन्दकोह के इस पार भी उतरने लगे। खास कर कम्बोज देश से पूरबी हिन्दकोह के घाटों को पार कर चितराल स्वात और सिन्ध की दूनों में हो कर वे सीधे उत्तरी गन्धार में आ निकले। जैसे अशोक के काल में गन्धार के लोग हिमालय पार कर सीता के काँठे में जा बसे थे, वैसे अब सीता काँठे के लोग गन्धार में आ बसे।

हिन्दकोह के दक्खिन उनकी पाँच छोटी-छोटी रियासतें बन गईं। कुछ काल बाद कुषाण* कफ्स नाम का शक्तिशाली व्यक्ति उनमें से एक का सरदार हुआ। उसने बाकी चारों रियासतों को भी जीत कर अपने राज्य में मिला लिया। यह घटना उस काल की है जब हरउवती के पह्लव राजा काबुल को जीत रहे थे। कुषाण कफ्स तब चुप रहा, और अवसर की प्रतीक्षा करता रहा। ऋषिकों का एक बड़ा राज्य स्थापित होने की सूचना देने को उसने अपने दूत चीन भेजे, जिनके हाथ बौद्ध धर्म की एक पोथी पहलेपहल चीन पहुँची (२ ई० पू०)। पह्लव राज्य के कमज़ोर होने पर उसने समूचे अफगानिस्तान कपिश और पीछे पच्छिमी-पूरबी गन्धार (पुष्करावती, तक्षशिला) को क्रमशः जीत लिया। बलख और कम्बोज तथा चीन-हिन्द के कुछ भाग पर तो उसका अधिकार पहले ही से

*यह माना जाता रहा है कि कुषाण ऋषिकों की एक खाँप थी, अतः वह कफ्स (१म) के वंश का नाम है। स्व० जायसवाल जी का कहना था कि कुषाण उस राजा का व्यक्तिगत नाम था। उसके वंशजों और उत्तराधिकारियों को भी साधारणतः कुषाण कह दिया जाता है।

था। उसके राज्य की पच्छिमी सीमा अब पार्थव राज्य से लगने लगी। दीर्घ शासन के बाद अस्सी बरस की आयु में उसकी मृत्यु हुई (लग० ४० ई०)। उसकी राजधानी हिन्दकोह के उत्तर तरफ बदख्शाँ में ही रही।

§३. **ऋषिक-सातवाहन-युद्ध**—कुषाण कफ्स का उत्तराधिकारी उसका बेटा विम कफ्स हुआ। उसका राज्यकाल अन्दाज़न ४०-७८ ई० है। कुषाण बौद्ध था, पर विम शैव। उसने समूचे पंजाब को जीता, और आगे दक्खिन और पूरब बढ़ने का यत्न भी किया। उसकी राजधानी बदख्शाँ में ही रही।



विम कफ्स का सिक्का
चित, राजा विम अग्नि में आहुति देते हुए; पट, नन्दी के सहारे खड़े शिव। [श्री० सा० सं०]

भारत के अधिकतर लोगों ने ऋषिकों को भी शक ही कहा, क्योंकि इनकी भाषा शकल-सूरत और वेष-भूषा शकों की सी थी। और जब विम कफ्स गन्धार से पूरब और दक्खिन बढ़ने लगा तब सवा सौ बरस पुराना शक सातवाहन युद्ध फिर छिड़ गया। हमारे ज्योतिष ग्रन्थों की अनुश्रुति है कि विक्रमादित्य के शकों को जीत कर विक्रम-संवत् चलाने के बाद उसके वंश में राज्य बना रहा, किन्तु १३५ बरस बाद उसके वंशज शालिवाहन को फिर शकों से लड़ना पड़ा। शालिवाहन ने शक राजा पर पूरब से चढ़ाई की, उसे भगा कर उसका पीछा किया तथा मुलतान के पास करोड़ नामक स्थान पर उसे लड़ाई में मार डाला। तबसे शालिवाहन-शकाब्द चला।

मुलतान प्रदेश के बड़े बूढ़े इसी ख्यात को यों सुनाते हैं कि रावलपिंडी की तरफ का राजा सिरकप था, जिसका बेटा रिसालू था। रिसालू ने पंजाब के

लोगों को पीडित किया, तब उन्होंने राजा शालिवाहन से सहायता माँगी। शालिवाहन विक्रमादित्य का वंशज था। उसने पूरब से रिसालू पर चढ़ाई की। करोड़ की लड़ाई में रिसालू मारा गया।† 'सिरकप' का अर्थ अब कहानी सुनाने वाले करते हैं—सिर काटने वाला, पर वास्तव में वह 'श्री कफस' का रूपान्तर है। तक्षशिला का जो भीटा कुषाण और विम कफस के काल का है, वह अब सिरकप की ढेरी कहलाता है। रिसालू ऋषिक का तुच्छता-सूचक रूप है। सिरकप के बेटे रिसालू का अर्थ है कुषाण कफस का बेटा विम जो कि ऋषिक था।

सतलज के काँठे में यौधेयों का बड़ा गणराज्य था। करोड़ उन्हीं के प्रदेश में था। जान पड़ता है रिसालू विम ने जब उनपर चढ़ाई की और वे अकेले उसका सामना न कर सके तब उन्होंने शालिवाहन राजा को सहायता के लिए बुलाया।

जिस शालिवाहन या सातवाहन राजा ने करोड़ की लड़ाई में विम को हराया और मारा, वह भी विक्रमादित्य कहलाया। अनुमान है कि उसका अपना नाम कुन्तल सातकर्णि था और पहले विक्रमादित्य से भेद करने के लिए उसे विषमशील विक्रमादित्य कहा गया*। उसके साम्राज्य में दक्खिन और उत्तर भारत का मुख्य भाग तथा सुराष्ट्र भी था। राजा विषमशील विक्रमादित्य की रानी मलयवती जब उससे संस्कृत बोलती तब वह उसकी बात ठीक समझ न पाता, क्योंकि उस ज़माने में बोलचाल की भाषा प्राकृत थी। मन्त्री शर्ववर्मा ने तब राजा के लिए कातन्त्र नाम का व्याकरण लिखा जिससे संस्कृत सुगमता से सीखी जा सके। कश्मीर की तरफ का लेखक गुणाढ्य इस विक्रमादित्य के दरबार में आया और शर्ववर्मा ने उसका राजा से परिचय कराया। गुणाढ्य ने बृहत्कथा नाम की सुन्दर कहानियों की बड़ी पोथी लिखी जिसमें विषमशील विक्रमादित्य की कहानी भी थी।

---

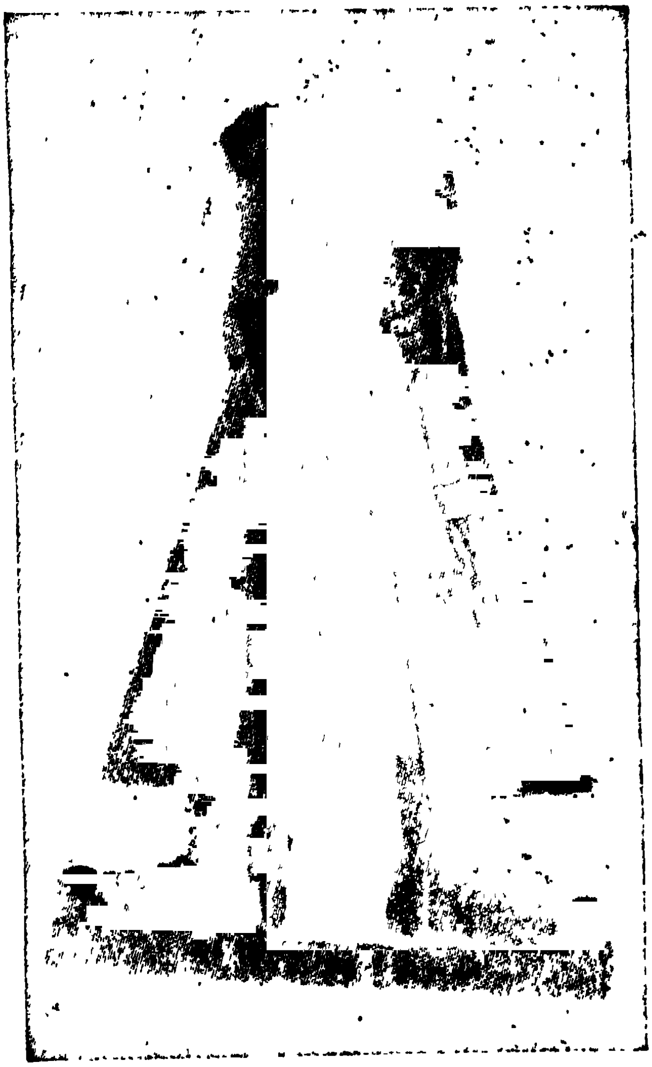
† पंजाब के अन्य भागों में सिरकप रिसालू और शालिवाहन की कहानी अन्य अनेक रूपों में चलती है, तो भी शालिवाहन और रिसालू का सम्पर्क उसके सभी रूपों में आता है।

§४. **मध्य एशिया में खोतन और चीन का साम्राज्य**—रिसालू विम जब पूर्वी पंजाब की ओर अपना राज्य बढ़ा रहा था तभी (६० ई० से) चीन-हिन्द के छोटे छोटे भारतीय राज्यों में से खोतन राज्य शक्तिशाली हो उठा और नीया से काशगर तक के १३ राज्यों को उसने अपने आधिपत्य में कर लिया। तभी चीन की ओर से पानछाओ नामक सेनापति चीनहिन्द में आया। उसने खोतन से मैत्री कर ली और उसके सहयोग से वहाँ के सब राज्यों को अधीन कर तारीम के उत्तर तरफ कुचि को अपना अधिष्ठान बनाया (७३–१०२ ई०)। पानछाओ ने सारे पच्छिमी मध्य एशिया को भी जीत कर कास्पी सागर के तट पर चीन का झंडा जा गाड़ा, जिससे रोम और चीन साम्राज्यों की सीमाएँ एक दूसरे के बहुत निकट आ गईं। पर १०२ ई० के बाद मध्य एशिया से चीनी शक्ति की बाढ़ एकाएक उतर गई। तब खोतन का राज्य ही पूरबी मध्य एशिया में सबसे अधिक शक्तिशाली रहा।

§५. **देवपुत्र कनिष्क**—करोड़ की लड़ाई के बाद सातवाहन सम्राट् का प्रभाव पंजाब तक पहुँच गया, पर उसने पंजाब को अपने साम्राज्य में मिलाया नहीं। पंजाब के छोटे छोटे राज्य और गणराज्य स्वतंत्र हो गये; गन्धार अर्थात् उत्तरपच्छिमी पंजाब में ऋषिक सरदार बने रहे।

तभी ऋषिकों की एक छोटी खाँप में राजा कनिष्क हुआ। उसने खोतन के राजा विजयकीर्त्ति और कुषाण-वंशी राजा के साथ मिल कर फिर उत्तर भारत पर चढ़ाई की। विजयकीर्त्ति विजयसम्भव के ही वंश का था। गन्धार से करोड़ के आसपास यौधेयों के देश तक समूचा पंजाब उन्होंने जीत लिया। तब पूरब बढ़ते हुए मथुरा और साकेत (अयोध्या) को लिया और फिर पाटलिपुत्र पर चढ़ाई कर वहाँ के राजा को हराया। पाटलिपुत्र के राजा से कनिष्क ने पहले तो सात लाख का हरजाना माँगा, पर पीछे वह बौद्ध विद्वान् कवि अश्वघोष को और भगवान् बुद्ध के कमण्डलु को पा कर संतुष्ट हो गया और उन्हें ले कर लौट आया। मध्यदेश और मगध पूरी तरह कनिष्क के हाथ में आ गये और वहाँ उसके क्षत्रप राज करने लगे। मगध में उसका क्षत्रप वनस्पर था जिसके वंशज अब बनाफरे राजपूत कहलाते हैं।

मध्यदेश से कनिष्क का आधिपत्य, जान पड़ता है, नेपाल पर भी पहुँचा। नेपाल में मूलतः किरात लोग रहते थे। वह अशोक के साम्राज्य के अन्तर्गत था, और अशोक की बेटी और दामाद वहाँ जा बसे थे, तो भी किरातों का राजवंश वहाँ साम्राज्य के अधीन बना रहा था। लग० ११० ई० में वह राजवंश मिट गया और कनिष्क वंश के सिक्के नेपाल में चलने लगे।



मथुरा के पास माट गाँव से पाई गई कनिष्क की खंडित मूर्त्ति
[मथुरा संग्र०, भा० पु० वि०]

कनिष्क ने पुष्करावती से कुछ हट कर पुरुषपुर (पेशावर) बसाया और बदख्शाँ से अपनी राजधानी वहीं उठा लाया। उत्तर भारत अफगानिस्तान और मध्य एशिया में दूर तक फैले उसके साम्राज्य के बीचोंबीच वह नगर पड़ता था।

ईरान के पार्थव राजा ने अफगानिस्तान में कनिष्क के राज्य पर चढ़ाई की। घोर युद्ध के बाद कनिष्क ने उसका पराभव किया। चीन-हिन्द के सब राज्यों पर आधिपत्य स्थापित कर कनिष्क ने अपनी साम्राज्यसीमा ठेठ चीन से लगा दी। चीन की पीली नदी के काँठे के एक राजा को हरा कर उसने उसके बेटों को ओल रक्खा। चीन-हिन्द के अतिरिक्त वंक्षु-सीर-काँठों की तथा वंक्षु के पच्छिम अराल और कास्पी समुद्रों तक की सब ऋषिक बस्तियों को भी अपने साम्राज्य में लाने की उसने चेष्टा की। उसकी मृत्यु किसी उत्तरी देश में युद्ध करते हुए ही हुई। कहते हैं उन्हीं चढ़ाइयों में से एक में जब कि वह पामीर के उत्तर वाले पहाड़ी घाटे को लाँघ चुका तथा बीमारी से

पड़ा था, तब एक रात उसके युद्धों से थके सैनिकों ने उसे कम्बलों से ढक दिया और एक सैनिक उसके ऊपर बैठ गया जिससे वह दम घुट कर मर गया।

दूसरी शताब्दी ई० और बाद के अनेक राजकीय लेख चीन-हिन्द से मिले हैं। उनकी भाषा गन्धार की प्राकृत है। कनिष्क की राजधानी गन्धार में होने और कनिष्क का राज्य चीन-हिन्द तक फैला होने से गान्धारी प्राकृत का वहाँ की राजभाषा हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था।

कनिष्क ने अपना संवत् भी चलाया जिसका आरम्भ लग० ११० ई० में होता है।* उस संवत् के १ से २३वें वर्ष तक के लेख पाये गये हैं। पेशावर और अन्य स्थानों में कनिष्क ने अनेक स्तूप विहार आदि बनवाये। अपनी राजधानी को उसने सातवाहनों की तरह विद्या का केन्द्र बनाया। महाकवि और दार्शनिक अश्वघोष के अतिरिक्त आयुर्वेद का प्रसिद्ध आचार्य चरक भी उसकी सभा में था। कनिष्क की प्रेरणा से बौद्धों की चौथी संगीति कश्मीर में श्रीनगर के पास हुई। अशोक की तरह कनिष्क ने भी दूर दूर तक बौद्ध धर्म का प्रचार करवाया। उसका नाम आज भी तिब्बत खोतन और मंगोलिया तक याद किया जाता है। उसके सिक्कों पर उसका नाम कनिष्क शाहानुशाह अर्थात् शाहों का शाह लिखा होता है। चीनी सम्राटों की नकल कर कनिष्क अपने को देवपुत्र भी कहता था, और रोम सम्राट् की नकल कर कइसर भी।

§६. उज्जयिनी में नये शक वंश की स्थापना—मध्यदेश और मगध ऋषिक राजा के हाथ आ जाने के बाद जब सातवाहन साम्राज्य दक्खिन तक सीमित रह गया तब फिर शकों सातवाहनों का संघर्ष उज्जयिनी के क्षेत्र में जा पहुँचा। भारत का उत्तरापथ और मध्यदेश कनिष्क ने स्वयं जीते थे, पर पश्चिम देश को जीतने का काम अपने एक निकट सम्बन्धी षस्तन या चष्टन को सौंप दिया था। सिन्धु-सौवीर (डेरागाज़ीखाँ और सिन्ध प्रदेश) कच्छ सुराष्ट्र अवन्ति आदि को जीत कर वहाँ राजाधिराज के महाक्षत्रप रूप में

---

* परिशिष्ट २।

स्थापित होना चष्टन का ज़िम्मा था। सुराष्ट्र अवन्ति आदि जनपद अरसे से सातवाहन साम्राज्य में चले आते थे। चष्टन एक बार इन जनपदों को जीत कर उज्जैन में महाक्षत्रप बन बैठा (लग० १२० ई०)। किन्तु पीछे राजा गौतमीपुत्र पुळोमावी ने अवन्ति और सुराष्ट्र वापिस ले लिये।

§७. कनिष्क के वंशज, शक रुद्रदामा और यज्ञश्री शातकर्णि— कनिष्क के बाद उसके वंश में क्रमशः सम्राट् वासिष्क (ज्ञात तिथियाँ संवत् २४–२८) हुविष्क (संवत् ३३–६०) और वासुदेव (संवत् ७४–९८) हुए। हुविष्क के राज्यकाल के बीच सं० ४१ का वाझेष्कपुत्र कनिष्क का भी लेख मिला है। इस कनिष्क २य की ठीक स्थिति क्या थी सो एक समस्या है। सब मिला कर कनिष्क वंश ने भारत के मध्यदेश में एक शताब्दी राज किया और उस अवधि में उनका भारत और मध्य एशिया का साम्राज्य प्रायः ज्यों का त्यों बना रहा।



हुविष्क का सिक्का
[श्रीनाथ साह संग्रह]

उज्जयिनी में चष्टन के बेटे ने राज्य नहीं किया। उसके पोते रुद्रदामा को अपनी बेटी सातवाहन राजकुमार (गौतमीपुत्र पुळोमावी के बेटे वासिष्ठीपुत्र चकोर सातकर्णि) को ब्याह में देनी पड़ी। रुद्रदामा का राज्य तब केवल कच्छ और सिन्धु-सौवीर में रहा होगा। प्रायः बीस बरस पीछे, गौतमीपुत्र पुळोमावी की मृत्यु के बाद, रुद्रदामा ने सुराष्ट्र और अवन्ति पर फिर चढ़ाई की और "दक्षिणापथ-पति सातकर्णि को दो बार खुली लड़ाई में जीत कर भी निकट सम्बन्ध के कारण नहीं उखाड़ा।" सुराष्ट्र साबरमती-काँठा मारवाड़ अवन्ति आदि जनपद रुद्रदामा के अधीन हो गये। उन जनपदों की प्रजा ने उसे "रक्षण के लिए पति रूप में वरा" और यों रुद्रदामा ने महाक्षत्रप पद पाया। उसने अपनी उस ज़िम्मेदारी को ऐसी तत्परता से निबाहा कि "डाकू जंगली जानवर रोग आदि ··· कभी उन जनपदों और (उनके) नगरों को छू नहीं पाते थे," और "लगातार ठीक ठीक न्याय करते हुए दृढ धर्मानुराग का" परिचय दिया,

जिससे प्रजा उसके प्रति अनुरक्त रही। उसने "युद्ध के सिवाय मरते दम तक कभी पुरुष का वध न करने की अपनी प्रतिज्ञा को सत्य कर दिखाया" था।

रुद्रदामा के राज्य की उत्तरी सीमा पर सतलज के काँठे में करोड़ प्रदेश (आजकल की बहावलपुर रियासत) में यौधेय गण का राज्य था। रुद्रदामा गर्व से कहता है कि "सब क्षत्रियों में प्रसिद्ध हुई अपनी वीर पदवी के कारण अभिमानी बने हुए और किसी तरह काबू न आने वाले यौधेयों को" भी उसने "ज़बरदस्ती उखाड़ डाला।" जब दिमेत्रिय और उसके बाद के यूनानी राजाओं ने पंजाब-सिन्ध को जीता, और जब शकों ने सिन्ध से गन्धार और मथुरा से



चष्टन
सिक्के पर से बढ़ाया हुआ चित्र



रुद्रदामा
सिक्के पर से बढ़ाया हुआ चित्र

शाकल (स्यालकोट) तक विजय किया, तब जान पड़ता है वे यौधेय गण को कभी अधीन न कर सके थे, इसीसे यौधेयों की वीरता की प्रसिद्धि सारे भारत में हो गई थी। पर अब दूसरी शताब्दी ईसवी में कनिष्क वंश के साम्राज्य और रुद्रदामा के राज्य के बीच यौधेय मानो चक्की के दो पाटों के बीच फँस कर कुचले गये।

सुराष्ट्र में गिरनार के पहाड़ में चन्द्रगुप्त मौर्य ने जो बाँध बनवाया था, रुद्रदामा के राज्य-काल में बहुत अधिक वर्षा के कारण वहाँ की सब नदियों में

बाढ़ आ जाने से वह टूट गया। अतिवृष्टि और बाढ़ से फसलें पहले ही बह गई थीं। उसपर यह सिंचाई का साधन भी नष्ट हो जाने से प्रजा में हाहाकार मच गया। रुद्रदामा ने अपने "मति-सचिवों" और "कर्म-सचिवों" (राज्य की नीति के बारे में सलाह देने वाले सभासदों और शासन चलाने में हाथ बँटाने वाले अमात्यों) से सलाह ली तो उनमें से किसी को उस बाँध को फिर से बनवाने की हिम्मत न हुई। पर रुद्रदामा ने उसे फिर बनवा ही डाला, और प्रजा से किसी प्रकार का अतिरिक्त कर या बेगार लिये बिना बनवाया। उसी के सम्बन्ध उसने सुन्दर संस्कृत गद्य में अपना जो लेख अशोक वाली चट्टान पर खुदवाया, उसी से हम उसके इतिहास की ये सब बातें जान पाये हैं।

रुद्रदामा के पीछे शक क्षत्रपों से सातवाहनों ने फिर कई प्रदेश ले लिये। दूसरी शताब्दी ई० के पिछले भाग में यज्ञश्री शातकर्णि नामक सातवाहन राजा बड़ा शक्तिशाली हुआ।



यज्ञश्री शातकर्णि सिक्के पर से बढ़ाया हुआ चित्र

§८. तमिळ और सिंहल राष्ट्र—गौतमीपुत्र शातकर्णि और वासिष्ठीपुत्र पुळमावी के प्रशासनों में सातवाहनों का नियन्त्रण भारत के दक्खिनी समुद्र तक था। उसके बाद भी अरसे तक वह जारी रहा दीखता है। किन्तु जब सातवाहनों को उत्तर और पच्छिम भारत में ऋषिक-शकों के साथ उलझना पड़ा तब उनका तमिळ राष्ट्रों पर नियन्त्रण ढीला पड़ गया। ठीक कनिष्क के काल से वहाँ के स्थानीय राज्य सिर उठाने लगे।

दूसरी शताब्दी ई० के आरम्भ में चोल राजा करिकाल हुआ, जिसने सब तमिळ राष्ट्रों और सिंहल पर भी अपनी प्रभुता जमाई। उसकी राजधानी कावेरी नदी पर उरगपुर या उरैपुर (आधुनिक तिरुचिरप्पली = 'त्रिचनापली') थी। कावेरी के बाँध बनाने के लिए उसने सिंहल कैदियों से काम लिया और कावेरी के मुहाने पर कावेरीपट्टनम् बन्दरगाह बसाया। उस पट्टन में एक मन्दिर सातवाहन का भी था, जिसमें सातवाहन की पूजा होती थी! इससे प्रकट होता है कि

सातवाहन राजाओं का तमिळ देश पर कितना प्रभाव रह चुका था।

करिकाल के बाद कुछ काल तक चेर राज्य सब तमिळ राष्ट्रों में प्रमुख रहा। फिर पांड्यों की प्रधानता रही। सिंहल राजा गजबाहु (११३-१३५ ई०) ने चोल देश पर चढ़ाई कर न केवल सिंहल कैदी छुड़ाये, प्रत्युत तमिळ कैदियों को ले जा कर उनसे अपने देश में सिंचाई के बाँध बनवाये।

चोल देश का उत्तरी आधा भाग जिसकी राजधानी काञ्ची (काञ्जीवरम्) थी, सातवाहनों के अधीन ही रहा। यज्ञश्री के काञ्ची वाले सिक्कों पर दो मस्तूलों वाला जहाज बना रहता है, जो उसकी समुद्री शक्ति को सूचित करता है।

इन सब तमिळ और सातवाहन राजाओं ने समुद्री डाकुओं का दमन कर विदेशी व्यापार को खूब बढ़ाया। कर्णाटक के पच्छिमी समुद्रतट पर जहाँ सातवाहन साम्राज्य और केरल राज्य की सीमाएँ लगतीं या एक दूसरे के निकट पहुँचतीं, वहाँ प्रायः समुद्री चाँचियों का अड्डा रहता। नदी के मुहाने में आणी-कट-बाँध बनवा कर सिंचाई के लिए पानी काटने का तरीका भी इन्हीं राजाओं ने चलाया।

परिशिष्ट २

कनिष्काब्द शकाब्द और प्राचीन शकाब्द

अनेक भारतीय विद्वानों ने कनिष्काब्द का आरम्भ ७८ ई० में अर्थात् कनिष्काब्द को प्रचलित शकाब्द मान लिया है। इसके अनुसार कनिष्क का राज्यकाल ७८ से १०१ ई० तक रहा। चीन-हिन्द और चीन के इतिहास को देखते हुए वैसा होना असम्भव है, क्योंकि ७३ से १०२ ई० तक चीन-हिन्द में पानछाओ बैठा था, जब कि कनिष्क का आधिपत्य वहाँ न हो सकता था। दूसरी तरफ, यह निश्चित है कि कनिष्क का आधिपत्य चीन की सीमा तक था, और पीली नदी (होआङ् हो) काँठे के किन्हीं राजकुमारों को उसने ओल रक्खा था। ये राजकुमार गर्मियों में कापिशी में, पतझड़ और वसन्त में तक्ष-शिला में और जाड़ों में मध्य पंजाब में रक्खे जाते थे, जहाँ इनके लिए विहार

बनवाये गये थे। मध्य पंजाब के उस प्रदेश का नाम ही उनके कारण चीन-भुक्ति हो गया था। सातवीं शताब्दी तक वे विहार और कापिशी वाले विहार की दीवारों पर चीनी शैली के चित्र विद्यमान थे जिन्हें चीनी यात्री य्वान च्वाङ ने देखा था।

विम कफ्स के बाद भारत में का ऋषिक राज्य नष्टप्राय हो जाने पर कनिष्क ने, जो कि ऋषिकों की छोटी शाखा का था, उसे पुनःस्थापित किया, यह बात ऊपर खोतनी और चीनी वृत्तान्तों के अनुसार दी गई है। उस काल के सिक्कों से विम और कनिष्क के बीच का व्यवधान २५-३० वर्ष का प्रतीत होता है, जिससे कि उक्त खोतनी चीनी वृत्तान्तों की पुष्टि होती है। यों कनिष्क का प्रशासन यदि ७८ ई० में आरम्भ हो तो विम का लग० ५० ई० में समाप्त होना चाहिए, पर वह बात शक-पह्लव-ऋषिकों के पिछले समूचे इतिहास को देखते हुए असम्भव है।

भारतीय शकों पह्लवों और ऋषिकों के पहले लेखों में भी अनेक तिथियों के उल्लेख हैं। पहलेपहल सन् १९०८ में श्री राखालदास बनर्जी ने यह कहा कि वे सब तिथियाँ एक ही पुराने संवत् की होनी चाहिएँ, जिसका आरम्भ लग० १०० ई० पू० में होना चाहिए। स्वीडन के संस्कृत-विद्वान् डा० स्टेन कोनौ ने उस प्राचीन शकाब्द का आरम्भ ८३ ई० पू० में माना। उन्होंने उत्तरपच्छिम के खरोष्ठी लेखों की सब तिथियाँ उस संवत् में मानीं, पर महाराष्ट्र के नहपान और उषवदात के एवं मथुरा के शकों के ब्राह्मी लेखों की तिथियों को उस शृंखला से अलग रक्खा। १९३०-३१ में श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने ८३ ई० पू० में प्राचीन शकाब्द का आरम्भ मानने की त्रुटियाँ दिखाते हुए लग० १२३ ई० पू० में उसका आरम्भ रक्खा और महाराष्ट्र मथुरा के लेखों की तिथियों को भी उसी संवत् की मान कर इतिहास की व्याख्या की। उक्त समूचे विवाद का सार यहाँ नहीं दिया जा सकता, केवल यही कहा जा सकता है कि उक्त विद्वानों की विवेचना के बाद जायसवालजी की स्थापना से समूचे शक-पह्लव-ऋषिक इतिहास की घटनावली बहुत सुलझे रूप में प्रकट हुई।

किन्तु जायसवालजी की उस इतिहास-व्याख्या के बाद भी दो-एक छोटी

गुत्थियाँ बाकी रह गईं। प्राचीन शकसंवत् के १२२वें वर्ष से पहले पेशावर में तथा १३६वें वर्ष से पहले तक्षशिला में विन्दफर्न पह्लव के स्थान में कुषाण कफस का राज्य आ चुका था। यदि उस संवत् का आरम्भ १२३ ई० में हुआ हो तो ये बातें १ ई० पू० और १३ ई० की हुईं। किन्तु सीरिया के ईसाइयों की पुरानी अनुश्रुति है कि ईसामसीह के जीवनकाल में उनका शिष्य सन्त थोमास विन्दफर्न के प्रशासन में (उत्तरपच्छिमी) भारत आया था। इसलिए ईसाब्द के कुछ काल बाद तक विन्दफर्न का प्रशासन गन्धार में रहा होना चाहिए। यदि प्राचीन शकाब्द का आरम्भ लग० ११० ई० पू० में माना जाय तो यह कठिनाई दूर हो जाती है।

प्राचीन शकाब्द के १८४ या १८७वें वर्ष का एक लेख विम कफस के प्रशासन का है, फिर १६१वें वर्ष के एक लेख से विम की मृत्यु हो चुकी सूचित होती है। यदि प्राचीन शकाब्द का आरम्भ लग० १२३ ई० पू० में हुआ हो तो विम की मृत्यु ६२ या ६५ और ६६ ई० के बीच कभी हुई। यदि कनिष्क का प्रशासन ७८ ई० में आरम्भ हुआ हो तो विम और कनिष्क के बीच का व्यवधान केवल १० वर्ष के लगभग हुआ, जो कि सिक्कों के साक्ष्य के अनुसार २५-३० वर्ष का होना चाहिए। किन्तु हमने देखा है कि प्राचीन शकाब्द का आरम्भ १०-१२ वर्ष पीछे—लग० ११० ई० पू० में—मानना उचित है। उस दशा में विम की मृत्यु ठीक ७८ ई० में आ जाती है जो कि भारतीय ज्योतिषियों और पंजाब की अनुश्रुति के ठीक अनुसार है। यों प्रचलित शकाब्द को वे जो शालिवाहन-शकाब्द कहते और उसके आरम्भ का जो वृत्तान्त वे देते हैं उसकी पूरी पुष्टि आधुनिक खोज से हुई है। विशेष विवेचना के लिए देखिए जयचन्द्र विद्यालंकार (१६३३)—भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० ८३४–८५०, १०७७–१०८०; (१६५६)—भारतीय इतिहास की मीमांसा पृ० २४५–२५५।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. भारत और चीन का सम्बन्ध पहलेपहल कब और किस प्रकार हुआ?
२. चीन में बौद्ध धर्म के ग्रन्थ पहलेपहल किस राजा ने किस अवसर पर भेजे?

उस राजा के वंश और कार्यों के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं ?

३. शालिवाहन और रिसालू के युद्ध की ख्यात क्या है ? उसकी व्याख्या क्या है ?

४. कनिष्क के राज्यकाल की घटनाओं का वर्णन कीजिए।

५. इनका संक्षिप्त परिचय दीजिए—पानछाओ, वैरोचन, अश्वघोष, विजयकीर्त्ति, चष्टन, रुद्रदामा और यज्ञश्री शातकर्णि।

७. करिकाल और गजबाहु कहाँ के राजा थे ? दोनों की प्रसिद्धि किस बात के लिए है ?

अध्याय ४

बृहत्तर भारत का उदय

§ १. मध्य एशिया में भारतीय उपनिवेश और प्रभाव—सीता के काँठे अर्थात् पूरबी मध्य एशिया में आर्यावर्ती उपनिवेशों की नींव अशोक ने डाली थी। तब से उन उपनिवेशों तथा उनके द्वारा सभ्य बनाये गये वहाँ के मूल निवासियों ने इतिहास में जो भाग लिया उसका उल्लेख पीछे जहाँ तहाँ आया है। इस काल तक वहाँ स्थिर राज्य खड़े हो चुके थे। यहाँ उनका इकट्ठा विवरण देना अभीष्ट है।

कपिश गन्धार उरशा (=आधुनिक हज़ारा=सिन्ध और जेहलम नदियों के बीच का हिमालय का प्रदेश) और दरद देश के उत्तर, हिन्दकोह के उस पार, कम्बोज देश (बदख्शाँ-पामीर) था, जिसकी पूरबी सीमा सरीकोल और कन्दर पर्वतों से बनी है। इन पर्वतों के पूरब तरफ़ वह लम्बा पठार फैला है जिसमें सीता और तारीम नदियाँ बहती हैं।

सरीकोल और कन्दर के बीच की दून अब तागदुम्बाश पामीर कहलाती है। चीनी यात्रियों ने उसका जो नाम लिखा है वह कबन्ध जैसे किसी संस्कृत शब्द का रूपान्तर है। उसके पूरब सीता की उपरली धारा पर चोक्कुक देश था जो अब यारकन्द कहलाता है। चोक्कुक के उत्तर शैल या खश देश था जो अब काशगर है। दोनों के बीच का प्रदेश उष या ओष था जिसे अब

यंगे-हिसार सूचित करता है। चोक्कुक के पूरब पहाड़ों की तलहटी में खोतन राज्य था, जिसके उत्तर रल्लक और पूरब तरफ भीम और निजांग (आधु० नीया) प्रदेश थे। नीया से भारतीय सभ्यता के बहुत अवशेष मिले हैं। तुखारों का अभिजन (मूल निवास-स्थान) नीया के पूरब था। उसके आगे पूरब तरफ चल्मद प्रदेश था और फिर लोप सरोवर के काँठे में नाभक, जिसे चीनी नफोभो कहते थे। खोतन से नाभक तक सब प्रदेशों के उत्तर तकलामकान मरुभूमि फैली है और नाभक से चीन की पच्छिमी सीमा की तुनह्वाङ बस्ती तक पहुँचने को भी मरुभूमि लाँघनी पड़ती है। प्राचीन काल में तकलामकान का दक्खिनी छोर जो नीया आदि बस्तियों के साथ लगता था, हरा-भरा था। भारतीय पोथियाँ चित्र आदि तुनह्वाङ से भी बड़ी संख्या में मिले हैं।

तकलामकान मरुभूमि के उत्तर तारीम नदी है, जिसके और थियानशान पर्वत के बीच उत्तरी उपनिवेशों की परम्परा थी। इनमें काशगर के पूरब भरुक देश था (आधु० उच-तुरफान), फिर कुचि (आधु० कूचा), और अग्नि (आधु० यंगे-शहर)। अग्नि के उत्तर श्वेत पर्वत था। अग्नि के पूरब, आधुनिक तुरफान के स्थान पर, एक और भारतीय उपनिवेश था, जिसका मूल नाम नहीं मिला है, पर जिसे मध्य काल में चीनी लोग काओ-शाङ या कौ-शाङ कहते थे। नाभक और कौशाङ आर्यावर्ती उपनिवेशन की पूरबी सीमा पर थे [नक्शा १७]।

दक्खिन तरफ खोतन और उत्तर तरफ कुचि सबसे समृद्ध और शक्तिशाली राज्य थे। इनके सहयोग से ही चीन-सम्राटों ने हूणों को इस देश से निकाला और फिर सेनापति पानछाओ ने कास्पी सागर पर चीन का झंडा जा फहराया। खोतन की सहायता से ही कनिष्क ने उत्तर भारत को जीता और अपना साम्राज्य स्थापित किया। कनिष्क और उसके वंशजों के काल में चीन-हिन्द की राजकाज की भाषा गन्धार की प्राकृत रही, जिसके बहुत लेख पाये गये हैं।

इन उपनिवेशों में कितना अंश भारतीय प्रवासियों का था और कितना उनसे प्रभावित स्थानीय ऋषिक-तुखारों का, सो आज नहीं कहा जा सकता।

चीन-हिन्द में आर्यावर्ती सभ्यता की दीक्षा ले कर ऋषिक-तुखार लोग पच्छिमी मध्य एशिया में भी गये, तथा सीर और वंक्षु के मुहानों तक अर्थात् आधुनिक खीवा तक उन्होंने अपने राज्य स्थापित किये, जिससे पच्छिमी मध्य एशिया में भी भारतीय शिक्षा-दीक्षा फैल गई।

§ २. **"गंगा पार का हिन्द"**—पूरबी मध्य एशिया का नाम आधुनिक विद्वानों ने जैसे चीन-हिन्द रक्खा है, वैसे ही भारत के पूरब और पूरब-दक्खिन जो विशाल प्रायद्वीप और द्वीपावली है, उसे पच्छिमी लोग सातवाहन युग में ही 'गंगा पार का हिन्द' (इंदिया त्रान्स-गांगेतिका) कहने लगे थे और अब भी परला हिन्द (फर्दर इंडिया) कहते हैं। बहुत पुराने काल से वहाँ आग्नेय वंश के लोग रहते थे, जो अशोक के काल तक पत्थर के हथियार काम में लाते थे। महाजनपद-युग से भारत के सामुद्रिक व्यापारी उधर जाने लगे, और उन्हें वहाँ सोने की खानें मिलीं, इसलिए उन्होंने उस देश का नाम सुवर्णभूमि तथा उन द्वीपों का नाम सुवर्णद्वीप रक्खा। धीरे-धीरे वहाँ भारतीय बस्तियाँ बसीं जिनके सम्पर्क से आग्नेय लोगों ने भी सभ्यता सीखी। सातवाहनों के चरम उत्कर्ष के युग में वहाँ भारतीय बस्तियाँ खूब बढ़ीं, और कई भारतीय राज्य स्थापित हो गये (५८ ई० पू०–११० ई०)। ईसवी सन् के शुरू में आजकल के व्येतनम में कौठार और पांडुरंग नाम के दो छोटे छोटे भारतीय राज्य स्थापित हो चुके थे। मेकोङ नदी के तट पर एक तीसरे बड़े राज्य की राजधानी थी, जिसे चीन वाले फूनान कहते थे। उसका असली नाम अभी तक नहीं जाना जा सका। वह राज्य आधुनिक बरमा के तेनाताइ या तेनासरीम प्रदेश से मेकोङ के मुहाने तक और १५ अक्षांश रेखा से समुद्र तक फैला था। उसकी स्थापना किसी कौण्डिन्य ब्राह्मण ने की थी। कौण्डिन्य ने वहाँ जा कर सोमा नाम की "नागी" (अर्थात् नागों को पूजने वाली किसी आग्नेय जाति की लड़की) से ब्याह किया था, जिससे उसके वंशज सोम वंश के कहलाये।

मलक्का प्रायद्वीप में तक्कोल सिंहपुर (आधु० सिंगापुर) आदि बस्तियाँ थीं। सुवर्णद्वीप कहने से प्रायः सुमात्रा ही समझा जाता था। उसके आगे

यवद्वीप था। 'जावा' उसी 'यव' का उच्चारण-भेद है। जावा के पूरवी भाग में सरयू नदी अब तक है। वाल्मीकि-रामायण के अनुसार यवद्वीप में शिशिर पर्वत था। वह पर्वत उसी नाम से अब भी इरियान (न्यू गिनी) द्वीप में है। इससे एक तो वह प्रकट है कि यवद्वीप नाम केवल जावा का नहीं प्रत्युत जावा से इरियान तक सब द्वीपों का था; दूसरे यह कि इस युग तक भारत के लोग इरियान द्वीप तक पहुँच गये थे। जावा के उत्तर और पूरब मधुरा और बालि दीप हैं। उनके उत्तर कलिमन्थन (बोर्नियो) द्वीप* में भी भारतीय उपनिवेश स्थापित हुए। इन बस्तियों और राज्यों के संस्थापक प्रायः शैव थे। सन् ईसवी की पहली शताब्दी में मदगस्कर द्वीप में भी भारतीय बस्तियाँ स्थापित हुईं।

सुवर्णभूमि के साथ सबसे अधिक और पुराना सम्बन्ध चम्पा (भागलपुर) के लोगों का था। उन्होंने उरोज नामक व्यक्ति के नेतृत्व में सुवर्णभूमि के पूरवी छोर पर चम्पा नामक राज्य स्थापित किया, जो कुछ काल चीन साम्राज्य के अधीन रहने के बाद १९२ ई० से स्वतन्त्र हो गया। चम्पा ने कौठार पांडुरंग तथा अन्य पड़ोसी प्रदेशों को जीत लिया। उसकी राजधानी उसके अमरावती प्रान्त में इन्द्रपुर थी।

चम्पा और कलिमन्थन से आधुनिक हैनान और फिलिपीन में तथा कलिमन्थन के पूरब के द्वीपों में भी, जहाँ की मूल जनता आग्नेय थी, भारतीय उपनिवेश फैलते गये।

§ ३. चीन और रोम से सम्बन्ध—सीता के काँठे और सुवर्णभूमि में सभ्य राज्य स्थापित हो जाने से चीन के साथ भारत का सम्बन्ध स्थल और जल दोनों रास्तों से हो गया। दोनों देशों में वस्तुओं और विचारों का आदान-प्रदान होने लगा। ६८ ई० में गन्धार पक्थ-कम्बोज या खोतन से

---

* एशिया के अनेक स्थानों के नाम पिछली दो-तीन शताब्दियों में युरोपी उच्चारण के अनुसार बिगड़ गये या युरोपियों ने नये रख दिये। हिन्दद्वीपों (इन्दोनीशिया) की स्वतन्त्र सरकार अब 'बोर्नियो' के लिए पुराना नाम कलिमन्थन बर्तती है। कलिमन्थन नाम कब से प्रचलित था और बोर्नियो नाम का मूल क्या है इसपर प्रकाश पड़ने की आवश्यकता है।

धर्मरत्न और कश्यपमातङ्ग नाम के दो भिक्षु पहलेपहल चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार करने पहुँचे। उसके बाद वह परम्परा जारी रही। चीन वालों का पच्छिमी रास्ता खुल जाने से चीन का रेशम सब पच्छिमी देशों में जाने लगा।

पच्छिमी एशिया और मिस्र में जब तक यूनानी राज्य रहे उनके साथ भारत का अच्छा व्यापार रहा। दूसरी शताब्दी ई० पू० में जब बलख



भारत-लक्ष्मी
भारत के रोम से व्यापार का स्मारक एक तश्तरी पर का चित्र जो रोम-साम्राज्य में लिखा गया था। [इस्ताम्बूल संग्र०]

के यूनानी राज्य को ऋषिक-तुखारों ने मिटाया, प्रायः तभी रोम वालों ने पच्छिम के सारे यूनानी राज्यों को जीत लिया। रोम का साम्राज्य "भूमध्य-सागर" के चौगिर्द था। वह सागर असल में रोम की भूमि के ही मध्य में था।

भारतीय नाविक व्यापारी रोम-साम्राज्य के सब देशों में पहुँचते थे। प्राचीन काल में लाल सागर को नील नदी से मिलाने वाली एक नहर थी,

जिसके द्वारा पूरबी देशों के जहाज अलक्सान्द्रिया हो कर रोम सागर (भूमध्य सागर) तक जा निकलते थे। लग० १०० ई० पू० में एक बार कुछ भारतीय अपने जहाज के साथ दिशामूढ हो कर जर्मनी में एल्ब नदी के मुहाने पर, जहाँ अब हाम्बुर्ग बन्दरगाह है, जा लगे और वहाँ से रोम पहुँचाये गये थे।

भारतीय माल रोम-साम्राज्य में खूब पहुँचता और बदले में सोना आता था। यहाँ से हाथीदाँत का सामान सुगन्धि-द्रव्य मसाले मोती और कपड़े आदि जाते थे। ७७ ई० में एक रोमी लेखक ने शिकायत की थी कि भारतवर्ष रोम से हर साल साढ़े पाँच करोड़ का सोना खींच लेता है, और "यह कीमत हमें अपनी ऐयाशी और अपनी स्त्रियों की खातिर देनी पड़ती है।" एक दूसरे रोमी लेखक ने रोमी स्त्रियों की शिकायत करते हुए लिखा है कि वे भारतवर्ष से आने वाले "बुनी हुई हवा के जाले" (मलमल) पहन कर अपना सौन्दर्य दिखाती थीं!

एक तरफ रोम और पार्थव तथा दूसरी तरफ चीन और सुवर्णभूमि के ठीक बीच होने से भारतवर्ष इस काल में सारे सभ्य जगत् का केन्द्रस्थ था।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. सीता और तारीम काँठों में स्थित प्राचीन भारतीय उपनिवेश कौन-कौन से थे? उनके आधुनिक स्थान-नामों का उल्लेख कीजिये।

२. सातवाहन युग में मध्य एशिया पर सीधे भारतीय राजनीतिक प्रभाव को सूचित करनेवाली विशेष बात क्या मिलती है?

३. सातवाहन युग में पच्छिमी लोग 'गंगा पार का हिन्द' से क्या अभिप्राय लेते थे?

४. सुवर्णभूमि सुवर्णद्वीप यवद्वीप नाम किन प्रदेशों को सूचित करते थे? वहाँ के मुख्य भारतीय उपनिवेशों के नाम लिखिए, और बताइए कि वहाँ के पहले निवासी किस नृवंश के थे और सभ्यता की किस सीढ़ी पर थे। भारतीय उपनिवेशकों द्वारा वहाँ सभ्यताप्रसार और औपनिवेशिक विकास की प्रक्रिया क्या थी, सोमा नागी और कौण्डिन्य की कथा लिख कर इसे स्पष्ट कीजिये।

५. सुवर्णभूमि आदि में जाने वाले आरम्भिक भारतीय उपनिवेशकों की मूल प्रेरणा क्या थी? वे मुख्यतः किस धर्म के उपासक थे?

६. चम्पा कौठार पांडुरंग के विषय में आप क्या जानते हैं ?

७. चीन और भारत का पारस्परिक परिचय और व्यापारिक सम्बन्ध पहलेपहल कब और किस राजनीतिक घटना द्वारा हुआ ?

८. 'बुनी हुई हवा के जालों' के विषय में आप क्या जानते हैं ? रोमवालों को उनके चलन से क्या शिकायत थी ? भारत रोम के व्यापारिक सम्बन्धों पर उनसे क्या प्रकाश पड़ता है ?

अध्याय ५

सातवाहन युग की सभ्यता और संस्कृति

§१. **पौराणिक धर्म और महायान**—बुद्ध ने निरर्थक कर्मकांड का स्थान आचारप्रधान धर्म को दे कर आर्यावर्त्त में नया जीवन फूँक दिया था। साढ़े तीन सौ बरस बाद उस नवजीवन की लहर में मन्दता आने लगी। अन्तिम मौर्यों ने जब उस धर्म की आड़ में अपनी कायरता को छिपाना चाहा, तब उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और पुराने वैदिक धर्म को फिर से जगाने की पुकार उठी। सिमुक और पुष्यमित्र दोनों ब्राह्मण थे, जिन्होंने निर्बल मौर्यों के विरुद्ध विद्रोह किया। बौद्धों ने यज्ञों की हिंसा का विरोध किया था, पर पुष्यमित्र ने और सिमुक के भतीजे सातकर्णि ने पुराना अश्वमेध यज्ञ, जिसका रिवाज़ सदियों से उठ चुका था, दो दो बार किया।

किन्तु वैदिक धर्म वैदिक समाज के साथ था और इस युग का समाज अब बहुत आगे बढ़ चुका था। न वैदिक समाज वापिस आ सकता था, और न वैदिक धर्म अपने पुराने रूप में लौट सकता था। बौद्ध धर्म ने जनता के विचारों में जो परिवर्तन कर दिया था, उसे मिटाया न जा सकता था। वैदिक कर्मकांड दार्शनिक विवाद और कृच्छ्र तप का पुराना धर्म जब केवल ऊँचे लोगों की वस्तु बन गया था, उस दशा में बुद्ध ने जनसाधारण को जगाया और उठाया था। जनता की उस जागृति की उपेक्षा न की जा सकती थी। इसलिए वैदिक धर्म को फिर से जगाने की जो लहर उठी, वह बौद्ध सुधार की सब मुख्य

प्रवृत्तियों को अपनाये हुए थी। बौद्ध धर्म यदि जनता के लिए था, तो वैदिक धर्म का यह नया रूप भी उससे बढ़ कर जनता का धर्म बन कर आया।

बौद्ध धर्म आचार-प्रधान था; ईश्वर और देवताओं की पूजा के लिए उसमें जगह न थी। जनसाधारण ने बुद्ध की शिक्षा को सुना, पर देवताओं की पूजा बिना उनका काम न चला। आर्यों के निचले दर्जों और अनार्य जातियों में अनेक प्रकार की जड-पूजाएँ प्रचलित थीं। बहुत से स्थानीय देवताओं की गद्दियाँ जहाँ-तहाँ स्थापित थीं। कई स्थानों में जनता के ऊँचे दर्जों में भी अपने पुरखों के सम्मान ने ही पूजा का रूप धारण कर लिया था। कह चुके हैं कि शूरसेन देश में वासुदेव कृष्ण की पूजा होती थी और उसके प्रसंग में उत्सव होते थे। राजा वसु के काल में जो अहिंसा और भक्ति-प्रधान धर्म की लहर उटी थी [२, २ § ५] कृष्ण ने उसे अपनाया और पुष्ट किया था। शूरसेन लोगों ने कृष्ण को पहले उस धर्म के प्रवक्ता और अपने महान् पूर्वज के रूप में आदर-पूर्वक याद करना शुरू किया, धीरे धीरे वह पूजा बन गई थी। वैदिक धर्म को फिर से जगाने की लहर ने प्रत्येक प्रचलित जड-देवता और मनुष्य-देवता में किसी न किसी वैदिक देवता की प्राण-प्रतिष्ठा कर दी। भारत में जितने देवता पूजे जाते थे, उन्हें उसने शिव विष्णु सूर्य स्कन्द आदि की भिन्न-भिन्न शक्तियों के सूचक भिन्न भिन्न रूप मान लिया। जहाँ किसी पुराने पुरखा की पूजा होती थी, उसे भी उसने किसी अवतार रूप में भगवान् की पूजा बना दिया।

यह लहर चली तो वैदिक धर्म को जगाने का नाम ले कर, पर इससे एक नया धर्म पैदा हो गया, जिसे हम पौराणिक धर्म कहते हैं। देवता वैदिक धर्म में भी थे, और इसमें भी रहे। पर पहले उनकी पूजा यज्ञों द्वारा होती थी, अब उनके मन्दिर और मूर्तियाँ बनने लगीं। वे मन्दिर और मूर्त्तियाँ और उनकी पूजा अभी तक बहुत सादी थीं। मूर्तियाँ देवताओं की शक्तियों का केवल "प्रतीक" अर्थात् संकेत थीं। दिव्य शक्तियों के आवाहन से जड पूजाओं में मानो जान पड़ गई।

वैदिक देवताओं में इन्द्र मुख्य था; अब विष्णु और शिव की प्रधानता हो गई। ऐतिहासिक पूर्वज कृष्ण की पूजा में अब वैदिक प्रकृति-देवता विष्णु

की पूजा मिल गई। कृष्ण विष्णु का अवतार माने गये। यही सातवाहन युग का भागवत धर्म था। किन्तु आजकल के पौराणिक धर्म की बहुत सी बातें उस आरम्भिक पौराणिक धर्म में न थीं। भागवत धर्म में उस काल तक कृष्ण की गोपी-लीलाओं की कहानियाँ न मिली थीं। विष्णु के अतिरिक्त शिव और स्कन्द की पूजा उस युग के पौराणिक धर्म में बहुत प्रचलित थी। स्कन्द युद्ध का देवता था। शिवलिंग की पूजा आर्यों में पहलेपहल सातवाहन युग के अन्तिम अंश में आ कर सुनी जाती है। हम देख चुके हैं कि भागवत और शैव धर्म को तब अनेक विदेशी भी अपना लेते थे। पौराणिक धर्म तब सबके लिए खुला था। पुराने यूनानी भी वैदिक देवताओं से मिलते-जुलते प्रकृति-देवताओं को पूजते थे। उस पुरानी पूजा के आडम्बरमय और निर्जीव हो जाने पर भारतवर्ष के इस नये भक्तिप्रधान धर्म ने उन्हें आकर्षित किया। अन्दाज़न कनिष्क के ज़माने में ईरान के मग ("शाकद्वीपी") ब्राह्मणों ने भारत में आ कर सूर्य की एक विशेष पूजा चलाई। सूर्य की पूजा यहाँ वैदिक काल से थी, पर उसकी मूर्त्ति और मन्दिर बनाने की चाल ईरानी मगों ने चलाई। वह सूर्य-मूर्त्ति घुटनों तक के जूते पहने होती है। पंजाब सिन्ध राजस्थान सुराष्ट्र मगध आदि में मगों ने अनेक मन्दिर स्थापित किये, जिनमें से मूलस्थानपुर (मुलतान) का मन्दिर सब से पुराना और प्रसिद्ध था। वह ईरानी सूर्य-पूजा भी पौराणिक धर्म में मिल गई।

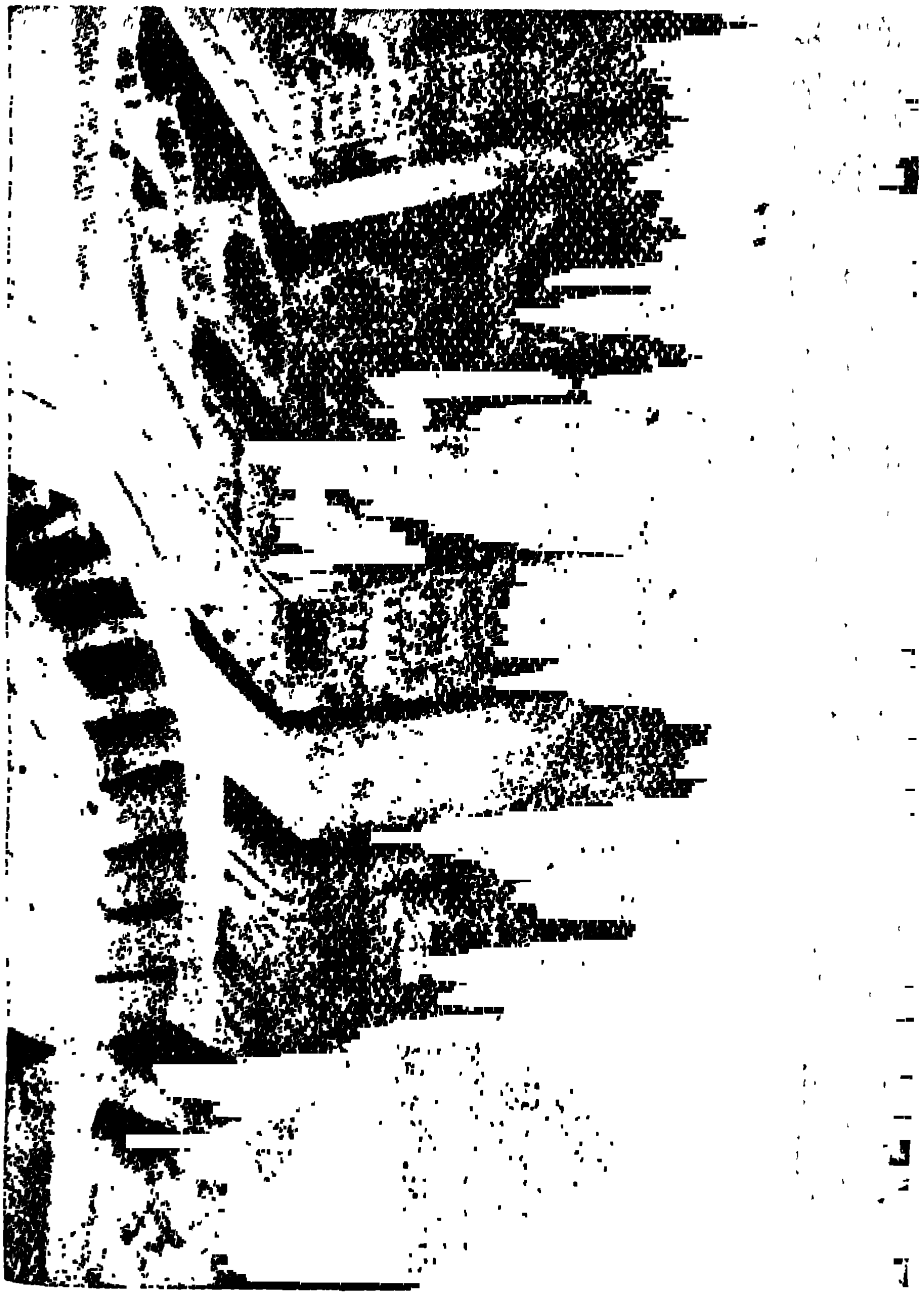
पौराणिक धर्म का प्रभाव फिर बौद्ध और जैन धर्मों पर पड़ा। उनमें बुद्ध और महावीर अब ऐतिहासिक महापुरुष के बजाय प्रमुख देवता बन गये। बौद्धों का कहना है कि बुद्ध पिछले कई जन्मों से साधना कर रहे थे, और तब वे बोधिसत्त्व थे। इसी प्रकार जैन लोग मानते हैं कि महावीर से पहले कई तीर्थंकर हुए थे। इन सबने गौण देवताओं और अवतारों का स्थान ले लिया। बौद्ध धर्म का यह नया रूप महायान अर्थात् बड़ा पन्थ कहलाने लगा। इसके मुकाबले में पुराना बौद्ध धर्म (थेरवाद) हीनयान (छोटा पन्थ) कहलाने लगा। नागार्जुन (लग० १७५ ई०) महायान का प्रमुख आचार्य था। थेरवाद की पुस्तकें पालि में हैं और महायान की संस्कृत में। थेरवाद अब सिंहल स्याम

और बरमा में है; महायान चीन जापान और कोरिया में।

§२. **नवीन संस्कृत प्राकृत तमिळ वाङ्मय**—पौराणिक धर्म की तरह नये संस्कृत वाङ्मय का विकास भी शुङ्ग-सातवाहन-युग में हुआ। वह पुराने वैदिक वाङ्मय से भिन्न और स्वतन्त्र है। पुष्यमित्र शुङ्ग का पुरोहित पतंजलि मुनि था, जिसने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर महाभाष्य लिखा। शुंगों के ही प्रशासन (लग० १५० ई० पू०) में मनुस्मृति लिखी गई। इसी कारण उसमें बौद्ध-विरोधी भाव बहुत हैं। उसका लेखक कोई भृगुवंशी ब्राह्मण था, पर उसने मनु के नाम से अपनी शिक्षाओं को चलाया। उसके प्रायः अढ़ाई तीन शताब्दी पीछे याज्ञवल्क्य-स्मृति लिखी गई। महाभारत की कथा-वस्तु सनकालिक अनुश्रुति की है, जिसके आधार पर भारत नाम का काव्य लग० ४०० ई० पू० में बन चुका था। उस भारत से महाभारत बना अर्थात् महाभारत का मुख्य अंश लिखा गया २०० ई० पू० से २०० ई० के बीच। भास कवि, जिसके नाटकों के नमूने पर बाद में कालिदास ने नाटक लिखे, इसी युग का है। अश्वघोष न केवल दार्शनिक प्रत्युत कवि और नाटककार भी था। नागार्जुन अश्वघोष का प्रशिष्य था। वह दर्शन के साथ साथ विज्ञान का भी बड़ा पंडित था। उसने एक "लोहशास्त्र' लिखा और पारे के योग बनाने की विधि निकाल कर रसायन के ज्ञान की नींव डाली। उसने सुश्रुत के ग्रन्थ का सम्पादन भी किया।

भारतवर्ष के प्रसिद्ध वैद्य चरक और सुश्रुत दोनों इसी युग में हुए। मीमांसा-दर्शन का प्रवर्त्तक जैमिनि, वैशेषिक-दर्शनकार कणाद, न्याय-दर्शन का संस्थापक अक्षपाद गौतम तथा वेदान्त का प्रवर्त्तक बादरायण भी इसी युग में हुए। प्रसिद्ध अमरकोश भी इसी युग में लिखा गया। उसका लेखक अमरसिंह बौद्ध था। पिछले शुंगों के काल से बौद्धों के सब ग्रन्थ संस्कृत में ही लिखे जाने लगे थे। महायान के उदय का जो कारण था, वही बौद्ध ग्रन्थों के संस्कृत में लिखे जाने का भी कारण हुआ। दूर दूर के जनपदों में जब उस धर्म का प्रचार किया गया, तब जैसे उसे अपना आन्तरिक रूप बदलना पड़ा, वैसे ही अपनी भाषा भी बदलनी पड़ी, क्योंकि अब प्रान्तीय प्राकृत पालि से उसका काम न चल सकता था।

संस्कृत के साथ साथ कई प्राकृतों में भी उत्तम रचनाएँ हुईं। सातवाहन राजा हाल स्वयं प्राकृत का कवि था। राजा कुन्तल सातकर्णि उर्फ विषमशील विक्रमादित्य के दरबार में गुणाढ्य नाम का कश्मीरी लेखक था सो कहा जा चुका है। कश्मीर के उत्तरपच्छिम, कृष्णगंगा की दून से पामीर की जड़ तक दरद देश है, जहाँ की प्राकृत में गुणाढ्य ने बृहत्कथा नाम का कहानियों का सुन्दर ग्रन्थ लिखा। वह ग्रन्थ अब नहीं मिलता, पर उसके तीन अनुवाद संस्कृत में हैं और एक तमिळ में। तमिळ भाषा में भी पहलेपहल पहली दूसरी शताब्दी ई० से ही वाङ्मय के पुष्प खिलने लगे। तमिळ राज्यों में इस युग में संघम् नाम की साहित्य-परिषद् थी।



कार्ले लेण का सिंहद्वार, एक किनारे का दृश्य [फोटो पटना संग्र०]

§३. सातवाहन कला—वाङ्मय की तरह कला भी सातवाहन युग में खूब फूली-फली। इस युग की तीन प्रकार की कलाकृतियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं। पहले, पहाड़ों में काटे हुए

गुहा-मन्दिर जो महाराष्ट्र और उड़ीसा में पाये जाते हैं। वे खारवेल और शातकर्णि १म के ज़माने में शुरू हुए, और फिर शकों और पिछले सातवाहनों के



भद्र महिला—शुंग युग की वेशभूषा, भद्र पुरुष—पिछले सातवाहन युग की वेशभूषा
कौशाम्बी से पाये गये मिट्टी के खिलौने [प्रयाग संग्र०]

काल तक बनते रहे। महाराष्ट्र में उन्हें लेण (=लयन=छिपने की जगह) कहते हैं और उड़ीसा में गुम्फा। महाराष्ट्र की लेणें सब बौद्ध चैत्य हैं, और



गान्धारी शैली की बुद्ध-मूर्त्ति ?—हड्ड, अफगानिस्तान से [काबुल संग्र०]

उड़ीसा की गुम्फाएँ जैन मन्दिर। एक एक मन्दिर केवल एक एक चट्टान को

काट कर बना है। उनकी कारीगरी अद्भुत है।

दूसरे, भारहुत और साँची के स्तूपों के चारों तरफ की पत्थर की वेदिकाएँ (जँगले) और तोरण। स्तूप तो पुराने हैं, पर पत्थर का काम सब इस युग का है। वेदिकाओं और तोरणों के प्रत्येक खम्भे में और खम्भों के बीच की प्रत्येक बँडेरी (आड़ी पाटी) में सुन्दर मूर्तियाँ तराशी गई हैं, या कहानियों और घटनाओं के पूरे दृश्य काटे गये हैं। इन दोनों प्रकार की कलाकृतियों अर्थात् गुहामन्दिरों और वेदिकाओं-तोरणों की एक विशेषता यह है कि ये हैं तो पत्थर की, किन्तु ठीक काठ के नमूने पर बनाई गई हैं। काठ की रचनाओं की बारीक नक्काशी और छँटाई पत्थर में की गई है।



गान्धारी शैली की खंडित स्त्री-मूर्ति, शहर-ए-बहलोल (जि० पेशावर) की खुदाई से प्राप्त [भा० पु० वि०]

पह्लव राजाओं के काल से गन्धार देश की वास्तु और मूर्त्तिकला में एक और शैली का विकास हुआ, जिसे अब हम गान्धारी शैली कहते हैं। वह शैली यूनानी और भारतीय शैली के समागम से पैदा हुई और यह इस युग की कला में तीसरी स्मरणीय

वस्तु है। अब तक बुद्ध की सबसे पुरानी मूर्त्तियाँ इसी शैली की पाई गई हैं।

§४. आर्थिक जीवन—वाङ्मय सिक्कों और पत्थर में खुदे हुए लेखों आदि से इस युग के आर्थिक राजनीतिक और सामाजिक जीवन का भी चित्र मिलता है। इस युग में शिल्प और व्यापार की बड़ी उन्नति हुई। कारीगरों की श्रेणियाँ अब ऐसे काम भी करने लगीं जो आजकल के बड़े-बड़े बैंक करते हैं। सेनापति उषवदात ने नासिक के बौद्ध भिक्षुओं के संघ के लिए कई हज़ार का दान किया। उस रकम को उसने कोरियों (जुलाहों) की दो श्रेणियों के पास "अक्षयनीवी" (कभी न लौटने वाली धरोहर) के रूप में रख दिया कि उसके सूद से उन भिक्षुओं को हर साल चीवर (कपड़े) मिलते रहें। कोई राजा अपना दान जुलाहों की श्रेणि के पास हमेशा के लिए जमा करा दे, इससे उस श्रेणि की प्रतिष्ठा का अन्दाज़ होता है। इस तरह के और अनेक उदाहरण हैं। जहाजों के किराये और विदेशी व्यापार तथा व्यापारी दस्तावेज़ों के नियम भी इस युग की स्मृतियों में विस्तार से दिये गये हैं।



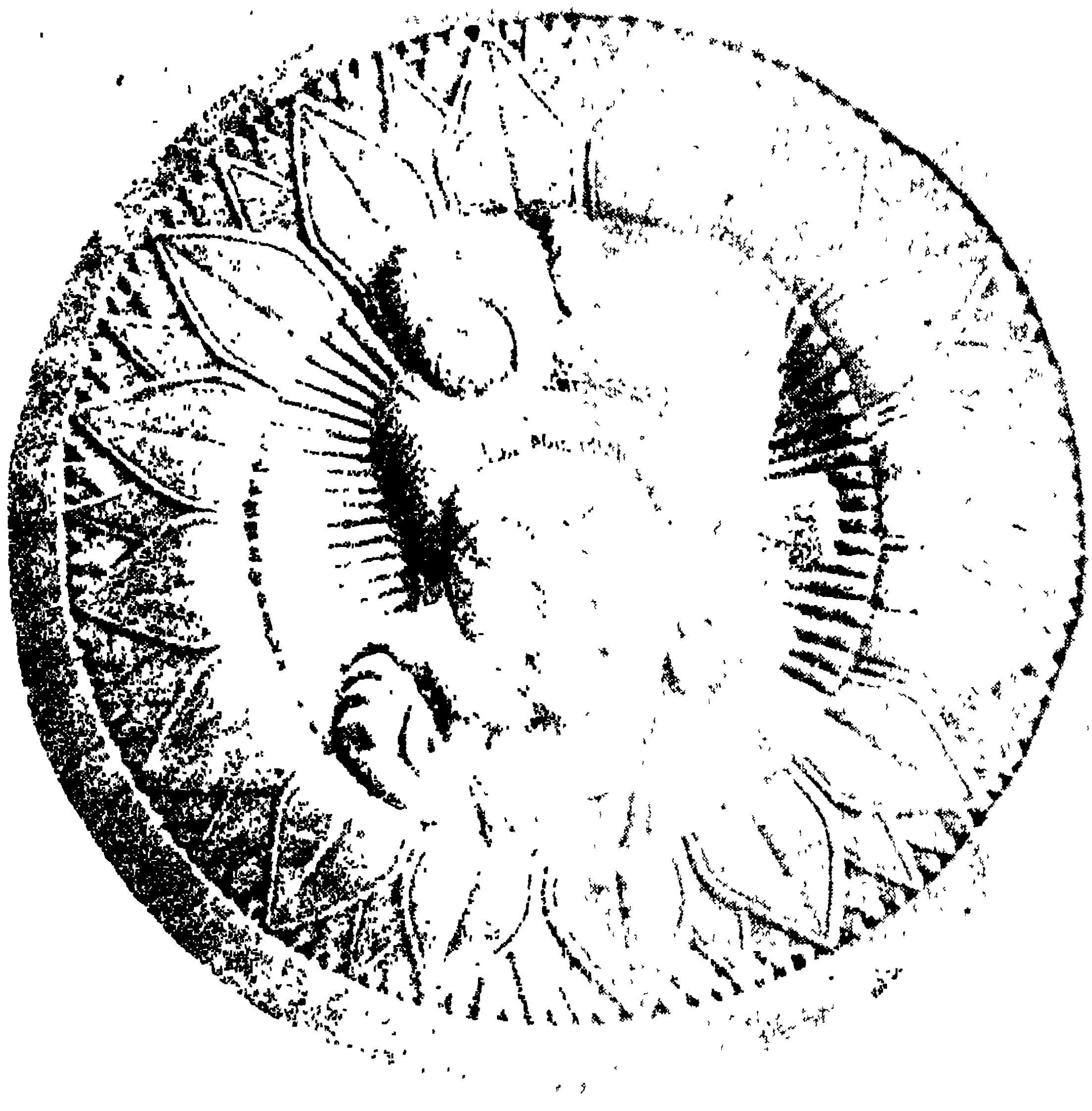
पिछले सातवाहन युग की नारी-शिरोभूषा। कौशाम्बी से प्राप्त मिट्टी का खिलौना [प्रयाग संग्र०]

§५. राज्य-संस्था—राज-काज में ग्रामों श्रेणियों और नगर-संस्थाओं की बड़ी प्रतिष्ठा थी। नगर-संस्था को अब पूग या पौर भी कहते थे। सेनापति उषवदात ने अपने उक्त दान के बारे में लिखा है कि यह "निगमसभा में सुनाया गया, और फलकवार (रिकार्ड आफिस, लेखा दफ्तर) में चरित्र के अनुसार निबद्ध (रजिस्टरी) किया गया।"* इससे प्रकट है कि इस युग में राजा भी अपने दस्तावेज़ों को नगर-परिषदों के दफ्तरों में उन परिषदों के

* निगम-सभा का अर्थ नगर की परिषद् और चरित्र का अर्थ परिषदों का बनाया हुआ कानून होता था सो पीछे [३, २ § ६; ४, २ § ५] कह चुके हैं। फलक माने अलमारी, और फलकवार का अर्थ हुआ अलमारियों वाली जगह अर्थात् लेखा रखने का दफ्तर।

कानून के अनुसार रजिस्टरी कराते थे।

जनपदों की परिषदें तो देश की मुख्य शासक शक्ति थीं। जब कोई जनपद एक राजा के हाथ से दूसरे राजा के हाथ जाता, तब इस बात



सेट्ठी अर्थात् निगम-सभा का प्रमुख—शुंग युग की वेशभूषा, भारहुत स्तूप की वेदिका का एक फुल्ला (= स्तम्भ और बँडेरी के जोड़ को छिपाने के लिए बनाया हुआ फुल्ल कमल वाला साज) [भारतीय संग्र० कलकत्ता]

का बड़ा आग्रह रहता कि नये जीते हुए जनपद में राजा वहीं के "धर्म व्यवहार और चरित्र" के अनुसार चलें। राजा परिषद् की सहायता से राज्य करते थे।

"धर्म" और "व्यवहार" परिषदों के पुराने ठहरावों के समुच्चय थे,

"चरित्र" नये ठहराव थे जो आये दिन आवश्यकतानुसार बनते थे। यों विधि या कानून चल था, अचल नहीं। यह समझ लेना चाहिए कि जो स्मृतियाँ इस युग में लिखी गईं, वे भारत में या उसके अन्तर्गत किसी भी जनपद या राज्य में कानून-संहिता रूप से नहीं चलती थीं। वे स्मृतिकारों द्वारा उपस्थित कानून की व्याख्या करने की और उसे अपनी अभीष्ट दिशा में ले जाने की चेष्टाएँ मात्र थीं। ये स्मृतियाँ स्वयं यह कहती हैं कि ग्राम श्रेणि निगम पूग जनपद आदि अपना अपना कानून स्वयं बनावें।



उद्यान-क्रीडा—साँची स्तूप की वेदिका पर खुदा एक दृश्य [श्री हरिहरलाल मेढ़ कृत प्रतिलिपि, डा० मोतीचन्द्र के सौजन्य से]

§ ६. सामाजिक जीवन—सामाजिक जीवन में भी यह युग वैदिक युग से दूर हट रहा था। स्मृतिकारों का यह यत्न रहा कि समाज चार वर्णों या 'जातियों' में बँटा रहे, जिनमें से प्रत्येक अपना खास धन्धा करे और अपने अन्दर ही विवाह करे। पर बर्ताव में यह बात न चली। ऐसे बहुत से समूह थे, जिन्हें वे किसी 'जाति' में न गिन पाते थे। उन्हें उन्होंने "संकर जाति" मान लिया। भिन्न भिन्न जातियों का खानपान अलग करने की बात तो स्मृतिकार भी नहीं कहते। विवाह-बन्धन की शिथिलता को हटाने तथा मोक्ष (तलाक़) और पुनर्विवाह की रोकथाम करने की मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य-स्मृति ने चेष्टा की।

तो भी उनके जमाने तक वे बातें जारी थीं। बौद्धों के विरोधी होते हुए भी मनुस्मृति-कार ने "व्यर्थ हत्या" की निन्दा की। जुआ और 'समाह्वय' (जानवरों के मुकाबले पर बाजी लगाना) इस युग में भी जारी रहे, पर "उद्यान-क्रीडाएँ" गोष्ठियाँ और नाटक आदि विनोद उनसे अधिक चल पड़े

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. माया द्वारा बौद्ध धर्म के प्रचार के बाद शुंग-सातवाहन युग में वैदिक धर्म को पुनः जगाने की चेष्टा किन राजनीतिक घटनाओं की प्रतिक्रिया थी ?

२. पौराणिक धर्म का उदय कब और कैसे हुआ ? आचारप्रधान जैन बौद्ध धर्मों पर उस आन्दोलन की प्रतिक्रिया क्या हुई ?

३. मनुस्मृति का कर्त्ता कौन था और कब हुआ ?

४. महाभारत का रचनाकाल क्या है ?

५. भास अश्वघोष नागार्जुन और चरक के विषय में आप क्या जानते हैं ?

६. जैमिनि कणाद बादरायण कौन थे, कब हुए और उनकी रचनाएँ कौन सी हैं ?

७. गुणाढ्य और राजा हाल ने किस भाषा में रचनाएँ की ?

८. तमिल 'संघम्' के विषय में आप क्या जानते हैं ?

९. शिल्पी श्रेणियों और नगर ग्राम तथा जनपद सभाओं की स्थिति शुंग-सातवाहन युग के आर्थिक-राजनीतिक जीवन में क्या थी ?

१०. अक्षय नीवी, चरित्र और फलकवार की व्याख्या कीजिए।

११. वर्णव्यवस्था का विकास शुंग-सातवाहन युग में किस स्तर तक पहुँचा था ? इस युग में बने स्मृतिग्रन्थों में पाये जाने वाले नियमों का वास्तविक स्वरूप क्या है ? क्या उन्हें उस युग में प्रचलित सामाजिक कानून या उस युग के सामाजिक ढाँचे की वस्तुस्थिति का निदर्शक माना जा सकता है ?

६. वाकाटक-गुप्त पर्व

(लग० २००—५४५ ई०)

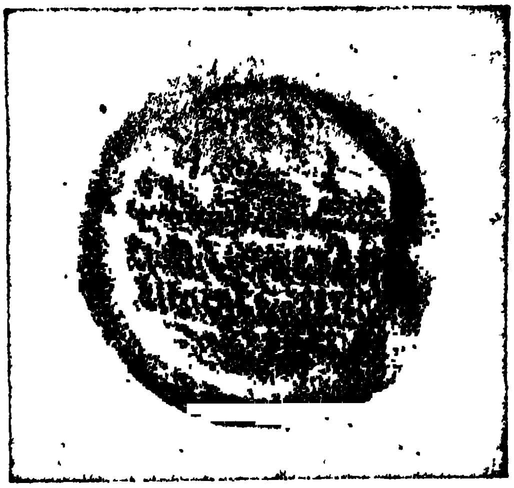
अध्याय १

यौधेय नाग वाकाटक

(लग० १६०—३४४ ई०)

§ १. **लाटदेश के आभीर, दक्षिण कोशल के मघ**—मारवाड़ और सिन्ध की सीमा पर मरुभूमि में आभीरों का गणराज्य था। रुद्रदामा के सिन्धु-सौवीर और मरु को जीतने पर वे लोग क्षत्रप राज्य के अधीन हो गये। तब कुछ आभीर उस राज्य में सेनापति आदि ऊँचे पदों पर पहुँचे। १८८ ई० में ईश्वरदत्त आभीर ने समूचे क्षत्रप राज्य पर कब्जा कर लिया। उसका वह कब्जा तो तीन बरस ही रहा, पर उसके बाद लाट देश (दक्खिनी गुजरात, भरुच सूरत प्रदेश) में आभीर राजवंश स्थापित हो गया।

दूसरी शताब्दी में दक्षिण कोशल (छत्तीसगढ़-बघेलखंड) में सातवाहनों के भूतपूर्व सामन्तों का एक राज्य था जिसकी राजधानी आधुनिक बान्धोगढ़ के स्थान पर थी। वहाँ के युवराज भद्रमघ ने ८१ कनिष्काब्द (= लग० १६१ ई०) से पहले अर्थात् सम्राट् वासुदेव के प्रशासन में कौशाम्बी पर चढ़ाई कर उसे ले लिया। यह "कुषाण" साम्राज्य पर बड़ी चोट थी जिससे उसका दक्खिनपूरबी अंश अलग हो गया। वासुदेव ने इसके बाद कौशाम्बी को वापिस लेने की चेष्टा नहीं की, अथवा की तो निष्फल।



सड़्जाति के भीटे से पाई गई गौतमीपुत्र शिवमघ की मुद्दर [भा० पु० वि०]

§ २. चुटुसातवाहन और इक्ष्वाकु—दूसरी शताब्दी के अन्त से सातवाहन साम्राज्य भी टूटने लगा। उसके उत्तराधिकारियों में तीन राज्य प्रमुख हुए। लाट देश के आभीरों ने उत्तरी महाराष्ट्र अर्थात् नासिक प्रदेश भी ले लिया। दक्खिनी महाराष्ट्र और उत्तरी कर्णाटक में जो इस युग से कुन्तल कहलाने लगा, सातवाहन वंश की एक शाखा चुटु-सातवाहनों का राजवंश स्थापित हुआ। उनकी राजधानी वैजयन्ती (उत्तर कनाडा जिले में आधुनिक बनवासी) थी। आन्ध्र देश में तभी इक्ष्वाकु क्षत्रियों का एक वंश राज करने लगा। उनकी राजधानी श्रीपर्वत (कृष्णा के दक्खिन नालमलै पर्वत, गुंटूर जिले में) थी।



शक द्वारपाल
इक्ष्वाकु राजाओं के काल की नागार्जुनीकोंडा स्तूप की वेदिका में से [भा० पु० वि०]
(इक्ष्वाकु राजा वीरपुरुषदत्त का विवाह अवन्ति की शक राजकन्या रुद्रधरभट्टारिका से हुआ था—लग० २४० ई०। उसके साथ कुछ शक योद्धा आन्ध्र देश गये होंगे)

इक्ष्वाकुओं के पड़ोस में तथा शायद उनके अधीन दो और छोटे राज्य तीसरी शताब्दी में अपने सामुद्रिक वाणिज्य और पूरबी उपनिवेशों के साथ सम्बन्ध के कारण प्रसिद्धि में आये। इनमें से एक था आधुनिक मसुलीपटम

प्रदेश में बृहत्फलायन वंश का, और दूसरा उसके उत्तर शालंकायन वंश का जिसकी राजधानी आधुनिक एल्लोर के पास वेंगिपुर थी।

§ ३. यौधेय कुणिन्द मालव गणों का फिर उठना—सम्राट् वासुदेव के आँख मूँदते ही (लग० २०८ ई०) यौधेय गण ने अपने पड़ोसी कुणिन्द आदि गणों को साथ ले कर विद्रोह किया और ऋषिक साम्राज्य से स्वतन्त्र हो गये। कुणिन्दों के नेता महात्मा छत्रेश्वर ने इस संघर्ष में प्रसिद्धि पाई। मालव गण भी तभी उज्जयिनी के क्षत्रपों से स्वतन्त्र हो उठ खड़ा हुआ (लग० २२५ ई०)। इन सब गणराज्यों ने फिर स्थापित हो अपने स्वतन्त्रता-युद्धों के स्मारक सिक्के चलाये। यौधेयों ने अपने सिक्कों पर युद्ध के देवता कार्त्तिकेय की मूर्त्ति बनाई। उनकी नई राजधानी सतलज के किनारे सुनेत्र थी,



"यौधेयगणस्य जयः" (यौधेय गण का जय) लेख वाला सुनेत्र टकसाल का सिक्का



"मालवानां जयः" (मालवों का जय) लेख वाला सिक्का

जिसके खँडहर अब सुनेत नाम से लुधियाना शहर के साथ लगे हैं। पीछे कुणिन्द गण भी यौधेय गण में मिल गया लगता है और यौधेयों के लेख बहावलपुर से होशियारपुर तक और सहारनपुर से भरतपुर तक पाये गये हैं। मालव गण का राज्य तब अजमेर-टोंक-मेवाड़ प्रदेश में था। कर्कोटनगर उसकी राजधानी थी जिसके खँडहर अब जयपुर राज्य के उणियारा ठिकाने में नगरककोड़ कहलाते हैं।

§ ४. भारशिव नाग—पूरवी पंजाब और राजस्थान में इस गणराज्य-मेखला के स्वतन्त्र हो उठने से गंगा-काँठे से ऋषिक साम्राज्य स्वतः उठ गया। जो स्थानीय राज्य वहाँ खड़े हुए उनमें से अहिच्छत्रा मथुरा और पद्मावती उल्लेखनीय हैं। पद्मावती नगरी (= आधु० पदमपवाँयाँ) उत्तरपच्छिमी बुन्देलखंड में सिन्धु और परा के संगम पर थी। मथुरा में भी उसी राजवंश की शाखा

थी। इन राजाओं के नामों के अन्त में प्रायः नाग शब्द लगता था और इनके वंश का नाम भारशिव भी था। इन्होंने गंगा काँठे तक अपना राज फैला लिया और दस बार अश्वमेध किया।

सतलज के पूरब की सारी भूमि हाथ से निकल जाने पर सम्राट् वासुदेव १म के उत्तराधिकारी कनिष्क ३य का साम्राज्य पंजाब अफगानिस्तान और मध्य एशिया में बाकी रहा।

§५. **नेपाल के लिच्छवि**—तीसरी शताब्दी ई० के आरम्भ में वैशाली के लिच्छवियों ने नेपाल को जीत लिया और वहाँ लिच्छवि राजवंश स्थापित हुआ। उस वंश के तीसरे राजा पशुप्रेक्षदेव ने पशुपतिनाथ के मन्दिर की स्थापना की।

§६. **ब्राहुई प्रदेश और बलख पर सासानी आधिपत्य**—ईरान के पार्थव सम्राट् अर्तबान ५म की सेवा में पार्स प्रान्त का अर्दशीर नामक व्यक्ति अस्वरसालार (अश्वाध्यक्ष) पद पर था। उसका सम्राट् वंश की एक कुमारी से विवाह हुआ था। अर्दशीर ने विद्रोह किया, उससे लड़ता हुआ अर्तबान मारा गया (२२४ ई०), तब अर्दशीर ने सारे ईरान में अपना राज्य फैला लिया। उसके एक पुरखा का नाम सासान था, इससे वह राजवंश सासानी कहलाया।

कनिष्क ३य के उत्तराधिकारी सम्राट् वासुदेव २य को दिखाई दिया कि ईरान की पूर्वी सीमा तक पहुँचने के बाद अर्दशीर आगे बढ़ कर उसके साम्राज्य पर भी चढ़ाई करेगा। साथ ही उसके साम्राज्य की उत्तरपूरबी सीमा पर, सुग्ध के उस पार, उयोन नामक जाति मँडरा रही थी। उयोन अल्तइक वंश के, हूणों से मिलते-जुलते, लोग थे, जिन्हें चीनी ज़ुआन-ज़ुआन तथा पारसी ख़िओन कहते थे। वे स्वयं अपने को उयोन कहते थे। उनका मूल घर इर्तिश-आमूर नदियों के बीच था। अब वे मध्य एशिया में घुसने का प्रयत्न कर रहे थे। पच्छिम से सासानियों और पूरब से उयोनों का खतरा देखते हुए २३० ई० में वासुदेव २य ने चीन-सम्राट् से सहायता माँगी।

किन्तु वह सहायता आई नहीं और अर्दशीर ने हरात से बढ़ कर मर्व बलख और बदख्शाँ प्रान्त ले लिये। इन प्रान्तों में अपने उपराज रूप में उसने

अपने बेटे पेरोज को स्थापित किया। पेरोज और उसके उत्तराधिकारियों ने वहाँ जो सिक्के चलाये उनपर कनिष्क वंश के सिक्कों की तरह बुद्ध की अथवा शिव और नन्दी की मूर्त्ति अंकित की। सिन्ध की सीमा पर मकरान और ब्राहुई प्रदेश (कलात) के राजाओं ने भी अर्दशीर का आधिपत्य स्वीकार किया।

अफ़गानिस्तान और सुग्ध के बीच बदख्शाँ तक सासानी पच्चर घुस आने से वासुदेव २य के लिए सुग्ध पर नियन्त्रण रखना कठिन हो गया, जिससे उयोन उसपर धावे मारते रहे। वासुदेव २य का राज्य पंजाब पर से भी उठ चुका था। वहाँ ऋषिक और अन्य सरदारों के अनेक स्थानीय राजवंश स्थापित हो गये थे।



सासानी उपराज का शैव सिक्का
चित, उपराज आहुति देते हुए; पट, शिव और नन्दी। विम कफ्स के सिक्के (पृष्ठ १७०) से तुलना कीजिये।

अर्दशीर के बाद उसका जेठा बेटा शाहपुह्र† १म ईरान का सम्राट् हुआ (२४२–२७२ ई०)। २५२ ई० में वह पच्छिमी एशिया में रोमियों से लड़ रहा था कि उसे पूर्वी प्रान्तों में विद्रोह होने की खबर मिली। उसने खुरासान आ कर पूर्वी प्रान्तों को फिर जीता और अपने बेटे होर्मिज़्द को वहाँ उपराज नियत किया। मर्व और बलख में तब से सासानी राज्य सुस्थापित हो गया। उयोन लोग सुग्ध दोआब में आ बसे। कनिष्क वंश का राज्य इसके बाद से केवल अफगान पठार में बाकी रहा।

§ ७. **विन्ध्यशक्ति वाकाटक**—पूरवी बुन्देलखंड में आजकल के पन्ना नगर के पास किलकिला नामक छोटी सी नदी है, जो आगे केन में जा मिलती

† पुह=पुत्र। शाहपुह=राजपुत्र; किन्तु सासानी राजवंश के अनेक राजाओं का यही नाम था।

है। उसके नाम से पन्ना का समूचा पठार तीसरी शताब्दी में किलकिला कहलाता था। लग० २५० ई० में वहाँ वाकाटक वंश का "विन्ध्यशक्ति" नामक पुरुष प्रसिद्धि में आया। वह शायद भारशिव राजा का सेनापति था और उसने पूर्वी विन्ध्य के अपने प्रदेश की अच्छी किलाबन्दी की इसी से वह "विन्ध्यशक्ति" कहलाया। उसने विदिशा और विदर्भ तक अपना राज्य बढ़ा कर 'पच्छिमी' (उज्जयिनी के) क्षत्रपों से अवन्ति भी जीत ली। क्षत्रपों का राज्य तब सुराष्ट्र उत्तरी गुजरात कच्छ और सिन्ध में बचा। वे अपनी राजधानी उज्जयिनी से गिरिनगर (गिरनार) ले गये।

§८. सिन्ध पर सासानी आधिपत्य—२८३ ई० में सासानी साम्राज्य के पूरबी प्रान्तों में फिर विद्रोह हुआ। उसे दबाने के लिए सम्राट् वरहान २यां जो कि शाहपुहृ १म का पोता था, स्वयं पूर्वी सीमा पर आया। उसने इस बार समूचे सकस्तान को जीत कर अपने बेटे वरहान को सकानशाह अर्थात् शकाधिपति पद दे कर उपराज रूप में वहाँ स्थापित किया। हमारा सौवीर देश (सिन्ध प्रान्त) भी शायद इस प्रसंग में सासानी साम्राज्य में चला गया और सासानी शासन में ही उसका नाम सिन्ध प्रचलित हुआ। सासानियों का मध्य एशिया वाला प्रदेश तुखारिस्तान (बलख, तथा बदख्शाँ का शायद पच्छिमी अंश) भी सकानशाह के शासन में रक्खा गया।

§९. सम्राट् प्रवरसेन, पल्लव वीरकूर्च्च तथा कादम्ब मयूरशर्मा—सिन्ध जब सासानी शासन में गया तभी (२८४ ई०) विन्ध्यशक्ति का उत्तराधिकारी उसका बेटा प्रवरसेन हुआ। पद्मावती के भारशिव राजा भवनाग के कोई पुत्र नहीं हुआ। उसने अपनी एक बेटी का प्रवरसेन वाकाटक के बेटे गौतमीपुत्र से विवाह कर उसे अपना उत्तराधिकारी बना दिया। यों प्रवरसेन के हाथ में अपनी बपौती के साथ भारशिव राज्य की बागडोर भी आ गई। उसने उस राज्य को साम्राज्य बना दिया। विदर्भ को विन्ध्यशक्ति ही ले चुका था। प्रवरसेन ने बाकी समूचा महाराष्ट्र दक्खिण कोशल और आन्ध्र भी जीत लिये।

† 'बरहान' का पिछला फारसी रूप बहराम

चुटु-सातवाहन और इक्ष्वाकु राजवंश तब समाप्त हुए (लग० २६० ई०)। उत्तर तरफ प्रवरसेन ने पारियात्रिक अर्थात् राजस्थान का बड़ा अंश भी अधीन किया। यों दक्खिन भारत और मध्यमेखला का मुख्य अंश उसके शासन में आ गया।

तभी वीरकूर्च्च उर्फ़ कुमारविष्णु नामक पुरुष ने, जिसने "नाग राजा की बेटी के साथ ही सब राजचिह्न पाये थे," अर्थात् जो प्रवरसेन के बेटे की तरह नाग राजा का दामाद था, तमिळ देश के पुराने परम्परागत राज्यों को दबा कर काञ्ची में अपना पल्लव राजवंश रोपा और पूरबी से पच्छिमी समुद्रतट तक आधिपत्य जमाया। पल्लव राजाओं ने अनेक बातों में वाकाटकों का अनुसरण किया। वाकाटकों की तरह वे भी अपने को 'धर्ममहाराज' कहते थे—धर्म का राज्य स्थापित करना इस युग का आदर्श था।

२९३ ई० में सासानी सम्राट् बरहान २य की मृत्यु हुई और उसके बेटे बरहान ३य ने ईरान का मुकुट धारण किया। किन्तु उसके दादा के छोटे भाई नरसेः ने उसे चुनौती दी और दोनों में युद्ध ठन गया। भारत से अवन्ति के राजा ने उस गृह-युद्ध में बरहान का पक्ष लेने को सेना भेजी। अवन्ति का वह राजा प्रवरसेन ही था और ईरान के घरेलू युद्ध में उसके हस्तक्षेप का उद्देश प्रकटतः सिन्ध प्रान्त को वापिस लेना था। अवन्ति-राजा द्वारा सेना भेजने की बात नरसेः ने ईरान की उत्तरपच्छिमी सीमा पर पाइकुली नामक स्थान पर बनवाये अपने मन्दिर में के अभिलेख में दर्ज की, जो अब खण्डित रूप में विद्यमान है।

भारत से जो सेनापति इस अवसर पर सेना ले कर शकस्थान गया उसने भी मैसूर के चित्तलद्रुग के पास चन्द्रवल्ली की चट्टान पर के लेख में अपने शकस्थान जाने की बात दर्ज की है। उसकी कहानी मनोरंजक है। कादम्ब वंश का मयूरशर्मा नामक कर्णाटक का विद्यार्थी काञ्ची की किसी 'घटिका' (पाठशाला) में वेद पढ़ने गया। वहाँ उसका पल्लव राज्य के किसी घुड़सवार सैनिक से झगड़ा हो गया जिससे उसे लड़ाई का चसका लग गया। अपने जैसों का दल बना कर वह पल्लव राज्य की सीमा पर चला गया और वहाँ से

उस राज्य पर झपटे मारना शुरू किया। जान पड़ता है जब वह पल्लव और वाकाटक राज्यों की सीमा पर ऐसी कार्रवाई करता था तब सम्राट् प्रवरसेन का ध्यान उसकी ओर गया और उसने उसे अपनी सेवा में ले लिया। सम्राट् के सेनापति की हैसियत में मयूरशर्मा ने कोंकण और राजस्थान में अपनी योग्यता का परिचय दिया, और फिर ईरान के गृह-युद्ध में वरह्रान का साथ देने को सिन्ध-शकस्थान भेजा गया।

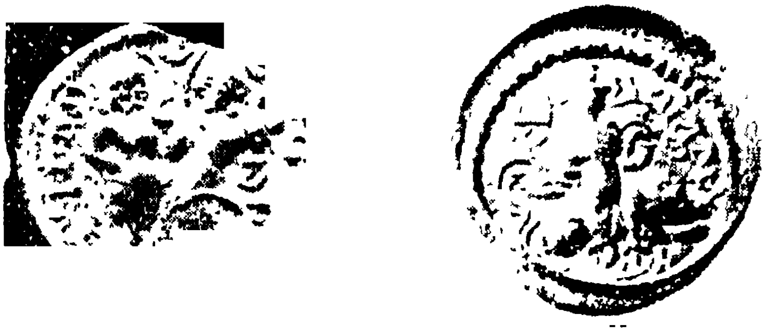
उस घरेलू युद्ध में नरसेः की जीत हुई। प्रवरसेन का अभीष्ट सिद्ध नहीं हुआ। उसने जो सेना सिन्ध-शकस्थान को भेजी थी, वह राजस्थान और सुराष्ट्र दोनों के रास्तों से गई होगी। वह सिन्ध नहीं ले सका, पर अपनी लौटती सेना द्वारा उसने सुराष्ट्र के क्षत्रप राज्य को आधिपत्य में ले लिया (२९५ ई०), जिससे सिन्ध की तरफ से सासानियों के उधर बढ़ने पर रोक लगी रहे। सुराष्ट्र के शासकों ने तब से महाक्षत्रप का पद छोड़ क्षत्रप पद धारण किया। ३७ बरस बाद, ३३२ ई० में, प्रवरसेन ने क्षत्रप राजवंश को मिटा कर सुराष्ट्र को अपने सीधे शासन में ले लिया। यों उत्तर भारतीय मैदान को छोड़ कर प्रायः समूचा भारत उसके साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया। प्रवरसेन ने ६० वर्ष तक (लग० २८४–३४४ ई०) न्यायपूर्वक और दृढ़ता के साथ के इस साम्राज्य का शासन-सूत्र सँभाला। साम्राज्य और सम्राट् शब्दों का प्रयोग आजकल हम बहुत करते हैं। प्राचीन भारत में भी अनेक साम्राज्य खड़े होते रहे, पर सम्राट शब्द का प्रयोग हमारे पुराने इतिहास में कम हुआ। उस अर्थ में दूसरे शब्द प्रचलित थे। पर प्रवरसेन के नाम के साथ सम्राट् विशेषण उसके समकालिकों का ही लगाया हुआ है। अनुश्रुति में वह सम्राट् प्रवरसेन नाम से ही प्रसिद्ध है।

कादम्ब मयूरशर्मा को पल्लव महाराजा ने पीछे पच्छिमी समुद्र से लगा कुन्तल प्रदेश (उत्तरी कर्णाटक) सौंप कर अपने हाथों उसका अभिषेक किया। उसकी राजधानी वैजयन्ती ही रही। कादम्बों ने भी धर्ममहाराज पद और उसका आदर्श अपनाया। मयूरशर्मा के वंशज 'वर्मा' बन गये।

शाहानशाह नरसेः ने केवल नौ बरस राज किया और उसके बेटे

होर्मिज़्द २य ने आठ बरस (३०२–३०६ ई०)। होर्मिज़्द का विवाह काबुल के कनिष्कवंशी राजा की बेटी से हुआ। कनिष्क के वंश में वह अन्तिम नाम लेने योग्य राजा था। उसके बाद उसका राज्य टुकड़े टुकड़े हो गया। प्रवरसेन की मृत्यु पर अफगान पठार और पच्छिमी गन्धार में पाँच छोटे छोटे राज्य थे।

§ १०. **गुप्त वंश का उदय**—उत्तर भारत से ऋषिक साम्राज्य उठ जाने के बाद वहाँ जो नये राज्य खड़े हुए उनमें से एक की स्थापना अयोध्या अथवा पुण्ड्रवर्धन (पुर्णिया और उत्तरी बंगाल) में गुप्त नामक पुरुष ने की थी। गुप्त विन्ध्यशक्ति वाकाटक का समकालिक था। उसका उत्तराधिकारी उसका बेटा घटोत्कच हुआ, और घटोत्कच के बेटे चन्द्र ने अपने को चन्द्र-गुप्त कहा। गुप्त तब से इस वंश का नाम हो गया।



चन्द्रगुप्त १म और कुमारदेवी का सोने का सिक्का
चित, राजा-रानी, लेख—चन्द्रगुप्त श्रीकुमार देवी;
पट, सिंह पर दाहिने मुख बैठी देवी,
लेख—लिच्छवयः।
[श्रीनाथ साह संग्रह]

मिथिला में तभी लिच्छवि गण फिर किसी रूप में उठ खड़ा हुआ था। शैशुनाक नन्द मौर्य शुंग सातवाहन और ऋषिक साम्राज्यों के अधीन साढ़े सात शताब्दियों तक रहने के बाद भी लिच्छवियों का गण-संघटन किसी तरह बना हुआ था। हमने देखा है कि तीसरी शताब्दी के आरम्भ में उसकी एक शाखा नेपाल में स्थापित हुई थी [ऊपर § ५]। चन्द्र-गुप्त ने लिच्छवियों की कन्या कुमारदेवी से विवाह किया। गुप्त और लिच्छवि राज्य उस विवाह से मिल गये और दोनों के साझे सिक्के निकाले गये, जिनपर चन्द्रगुप्त और कुमारदेवी दोनों की मूरतें छापी गईं। लिच्छवियों ने यों चन्द्र-गुप्त की संरक्षा स्वीकार की। जान पड़ता है पास-पड़ोस की राजनीतिक दशा के कारण उन्हें वैसे संरक्षण की—किसी पड़ोसी

राज्य से अच्छी शर्त्तों पर मिल जाने की या किसी शक्त पुरुष के नेतृत्व की—आवश्यकता थी; इसलिए चन्द्र-गुप्त के साथ यह नाता जोड़ कर उन्होंने दोनों राज्यों को मिला लिया। गुप्त और लिच्छवि राज्यों के यों मिल जाने से ही प्रकट है कि दोनों एक-दूसरे से लगे हुए थे। लिच्छवियों का राज्य मिथिला में था। और मगध चन्द्र-गुप्त के पीछे जीता गया, इसलिए गुप्त राज्य मिथिला के पच्छिम अवध में अथवा पूरब पुण्ड्रवर्धन में था।

चन्द्र-गुप्त और कुमारदेवी के बेटे समुद्र-गुप्त का अभिषेक ३२० ई० में हुआ। उससे नये संवत् का आरम्भ माना गया जिसे हम गुप्त संवत् कहते हैं।*

राज्य पाते ही समुद्र-गुप्त ने मगध पर चढ़ाई की। अवध के पच्छिम वाले ठेठ हिन्दुस्तान के दूसरे राज्यों—पञ्चाल मथुरा आदि—का मगध के साथ कोई नाता या सन्धि-सम्बन्ध था। वहाँ के राजा मगध को बचाने दौड़े। समुद्र-गुप्त ने अपनी सेना का एक अंश मगध में छोड़ स्वयं पच्छिम बढ़ कर कौशाम्बी के आसपास उन राजाओं का सामना किया। वहाँ उसने पंचाल के राजा अच्युत, मथुरा के राजा नागसेन आदि को पूरी तरह हराया। इधर उसकी सेना ने पाटलिपुत्र में मगध के राजा को "खेल के खेल में ही" पकड़ लिया। पाटलिपुत्र को समुद्र-गुप्त ने अपनी राजधानी बनाया और उपरले गंगा-जमना काँठों के उसके वश में आने का रास्ता साफ हो गया। इसके बाद वह प्रवरसेन की मृत्यु होने तक अवसर की ताक में रहा।†

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. कनिष्क वंश का साम्राज्य उत्तर भारत से कब कैसे उखड़ा? कौन कौन से नये राज्य उसके स्थान में उठे?

* ३२० ई० में गुप्त संवत् का आरम्भ पहले चन्द्र-गुप्त १म के अभिषेक से माना जाता रहा है, पर इधर की विवेचना से वह मत बदलना पड़ा है।

† इस तथा अगले अध्याय में उल्लिखित घटनाओं के विस्तारपूर्वक विवेचन के लिए देखिए ज० च० विद्यालंकार (१९५६)—भारतीय इतिहास की मीमांसा, नव-परिशिष्ट ३ (पृ० २५६–२६६)।

२. आभीर और मघ राजवंश कब कहाँ थे ? इतिहास में उनका विशिष्ट कार्य क्या है ?

३. सासानी कौन थे ? ३४० ई० तक भारत की सीमा के किन प्रदेशों पर उनका कब कब कैसे अधिकार हुआ ?

४. यौधेय कुणिन्द मालव और लिच्छवि गणों का तीसरी शताब्दी ई० के इतिहास में विशेष कार्य क्या है ?

५. तीसरी शताब्दी ई० में इक्ष्वाकु वंश कहाँ राज्य करता था ? और चुटु-सातवाहन कहाँ ? इन वंशों का उदय और अस्त कब कैसे हुआ ?

६. बलख के सासानी सिक्कों पर शिव-नन्दी की मूरतें क्यों अंकित की जाती रहीं ?

७. वाकाटक विन्ध्यशक्ति और प्रवरसेन का वृत्तान्त संक्षेप से दीजिए।

८. पल्लव वंश का राज्य कहाँ था ? उसका उदय कब कैसे हुआ ? गुप्त वंश का राज्य आरम्भ में कहाँ था ? उसका उदय कब कैसे हुआ ? कादम्ब वंश का ?

९. २२५ ई० से ३३२ ई० तक पच्छिमी क्षत्रपों के राज्य का ह्रास और लोप कैसे हुआ ?

१०. पंजाब मध्य एशिया और अफगानिस्तान में कनिष्क वंश के राज्य का ह्रास और लोप कैसे हुआ ?

अध्याय २

गुप्त साम्राज्य का उदय और उत्कर्ष

(३४४–४५५ ई०)

§ १. समुद्र-गुप्त द्वारा साम्राज्य की स्थापना—प्रवरसेन के आँख मूँदते ही समुद्र-गुप्त ने वाकाटक साम्राज्य के दक्खिनपूरबी पहलू पर चढ़ाई की। मगध और झाड़खंड से कोशल (छत्तीसगढ़) और महाकान्तार (बस्तर) जीतता हुआ वह आन्ध्र देश की तरफ बढ़ा। कुराळ (कोल्लेरू) झील पर कलिंग और आन्ध्र के सरदारों ने तथा कांची के पल्लव राजा सिंहवर्मा के छोटे भाई विष्णुगोप ने उसका सामना किया। युद्ध में ये सब राजा कैदी हुए और अधीनता मानने पर छोड़े गये। वाकाटक साम्राज्य का दक्खिनपूरबी पहलू यों टूट कर समुद्र-गुप्त के राज्य में चला गया।

इसके बाद उसने वाकाटक साम्राज्य के उत्तरपच्छिमी पहलू पर चोट की। पद्मावती और अवन्ति को चीरता हुआ वह वीणा नदी के तट पर अरिकिण (एरण, जि० सागर में) तक पहुँच गया। प्रवरसेन के पोते रुद्रसेन



एरण (जि० सागर) में समुद्र-गुप्त की रानी के स्थापित किये विष्णु-मन्दिर के अवशेष [भा० पु० वि०]

या रुद्रदेव ने, जान पड़ता है, उस लड़ाई में वीरगति पाई। समुद्र-गुप्त ने इसके बाद वाकाटक राज्य को और नहीं छेड़ा, पर 'आर्यावर्त्त' अर्थात् ठेठ हिन्दुस्तान के अच्युत, नागसेन आदि ८–९ राजाओं को "जबरदस्ती उखाड़" कर समूचे गङ्गा-जमना काँठों को अपने सीधे शासन में ले लिया, और मगध और दक्खिण कोशल के बीच की 'अटवी' (जंगल)—अर्थात् आजकल के झाड़खंड और जबलपुर प्रदेश—के सब छोटे छोटे राज्यों को अपना 'परिचारक' (सेवक) बना लिया।

यों भारत का साम्राज्य वाकाटकों के हाथ से समुद्र-गुप्त के हाथ आ गया। उसका प्रताप देखते हुए अनेक "प्रत्यन्तों" अर्थात् सीमान्तों के राज्यों ने आपसे आप उसे कर देना और उसकी आज्ञा में रहना मान लिया। इन "प्रत्यन्त" राज्यों में (१) समतट (गंगा-ब्रह्मपुत्र का मुहाना अथवा उसके पूरब लगा हुआ तट-प्रदेश) (२) डवाक (चटगाँव-त्रिपुरा अथवा असम का नौगाँव ज़िला) (३) कामरूप (४) नेपाल तथा (५) कर्तृपुर (कुमाऊँ में कत्यूर) के राज्यां और (६) मालव (७) आर्जुनायन (८) यौधेयां† (९) माद्रक (१०) आभीर आदि अनेक गणराज्यों की गिनती थी। नेपाल में तो गुप्तों के सम्बन्धी लिच्छवियों का ही राज्य था। आर्जुनायनों का गणराज्य आधुनिक भरतपुर-आगरा प्रदेश में, मालवों के उत्तरपूरब तथा यौधेयों के दक्खिनपूरब था। माद्रक प्राचीन मद्र देश अर्थात् रावी-चनाब दोआब में थे।

प्रवरसेन की मृत्यु पर जब समुद्र-गुप्त ने वाकाटक साम्राज्य के पूरबी पहलू पर चढ़ाई की तभी उसके पच्छिमी प्रान्त सुराष्ट्र गुजरात और दक्खिनी राजस्थान में क्षत्रप वंश का स्वामी-रुद्रदामा (२य) अवसर देख कर महाक्षत्रप बन खड़ा हुआ था। अपने साम्राज्य को संघटित कर चुकते ही समुद्र-गुप्त उसके राज्य पर बिजली की तरह टूट पड़ा (३५१ ई०)। तब स्वामी-रुद्रदामा के बेटे रुद्रसेन (३य) के समूचे राज्य में एकाएक क्रान्ति हो गई, और उस राज्य का अन्त हो गया। १३ वर्ष पीछे रुद्रसेन सामन्त रूप से



समुद्र-गुप्त का अश्वमेध-स्मारक दीनार (सोने का सिक्का)। चित, घोड़े के चौगिर्द लेख—राजाधिराजः पृथिवीं विजित्य दिवं जयत्यप्रतिवार्यवीर्यः। पट, देवी, लेख—अश्वमेधपराक्रमः। [श्रीनाथ साह सं०]

† यौधेयों के वंशज अब जोहिये कहलाते हैं। हिसार साहीवाल (मंटगुमरी) बहावलपुर बीकानेर प्रदेशों में वे अब भी काफी संख्या में है। कुछ सिन्ध में भी।

फिर अपना सिक्का चला सका। समुद्र-गुप्त ने इस प्रकार "अनेक गिराये हुए राज्यों की फिर से स्थापना की।"

वाकाटकों से भारत का साम्राज्य ले लेने के बाद समुद्र-गुप्त ने महाराष्ट्र-कर्णाटक में उनका राज्य बना रहने दिया। यही नहीं, पूरबी बुन्देलखंड में विन्ध्यशक्ति का जो मूल प्रदेश था, उसके गुप्त साम्राज्य से तीन तरफ़ से घिर जाने पर भी उसे नहीं छेड़ा। यों उसने वाकाटक राज्य से समझौता करने का यत्न किया। वाकाटकों की राजधानी आजकल के नागपुर के नज़दीक नन्दिवर्धन नामक स्थान में रही।

§२. कपिश-गन्धार में किदार कुषाण—सुग्ध में बस जाने के बाद उयोन लोग [ऊपर अ० १ § ६] वंक्षु के पार बलख और मर्व पर धावे मारने और वहाँ भी आ कर बसने लगे। बलख और मर्व तब सासानी साम्राज्य में थे और वहाँ ऋषिक सरदार सासानियों के सामन्त रूप में बसे हुए थे। इस अवसर पर उनका नेता किदार कुषाण नामक पराक्रमी पुरुष था। उसने देखा हिन्दकोह के दक्खिन का ऋषिक राज्य भी टुकड़े हुआ पड़ा है। उसने सेना जुटा कर हिन्दकोह पार किया और कपिश और पच्छिमी गन्धार के उन पाँच छोटे राज्यों को जीत पेशावर को अपनी राजधानी बनाया (लग० ३४८–५०)।

सासानी सम्राट् शाहपुह २य ने ३५६ ई० के जाड़े में अपने पूर्वी प्रान्तों पर अधिकार पुनः स्थापित करने को चढ़ाई की। उसने उयोनों को दबाया और किदार कुषाण ने उसकी प्रजा होते हुए जो नया राज्य खड़ा कर लिया था उसपर अपना आधिपत्य जताया। डेढ़ बरस के युद्ध के बाद उयोनों ने बलख-मर्व में और किदार ने अफ़गानिस्तान-गन्धार में उसके सामन्त बन कर रहना माना। शाहपुह उनसे सन्धि कर के लौट गया (३५८ ई०)। तब से बलख-मर्व के वास्तविक शासक उयोन माने गये और उनके सरदार सासानियों के सामन्त रूप में वहाँ अपने सिक्के चलाने लगे। अफ़गानिस्तान और पच्छिमी गन्धार भी सासानी आधिपत्य में चले गये।

किदार अपने बेटे को पेशावर में अपना स्थानापन्न नियत कर फिर बलख गया और वहाँ बचे हुए ऋषिकों को वहाँ से उत्तरपच्छिम वंक्षु के

निचले काँठे में बसाने को ले गया। वंक्षु नदी के पुराने पाट से सूचित होता है कि वह तब कास्पी सागर में मिलती थी। उसके मुहाने के कुछ ऊपर बलकन नामक बस्ती में किदार ने अपने ऋषिकों को जा बसाया।

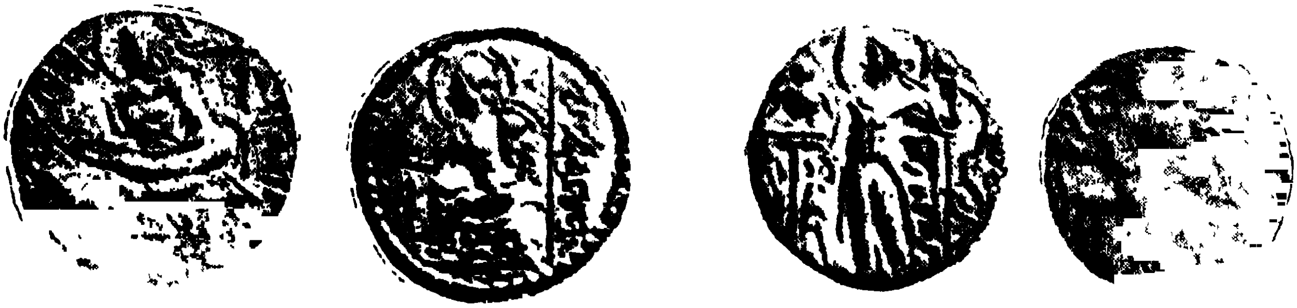
§ ३. पहला गुप्त-सासानी संघर्ष—उक्त घटनाएँ तभी हुईं जब भारत के मुख्य भाग में समुद्र-गुप्त अपना साम्राज्य स्थापित कर रहा था। मद्र-देश तक उसका साम्राज्य कैसे पहुँचा सो हमने देखा है। माद्रक गण को शायद स्वयं समुद्र-गुप्त ने ही उत्तरपच्छिम की नई शक्तियों का रास्ता रोकने को खड़ा किया हो। चनाब नदी तक यों समुद्र-गुप्त का साम्राज्य पहुँच जाने पर किदार कुषाण ने भी उसे अपना अधिपति माना और उससे शह और सहायता पा कर सासानी सम्राट् को चुनौती दी। ३६७-६८ ई० में कुषाण-सासानी युद्ध हुआ। एक लड़ाई में किदार ने पूरी सासानी सेना का संहार कर दिया; दूसरी में, जिसमें स्वयं शाहपुह्र २य सेना का नेतृत्व कर रहा था, शाहपुह्र को मैदान से भगा दिया। समुद्र-गुप्त का इतिहास हम मुख्यतः उसके प्रयाग स्तम्भ-लेख से जानते हैं। ऊपर [§ १ में] जो वृत्तान्त दिया गया है वह उसी के आधार पर। उस अभिलेख में लिखा है कि दैवपुत्र शाहिशाहानुशाहि भी समुद्र-गुप्त का आधिपत्य मानता और उसका गरुड छाप वाला सिक्का अपने राज्य में चलाता था। दैवपुत्र शाहि शाहानुशाहि स्पष्ट ही किदार कुषाण के विरुद थे। यों अफगानिस्तान पर सासानी आधिपत्य केवल नौ वर्ष ही रहा, और उसे हटा कर समुद्र-गुप्त ने अपने साम्राज्य की सीमा हिन्दकोह तक पहुँचा दी।

प्रयाग स्तम्भ-लेख में यह भी लिखा है कि "सिंहल आदि सब द्वीपों के वासी" भी समुद्र-गुप्त को अपना अधिपति मानते थे। सिंहल के राजा मेघवर्ण ने समुद्र-गुप्त की अनुमति पा कर बुद्धगया में सिंहली यात्रियों के लिए एक विहार बनवाया था। भारत का एकमात्र अधिपति होने के कारण समुद्र-गुप्त का प्रभाव बृहत्तर भारत के सुवर्णद्वीप आदि के राज्यों पर भी रहा होगा इसमें सन्देह नहीं।

भारतवर्ष का दिग्विजय कर समुद्र-गुप्त ने अश्वमेध किया। वह जैसा विजेता था, वैसा ही आदर्श राजा और सुशासक भी। वह स्वयं विद्वान् तथा

काव्य और संगीत में विशेष निपुण था। वह और उसके वंशज विष्णु के उपासक थे। भगवान् विष्णु की तरह दुष्टों का दलन कर प्रजा का पालन और मंगल करना तथा राष्ट्र को सब प्रकार समृद्ध बनाना उन्होंने अपना कर्तव्य माना। समुद्र-गुप्त का प्रशासन लग० ३७६–७८ ई० तक चला। प्रवरसेन के बाद उसी की तरह समुद्र-गुप्त ने भी प्रायः बत्तीस चौंतीस बरस भारत में रामराज्य बनाये रक्खा।

समुद्र-गुप्त के सोने के सिक्के



वीणावादक नमूना धनुर्धर नमूना

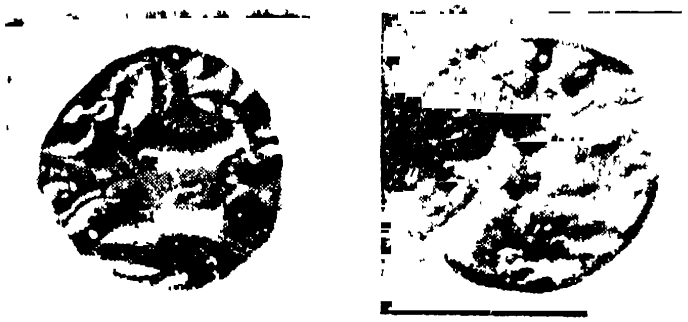
[पटना संग्र०]

§४. **कंगवर्मा और पृथ्वीषेण १म**—हमने देखा है कि समुद्र-गुप्त अपनी दक्खिन की विजय-यात्रा में दक्खिन भारत के पच्छिमी भाग—महाराष्ट्र—की तरफ नहीं गया था। उसके विजयों के बाद भी वाकाटक राज्य पूरबी बुन्देलखंड और महाराष्ट्र में बना ही रहा था। प्रवरसेन का पोता राजा पृथ्वीषेण १म समुद्र-गुप्त का पिछला समकालिक था। कादम्ब मयूरशर्मा के बेटे कंगवर्मा ने पल्लव राजा के समुद्र-गुप्त से हारने के बाद अपना राज्य फैलाने का यत्न किया, पर पृथ्वीषेण ने उत्तर की ओर उसे बढ़ने न दिया और उत्तरी कुन्तल पर भी अधिकार कर लिया।

§५. **दूसरा गुप्त-सासानी संघर्ष, राम-गुप्त और चन्द्र-गुप्त विक्रमादित्य**—समुद्र-गुप्त ने अपने छोटे बेटे चन्द्र-गुप्त को उत्तराधिकारी बनाना चाहा था, पर मन्त्रिपरिषद् ने जेठे बेटे राम-गुप्त को राजगद्दी दी।

उधर सासानी सम्राट् शाहपुह ३य (३८३–३८८ ई०) ने समुद्र-गुप्त और किदार की मृत्यु के बाद अवसर देख कर अफ़गानिस्तान पर फिर आधिपत्य

जमा लिया। किदार का बेटा पिरो, शाहपुह का सामन्त बन गया। तब सासानी साम्राज्य के पूरबी प्रान्तों के शासक राज-प्रतिनिधि सकाम-शाह ने पिरो को साथ ले कर गुप्त साम्राज्य पर चढ़ाई की। राम-गुप्त ने पंजाब में उनका सामना किया। वहाँ ब्यासा नदी के किनारे शिवालक के विष्णुपद पहाड़ पर के गढ़ में शत्रु ने उसे घेर लिया।



चन्द्र-गुप्त विक्रमादित्य का सोने का सिक्का चित, राजा शेर का शिकार करते हुए, लेख—नरेन्द्र···। पट, सिंहवाहिनी देवी, लेख—सिंहविक्रमः। [श्री० सा० सं०]

उस दशा में सकानशाह (शकाधिपति) ने राम-गुप्त से यह प्रस्ताव किया कि तुम अपनी रानी ध्रुवस्वामिनी को सौंप दो तो तुम्हें जाने दूँ! राम-गुप्त ने वह शर्त्त मान ली! राम-गुप्त का जवान भाई चन्द्र-गुप्त भी वहीं था। उससे वह अपमान न सहा गया। ध्रुवस्वामिनी का शत्रु के शिविर में जाना तय हो चुका था। चन्द्र-गुप्त ने भाई को मना कर स्वयं अपनी भावज का भेस धरा और अपने चुने हुए साथियों से उसकी सहेलियों का भेस धरा उनके साथ शत्रु की छावनी में प्रवेश किया। वहाँ कुछ देर शकाधिपति से लीला करने के बाद चन्द्र-गुप्त ने ज्योंही छुरी से उसका काम तमाम कर शंख बजाया, त्योंही उसके साथियों ने शकाधिपति के सरदारों की भी वही गति कर दी, और गढ़ के भीतर वाली सेना ने शत्रु की सेना पर टूट कर उसे मार भगाया।

कायर राम-गुप्त का भी इसके बाद शीघ्र अन्त हुआ और भारत का साम्राज्य चन्द्र-गुप्त को मिला। देवी ध्रुवस्वामिनी ने अपने उद्धारक को अपना पति वरा।

चन्द्र-गुप्त ने इसके बाद पंजाब पार कर अफगानिस्तान पर चढ़ाई की और किदार के वंशजों को पूरी तरह हरा कर तथा सासानियों को खदेड़ कर वहाँ अपना आधिपत्य स्थापित किया। राम-गुप्त के प्रशासन की कमज़ोरी अथवा शकाधिपति की चढ़ाई से लाभ उठा कर पच्छिम भारत में फिर एक

स्वतन्त्र महाक्षत्रप उठ खड़ा हुआ था। अफ़गानिस्तान से लौट कर चन्द्र-गुप्त ने उस राजवंश को भी सदा के लिए मिटा दिया (३६० ई०)।



उदयगिरि की चन्द्रगुप्तगुहा के बाहर वराहमूर्ति, वराह की दन्तकोटि पर लटकती हुई स्त्रीमूर्ति पृथिवी या ध्रुवस्वामिनी।
[श्री अरुणचन्द्र नारंग द्वारा फ़ोटो]

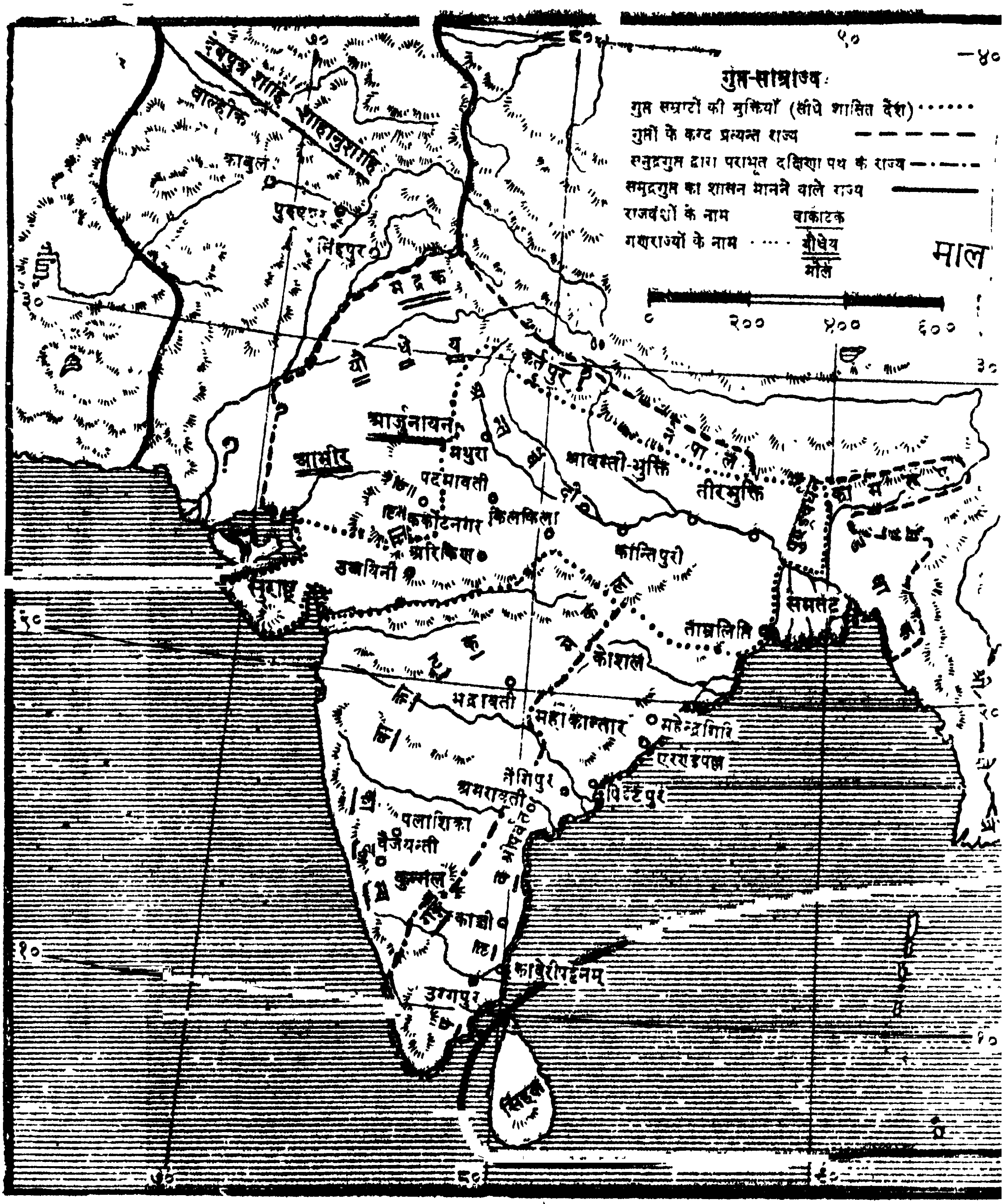
भिलसा के पास उदयगिरि में चन्द्र-गुप्त के बनवाये हुए गुहा-मन्दिरों के बाहर पृथिवी का उद्धार करते हुए वराह की विशाल मूर्ति बनी है, जिसमें ध्रुवस्वामिनी के उद्धारक चन्द्र-गुप्त के तेज और वीर्य की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। वह भारतीय मूर्त्ति-कला के सब से ओजस्वी नमूनों में से भी है।

राजा चन्द्र के विजयों का स्मारक लोहे का एक खंभा विष्णुपद पहाड़ पर खड़ा किया गया था। वह चन्द्र चन्द्र-गुप्त विक्रमादित्य के सिवाय कोई नहीं हो सकता। उस खंभे को चन्द्र-गुप्त ने ;शायद अपने सामने ढलवाया हो, पर उसपर का लेख उसकी मृत्यु के शीघ्र बाद का खोदा हुआ है। ११वीं शताब्दी में दिल्ली का संस्थापक अनंगपाल तोमर, जिसका राज्य शिवालक तक था, उस खंभे को उठवा कर अपनी राजधानी में ले आया। तब से वह "लोहे की कीली" दिल्ली की महरौली बस्ती में खड़ी है। उसपर यह लिखा है कि "वंगदेश (पूरबी बंगाल) में इकट्ठे हो कर आये हुए शत्रुओं को छाती से पीछे धकेलते हुए लड़ाई में जिसकी भुजा पर तलवार ने कीर्त्ति खोद दी थी, जिसने सिन्ध के सात मुँहों (= सतलज ब्यास रावी चनाब जेहलम सिन्ध और काबुल नदियों) को युद्ध में तैर कर वाह्लीकों (बलखवालों = किदार-वंशजों) को जीता, जिसके वीर्य-



चन्द्रगुप्त-गुहा का एक ओर दृश्य। ऊपर उदयगिरि है जिसमें और भी अनेक गुहाएँ कटी हुई हैं। [ग्वालियर पु० वि०]

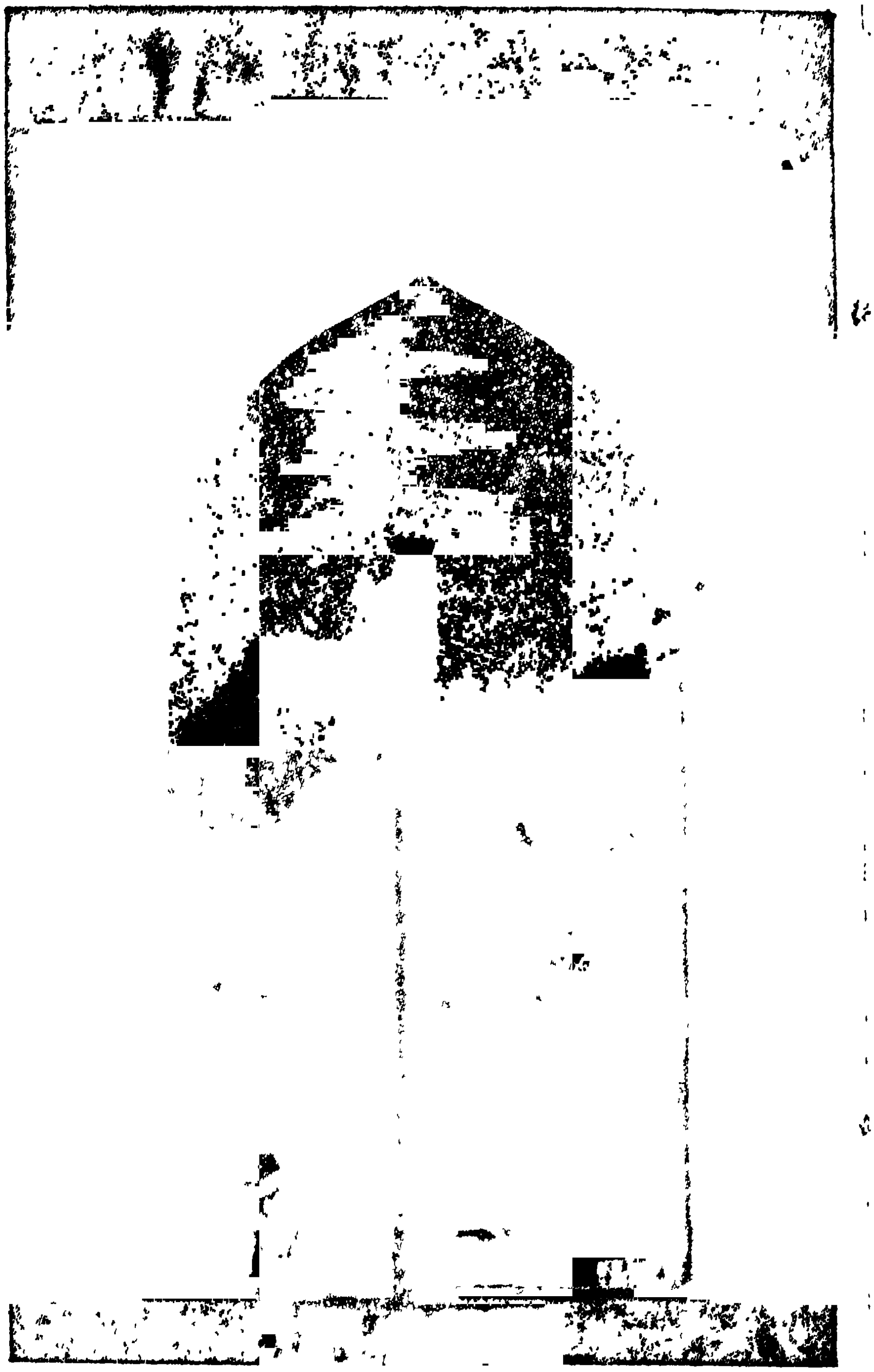
वायुओं से दक्षिणी समुद्र आज भी सुवासित है, ··· उस चन्द्र नामक ··· राजा



नक्शा—१८

ने ··· भगवान् विष्णु का यह ऊँचा ध्वज (खड़ा) करवाया ।”

इस लेख में बताये घटनाओं के क्रम से प्रकट होता है कि चन्द्र-गुप्त ने पहले पूरबी बंगाल में सम्मिलित शत्रुओं को हराया, फिर अफगानिस्तान पर चढ़ाई की और पीछे दक्षिणी समुद्र के पास पराक्रम दिखाया । जिन्हें आज हम बंगाल की खाड़ी, अरब सागर और हिन्द महासागर कहते हैं, उन्हें हमारे प्राचीन वाङ्मय में क्रमशः पूर्वी सागर, पच्छिमी सागर और दक्खिनी सागर कहा जाता था, दक्षिणी समुद्र का दूसरा कोई अर्थ न होता था । जान पड़ता है, वाकाटक राज्य के साथ पूरी मैत्री स्थापित हो जाने के बाद चन्द्र-गुप्त ने भारत के दक्खिनी छोर तक भी अपना आधिपत्य फैलाया ।



महरौली में राजा चन्द्र की लोहे की कीली । पड़ोस की टूटी मसजिद अनंगपाल के मन्दिर का रूपान्तर है ।
[भा० पु० वि०]

इन विजयों के बाद चन्द्र-गुप्त का विक्रमादित्य पद धारण करना सर्वथा सार्थक था। चीनी यात्री फ़ाहिएन के कथनानुसार उसने अपने राज्य से मृत्यु-दण्ड उठा दिया था। पूर्णतः शक्त सुव्यवस्थित और न्यायपूर्ण शासन में ही वैसा हो सकता था। हम देखेंगे कि चन्द्र-गुप्त के दृढ और न्यायपूर्ण शासन का अनुसरण करने का प्रयत्न बृहत्तर भारत के उपनिवेशों ने भी किया था।

§६. **प्रभावती गुप्ता**—चन्द्र-गुप्त की पहली रानी कुबेरनागा से प्रभावती नामक बेटी हुई थी। उसका विवाह उसने वाकाटक राजा पृथ्वीषेण के बेटे रुद्रसेन २य से किया। यों गुप्त और वाकाटक राज्यों का परस्पर समझौता पूरा हुआ और समूचा भारत एक तरह से एक साम्राज्य में आ जाने की भूमिका बँधी। रुद्रसेन २य विवाह के कुछ ही बरस बाद चल बसा। उसका बड़ा बेटा दिवाकरसेन तब पाँच बरस का और छोटा दामोदरसेन दो बरस का था। रानी प्रभावती दिवाकरसेन के नाम पर शासन चलाने लगी। चन्द्र-गुप्त विक्रमादित्य ने उसकी सहायता के लिए कई योग्य राज्याधिकारी भेज दिये। उनमें से एक कवि कालिदास था जिसे सम्राट् ने अपने दोहतों की शिक्षा के लिए भेजा था। दिवाकरसेन की भी अठारह बरस की आयु में अकाल मृत्यु हुई तब रानी प्रभावती ने छोटे बेटे के नाम पर कुछ बरस और शासन किया (लग० ३६५–४१५ ई०)। वह तीसरा बेटा पीछे प्रवरसेन २य नाम से राजा हुआ।



कुमार-गुप्त १म का सोने का सिक्का
चित, राजा घोड़े पर सवार, लेख—गुप्तकुल-व्योमशशी जयत्यजेयो जितामरेन्द्रः।
पट, देवी मोर को खिलाते हुए।
[श्री० सा० सं०]

§७. **कुमारगुप्त १म**—चन्द्र-गुप्त विक्रमादित्य के बाद उसके बेटे कुमार-गुप्त ने ४० वर्ष (४१५–४५५ ई०) शान्ति-पूर्वक राज्य किया। वाकाटक राज्य में यही काल प्रभावती के बेटे प्रवरसेन २य और उसके बेटे नरेन्द्रसेन के शासन में बीता। राजगृह और पाटलिपुत्र के बीच नालन्दा में कुमार-गुप्त ने एक

महाविहार की स्थापना की। आगे चल कर वह महान् विद्यापीठ रूप में प्रसिद्ध हुआ। कुमार-गुप्त के प्रशासन में भारतवर्ष में शान्ति और समृद्धि बनी रही। किन्तु तभी उत्तरपच्छिमी सीमान्त पर नई आँधी आई जिसे वह रोक न सका।

§ ८. मध्य एशिया में हूण—प्रायः पाँच सौ बरस चुप रहने के बाद चौथी शताब्दी ई० के अन्त में हूण लोग फिर अपने घरों से निकले और टिड्डी-दल की तरह संसार के सभ्य देशों पर छा गये। जहाँ कहीं वे पहुँचते, गाँव और बस्तियाँ जलाते और मारकाट मचाते जाते। उस काल के सभ्य जगत् की दृष्टि में उनकी जंगली आदतों के अतिरिक्त चिपटी नाकें गड़ी हुई छोटी आँखें और कर्कश आवाज़ उन्हें और भी भयंकर बना देती थी। उनकी एक बाढ़ वोल्गा नदी को लाँघ कर युरोप चली गई और रोम-साम्राज्य पर मँडराने लगी। जैसे प्राचीन ईरान और आर्यावर्त के उत्तरी सीमान्त पर शक आर्य लोग रहते थे, वैसे ही रोम-साम्राज्य के उत्तरपूरब राइन और दान्यूब नदियों के उस तरफ गत (Goth)* स्लाव त्यूतन आदि अर्ध-सभ्य आर्य जातियाँ रहती थीं। हूणों ने उनके देश में खलबली मचा दी, जिससे वे रोम-साम्राज्य पर जा टूटीं और उसे तहसनहस करने लगीं। स्वयं हूण मध्य युरोप तक जा पहुँचे, जहाँ उनके नाम से एक देश हुनगारी कहलाने लगा, तथा उनके भाईबन्दों के नाम से एक देश बुलगारिया। अतिला नामक हूण सरदार ने रोम का पूरा पराभव कर उसे लूट लिया।

हूणों की दूसरी बाढ़ थियानशान और पामीर के पच्छिम के मध्य एशिया के राज्यों पर टूटी (लग० ४२५ ई०)। मध्य एशिया की शान्ति समृद्धि और सभ्यता को तब गहरा धक्का लगा। सुग्ध दोआब को जीत कर हूणों ने ईरान के सासानी राज्य पर हमले करना शुरू किया। सासानियों से उनका युद्ध प्रायः सवा सौ बरस तक जारी रहा।

* भारतीय अभिलेखों में गौथ के लिए गत शब्द आया है। महाराष्ट्र के जुन्नर नामक स्थान में सातवाहन युग के दो लेख हैं, जिनमें दो गत यवनों द्वारा बौद्ध संघ को दान दिये जाने की बात दर्ज है। यवन शब्द वहाँ युरोपीय के अर्थ में है।

वंक्षु के काँठे (पच्छिमी मध्य एशिया) में हूणों के टिक जाने से सीता के काँठे (पूरबी मध्य एशिया) के भारतीय राज्य उत्तर और पच्छिम से घिर गये। उनका पच्छिमी देशों से सम्बन्ध टूट गया और भारत से सम्बन्ध के मार्ग भी खतरे में पड़ गये। हूण लोग उन राज्यों पर भी जब तब धावे मारने लगे, जिससे उनपर आतंक बना रहने लगा।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. समुद्र-गुप्त से पहले भारत के राज्यों का नकशा कैसा था? समुद्र-गुप्त ने उसे पलट कर कैसा कर दिया?

२. समुद्र-गुप्त के अधीन कौन कौन से प्रत्यन्त राज्य और गणराज्य कहाँ कहाँ थे?

३. भारत के किस मुख्य भाग का समुद्र गुप्त ने विजय नहीं किया? क्यों? उसके उत्तराधिकारी ने उस नीति को कहाँ तक कैसे जारी रक्खा?

४. चन्द्र-गुप्त विक्रमादित्य के कार्यों का वृत्तान्त संक्षेप से कहिए।

५. किदार कुषाण कौन था? उसका वृत्तान्त संक्षेप से दीजिए।

६. पहला और दूसरा गुप्त-सासानी संघर्ष किन दशाओं में कैसे हुआ? प्रत्येक का फल क्या निकला?

रानी प्रभावती का वृत्तान्त संक्षेप से कहिए।

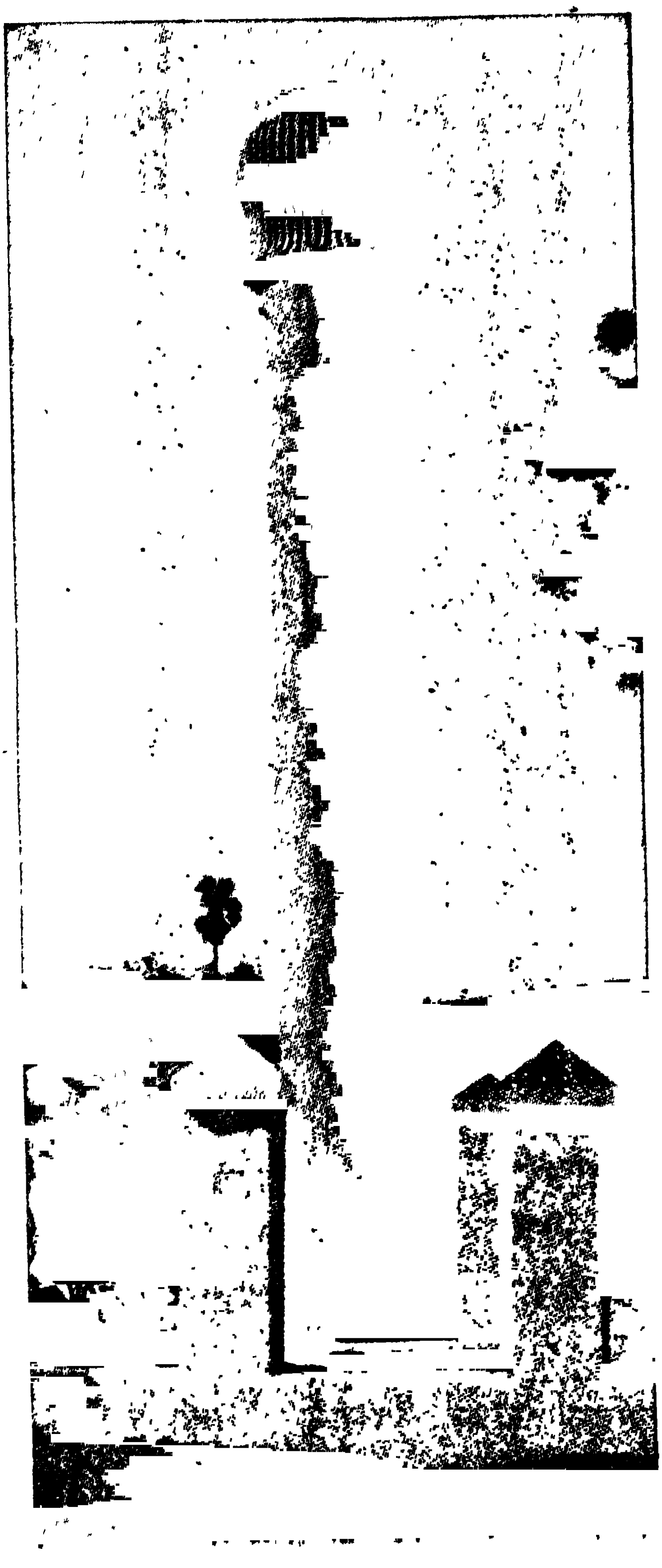
८. महरौली स्तम्भ पर क्या लिखा है? उसकी व्याख्या कीजिए।

अध्याय ३

गुप्त साम्राज्य हूण और यशोधर्मा

(४५५—५४३ ई०)

§१. **स्कन्द-गुप्त**—४५४ ई० में सासानी राजा यज्दगुर्ग २य को हरा कर हूणों का एक दल अफगानिस्तान पंजाब लाँघता हुआ प्रतीत होता है भारत के मध्यदेश में बनारस के उत्तर तक बढ़ आया। कुमार-गुप्त की मृत्यु उसी अवसर पर शायद हूण आक्रमण से पैदा हुई अव्यवस्था में हुई। उसकी मृत्यु पर "गुप्त वंश की राज्यलक्ष्मी डगमगा गई", पर उसका नौजवान बेटा स्कन्द बहादुरी से शत्रुओं का सामना करता रहा। वे शत्रु एक तो हूण थे,



स्कन्द-गुप्त का हूण-विजय का स्मारक स्तम्भ सैदपुर-भितरी (जि० गाजीपुर)। [भा० पु० वि०].

दूसरा पुष्यमित्र नामक गण था, जिसने अब विद्रोह किया था। युद्ध में एक रात स्कन्द को अपने सैनिकों के साथ नंगी ज़मीन पर सो कर बितानी पड़ी। तीन महीने के अन्दर सब शत्रुओं को परास्त कर विजय का समाचार लिये स्कन्द अपनी माँ के पास उसी तरह पहुँचा, जैसे "कृष्ण देवकी के पास गया था।" माँ ने डबडबाई आँखों से उसका स्वागत किया। हूणों को उसने ऐसी हार दी कि अगले तीस बरस तक उन्होंने भारतवर्ष की ओर मुँह न फेरा, और प्रायः ५५ बरस तक गुप्त साम्राज्य को फिर न छेड़ा। उस विजय का स्मारक स्तम्भ गाज़ीपुर ज़िले के सैदपुर-भितरी गाँव में अब भी खड़ा है। बहुत सम्भवतः वहीं स्कन्द ने हूणों को हराया था। स्कन्दगुप्त के बारह बरस (४५५-४६७) के प्रशासन में गुप्त साम्राज्य का गौरव बना रहा।

§ २. पिछले गुप्त सम्राट—स्कन्द-गुप्त के बाद दस बरस

में दो-एक सम्राटों ने राज किया, और फिर बीस बरस तक (४७७–९६) बुध-गुप्त ने। उसके बाद चौथाई शताब्दी दो या अधिक सम्राटों के प्रशासन में बीती, जिनमें से एक भानु-गुप्त था। इन सम्राटों का वंशवृक्ष और राज्यकाल, जो अभी तक जाना जा सका है, इस प्रकार है—

कुमार-गुप्त १म
४१५–४५५
- घटोत्कच-गुप्त
- स्कन्द-गुप्त ४५५–४६७
- कुमार-गुप्त २य ४७४
- पुरु-गुप्त
  - बुध-गुप्त ४७७–४९६
  - भानु-गुप्त ५११
  - वैन्य-गुप्त ५०८
  - नरसिंह-गुप्त बालादित्य
    - कुमार-गुप्त ३य
      - विष्णु-गुप्त

§ ३. **गन्धार में हूण; तोरमाण और मिहिरकुल**—उधर ईरान के सासानी शाहों का मध्य एशिया में हूणों के साथ मुकाबला जारी रहा। ४८४ ई० में शाह पीरोज़ उनसे लड़ता हुआ मारा गया। तब उन्होंने बलख को अपनी राजधानी बना अफगानिस्तान को भी पैरों तले रौंद डाला और उसकी अनेक सुन्दर सभ्य बस्तियों को मटियामेट कर डाला। गन्धार पहुँच कर हूणों ने वहाँ भी अधिकार जमा लिया।

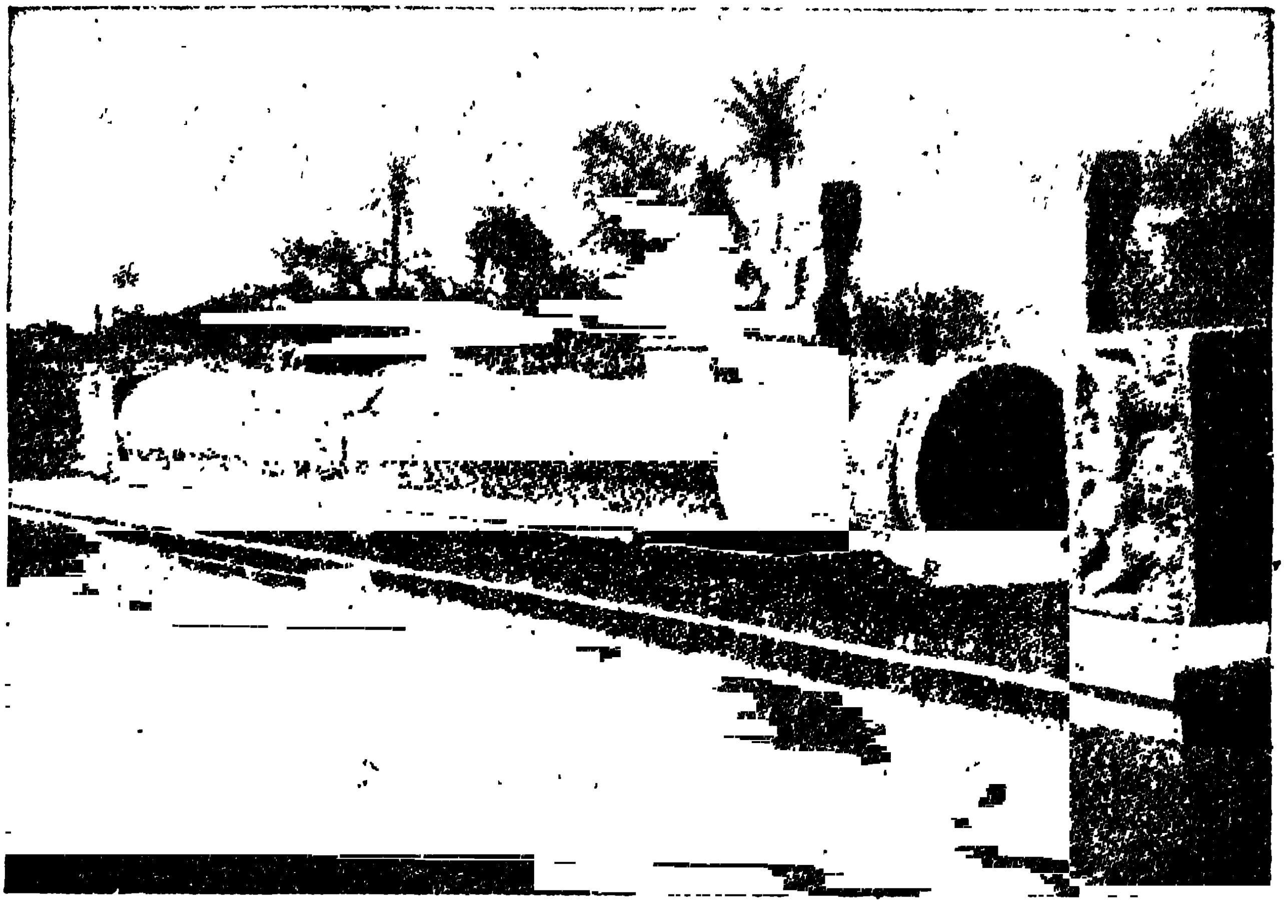
५०० ई० के बाद गन्धार का हूण राजा तोरमाण "षाही जऊव्ल" था। उसने गुप्त साम्राज्य को कमज़ोर पा कर उस साम्राज्य के पच्छिमोत्तर पंजाब से अवन्ति तक जो 'प्रत्यन्त' (सीमा के) गणराज्य थे उन्हें एक एक कर जीत लिया। उस दशा में अवन्ति पर भी खतरा देखते हुए वाकाटक राजा हरिषेण ने उत्तर बढ़ कर अवन्ति को अपने राज्य में ले लिया। तोरमाण ने

तब चम्बल के काँठे से पूरब बढ़ कर विन्ध्याचल के प्रदेश में गुप्त साम्राज्य के दक्खिनपच्छिमी पहलू पर चोट की। सम्राट् भानु-गुप्त अपने सामन्तों के साथ एरण में हूणों के विरुद्ध बहादुरी से लड़ा (५१० ई०)। किन्तु बाद में सम्राट् बालादित्य ने तोरमाण के बेटे मिहिरगुल या मिहिरकुल को अपना अधिपति माना। बालादित्य या तो भानु-गुप्त का ही उपनाम था, या उसके उत्तराधिकारी का।

मिहिरकुल ने शाकल (स्यालकोट) को अपनी राजधानी बनाया। वह अपने को पशुपति (शिव) का उपासक कहता था। गन्धार की प्रजा पर, विशेष कर बौद्धों पर, उसने बड़े अत्याचार किये, जिससे गन्धार में बौद्ध सम्प्रदाय का अन्त हो गया। बालादित्य ने तब उसका आधिपत्य मानने से इनकार किया। मिहिरकुल ने उसपर चढ़ाई की। बालादित्य उसके सामने भागने का बहाना कर उसे कहीं गंगा के कछार में भटका ले गया, और तब एकाएक हमला कर उसे कैद कर लिया (लग० ५२७ ई०)। मिहिरकुल के प्रजा पर किये अत्याचारों के कारण बालादित्य ने उसे सूली पर चढ़ाना तय किया, किन्तु बालादित्य की माता ने मिहिरकुल की जान बख्श दी। मिहिरकुल पंजाब लौटा, पर उसके भाई ने पीछे उसकी गद्दी हथिया ली थी। तब मिहिरकुल ने भाग कर कश्मीर के राजा के यहाँ शरण ली और कुछ काल बाद अपने आश्रयदाता का राज्य छीन लिया! उसने फिर गन्धार पर चढ़ाई की, और वहाँ बड़े अत्याचार किये। हूणों के दो तीन आक्रमणों से तक्षशिला सदा के लिए मटियामेट हो गई।

§ ४. वाकाटक हरिषेण—कुमार-गुप्त और स्कन्द-गुप्त के प्रशासन में हूणों का पहला आक्रमण होने पर वाकाटक राजा नरेन्द्रसेन ने अवन्ति को अपनी रक्षा में ले लिया था। स्कन्द-गुप्त का साम्राज्य सुराष्ट्र तक फैला हुआ था, जिसका यह अर्थ है कि स्कन्द ने अवन्ति पर भी फिर से आधिपत्य स्थापित कर लिया था। परन्तु पाँचवीं शताब्दी के अन्त में हरिषेण वाकाटक ने अपना राज्य फिर अवन्ति से कुन्तल और दक्षिण कोशल तक फैला लिया। उसके दक्खिन कर्णाटक का कादम्ब और काञ्ची का पल्लव राज्य भी अच्छी दशा में थे।

§५. **जनेन्द्र यशोधर्मा**—पंजाब कुरुक्षेत्र राजस्थान को गुप्त सम्राट् हूणों से न बचा सके तो वहाँ की जनता स्वयं अपनी रक्षा को उठ खड़ी हुई। उसका अगुआ "जनेन्द्र" (जनता का नेता) यशोधर्मा था। उसने दुर्बल गुप्तों के साम्राज्य को अपने हाथ में ले लिया और जनता की सेना खड़ी कर अनेक लड़ाइयों में हूणों को हरा कर उन्हें पीछे ठेला। जिस मिहिरकुल से बालादित्य



दसोर में पड़े हुए यशोधर्मा के विजय-स्तम्भ [ग्वालियर पु० वि०]

डरता फिरता था, उसे यशोधर्मा ने "हिमालय के गढ़ में खदेड़ा, और अपने चरणों पर झुकने को बाधित किया।" मिहिरकुल ने तब अपनी हार की ग्लानि से आत्महत्या कर ली। "लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) के काँठे से महेन्द्र पर्वत (उड़ीसा) तक और हिमालय से पच्छिमी समुद्र तक" समूचा देश अपने उद्धारक यशोधर्मा का शासन मानने लगा। "जिनपर गुप्तों का अधिकार कभी न हुआ था, और जिनमें हूणों की आज्ञा कभी न पहुँची थी" ऐसे कई देश भी उसके अधीन हो गये। वाकाटकों का राज्य भी सम्भवतः उसी के साम्राज्य में मिल गया।

दासोर (मन्दसोर) में यशोधर्मा के विजय-स्तम्भ, जिनमें से एक पर ५८६ मालव-संवत् (=५३२ ई०) का लेख है, अब तक पड़े हैं। यशोधर्मा के पच्चीस-तीस बरस पीछे (५५७–५६७ ई०) ईरान के शाह अनुशीरवाँ ने मध्य एशिया में भी हूणों की शक्ति तोड़ दी।

यशोधर्मा के साथ हमारे इतिहास का प्राचीन काल समाप्त होता है। इसके बाद के प्रायः एक हज़ार बरस को हम मध्य काल कहते हैं।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. सम्राट् स्कन्द-गुप्त किस बात के लिए प्रसिद्ध है ?
२. भारत के किस किस प्रदेश में हूण शासन कब स्थापित हुआ ? क्रमिक वृत्तान्त लिखिए।
३. भारत में हूणों का अंतिम पराभव करने वाले महापुरुष का परिचय दीजिए।
४. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए—
पिछले गुप्त सम्राट् , मिहिरकुल, हरिषेण, यशोधर्मा की साम्राज्य-सीमा, अनुशीरवाँ।
५. तक्षशिला का ध्वंस कब किसने किया ?
६. स्कन्द-गुप्त के समकालिक वाकाटक तथा दक्खिन के राज्यों का विवरण दीजिए।

अध्याय ४

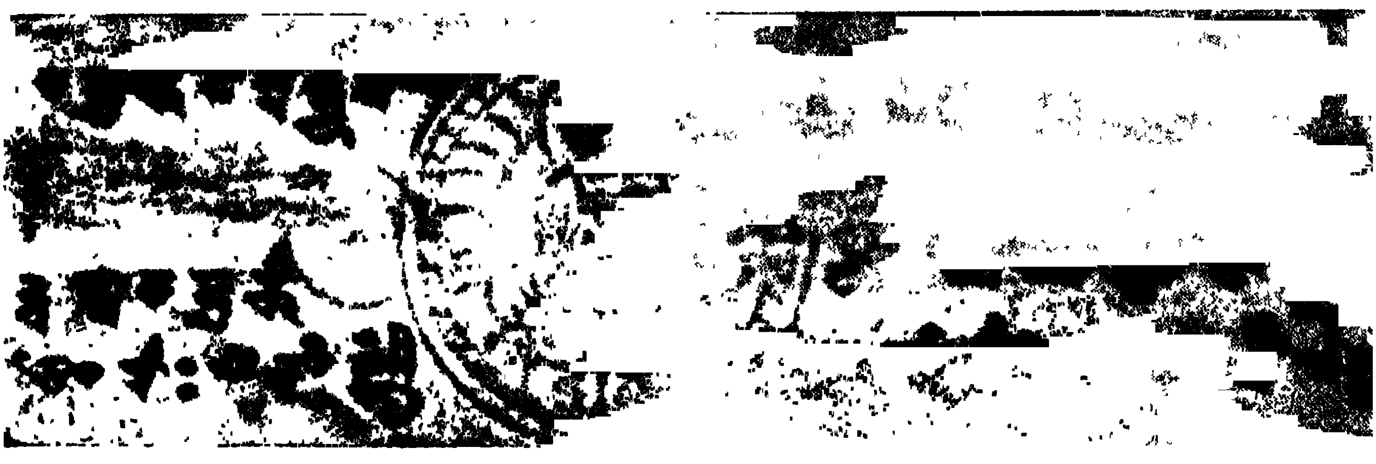
वाकटक-गुप्त युग का बृहत्तर भारत

§ १. भारत का विस्तार—वाकाटक और गुप्त युगों में भारतवर्ष कहने से उपनिवेशों सहित भारतवर्ष ही समझा जाता था। पुराणों में भारतवर्ष के 'नौ भेद' कहे हैं, जिनमें से प्रत्येक स्थल-मार्ग से "परस्पर अगम्य और समुद्र से अन्तरित" है। आज जिसे हम भारत कहते हैं वह उन नौ में से केवल एक है, ताम्रपर्णी या सिंहल दूसरा है, शेष सब परले हिन्द में हैं।

फ़ा-ये नामक चीनी लेखक ने पाँचवीं शताब्दी के शुरू में लिखा कि काबुल से आरम्भ कर दक्खिन-पच्छिम समुद्र-तट तक और वहाँ से पूरब तरफ़ फान-की (व्येतनम) तक सब देश शिन्-तु (सिन्धु = हिन्द) के अन्तर्गत हैं। शिन्-तु को चीनी लोग थियेन-चु (देवताओं का देश) भी कहते थे।

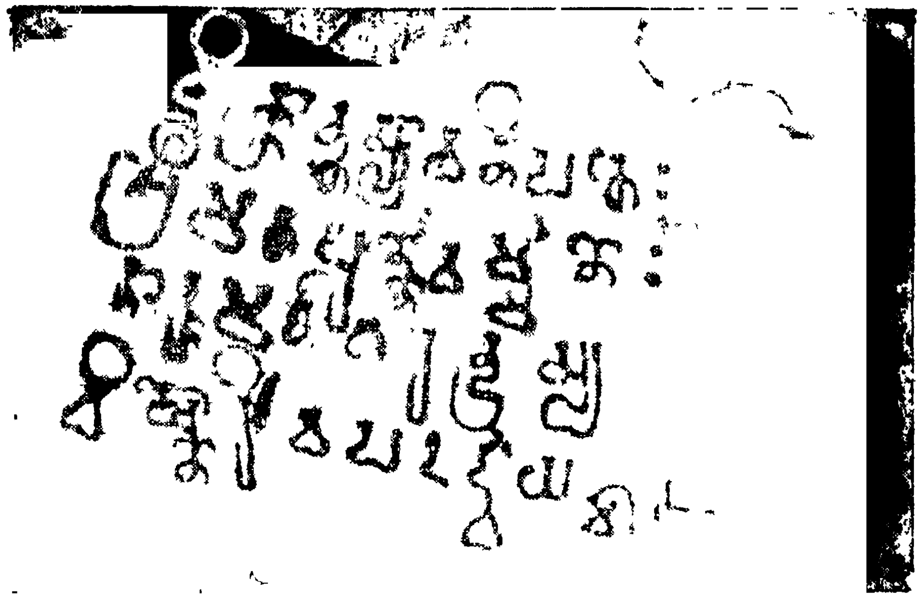
§ २. ब्राह्मी का विस्तार, तुखारी और खोतनदेशी वाङ्मय—तीसरी शताब्दी ई० के आरम्भ से अफगानिस्तान सहित भारत के समूचे उत्तर-पच्छिमी अंचल में खरोष्ठी का स्थान ब्राह्मी लिपि ने ले लिया। ठेठ भारत के बाहर भारतीय प्रभाव के विस्तार का एक प्रकट परिणाम और चिह्न भारतीय लिपि का विस्तार होता था। वाकाटक और पल्लव राज्यों का परले हिन्द के सामुद्रिक उपनिवेशों से घनिष्ठ सम्बन्ध था। वह सम्बन्ध ठेठ भारत तथा उन उपनिवेशों की लिपियों तक का मिलान करने से दिखाई देता है। वाकाटक युग में तत्कालीन बरमा-निवासी प्यू नामक किरात जाति की भाषा भी भारतीय अक्षरों में लिखी जाने लगी।

चीन-हिन्द में तुखार और ऋषिक लोग जो बोलियाँ बोलते थे, वे भी गुप्त युग में लिखी जाने लगीं और सभ्य भाषाएँ बन गईं। उनमें वाङ्मय पैदा हो गया और अच्छे अच्छे ग्रन्थ भी लिखे जाने लगे। वे लिखी गईं हमारे देश की ही लिपि में जो यहाँ गुप्त युग में चलती थी। उनका वाङ्मय भी प्रायः संस्कृत से अनुवादित या उसके नमूने पर बना था। उन भाषाओं को तुखारी और खोतनदेशी कहते हैं। तुखारी तारीम नदी के उत्तर कुचि अग्नि कौशाङ आदि बस्तियों की भाषा थी; खोतनदेशी उसके दक्खिन खोतन प्रदेश की। इनके पच्छिम की सुग्धी भाषा में भी इस युग में संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद हुए।



अश्वघोष-कृत वज्रच्छेदिका के खोतनदेशी अनुवाद की भोजपत्र पर लिखी पोथी का एक पृष्ठ। यह पोथी चीन-हिन्द से मिली है।

§३. परले हिन्द के भारतीय राज्य—परले हिन्द में कलिमन्थन (बोर्नियो) द्वीप के पूरवी छोर तक के भारतीय राज्यों के इस युग के अवशेष पाये गये हैं। पूरवी कलिमन्थन में चौथी शताब्दी में राजा मूलवर्मा का राज्य था, जिसके बनवाये हुए यज्ञों के यूप (खम्भे) और संस्कृत के लेख अब तक विद्यमान हैं। जावा में उसी काल का राजा पूर्णवर्मा का लेख पाया गया है। कलिमन्थन के पूरब सुलवेसि† द्वीप भी इस युग तक भारतीय उपनिवेशन में आ चुका था। उत्तर तरफ फ़िलिपीन में तथा तैवान (फारमोसा) द्वीप के दक्खिनी छोर में भी इस युग में भारतीय उपनिवेश फैले। फ़िलिपीन के अनेक प्रदेश अब तक विषय कहलाते हैं। हम देखेंगे कि ज़िले के अर्थ में विषय शब्द गुप्त युग में चलता था। फ़िलिपीन की भाषा भी ब्राह्मी लिपि में लिखी गई। वह लिपि वहाँ १६वीं शताब्दी के आरम्भ तक जारी रही। फ़िलिपीन ने भारतीय कला को भी अपनाया।



जावा के राजा पूर्णवर्मा का लेख

(पं० १) विक्क्रान्तस्यावनिपतेः (पं० २) श्रीमतः पूर्ण्णवर्म्मणः (पं० ३) तारूमनगरेन्द्रस्य (पं० ४) विष्णोरिव पदद्वयम्।

चम्पा राज्य के चीन के साथ सीमा के प्रश्न को ले कर ३४० ई० से प्रायः एक शताब्दी तक अनेक युद्ध हुए। लग० ४०० ई० में वहाँ राजा भद्रवर्मा था, जिसके लेख अब भी विद्यमान हैं और जिसका बनवाया भद्रेश्वरस्वामी

---

† सुल-वेसि स्थानीय भाषा का नाम है, शब्दार्थ—लोह-द्वीप। अंग्रेज़ी बिगाड़ा हुआ रूप—सेलेबीज़।

नामक शिव का मन्दिर चम्पा का राष्ट्रीय मन्दिर बन गया। भद्रवर्मा का बेटा गंगा की तीर्थयात्रा करने और चन्द्र-गुप्त विक्रमादित्य के ज़माने के ठेठ भारत



खोतनदेशी वर्णमाला और बारहखड़ी का चीन की सीमा के नगर तुएनह्वाङ से मिला पत्रा। शुरु में 'सिद्धम्' शब्द है। पहली पंक्ति में स्वर हैं, २–३–४ पंक्तियों में व्यञ्जन, ५–६ में अंक, ८–९–१० में क की बारहखड़ी।

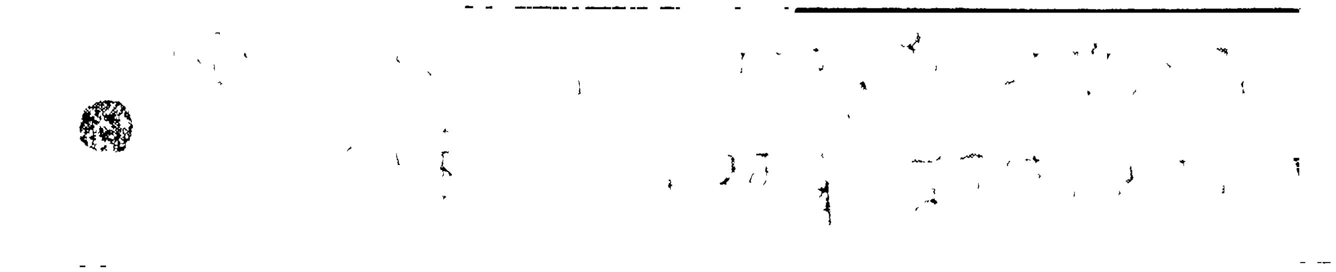
को देखने आया। अपने देश में लौटने पर वह गंग-राज कहलाया, और उसका वंश भी तब से गंगराज-वंश कहलाने लगा।

'फूनान' के साम्राज्य में चौथी शताब्दी के अन्त में दक्खिन भारत से एक दूसरा कौण्डिन्य [५, ४ § २] गया, जिसने वहाँ भारत के नमूने पर धर्म और समाज-विषयक अनेक सुधार किये। इस कौण्डिन्य के वंश में पाँचवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में राजा जयवर्मा हुआ। सुमात्रा-जावा में पाँचवीं शताब्दी में एक नया राज्य स्थापित हुआ, जो शीघ्र साम्राज्य बन गया। उसकी राजधानी श्रीविजय (सुमात्रा में आजकल का पालेम्बांग) थी।

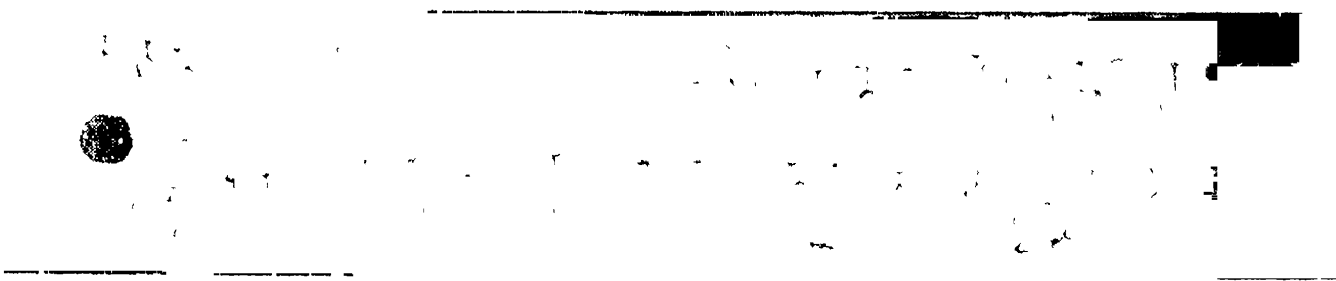
§४. **फा-हियेन, कुमारजीव, गुणवर्मा**—भारतवर्ष और बृहत्तर भारत की दशा उस काल में कैसी थी और उनका आपस में तथा विदेशों से सम्बन्ध कैसा था, इसपर उस काल के तीन प्रसिद्ध विद्वान् यात्रियों के वृत्तान्तों से प्रकाश पड़ता है। इनमें से एक फा-हियेन था। वह बौद्ध धर्म की ऊँची शिक्षा पाने और बुद्ध की जन्मभूमि देखने के लिए ३६६ ई० में चीन से भारत के लिए रवाना हुआ और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राज्य में ४०५ से ४११ ई० तक रहा। चीन के कानसू प्रान्त से चीन-हिन्द (सीता-काँठा) पहुँच कर वहाँ के भारतीय राज्यों में घूमता हुआ गन्धार हो कर वह मध्यदेश पहुँचा। वह लिखता है कि भारतवर्ष संसार भर में सबसे सभ्य देश है; यहाँ के लोग सभ्य सम्पन्न और सदाचारी हैं। लोग नशा नहीं करते, अपराध बहुत कम होते हैं, अपराधों के दंड हलके हैं और मृत्यु-दंड किसी को नहीं दिया जाता। अपनी लम्बी यात्रा में फा-हियेन को कहीं चोर-डाकुओं से वास्ता नहीं पड़ा। एक बात और ध्यान देने की यह है कि फा-हियेन के काल तक हिमालय की तराई की बस्तियाँ—कपिलवास्तु कुशिनगर आदि—जिनमें बुद्ध के काल में बड़ी चहलपहल थी, सब जंगल हो चुकी थीं। वैसे बौद्ध धर्म और पौराणिक धर्म दोनों देश में बराबर बराबर चल रहे थे। फा-हियेन मगध से चम्पा (भागलपुर) हो कर ताम्रलिप्ति (तामलूक) गया। वहाँ से जहाज में बैठ १४ दिन में सिंहल पहुँचा, फिर वहाँ से ६० दिन में यवद्वीप। यवद्वीप में तब बौद्ध धर्म का प्रचार न था। वहाँ से वह एक जहाज में, जिस में २००

भारतीय व्यापारी भी थे, चीन वापिस गया।

वेंगीपुर (कृष्णा के मुहाने) का चौथी शताब्दी ई० का लेख
(पूर्णवर्मा के लेख से लिपि की तुलना करने के लिए)



(पहला पत्रा, पं० १) स्वस्ति विजयवेङ्गीपुराद्भगवच्चित्ररथस्वामिपादानुद्ध्यातो भ-
(प० २) ट्टारकपादभक्तः परमभागवतश्शालङ्कायनो महाराजा च-



(दूसरा पत्रा, पं० १) ण्डवर्म्मणस्सूनुर्ज्येष्ठो महाराजश्री······ इत्यादि।

फा-हियेन जब भारत में बौद्ध शिक्षा पाने आया, तब कुमारजीव चीन में वही शिक्षा दे रहा था। कुमारजीव का पिता कुमारायण किसी भारतीय राज्य के अमात्य का बेटा था। घर छोड़ कर वह चीन-हिन्द में कुचि राज्य में चला गया। कुचि के राजा की बहन जीवा से उसका प्रेम और विवाह हो गया; जिससे कुमारजीव पैदा हुआ। बच्चे को पढ़ाने के लिए उसकी माँ उसे कश्मीर ले आई, फिर तीन बरस बाद काशगर ले गई, जहाँ वेद और शास्त्र पढ़ने के बाद कुमारजीव ने चोक्कुक (यारकन्द) जा कर नागार्जुन आदि के महायान ग्रन्थ पढ़े। माँ बेटा वापिस कुचि पहुँचे। कुमारजीव मध्य एशिया की सब भाषाओं सहित ३६ भाषाएँ सीख चुका और उसकी ख्याति दूर दूर पहुँच चुकी थी। ३८३ ई० में कुचि पर चीनी सेना ने चढ़ाई की। राजा वीरता से लड़ा। चीनी सेनापति दूसरे राजा को गद्दी पर बिठा कर लौट गया। वह जिन कैदियों को साथ ले गया उनमें कुमारजीव भी था। चीन सम्राट् को जब इसका

पता चला तब उसने उसे बड़े आदर से अपनी राजधानी में बुलवा मँगवाया, जहाँ ४०१ ई० से कुमारजीव संस्कृत ग्रन्थों के चीनी अनुवाद करने लगा। उसने कई और भारतीय विद्वानों को भी इस काम के लिए बुलाया और अश्वघोष नागार्जुन आदि के अनेक ग्रन्थों का चीनी अनुवाद कर महायान का प्रचार किया। कुमारजीव के ग्रन्थ आज तक चीन में उसी तरह पढ़े जाते हैं जैसे यहाँ कालिदास के। उसकी मृत्यु चीन में ही ४१२ ई० में हुई।

उसके कुछ काल बाद गुणवर्मा नामक विद्वान् चीन पहुँचा। वह कश्मीर या कपिश का युवराज था, पर भिक्षु बन गया था। पहले वह सिंहल गया, और वहाँ से ४२३ ई० में यवद्वीप पहुँचा। फा-हियेन के जाने के १० बरस पीछे वहाँ उसने पहलेपहल बौद्ध धर्म का प्रचार किया। यवद्वीप से वह नन्दी नामक भारतीय के जहाज में चीन गया।

§ ५. **कोरिया और जापान का धर्मविजय**—समुद्र-गुप्त के ज़माने में कोरिया में बौद्ध धर्म स्थापित हो गया (३५२ ई०)। उस देश की भाषा भी तब भारत की ब्राह्मी लिपि में लिखी गई। यशोधर्मा के युग में निपोङ (जापान) देश भी बौद्ध हो गया (५३८ ई०)। तब वहाँ होरिउजी और नारा के बौद्ध विहार स्थापित हुए, जिनमें तत्कालीन संस्कृत ग्रन्थ आज तक रक्खे हैं, और जिनकी भीतों पर बाद में लिखे चित्रों में स्पष्ट भारतीय प्रभाव झलकता है।

§ ६. **सीता-काँठे पर मरुभूमि की बाढ़**—सीता का काँठा मौर्य युग में गंगा-काँठे सा हरा-भरा था, पर प्राचीन काल के अन्त के पहले से उसमें मरुभूमि बढ़ने लगी। हमने देखा है [१, ४ § ६] कि हिमालय की दीवार ज्यों ज्यों ऊँची उठती जाती है त्यों त्यों हिन्द महासागर से उठे भाप के बादलों का मध्य एशिया तक पहुँचना घटता जाता है। क्युनलुन और कराकोरम पर्वतों में, जो सीता-काँठे का दक्खिनी ढासना हैं, हिम-युग से चले आते अनेक गल अब तक पड़े हैं। पर ज्यों ज्यों दक्खिन की भाप का उन पर्वतों तक पहुँचना घटता जाता है, त्यों त्यों उनके हिमभण्डार छीजते जाते हैं। उन गलों से बहने वाली सीता जैसी अनेक धाराएँ पहले चीन-हिन्द में थीं। उन्हीं के वटों पर भारतीय उपनिवेश बसे थे। आज वे धाराएँ क्युनलुन से उतर कर मरुभूमि में लुप्त हो

जाती हैं, और अनेक प्राचीन उपनिवेशों के खँडहर अब उनके उत्तर की मरुभूमि में हैं। तकलामकान मरुभूमि की यह दक्खिन तरफ बाढ़ ईसवी सन् के आरम्भ से धीरे धीरे होने लगी। प्राचीन काल के अन्त के बाद इसका प्रभाव दिखाई देने लगा।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. वाकाटक-गुप्त युग में भारतवर्ष का विस्तार कहाँ से कहाँ तक माना जाता था? आज के भारत से उसका क्या अन्तर है?

२. फा-हियेन के यात्रामार्ग का उल्लेख कर लिखिये कि उसके यात्रा-विवरण से भारत की तात्कालिक स्थिति पर क्या प्रकाश पड़ता है?

३. कुमारजीव और गुणवर्मा का जीवन-वृत्तान्त लिख कर बताइए कि चीन और भारत के सांस्कृतिक आदान-प्रदान में उनकी क्या देन रही?

४. सीता-काँठे की मरुभूमि कब और कैसे फैलने लगी? उसका भारतीय उपनिवेशों पर क्या प्रभाव पड़ा?

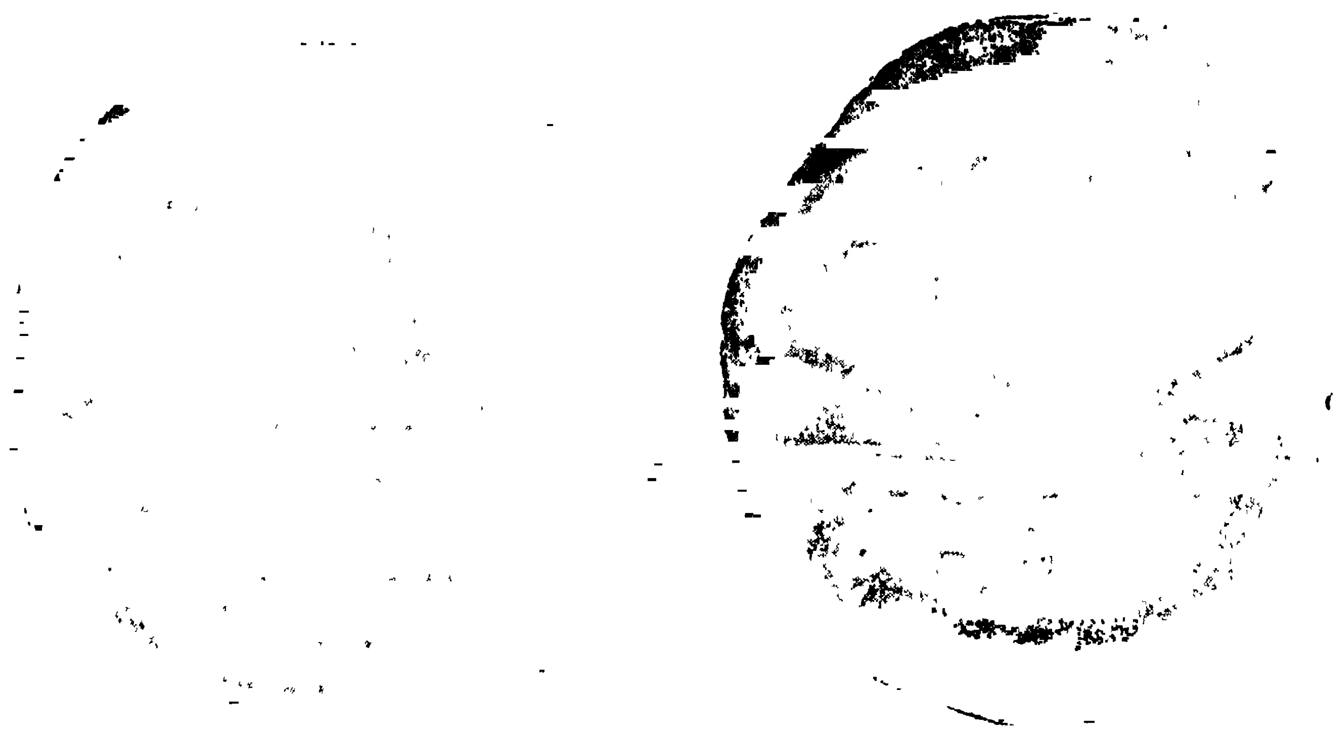
५. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए—
मूलवर्मा, 'गंगराज', शिन्-तु, तुखारी भाषा, श्रीविजय।

अध्याय ५

वाकाटक-गुप्त युग का भारतीय समाज

§ १. **गुप्त शासन**—गुप्त सम्राटों के प्रशासन में भारतवर्ष ने अद्वितीय शान्ति और समृद्धि देखी। समूचा गुप्त साम्राज्य बहुत से 'देशों' और 'भुक्तियों' में बँटा हुआ था, जैसे अन्तर्वेदी (ठेठ हिन्दुस्तान), श्रावस्ती-भुक्ति (अवध), तीर-भुक्ति (तिरहुत), 'यमुना-नर्मदा का मध्य' (बुन्देलखंड) इत्यादि। प्रत्येक देश या भुक्ति पर 'गोप्ता' या 'उपरिक महाराज' शासन करता था जो या तो सम्राट् का नियुक्त किया हुआ या उसका सामन्त राजा होता था। देश या भुक्ति फिर कई छोटे "विषयों" अर्थात् ज़िलों में बँटी होती थी। प्रत्येक देश या भुक्ति के शासन के लिए कई महकमे (अधिकरण) होते

थे। तीरभुक्ति की राजधानी वैशाली के खँडहरों में से वहाँ के बहुत से अधिकरणों की मोहरें पाई गई हैं। गुप्त सम्राटों की सफलता का सबसे बड़ा कारण



नालन्दा और सहजाति की खुदाई में पाई गईं गुप्तों की सरकारी मुहरें—असल परिमाण

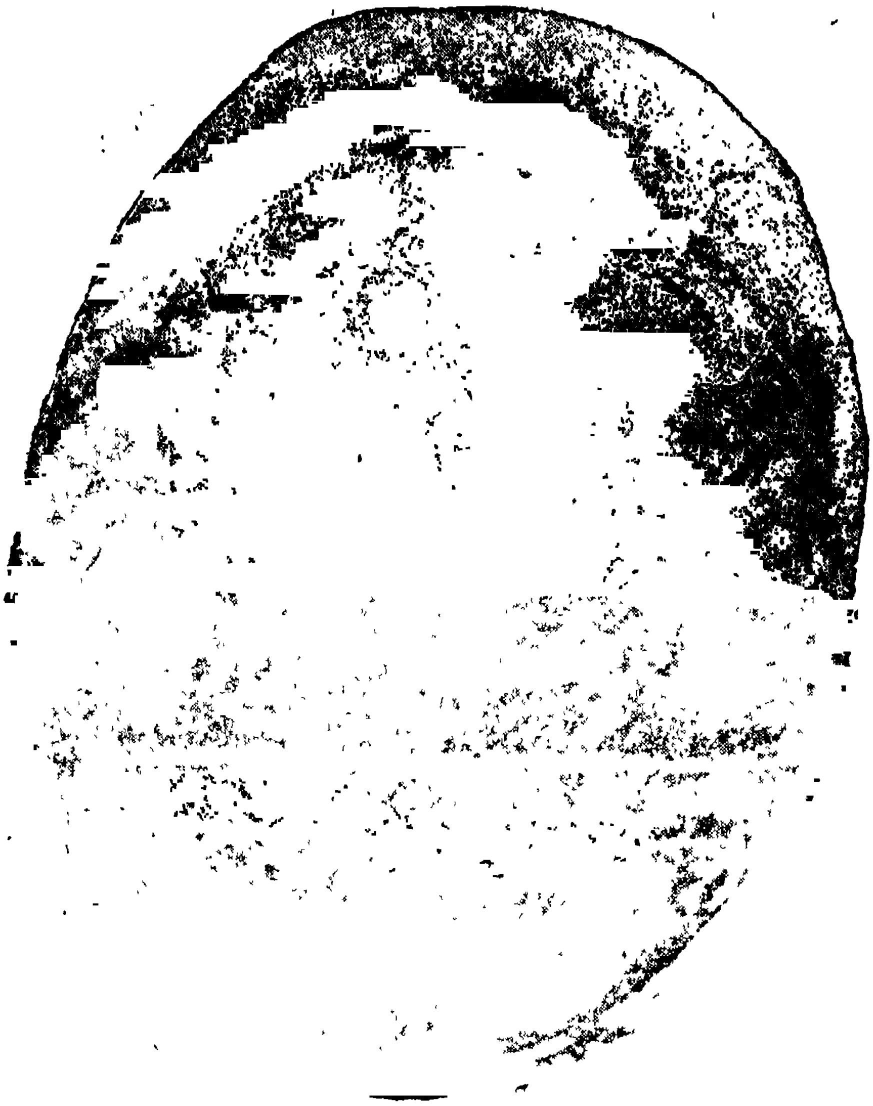
"नगरभुक्तौ कुमारामात्याधिकरणस्य"
("नगर के शासन में छोटे अमात्य के दफ्तर की"

"सामाड्स-विषयाधिकरणस्य"
('सामाड्स—सड्सा—जिले के दफ्तर की') [भा० पु० वि०]

उनका सुशासन और सुव्यवस्था थी। उनकी शासनपद्धति का अनुकरण भारत के दूसरे सब राजाओं ने भी किया, और उनके बाद के ज़माने में भी लगातार उसका अनुकरण होता रहा।

§ २. ग्रामों और जनपदों के संघ, शिल्पियों की श्रेणियाँ, व्यापारियों के निगम—वैशाली और नालन्दा के खँडहरों में पाई गई गुप्त युग की मुहरों में ग्रामों की मुहरें भी हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि राजकीय शासन के नीचे ग्रामों नगरों आदि की पंचायतें पहले की तरह अपना प्रबन्ध स्वतन्त्रता से करती आती थीं। नालन्दा के खँडहरों में से सरकारी अधिकरणों (दफ्तरों) और ग्रामों की मुहरों के अतिरिक्त एक जानपद—अर्थात् जनपद या देश के

संघ—की भी मुहर मिली है। उससे सिद्ध होता है कि जनपदों की राष्ट्र-सभाएँ



"कुमारामात्याधिकरणस्य" (छोटे अमात्य के दफ्तर की") [भा० पु० वि०]



"दंडनायक श्रीशंकरदत्तस्य' ('पुलिस-नायक श्रीशंकरदत्त की')



मालव जनपद की मुहर (डा० सत्यप्रकाश के सौजन्य से)

गुप्त युग में भी विद्यमान थीं। जयपुर के पास रैढ़ नामक स्थान की खुदाई से मालव जनपद की तीसरी शताब्दी के लेख वाली सीसे की मुहर मिली है। उससे भारशिव युग में भी जनपद-संस्थाओं का रहना प्रमाणित हुआ है। यों जनपद-संस्थाएँ महाजनपद युग से गुप्त युग तक बराबर बनी रहीं।

वैशाली में व्यापारियों के निगमों और कारीगरों की श्रेणियों की मुहरें भी पाई गई हैं। श्रेणियों के लेख और भी कई जगहों से मिले हैं। उनसे यह जाना गया है कि व्यापारियों और शिल्पियों के संघटन भी पहले से

अधिक समृद्ध दशा में थे।

वाकाटकों और गुप्तों के काल में देश की समृद्धि और व्यवसाय सातवाहन युग से भी कहीं अधिक बढ़े हुए थे। विदेशी व्यापार खूब होता था। ऋषिकों के प्रशासन में कश्मीर में तीसरी शताब्दी तक वहाँ के जगत्प्रसिद्ध शालों का व्यवसाय स्थापित हो चुका था। २४७ ई० में सासानी राजा ने रोम के सम्राट् को एक कश्मीरी शाल भेंट किया, जिसकी नफासत देख कर रोम के लोग दंग रह गये थे। सासानी राजा होर्मिज़्द २य (३०१–३०६) के साथ काबुल की जिस राजकुमारी का विवाह हुआ, उसका सब दहेज भी कश्मीरी जुलाहों ने तैयार किया था। भारतीय अपने ही जहाजों से विदेशों में माल ले जाते थे। इस युग में नारद-स्मृति बनी। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य-स्मृति की अपेक्षा उसमें व्यापारिक कानून कहीं अधिक हैं।



"पादयाग-ग्रामस्य"
नालन्दा में पाई गई एक ग्राम की मुहर—गुप्त युग की लिपि में
[भा० पु० वि०]

§ ३. वाकाटक-गुप्त युग का धर्म कला वाङ्मय ज्ञान और संस्कृति—चौथी शताब्दी ई० के अन्त में पेशावर में आसंग और वसुबन्धु नाम के दो भाई दार्शनिक हुए। वे दोनों महायान के आचार्य थे। पाँचवीं शताब्दी ई० के शुरू में मगध में बुद्धघोष ब्राह्मण हुआ, जिसने सिंहल जा कर पालि में त्रिपिटक की 'अट्ठकथाएँ' (अर्थकथाएँ = भाष्य) लिखीं। कहते हैं वहाँ से वह परले हिन्द गया और वहीं उसका देहान्त हुआ। ४५३ ई० में सुराष्ट्र की वलभी नगरी में जैन विद्वानों का संघ बैठा। उसमें जैनों के सब धर्मग्रन्थों का सम्पादन हुआ। उसी रूप में आज वे ग्रन्थ हमें मिलते हैं।

बौद्ध और जैन धर्म के साथ साथ पौराणिक धर्म भी पूरे यौवन पर था।

वह अब पूर्ण हो चुका था। विष्णु स्कन्द शिव सूर्य और देवी की पूजा चल चुकी थी। विदेश-यात्रा का, असवर्ण विवाह का और मांस-भोजन का परित्याग अब तक न हुआ था। आजकल के हिन्दू धर्म की बाकी बहुत सी बातें चल पड़ी थीं। साँची के तीसरी शताब्दी ई० के एक अभिलेख में गोवध को पाप कहा है। पहलेपहल यह विचार वहीं प्रकट हुआ है—अर्थात् भारशिव-वाकाटक युग से गोवध पाप माना जाने लगा।



"पुरिकाग्रामजानपदस्य"
नालन्दा में पाई गई एक जनपद-संस्था की मुहर,
गुप्त युग की लिपि में [भा० पु० वि०]

सातवाहन युग के पौराणिक मन्दिरों या देवमूर्त्तियों के कोई बड़े अवशेष नहीं पाये गये। केवल सिक्कों आदि पर पौराणिक देवताओं की मूर्त्तियाँ पाई गई हैं या हेलिउदोर के गरुडध्वज [५, १ § ६] जैसे अवशेषों से पौराणिक धर्म की विद्यमानता सूचित होती है। बात यह है कि सातवाहन युग में पौराणिक धर्म का उदय मात्र हुआ था, टिकाऊ मन्दिर और मूर्त्तियाँ बनाने की प्रथा नहीं चली थी। पर इस युग में मन्दिर खूब बनने लगे। ऊँचे नुकीले शिखर वाले वैष्णव मन्दिरों की शैली इसी

युग में चली।(भारशिव-वाकाटक युग में वैसे मन्दिर बहुत बनने लगे। उन मन्दिरों के शिखरों पर कमल का संकेत उदय होते सूर्य को अर्थात् नई ज्योति और नये जीवन को सूचित करता है। वह नया जीवन वाकाटक-गुप्त युग के भारत में चारों तरफ दिखाई देता था।)

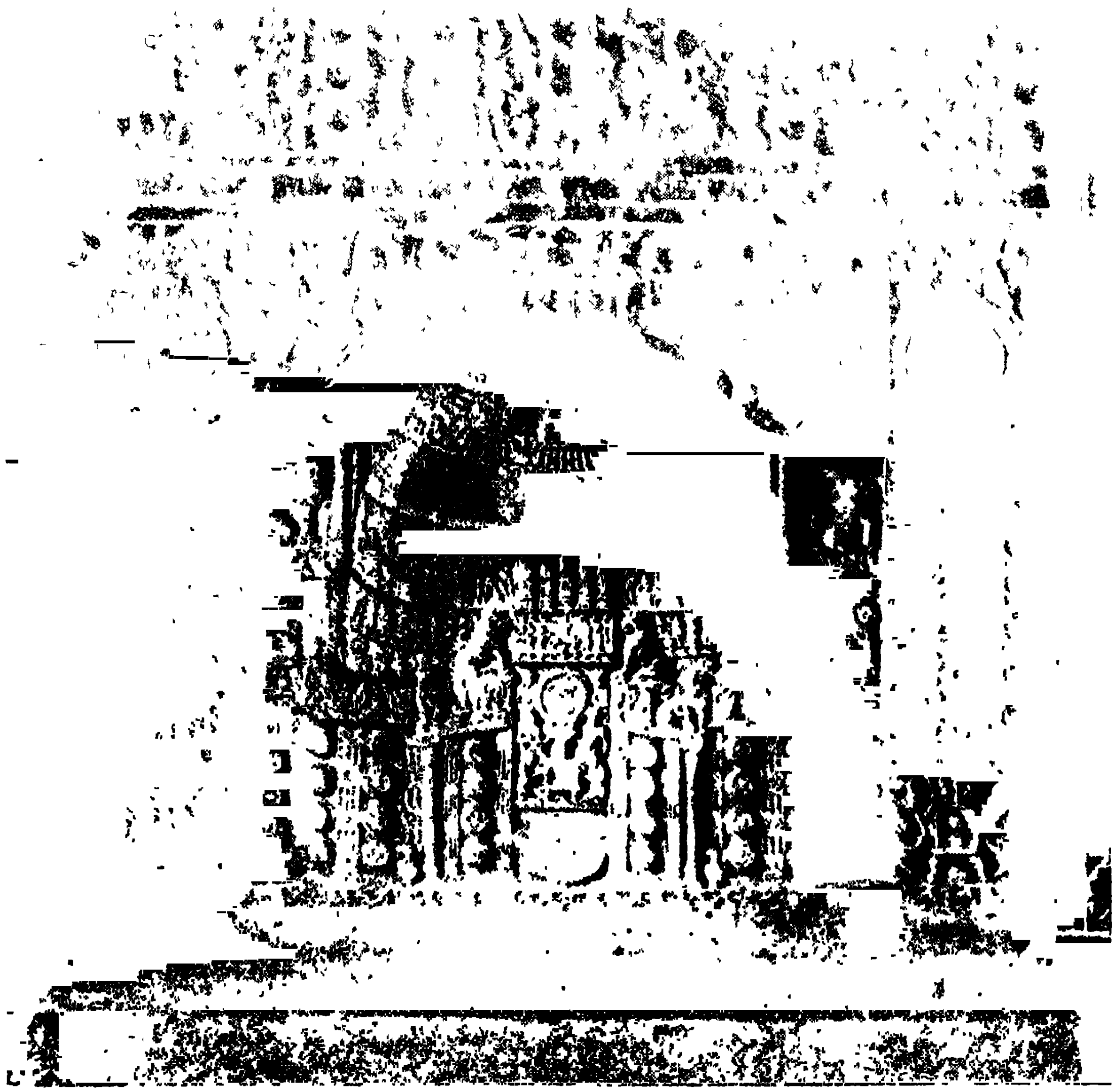


"माँ"—मथुरा से पाई गई मूर्त्ति, लग० तीसरी शताब्दी पूर्वार्ध की [मथुरा संग्र०, भा० पु० वि०]

आन्ध्र देश में इक्ष्वाकु राजाओं के प्रशासन में अमरावती स्तूप को और भूषित किया गया तथा नागार्जुनीकोंडा स्तूप की मूर्त्त चित्रों से अलंकृत वेदिका (जँगला) बनी। महाराष्ट्र की रमणीक अजिंठा पहाड़ी में, जिसमें पिछले मौर्यों और सातवाहनों के काल के दो-एक गुहामन्दिर थे, वाकाटकों के प्रशासन में वैसे अनेक नये और विशाल मन्दिर काटे गये। तभी अफगान देश में बामियाँ के पहाड़ में बौद्ध गुफाएँ बनीं इन गुफाओं मन्दिरों आदि के अतिरिक्त महरौली की "लोहे की कीली" तथा सैदपुर-भितरी और दासोर के स्तम्भ इस युग की वास्तुकला के अच्छे नमूने हैं। 'लोहे की कीली' पर डेढ़ हज़ार बरस में मोरचे का नाम भी नहीं लगा। यह

उल्लेखनीय बात है।

अजिंठा गुहाओं की दीवारों पर गुप्त युग में और बाद में चित्र भी लिखे गये, जिनमें से कुछ अब तक विद्यमान हैं। ये चित्र प्राचीन जगत् की चित्र-



अमरावती स्तूप पर चुनी गई एक चीप पर का मूर्त्त दृश्य—सम्भवतः समूचा स्तूप इसमें चित्रित है। [मद्रास संग्र०, भा० पु० वि०]

कला के सर्वोत्तम उदाहरणों में से हैं। सिंहल में सिगिरिय की गुफाओं के तथा चीन-हिन्द में मीरान के मन्दिरों के भित्तिचित्र भी इसी युग के हैं। शैली उनकी

भी अजिंठा वाली है ।

इस युग की मूर्त्तिकला में शृंगारहीन सीधापन है, और उसके साथ कमाल की सजीवता । उदयगिरि की वराह मूर्त्ति और भिलसा से पाई गई गङ्गा मूर्त्ति को देखते ही बनता है । उनके अंग अंग से मानो बल तेज और सौन्दर्य टपकता है । उसी प्रकार सारनाथ और मथुरा की प्रसिद्ध बुद्ध मूर्त्तियाँ [३, २ § ३] जो मानो शान्त रस का मूर्त्त रूप हैं, गुप्त युग की हैं । सुलतानगंज (भागलपुर) से पाई गई ताँबे की बुद्ध मूर्त्ति और सिन्ध में मीरपुर-खास के कहू जो दड़ो स्तूप से मिली मिट्टी की बुद्ध मूर्त्ति भी ठीक उसी नमूने की हैं । गुप्त-युगीन कला के सिन्ध से पाये गये नमूनों से यह भी प्रतीत होता है कि सिन्ध भी गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत था । देवगढ़ (जि० झाँसी) के मन्दिरों के अहल्योद्धार [२, १ § ४], नर-नारायण की तपस्या आदि के मूर्त्त दृश्य भी गुप्त मूर्त्ति-कला के सुन्दर नमूने हैं ।



बेसनगर (भिलसा) की खुदाई में निकली गंगा मूर्त्ति । यह अब अमरीका के बोस्टन संग्र० में है ।

ज्ञान और वाङ्मय में इस युग में भारतवर्ष अपनी उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच गया ।

दशगुणोत्तर गिनती पहलेपहल तीसरी शताब्दी ई० में भारतीयों ने ही निकाली, फिर यहाँ से उसे दुनिया के सब देशों ने सीखा । गिनती पहले भी

थी, पर शून्य का चिह्न न था। जिस प्रकार नो इकाइयों के चिह्न हैं, उसी प्रकार दस बीस तीस आदि नौ दहाइयों के अलग अलग चिह्न होते थे, फिर सैकड़े हज़ार आदि के अलग। सौ के चिह्न के साथ दो का चिह्न टाँक कर दो सौ

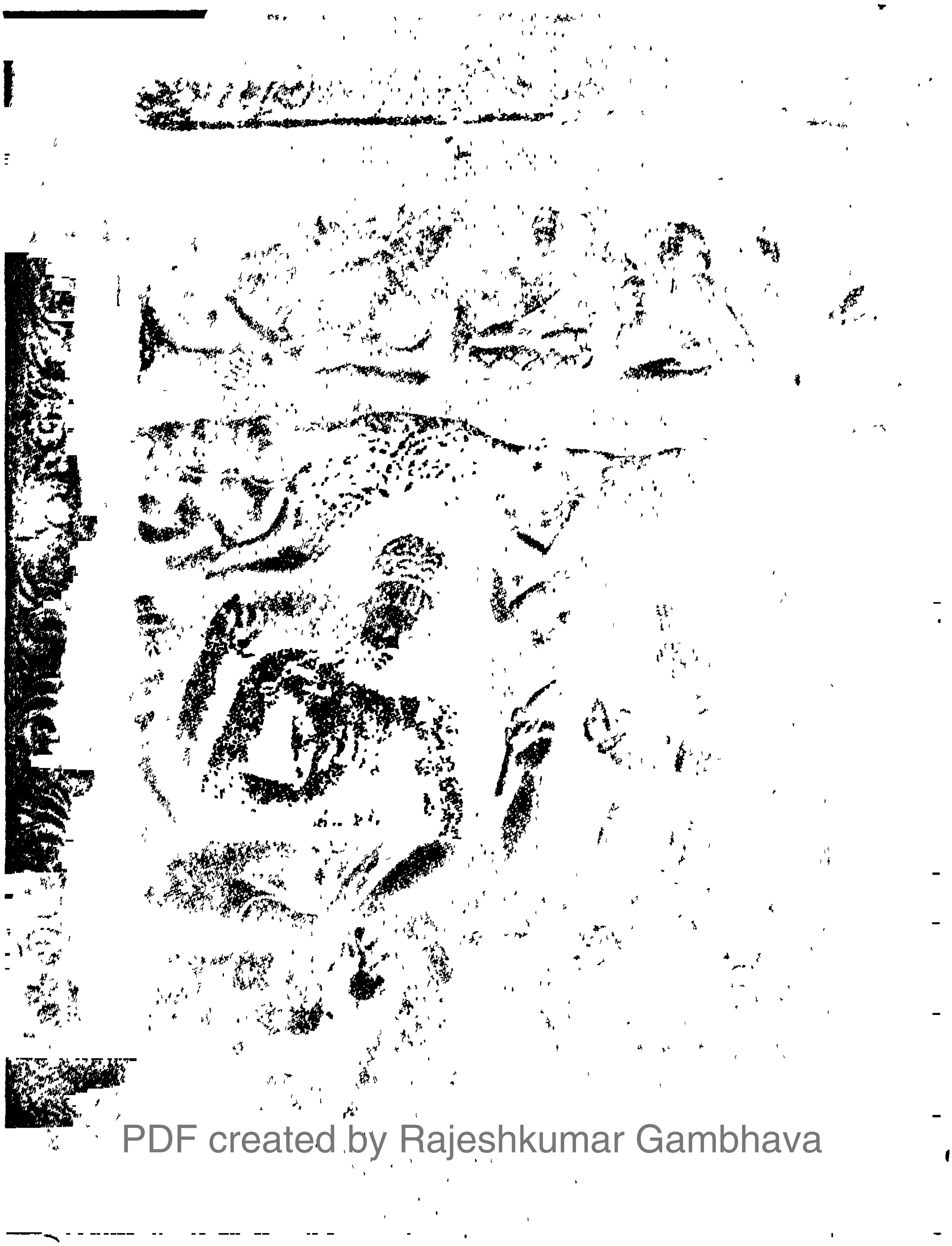


बामियाँ (अफगानिस्तान) की एक गुहा में ५८ गज़ ऊँची खंडित बुद्ध मूर्त्ति
[फादर हेरस के सौजन्य से]

बनाया जाता था, इत्यादि। इकाई के आगे शून्य लगा कर दहाई बना ली जाय, यह आविष्कार पहलेपहल तीसरी शताब्दी में यहीं हुआ। युरोप वालों ने यह तरीका १३वीं-१४वीं शताब्दी में जा कर सीखा।

ज्योतिषी आर्यभट ४७६ ई० में पैदा हुआ। उसे यह मालूम था कि

पृथिवी गोल है। गुरुताकर्षण और सूर्य के चौगिर्द पृथिवी के घूमने के सिद्धान्त



गुप्त युग की मूर्त्तिकला का नमूना—देवगढ़ (जि० झाँसी) के विष्णु-मन्दिर में नर-नारायण की मूर्त्तियाँ। [भा० पु० वि०]

उसने स्थापित किये। और अनेक बातों में भी भारतवर्ष का गणित और

ज्योतिष गुप्त युग में जिस सीमा तक पहुँच गया था, उस सीमा को अर्वाचीन विद्वान् सोलहवीं शताब्दी में ही लाँघ सके।

ज्ञान और सचाई को कहीं से भी ले लेने में उस युग के भारतवासी उत्सुक रहते थे। ज्योतिषी वराहमिहिर ने, जो छठी शताब्दी में हुआ, लिखा है,



दिव्य गायक—किन्नर-किन्नरी
१७वीं अजिंठा लेण का चित्र। इस लेण के चित्र लगभग ५०० ई० के हैं। [भा० पु० वि०]

"यवन (यूनानी) लोग म्लेच्छ हैं, पर उनमें वह शास्त्र स्थित है। इस कारण वे ऋषियों की तरह पूजे जाते हैं।" गुप्त युग में भारतीय ज्योतिष में रोम और अलक्सन्द्रिया के सिद्धान्त भी सम्मिलित कर लिये गये थे।

दार्शनिक वसुबन्धु का उल्लेख हो चुका है। बाद के प्रसिद्ध दार्शनिक शंकर की विचार-पद्धति वसुबन्धु के दर्शन पर ही निर्भर है। पातंजल योगसूत्र

का भाष्यकार व्यास और सांख्यकारिका का लेखक ईश्वरकृष्ण चौथी-पाँचवी शताब्दी में हुए। बौद्ध तार्किक दिङ्नाग गुप्त युग के अन्त में हुआ। सम्राट् कुमार-गुप्त ने राजगृह के पास नालन्दा महाविहार की नींव डाली। वह भारी विद्यापीठ बन गया जहाँ बाद में देश विदेश के अनेक विद्वान् शिक्षा पाने आते रहे।

इस युग के काव्य-साहित्य में विष्णुशर्मा का पंचतन्त्र अमर रत्न है, जिसका संसार की बीसियों भाषाओं में अनुवाद हुआ है। भारतीय कवियों का शिरोमणि कालिदास भी गुप्त युग का है। कालिदास के काव्यों नाटकों में भारत का आत्मा जिस तरह प्रकट हुआ है, वैसा आज तक और किसी रचना में शायद नहीं हुआ। रघु के दिग्विजय की कहानी द्वारा उसने बतलाया कि कम्बोज से कन्याकुमारी तक और वंक्षु से लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) तक सारा भारत एक है, वह एक ही राज-छत्र के नीचे रहना चाहिए। दुष्यन्त और शकुन्तला के प्राकृतिक प्रेम की कहानी लिख कर उसकी लेखनी ने प्राचीन आर्यों के सरल साहसी और रसमय जीवन के आदर्श को अमर कर दिया और भारतीयों को अपने उस पुरखा भरत की याद दिलाई जो बचपन के खेलों में शेरों के दाँत गिना करता था! उषा के आगमन की सूचना जैसे चिड़ियों के चहचहाने से मिलती है, वैसे ही गुप्त युग की ज्योति की सूचना कालिदास के छन्दों से मिलती है। भारत की संस्कृति का पूरा निचोड़ हम उसकी रचनाओं में पाते हैं।

कालिदास के ज़माने में भारत में ज्ञान और जीवन की जो ज्योति प्रकट हुई, वह प्रायः एक हज़ार बरस तक संसार को प्रकाश देती रही। भारत की इस जागृति का प्रभाव एक तरफ़ चीन पर हुआ और वहाँ से कोरिया और जापान तक पहुँचा, दूसरी तरफ़ वह अरब के रास्ते पच्छिमी युरोप तक गया। उत्तर तरफ़ वह तिब्बत और मध्य एशिया द्वारा मंगोलिया तक जा निकला, और दक्खिन तरफ़ परले हिन्द के द्वीपों की अन्तिम सीमा तक। प्रायः एक हज़ार बरस तक न तो स्वयं भारतीयों ने (सिवाय वैद्यक और गणित के) अपने ज्ञान में आगे कुछ उन्नति की, और न बाकी दुनिया का ज्ञान—दो चार बातों को छोड़ कर—उससे कुछ आगे बढ़ा। इस लम्बे अरसे में वही संसार का ज्ञान

रहा और जिस देश में वह पहुँचा वहीं नव जागृति की लहर उठ खड़ी हुई।

वाकाटक-गुप्त युग के भारतीयों का साधारण जीवन भी पहले से परिष्कृत हो गया। जैसा कि कहा गया है, गोहत्या को इसी युग से पाप माना जाने लगा। जानवरों की लड़ाइयाँ कराने और उनपर बाजी लगाने आदि जैसे विनोदों की चर्चा इस युग में नहीं सुनी जाती। इस युग के संसार में चार ही सभ्य साम्राज्य और राष्ट्र थे—चीनी भारतीय ईरानी और रोमक। उपनिवेशों सहित गुप्त युग का भारतवर्ष बाकी तीनों राष्ट्रों के क्षेत्रों से बहुत अधिक विस्तृत और समृद्ध था, और इस युग में भारतीय वस्तुतः सभ्य संसार के नेता थे। अपने इस गौरव को तब वे अवश्य अनुभव करते होंगे।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. गुप्त साम्राज्य शासन के लिए कैसे भागों में बँटा हुआ था?

२. गुप्त युग में ग्रामों जनपदों कारीगरों और व्यापारियों के संघटन किस प्रकार के थे?

३. राजनीतिक उत्कर्ष, व्यावसायिक समृद्धि तथा ज्ञान और कला की श्रेष्ठता की दृष्टि से गुप्त युग भारत का स्वर्णयुग था, इस कथन को स्पष्ट कीजिए।

४. 'गुप्त युग में भारत में ज्ञान की जो ज्योति प्रकट हुई वह प्रायः एक हजार बरस तक संसार को प्रकाश देती रही'—इसमें कथित ज्ञान की मुख्य खोजें कौन सी थीं?

५. दशगुणोत्तर गणना का आरम्भ कैसे हुआ? उससे पहले कैसी गणना थी?

६. इनपर टिप्पणी लिखिए—भुक्ति, अधिकरण, दंडनायक, वसुबंधु, आसंग, ईश्वरकृष्ण, वराहमिहिर, पंचतंत्र, कालिदास, कश्मीरी शॉल व्यवसाय का उदय।

७. गुप्त युग की किन्हीं पाँच प्रसिद्ध कला-कृतियों का नामोल्लेख कीजिए।

८. गणित और ज्योतिष के क्षेत्र में आर्यभट की क्या देन थी?

७. कन्नौज साम्राज्य पर्व

(५४४–११६४ ई०)

अध्याय १

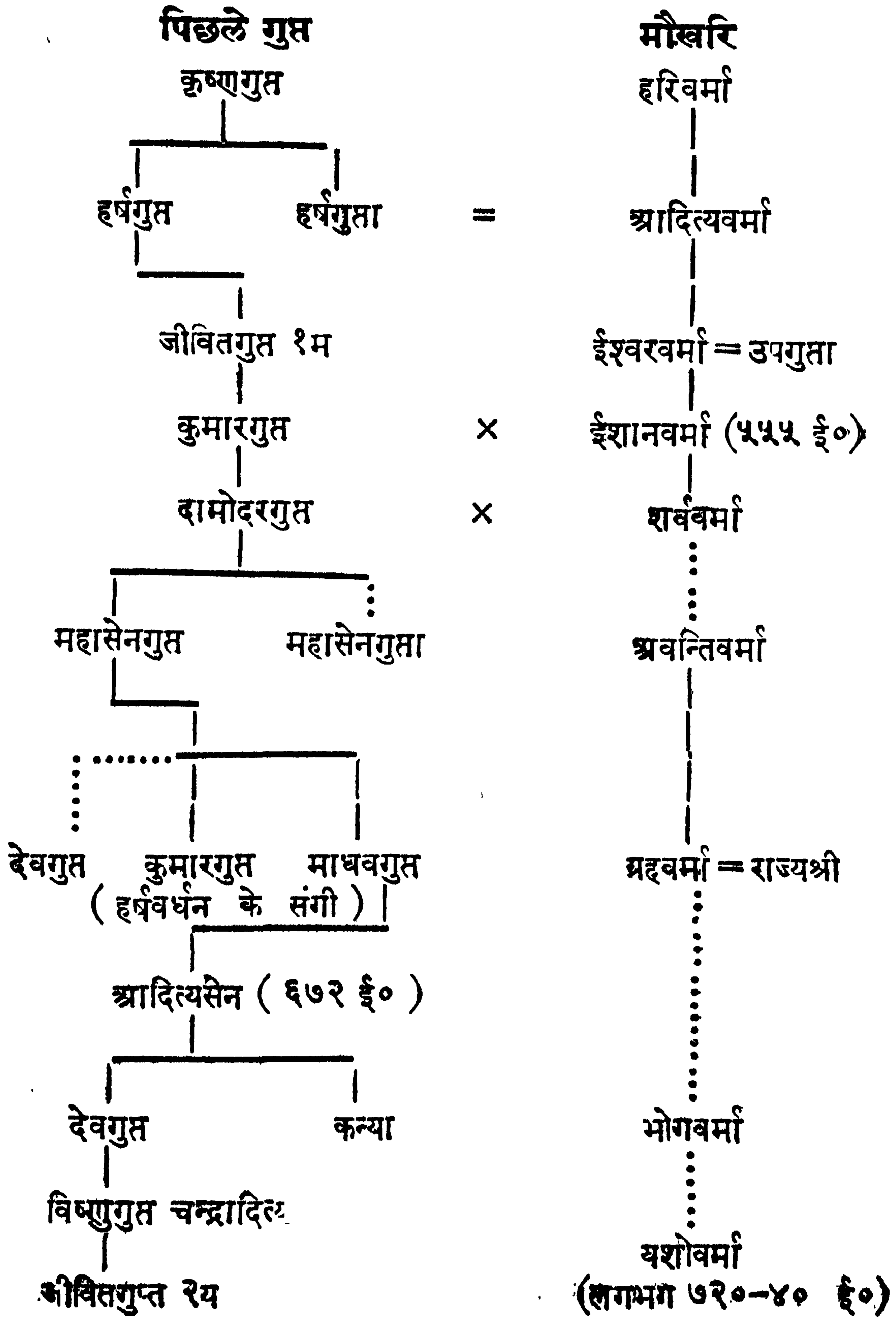
पिछले गुप्त मौखरि बैस और चालुक्य

(लग० ५४४—६५० ई०)

§ १. **पिछले गुप्त**—यशोधर्मा ने अपना कोई राजवंश नहीं चलाया। उसके बाद गणराज्य भी फिर नहीं उठे। किन्तु एक गुप्त सम्राट् फिर उठ खड़ा हुआ। सन् ५४४ में ही पुण्ड्रवर्धनभुक्ति (पुर्णिया, उत्तरी बंगाल) के एक लेख में 'महाराजाधिराज......गुप्त' का उल्लेख है। महाराजाधिराज का नाम उस लेख से मिट गया है। अन्य उल्लेखों से सूचित होता है कि अब से प्रायः आधी शताब्दी तक वह उत्तर भारत का सम्राट् रहा। किन्तु वह नाम का समाट् था, क्योंकि अब विभिन्न प्रान्तों में अनेक नई शक्तियाँ उठ खड़ी हुईं।

छठीं शताब्दी के शुरू में गुप्त सम्राटों के वंश से एक शाखा निकली, जिसके राजाओं ने अगली दो शताब्दियों के इतिहास में विशेष भाग लिया। महाराजाधिराज के रहते हुए वास्तविक शासक इसी शाखा-वंश के राजा थे। ये पिछले गुप्त कहलाते हैं। इनका दावा समूचे गुप्त साम्राज्य पर था, किन्तु वास्तविक अधिकार केवल मगध-बंगाल और पास-पड़ोस के प्रदेशों पर या कभी मालव देश अर्थात् पूरबी राजस्थान पर रहा।

इन पिछले गुप्तों के पहले राजा कृष्णगुप्त का गुप्त सम्राटों के वंश से क्या सम्बन्ध था सो इनके लेखों में नहीं कहा गया। शायद वह सम्बन्ध कहने योग्य नहीं था। ये राजा किसी गुप्त सम्राट् के रखैल से उत्पन्न वंशज रहे होंगे। इसी नमूने का एक वंश "अहीर गुप्त" या "गोपाला गुप्त" इस काल में नेपाल में स्थापित हुआ। उस वंश के राजा जयगुप्त ने छठी शताब्दी के


पिछले गुप्त
मौखरि
कृष्णगुप्त
हरिवर्मा
हर्षगुप्त
हर्षगुप्ता
=
आदित्यवर्मा
जीवितगुप्त १म
ईश्वरवर्मा = उपगुप्ता
कुमारगुप्त
×
ईशानवर्मा (५५५ ई०)
दामोदरगुप्त
×
शर्ववर्मा
महासेनगुप्त
महासेनगुप्ता
अवन्तिवर्मा
देवगुप्त
कुमारगुप्त
माधवगुप्त
(हर्षवर्धन के संगी)
ग्रहवर्मा = राज्यश्री
आदित्यसेन (६७२ ई०)
देवगुप्त
कन्या
भोगवर्मा
विष्णुगुप्त चन्द्रादित्य
यशोवर्मा
जीवितगुप्त २य
(लगभग ७२०–४० ई०)

बैस

- नरवर्धन
  - राज्यवर्धन १म
    - आदित्यवर्धन = महासेनगुप्ता
      - प्रभाकरवर्धन
        - राज्यश्री
        - राज्यवर्धन (६०६ ई०)
        - हर्षवर्धन (६०६—लग० ६४४ ई०) × सत्याश्रय पुलिकेशी

चालुक्य

- ⋮ (बिन्दुरेखा)
  - जयसिंह
    - रणराग
      - पोलेकेशी
        - कीर्त्तिवर्मा
          - सत्याश्रय पुलिकेशी
            - विक्रमादित्य १म
              - विनयादित्य (६८०—६९६)
                - विजयादित्य (६९६—७३२)
                  - विक्रमादित्य २य (७३३—७४७)
                    - कीर्त्तिवर्मा २य (७४७—७५३)
        - मंगलेश

> = समान-चिह्न का अर्थ है कि दोनों में विवाह हुआ। × गुणा-चिह्न का अर्थ है दोनों में युद्ध हुआ। बिन्दुरेखा का अर्थ है कि अन्दाज से सम्बन्ध प्रतीत होता है, पर निश्चय नहीं। लंबी बिन्दुरेखा का अर्थ है कि अन्दाज से संबंध प्रतीत होता है और बीच में कई पीढ़ियाँ बीती होंगी।

आरम्भ में नेपाल पर अधिकार कर लिया। उसके वंश ने लिच्छवियों को अपना सामन्त बना कर प्रायः एक शताब्दी नेपाल पर आधिपत्य बनाये रक्खा।

§२. **कुरु-पंचाल के नये राज्य**—गुप्त युग से गंगा-जमना काँठे का नाम 'अन्तर्वेदी' चल पड़ा था। उसकी परिभाषा की गई है "विनशन (सरस्वती नदी के मरुभूमि में लुप्त होने के स्थान = सिरसा के पास) से प्रयाग तक।... का प्रदेश अन्तर्वेदी है।" उस अन्तर्वेदी अथवा ठेठ हिन्दुस्तान के ठीक बीच दक्खिन पञ्चाल की राजधानी कन्नौज में पिछले गुप्तों के मुकाबले में मौखरि नाम का नया राजवंश उठ खड़ा हुआ। मौखरि लोग पहलेपहल हूणों के युद्धों में प्रसिद्ध हुए। सम्भवतः वे यशोधर्मा की सेना की हरावल में रहे थे। पञ्चाल की तरह कुरु देश का बैस वंश भी हूणों के युद्धों में प्रसिद्ध हुआ और अब राजवंश बन गया। इसकी राजधानी थानेसर थी।

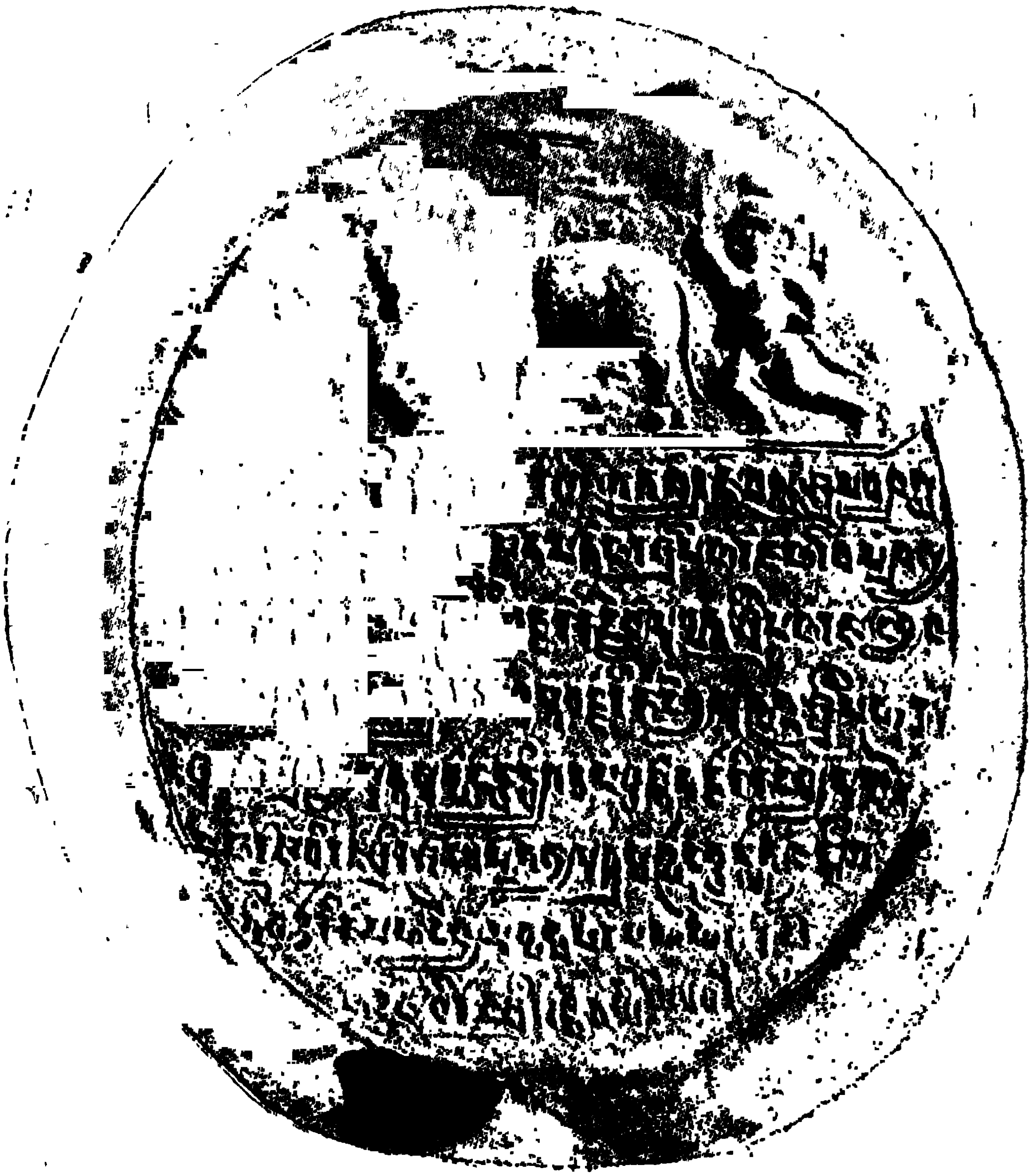
§३. **गुर्जर और मैत्रक**—छठी शताब्दी में उत्तरपच्छिमी भारत में गुर्जर लोग एकाएक प्रबल हो उठे। पंजाब में गुजरात और गुजराँवाला ज़िले उनके राज्य की याद दिलाते हैं। दक्खिनी मारवाड़ में उनकी बड़ी राजधानी भिन्नमाल थी। उनका एक और छोटा सा राज्य भरुच में भी था। उनके नाम से इस देश का नाम भी गुर्जरत्रा (गुजरात) पड़ गया। गुर्जरत्रा में तब मारवाड़ की भी गिनती थी। सुभीते के लिए हम पिछले इतिहास में भी गुजरात नाम का प्रयोग करते रहे हैं। असल में वह नाम इसी युग से चला।

सुराष्ट्र में छठी शताब्दी के आरम्भ में मैत्रक वंश का भटार्क नामक सेनापति था। उसके बेटे द्रोणसिंह का 'समूची पृथ्वी के एकस्वामी' अर्थात् गुप्त सम्राट् ने स्वयं राज्याभिषेक किया। मैत्रकों का राजवंश तब से वलभी नगरी (भावनगर के पास) में स्थापित हो गया।

पूरबी सीमा पर कामरूप का राज्य समुद्र-गुप्त के काल से गुप्त साम्राज्य के अधीन था। उससे भी हमें इस युग के इतिहास में वास्ता पड़ेगा। इन राज्यों के वंशवृक्ष सामने रखने से इनका इतिहास समझना सुगम होगा।

§४. **मौखरि साम्राज्य**—ईश्वरवर्मा और उसके बेटे ईशानवर्मा के प्रशासनों में भारत का साम्राज्य मौखरि वंश के हाथ आ गया। कृष्णगुप्त

के पड़पोते कुमारगुप्त के साथ ईशान का युद्ध हुआ, जिसका परिणाम अनिश्चित रहा। ईशान के बेटे शर्व के प्रशासन (लग० ५५६-७० ई०) में मौख-



शर्ववर्मा मौखरि की नालन्दा से पाई गई मुहर। ठीक इस तरह की मुहर असीरगढ़ (खानदेश) से भी पाई गई थी। [भा० पु० वि०]

रियों का प्रताप और भी बढ़ा। शर्व से लड़ता हुआ कुमारगुप्त का बेटा दामोदरगुप्त मारा गया। शर्ववर्मा ने सुराष्ट्र आन्ध्र और गौड (मध्य पच्छिमी बंगाल—मालदह ज़िला और पासपड़ोस) तक विजय किया। मौखरियों के

प्रताप से अब कन्नौज की वही प्रतिष्ठा हो गई जो पहले पाटलिपुत्र की थी। अगले छः सौ बरस तक वह उत्तर भारत का केन्द्र माना जाता और हिन्दुस्तान कहने से कन्नौज का ही साम्राज्य समझा जाता था।

मगध में भी मौखरि वंश की एक शाखा स्थापित हो गई। गुप्त "महाराजाधिराज" का अधिकार तब केवल बंगाल में रह गया। दामोदरगुप्त के मारे जाने से गुप्त राज्य डगमगा गया। उसके पड़ोसी कामरूप-प्राग्ज्योतिष (असम) के राजा सुस्थितवर्मा ने भी महाराजाधिराज पद धारण कर स्वतन्त्र होना चाहा। तब दामोदरगुप्त के बेटे महासेनगुप्त ने लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) तक चढ़ाई कर उसे हराया। इसके बाद हम महासेन को मालव (पूरबी राजस्थान) के राजा रूप में तथा शशांक नामक व्यक्ति को मगध बंगाल उड़ीसा के राजा रूप में देखते हैं। यह परिवर्त्तन कैसे हुआ इसकी ठीक व्याख्या नहीं हो पाई। अनुमान किया गया है कि शशांक भी गुप्त वंश का, शायद रिश्ते में महासेन का भाई, ही था, और कि शर्ववर्मा के उत्तराधिकारी अवन्तिवर्मा के प्रशासन में मौखरि साम्राज्य शायद किसी तरह कमज़ोर हो गया, जिससे लाभ उठा कर गुप्त महाराजाधिराज ने महासेनगुप्त को मालव देश का राज्य सौंप दिया (लग० ५८५ ई०)।

§५. चालुक्य और पल्लव—यशोधर्मा के बाद दक्खिन का नक्शा भी पलट गया। वाकाटक एकाएक लुप्त हो गये। सोलंकी या चालुक्य नाम का नया वंश महाराष्ट्र-कर्णाटक में प्रकट हुआ। इस वंश के पहले मुख्य राजा पोलेकेशी या पुलिकेशी ने कादम्बों से वातापी नगरी (बीजापुर जिले में बदामी) छीन कर अश्वमेध किया (लग० ५५० ई०)। पुलिकेशी के बेटे कीर्त्तिवर्मा ने कादम्बों को पूरी तरह उखाड़ डाला। कीर्त्तिवर्मा का उत्तराधिकारी उसका भाई मंगलेश हुआ। उसके प्रशासन में चालुक्य राज्य पूरबी से पच्छिमी समुद्र तक स्थापित हो गया और समुद्री बेड़े से कई द्वीप भी अधीन किये गये।

दक्खिनी छोर पर काञ्ची के पल्लवों का राज्य ज्यों का त्यों बना रहा, प्रत्युत पहले से भी अधिक चमक उठा। पल्लव राजा सिंहविष्णु ने सिंहल

को भी जीता (लग० ५६० ई०) ।

§ ६. **प्रभाकरवर्धन**—थानेसर का प्रभाकरवर्धन प्रकटतः महासेनगुप्त का भानजा था । उसने उत्तरापथ की तरफ अपनी शक्ति बढ़ाई । पहले उसने कश्मीर से या तुखार देश से हूणों को खदेड़ा; फिर सिन्धु, गुर्जर (पंजाब, मारवाड़) और गन्धार के राजाओं को वश में किया । तब वह दक्खिन की ओर झुका और लाट देश (दक्खिनी गुजरात = भरुच-सूरत) पर चढ़ाई की और मालव राज्य को भी जीता । मालव राजा (महासेनगुप्त ?) ने अपने दो बेटे कुमारगुप्त और माधवगुप्त उसे ओल रूप में सौंप दिये ।

प्रभाकरवर्धन की तीन सन्तानें हुईं—राज्यवर्धन, हर्षवर्धन और राज्यश्री । कुमारगुप्त और माधवगुप्त बचपन से राज्यवर्धन और हर्षवर्धन के अनुचर रहे । जवान होने पर राज्यश्री मौखरि राजा अवन्तिवर्मा के बेटे ग्रहवर्मा को ब्याही गई । प्रभाकरवर्धन ने राज्यवर्धन को "हूणों को मारने के लिए उत्तरापथ भेजा ।" हर्ष भी उसके पीछे पीछे जंगल में शिकार के लिए गया । वहाँ कश्मीर के पहाड़ों की तराई में उसे पिता की बीमारी की खबर मिली । उसके लौट आने पर प्रभाकर ने प्राण छोड़ दिये (६०५ ई०) । राज्यवर्धन भी खबर पा कर वापिस आया ।

§ ७. **राज्यश्री**—इधर प्रभाकर को मरा सुन मालव राजा (महासेन के बेटे देवगुप्त ?) ने कन्नौज पर चढ़ाई की, और ग्रहवर्मा को मार कर राज्यश्री को कन्नौज के कारागार में डाल दिया । तब बंगाल-बिहार-उड़ीसा के नये राजा शशांक को साथ ले वह थानेसर पर चढ़ाई की तैयारी करने लगा । खबर पाते ही दस हजार सवारों के साथ राज्यवर्धन उसके मुकाबले को बढ़ा और 'मालव सेना को खेल के खेल में जीत कर' शशांक की तरफ मुड़ा । गौड के राजा ने उससे मैत्री प्रकट की और उसे छल से मार डाला । शशांक अपने एक और कारनामे के लिए भी प्रसिद्ध है । उसने बौद्धों का दमन किया और बोधिवृक्ष को उखड़वा कर जलवा दिया ।

नौजवान हर्ष अपने इस शत्रु के मुकाबले को तेज़ी से बढ़ा । एक ही पड़ाव आगे पहुँचने पर प्राग्ज्योतिष (असम) के राजा भास्करवर्मा के दूत

उसे मैत्री का सन्देश लिये मिले। कन्नौज के निकट पहुँचने पर हर्ष को मालव कैदियों को लिये हुए सेनापति भण्डि मिला। वहीं उसने यह सुना कि पिछली गड़बड़ में राज्यश्री कैद से छुट कर निराश दशा में विन्ध्य के जंगल में कहीं चली गई है। भण्डि को गौड की तरफ रवाना कर, हर्ष बहन की खोज में



गणेश रथ, मामल्लपुरम् [भा० पु० वि०]

निकला। विन्ध्याचल के जंगलों में शबर जवानों की सहायता से खोजते हुए उसने उसे ठीक ऐसी वेला पाया जब वह सती होने को तैयार थी। भाई के मिलने पर

उसने वह इरादा छोड़ दिया, पर फिर भी भिक्षुणी होना चाहा। पर हर्ष ने उसे समझाया कि कन्नौज साम्राज्य को सँभालने की ज़िम्मेदारी तुमपर है, उस कर्तव्य से तुम्हारा भागना उचित नहीं है। राज्यश्री ने कन्नौज वापिस जा कर राज सँभालना मान लिया और यह तय हुआ कि हर्ष उसका प्रतिनिधि बन कर कन्नौज का राजकाज भी चलायगा।

§ ८. **हर्षवर्धन**—राज्यश्री ने वापिस आ कर कन्नौज का राज्य सँभाला, और हर्ष अपनी बहन का प्रतिनिधि हो कर राजा शीलादित्य नाम से उसकी भी देखरेख करने लगा। इस प्रकार अब कुरु और पंचाल दोनों राज्यों की शक्ति हर्ष के हाथ आ गई। उन दोनों की सेनाएँ तैयार कर वह भारत-दिग्विजय को निकला। छह बरस तक वह पूरब से पच्छिम सब प्रदेशों को जीतता रहा। उसके हाथियों के हौदे और सिपाहियों की वर्दियाँ बराबर कसी रहीं। उसके बाद भी वह अनेक सुदूर प्रदेशों को जीतता रहा। प्राग्ज्योतिष (असम) के "भास्करवर्मा का उसने स्वयं अभिषेक कराया, सिन्धुराज को कुचल कर उसका राज्य छीन लिया और तुखार पहाड़ों के दुर्गों से कर वसूल किया।" शशांक ने शायद उसके आगे झुक कर अपने को बचा लिया। वलभी का राजा ध्रुवसेन हर्ष से हार कर भरुच के गुर्जर राजा के पास भाग गया। पीछे हर्ष ने उसे अपना



स्व ह स्तो म म म हा रा जा धि रा ज श्री ह र्ष स्य

"स्वहस्तो मम महाराजाधिराजश्रीहर्षस्य"—हर्षवर्धन के हस्ताक्षर बाँसखेड़ा ताम्रपत्र पर से [लखनऊ संग्र०]

सामन्त बना कर अपनी इकलौती बेटी ब्याह दी।

§९. **सत्याश्रय पुलिकेशी**†—दक्खिन के सम्राट् मंगलेश ने अपने बड़े भाई कीर्त्तिबर्मा के बेटे सत्याश्रय पुलिकेशी की उपेक्षा कर अपने बेटे को उत्तराधिकारी बनाना चाहा। इसपर पुलिकेशी ने अपने चचा को एकाएक मार कर राज्य अपने हाथ में ले लिया (लग० ६०८ ई०)। महाराष्ट्र और कर्णाटक में कई सामन्तों ने नये सम्राट् के विरुद्ध सिर उठाने का यत्न किया, पर पुलिकेशी ने उन्हें दृढता से कुचल दिया। उत्तर भारत के सम्राट् हर्षवर्धन ने उसपर चढ़ाई की, पर पुलिकेशी नर्मदा के घाटों पर अपनी सेना को इस प्रकार सजग और तैनात रक्खे हुए था कि अपने साम्राज्य की सारी शक्ति लगा कर भी हर्ष उसे लाँघ न सका। गंगा और गोदावरी के काँठों के वे सम्राट् एक दूसरे के ठीक मुकाबले के थे और दोनों ने नर्मदा को तब से अपनी सीमा मान लिया।



महेन्द्रवर्मा और उसकी रानी, सिद्धनवासल गुफा में समकालिक चित्र, ईरानी चित्रकार काशेदुरियाँ कृत प्रतिलिपि।

सत्याश्रय पुलिकेशी "तीनों महाराष्ट्रों का अधिपति" कहलाया। दक्षिण कोशल (छत्तीसगढ़) और कलिंग (उड़ीसा) भी उसका आधिपत्य मानने लगे। आन्ध्रदेश का राज्य उसने अपने भाई कुब्ज विष्णुवर्धन को दिया, जिसके वंशज पीछे पूरबी चालुक्य कहलाये। गोदावरी और कृष्णा के मुहानों के बीच वेंगी राजधानी में उन्होंने लगातार ४½ शताब्दियों तक राज्य किया।

† सत्याश्रय पुलिकेशी को पुलिकेशी २य भी कहा जाता है।

• पुलिकेशी ने तमिळ देश पर भी चढ़ाई की और पल्लव राजा सिंहविष्णु के बेटे महेन्द्रवर्मा को उसकी राजधानी काञ्चीपुरी में घेर कर कावेरी तक जा पहुँचा। चालुक्य साम्राज्य की समुद्री सेना की शक्ति भी पुलिकेशी के प्रशासन में बनी रही। ईरान के राजा खुसरो २य ने ६२५-२६ ई० में पुलिकेशी के दरबार में अपने दूत भेजे। बदले में महाराष्ट्र राजा के दूत भी ईरान गये।

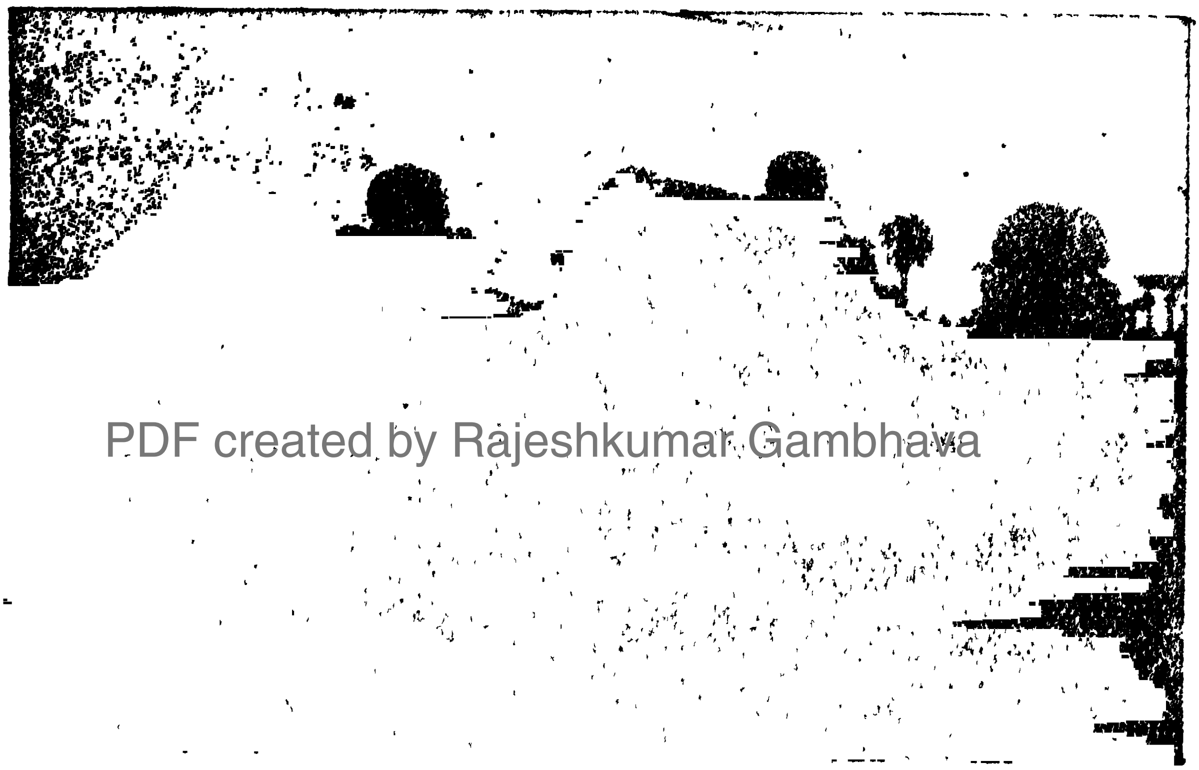


नरसिंहवर्मा की समकालीन मूर्ति—धर्मराज रथ, मामल्लपुरम् [फादर हेरस के सौजन्य से]

पुलिकेशी के अन्तिम काल में महेन्द्रवर्मा के बेटे नरसिंहवर्मा पल्लव ने वातापी पर चढ़ाई की, और उसे हरा कर अपने बाप की हार का बदला चुकाया (लग० ६४२ ई०)। पुलिकेशी की यह कमजोरी देख कर हर्षवर्धन ने तभी उड़ीसा से लगा हुआ गंजाम प्रदेश जीत लिया।

§ १०. **हर्ष-युगीन भारत**—हर्ष-कालीन भारत का वृत्तान्त हमें हर्ष की सभा के बिहारी कवि बाण भट्ट के हर्षचरित नामक ग्रन्थ से, अनेक समकालीन अभिलेखों से तथा चीनी यात्री य्वान च्वाङ के भारत-विवरण से मिलता है।

हर्ष जैसा विजेता था वैसा ही योग्य और न्यायी शासक भी। बरसात के सिवाय वह सदा अपने राज्य में दौरे करता और फूस के खेमों में ही पड़ाव किया करता था। राज्य-कार्य के पीछे वह अपनी भूख और नींद को भूल जाता था। उसका नाम शीलादित्य भी सार्थक था, क्योंकि वह शील और सच्चरित्र की मूर्त्ति था। उसने एकपत्नीव्रत धारण किया और आजन्म उसे निबाहा। प्रजा उसके राज्य में सुखी थी। तो भी अब गुप्तों के युग की सी पूरी शान्ति न थी और दंड भी तब से कुछ अधिक कठोर थे। ६०६ ई० में हर्ष ने अपने अभिषेक का संवत् चलाया था। ६४३ ई० तक वह राज्य करता था यह हम निश्चय से जानते हैं। उसके बाद उसकी मृत्यु हुई।



पञ्च-पाण्डव रथ, मामल्लपुरम् [भा० पु० वि०]

हर्ष के राज्यकाल में भिन्नमाल और पंजाब के गुर्जर राज्यों का अन्त हुआ। भिन्नमाल में इसके बाद चापोत्कट या चावड़ा नामक राजवंश स्थापित हुआ। उसी प्रकार मध्य पंजाब में टक्क (टांक) लोगों का राज्य स्थापित हुआ, जिसके कारण सातवीं शताब्दी में पंजाब टक्कदेश कहलाने लगा। शाकल उसकी राजधानी थी। उसके दक्खिनपच्छिम सिन्धु राज्य था, जिसका मकरान तक

अधिकार था। भरुच का छोटा गुर्जर राज्य आठवीं शताब्दी के आरम्भ तक बना रहा।

§११. पल्लव महेन्द्रवर्मा और नरसिंहवर्मा--महेन्द्रवर्मा १म (६१८ ई०) और नरसिंहवर्मा (६४६ ई०) दोनों शक्तिशाली राजा थे। पुदुकोटै के पास सिद्धनवासल ('सिद्धों का वास') नामक स्थान की गुफाएँ जिनकी दीवारों पर अजिंठा की गुफाओं की तरह सुन्दर चित्र अंकित हैं, इन्हीं राजाओं की कटवाई हुई हैं। कांची के सामने समुद्र-तट पर मामल्लपुरम् के एक एक चट्टान में से काटे हुए विशाल मन्दिर भी, जिन्हें 'रथ' कहते हैं, और जो संसार की अद्भुत वस्तुओं में गिने जाते हैं, इन्हीं राजाओं के बनवाये हुए हैं। सत्याश्रय पुलिकेशी के ज़माने से चालुक्यों और पल्लवों की जो उठापटक शुरू हुई वह अगले सवा सौ बरस तक उसी तरह चलती रही।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. मौखरि कौन थे? वे कब और कैसे प्रमुखता में आये?

२. गुप्त सम्राटों के बाद उत्तर भारत में और वाकाटकों के बाद दक्खिन में कौन से नये राज्य कहाँ कहाँ उठ खड़े हुए और कौन से पुराने राज्य बने रहे?

३. गुर्जरत्रा या गुजरात नाम कैसे चला?

४. कन्नौज उत्तर भारत की सम्राजधानी कब और कैसे बनी?

५. हर्षवर्धन का कन्नौज के राज्य से क्या संबंध था?

६. प्रभाकरवर्धन ने किस किस देश का विजय किया था?

७. हर्ष की राज्य-सीमा क्या थी? उसे किस राजा से हारना पड़ा?

८. पूरबी चालुक्य वंश की स्थापना किस प्रकार हुई?

९. इनपर टिप्पणी लिखिए—सिद्धनवासल, 'रथ', चावड़ा वंश, टक्क देश, वातापी।

अध्याय २

मौखरि-हर्ष युग में भारत के सीमान्त और बृहत्तर भारत

(लग० ५४५–६५० ई०)

§१. **हूण और तुर्क**—मध्य एशिया में हूणों की शक्ति ५६५ ई० में ईरान के शाह अनुशीरवाँ ने तोड़ दी थी, सो कह चुके हैं [६, ३ § ५]। किन्तु अनुशीरवाँ ने वह काम अकेले न किया; उसमें 'पच्छिमी तुर्क' उसके सहायक थे। तुर्क असल में हूणों की एक शाखा ही थे, जिसका असल नाम असेना था। असेना लोग पाँचवीं शताब्दी में चीन-हिन्द के उत्तरपूरबी छोर पर हामी के उत्तर बारकुल प्रदेश में स्वर्णगिरि के पास [नक्शा १७] रहते थे। उस पहाड़ की शक्ल खोद (फौजी टोपी) की सी थी, जिसे हूण भाषा में तुर्कु कहते हैं। इसी से वे लोग तुर्कु या तुर्क कहलाने लगे। ५४५ ई० से अर्थात् ठीक भारत के मध्य काल के आरम्भ से वे प्रबल हुए। अनुशीरवाँ ने उनकी सहायता से हूणों को हराया—अर्थात् हूणों के एक फिरके की मदद से दूसरे को हराया।

मध्य एशिया पर अनुशीरवाँ का प्रभाव नाममात्र को रहा। ५६५ से ६३१ ई० तक वहाँ तुर्कों का जोर रहा। उसके बाद चीन के नये साम्राज्य के प्रताप से उनकी शक्ति क्षीण हो गई। तुरफान से मर्व तक मध्य एशिया में जो तुर्क थे वे पच्छिमी तुर्क और जो अभी अपने मूल घरों में थे वे उत्तरी तुर्क कहलाते थे। यह पच्छिम उत्तर का हिसाब चीन की दृष्टि से था। मध्य एशिया और उत्तरपच्छिमी भारत में यों तुर्कों के सजातीय हूण वंश के सब लोग जहाँ अब तुर्क कहलाने लगे, वहाँ भारत के शेष भाग में एक अरसे तक उनका पुराना नाम हूण ही चलता रहा।

पच्छिमी तुर्कों के खाकान अर्थात् सम्राट् की राजधानी थियानशान पर्वत के उत्तर तरफ इसिक्कुल झील के उत्तरपच्छिम सुयमाइर (=आधुनिक चू) नदी के तट पर आधुनिक तोकमक शहर के स्थान पर थी।

§२. **चीन का ताङ सम्राट् वंश**--भारत के सम्राट् अशोक का पिछला समकालीन चीन का पहला सम्राट् शीहुआङती था। फिर भारत के सातवाहन वंश का समकालीन चीन के हान सम्राटों का वंश था, जिसके ज़माने में चीन का प्रभाव मध्य एशिया को पार कर कास्पी समुद्र तक जा पहुँचा था [५, ३ §§ १, ४]। २२१ ई० में चीन साम्राज्य उत्तरी 'तातारों' के हमलों से टूट गया, जिन्होंने समूचे उत्तरी चीन को ले कर चीन के प्रमुख सरदारों को दक्खिन तरफ धकेल दिया। तब से ५८८ ई० तक चीन में छोटे छोटे देशी विदेशी राजवंश राज्य करते रहे। ५८६ ई० में वहाँ सुइ वंश का साम्राज्य स्थापित हुआ, पर उसके काल में भी देश का गौरव स्थापित नहीं हो सका। ६१८ ई० में सुइ सम्राट् के एक युवक राजकर्मचारी ने सम्राट् को हटा कर अपने पिता को गद्दी दी और ६२६ में पिता के निवृत्त होने पर वह स्वयं गद्दी पर बैठा। इस प्रकार ताङ वंश की स्थापना हुई, जिसका संस्थापक इतिहास में ताइचुङ नाम से प्रसिद्ध हुआ। ताङ सम्राट् ताइचुङ ने चार वर्ष में देश में पूर्ण शान्ति स्थापित कर दी, सीमा पर के शत्रुओं को सामन्त बनाया, पुराने भ्रष्ट राजकर्मचारियों हो हटा कर अनेक योग्यतम व्यक्तियों को सेवा में लिया, दण्डविधान सुधार कर उसकी कड़ाई कम की, विद्या और शिक्षा की खूब उन्नति की, तथा अपने सादे जीवन का नमूना देश के सामने रक्खा। ६३० ई० में उसने उत्तरी तुर्कों का देश जीत कर उत्तर तरफ से चीन को सुरक्षित कर लिया।

ताङ ताइचुङ ने ६४६ ई० तक राज किया। वह स्वभाव का मधुर था, राजनीति-वेत्ताओं से खूब मिलता और उनसे अपने कार्यों की आलोचना भी सुनता था, उसके प्रशासन में चीन विश्व की प्रमुख शक्ति बन गया। उसके वंशजों ने भी वह परम्परा जारी रक्खी।

§३. **यात्री य्वान च्वाङ**--इसी सम्राट् ताइचुङ के ज़माने में यात्री य्वान च्वाङ भारत आया। वह ६२६ ई० में चीन से चल कर चीन-हिन्द पहुँचा। वहाँ कुछ दूर तक तारीम नदी की उत्तरी बस्तियों में होते हुए, फिर थियानशान पर्वत को लाँघ कर ताशकन्द समरकन्द अफगानिस्तान के रास्ते

कश्मीर पहुँचा, और भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक घूमने तथा कई स्थानों में वर्षों पढ़ने के बाद फिर अफगानिस्तान, पामीर और दक्खिनी चीन-हिन्द के रास्ते ६४४ ई० में चीन वापिस पहुँचा।

य्वान-च्वाङ ने अपने यात्रा-विवरण में कई मनोरञ्जक बातें दर्ज की हैं जिनसे उस युग में चीन और भारत के सम्बन्ध पर विशेष प्रकाश पड़ता है। कामरूप-प्राग्ज्योतिष के राजा भास्करवर्मा ने य्वान को अपने पास बुलाया था। भास्करवर्मा ने उससे पूछा—इधर कुछ काल से भारत के अनेक प्रान्तों में एक गीत सुना गया है जिसे लोग चिनवाङ के विजयों का गीत कहते हैं। वह आपके देश का ही है न? य्वान ने कहा—हाँ, वह मेरे राजा की स्तुति है। तब सम्राट् शीलादित्य हर्षवर्धन गंजाम प्रदेश जीत कर कन्नौज लौट रहा था और कजंगल नगर (संथाल-परगने में आधुनिक कांकजोल) में था। उसने भास्करवर्मा को चीनी यात्री के साथ वहाँ बुलाया और दोनों के साथ गंगा द्वारा कन्नौज की यात्रा की। हर्षवर्धन ने भी य्वान-च्वाङ से कहा—मैने चीन के देवपुत्र चिनवाङ के बारे में सुना है जिसने उस देश को अराजकता और बरबादी की दशा से व्यवस्था और समृद्धि में पहुँचाया और दूर देशों तक आधिपत्य स्थापित कर अपना सुप्रभाव फैलाया है; उसकी सन्तुष्ट प्रजा चिनवाङ के विजयों का गीत गाती है जो यहाँ भी एक अरसे से परिचित है। चिनवाङ सम्राट् ताइचुङ का कुमार-जीवन का पद था। कुमार दशा में उसने एक भयंकर विद्रोह को दबाया था जिसकी याद में उसके सैनिकों ने नाच के साथ गाने का गीत रचा था। इसे १२८ आदमी चाँदी के कवच पहने हाथों में भाले लिये नाचते हुए गाते थे। कुछ ही वर्षों में यह नृत्य-गीत उत्तर-पूरबी और उत्तरपच्छिमी द्वार से भारत भी आ पहुँचा था! भारत और चीन के बीच वस्तुओं और विचारों का कैसा खुला आदान-प्रदान चलता था तथा ताइचुङ के विजयों का एशिया में तब कैसा प्रभाव हुआ था यह इससे सूचित है।

उस युग तक चीन के लोग ईख के रस से खाँड और मिसरी बनाना न जानते थे। मिसरी को वे मधुशिला (शहद-पत्थर) कहते थे। ताइचुङ ने भारत में अपने आदमी मिसरी बनाना सीखने को भेजे। चीन के लोग भारत

के रंगबिरंगे मलमल के कपड़ों से भी चकित होते थे। उन्हें वे उषा की भाप कहते थे। उसी तरह भारत के लोग भी चीनांशुक अर्थात् चीन के रेशमी कपड़े को बहुत चाहते थे। दोनों देशों में विद्या का आदान-प्रदान कैसे होता था सो तो य्वान च्वाङ जैसे यात्रियों की चर्या से ही प्रकट है। किन्तु बौद्ध और अन्य सम्प्रदायों में दार्शनिक चिन्तन के साथ अन्धविश्वास भी तब खूब घुल-मिल चुका था।



जापान के होरिउजी मठ की भीत पर बोधिसत्त्व-चित्र, जो मौखरि-हर्ष युग में लिखा गया तथा उस युग में भारत चीन जापान के सम्पर्क का निदर्शक है।
[राहुल जी के सौजन्य से]

§४. **चीन-हिन्द**—सीता के काँठे अथवा चीन-हिन्द के भारतीय उपनिवेश तीन तरफ़ तिब्बत और पामीर के पहाड़ों तथा थियानशान से तथा चौथी तरफ़ उनके और चीन के बीच की मरुभूमि से घिरे थे। तो भी थियानशान को लाँघ कर हूणों तुर्कों के अनेक आक्रमण उनपर हुए थे। थियानशान के पूरबी छोर पर उरुमची और हामी [नक्शा १७] के बीच से उत्तर से चीन-हिन्द में घुसने को खुला रास्ता है। वहाँ आधुनिक तुरफान के स्थान पर सातवाहन युग में एक भारतीय (अथवा भारत से प्रभावित स्थानीय लोगों का) उपनिवेश था। वह उपनिवेश तुर्क बाद में बह गया और उसके स्थान पर तुर्क राज्य स्थापित हो गया था जिसे चीनी कौशाङ कहते थे। यहाँ बसे हुए तुर्कों में धीरे धीरे बौद्ध धर्म का प्रवेश हुआ और तुर्की भाषा में संस्कृत से कई ग्रन्थों के अनुवाद किये

गये। इस तुर्क राज्य को सम्राट् ताइचुङ ने ६३६ ई० में "बुझा दिया", और इसके पच्छिम के भारतीय राज्य अग्नि [५, ४ § १] के साथ चीन की सीमा लगा दी। अग्नि राज्य तक इस युग में भारतीय लिपि चलती थी।

य्वान च्वाङ के ज़माने में अग्नि कुचि भरुक खोतन आदि शेष सब भारतीय राज्य ज्यों के त्यों बने थे। पर वे परिपक्व और कुछ क्षीण दशा में थे, उनपर कई तुर्क चढ़ाइयाँ होने की स्मृतियाँ ताजी थीं। तो भी चीन-हिन्द के भीतर और कोई तुर्क बस्ती न थी। खोतन के राज्य को ४४५ ई० से हूण और तुर्क सता रहे थे। ६३० ई० में वहाँ के राजा विजयसंग्राम ने तुर्कों के देश पर चढ़ाई कर उनका संहार किया। उससे कुछ बरस पहले या पीछे ही तो राज्यवर्धन और हर्षवर्धन ने भी तुखार पहाड़ों पर चढ़ाइयाँ की थीं। यों पंजाब और खोतन के भारतीय राज्य दो तरफ से एक ही शत्रु को ठेल रहे थे। ६४८ ई० में अग्नि और कुचि पर पच्छिमी तुर्कों की चढ़ाई हुई, जिसके बाद तुर्क वहाँ से निकाले गये।

§ ५. **शूलिक और तुखार**—य्वान च्वाङ पच्छिमी तुर्कों के खाकान से उसकी राजधानी में मिला था और उसने य्वान को भारत के कपिश देश तक के लिए राहदारी दी थी, जिसका यह अर्थ है कि कपिश की सीमा तक तुर्क खाकान की आज्ञा मानी जाती थी। उस खाकान का उपराज वंक्षु नदी के दक्खिन बदख्शाँ के पच्छिमी अंश में कुन्दूज नगर में रहता था। किन्तु य्वान च्वाङ के विवरण से हमें इसका स्पष्ट चित्र मिलता है कि सुषमाइर से हिन्दकोह तक समूचे मध्य एशिया की जनता अभी तक पुराने ऋषिकों और उनके सजातीय लोगों की ही वंशज थी, जिसके बहुत से सरदार तुर्कों का आधिपत्य मानते हुए उनके सामन्त रूप में राज्य करते थे।

सुषमाइर नदी से समरकन्द के दक्खिन के पहाड़ों तक तथा खीवा प्रदेश तक बसी हुई जनता इस युग में सुलि या शूलिक कहलाती थी। ये शूलिक पुराने ऋषिकों के ही वंशज थे। समरकन्द राज्य इन्हीं का था जो मध्य एशिया का केन्द्र तथा वहाँ की सभ्यता का आदर्श माना जाता था।

शूलिकों के दक्खिन तुखार देश था। समरकन्द के पास की ज़रफ़्शाँ

नदी और वंक्षु के बीच का पनढाल जिस पर्वत से बना है उसमें लोहे की चट्टानों से घिरा प्रायः १। मील लम्बा और ५ से ३६ डग तक चौड़ा एक तंग दर्रा है, जिसे पंजाबी यात्री अब बुज़गोलाखाना या बकरीखाना कहते हैं। उस युग में वह लोहघाट [नक्शा १६] कहलाता था। वह तुखार देश की उत्तरी सीमा थी। उसकी दक्खिनी सीमा अफगानिस्तान पठार की रीढ़ थी। उसकी पच्छिमी सीमा फारिस से लगती थी तथा पूरबी सीमा पुराने काल में पामीर के पठार को रीढ़ अर्थात् पामीर की पूरबी सीमा की पर्वतमाला तक थी। अर्थात् बलख बदख्शाँ और वंक्षु के उत्तर तरफ हिसार-स्तालिनाबाद का प्रदेश तुखार में सम्मिलित था। तुखार देश में २७ राज्य थे जो सब तुर्कों का आधिपत्य मानते थे। पुराने तुखार में पामीर भी सम्मिलित था, पर इस युग में वहाँ के छोटे छोटे राज्य तुर्क आधिपत्य में न थे और उनका सम्बन्ध भारत और चीन-हिन्द से अधिक था। शूलिक लिपि भारतीय से भिन्न थी, पर तुखार लिपि भारतीय ही थी।

६३१ ई० में ही समरकन्द के शूलिक राजा ने अपने को तुर्क आधिपत्य से निकाल कर चीन के आधिपत्य में जाने का प्रस्ताव किया, पर चीन सम्राट् ने तब इसे उचित न समझा। परन्तु ६५७-५६ ई० में चीनी सेनाओं ने पच्छिमी तुर्कों का समूचा देश जीत लिया, अर्थात् शूलिक और तुखार देश तब चीन के आधिपत्य में चले गये। वह किन दशाओं में हुआ सो हम आगे देखेंगे।

§६. जागुड बामियाँ कपिश—जागुड बामियाँ और कपिश उस युग में अफगानिस्तान पठार के मुख्य राज्य थे। बामियाँ मध्य अफगानिस्तान में काबुल हेलमन्द और वंक्षु नदियों के बीच के पनढाल पर था और कपिश हिन्दकोह से सिन्ध नदी तक। लम्पाक नगरहार पच्छिमी गन्धार और वर्णु (बन्नू) कपिश राज्य के अधीन थे। नगरहार प्रदेश अब भी निंग्रहार कहलाता है; पेशावर से काबुल के रास्ते पर का जलालाबाद शहर अब उसका केन्द्र है [४, ३ § ३]। उसके उत्तरपच्छिम पहाड़ों की उस तराई का नाम जिसमें अलिषंग नदी [४, १ § ४] काबुल में मिलती है, लम्पाक था। अब वह लमगान कहलाती है। पच्छिमी गन्धार का मुख्य नगर अब पुरुषपुर था, पर पुष्करावती भी अभी तक आबाद नगरी थी। पच्छिमी गन्धार का उत्तरी अंश उड्डीयान

अर्थात् स्वात नदी की दून [१, १ § ६; २, १ § ४; ४, १ § ४] भी कपिश के अधीन था। कपिश और बामियाँ दोनों के राजा अपने को क्षत्रिय कहते तथा बामियाँ वाले अपने को शाक्यवंशी मानते थे।

§ ७. **कश्मीर, टक्क, सिन्धु**—कश्मीर में य्वान च्वाङ के ज़माने से कुछ ही पहले दुर्लभवर्धन ने कर्कोट राजवंश की स्थापना की थी। कश्मीर दून के दक्खिन के अभिसार देश (पुंछ राजौरी) [४, १ § ५] तक्षशिला और सिंहपुर (नमक-पहाड़ियों में आधु० कटास) तथा कश्मीर दून के पच्छिम का सिन्ध नदी तक का पहाड़ी प्रदेश उरशा (आधु० हज़ारा) भी कश्मीर के अधीन थे।

पंजाब को य्वान च्वाङ के युग में टक्क देश कहने लगे थे। शायद वह नाम टाँक लोगों के कारण था। शाकल (स्यालकोट) उसकी राजधानी थी। सतलज के पूरबी तट पर आधुनिक लुधियाने के स्थान पर सुनेत्र नाम की यौधेयों की पुरानी राजधानी थी [६, १ § ३]। य्वान च्वाङ के ज़माने में उसके चौगिर्द का प्रदेश पोवाध (पोफातो) कहलाने लगा था और वह भी टक्क के अन्तर्गत था। उस प्रदेश का वह नाम आज तक चला आता है।

तक्षशिला और वर्णु के दक्खिन सिन्धु राज्य था जिसकी राजधानी आधुनिक डेरागाज़ीखाँ जिले में थी। आजकल का समूचा सिन्ध और कलात प्रदेश उसके अधीन थे। कहा जा चुका है कि हर्षवर्धन ने सिन्धु राज्य ले लिया था। लगभग ६३६ ई० में हर्ष ने कश्मीर को भी अधीन किया था।

§ ८. **कुल्लू ब्रह्मपुर सुवर्णगोत्र**—य्वान च्वाङ हिमालय के कुलूत (कुल्लू) प्रदेश में भी गया था। उसके उत्तर तरफ लाहुल और मरपो (लदाख)† प्रदेशों से भी वहाँ के लोग परिचित थे। हरद्वार बिजनौर के उत्तर तरफ आधुनिक गढ़वाल-कुमाऊँ में भी य्वान गया था। उस जनपद का नाम तब ब्रह्मपुर सा कुछ था। उसके उत्तर तरफ सुवर्णगोत्र देश था, जिसकी पूरबी सीमा तिब्बत से, उत्तरी सीमा खोतन से तथा पच्छिमी सीमा लदाख से लगती थी।

---

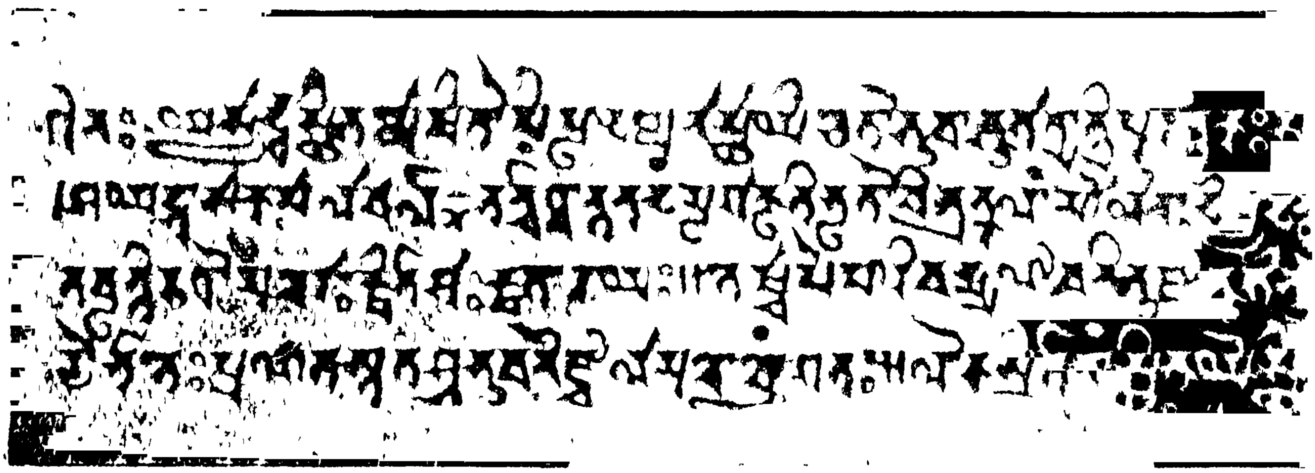
† मरपो या मरयुल तिब्बती नाम है, जिसका शब्दार्थ है मक्खन का देश।

यह पच्छिमी तिब्बत का वर्णन है और इस वर्णन से प्रकट होता है कि उस युग के भारतीय उससे अच्छी तरह परिचित थे और उसके आरपार खोतन का रास्ता है यह भी जानते थे। पच्छिमी तिब्बत में अनेक सुवर्णक्षेत्र हैं, जहाँ की मिट्टी में सोना मिला रहता है। वैसे क्षेत्रों को वहाँ 'थोक' कहते हैं। 'थोक' का ही संस्कृत रूप 'गोत्र' प्रतीत होता है।

§९. **नेपाल कामरूप**—नेपाल दून के लिच्छवियों ने लगभग ६२५ ई० में गोवाला-गुप्तों को हटा दिया, पर उसके शीघ्र बाद लिच्छवि राजा के "महासामन्त" ठक्कुरी वंश के अंशुवर्मा ने राज्य हथिया लिया। अंशुवर्मा ने अपना संवत् भी चलाया। उसके बाद डेढ़ शताब्दी तक वहाँ लिच्छवि और ठक्कुरी सरदारों का सम्मिलित द्विराज जारी रहा।

कामरूप या प्राग्ज्योतिष में पिछले गुप्तों के युग में जो राजवंश था वही हर्षवर्धन के ज़माने में भी चलता रहा। वह हर्ष का आधिपत्य मानता था।

§१०. **तिब्बत का उत्थान**—चीन और कश्मीर तथा खोतन और

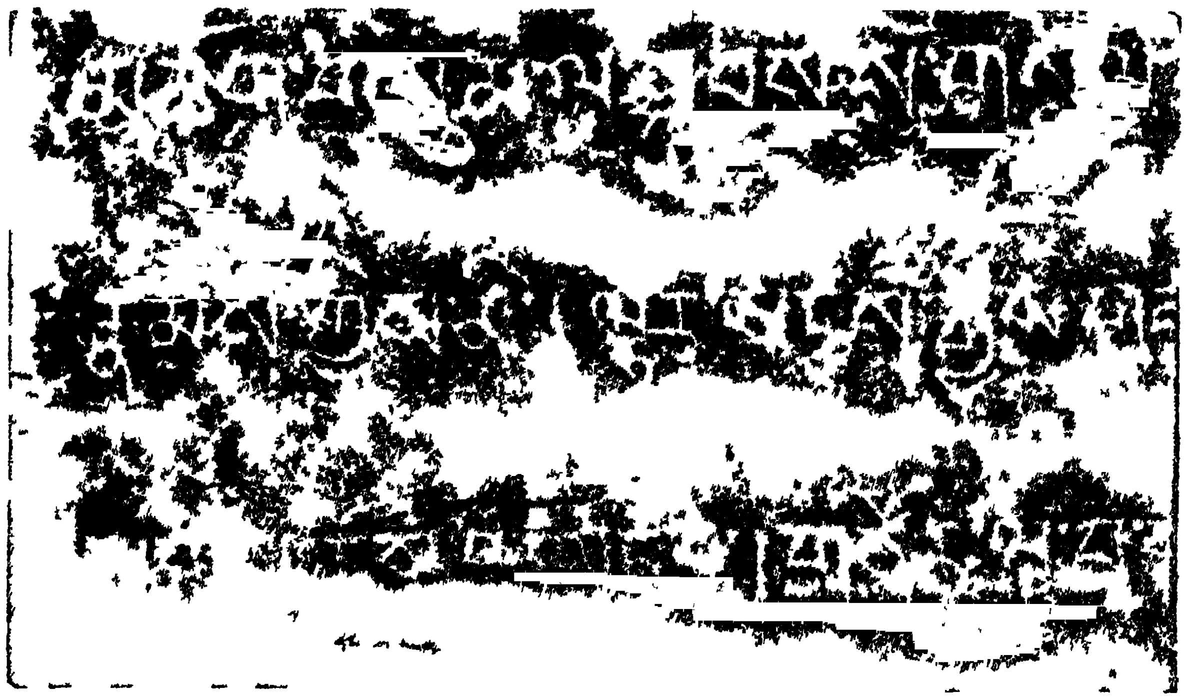


छठी शताब्दी की भारतीय लिपि, जिसमें तिब्बती भाषा पहलेपहल लिखी गई—हड़हा (जि० रायबरेली) से प्राप्त ईशानवर्मा मौखरि के सं० ६११ वि० के लेख में से [लखनऊ सं०]

नेपाल के बीच नया राज्य तिब्बत या भोट† इसी युग में उठ खड़ा हुआ।

† तिब्बती लोग अपने देश को पोद् कहते हैं जिसका भारतीय रूप भोट है। तिब्बत शब्द संस्कृत त्रिविष्टप से बना प्रतीत होता है।

इससे पहले तिब्बती लोग खानाबदोश पशुपालक थे और छोटे छोटे गिरोहो में रहते थे। तीन तरफ के भारतीय देशों से और चोथी तरफ चीन से उनमें धीरे धीरे सभ्यता का प्रकाश पहुँचा, और वे खेती, लिखना, मकान बनाना आदि सीख गये। खोतन और कुचि में जो भारतीय लिपि प्रचलित थी, वही सातवीं शताब्दी के शुरू में तिब्बत में भी पहुँच गई। तिब्बती भाषा तब से आज तक हमारी ही वर्णमाला मे लिखी जाती है। ६३० ई० में पहलेपहल एक सम्राट् सारे तिब्बत को अपने शासन मे ले आया; उसने ६५० ई० तक राज्य किया।

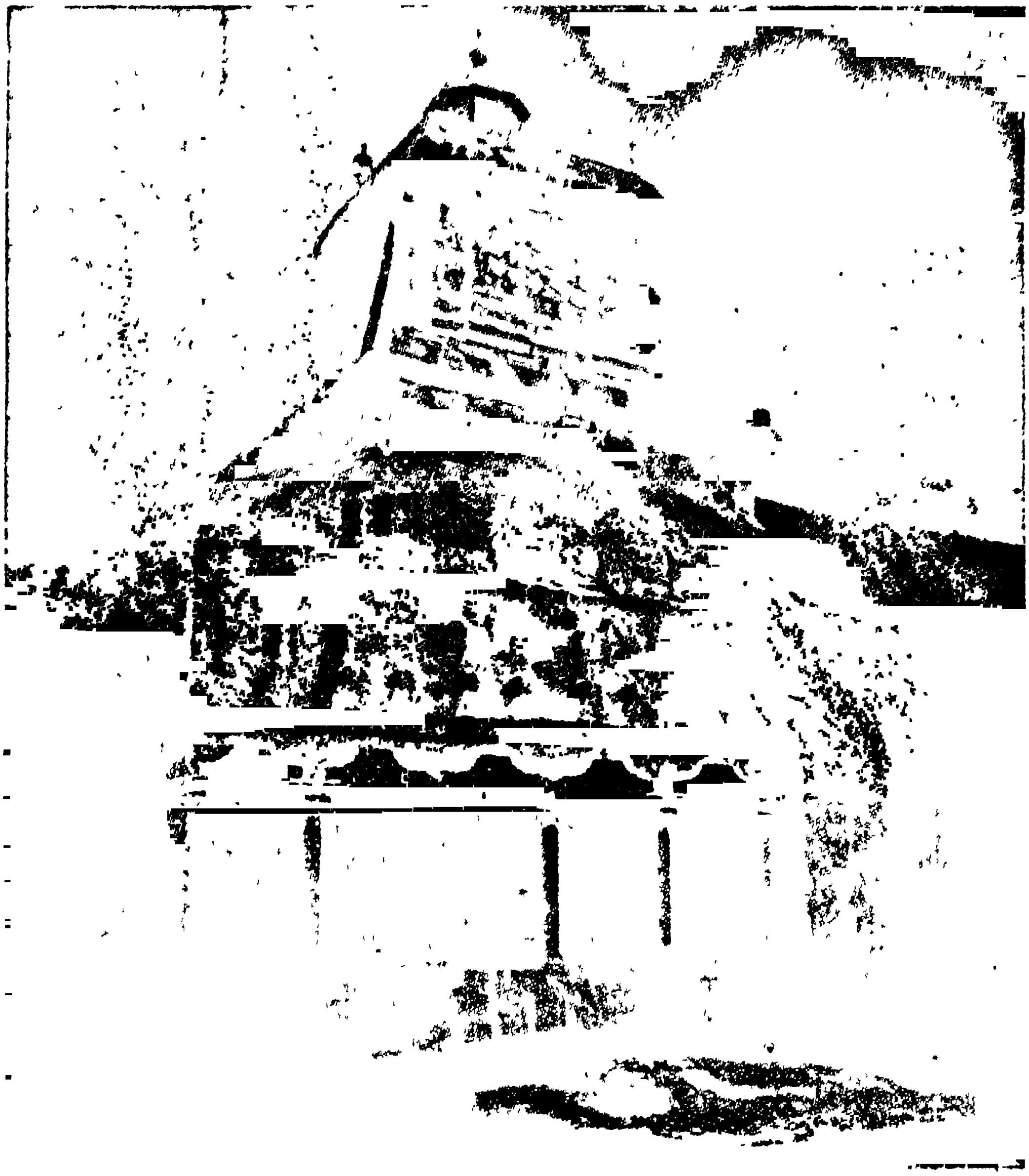


आरम्भिक तिब्बती लिपि—ल्हासा के पास ग्यलखङ विहार के शिलालेख में से। हड़हा लेख की लिपि से इसकी तुलना कीजिये।
[राहुलजी के सौजन्य से]

उसका नाम स्रोङ्चन-गम्बो था। ल्हासा की स्थापना उसी ने की। उसने नेपाल के अंशुवर्मा की बेटी भृकुटि से और चीन-सम्राट् की कन्या से विवाह किया। वे दोनों देवियाँ बौद्ध थीं। उन्होने तिब्बतियों के रहन-सहन में अनेक सुधार करवाये। ६४१ ई० में हर्षवर्धन ने अपने दूत चीन भेजे। दो बरस बाद चीन के दूत तिब्बत के रास्ते कन्नौज आये। इस प्रकार अब पहले-पहल चीन और भारत के बीच तिब्बत के रास्ते आवाजाही शुरू हुई। बाद

के तिब्बती राजाओं ने भी नेपाल मगध और कन्नौज से लगातार सम्पर्क बनाये रक्खा ।

§ ११. श्रीक्षेत्र द्वारवती ईशानपुर महाचम्पा——य्वान च्वाङ ने समतट अर्थात् बंगाल के समुद्रतट के प्रदेश में रहते हुए वहाँ के परे के छह



मामल्लपुरम् समुद्रतट पर नाविकों को रास्ता दिखाने के लिए पल्लव राजाओं का बनवाया ज्योतिःस्तम्भ [भा० पु० वि०]

देशों के विषय में सुना था। इनमें से पाँच भारत और चीन के बीच के प्रायद्वीप में थे, छठा यवद्वीप या जावा था। पाँच में पहला श्रीक्षेत्र था जो आजकल का बरमी लोगों का थरेखेत्र या प्रोम है। दूसरे देश का नाम काम-

लंका सा कुछ था, और वह बरमा के तट पर आधुनिक पगू या तनासरीम के स्थान पर था। तीसरा था द्वारवती जिसके स्थान को आधुनिक स्याम की अयुध्या नगरी लगभग सूचित करती है। चौथे देश का नाम य्वान च्वाङ ने ईशानपुर दिया है। वास्तव में वह कम्बुज राष्ट्र की राजधानी का नाम था। कम्बुज राष्ट्र अब उसी देश का नाम पड़ा जिसका पुराना नाम 'फूनान' था [५, ४ § २; ६, ४ § ३]। 'फूनान' राज्य को उसके सामन्त चित्रसेन ने समाप्त कर उसके स्थान में कम्बुज-राष्ट्र की नींव डाली थी। परले हिन्द के उस भाग का नाम अब तक वही चला आता है। उसका वह नाम भारतीय प्रवासियों ने रक्खा था। वहाँ के असल निवासी ख्मेर लोग हैं, जो हमारे संथाल लोगों से मिलते-जुलते और आग्नेय नृवंश के हैं। आर्यों के कम्बुज उपनिवेश में होने के कारण वे कम्बुज कहलाने लगे। पर उनका कहना है कि वे महर्षि कम्बु और मेरा अप्सरा की सन्तान हैं! चित्रसेन भी कम्बु और मेरा की उसी सन्तान में से था। कम्बुज के राजा अपने को सूर्यवंशी मानते थे। चित्रसेन के भाई भववर्मा के नाम से भवपुर राजधानी स्थापित हुई। भववर्मा के बेटे ईशान-वर्मा ने ईशानपुर की स्थापना कर उसे राजधानी बनाया। उसने ६१६-१७ ई० में चीन को अपने दूत भेजे।

तोङकिङ की खाड़ी पर आधुनिक व्येतनम की जगह चम्पा परले हिन्द का सबसे प्रसिद्ध राज्य था [५, ४ § २; ६, ४ § ३]। इस युग में अपनी प्रबलता के कारण वह महाचम्पा कहलाने लगा। वहाँ के गंगराज-वंश [६, ४ § ३] में ५६० से ६३० ई० तक शम्भुवर्मा नामक योग्य राजा हुआ।

§ १२. **शैलेन्द्रों का राज्य**—गुप्त युग में सुमात्रा में श्रीविजय राज्य की स्थापना का उल्लेख किया जा चुका है [६, ४ § ३]। सातवीं शताब्दी में वहाँ शैलेन्द्र राजवंश स्थापित हुआ। मध्य और दक्खिनी सुमात्रा तथा उसके पड़ोस के छोटे द्वीप उस शताब्दी में उस राज्य के अन्तर्गत थे। श्रीविजय के जहाज पूरब तरफ चीन तक और पच्छिम तरफ मदगास्कर और अलक्सान्द्रिया (मिस्र के बन्दरगाह) तक जाते थे।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. अनुशीरवाँ ने हूणों को कब और किसकी सहायता से हराया ?

२. तुर्क लोग किस नृवंश के थे, उनका पहला नाम क्या था और तुर्क नाम कैसे पड़ा ? पच्छिमी तुर्क और उत्तरी तुर्क का क्या अर्थ है ?

३. य्वान च्वाङ किस मार्ग से भारत आया और किससे चीन लौटा ?

४. य्वान च्वाङ के ज़माने में पच्छिमी तुर्कों की राजधानी कहाँ थी ?

५. हर्ष युग में चीन और भारत ने एक दूसरे से क्या कुछ सीखा और दोनों देशों में किन वस्तुओं का आदान-प्रदान होता रहा ?

६. चिनवाङ का विजयगीत क्या वस्तु थी ? वह नृत्य-गीत भारत में कब प्रचलित था ? उसका यहाँ प्रचलित होना क्या सूचित करता है ?

७. ताङ ताइचुङ का संक्षिप्त वृत्तान्त लिखिए। इतिहास में उसका क्या स्थान है और भारत के इतिहास पर उसका क्या प्रभाव पड़ा ?

८. चीन-हिन्द के भारतीय राज्यों का परिचय देते हुए बताइए कि पच्छिमी तुर्कों और चीनियों से सातवीं शताब्दी में उनका क्या सम्बन्ध रहा ?

९. शूलिक लोग कौन थे और कहाँ रहते थे ? य्वान च्वाङ के ज़माने में उनपर किसका आधिपत्य था ?

१०. तुखार देश कहाँ था ? उसकी सीमाएं स्पष्ट कीजिए।

११. कपिश राज्य की सीमाएँ य्वान च्वाङ के युग में क्या थीं ? उसके अधीन कौन से प्रदेश थे ?

१२. कर्कोट राजवंश की स्थापना किसने की ? उस राजा का अधिकार कहाँ तक था ?

१३, य्वान च्वाङ के ज़माने में भारतीय लिपि के विस्तार की उत्तरी और पच्छिमी सीमा कहाँ तक थी ?

१४. तिब्बत में सभ्यता और भारतीय लिपि कब और किस प्रकार पहुँची ? स्रोङ-चन गम्बो का तिब्बत के उत्थान में क्या भाग रहा ?

१५. शैलेन्द्रों का राज्य ७वीं शताब्दी में कहाँ से कहाँ तक था और उनके जहाज किन देशों तक पहुँचते थे ?

१६. इनपर टिप्पणी लिखिए—लोहघाट, मक्खन का देश, कंबुज, महाचंपा, ईशानपुर, अंशुवर्मा, शंभुवर्मा।

अध्याय ३

खिलाफ़त का उदय और भारत से टक्कर

(लग० ६३२–८५० ई०)

§१. **हज़रत मुहम्मद्**—भारतवर्ष में जब हर्ष और पुलिकेशी राज्य करते थे, तभी अरब में इस्लाम मत का उदय हुआ। इस मत के प्रवर्तक हज़रत मुहम्मद का जन्म ५७१ ई० में अरब की कुरैश जाति में हुआ। मुहम्मद से पहले अरब वाले अनेक जड़-जन्तुओं को पूजते और छोटे छोटे फिरकों में बँटे हुए थे। मुहम्मद ने उन्हें तौहीद अर्थात् परमेश्वर के एक होने की शिक्षा दी। उन्होंने अनुभव किया कि उनका वह तौहीद का विचार स्वयं परमेश्वर या अल्लाह की प्रेरणा है। इसलिए उन्होंने अपने को अल्लाह का 'रसूल' अर्थात् भेजा हुआ कहा। फिर उनकी यह शिक्षा थी कि अल्लाह और उसके रसूल को मानने वाले सब मुसलमान हैं, और उसकी दृष्टि में बराबर हैं, उनमें कोई ऊँचनीच या छोटाई बड़ाई नहीं है। अल्लाह और रसूल को न मानना कुफ्र अर्थात् नास्तिकता है, और कुफ्र करने वाला काफिर है।

इन शिक्षाओं का पहले तो अरब वालों ने विरोध किया, यहाँ तक कि रसूल को अपने विरोधियों से सताये जाने पर अपनी जन्मभूमि मक्का को छोड़ मदीना हटना पड़ा। इसी हटने या 'हिजरत करने' से ६२२ ई० में हिजरी सन् जारी हुआ। किन्तु पीछे मुहम्मद को सफलता हुई और अरब वालों में उन्होंने अनुपम एकता और शक्ति जगा दी। सारा अरब उनको छत्रच्छाया में आ गया। ६३२ ई० में उनका देहान्त हुआ।

§२. **खिलाफत का विस्तार, ईरान-विजय**—मुहम्मद के पीछे उनके परिवार के जो लोग अरबों के नेता बने वे खलीफा कहलाये। पहले चार खलीफा बहुत प्रसिद्ध हैं। उन्होंने इस क्रम से राज्य किया—(१) अबू बक्र ६३२–३४ ई० (२) उमर ६३४–४३ ई० (३) उस्मान ६४३–५५ ई० और (४) अली ६५५–६१ ई०।

अरब के पड़ोस में एक तरफ ईरान और दूसरी तरफ रोम का साम्राज्य

था। वे दोनों बोदे और खोखले हो चुके थे। रसूल की मृत्यु के बाद पाँचवें ही बरस (६३६-३७ ई०) अरबों ने सासानी राजा यज़्दगुर्द ३य को हरा कर ईरान का मुख्य भाग दखल कर लिया। ईरान के लोग मुसलमान बनाये गये। उनमें से कुछ बच कर समुद्र के रास्ते भारत भाग आये। उन भागने वालों के वंशज, जो अब गुजरात में आबाद हैं, पारसी नाम से प्रसिद्ध हैं।

पांड्य सिंहल श्रीविजय (सुमात्रा) आदि जिन भारतीय राष्ट्रों का सामुद्रिक व्यापार बहुत था, उन्हें पच्छिमी समुद्र की इस नई शक्ति से सबसे पहले वास्ता पड़ा। उनके लिए जहाँ तक हो सके उसके साथ मैत्री रखना आवश्यक था। अरब लोग भी भारतीय समुद्र में व्यापार और मल्लाहगीरी करते थे। किन्तु पहले जहाँ वे कोरे व्यापारी और माँझी थे, वहाँ अब उनमें से प्रत्येक नई उमंग लिये हुए अपने दीन (मत) का उग्र प्रचारक बन गया। जहाँ कहीं भी व्यापार या मल्लाहगीरी के कारण उनकी छोटी मोटी बस्ती रही, वहाँ मस्जिदें खड़ी होने लगीं, इस्लाम का प्रचार होने लगा, और वहाँ से लोग हज (अरब के तीर्थों की यात्रा) के लिए जाने और खलीफा के पास ज़कात (अपनी बचत का ४०वाँ अंश) भेजने लगे। इस नये जोश और जीवन में अरबों की सामुद्रिक शक्ति भी बढ़ने लगी और इन मुस्लिम केन्द्रों से भारत के तट-प्रदेशों का परिचय पा कर खलीफाओं की जल-सेना उन पर झपट्टे भी मारने लगी।

§ ३. भारत के सीमान्त पर धावे और मकरान-विजय—खलीफा उमर के प्रशासन में पहलेपहल भारत के पच्छिमी तट पर अरबों ने समुद्री धावे मारे। एक धावा उन्होंने कोंकण के ठाना ज़िले पर मारा, जिसमें पुलिकेशी के हाथों उनकी बुरी तरह हार हुई। दूसरे सामुद्रिक हमले भी उसी प्रकार विफल हुए।

६४३ ई० में ईरान के पूरबी प्रान्त किरमान और सिजिस्तान (प्राचीन शकस्थान) जीत लिये गये। सिजिस्तान लेने से अरब लोग हेलमन्द नदी पर पहुँच गये, जो तब भी भारत की सीमा मानी जाती थी। उसका काँठा सिन्ध और अफगानिस्तान के बीच पच्चर की तरह घुसा हुआ है। ६४४ ई०

में सिन्ध के राजा "सिहर्सराय" (श्रीहर्षराज) से अरबों ने मकरान छीन लिया। श्रीहर्षराज लड़ाई में मारा गया। उसके बेटे साहसी ने युद्ध जारी रक्खा, पर दो बरस पीछे वह भी खेत रहा। तब सिन्ध का राज्य ब्राह्मण मन्त्री चच ने सँभाल लिया।

श्रीहर्षराज कहीं हर्ष शीलादित्य ही तो नहीं था, जिसने "सिन्धुराज को कुचल कर उसका राज्य अपने हाथ में कर लिया" था और तुखार पहाड़ों से सुराष्ट्र तक तथा प्राग्ज्योतिष से गंजाम तक सारी भूमि को एक साम्राज्य में सम्मिलित किया था? यह केवल अटकल है, इस बारे में हम अभी निश्चय से कुछ नहीं कह सकते। तो भी हम इतना जानते हैं कि हर्षवर्धन और मौखरियों का कुरु-पंचाल-साम्राज्य इसके बाद एकाएक ढह गया।

मकरान लेने के चार बरस बाद अरबों ने सासानी राज्य का उत्तरपूरबी प्रान्त हरात भी ले लिया (६५० ई०)। उधर पच्छिम तरफ रोमी सम्राट् ने जब उनके मुकाबले में अपने को अशक्त देखा तब चीन के ताङ सम्राट् से सहायता माँगी। चीनी सेना रोम की सहायता के लिए मध्य एशिया तक पहुँच पाई थी कि इस बीच अरबों ने रोमी साम्राज्य के सीरिया फिलिस्तीन और मिस्र देश दखल कर लिये (६५२ ई० तक)।

§४. हिन्दकोह तक चीन-साम्राज्य—चीन का सम्राट् तब बच्चा था। उसकी माता वू उसके नाम पर शासन चलाती थी। अरब लोग ईरान और हरात से मध्य एशिया में घुसने का यत्न करेंगे यह देखते हुए सम्राट्-माता ने पच्छिमी मध्य एशिया को भी जीत कर पच्छिमी तुर्कों को वहाँ से भगा दिया (६५७–५६ ई०)। हारे हुए तुर्क सरदार कुछ अपने भाईबन्दों के पास हुनगारी (युरोप में) भाग गये, कुछ ने भारत में शरण ली।

चीन का साम्राज्य हिन्दकोह तक पहुँच जाने से अफगानिस्तान के भारतीय राज्यों को सहारा मिला। ६६३ ई० में अरबों ने कपिश की नई राजधानी काबुल पर चढ़ाई की। काबुल साल भर घिरा रहा और लोग बस्तियाँ उजाड़ कर भाग गये। वे अरब सेना पर लगातार झपट्टे मारते रहे और अन्त में उसे निकाल कर ही दम लिया।

अरबों ने हरात से मध्य एशिया की तरफ बढ़ना चाहा। चीनियों को जहाँ सामने से उनका मुकाबला था, वहाँ बायीं तरफ ६७० ई० के बाद से तिब्बत उनका शत्रु बन खड़ा हो गया। तिब्बती लोग उत्तर तरफ बढ़ कर चीनी सेनाओं का रास्ता काटने का यत्न करते और कई बार अरबों के साथ सन्धि कर लेते। चीनियों की कोशिश रहती कि वे एक दूसरे से न मिल पायँ। इस कोशिश में वे प्रायः सफल रहे। तो भी ६७४ ई० में तिब्बतियों ने खोतन के राजा विजयकीर्त्ति को हरा दिया, और १६ बरस तक वहाँ अधिकार बनाये रहे। लदाख से पच्छिम बढ़ कर कश्मीर के उत्तर सिन्ध और श्योक नदियों के संगम पर का दरद देश का पूरबी ज़िला बोलौर या बाल्ती भी उन्होंने दखल कर लिया।

§५. **आदित्यसेन और विनयादित्य के साम्राज्य**—हर्षवर्धन के पीछे माधवगुप्त के बेटे आदित्यसेन ने मगध में स्थापित हो फिर अपने को समूचे उत्तर भारत का सम्राट् बना लिया (लग० ६७२ ई०)। उसने समुद्रगुप्त की तरह दक्खिन पर भी चढ़ाई की, और पूरबी तट के साथ साथ चोल देश तक पहुँच गया। किन्तु यह पुनर्जीवित गुप्त साम्राज्य चिरस्थायी न हुआ।

सत्याशय पुलिकेशी के बेटे विक्रमादित्य चालुक्य १म ने नरसिंहवर्मा पल्लव के पोते के प्रशासन में कांची को फिर से जीत अपनी शक्ति दिखाई थी। अब उसके बेटे विनयादित्य (६८०—६९६ ई०) ने एक तरफ सिंहल तक जीता और दूसरी तरफ "समूचे उत्तर भारत के स्वामी" को हरा कर उससे उसका साम्राज्य-चिह्न—गंगा-यमुना के चित्रों से अंकित झंडा—छीन लिया। यह 'समूचे उत्तर भारत का स्वामी' प्रकटतः आदित्यसेन का बेटा देवगुप्त था।

§६. **अरबों का सिन्ध जीतना**—६७० ई० में खिलाफत की राजधानी अरब की मरुभूमि से उठ कर सीरिया के दमिश्क नगर में चली गई। ६९७ और ७०० ई० में अरबों ने फिर काबुल पर चढ़ाइयाँ कीं। फिर उसी तरह विफल। तब उधर से हार मान कर उन्होंने सिन्ध की ओर मुँह फेरा, जिसपर मकरान लेने के बाद से खलीफाओं की दृष्टि गड़ी थी। उसपर चढ़ाई के लिए कारण भी उपस्थित हो गया। सिंहल से पच्छिम जाते जहाजों में कुछ

मुस्लिम यात्री खलीफा के लिए भेंटें लिये जाते थे। सिन्ध नदी के पच्छिमी तट के देवल बन्दर पर वे जहाज लुट गये। तब चच का बेटा दाहिर सिन्ध का राजा था। मुलतान भी सिन्ध राज्य के अन्तर्गत था। खलीफा की ओर से ईरान के शासक हज्जाज के शिकायत करने पर भी जब दाहिर ने जहाज लुटने का कोई प्रतिकार न किया, तब मकरान के तट तथा समुद्र से देवल पर चढ़ाई की गई (७१०-११ ई०)। उस चढ़ाई का नेता हज्जाज का दामाद नौजवान मुहम्मद-इब्न-कासिम अर्थात् कासिम का बेटा मुहम्मद था।

देवल में एक बड़ा बौद्ध मन्दिर और विहार था जिसके शिखर पर ऊँचा झंडा फहराता था। सिन्धियों को विश्वास था कि उनमें जादू है और कि जब तक शिखर पर झंडा फहराता रहेगा तब तक देवल नगर को क्षति न होगी। अरब सैनिकों ने ऐसे बाण मार कर जिनकी अनियों पर आग लगाने वाला लेप था, उस झंडे में आग लगा दी, तथा गुलेल के ढंग के बड़े यंत्रों से, जिन्हें वे मंजनीक कहते थे, पत्थर मार मार कर मन्दिर का शिखर तोड़ दिया। सिन्धियों ने तब हिम्मत हार दी। अरब विजेताओं ने देवल की सारी पुरुष जनता को कतल कर दिया और नगर को पूरी तरह लूटा। उस विहार में ७०० भिक्षुणियाँ थीं जिन्हें उन्होंने बाँदियाँ बना लिया। खिलाफत के नियम के अनुसार इसमें से पाँचवाँ अंश लूट खलीफा के पास भेजी गई, बाकी सेना में बाँट दी गई।

दाहिर इसके बाद सिन्ध नदी के पच्छिम के सारे इलाके को छोड़ पूरब हट गया। मुहम्मद ने पच्छिमी भाग पर कब्जा कर लिया। उसके उत्तरी छोर पर सिविस्तान अर्थात् आधुनिक सिवी प्रदेश में दाहिर के चचेरे भाई वत्सराज ने डट कर मुकाबला किया। परन्तु वहाँ की जनता का बड़ा अंश बौद्ध श्रमण थे, जो तमाशबीन बने रहे। अन्त में मुहम्मद-इब्न-कासिम की जीत हुई।

तब वह नीचे आ कर सिन्ध नदी लाँघने का उपाय करने लगा। सामने दाहिर की सेना थी, और उसका बेटा जयसिंह नदी का घाट रोके हुए था। नदी के बीच एक टापू था। उस टापू का "मुखी"* मुहम्मद-इब्न-कासिम

* मुहम्मद-इब्न-कासिम को सिन्ध नदी के पार उतारने वाले व्यक्ति का नाम

के साथ मिल गया और जैसे अलक्सान्दर को आम्भि ने सिन्ध नदी के पार उतार दिया था, वैसे ही उसने मुहम्मद-इब्न-कासिम को उतार दिया। उस पार दाहिर वैसी ही वीरता से लड़ा जैसे पुरु अलक्सान्दर से लड़ा था। किन्तु सिन्ध के इन अन्तिम हिन्दू राजाओं ने अपनी जाट और मेड़ प्रजा का बड़ा दमन किया था, इसलिए बहुत से जाटों ने अरबों का साथ दिया। दाहिर युद्ध में मारा गया। उसकी रानी पड़ोस के एक गढ़ में कुछ सेना ले कर, जब तक बना, लड़ी। अन्त में उसने बची हुई स्त्रियों के साथ "जौहर" कर लिया। उत्तर की तरफ बढ़ कर मुहम्मद-इब्न-कासिम ने छह महीने के घेरे के बाद सिन्ध का मुख्य नगर बह्मनाबाद जीत लिया। तब उसने सिन्ध की राजधानी अलोर (रोरी के पास) पर और उसके बाद मुलतान पर भी कब्जा कर लिया। यह बात उल्लेखनीय है कि मुलतान पहुँचने से ठीक पहले मुहम्मद-इब्न-कासिम को ब्यासा नदी पार करनी पड़ी थी, अर्थात् ब्यासा उन दिनों आजकल की तरह हरि-के-पत्तन पर सतलज से न मिल कर आगे दूर तक पच्छिमदक्खिन बह कर मुलतान के नीचे चनाब में मिलती थी।

§ ७. **सिन्ध का अरब शासन और पुनर्विजय**—जाटों और मेड़ों से काम निकल जाने के बाद मुहम्मद-इब्न-कासिम ने भी उनपर पहले सी कड़ाई की। परन्तु व्यापारी और कृषक प्रजा को विशेष नहीं सताया; उनसे "जज़िया" नामक मुंड-कर ले कर उन्हें अपना धर्म बनाये रखने और अपने मन्दिरों में पूजा-पाठ करने दिया। शासन वसूली आदि का काम ब्राह्मणों और पुराने सरदारों के हाथ सौंपा। मुलतान के प्रसिद्ध सूर्य-मन्दिर को तोड़ने के बजाय उसके चढ़ावे की आमदनी में से हिस्सा लेना मुस्लिम विजेताओं को अच्छा जँचा।

कुछ अरसा बाद मुहम्मद-इब्न-कासिम को खलीफा ने वापिस बुलाया और यातनाओं से उसकी मृत्यु हुई। इस सम्बन्ध में यह कहानी है कि खलीफा

अरब लेखकों ने 'मोखा वसाया' लिखा है। 'वसाया' सिन्ध-मुलतान में 'वासुदेव' के तुच्छतासूचक रूप में सुपरिचित नाम है। 'मोखा' स्पष्ट ही सिन्धी शब्द 'मुखी' (हिन्दी—मुखिया) का रूपान्तर है।

के आदेश से मुहम्मद-इब्न-कासिम ने दाहिर की दो क्वारी लड़कियाँ खलीफा के पास भेजीं। उन लड़कियों से खलीफा ने वासना-तृप्ति करनी चाही तो उन्होंने कहा कि मुहम्मद ने हमें भेजने से पहले क्वारी नहीं रहने दिया। इसपर खलीफा ने मुहम्मद इब्न-कासिम को आदेश भेजा कि अपने को बैल की कच्ची खाल में मढ़वा कर खलीफा के सामने पेश करो। आज्ञाकारी मुहम्मद ने वैसा ही किया और रास्ते में दम घुटने से उसकी जान निकल गई। पीछे दाहिर की लड़कियों ने बतलाया कि उन्होंने अपने पिता की मृत्यु का बदला चुकाने को उसपर मिथ्या आरोप लगाया था, और खलीफा को चिढ़ाया कि अपनी लम्पटता के पीछे क्या इसी तरह प्रजा के साथ न्याय किया करते हो! उन्होंने भी खुशी खुशी मृत्यु की यातनाएँ झेलीं। यह कहानी समकालिक नहीं, पीछे की है, पर एक मुस्लिम लेखक की ही दी हुई है और इसमें सन्देह नहीं कि मुहम्मद-इब्न-कासिम का अन्त खलीफ़ा के आदेश से झेली यातनाओं से ही हुआ।

दाहिर के बेटों ने अरबों से सिन्ध को मुक्त कर लिया। तब ७२४ ई० में खलीफा हेशाम ने सेनापति जुनैद को फिर सिन्ध जीतने भेजा। दाहिर का बेटा जयसिंह उसका सामना करता हुआ सिन्ध नदी के नौ-युद्ध में मारा गया और जुनैद ने सिन्ध फिर जीत लिया।

§८. मध्य एशिया में तिब्बत अरब चीन की कशमकश— मुहम्मद-इब्न-कासिम जब सिन्ध जीत रहा था तभी दो और नौजवान खिलाफत को दूसरे दो कोनों पर बढ़ा रहे थे। एक तरफ तारिक अफरीका के अंतिम छोर से स्पेन में घुस कर रोम-साम्राज्य की उत्तराधिकारिणी पच्छिमी युरोप की त्यूतन जातियों से लोहा ले रहा था। स्पेन का प्रसिद्ध बन्दरगाह उसी के नाम से जब्र् उल् तारिक (जिब्राल्तर) कहलाया। दूसरी तरफ कौतैबा मध्य एशिया में चीनी सेनाओं से लड़ रहा था (७०५–१४ ई०)। कुछ अरसे के लिए तिब्बतियों और अरबों ने वहाँ से चीन के पैर उखाड़ दिये।

किन्तु ७१५ ई० के बाद चीन की शक्ति फिर जाग उठी, और बलख और गज़नी तक के राज्यों को उसने अरबों के विरुद्ध खड़ा किया। अगले तीस बरस में चीन-सम्राट ने कास्पी सागर के दक्खिन तक के शासकों को अपने

आधिपत्य में ले लिया।

कश्मीर के उत्तर दरद देश की गिल्गित बस्ती में चीनियों ने प्रबल छावनी डाली। ७३६ ई० में उन्होंने वहाँ से बोलौर या बाल्ती (स्कर्दू के चौगिर्द प्रदेश) पर चढ़ाई कर तिब्बतियों को वहाँ से निकाल दिया। इससे कश्मीर की उत्तरी सीमा भी सुरक्षित हुई।

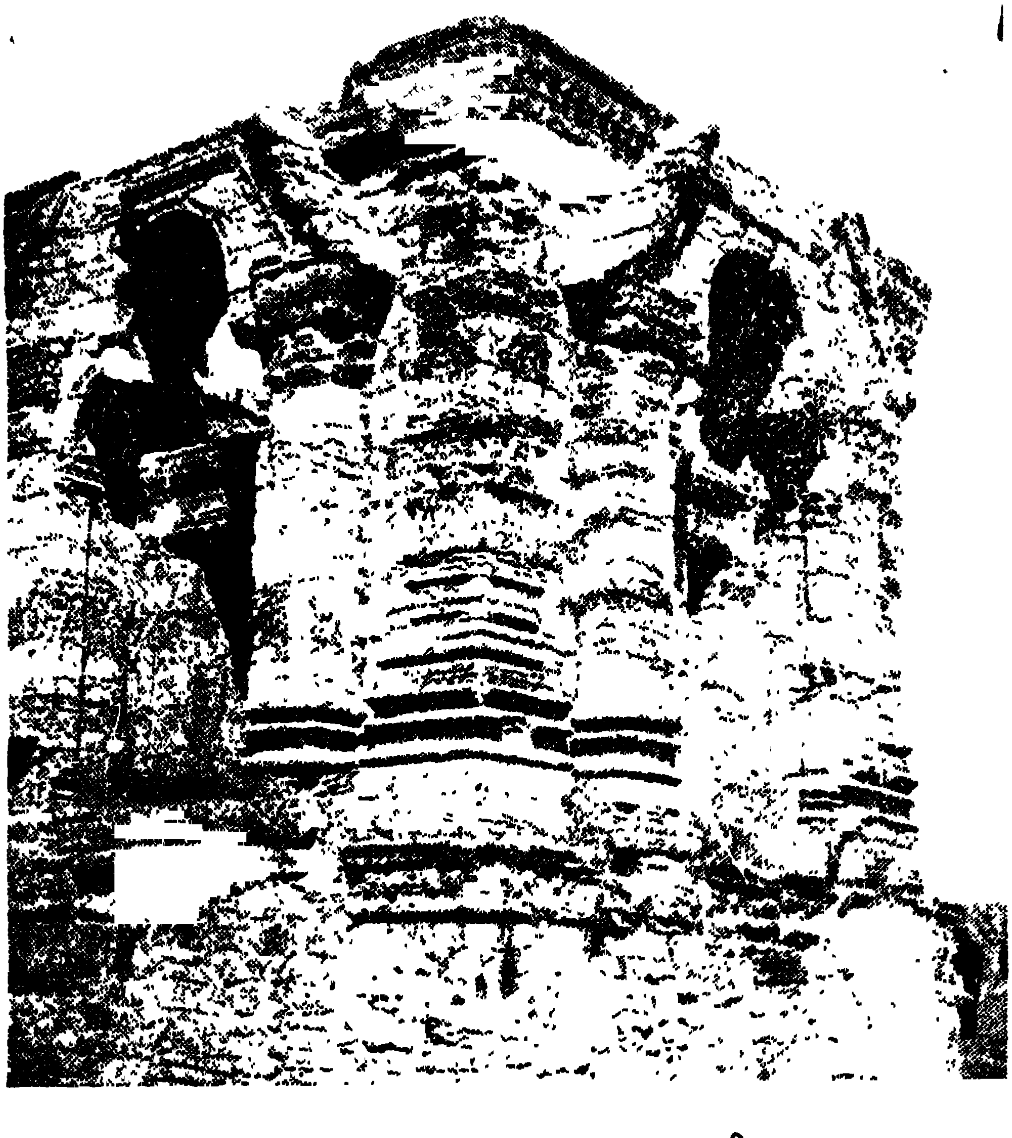
§९. **कन्नौज-सम्राट् यशोवर्मा**—विनयादित्य चालुक्य से देवगुप्त की हार होने के बाद जान पड़ता है कन्नौज के मौखरि राज्य ने फिर उत्तर भारत का साम्राज्य बनने का प्रयत्न किया। (लग० ७२० से ७४० ई० तक कन्नौज का राजा यशोवर्मा था। वह किस वंश का था इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिला, पर उसका नाम और उसके सिक्के मौखरि शैली के हैं। अरबों ने जब सिन्ध को दूसरी बार जीता (७२४ ई०) लगभग तभी उसने मगध और गौड पर चढ़ाई कर वहाँ के गुप्त राजा को मार डाला और पूरबी समुद्र तक अपना साम्राज्य फैला लिया। गुप्त राजवंश तब मिट गया। यशोवर्मा के साम्राज्य में हिमालय के पहाड़ी प्रदेश भी थे, जिससे उसकी सीमा तिब्बत से लगती थी। ७३१ ई० में उसने चीन-सम्राट् के पास अपने दूत भेज कर तिब्बतियों के दक्खिनी रास्ते रोके रखने का वचन दिया।

§१०. **चन्द्रापीड और मुक्तापीड ललितादित्य**—कश्मीर के हर्षवर्धन के अधीन होने पर भी दुर्लभवर्धन का स्थापित किया कर्कोट राजवंश [७, २ § ७] वहाँ बना रहा था। दुर्लभवर्धन के बाद उसके बेटे दुर्लभक प्रतापादित्य ने ५० बरस राज किया, फिर प्रतापादित्य के तीन बेटों चन्द्रापीड तारापीड और मुक्तापीड ने क्रमशः।

चन्द्रापीड के राज्यकाल (लग० ७१७–७२५ ई०) में चीन का साम्राज्य कश्मीर और कपिश की उत्तरी सीमा को छूता हुआ कास्पी सागर तक पहुँच गया था। चीन दरबार की नीति कश्मीर और अफगानिस्तान के भारतीय राज्यों को अपने साथ ले कर मध्य एशिया में अरबों की बाढ़ रोकने को मजबूत राज-नीतिक बाँध बनाये रखने की थी। चन्द्रापीड ने चीन-सम्राट् के पास दूत भेज कर इस नीति में पूरा सहयोग देने का वचन दिया।

चन्द्रापीड का शासन अत्यन्त न्यायपूर्ण था, पर उसके भाई तारापीड ने अपने राज्यकाल में प्रजा को पीडित किया। चार वर्ष के प्रशासन के बाद किसी प्रजाजन के हाथ ही उसकी मृत्यु हुई।

उसके उत्तराधिकारी मुक्तापीड ने शासन-नीति में चन्द्रापीड का अनुसरण किया, साथ ही दिग्विजय कर अपने प्रशासन (लग० ७३०–७६५ ई०)



मटन तीर्थ (कश्मीर) में ललितादित्य के बनवाये मार्त्तण्ड मन्दिर के खँडहर। 'मटन' 'मार्त्तण्ड' का ही रूपान्तर है। [भा० पु० वि०]

में कश्मीर को उत्तर भारत की प्रमुख शक्ति बना दिया। अपने विजयों के बाद उसने ललितादित्य विरुद धारण किया। उसने मुलतान की सीमा तक पंजाब

पर अधिकार कर लिया, तथा कपिश या काबुल के राज्य को, जिसमें पच्छिमी गन्धार (पेशावर) भी सम्मिलित था, अपना सामन्त बनाया। चीनियों की ७३६ ई० की बोलौर चढ़ाई के बाद उसने चीन-सम्राट् के पास दूत भेज कर निवेदन किया कि मैंने मध्यदेश के सम्राट् यशोवर्मा के साथ मिल कर तिब्बतियों के सब दक्खिनी रास्ते रोक दिये हैं, तथा तिब्बतियों पर फिर चढ़ाई की जाय तो दो लाख चीनी सेना के लिए कश्मीर के महापद्म सर (वुलुर झील) पर रिहाइश और रसद का प्रबन्ध कर रक्खा है। किन्तु चीनी सेना बोलौर से कश्मीर के भीतर नहीं उतरी।

कश्मीर के पूरब के हिमालय के पहाड़ी और तराई के प्रदेशों को जीतते हुए ललितादित्य दूर तक बढ़ता गया। इस प्रसंग में उसका कन्नौज-सम्राट् यशोवर्मा से युद्ध हुआ जिसमें यशोवर्मा की हार हुई। सन्धि होने पर यशोवर्मा ने जमना से काली नदी तक के सब पहाड़ी प्रदेश अर्थात् गढ़वाल और कुमाऊँ ललितादित्य को दिये। इस प्रकार काली नदी जो अब नेपाल राज्य को कुमाऊँ से अलग करती है, उनके बीच सीमा बनी*।

मध्य एशिया में चीन की बनाई हुई सामरिक-राजनीतिक दीवार जैसा कि हम देखेंगे, ७५१ ई० में टूट गई। ललितादित्य के साम्राज्य का उत्तरी पासा तब नंगा हो गया। उस दशा में उसने उत्तर और उत्तरपच्छिम तरफ दरद और तुखार देशों पर अनेक चढ़ाइयाँ कर के तथा तुखार देश के तुर्क सरदारों को वश में कर के उत्तरी सीमा पर अपनी धाक बनाये रक्खी। उत्तरपूरब तरफ उसने तिब्बतियों पर चढ़ाई कर सिन्ध नदी के तट पर उन्हें हराया। अपने प्रशासन के अन्तिम कई वर्षों में ललितादित्य देश का शासन अपने मन्त्रियों को सौंप स्वयं उत्तरी चढ़ाइयों में व्यस्त रहा, और किसी उत्तरी चढ़ाई में ही उसकी मृत्यु हुई।

§ ११. अरबों की उज्जैन गुजरात पर चढ़ाई तथा विक्रमादित्य चालुक्य २य—ललितादित्य ने भारत की उत्तरी उत्तरपच्छिमी सीमा पर

---

* परिशिष्ट ३।

अपनी शक्ति का बाँध बनाया, पर कन्नौज साम्राज्य को जो धक्का उसने दिया उससे भारत की मध्यदेश की सीमाओं के बाँध ढीले पड़ गये।

७३६ ई० में सिन्ध से एक अरब सेना कच्छ हो कर दक्खिनी मारवाड़ के भिन्नमाल राज्य को रौंदती हुई चित्तौड़ से उज्जैन तक आ निकली और उज्जैन को लूटने के बाद गुजरात की ओर बढ़ी। सारे राजस्थान को पार कर अरबों के उज्जैन आ निकलने और उसे लूटने का यह अर्थ था कि उत्तर भारत का साम्राज्य तब पस्त पड़ा था। प्रकटतः यह दशा यशोवर्मा के ललितादित्य से हारने के बाद हुई थी।

उत्तरी गुजरात को भी रौंद कर वह अरब सेना लाट देश (दक्खिनी गुजरात) की ओर बढ़ी और सूरत जिले में नवसारी तक पहुँच गई। प्रकटतः अरब सेनापति दक्खिन के चालुक्य राज्य की शक्ति को भी टटोल देखना चाहता था। लाट देश महाराष्ट्र-कर्णाटक के चालुक्य राज्य के अधीन था, जहाँ तब विनयादित्य [ऊपर §५] के पोते विक्रमादित्य २य का प्रशासन चल रहा था (७३३-७४७ ई०)। उसकी ओर से लाट देश का सेनापति पुलिकेशी अवनिजनाश्रय था जो स्वयं सत्याश्रय पुलिकेशी का पोता था। उसने उस अरब सेना का ऐसा संहार किया कि वह लौट कर वापिस नहीं जा सकी। विक्रमादित्य २य ने दक्खिन तरफ कांची के राजा नन्दिपोतवर्मा को भी हराया और कांची नगरी में प्रवेश कर अनेक दान किये।

§ १२. मध्य एशिया से चीन का हटना, खोतन राज्य का अन्त— आठवीं शताब्दी के मध्य तक चीनियों ने मध्य एशिया में तिब्बतियों और अरबों को घुसने से रोके रक्खा। किन्तु ७५१ ई० में अरबों ने तुर्कों के साथ मिल कर समरकन्द में चीनियों को बुरी तरह हराया। उसी युद्ध के चीनी कैदियों से पहले-पहल अरबों ने कागज़ बनाना सीखा, और फिर उनसे समूचे जगत् ने। तुर्क भी मध्य एशिया में वापिस आ गये और इस्लाम को अपनाने लगे। मध्य एशिया वास्तव में तभी से तुर्किस्तान बनने लगा।

७६६ ई० में खिलाफत की राजधानी दमिश्क से उठ कर बगदाद आ गई। ७६६ ई० में अरबों ने सिन्ध से सुराष्ट्र पर चढ़ाई कर वलभी नगरी को

लूटा। तब मैत्रक वंश का राज्य मिट गया। ललितादित्य के पीछे मुलतान की तरफ़ से पंजाब के कश्मीर-अधीन इलाकों पर भी अरब छापामारी करते रहे। ललितादित्य ने भारत की उत्तरपच्छिमी सीमा पर जो साम्राज्य बनाया था, उसके बन्द उसके पीछे किस प्रकार ढीले पड़े सो हम देखेंगे [७,४§६]।

७८० ई० में तिब्बतियों ने खोतन के विजयवंश के राज्य को सदा के लिए मिटा दिया। ७८६ ई० में खलीफा हारूँल-रशीद के गद्दी पर बैठते ही काबुल पर अरबों ने ८६ बरस बाद फिर चढ़ाई की और नगर के बाहर एक बहुत बड़े विहार को लूटा। वहाँ तब भी उनके पैर न जमे, और उन्हें पहले की तरह फिर लौटना पड़ा। वह भारत पर अरबों की अन्तिम टक्कर थी।

हारूँल-रशीद खलीफों में सबसे योग्य हुआ, पर उसके २५ वर्ष के प्रशासन (७८६–८०६ ई०) में और उसके बाद भी भारत के भीतर खिलाफ़त साम्राज्य इसके आगे नहीं बढ़ पाया। यों कहना चाहिए कि डेढ़ शताब्दी (६४४–७८६ ई०) तक भारत के पच्छिमी दरवाजों पर लगातार टक्करें मार कर अरब लोग इसके केवल एक प्रान्त सिन्ध में ही घुस सके और अफ़गानिस्तान में घुसने या सिन्ध से आगे बढ़ने की उनकी सब चेष्टाएँ बेकार हुईं। किन्तु ७५१ ई० के बाद भारत के उत्तरपच्छिम से वे जो मध्य एशिया में घुस गये वह उनकी बड़ी कामयाबी थी जिसके आगे जा कर बड़े परिणाम हुए।

प्राचीन काल की अन्तिम शताब्दी (४५४–५३३ ई०) में भारत की उत्तरपच्छिमी सीमा पर हूणों का जो आतंक छाया था वह मध्य काल के आरम्भ तक दूर कर दिया गया था। ६४४ ई० में अरबों ने भारत के पच्छिमी दरवाजे पर जब पहली ठोकर लगाई तब फिर एक नई बाढ़ भारत की सीमा पर उमड़ती दिखाई दी। ६४४–४६ में प्रकटतः उसी के दो धक्कों से उत्तर भारत का साम्राज्य ढह गया। उस साम्राज्य का कोई शक्त और दृढ उत्तराधिकारी जल्दी न खड़ा हुआ। पर ग्यारह बरस के भीतर चीन ने मध्य एशिया में आ कर उत्तरपच्छिम भारत के राज्यों को प्रबल सहारा दिया। एक शताब्दी बाद चीन के मध्य एशिया से हट जाने पर भी खिलाफ़त जो भारत के भीतर न घुस सकी, उसका कारण भारत की पच्छिमी सीमा पर शक्त राज्यों का तथा उत्तर भारत

में नये साम्राज्य का खड़ा हो जाना था। उन राज्यों की चर्चा हम अगले अध्याय में करेंगे।

§ १३. भारतीय संस्कृति का अरबों पर प्रभाव—अरब लोग आरम्भ में क्रूर और संहारकारी थे, पर ईरान और भारत की सभ्यता ने उन्हें शीघ्र प्रभावित किया। आठवीं शताब्दी में सिन्ध और बलख के अरब साम्राज्य में सम्मिलित होने पर भारतवर्ष का प्रभाव खिलाफत के देशों पर विशेष रूप से पड़ने लगा। खलीफा हारुँल-रशीद के प्रशासन में तो भारतीय संस्कृति के प्रवाह से बगदाद का दरबार मानो आप्लावित हो उठा। बरमक (परमक) नामक वज़ीर खानदान की वहाँ बड़ी शक्ति थी। वे लोग बलख के थे। उनके पुरखा बलख के नव-विहार में पदाधिकारी रह चुके थे। वे नाम को मुसलमान हुए थे। पुराने रिश्ते-नातों के कारण वे भारत से विद्वानों को बगदाद बुलाते और उन्हें वहाँ वैद्य आदि के पदों पर रखते। अरब विद्यार्थियों को वे पढ़ने को भारत भेजते। संस्कृत के दर्शन वैद्यक ज्योतिष इतिहास काव्य आदि के अनेक ग्रन्थों के उन्होंने अरबी अनुवाद करवाये। भारतवर्ष से गणित आदि का ज्ञान अरब लोग ही युरोप ले गये। पंचतंत्र आदि की कहानियाँ भी उन्हीं के द्वारा विदेशों में पहुँचीं।

§ १४. अरब साम्राज्य का टूटना—वैभव ने अरबों को विलासी बना दिया। नौवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अरब साम्राज्य टुकड़े टुकड़े हो गया। खिलाफत छोटी सी रियासत रूप में बगदाद राजधानी के चौगिर्द रह गई, और जो राज्य उसके स्थान में उठ खड़े हुए उनमें अधिकांश मुसलमान बने हुए ईरानियों के थे। उनमें से एक बुखारा और खुरासान (उत्तरपूर्वी ईरान) के अमीरों का था, जिससे हमें आगे वास्ता पड़ेगा। बुखारा सुग्द दोआब में है। वहाँ के अमीर ईरानी मुसलमान थे।

खलीफाओं की शक्ति शिथिल होने पर सिन्ध में कुछ अरब सरदार बने रहे, कुछ स्थानीय सरदार उठ खड़े हुए।

परिशिष्ट ३

ललितादित्य और यशोवर्मा की साम्राज्य-सीमा

ललितादित्य से हार कर यशोवर्मा ने उसे जमना से काली तक का प्रदेश दिया था, यह बात कश्मीरी कवि कल्हण द्वारा १२वीं शताब्दी में लिखे गये कश्मीर के इतिहास राजतरंगिणी ४, १४५ से विदित है। गंगा-जमना दोआब के बीचोंबीच मेरठ बुलन्दशहर अलीगढ़ एटा जिलों में से होते हुए तथा एटा मैनपुरी फर्रुखाबाद ज़िलों के बीच कुछ दूर तक सीमा बनाते हुए एक काली नदी कन्नौज के पास गंगा में मिलती है। सन् १६०० में कल्हण-राजतरंगिणी के विद्वान् अनुवादक और व्याख्याता औरेल स्टाइन ने सुझाया कि राजतरंगिणी ४, १४५ की काली नदी वही होगी। पर वह नाला दो साम्राज्यों की सीमा कभी न बन सकता था, और जिस साम्राज्य की पच्छिमी सीमा वह होती उसकी राजधानी कन्नौज में न रह सकती थी। ललितादित्य पहाड़ी राजा था और उसका पहाड़ी प्रदेशों को जीतना स्वाभाविक था। उसके पोते की नेपाल के राजा से काली गंडक पर लड़ाई हुई यह भी हम देखेंगे। आठवीं शताब्दी में कश्मीर का साम्राज्य पहाड़ों में पूरब तरफ उसी प्रकार फैला प्रतीत होता है जैसे १८वीं में नेपाल का पच्छिम तरफ। यशोवर्मा ने भी तिब्बतियों के कुछ दक्खिनी रास्ते रोक रक्खे थे [७,३§६] इसका यह अर्थ है कि हिमालय प्रदेशों का बहुत सा अंश उसके अधीन भी था। उसी के लिए ललितादित्य और यशोवर्मा का युद्ध हुआ और आज जो काली या महाकाली नदी नेपाल राज्य और अलमोड़ा ज़िले की बीच सीमा है वही युद्ध के बाद उनकी सीमा नियत हुई यह सर्वथा युक्त प्रतीत होता है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. हजरत मुहम्मद की शिक्षा में मुख्य बातें क्या थीं?

२. खलीफ़ा कौन थे? उनका साम्राज्य कब कब कहाँ कहाँ तक फैला?

३. भारत की सीमाओं के किस किस प्रदेश पर ख़लीफाओं की सेना ने कब कब आक्रमण किया? उसे कहाँ कब सफलता-विफलता हुई?

४. अरबों ने सिन्ध राज्य कब कैसे जीता ?

५. सिन्ध के आगे किन किन प्रान्तों पर अरबों के आक्रमण कब कब हुए ? उनका परिणाम क्या हुआ ?

६. मध्य एशिया में अरब किस मार्ग से कब घुसे ? उन्हें वहाँ कब किससे मुकाबला पड़ा ?

७. ललितादित्य कौन था ? उसका राज्य कहाँ कहाँ तक था ?

८. इनपर टिप्पणी लिखिए—(१) अरबों पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव (२) सातवीं आठवीं शताब्दियों में एशिया की राजनीति में चीन का भाग (३) तिब्बतियों की बोलौर और खोतन पर चढ़ाइयाँ, उनके परिणाम।

९. इनके ऐतिहासिक चरित पर प्रकाश डालिए—(१) आदित्यसेन (२) विनयादित्य चालुक्य (३) विक्रमादित्य चालुक्य २य।

१०. सातवीं आठवीं शताब्दियों में चीन का साम्राज्य भारत की सीमाओं को कब कहाँ छूता था ? आपकी जानकारी में भारत के किस किस राजा ने उस अवधि में चीन दरबार के पास अपने दूत क्या क्या सन्देश दे कर कब कब भेजे ?

अध्याय ४

पाल प्रतिहार राष्ट्रकूट

(लगभग ७४०–६२० ई०)

§१. पूर्वी भारत में पाल राजवंश का उदय—ललितादित्य के हाथों यशोवर्मा की हार होने पर पूरब में गुप्त राजवंश ने फिर उठने की चेष्टा की, पर बेकार। मगध मिथिला बंगाल में कुछ बरसों तक अराजकता छाई रही। अन्त में उन प्रान्तों के लोग अराजकता से ऊब गये और उस "मछलियों की-सी दशा* को हटाने के लिए प्रजा ने श्रीगोपाल के हाथ राज्य-लक्ष्मी सौंप दी"—अर्थात् उसे अपना राजा चुन लिया (लग० ७४३ ई०)। गोपाल

* अराजकता को संस्कृत में "मछलियों की दशा" (मात्स्य न्याय) कहते हैं। बड़ी मछली छोटी को खा जाती है, और उसे भी अपने से बड़ी का डर रहता है। अराजकता में भी यही होता है।

योग्य राजा था, उसने समूचे मगध मिथिला और बंगाल को शीघ्र सुसंघटित राज्य बना दिया (लग० ७४३–७६६ ई०)। गोपाल का बेटा और उत्तराधिकारी धर्मपाल उसी की तरह योग्य हुआ (लग० ७७०–८०६ ई०)।

§ २. **गुर्जर देश का प्रतिहार राजवंश**—पूर्वी भारत में गोपाल के राजा चुने जाने के ८–१० वर्ष के भीतर ही पच्छिमी भारत में भी, जिसे कन्नौज का सम्राट् अरब आक्रमण से बचा न सका था, गुर्जरदेश के नागभट ने अपना राजवंश स्थापित किया। नागभट ने सिन्ध के अरब शासकों को हरा कर ख्याति पाई थी। उसकी राजधानी भिन्नमाल थी और मारवाड़ से भरुच तक उसका राज्य था। उसके पुरखा किसी राजा के प्रतिहार अर्थात् द्वारपाल थे। वही प्रतिहार शब्द उनके वंशजों का उपनाम हो गया†।

§ ३. **कन्नौज का दूसरा सम्राट् वंश**—साम्राज्य के दो किनारों पर जब ये परिवर्त्तन हुए तभी कन्नौज में भी राजवंश बदल गया। इस नये वंश का स्थापक एक अभिलेख में दिये संकेत के अनुसार "भण्डि-कुल" का था। हर्षवर्धन के मामा के लड़के और सेनापति का नाम भण्डि था [७, १ § ७]। जान पड़ता है यशोवर्मा के बाद कन्नौज का साम्राज्य उस सेनापति के वंशज के हाथ चला गया।

§ ४. **दक्खिन में राष्ट्रकूट वंश का उदय**—७५३ ई० में महाराष्ट्र-कर्णाटक के चालुक्य राजा से उसके सामन्त दन्तिदुर्ग राष्ट्रकूट ने राज्य छीन लिया। 'राष्ट्रकूट' का मूल अर्थ था प्रान्त का शासक। वही शब्द इस वंश का नाम हो गया। पीछे उसी का रूप 'राठोड' हुआ। दन्तिदुर्ग के उत्तराधिकारी, उसके चाचा, कृष्ण के प्रशासन (लग० ७६०–७७५ ई०) में राष्ट्रकूट राज्य समूचे महाराष्ट्र और कर्णाटक में स्थापित हो गया।

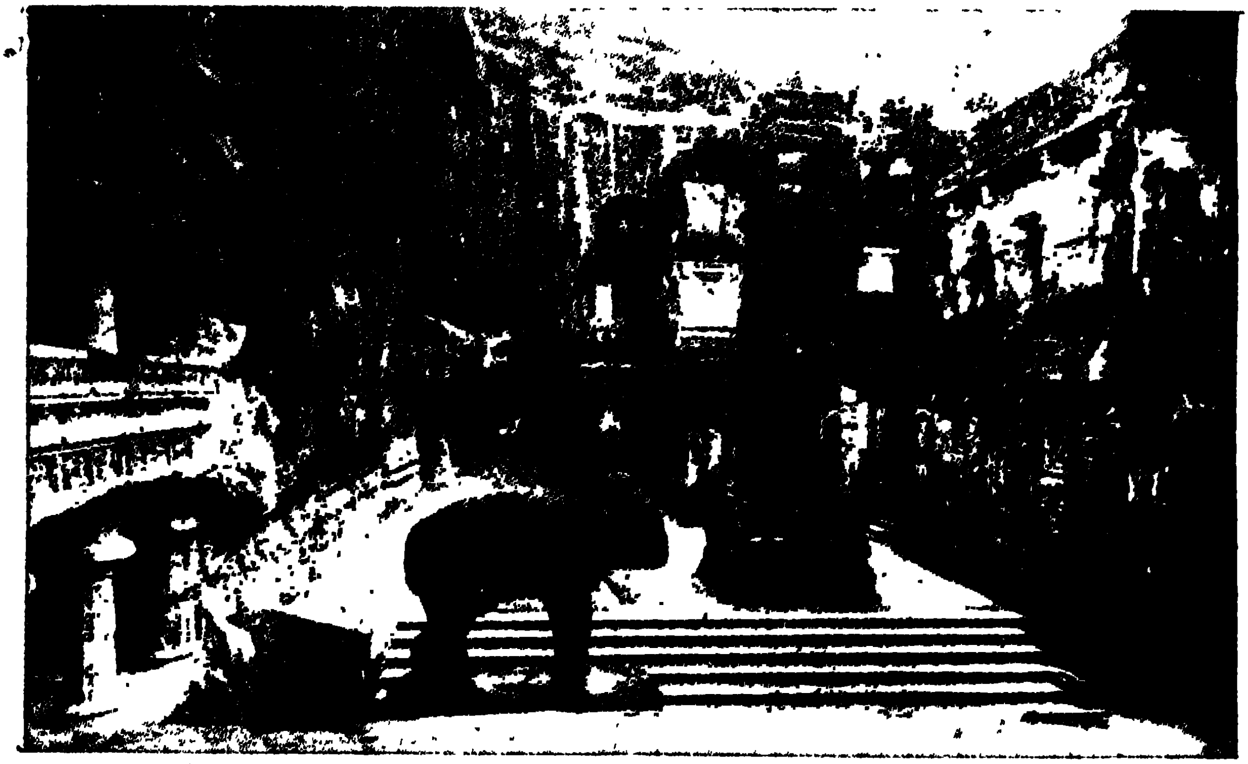
हमने देखा है कि ७६६ ई० में अरबों ने सिन्ध से सुराष्ट्र पर चढ़ाई कर वलभी नगरी को उजाड़ा था। वह कार्य उन्होंने प्रकटतः ऐसे अवसर पर किया जब कि गुर्जरदेश का प्रतिहार राज्य और महाराष्ट्र का राष्ट्रकूट राज्य दोनों

---

† प्रतिहार राजपूत जाति की कल्पना के विषय में देखिए परिशिष्ट ५।

अपने अपने प्रदेश में पैर जमाने में व्यस्त थे और दोनो में से कोई भी सुराष्ट्र में हस्तक्षेप न कर सकता था।

कृष्ण राष्ट्रकूट ने वेरूल* में एक पहाड़ में से कटवा कर कैलाश नाम का मन्दिर बनवाया। वह भारतवर्ष की लेणियों या गुहामन्दिरों में सबसे अनोखी रचना है।



कैलाश-मन्दिर वेरूल [हैदराबाद पुरातत्त्व विभाग]

§५. **कलिंग में गंग राजवंश की स्थापना**—पूरबी कर्णाटक में कोलाहलपुर (कोल्हार) में कादम्बों के सामन्त रूप में गंग राजा राज्य करते थे। उस प्रदेश का नाम इसी कारण गंगवाड़ी पड़ा। वहाँ से इस युग में उन्होंने कलिंग (उड़ीसा) आ कर अपना राज्य स्थापित किया।

§६. **जयापीड**—ललितादित्य के बाद उसके दो बेटों ने आठ बरस, फिर दो पोतों ने चार बरस और तब तीसरे पोते जयापीड ने ३२ बरस (लग० ७७६-८०७ ई०) राज्य किया। जयापीड के राज्य पाने तक कश्मीर का साम्राज्य

---

* 'वेरूल' का बिगाड़ा हुआ अंग्रेजी रूप 'एलोरा' है।

शायद बहुत कुछ ज्यों का त्यों बना हुआ था। जयापीड की बचपन में ही चालढाल देख ललितादित्य ने आशा लगाई थी कि वह मेरे समान होगा। बेशक वह अपने दादा के समान वीर और पराक्रमी निकला, पर जैसा कि हम देखेंगे उसका पराक्रम व्यक्तिगत साहस-कार्यों में प्रकट हुआ और उसकी वीरता को समझदारी का पुट न मिला था। कल्हण ने उसकी पूरी कहानी दी है। वह अद्भुत है और उससे उस युग की दशाओं पर भरपूर प्रकाश पड़ता है।

राज्य पाने के शीघ्र बाद जयापीड पूरब की तरफ अपना राज्य और बढ़ाने की दृष्टि से सेना ले कर निकला। ललितादित्य के पोते के नेतृत्व में आती कश्मीर की सेना को रोकने की हिम्मत कन्नौज के राजा वज्रायुध को नहीं हुई। पर जयापीड के दूर चले आने पर पीछे उसके साले जज्ज ने कश्मीर का राज्य हथिया लिया। तब जयापीड की सेना के बहुतेरे सैनिक अपने घरों की चिन्ता के कारण दिन दिन उसका साथ छोड़ लौटने लगे। प्रयाग के आगे पहुँच कर जयापीड ने सेना को स्वदेश लौटने की अनुज्ञा कहला भेजी और स्वयं एक रात भेस बदल कर अकेला छावनी में से निकल पड़ा! वह घूमता घामता पुण्ड्रवर्धन (पुर्णिया-राजशाही) की राजधानी पहुँचा जहाँ गौड राजा (धर्मपाल) की ओर से जयन्त नामक सरदार शासन कर रहा था। "वहाँ के पौरों की सुराज्य से हुई विभूति को देख वह बहुत प्रसन्न हुआ"—गोपाल और धर्मपाल के ३४–३५ बरस के सुराज्य से प्रजा की वह समृद्धि हुई थी। एक रात जयापीड लास्य नाच देखने कार्त्तिकेय-मन्दिर गया। नर्त्तकी कमला की दृष्टि उसपर पड़ी और वह उसे विशिष्ट पुरुष जान अपने घर लिवा ले गई। वह वहीं रहने लगा। फिर एक रात कमला से यह जान कर कि यहाँ एक सिंह का त्रास फैला हुआ है, जिसके मारे लोग सन्ध्या पड़े पीछे बाहर नहीं निकलते, उसने रात को जंगल में जा कर उस सिंह को मार डाला। वह स्वयं भी घायल हुआ और उसका सोने का बाजूबन्द सिंह के जबड़े में रह गया। सिंह के मारे जाने की बात अगले दिन नगर में फैल गई, उसके जबड़े में फँसे बाजूबन्द पर जयापीड नाम पढ़ लोग स्तब्ध रह गये। जयापीड अपनी सेना को छोड़ अकेला घूमता फिरता है यह बात तब उत्तर भारत में फैली हुई थी। पुण्ड्रवर्धनपुरी के

लोगों ने उसे खोज लिया और जयन्त ने उसे अपनी इकलौती बेटी ब्याह दी।

जयापीड की बची खुची सेना को उसका अमात्य देवशर्मा परदेश में किसी तरह सँभाले बैठा था। पता मिलने पर वह जयापीड को लिवा लाया। कन्नौज का राजा उनकी लौटती सेना पर आक्रमण न करे इस विचार से उन्होंने स्वयं उसपर आक्रमण किया और उससे थोड़ी छेड़छाड़ कर अपने देश लौटे। श्रीनगर के दक्खिन शुष्कलेत्र (आधुनिक हुखलित्र) गाँव पर जज्ज के साथ उनका बहुत दिन तक युद्ध हुआ। अन्त में जज्ज मारा गया और तीन बरस बाद जयापीड ने अपना राज्य वापिस पाया। उसने देश का शासन सुधारा और दूर दूर से विद्वानों को बुला कर कश्मीर में आश्रय दिया। कुछ अरसे बाद वह फिर बड़ी सेना ले पूरब के विजय को निकला।

हिमालय प्रदेश में अनेक छोटे राज्य थे। इन्हीं में एक के—प्रकटतः काली नदी के पूरब के—राजा भीमसेन से जयापीड उलझ गया। वह कुछ साथियों के साथ साधुओं का भेस धरे भीमसेन के पहाड़ी गढ़ में घुसा; वहाँ पकड़ा गया। फिर बड़ी युक्ति से छूट कर उसने वह गढ़ ले लिया। आगे उसका मुकाबला नेपाल के "सयाने और वीर राजा" वरदेव से हुआ, जिसका छेड़ का नाम कश्मीरियों ने अरमुडि* रक्खा। जयापीड अरमुडि के देश में घुसा तो अरमुडि पीछे हटता गया। जयापीड उसके सामन्त राजाओं को जीतता आगे बढ़ता गया। अन्त में जयापीड की सेना एक नदी के किनारे पहुँची। अरमुडि उस पार था। जयापीड ने देखा नदी में घुटने भर पानी है और सेना सहित उसमें उतर पड़ा। बीच में पहुँचने पर नदी की थाह न मिली। जयापीड की सेना बह कर नष्ट हुई, वह स्वयं भी बह गया। चुस्त शत्रु ने पखालों† के साथ

---

* स्व० आचार्य काशीप्रसाद जायसवाल ने नेपाल-इतिहास का संशोधन कर ठक्कुरी वंश के राजा वरदेव का जो काल नियत किया है उसके अनुसार वह जयापीड का समकालिक होता है। "अरमुडि" स्पष्ट ही 'वरदेव' का बिगाड़ा हुआ रूप है।

† जानवर की पूरी खाल को हवा भर के फुला कर तूँबे की तरह उसका सहारा ले कर नदी में तैरने का रिवाज हिमालय में साधारण है। वैसी खाल को संस्कृत में दृति और हिन्दी में पखाल कहते हैं। हरद्वार के पास-पड़ोस में रोझ नामक हिरन की खाल

तैयार खड़े अपने सैनिकों से उसे पकड़वा मँगाया और कालगण्डकी (काली गंडक) के किनारे पत्थर के ऊँचे महल में पक्के पहरे में रख दिया!

उस दशा में देवशर्मा ने राजा अरमुडि से पहले दूतों द्वारा फिर स्वयं मिल कर बात की, और जयापीड के राज्य का बड़ा अंश और गुप्त कोश ले देने की आशा दिला जयापीड से अकेले में मिलने की इजाज़त पा ली। वह चुपके चुपके अपनी सेना भी कालगण्डकी के बाएँ किनारे पर ले आया था। मिलने पर उसने जयापीड से कहा—इस खिड़की से कूद कर नदी के उस पार जा सकोगे? उस पार तुम्हारी अपनी सेना है। जयापीड ने कहा—यह काम पखाल बिना नहीं हो सकता, और पखाल भी इतने ऊँचे से गिर कर फट जायगी। देवशर्मा ने कुछ क्षण सोच कर कहा—किसी प्रकार दो घड़ी के लिए इस कोठरी से बाहर चले जाओ, लौट कर आओगे तो उपाय तैयार पाओगे। जयापीड तब टट्टी वाली कोठरी में चला गया। दो घड़ी बाद लौटा तो देखा कि देवशर्मा गले में कपड़ा बाँधे ज़मीन पर मरा पड़ा है, उस कपड़े के किनारे वह अपने नखों से निकाले लहू से लिख गया है—मेरी लाश ताज़ी होने से फटेगी नहीं, अपनी जाँघों पर मैंने कस कर पगड़ी बाँध दी है, उसमें टाँगें फँसा कर नदी में कूदो! जयापीड के मन में विस्मय और स्नेह उमड़ पड़ा। पर वह स्थान भावों में बहने का नहीं था। अपने मित्र के शव पर चढ़ कर वह गहरे में कूद गया और नदी के पार हो गया। तब अपनी सेना से मिल कर नेपाल राज्य को उजाड़ दिया।

जयापीड फिर कश्मीर पहुँचा। वहाँ फिर उसने प्रजा का सुख बढ़ाया। किन्तु उसके साहस-कार्यों और कैदें भोगने की अवधि में साम्राज्य के बंद टूट चुके या ढीले पड़ गये थे। जैसा कि हमने देखा है, ७८० ई० में तिब्बतियों ने खोतन के विजय वंश के राज्य को मिटा दिया था और ७८६ में ईरान से

इस काम लाई जाती है। दो या चार रोझों पर खाट बाँध कर तमेड़ बना ली जाती है, जिसके ऊपर न तैरने वालों को बिठा दिया जाता है, और एक या दो तैराक उस तमेड़ के साथ लटकते उसे छाती से ठेलते हुए धारा के पार उतार देते हैं।

अरब सेना ने ८६ बरस के व्यवधान के बाद काबुल पर चढ़ाई की थी। इन दोनों घटनाओं से प्रकट है कि ललितादित्य का भारत की उत्तरपच्छिमी सीमा पर बनाया बाँध टूट चुका था।

§ ७. धर्मपाल—इस दशा में गौड के सुयोग्य राजा धर्मपाल ने प्रकटतः यह मानते हुए कि दृढ कन्नौज साम्राज्य द्वारा ही उत्तर भारत की सुरक्षा हो सकती है, अपनी शक्ति से उस साम्राज्य को पुनरुज्जीवित किया।† कन्नौज का सम्राट् तब इन्द्रायुध था। धर्मपाल ने उसे गद्दी से उतार कर उसकी जगह चक्रायुध को बैठाया। चक्रायुध के अभिषेक के अवसर पर कन्नौज-साम्राज्य के प्रायः सब भूतपूर्व सामन्तों ने उसे सम्राट् स्वीकार किया। इनमें अवन्ति मत्स्य (आधुनिक मेवात = अलवर प्रदेश) तथा पंजाब के मद्र गन्धार और कीर (कांगड़ा) तक के राज्यों की गिनती थी। इससे प्रकट है कि कन्नौज का साम्राज्य चाहे अब निःशक्त था, तो भी हर्षवर्धन के ज़माने से वह किसी रूप में चला आ रहा था और उत्तर भारत के दूर दूर प्रान्तों के लोग भी उसकी आवश्यकता मानते थे। पंजाब के प्रदेश जो ललितादित्य ने उससे ले लिये थे, जान पड़ता है जयापीड के कैद होने पर स्वतन्त्र हो गये थे और अब धर्मपाल के पराक्रम और नीति से कन्नौज साम्राज्य का आधिपत्य फिर से मानने लगे।

नेपाल भी वरदेव के बाद धर्मपाल के ज़माने से ही पाल वंश के राज्य में चला गया प्रतीत होता है।

पाल राजा बौद्ध थे। धर्मपाल ने भागलपुर के पास विक्रमशिला नाम का महाविहार स्थापित किया जो नालन्दा की तरह बाहर के बौद्ध देशों में भी शीघ्र प्रसिद्ध हो गया।

§ ८. वत्सराज प्रतिहार और ध्रुव धारावर्ष—नागभट के भाई के पोते प्रतिहार राजा वत्सराज ने धर्मपाल को चुनौती दी। कन्नौज साम्राज्य का

---

† धर्मपाल ने इन्द्रायुध को ७८३ ई० के बाद कभी गद्दी से उतरा था यह निश्चित है। समूची परिस्थिति को देखते हुए यह युक्त प्रतीत होता है कि ७८६ की अरबों की काबुल चढ़ाई के शीघ्र बाद उसने वह कार्रवाई की।

गौड राजा के हाथ की कठपुतली बनना उसे पसन्द न था। उसने कन्नौज पर चढ़ाई की और "विख्यात भण्डि-कुल से युद्ध में डोर-चढ़े धनुष के सहारे साम्राज्य हठपूर्वक ले लिया।" तब उसने गौड पर चढ़ाई कर धर्मपाल को भी हराया।

किन्तु उन दोनों पर राष्ट्रकूट कृष्ण के बेटे ध्रुव धारावर्ष (७८३-६३ ई०) ने चढ़ाई की। लाट और अवन्ति प्रान्तों के लिए राष्ट्रकूट और प्रतिहार राजाओं के बीच झगड़ा था। धर्मपाल ने भी अवन्ति को कन्नौज साम्राज्य में रखना चाहा था, इसलिए ध्रुव का उससे भी विवाद था। ध्रुव ने कांची से कोशल (छत्तीसगढ़) और लाट तक अपना आधिपत्य स्थापित किया। तब उसने उत्तर भारत पर चढ़ाई कर वत्सराज को हराया, और गंगा-जमना के बीच भागते हुए गौड राजा (धर्मपाल) का छत्र छीन लिया। ध्रुव की इस चढ़ाई का परिणाम यह निकला कि वत्सराज को कन्नौज पर से अधिकार छोड़ना पड़ा, धर्मपाल को केवल कुछ दबना पड़ा। ध्रुव ने स्वयं कन्नौज को अपने वश में रखने का यत्न नहीं किया और उसके द्वारा वत्सराज प्रतिहार को दबाये जाने का फल यह हुआ कि कन्नौज साम्राज्य पर धर्मपाल का नियन्त्रण बना रहा।

§९. **नागभट २य और गोविन्द**—ध्रुव के दो बेटों—स्तम्भ और गोविन्द (३य)—में घरेलू युद्ध हुआ। उस अवसर से लाभ उठा कर वत्सराज के बेटे नागभट २य (लग० ७६०-८१५ ई०) ने, जो राजस्थान की ख्यातों में नाहड़देव नाम से प्रसिद्ध है, चक्रायुध और धर्मपाल दोनों को हरा कर कन्नौज पर अधिकार कर लिया (लग० ७६३-६४ ई०)। किन्तु गोविन्द प्रभूतवर्ष (७६४-८१५ ई०) ने अपने राज्य में स्थापित होने के बाद उत्तर भारत पर चढ़ाई की और नागभट को हराया; धर्मपाल और चक्रायुध को भी उसके सामने झुकना पड़ा। इस चढ़ाई में उसने मालव (अवन्ति) कोशल कलिंग ओड्र (उड़ीसा का पहाड़ी भाग) और डहाला (जबलपुर प्रदेश) पर अधिकार कर लिया। उधर उसने कांची और रामेश्वरम् तक जीता था। इस प्रकार वह अपने ज़माने का भारत का सम्राट् था। समूचा दक्खिन भारत और मध्य-मेखला का पहाड़ी अंश जिसमें उत्तर भारत के मैदान पर उतरने के रास्ते हैं,

उसने अधीन कर लिया था।

यशोवर्मा के ललितादित्य से हारने के बाद पूरब पच्छिम और दक्खिन के राज्यों के बीच जो तिकोना संघर्ष शुरू हुआ, उसका यों ६० बरस में यह परिणाम निकला कि दक्खिन भारत में मजबूत साम्राज्य उठ खड़ा हुआ, जिसके सामने कन्नौज का दुर्बल साम्राज्य था जिसे बाँएँ और दाहिने पहलुओं पर प्रबल प्रतिहार और पाल राज्य थामे रहते।

§ १०. **शर्व अमोघवर्ष और कृष्ण अकालवर्ष**—गोविन्द के बेटे शर्व अमोघवर्ष (८१५–७७ ई०) और उसके बेटे कृष्ण अकालवर्ष (८७७–९११ ई०) के एक शताब्दी के प्रशासनों में दक्खिन भारत के साम्राज्य की सीमाएँ प्रायः वही रहीं और लगातार सुशासन चलता रहा। शर्व अमोघवर्ष ने मान्यखेट (गुलबरगा ज़िले में आधुनिक मालखेड) नगरी को अपनी राजधानी बनाया। गोविन्द, शर्व और कृष्ण के प्रशासन कुल मिला कर ११८ वर्ष के थे। इतनी लंबी अवधि तक लगातार सुशासन चलने से देश ने टिकाऊ शान्ति और समृद्धि का अनुभव किया।

§ ११. **देवपाल**—पूर्वी भारत में धर्मपाल का उत्तराधिकारी उसका बेटा देवपाल भी उसी की तरह योग्य हुआ (लग० ८१०–८५१ ई०)। उसने अपने राज्य को पूरवी भारत का साम्राज्य बना दिया। उसके सेनापति ने उत्कल (उत्तरपूर्वी उड़ीसा) और प्राग्ज्योतिष (असम) को जीत लिया। उत्कल जीतने के लिए उसे विन्ध्य में शर्व अमोघवर्ष से टक्कर लेनी पड़ी। बंगाल की हिमालय तराई में तब एक छोटा सा "कम्बोज" राज्य था। या तो वह ललितादित्य और जयापीड के पूरवी विजयों के प्रसंग में पूरवी हिमालय और पुण्ड्रवर्धन में बस गये कश्मीरियों-कम्बोजों की बस्ती थी, अथवा वह कोच नामक स्थानीय किरात जाति का राज्य था जिसे संस्कृत लेखकों ने 'कम्बोज' बना दिया था †। हिमालय में देवपाल ने उन कम्बोजों को हराया। नागभट

† यह सुझाव स्व० श्री रमाप्रसाद चन्द का था। पहला सुझाव इसी ग्रन्थ (१म प्रकाशन, १९३८) में पहलेपहल दिया गया था। अब मुझे श्री चन्द की बात अधिक युक्त प्रतीत होती है।

की मृत्यु के बाद उसके बेटे रामभद्र के मुकाबले में भी देवपाल का पलड़ा भारी रहा।

§ १२. **मिहिर भोज और महेन्द्रपाल**—किन्तु लग० ८३६ ई० में रामभद्र के बेटे भोज या मिहिर भोज के अधिकार पाने पर अवस्था पलट गई। भोज ने राज पाते ही कन्नौज को जीता और भिन्नमाल के बदले उसे अपनी राजधानी बना लिया। देवपाल और शर्व दोनों देखते रह गये और उसे रोक न सके। कश्मीर की सीमा तक हिमालय के प्रदेशों पर उसने फिर से कन्नौज का आधिपत्य स्थापित किया। उससे मार खा कर कश्मीर का कर्कोट राजवंश मिट गया। भोज ने प्रतिहार साम्राज्य की पच्छिमी सीमा कश्मीर के पहाड़ों से मुलतान-सिन्ध की सीमा तक और सुराष्ट्र के समुद्र तक पहुँचा दी।

पूरब तरफ उसने देवपाल के बेटे नारायणपाल (लग० ८५४–६०८ ई०) से न केवल मगध-मिथिला प्रत्युत पुण्ड्रवर्धन भी छीन लिया (लग० ८७१ ई०)। पालों का राज्य तब केवल राढ देश (दक्खिनपच्छिमी बंगाल) और गंगा के मुहाने में रह गया। पूरबी बंगाल में भी एक स्थानीय चन्द्र वंश खड़ा हो गया, जिसकी राजधानी विक्रमपुर (ढाका के पास) थी। पूरब की तरफ जीते हुए प्रदेश के द्वार पर मिहिर भोज ने अपने नाम से भोजपुर बसाया जो शाहाबाद (आरा) जिले में आज भी प्रसिद्ध गाँव है। उसी के नाम पर गंगा के उत्तर और दक्खिन समूचे पच्छिमी बिहार की बोली आज भोजपुरी कहलाती है।

मिहिर भोज के कन्नौज को अपनी राजधानी बना लेने और मगध-मिथिला-पुण्ड्रवर्धन जीत लेने से वह तिकोनी कशमकश समाप्त हुई जो पूरब पच्छिम और दक्खिन के अधिपतियों के बीच मध्यदेश (कन्नौज) के साम्राज्य को अपनी कठपुतली बनाने के लिए ८वीं शताब्दी के मध्य से शुरू हुई थी। उस कशमकश के कारण जो संतुलन बना हुआ था वह लग० ७५०–८७० ई० के भारतीय इतिहास का विशेष चिह्न था।

भोज के पचपन बरस (लग० ८३६–८९० ई०) और उसके बेटे महेन्द्रपाल के सत्रह बरस (८९१–९०७ ई०) के प्रशासन में कन्नौज फिर

भारत के सबसे प्रतापी सम्राटों की राजधानी बना रहा। ये सम्राट् चाहते और यत्न करते तो मुलतान-सिन्ध को भी जीत सकते थे, जहाँ अब खिलाफ़त के क्षीण हो जाने पर छोटे मोटे अरब और स्थानीय सरदार राज करते थे। पर जब कभी कन्नौज की सेना मुलतान की तरफ़ बढ़ी, वहाँ के मुस्लिम शासकों ने धमकी दी कि आगे बढ़ोगे तो हम सूर्य-मन्दिर को तोड़ देंगे, और उस धमकी से कन्नौज की सेना लौट गई! इसके अतिरिक्त कन्नौज के प्रतिहार सम्राटों के डर से दक्खिन के राष्ट्रकूटों और सिन्ध के शासकों ने परस्पर मैत्री कर ली। अरब व्यापारी-यात्री जो सिन्ध के सम्पर्क में थे, मान्यखेट के राजा को बल्हारा (वल्लभराज) नाम से जानते और उसे भारत में सबसे बड़ा राजा मानते थे।

मिहिर भोज और महेन्द्रपाल शर्व अमोघवर्ष और कृष्ण अकालवर्ष के समकालिक थे। यों इस शताब्दी में हर्ष शीलादित्य और सत्याश्रय पुलिकेशी के ज़माने की तरह उत्तर और दक्खिन भारत में दो साम्राज्य बने रहे। उत्तर भारत में राजा भोज के जिस रामराज्य की याद अनेक युगों तक बनी रही वह वस्तुतः इसी भोज की याद थी।

§ १३. चोळदेश कश्मीर ओहिन्द के नये राज्य—नौवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतवर्ष के सीमान्त राज्यों में रद्दोबदल हुआ। कांची कश्मीर और काबुल के सीमान्त राज्य कर्णाटक कन्नौज और बुखारा साम्राज्यों के आक्रमणों से जीर्ण हो गये, इसलिए उनमें आन्तरिक परिवर्तन हुआ।

नौवीं शताब्दी के मध्य में तमिळ देश में चोळ सरदार विजयालय खड़ा हुआ। उसका बेटा आदित्य लग० ८८० ई० में पल्लव राजा अपराजित को पराजित कर स्वतन्त्र हो गया। आदित्य ने लग० ९०७ ई० तक राज्य किया। आदित्य चोळ के बेटे परान्तक १म (९०७–९४९ ई०) ने पाण्ड्यों की नगरी मदुरा को भी छीन कर समूचे तमिळ देश को अपने राज्य में कर लिया और सिंहल पर भी धावा मारा। उसका शासन खूब सुव्यवस्थित था।

कश्मीर में कर्कोट वंश का राज्य समाप्त होने पर उत्पल वंश का शुरू हुआ। पहला उत्पल राजा अवन्तिवर्मा (८५५– ८८३ ई०) अत्यन्त न्यायी और सुशासक था। वह योग्य व्यक्तियों को पहचान कर उन्हें अनुकूल पद और

कार्य सौंपने में कुशल था। सुय्य नाम के एक अकिंचन अध्यापक की प्रतिभा को पहचान उसने उसे सिंचाई का महकमा सौंप दिया। सुय्य ने कश्मीर की नदियों और झीलों के बाँध बँधवाये, नहरें खुदवाईं, नदियों के मार्ग और संगम बदल दिये तथा दलदलों को सुखा कर सैकड़ों नये गाँव बसा दिये। कश्मीर में जहाँ पहले दुर्भिक्ष में धान की खारी १०५० दीनार की आती थी और अत्यन्त सुभिक्ष हो तो २०० दीनार की, वहाँ अब एकाएक ३६ दीनार की आने लगी। सुय्य को लोगों ने अन्नपति की पदवी दी।

जैसा कि हमने देखा है नौवीं शताब्दी के उत्तरार्ध अर्थात् मिहिर भोज और शर्व अमोघवर्ष के ज़माने में खलीफ़ाओं का साम्राज्य टुकड़े टुकड़े हो गया था और उसके स्थान में उठे राज्यों में से एक खुरासान और बुखारा के अमीरों का था [७, ३ § १४]। ८७० ई० में बुखारा के सेनापति याकूब-ए-लैस ने काबुल का किला ले लिया। काबुल शहर और प्रदेश हिन्दू राजाओं के पास रहा, किन्तु वे अपनी राजधानी सिन्ध नदी के पुराने घाट उदभांडपुर ले गये। उदभांडपुर अटक के १६ मील ऊपर है और अब उन्द या ओहिन्द† कहलाता है। वहाँ के राजा से ८८३ ई० में उसके ब्राह्मण मन्त्री लल्लिय ने राज्य छीन लिया। लल्लिय के वंशज ब्राह्मण शाहि कहलाये।

कश्मीर के अवन्तिवर्मा का बेटा शंकरवर्मा (८८३–६०२ ई०) भी विजेता था। उसने कश्मीर के दक्खिन की तराई दार्वाभिसार (जम्मू भिम्भर राजौरी पुंच) को जीता, जम्मू के दक्खिन स्यालकोट प्रदेश को लिया, अपनी पूर्वी सीमा पर मिहिर भोज से और पच्छिम तरफ़ लल्लिय शाहि से टक्कर ली। युद्धों का खर्चा निकालने के लिए उसने अपने राज्य के अनेक मन्दिरों की जायदादें ज़ब्त कीं। युद्ध में रसद पहुँचाने की खातिर उसने प्रजा से भार ढोने की बेगार लेने की प्रथा भी चलाई। कश्मीर के पच्छिम जेहलम और सिन्ध

† मुस्लिम इतिहासलेखकों ने अरबी लिपि में ओहिन्द को वहिन्द लिखा। कुछ आधुनिक इतिहासलेखकों ने उसे भटिंडा पढ़ कर शाहियों की राजधानी सतलज के पूरब मरुभूमि के छोर पर भटिंडा कस्बे में मान ली।

नदियों के बीच के पहाड़ी प्रदेश उरशा (=आधु० रश=हज़ारा ज़िला) पर चढ़ाई करते हुए उसकी मृत्यु हुई।

§ १४. महीपाल और इन्द्र नित्यवर्ष—जब महेन्द्रपाल का बेटा महीपाल कन्नौज की गद्दी पर बैठा, तब भी उसका शासन कलिंग से सुराष्ट्र और सुराष्ट्र से कुल्लू तक माना जाता था। उधर कर्णाटक में कृष्ण अकालवर्ष का उत्तराधिकारी उसका पोता इन्द्र नित्यवर्ष हुआ। ६१६ ई० में मध्यदेश और महाराष्ट्र के सम्राटों में फिर भिड़न्त हुई। इस बार इन्द्रराज ने कन्नौज नगरी को ले कर उजाड़ा और उसके एक सामन्त ने प्रयाग तक महीपाल का पीछा किया। तब से कन्नौज साम्राज्य की घटती कला शुरू हुई।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. पाल वंश की स्थापना किस प्रकार हुई?

२. वेरूल का कैलाश मंदिर कब किसने बनवाया? उस मन्दिर में विशेष बात क्या है? विक्रमशिला कहाँ है? उस महाविहार की स्थापना किसने की?

३. प्रतिहार शब्द का क्या अर्थ है? सिन्ध के मुसलमान शासकों को हरा कर कहाँ के किस प्रतिहार राजा ने पहलेपहल ख्याति पाई?

४. राजा धर्मपाल और सम्राट् चक्रायुध का परस्पर क्या सम्बन्ध था? किस प्रकार किन दशाओं में वह सम्बन्ध स्थापित हुआ?

५. सिन्ध के अरब शासकों और दक्खिन के राष्ट्रकूटों में मित्रता किन दशाओं में हुई?

६. लग० ७८० ई० से ८७१ ई० तक भारत में साम्राज्य के लिए संघर्ष किस प्रकार चलता रहा और उसमें भाग लेने वाले मुख्य व्यक्ति कौन थे?

७. ८१५ से ६११ ई० तक दक्खिन भारत में तथा ८३६ से ६०७ ई० तक उत्तर भारत में किन दो दो सम्राटों ने राज किया? उनके साम्राज्यों का विस्तार कितना था?

८. सुय्य अन्नपति कौन था? वह किसलिए प्रसिद्ध है?

६. काबुल के शाहि राजा अपनी राजधानी काबुल से ओहिन्द कब और क्यों उठा लाये?

१०. इन्द्र नित्यवर्ष कौन था और कहाँ का राजा था? वह किस बात के लिए प्रसिद्ध है?

११. जयापीड का चरित संक्षेप से कहिए।

१२. कन्नौज के आयुधान्त नाम वाले सम्राट् कब हुए? उनकी शक्ति और राज्यसीमा कितनी थी?

१३. इनपर टिप्पणी लिखिए—बल्हारा, ब्राह्मण शाहि, मान्यखेट, भण्डिकुल।

अध्याय ५

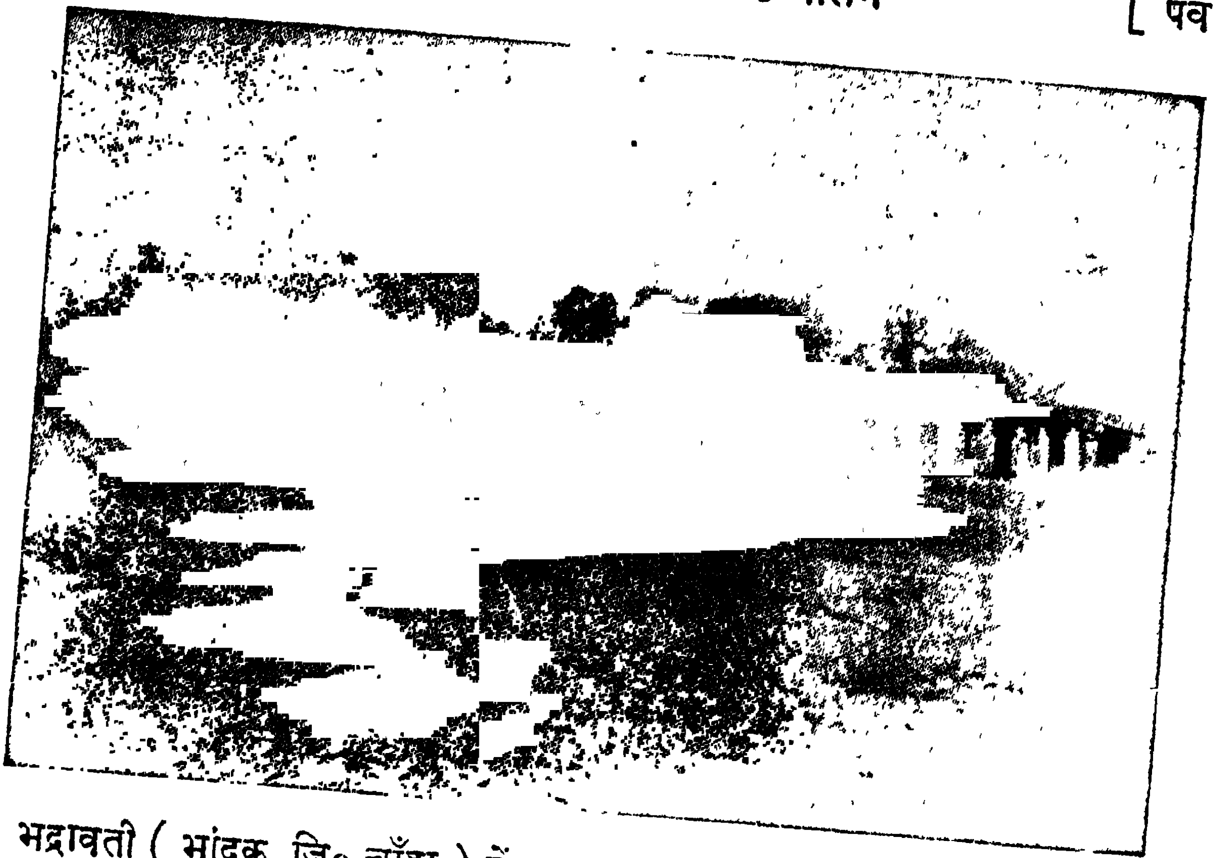
प्रादेशिक राज्य तथा ग़ज़नी और तांजोर के साम्राज्य

(लग० ९२०–१०७५ ई०)

§ १. चेदि जझौती मालवा गुजरात सांभर के नये राज्य— अन्तर्वेदी का साम्राज्य कमजोर होने से मध्यमेखला के सामन्त राज्य स्वतन्त्र हो गये। जमना के दक्खिन से विदर्भ और दक्षिण कोशल की सीमा तक पुराना चेदि देश था। इस युग में उसमें दो राज्य उठ खड़े हुए। चेदि नाम दक्खिनी राज्य का रहा; उत्तरी राज्य जेजाकभुक्ति या जझौती कहलाने लगा। चेदि के कलचुरि वंश की राजधानी त्रिपुरी (जबलपुर के पास आधुनिक तेवर) थी। महाकोशल अर्थात् छत्तीसगढ़ भी उसके अधीन रहा। उसकी पच्छिमी सीमा वर्धा नदी तक थी।

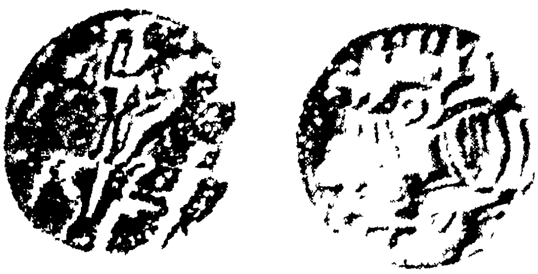
जझौती में चन्देल राजवंश था। उसकी राजधानी पहले महोबा, फिर खजुराहो में रही। कालंजर का गढ़ ले लेने से वे कालंजर के राजा भी कहलाये। यशोवर्मा चन्देल (लग० ९२०–५० ई०) ने डहाला (जबलपुर प्रदेश) से मगध मिथिला और गौड तक चढ़ाई की, और पूरबी हिमालय तक जा कर वहाँ की "कम्बोज" बस्ती को हराया। उसके बेटे धंग ने (लग० ९५०–९५ ई०) अंग (मुंगेर-भागलपुर) और राढ देश (पच्छिमी बंगाल) पर चन्देलों का आधिपत्य जारी रक्खा।

चेदि और जझौती के पच्छिम अवन्ति में, जो अब मालव लोगों के वहाँ तक फैल जाने से मालव भी कहलाने लगा था, परमार वंश का राज्य स्थापित हुआ, जिसकी राजधानी धारा थी। उसके पच्छिम गुजरात में



भद्रावती (भांदक, जि० चाँदा) में मध्य काल के एक पुल के खँडहर। भद्रावती ख्वान-च्वाङ के काल में महाकोशल की राजधानी थी। [भा० पु० वि०]

में मूलराज सोलंकी (चालुक्य) ने ६६० ई० में राज्य स्थापित किया जिसकी राजधानी अणहिल्लपाटन (अणहिलवाड़ा) थी। दक्खिनी राजस्थान पर प्रायः गुजरात और मालव राज्यों का अधिकार रहा। उत्तरी राजस्थान में चाहमानों (चौहानों) का एक राज्य खड़ा हुआ, जिसकी राजधानी शाकम्भरी (साँभर) थी।

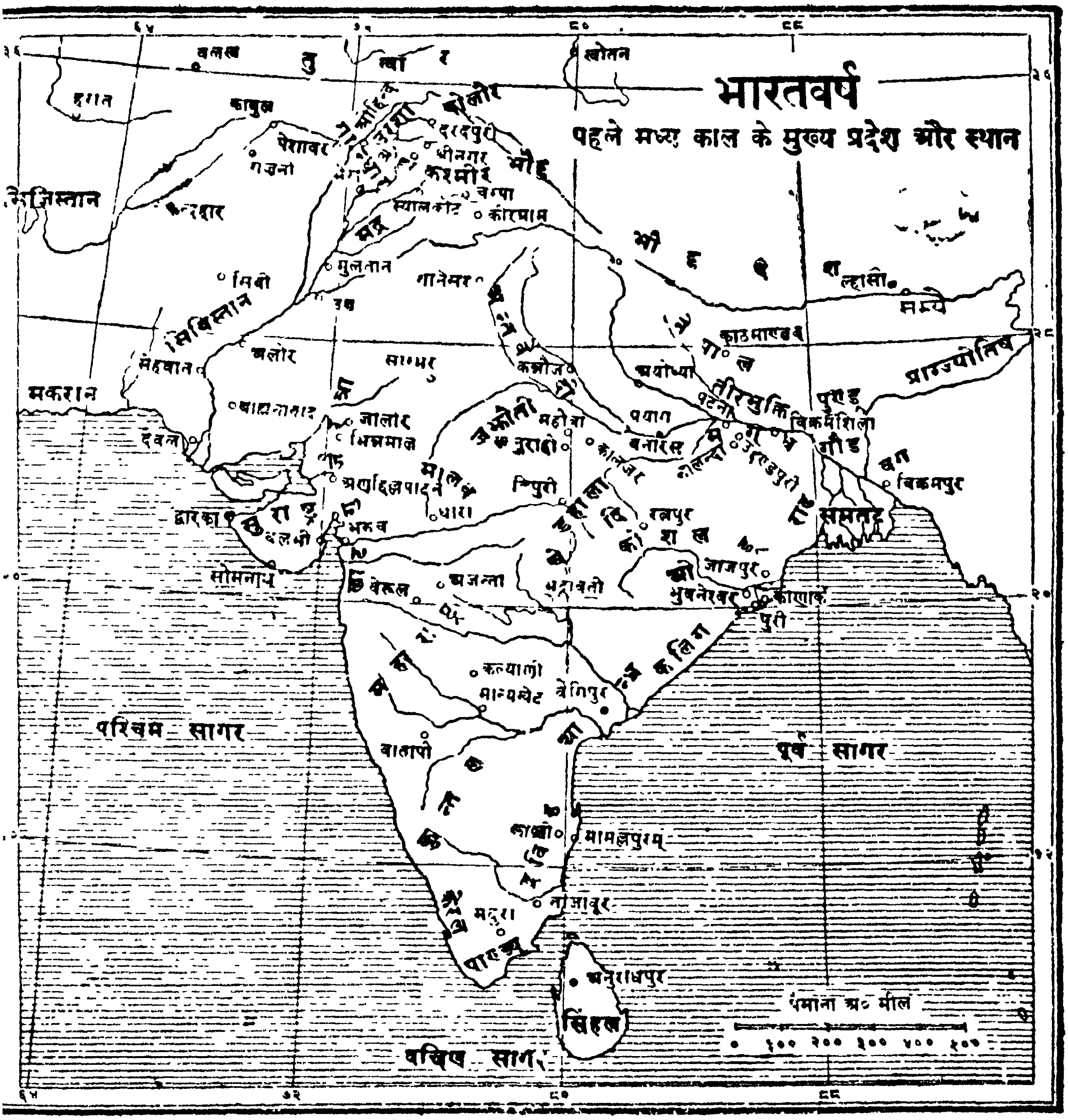


काबुल-ओहिन्द के शाहि सामन्तदेव का सिक्का [श्री० सा० सं०]
चित, राजा घोड़े पर; पट नन्दी, ऊपर लेख—श्री सामन्तदे (व)।

उधर ओहिन्द के शाहियों ने अपना राज्य पंजाब तक फैला लिया।

इन राज्यों के बीच कन्नौज का प्रतिहार साम्राज्य भी पहले से छोटी परिधि में बना रहा।

§ २. कल्याणी के चालुक्य—इन्द्रराज राठोड़ ने ६१६ ई० में कन्नौज



नक्शा—२१

पर धावा मारा था। ९७२ ई० में मालवे के पहले स्वतन्त्र राजा सीयक (श्रीहर्ष) ने राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यखेट पर धावा मारा। तब राष्ट्रकूटों का राज्य समाप्त हुआ और तैलप चालुक्य ने, जो वातापी वाले पहले चालुक्य वंश के विक्रमादित्य १म के भाई का सीधा वंशज था, महाराष्ट्र-कर्णाटक में फिर से

चालुक्य राज्य स्थापित किया (६७३ ई०)। इन पिछले चालुक्यों की राजधानी कल्याणी (बिदर के लगभग ४५ मील पच्छिम) थी, इस कारण ये कल्याणी के चालुक्य कहलाये।

§ ३. **तुर्कों का फिर बढ़ना**—भारत के मध्य भाग में जब उक्त नया राजनीतिक नक्शा बन रहा था, तभी उत्तरपच्छिमी सीमा पर भी बड़ा परिवर्त्तन हो रहा था।

मध्य एशिया में हूण और तुर्क किस प्रकार आये और उनपर पहले चीनियों तथा पीछे अरबों ने कैसे आधिपत्य जमाया, सो कह चुके हैं। ६५९ ई० में पच्छिमी मध्य एशिया चीन के साम्राज्य में चला गया था, और ७५१ ई० में वहाँ चीन का स्थान अरब साम्राज्य ने लिया था। खिलाफत-साम्राज्य टूटने पर कई अरब और ईरानी राजवंश सारे पच्छिम और मध्य एशिया पर शासन करने लगे थे। पर मध्य एशिया से चीनियों के पैर उखड़ने के बाद से वहाँ जो दो भीतरी परिवर्तन होने लगे थे, वे खिलाफत टूटने के बाद भी जारी रहे। एक तो तुर्कों की संख्या बढ़ती गई और पुराने शक तुखार आर्यावर्त्ती और ईरानी प्रायः सब उनमें मिलते और उनकी भाषा अपनाते गये। दूसरे, बौद्ध धर्म के स्थान में क्रमशः इस्लाम फैलता गया। मध्य एशिया के पच्छिमी अंश में इस्लाम पहले फैला। यारकन्द और काशगर के लोग दसवीं शताब्दी के अन्त से मुसलमान होने लगे। राजनीतिक दृष्टि से तुर्क लोग प्रायः ३०० बरस तक गौण रहे। पर लग० ६५० ई० से अरबों और ईरानियों के अधीन जो तुर्क सरदार थे वे सिर उठाने लगे। कुछ ही काल में तुर्क प्रभुता उन सब देशों पर छा गई जो पहले खिलाफत के अधीन थे।

अफगानिस्तान के ठीक मध्य में काबुल हेलमन्द और वंक्षु नदियों के पनढाल का प्रदेश बामियाँ है। खुरासान-बुखारा की सल्तनत ने अब बामियाँ को ले कर उसके दक्खिनपूरब बढ़ते हुए गज़नी को भी जीत लिया। काबुल दून का हिन्दू राज्य यों उत्तर पच्छिम और दक्खिन से घिर गया। गज़नी का वह नया जीता प्रदेश बुखारा सल्तनत के हाजीब अर्थात् 'प्रतिहार अलप-तगीन नामक तुर्क को जागीर रूप में मिला।

§४. सुबुक-तगीन का लमगान जीतना—अलप-तगीन के पीछे उसका दामाद सुबुक-तगीन जो उसी की तरह पहले बुखारा में प्रतिहार रहा था, ग़ज़नी का मालिक बना (६७७ ई०) । तुर्की शब्द तगीन का अर्थ सरदार है, और भाषाविज्ञानियों का कहना है कि संस्कृत-हिन्दी का ठक्कुर-ठाकुर शब्द उसी का रूपान्तर है । जिस अन्तिम ईरानी राजा यज़्दगुर्द से अरबों ने राज्य छीना था, उसकी एक लड़की किसी तुर्क सरदार को ब्याही थी । कहते हैं सुबुक-तगीन उसी का वंशज था । यह बात सच हो या झूठ, इसमें सन्देह नहीं कि तुर्क लोग अब पुराने हूण न रहे थे । मध्य एशिया में आ कर शकों तुखारों ईरानियों और आर्यावर्त्तियों का आर्य खून उनमें पूरी तरह मिल चुका था ।

सुबुक-तगीन ने अपना राज्य बढ़ाना शुरू किया, और पूरब और उत्तर तरफ कई किले छीने, जो कि ओहिन्द के शाहि जयपाल के थे (लग० ६८६ ई०) । जयपाल ने तब जवाब में उसके ग़ज़नी प्रदेश पर चढ़ाई की । कई दिन की घोर लड़ाई के बाद, हिन्दू सेना जिस चश्मे का पानी पीती थी तुर्कों ने उसमें शराब मिला दी । हिन्दू सेना शराब से गन्दे हुए सोते का पानी पीने को तैयार न थी, इसलिए उसने हार मान सन्धि कर ली । जयपाल ने कुछ किले देना स्वीकार कर लिया, पर लौट कर वे न दिये । तब सुबुक-तगीन उसके इलाकों को लूटने और उजाड़ने लगा । विशेष कर उसने जयपाल के लम्पाक या लमगान प्रदेश [७, २§६] को अपना लक्ष्य बनाया । जयपाल कन्नौज के राजा राज्यपाल और जभौती के राजा धंग की सहायता मँगा कर बड़ी सेना के साथ फिर ग़ज़नी की तरफ बढ़ा । कुर्रम नदी की दून में लड़ाई हुई । सुबुक-तगीन ने सामने लड़ने के बजाय ५-५ सौ सवारों की टुकड़ियों से शत्रु-सेना पर झपट्टे मारने की नीति पकड़ी, जिसमें वह सफल हुआ । लमग़ान उसके अधीन हो गया ।

§५. मालव-महाराष्ट्र युद्ध—काबुल कुर्रम की दूनों में जब यह नया संघर्ष छिड़ा था तभी भारत के केन्द्र भाग में मालवा और महाराष्ट्र के राजाओं के बीच वह लम्बा युद्ध चल रहा था जो सीयक की मान्यखेट पर चढ़ाई से

शुरू हुआ था [ऊपर § २]। सीयक के उस पहले धावे के बाद महाराष्ट्र में राजपरिवर्त्तन हो गया था, फिर भी दोनों जनपदों का युद्ध चलता ही रहा। सीयक का बेटा राजा मुंज छः बार तैलप को हराने के बाद सातवीं लड़ाई में कैद हो गया (लग० ९९४ ई०)।

कारागृह में मुञ्ज की परिचर्या तैलप ने अपनी बहन मृणालवती को सौंपी। मृणालवती कैदी राजा के साथ बड़ी सहृदयता का बर्ताव करती और उसका कष्ट भुलाने का भरसक यत्न करती, यहाँ तक कि मुञ्ज उसपर आसक्त हो गया और उसने यह मान लिया कि मृणालवती भी मुझपर आसक्त है। उधर मुञ्ज के साथियों ने जंगल से कारागृह तक सुरंग बना कर मुञ्ज को निकालने का उपाय किया। जिस दिन मुञ्ज को सुरंग से भागना था उसने मृणालवती से कहा—मैं इस सुरंग से निकलने जा रहा हूँ, मेरे साथ चलो तो धारा पहुँच कर तुम्हें महादेवी (पटरानी) पद पर अभिषिक्त करूँगा। मृणालवती ने कहा मैं अपने आभरणों की पेटी ले आऊँ और इस बहाने बाहर जा कर अपने भाई को सूचना दे दी। तैलप ने तब मुञ्ज को कड़े पहरे में अपनी राजधानी में घुमा कर जंगल में फाँसी चढ़वा दिया।

मुंज ने अपने छोटे भाई सिन्धुराज के होनहार बेटे भोज को अपना उत्तराधिकारी नियत किया था*, किन्तु मुंज की मृत्यु पर भोज निरा बालक था, इसलिए सिन्धुराज गद्दी पर बैठा। उसका भी अपने पड़ोसी गुजरात के मूलराज सोलंकी के पुत्र चामुण्डराज से युद्ध चला, जिसके अन्त में वह मारा गया (लग० १००९ ई०)। यों मुंज महाराष्ट्र के चालुक्य राजा के हाथ मारा गया था और उसका भाई गुजरात के चालुक्य राजा के हाथ। यों यह परमारों चालुक्यों का द्वन्द्व बन गया जो आगे अस्थिवैर बन कर चलता रहा।

---

* बल्लाल पंडित के भोजप्रबन्ध के आधार पर यह कहानी प्रचलित है कि सिन्धुल (सिन्धुराज) अपने बालक पुत्र भोज को अपने छोटे भाई मुंज के हाथ सौंप गया और मुंज ने राज्य-लोभ से उसे मार डालना चाहा, इत्यादि। परमार वंश के अभिलेखों तथा समकालीन ग्रन्थों से सिद्ध हुआ है कि यह कहानी तथ्य से ठीक उलटी है।

§ ६. **राजराज चोळ**—महाराष्ट्र-कर्णाटक के चालुक्यों का जहाँ उत्तर तरफ धारा के परमारों से मुकाबला था, वहाँ दक्खिन तरफ चोळ राज्य से सामना था। परान्तक चोळ [७, ४ § १३] के वंश में राजा राजराज चोळ हुआ (६८५–१०१२ ई०)। केरल के समुद्री वेड़े को हरा कर उसने पांड्य और केरल को पूरी तरह वश में किया। वेंगी के चालुक्यों [७,१ § ६] कलिंग और कोडुगु ('कुर्ग') पर उसने आधिपत्य स्थापित किया। कर्णाटक पर चढ़ाई कर तैलप चालुक्य के बेटे सत्याश्रय को चार बरस के युद्ध के बाद बुरी तरह हराया



राजराज का बनवाया बृहदीश्वर मन्दिर, तांजोर—भीतरी गोपुर का दृश्य [भा० पु० वि०]

(लग० १००० ई०)। स्थल और जल-सेना से उसने सिंहल को भी जीता, और लकदिव और मालदिव को अपने राज्य में मिला लिया। तांजोर में उसका बनवाया विशाल मन्दिर विद्यमान है। उसके राज्य का शासन बहुत ही व्यवस्थित था। प्रत्येक ग्राम की अपनी पंचायत थी, और उन पंचायतों के प्रतिनिधि तांजोर के मन्दिर में इकट्ठे होते थे।

§७. महमूद ग़ज़नवी का पंजाब जीतना—सुबुक-तगीन की जागीर उसके पीछे ६६७ ई० में उसके बेटे महमूद को मिली। कुछ ही काल बाद बुखारा-खुरासान का राज्य तुर्क सरदारों के उपद्रवों तथा पामीर पार के काशगर के लोगों के, जो तब तक बौद्ध थे, धावों के कारण टूट गया। वंक्षु-सीर-दोआब काशगर राज्य में चला गया, और खुरासान का बाकी सारा राज्य, जिसमें ईरान के अतिरिक्त वंक्षु और कास्त्री सागर के बीच का प्रदेश—ख्वारिज़म—था, महमूद को मिला। महमूद ने सुलतान बन कर नये राज्य पर अपना अधिकार दृढ किया। वह सीस्तान को काबू करने में लगा था जब उसे खबर मिली कि जयपाल फिर लड़ाई की तैयारी कर रहा है। इससे पहले कि जयपाल को अवसर मिले उसने एकदम पेशावर पर हमला कर दिया (१००१ ई०)। जयपाल अपने बेटे आनन्दपाल और अनेक सरदारों सहित कैद हुआ। पेशावर और ओहिन्द अर्थात् अटक नदी तक का समूचा प्रदेश विजेता के हाथ चला गया। आनन्दपाल को ओल रख उसने जयपाल को जाने दिया; पर जयपाल को अपनी हारों से इतनी ग्लानि हुई कि वह आग में जल मरा। तब महमूद ने आनन्दपाल को छोड़ दिया। आनन्दपाल ने नमक की पहाड़ियों में भेरा को अपनी राजधानी बनाया और वहीं रहने लगा। यह महमूद की पहली चढ़ाई थी। कहते हैं उसने भारतवर्ष पर कुल १७ चढ़ाइयाँ कीं।

ओहिन्द के बाद भाटिया और मुलतान-सिन्ध ये दो और राज्य महमूद के पड़ोसी थे। भाटिया दक्खिन पंजाब में भाटी लोगों की बस्ती थी। चनाब से संगम होने के बाद सतलज की धारा जिसमें पंजाब की पाँचों नदियों का पानी आ चुकता है, सिन्ध में मिलने से पहले तक पंजनद कहलाती है। उस पंजनद के उत्तरपूरबी छोर पर उच्च नाम की नगरी भाटिया की राजधानी थी†। शाहि राज्य से काबुल-पेशावर-ओहिन्द प्रदेश छिन जाने पर सिन्ध नदी के पच्छिम तरफ यदि कोई हिन्दू इलाका बचा था तो वह उच्च के भाटी राज्य का ही था। महमूद ने भाटिया पर चढ़ाई की। गढ़ के बाहर तीन दिन के

---

† परिशिष्ट ४।

घोर युद्ध के बाद राजा विजयराय मारा गया। विशेष लूट विजेता के हाथ नहीं लगी। लौटती वेला उसकी सेना बुरी तरह सताई गई और स्वयं सुलतान की "कीमती जान" बड़ी मुश्किल से बची।

मुलतान-सिन्ध के शासक मुसलमान थे। महमूद ने उनपर चढ़ाई करने के लिए आनन्दपाल से उसके राज्य में से लाँघने की इजाज़त माँगी। आनन्दपाल ने इजाज़त न दी। तब महमूद ने उसके प्रदेश में घुस कर उसे उजाड़ना शुरू किया, और कई मुठभेड़ों में आनन्दपाल को हरा करकश्मीर की ओर भगा दिया। मुलतान का शासक यह समाचार पा कर भाग गया। महमूद ने मुलतान पर अधिकार कर प्रजा से भारी जुरमाना वसूल किया।

आनन्दपाल ने फिर एक बार कन्नौज जझौती आदि के राजाओं से सहायता मँगा कर अटक के पूरब बड़े युद्ध की तैयारी की (१००९ ई०)। उस प्रदेश के वीर गक्खड़ भी उसकी सेना में थे। महमूद भी बड़ी फौज के साथ आया। ४० दिन तक दोनों सेनाएँ अटक के पास छछ के मैदान में एक दूसरे की ताक में पड़ी रहीं। अन्त में गक्खड़ों ने तुर्कों पर हमले शुरू किये। लड़ाई में तुर्कों के पैर उखड़ गये और महमूद पीछे हटने की सोचने लगा। तभी आनन्दपाल का हाथी बिगड़ कर भागा और उसकी सेना उसे राजा के हारने का संकेत समझ भाग खड़ी हुई! इस हार ने हिन्दू राज्यों की हिम्मत तोड़ दी; उनपर महमूद का आतंक छा गया। शाहियों के राज्य के पूरब लगा हुआ कीर देश (कांगड़ा) का राज्य था। उसके शासकों ने ख्याल भी न किया था कि उसपर भी हमला होगा। छछ के विजय के बाद महमूद सीधा उसपर जा टूटा, और वहाँ के नगरकोट के मन्दिर का लूटा।

इतनी चोटों के बावजूद भी पंजाब का शाहि राज्य टूटा न था। महमूद की एक और चढ़ाई में आनन्दपाल मारा गया। उसके बेटे त्रिलोचनपाल ने वार्षिक कर देना स्वीकार किया और अपने दो हज़ार सैनिक सुलतान की सेवा में रख दिये।

महमूद का राज्य पच्छिम तरफ भी कास्पी सागर तक फैला हुआ था। उधर उसने कास्पी के पच्छिम गर्जिस्तान (ज्यौर्जिया) तक के प्रदेश

जीते। वंक्षु पार के बौद्धों से उसका अनेक बार मुकाबला होता था। गज़नी के पड़ोस के अफगानों को वश में रखने के लिए भी उसे सदा सजग रहना पड़ता। वे अफगान तब तक हिन्दू थे।

चार बरस तक महमूद और त्रिलोचनपाल के बीच शान्ति रही। १०१४ ई० में महमूद ने फिर चढ़ाई की। अटक और जेहलम के बीच पहाड़ी इलाके में तौसी नदी के किनारे लड़ाई हुई। कश्मीर के राजा संग्रामराज ने अपने सेनापति तुंग को त्रिलोचन शाहि की सहायता को भेजा। महमूद ने कुछ सेना तौसी पार भेजी, जिसे तुंग ने मार भगाया। शाहियों को अब तक तुर्कों के "छल-युद्ध" का तजरबा हो चुका था। त्रिलोचनपाल ने तुंग को समझाया कि एकाएक आगे न बढ़ो। किन्तु तुंग अपनी उस जीत के मद में नदी पार कर गया और अन्त में महमूद की बड़ी सेना से हार गया। त्रिलोचन कश्मीर भाग गया और पंजाब महमूद ने दखल कर लिया। कश्मीरी इतिहासलेखकों ने तुंग की उस मूर्खता को ही पंजाब के पतन का कारण माना। यों तीन पीढ़ियों के संघर्ष के बाद काबुल-गन्धार का शाहि राज्य मिट गया।

§८. महमूद की ठेठ हिन्दुस्तान कश्मीर और सुराष्ट्र पर चढ़ाइयाँ—मुलतान और पंजाब दखल कर लेने के बाद महमूद ने और आगे बढ़ना शुरू किया। उसने थानेसर पर धावा बोला। फिर १०१८ ई० में एक लाख सेना के साथ उसने अन्तर्वेदी (ठेठ हिन्दुस्तान) पर चढ़ाई कर मथुरा और कन्नौज को लूटा। राजा राज्यपाल गंगा पार भाग गया। महमूद की एक और चढ़ाई के बाद उसने कर देना स्वीकार किया। कालंजर के युवराज विद्याधर और उसके ग्वालियर के सामन्त ने इस कायरता के कारण राज्यपाल को मार डाला। तब महमूद ने एक चढ़ाई ग्वालियर और कालंजर पर भी की।

महमूद के पड़ोसी उत्तर भारत के राज्यों में से अब एकमात्र कश्मीर ऐसा बचा था जिसने उससे नीचा न देखा था। १०२१ ई० में महमूद ने कश्मीर पर भी चढ़ाई की, किन्तु उसकी दक्खिनी सीमा पर के लोहर नाम के पहाड़ी गढ़ से उसे हार कर लौटना पड़ा।

महमूद की अन्तिम चढ़ाई १०२३ ई० में सुराष्ट्र पर हुई। मुलतान से

तीस हज़ार ऊँटों पर रसद पानी ले कर रास्ते में जालोर* को लूटते हुए वह अणहिलवाड़े की तरफ बढ़ा। राजा भीम सोलंकी भाग कर कच्छ चला गया। समुद्र के किनारे सोमनाथ पर पहुँच कर महमूद ने नगर और मन्दिर को लूटा और उसका शिव-लिंग† तोड़ डाला। वह मन्दिर काठ का था और धारा के राजा मुञ्ज परमार के भतीजे राजा भोज ने उसे कुछ ही पहले बनवाया था। महमूद लौटने को था तो उसे खबर मिली कि मालवे का परमारदेव अर्थात् राजा भोज लौटते हुए उसका रास्ता काट कर आक्रमण करेगा। इसलिए महमूद राजस्थान के बजाय कच्छ और सिन्ध के रास्ते लौटा। सिन्ध नदी के नाविक जाटों ने उसकी सेना को बहुत सताया और बहुत सी लूट रास्ते में छीन ली। उन्हें दंड देने के लिए महमूद ने एक और चढ़ाई की। १०२६ ई० में उसका देहान्त हुआ।

§९. **महमूद का चरित**—महमूद अपने ज़माने का अद्वितीय सेनापति था। मुस्लिम इतिहासलेखकों की यह धारणा रही कि काफ़िरों को लूटने में गौरव है। इस कारण उन्होंने महमूद का हाल इस ढंग से लिखा कि उसकी भारतीय चढ़ाइयों का एकमात्र प्रयोजन लूट ही प्रतीत होता है। पर उन चढ़ाइयों के क्रम पर ध्यान दें तो यह स्पष्ट प्रकट होता है कि उनका मुख्य उद्देश अपने राज्य को क्रमशः बढ़ाना ही था।

जिन आधुनिक इतिहासलेखकों ने केवल मुस्लिम इतिहासों के आधार पर लिखा है और उन इतिहासों से मिलने वाली जानकारी का भारतीय सामग्री से प्राप्य जानकारी के साथ समन्वय नहीं किया, वे भी यह बात देख नहीं सके। 'वहिन्द' को भटिंडा मान लेने से उन्होंने काबुल और पंजाब के शाहि राज्य की स्थिति को बिलकुल गलत समझा। भाटिया को वे पहचान नहीं सके। कीर या कांगड़ा प्रदेश में एक राज्य महमूद के कम से कम दो शताब्दी पहले से चला आता था यह बात धर्मपाल के चक्रायुध-विषयक अभिलेख से प्रकट है

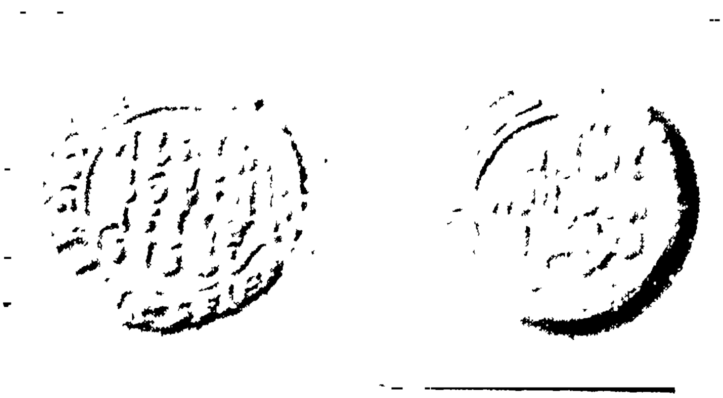
* परिशिष्ट ४।

† वह लिंग ठोस था। उसके खोखले पेट में रत्न भरे होने की बात पीछे की गप्प है।

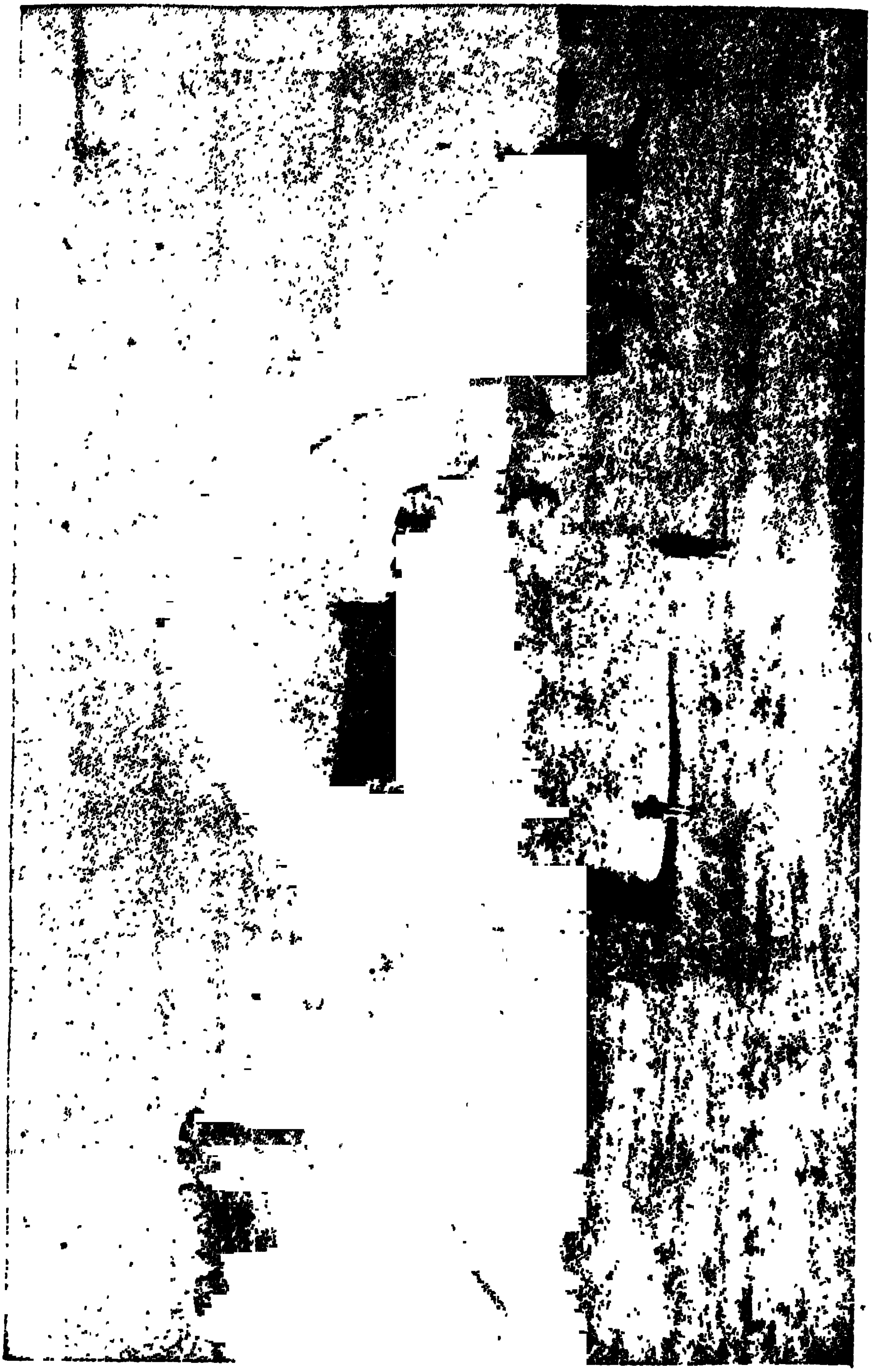
[७, ४ § ७]। इससे परिचित न होने के कारण उन्हें यह नहीं दिखाई दिया कि छछ के मैदान में शाहि राज्य की कमर तोड़ देने के बाद महमूद के एकाएक कांगड़े पर जा चढ़ने का उद्देश उस अगले पड़ोसी को आतंकित करना था, और इसलिए उनका ध्यान केवल नगरकोट के मन्दिर की लूट की ओर गया। सोमनाथ के रास्ते में वे महमूद द्वारा अजमेर का लूटा जाना भी लिखते हैं, यद्यपि जैसा कि हम आगे [७, ६ § ६] देखेंगे अजमेर की स्थापना महमूद के प्रायः पौनी शताब्दी बाद हुई। भारतवर्ष के इतिहास को साम्प्रदायिक विभागों में बाँटने तथा किसी युग की समूची इतिहास-सामग्री का समन्वय न करके केवल 'मुस्लिम' या 'हिन्दू' सामग्री के आधार पर उस युग का इतिहास लिखने की चेष्टा से इसी प्रकार के गलत चित्र सामने आते हैं।

महमूद की अधिकांश चढ़ाइयाँ पंजाब पर हुईं। पंजाब ने उसका अन्त तक मुकाबला किया। उन चढ़ाइयों का उद्देश धीरे धीरे और स्वाभाविक क्रम से अपने राज्य को बढ़ाना और संघटित करना ही था।

शत्रु को तंग करने और डराने के लिए महमूद लूटमार और क्रूरता अवश्य करता था। किन्तु वह सफल सेनापति था, इसका यह अर्थ है कि उसकी सेना में पूरा नियमपालन होता था। यह भी समझना चाहिए कि उस युग के भारत के मन्दिरों में उचित से इतनी अधिक सम्पत्ति लगाई जाने लगी थी कि किसी न किसी राजपरिवर्तन में वे लुटे बिना न रह सकते थे। जैसा कि हम देखेंगे [७, ८ § ४] उस काल के कुछ हिन्दू नेताओं का ध्यान भी इस बुराई की ओर गया था। महमूद के अपने राज्य में प्रजा सुरक्षित थी तथा शासन व्यवस्थित था। अर्थात् लूटमार सब कमजोर और क्षीण पड़ोसी राज्यों के लिए ही थी।

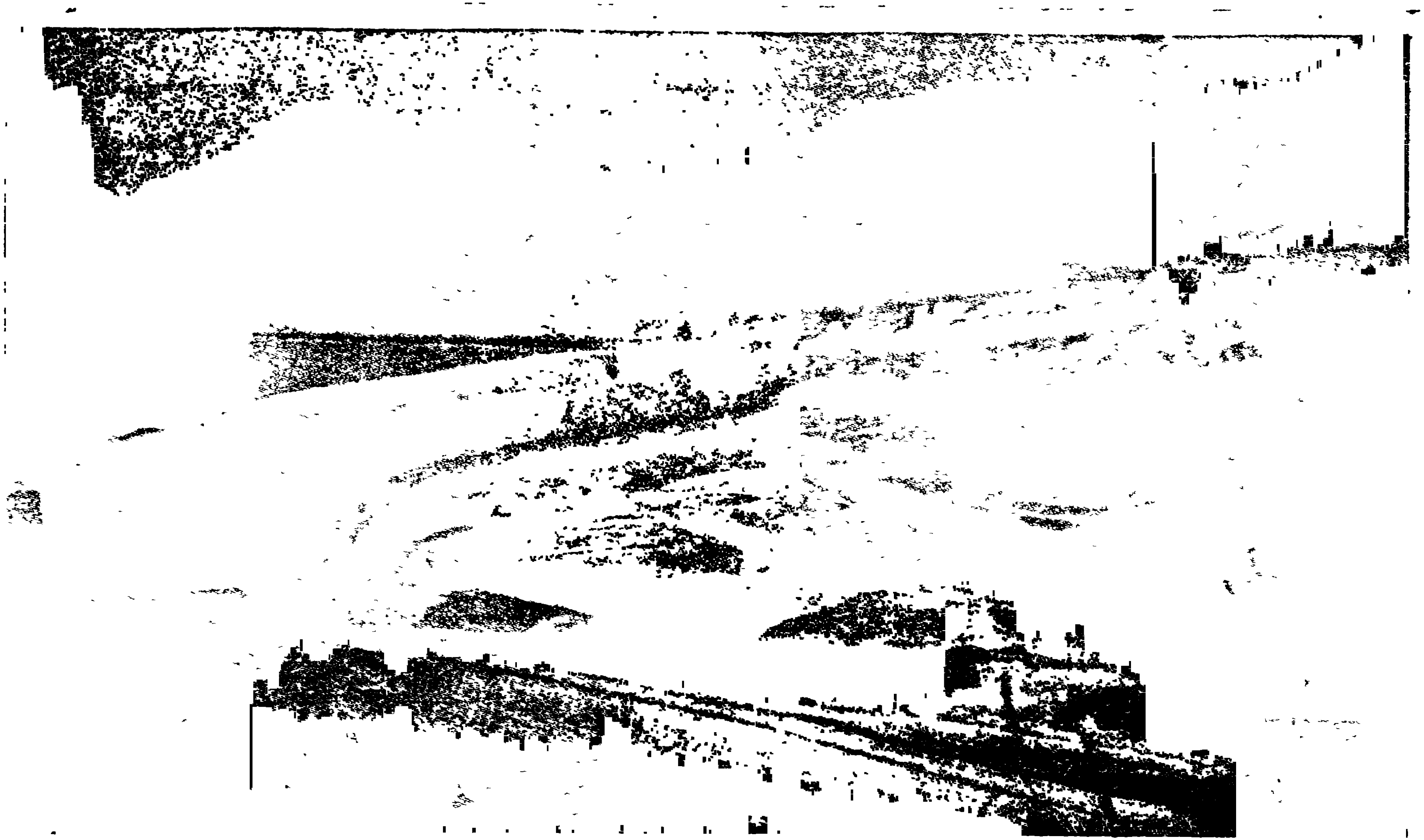


कलमे के संस्कृत अनुवाद सहित महमूद का टंका
[लाहौर संग्र०]



कला-ए-बुस्त, अफ़ग़ानिस्तान में महमूद के काल की मेहराब [फ़ादर हेरस के सौजन्य से]

महमूद बड़ा महत्त्वाकांक्षी था इसमें तो कोई संदेह ही नहीं। उस महत्त्वाकांक्षा को जगाने और तृप्त करने में उसका इस्लाम धर्म सहायक हुआ इसलिए उसके मन में अपने धर्म के लिए अभिमान होना स्वाभाविक था, तो भी वह



गज़नी में महमूद के बनवाये ताल की पाळ;—बाँये तरफ़ की नई पाळ अमीर हबीबुर्रह्मान की बनवाई हुई है

[फादर हेरस के सौजन्य से]

कोरा धर्मान्ध नहीं था। उसके दरबार में फ़ारसी का महाकवि फ़िरदौसी था, जिससे उसने ईरान के पुराने अग्निपूजक राजाओं की कीर्ति शाहनामा नामक ग्रन्थ में लिखवा कर अपने को उनका वंशज बताया। अल्बरूनी नाम का एक और विद्वान् उसके यहाँ था, जिसने पेशावर और मुलतान के पंडितों से संस्कृत पढ़ी और भारतवर्ष के विषय में प्रामाणिक ग्रन्थ लिखा। महमूद ने अफगानिस्तान के हिन्दुओं को ज़बरदस्ती मुसलमान अवश्य बनाया, परन्तु वैसा किये बिना उसका राज्य दृढ न हो सकता था, क्योंकि वह हिन्दू अफगानों के देश में बिलकुल विदेशी था, और अपनी प्रजा से किसी बात में एकता पैदा करना उसके लिए आवश्यक था। उसकी सेना में बहुत से हिन्दू सैनिक और सरदार भी थे, जो पच्छिम की लड़ाइयों में बड़ी वीरता दिखाते रहे।

मथुरा के मन्दिरों की कारीगरी देख कर महमूद चकित हो गया, और भारत से कारीगर ले जा कर उसने गज़नी में अत्यन्त शानदार मसजिदें और महल बनवाये। जझौती के कृत्रिम पहाड़ी तालों के नमूने पर उसने अफगानिस्तान में ताल बनवाये। उसके चाँदी के सिक्कों पर यह संस्कृत लेख पाया जाता है—अव्यक्तमेकं मुहम्मद अवतार नृपति महमूद अयं टंको महमूदपुरे घटे हतो जिनायन-संवत् ···। अर्थात् "एक अव्यक्त (ला इलाह इल्लिल्लाह), मुहम्मद अवतार (मुहम्मद रसूल इल्लाह); राजा महमूद; यह टंका महमूदपुर (लाहौर) की टकसाल में पीटा गया, जिन (हज़रत) के अयन (भागने) का संवत् ···।"

§१०. **राजेन्द्र चोळ**—राजराज चोळ का उत्तराधिकारी उसका बेटा राजेन्द्र हुआ (१०१२ ई०)। युवराज रूप में उसने अपने पिता के अनेक युद्धों और कार्यों में योग दिया था। अपने प्रशासन में उसने चोळ साम्राज्य की सीमाओं को दूर तक बढ़ाया। चालुक्य राज्य को उसके पिता के काल में ही हराया जा चुका था, उसने और आगे बंगाल तक चढाई की।

राजेन्द्र चोळ की सेना मुख्यतः कर्णाट सैनिकों की थी। महमूद और उसके साथियों ने पेशावर में ही दक्खिन के कर्णाट सैनिकों की ख्याति सुनी थी। किन्तु उस सेना के बल पर राजेन्द्र ने उत्तर भारत के राज्यों को महमूद से बचाने की नहीं सोची। राजेन्द्र के राज-पद पाने के दो ही बरस बाद तो महमूद

ने शाहि राज्य को मिटाया और फिर उत्तर भारत के केन्द्र-भूत कन्नौज साम्राज्य तक का पराभव किया था। राजेन्द्र की जलसेना भी बड़ी प्रबल थी। पर उसने उसके द्वारा सुराष्ट्र को महमूद से बचाने का यत्न नहीं किया। प्रत्युत तभी बंगाल पर चढ़ाई की।

आन्ध्र के तट से बढते हुए उड्रविषय अर्थात् उड़ीसा को ले कर उसने कोशल (छत्तीसगढ़) को जीता। वहाँ से फिर दण्डमुक्ति (मेदिनीपुर या मिदनापुर) होते हुए दक्खिन राढ देश अर्थात् आजकल के हावड़ा हुगली ज़िलों को लिया। फिर गंगा का मुहाना पार कर वंग अर्थात् पूर्वी बंगाल तक जीता, और वहाँ से वापिस आ कर पूर्वी भारत के राजा महीपाल को लड़ाई में भगा कर उत्तरी राढ—अर्थात् आजकल के बर्दवान वीरभूम मुर्शिदाबाद प्रदेश--को जीता। महीपाल के पक्ष के लेखों में लिखा है कि उसने कर्णाटों को हराया। जान पड़ता है राजेन्द्र महीपाल को पूरी तरह हरा नहीं सका—महीपाल उससे अपनी राजधानी को बचा पाया। यह निश्चित है कि राजेन्द्र चोळ ने गौड राजधानी को लूटा नहीं। गंगा तक विजय करने के कारण राजेन्द्र गंगैकोंड कहलाया, और अपनी उस विजय-यात्रा की याद में उसने गंगैकोंडचोळपुरम् की स्थापना की।

इसके बाद उसने अपने जंगी बेड़े से "श्रीविजय के राजा और कटाह (क्रा स्थलग्रीवा और मलाया प्रायद्वीप) के शासक" शैलेन्द्र राजा [७, २ § १२] संग्रामविजयोत्तुंगवर्मा पर चढ़ाई कर उसके समूचे राज्य को जीत लिया।

महमूद के प्रायः पन्द्रह बरस पीछे राजेन्द्र का देहान्त हुआ।

§ ११. **पाल राज्य का सँभल उठना**—हमने देखा है कि मिहिर भोज ने पूर्वी भारत के पाल राज्य का समूचा पच्छिमी अंश जीत कर कन्नौज साम्राज्य में मिला लिया था (लग० ८७१ ई०)। उस साम्राज्य के शिथिल होने पर जझौती के यशोवर्मा चन्देल और उसके बेटे धंग ने उन प्रदेशों पर अधिकार किये रक्खा था [ऊपर § १]। किन्तु दसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में पालवंशी राजा महीपाल (लग० ९७५-१०२६ ई०) ने फिर धीरे धीरे अपने पुरखों के राज्य का पुनरुद्धार किया। पहले उसने कम्बोज वंश का अन्त कर उत्तरी बंगाल लिया (लग० ९८४ ई०) फिर मगध। महीपाल को राजेन्द्र चोळ

को बहुत सी भूमि देनी पड़ी, फिर भी उसने अपने राज्य और राजधानी को बचाये रक्खा और अपने राज्यकाल के प्रायः अन्त में मिथिला को भी ले लिया (लग० १०२३ ई०)।

§१२. **महमूद के वंशज**—महमूद के ज़माने में ही गुज़्ज़ नाम की नई तुर्क जातियाँ वंक्षु के इस पार आईं। उनके एक राजवंश का नाम सेल्जुक़ था। सेल्जुक़ों ने महमूद के पीछे सारे ईरान और पच्छिमी एशिया पर अधिकार कर लिया। अफ़गानिस्तान पंजाब और सिन्ध में अर्थात् केवल भारत के उत्तर-पच्छिमी अंचल में महमूद के वंशजों का अधिकार बचा रहा। महमूद के बेटे मसऊद (१०३०–४० ई०) के राज्यकाल में तिलक नाम का हिन्दू अफ़गान पंजाब का शासक रहा। पंजाब से तुर्कों के कई धावे कन्नौज साम्राज्य और राजस्थान पर होते रहे। कन्नौज के राजा अपनी प्रजा से तुरुष्कदण्ड नाम का कर उगाह कर ग़ज़नवी तुर्कों के पास भेजते रहे।

§१३. **भोज, गांगेय और कर्ण**—भारतवर्ष के ठीक मध्य के केवल दो राज्य ऐसे थे जो तुर्कों और तमिळों की चोटों से बच गये थे--एक मालवा, दूसरा चेदि। महमूद और राजेन्द्र के बाद ये दोनों भारत में मुख्य हो गये। मालवे के राजा भोज ने लग० १००६ से १०५४ ई० तक राज्य किया। उसका नाम आज भी भारत का बच्चा बच्चा जानता है। राज पाने के कुछ ही बरस बाद उसने अपने ताऊ मुंज की मृत्यु का बदला लेते हुए महाराष्ट्र के चालुक्य राज्य से कोंकण आदि प्रदेश जीत लिये। राजस्थान का बड़ा अंश उसने अधीन किया और गुजरात पर भी प्रभाव जमाया।

भोज का समकालीन चेदि का राजा गांगेयदेव (लग० १०१५–४१ ई०) और उसका बेटा कर्ण (लग० १०४१–७३ ई०) हुआ। कन्नौज और जझौती के राज्य जब महमूद के साथ जीने-मरने की कशमकश में फँसे थे तभी गांगेय ने प्रयाग और काशी पर अधिकार कर लिया था। फिर कर्ण ने राज पाते ही मगध पर चढ़ाई की। राजा महीपाल के बेटे नयपाल (१०२६–४१ ई०) और कर्ण के बीच पड़ कर दीपंकर श्रीज्ञान नाम के बौद्ध आचार्य ने शान्ति करा दी।

कर्ण अपने काल के भारत में सबसे प्रतापी राजा था। हिमालय में

कीर (नगरकोट) राज्य तक, जो तब महमूद के वंशजों के अधीन था, उसने चढ़ाइयाँ कीं और विजय किये। भोज ने और उसने तुर्कों से उत्तर हिन्दुस्तान को बहुत कुछ उबारा। थानेसर हाँसी और नगरकोट के प्रदेश १०४४ ई० तक स्वतन्त्र हो गये। तभी अनंगपाल तोमर ने प्रकटतः इन दोनों राजाओं में से किसी से प्रोत्साहना पा कर जमना के पच्छिम हरियाना या कुरुक्षेत्र प्रदेश में अपना राज्य स्थापित किया, और राजस्थान की पहाड़ियों की परम्परा जहाँ जमना के पास आ कर टूटती है उस महत्त्वपूर्ण नाके पर पंजाब से पूरब और दक्खिन के रास्तों पर चौकसी रखने के लिए दिल्ली नगरी की स्थापना की।

त्रिपुरी के अतिरिक्त काशी को भी कर्ण ने अपनी राजधानी बनाया। लग० १०५४ ई० में उसने गुजरात के राजा भीम सोलंकी से मिल कर धारा नगरी पर चढ़ाई की। तभी भोज की मृत्यु हुई।

§ १४. चालुक्य-चोळ संघर्ष, चेदि और तांजोर साम्राज्यों का अन्त—राजेन्द्र चोळ का बेटा राजाधिराज चोळ तुंगभद्रा के किनारे कोप्पम् की लड़ाई में सोमेश्वर (१म) चालुक्य के हाथ मारा गया (१०५२ ई०)। उसी रणभूमि में उसके भाई राजेन्द्र परकेसरी ने मुकुट पहना और सोमेश्वर को हरा दिया। यों इस युद्ध में दोनों पक्षों के समान रहने से तुंगभद्रा नदी चोळ और चालुक्य राज्यों की सीमा मानी गई।

दक्खिन भारत के उत्तरपच्छिमी पठार महाराष्ट्र में जब जब कोई शक्त राज्य खड़ा होता रहा है, प्रायः तब तब उसके नेता कृष्णा-तुंगभद्रा को पार कर तमिळनाड के उपजाऊ तट प्रदेश को जीतने का यत्न करते रहे हैं। कभी कभी इससे उलटी गंगा भी बही। राजराज और राजेन्द्र चोळ के ज़माने में वैसा हुआ। किन्तु कोप्पम् की लड़ाई से चोळों की धाक जाती रही।

१०६८ ई० से चोळ राजाओं ने श्रीविजय पर आधिपत्य भी छोड़ दिया। उसी वर्ष सोमेश्वर चालुक्य ने किसी असाध्य रोग के कष्ट से ऊब कर तुंगभद्रा में जलसमाधि ले ली। उसके कुछ बरस बाद जझौती के कीर्तिवर्मा चन्देल (लग० १०५४–१०६६ ई०) ने चेदि के सर्वविजयी कर्ण को परास्त किया।

१०७४ ई० में चोळ वंश में कोई पुरुष न रहा। तब राजेन्द्र गंगैकोंड का

एक दोहता, जो वेंगी का राजकुमार था, तांजोर की गद्दी पर कुलोत्तुंग चोळ नाम से बैठा, जिससे वेंगी का चालुक्य और तांजोर का चोळ राज्य मिल कर एक हो गये।

चोळ राज्य इसके बाद भी अच्छी दशा में बना रहा। किन्तु गजनवी और तांजोरी साम्राज्यों का और उनके बाद चेदि के उत्कर्ष का युग समाप्त हुआ। मालवे का उत्कर्ष बीस बरस पहले भोज की मृत्यु से ही समाप्त हो चुका था। अब भोज के वंशज उदयादित्य ने मालवा राज्य का कुछ पुनरुद्धार किया (लग० १०७५ ई०)।

परिशिष्ट ४

महमूद युग में भाटिया और जालोर

(१) महमूद की भाटिया पर चढ़ाई का उल्लेख तथा भाटिया का ठीक स्थान-निर्देश भी ऊपर किया गया है। "मुस्लिम युग" के आधुनिक इतिहासलेखक भाटिया का स्थान निश्चित नहीं कर सके थे और उन्होंने यह मनमानी कल्पना कर ली थी कि "भाटिया" "भेरा" का अपपाठ है। पर शहाबुद्दीन गोरी ने उच की भाटिया रानी से षड्यन्त्र करके उस राज्य को जीता था यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है। उच्च को न पहचानने के कारण ही आधुनिक लेखकों ने भटिया के बारे में गलती की। उच्च या उच्चापुरी उस युग में प्रसिद्ध और समृद्ध नगरी थी। जब ब्यासा मुलतान के नीचे चनाब में मिलती थी और उत्तरी राजस्थान की घग्घड़ या हाँकड़ा नदी भी पूरी तरह सूखी न थी, तब उच्च नगरी सरसब्ज इलाके के बीचोंबीच अवस्थित थी जिससे उसका समृद्ध होना स्वाभाविक था। दिल्ली के पास पालम में दिल्ली के एक पुरपति (नगर-सभा-प्रधान ?) का गुलाम सुलतान बलबन के काल का सुन्दर संस्कृत शिलालेख है। उस पुरपति का पिता उच्चापुरी का था। इस प्रसंग में उस लेख में पंजाब का और उच्च का सुन्दर वर्णन दिया गया है।

इसके अतिरिक्त जैसलमेर के भाटी अपने को गज़नी से आया हुआ

[मानते हैं !] किसी काल में उनका गज़नी और जैसलमेर के अधबीच पंजनद प्रदेश में बसा होना सर्वथा संगत है।

भाटिया की यह ठीक पहचान पहलेपहल श्री चिन्तामण विनायक वैद्य ने अपने ग्रन्थ हिस्टरी औफ़ मेडिईवल हिन्दू इंडिया (मध्यकालीन हिन्दू भारत का इतिहास) में की थी (१६२१)।

(२) १६वीं शताब्दी के मुस्लिम इतिहास-लेखक फ़रिश्ता ने लिखा है कि सोमनाथ की चढ़ाई पर जाते हुए महमूद ने रास्ते में अजमेर को लूटा। किन्तु अजमेर की स्थापना जिस राजा अजयराज ने की, वह महमूद के पौन शताब्दी बाद हुआ [७, ६ § ६]। मुलतान से सुराष्ट्र के रास्ते पर अजमेर पड़ता भी नहीं। पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने फ़रिश्ता की इस स्पष्ट गलती की व्याख्या यों की है (१६२५—राजपूताने का इतिहास जि० १) कि फरिश्ता के ज़माने में चौहानों की राजधानी रही होने के रूप में अजमेर की प्रसिद्धि थी, महमूद ने मुलतान से सोमनाथ जाते हुए कोई चौहान राजधानी लूटी और उजाड़ी थी, जिसे फरिश्ता ने गलती से अजमेर मान लिया; वह चौहान राजधानी जालोर थी, जो मुलतान से सुराष्ट्र के रास्ते पर है, जहाँ चौहानों की एक छोटी शाखा का राज्य था, तथा जिसकी उजड़ी बस्ती के खँडहर अब भी विद्यमान हैं। "मुस्लिम युग" के जो आधुनिक लेखक फरिश्ता की गलती का आँख मूँद कर अनुसरण करते आते हैं, वे उसके द्वारा यह दिखाते हैं कि उनमें स्वयं ऐतिहासिक-विवेचना-योग्यता कितनी है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. जझौती किस प्रदेश का नाम था ? १०वीं शताब्दी में वहाँ कौन सा राजवंश स्थापित हुआ ?

२. महमूद गजनवी के समकालीन भारत के किस किस प्रदेश में कौन कौन से मुख्य राजा थे ?

३. महमूद ने पेशावर-पंजाब के राज्य को किस क्रम से गिराया ?

४. महमूद जब सोमनाथ पर चढ़ाई कर रहा था, तब भारत के किस और प्रान्त पर कौन सा राजा बड़ी चढ़ाई कर रहा था ?

५. महाराष्ट्र में ६७३-१०७५ ई० के बीच किस वंश का राज्य था ? अपने

पड़ोसी राज्यों के साथ उसके सम्बन्धों का इतिहास संक्षेप से कहिए।

६. लग० ९८५ से १०४० ई० तक चोळ साम्राज्य का विस्तार किस प्रकार हुआ ?

७. भारत में महमूद द्वारा चलाये सिक्कों की क्या विशेष बात आप जानते हैं ?

८. भारत की किस चढ़ाई में महमूद विफल लौटा ?

९. इनपर टिप्पणी लिखिए—अलबरूनी, भाटी राज्य, तुर्कों का छल-युद्ध।

१०. राजा भोज और सम्राट् मिहिर भोज ने कब कब कहाँ कहाँ राज किया ? इतिहास में दोनों का विशेष कार्य क्या है ?

११. भोज के समकालीन चेदि के राजा कौन थे और उन्होंने क्या विशेष कार्य किया ?

१२. १०२९ से १०७४ ई० तक भारत के राजनीतिक इतिहास में मुख्य घटनाएँ क्या हुईं ?

१३. दिल्ली की स्थापना कब किन अवस्थाओं में हुई ?

अध्याय ९

पहले मध्य काल के अन्तिम राज्य

(लग० १०७५–११९४ ई०)

§ १. **विक्रमांक चालुक्य**—गजनवी, चोळ और चेदि साम्राज्यों के अस्त होने पर सोमेश्वर १म चालुक्य का बेटा विक्रमांक या विक्रमादित्य* भारत के अन्तरिक्ष में सबसे अधिक चमकते नक्षत्र रूप में प्रकट हुआ। वह अपने पिता से भी अधिक प्रतापी था, और उसके ५० बरस (१०७६–११२५ ई०) के प्रशासन में कल्याणी का दरबार भारत के दूसरे सब राज्यों में आदर्श माना जाता रहा। याज्ञवल्क्य-स्मृति पर मिताक्षरा टीका लिखने वाला विज्ञानेश्वर नामक विधि-कानून का पंडित तथा कश्मीरी कवि बिल्हण विक्रमांक की सभा में थे। सुदूर कश्मीर तक में कल्याणी के सिक्के और वहाँ की चालढाल वेशभूषा तक का अनुकरण किया जाता रहा।

---

* बदामी के चालुक्य वंश में दो विक्रमादित्य हुए थे [७,३§§ ५,११]। कल्याणी में उस वंश के फिर से स्थापित होने से पहले दो और विक्रमादित्य हुए। उस हिसाब से यह विक्रमादित्य छठा है। पर इसे विक्रमांक ही कहा जाय तो अधिक सुविधा रहेगी।

§२. **कुलोत्तुंग चोळ और अनन्तवर्मा चोळगंग**—तांजोर का नया राजा कुलोत्तुंग भी योग्य और शक्त था। उसने १०८६ ई० में अपने समूचे शासित देश में मालगुज़ारी के लिए ज़मीन की पैमाइश करवाई, जो उस ज़माने में विशिष्ट बात थी।

तभी उड़ीसा में भी राजेन्द्र गंगैकोंड का एक दोहता अनन्तवर्मा राज करता था। वह गंग वंश का था, पर चोळ माता का बेटा होने से चोळगंग कहलाने लगा। उसने ७१ वर्ष (१०७६–११४७ ई०) राज किया। पुरी का जगन्नाथ मन्दिर उसी के प्रशासन में बना।

§३. **कीर्त्तिवर्मा चन्देल और चन्द्र गाहड्वाल**—जभौती के कीर्त्तिवर्मा चन्देल का उल्लेख किया जा चुका है। सोमेश्वर चालुक्य के चोळ राजा का सफल सामना करने से जैसे दक्खिन भारत में राजनीतिक समतुलन पुनः स्थापित हो गया था, वैसे ही कीर्त्तिवर्मा के चेदि-राज कर्ण को परास्त करने से उत्तर भारत का राजनीतिक समतुलन पहले की तरह हो गया था।

उसके बाद जो बड़ा परिवर्त्तन भारत के मध्यदेश में हुआ वह कन्नौज के क्षीण जीर्ण साम्राज्य के स्थान में नया राज्य स्थापित होने से हुआ। १०८० ई० में चन्द्रदेव गाहड्वाल (गहरवार) ने कन्नौज में नया मज़बूत राज्य स्थापित कर अन्तर्वेदी को तुर्क धावों से सुरक्षित किया। उसने कर्ण कलचुरि के उत्तराधिकारी से प्रयाग और बनारस भी वापिस ले लिये। चन्द्रदेव और उसके उत्तराधिकारी अरसे तक अपनी प्रजा से तुरुष्कदण्ड नाम का चला आता कर उगाहते रहे, पर वे अब उस कर को तुर्कों के पास भेजते हों ऐसा प्रतीत नहीं होता।

§४. **विजयसेन और नान्यदेव**—पूर्वी भारत में नयपाल [७,५§१३] के बाद तीन कमज़ोर राजाओं ने पन्द्रह बरस राज किया, फिर लग० १०५७ से ११०२ ई० तक रामपाल ने। रामपाल के प्रशासन में मगध-गौड के उस राज्य में फिर कुछ जान पड़ी और उसने असम और नेपाल को भी जीता। किन्तु पीछे उसे अपने राज्य के बड़े अंश दूसरों को देने पड़े।

१०वीं शताब्दी से ही कर्णाट सैनिक भारत भर में प्रसिद्ध थे। जैसा

कि पीछे कह चुके हैं, अल्बरूनी ने पंजाब में ही उनकी ख्याति सुनी थी। मगध-बंगाल के पाल राजाओं के लेखों से प्रकट हुआ है कि उनकी सेना में भी कर्णाट सैनिकों की काफी संख्या रहती थी। लग० १०८० ई० में विजयसेन और नान्यदेव नामक दो कर्णाट सैनिकों ने राजा रामपाल से बंगाल और तिरहुत के अंश छीन कर दो नये राज्य स्थापित किये। विजयसेन ने पाल राजा से मगध भी लेना चाहा, और तिरहुत पर भी आधिपत्य जमाना चाहा, पर उन दोनों राज्यों ने चन्द्र गाहड्वाल से रक्षा पाई।

§५. **सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल**—११वीं शताब्दी के अन्त में अणहिलवाड़े का चालुक्य राज्य भी सँभल कर चमक उठा। वहाँ सिद्धराज जयसिंह (१०६३–११४२ ई०) और कुमारपाल (११४२–७३ ई०) नाम के दो प्रतापी और योग्य राजा हुए। बारह बरस लड़ कर जयसिंह ने मालवे का राज्य जीत लिया। इस ज़माने के लोग मानते थे कि मन्त्र-तन्त्र आदि के अभ्यास से अनेक सिद्धियाँ होती हैं। जयसिंह को वैसी अनेक सिद्धियाँ प्राप्त थीं या वह उनके होने का दिखावा करता था, इसलिए उसने सिद्धराज पद धारण किया और वह उसी उपनाम से प्रसिद्ध है।

सोमनाथ के मन्दिर को इन राजाओं ने अब पत्थर का बनवा दिया।

§६. **अजमेर के चौहान**—सिद्धराज और कुमारपाल के पड़ोसी और समकालीन चौहान राजा अजयराज और अर्णोराज (आना) थे। अजयराज ने अजयमेरु (अजमेर) बसा कर साँभर के बजाय उसे राजधानी बनाया। उसके बेटे आना को पहले तो सिद्धराज ने हराया, पर पीछे अपनी लड़की कांचनदेवी ब्याह दी। आना की पहली रानी से विग्रहराज उर्फ बीसलदेव पैदा हुआ, और कांचनदेवी से सोमेश्वर। बीसलदेव ने लग० ११५० ई० में तोमरों से हाँसी और दिल्ली को जीत कर अजमेर राज्य में मिला लिया और पंजाब के तुर्कों को पीछे धकेला। राजस्थान का बड़ा भाग उसके अधीन था। ११६३ ई० में दिल्ली की अशोक वाली लाट पर, जो तब अम्बाले के उत्तर शिवालक की तराई में साधौरा बस्ती में थी, उसने लेख खुदवा कर अपने वंशजों को यह सन्देश दिया कि "विन्ध्य से हिमाद्रि तक राजा बीसल ने विजय किया, म्लेच्छों (विदेशियों)

को उखाड़ कर आर्यावर्त्त को फिर से यथार्थ आर्यावर्त्त बनाया। चौहान राजा विग्रहराज अब अपनी सन्तान से कहता है कि इतना तो हमने किया, बाकी पूरा करने का उद्योग तुम मत छोड़ना।"

बीसलदेव के पीछे सोमेश्वर अजमेर की गद्दी पर बैठा। उसका विवाह चेदि की राजकुमारी कर्पूरदेवी से हुआ था। उनका पुत्र पृथ्वीराज चौहान हुआ जिसने ११७९ से ११९२ ई० तक राज किया। वह वीर राजा था, पर उसने अपने ताऊ बीसलदेव की सी राजनीतिक दूरदर्शिता न दिखाई। बजाय इसके कि वह बीसलदेव की वसीयत पर ध्यान दे कर पंजाब की तरफ अपनी वीरता आजमाता, उसने पूरब की तरफ उसे बरबाद किया। महमूद के काल में जझौती का राज्य कन्नौज से भी अधिक मज़बूत था। जमना के दक्खिन ग्वालियर तक के प्रदेश उसके अधीन थे। फिर जझौती के राजा कीर्तिवर्मा ने ही भारत-विजयी कर्ण को हराया था। पृथ्वीराज ने उसके वंशज परमर्दी चन्देल पर चढ़ाई कर धसान नदी तक के प्रदेश उससे छीन लिये (११८२ ई०)। जैसा कि हम देखेंगे तभी पृथ्वीराज का एक प्रबल शत्रु उसके पड़ोस में पैर जमा चुका था।

§७. **चौथा कन्नौज साम्राज्य**—कन्नौज में चन्द्र गाहड्वाल का पोता गोविन्दचन्द्र (१११४–५४ ई०), उसका पुत्र विजयचन्द्र, और विजयचन्द्र का पुत्र जयच्चन्द्र भी प्रबल और योग्य राजा हुए। कन्नौज के गौरव को उन्होंने फिर से स्थापित किया। वे बनारस में रहते और इस कारण काशी के राजा भी कहलाते थे। गोविन्दचन्द्र के राज्यकाल में चेदि के राजा ने बंगाल के राजा विजयसेन के पोते लक्ष्मणसेन (१११९–११७० ई०) से मिल कर बनारस वापिस लेने की कोशिश की। पर गोविन्दचन्द्र ने उन दोनों को परास्त किया और लक्ष्मणसेन को हरा कर मगध भी ले लिया। पीछे, जब बीसलदेव चौहान दिल्ली और हाँसी जीत रहा था, लगभग तभी गोविन्दचन्द्र ने मुंगेर तक अपना अधिकार फैला लिया (११४५ ई०)। उसके बाद १२वीं शताब्दी के अन्त तक मगध और अंग गाहड्वालों के अधीन रहे। यों कन्नौज के चौथे सम्राट् वंश के अधीन मेरठ से भागलपुर तक का इलाका रहा। जयचन्द्र के प्रशासन में प्रजा से तुरुष्कदण्ड नाम का कर लेना बन्द कर दिया गया।

§८. धोरसमुद्र और ओरंगल राज्य—कल्याणी का विक्रमांक चालुक्य यद्यपि प्रबल राजा प्रसिद्ध था, तो भी उसके पिछले प्रशासन में हो उसकी सीमाओं के दो सामन्त सिर उठाने लगे। १११४ ई० में दक्खिनी कर्णाटक में यादवों का एक वंश प्रबल हो उठा। उस वंश का छेड़ का नाम होयशल था, और उसकी राजधानी धोरसमुद्र। १११७ ई० में चालुक्य राज्य की पूरबी सीमा पर उत्तरी तेलंगाना में काकतीय वंश के सामन्तों ने सिर उठाया। उनकी राजधानी ओरंगल थी। चालुक्य राज्य को ओरंगल ने उड़ीसा से और धोरसमुद्र ने चोळ राज्य से अलग कर दिया।

§९. शहाबुद्दीन गोरी का गज़नी सिन्ध पंजाब लेना—हमने देखा है कि महमूद के बाद गज़नी की सल्तनत अफगानिस्तान पंजाब और सिन्ध में ही रह गई थी [७,५§१२]। गज़नी से हरात के रास्ते पर फरारूद† की दून में गोर प्रदेश है। वहाँ के सरदार अलाउद्दीन ने महमूद के वंशज बहराम (११२८–५१ ई०) को हरा कर गज़नी से भगा दिया; फिर उसके बेटे खुसरो के राज्यकाल (११५२–६० ई०) में गज़नी को सात दिन तक लूटा और जला कर खाक कर दिया। खुसरो लाहौर भाग गया। अलाउद्दीन का उत्तराधिकारी उसका भतीजा शहाबुद्दीन-बिन-साम या मुहम्मद-बिन-साम (साम का बेटा मुहम्मद) हुआ, जो इतिहास में शहाबुद्दीन गोरी नाम से प्रसिद्ध है।

शहाबुद्दीन ने हिन्दुस्तान जीतने का संकल्प किया। वह महमूद की तरह असाधारण आदमी नहीं था, तो भी हिम्मतवाला और दृढव्रती था। गज़नी लेने के बाद उसने उच्च के भाटी राजा की रानी को अपनी तरफ मिला कर वह राज्य हथिया लिया, और तब मुलतान और सिन्ध को भी जीत लिया। ११७८ ई० में उसने गुजरात पर चढ़ाई की। वहाँ का राजा मूलराज २य सोलंकी अभी बालक था। उसकी माँ ने आबू के नीचे कायद्राँ गाँव पर शत्रु का मुकाबला किया। गोरी बुरी तरह हार कर भाग गया, उसकी फौज का बड़ा अंश कैद हुआ। कैदियों को हिन्दू बना कर गुजरातियों ने अपने वर्गों में मिला लिया*।

† रूद माने नदी।

* इसका स्पष्ट विवरण तारीख़-ए-सौरठ में है।

हमने देखा है कि पृथ्वीराज अजमेर की राजगद्दी पर ११७९ ई० में बैठा था। यों उसके राज पाने के एक बरस पहले गोरी की सेना अजमेर राज्य की पच्छिमी सीमा पर से होती हुई आबू तक गई और लौटी थी। फिर भी पृथ्वीराज ने उधर से आँखें मूँद लीं, और उस दशा में भी जझौती के राज्य से, जिसने सुबुकतगीन और महमूद के मुकाबले के लिए शाहि राज्य की सहायता में अपनी सेनाएँ कुर्रम और अटक तक भेजीं थीं, मैत्री करने के बजाय युद्ध छेड़ा! वह आत्मघाती अन्धापन था।

गुजरात की तरफ दाल न गलती देख शहाबुद्दीन ने ठेठ हिन्दुस्तान की ओर मुँह फेरा। ग़ज़नी छिन जाने पर खुसरो लाहौर भाग आया था। गोरी ने **उसके बेटे से पंजाब भी** छीन लिया (११८५-८६ ई०)।

§ १८. देवगिरि के यादव—११५६ ई० के बाद कल्याणी का राज्य बिलकुल ढीला पड़ने लगा। उसके किनारों के प्रदेश धोरसमुद्र के यादवों और ओरंगल के काकतीयों ने दबा लिये थे। बाकी ठेठ महाराष्ट्र बचा। उसे भी ११८३ ई० में उत्तरी महाराष्ट्र के भिल्लम नामक यादव सरदार ने छीन लिया, और देवगिरि में अपनी राजधानी स्थापित की।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. विक्रमाङ्क चालुक्य कब कहाँ का राजा था? उसके समकालीन भारत के अन्य जनपदों में बड़े बड़े राजा कौन थे?

२. बंगाल-बिहार में सेन और कर्णाट राज्य कब कैसे स्थापित हुए?

३. कीर्त्तिवर्मा चन्देल कब कहाँ का राजा था? उसका विशिष्ट कार्य क्या है?

४. चन्द्र गाहड्वाल कौन था, कब हुआ और उसने क्या विशिष्ट कार्य किया?

५. निम्नलिखित का परिचय दीजिए—कुलोत्तुंग चोळ, अनंतवर्मा चोळगंग, कुमारपाल चालुक्य, गोविन्दचन्द्र गाहड्वाल।

६. बीसलदेव चौहान ने कब कहाँ राज्य किया? उसका विशेष कार्य क्या है? पृथ्वीराज चौहान का उससे क्या सम्बन्ध था?

७. पृथ्वीराज चौहान के माता-पिता का नाम लिखिए। पृथ्वीराज और बीसलदेव के कार्य की तुलना कीजिए। पृथ्वीराज ने जझौती पर चढ़ाई किन दशाओं में की?

अध्याय ७

पहले मध्य काल में बृहत्तर भारत

§१. **चीनहिन्द का ह्रास और अन्त**—हमने देखा है [५,४§१; ७,२§४] कि चीनहिन्द के उत्तरपूरबी छोर का भारतीय राज्य जो आधुनिक तुरफान के स्थान पर था, गुप्त युग के अन्त में अथवा मध्य काल के आरम्भ में हूणों या तुर्कों की चोटों से टूट गया था। वहाँ के बाकी सब भारतीय राज्य हूणों-तुर्कों से संघर्ष करते हुए बने रहे। ६३१ से ६५६ ई० तक चीन द्वारा मध्य एशिया से तुर्कों के उखाड़ दिये जाने पर वे चीन साम्राज्य की छत्रच्छाया में फलते फूलते रहे। किन्तु उत्तरपूरब की तुर्क बाढ़ रोकी ही गई थी कि दक्खिन-पच्छिम से अरब बाढ़ मध्य एशिया पर टकराने लगी। एक शताब्दी तक चीन और भारत की शक्ति उसके लिए बाँध का काम करती रही। अन्त में ७५१ ई० में वह बाँध टूट गया और अरबों के साथ तुर्क भी मध्य एशिया में फिर घुस आये। ७८० ई० में हज़ार बरस पुराना खोतन राज्य गिर पड़ा। चीन-हिन्द के बाकी भारतीय उपनिवेश भी प्रायः दो शताब्दियों तक और संघर्ष करने के बाद मिट गये। उस संघर्ष की कहानी भी अभी तक अंधेरे में है। तारीम के उत्तरी काँठे में उइगूर या विगूर नामक अल्तइक जाति आ बसी। १००० ई० के बाद चीनचिन्द में इस्लाम फैलता गया। वहाँ की आर्य जनता का खून तुर्कों और उइगूरों में मिलता गया और उसकी सभ्यता और संस्कृति को उन्होंने बहुत कुछ अपना लिया। उस मिश्रण की कहानी पर भी और प्रकाश पड़ना चाहिए।

§२. **चम्पा की अवनति**—गुप्त युग में परले हिन्द के चम्पा राज्य की राजधानी उसके अमरावती प्रान्त में इन्द्रपुर थी, जहाँ तब गंगराज वंश राज करता था। ७५० ई० में, अर्थात् प्रायः तभी जब कि भारत में पाल गंग प्रतिहार और राष्ट्रकूट वंशों का उदय हुआ, चम्पा में भी राजशक्ति एक दूसरे वंश के हाथ में चली गई जिसने दक्खिनी प्रान्त पाण्डुरंग में वीरपुर को राजधानी बनाया। इस वंश ने ८६० ई० तक राज किया जिसके बाद अराजकता छा गई। ८७५ ई० में वहाँ की प्रजा ने लक्ष्मीन्द्र उर्फ इन्द्रवर्मा नामक व्यक्ति को

अपना राजा चुना, जिससे नये राजवंश का प्रारम्भ हुआ। इसकी राजधानी फिर इन्द्रपुर रही।

चम्पा की उत्तरी सीमा पर तोङकिङ प्रदेश में आनामी या व्येतनमी लोग रहते थे जो कई शताब्दी पहले मध्य चीन तट के चेकियाङ प्रान्त से वहाँ आये थे। ९८० ई० में वे चीन से स्वतन्त्र हुए और तभी से चम्पा पर धावे मारने लगे। १००० ई० में चम्पा के राजा सिंहवर्मा को आनामियों के धावों के कारण अपनी राजधानी अमरावती के दक्खिन के विजय प्रान्त में लानी पड़ी। १०६९ में राजा रुद्रवर्मा ३य ने उत्तरी प्रान्त आनामियों को दे दिये।

आनामियों द्वारा चम्पा के दबाये जाने की तुलना गज़नवी तुर्कों द्वारा काबुल-पंजाब के भारतीय राज्य के दबाये जाने से की जा सकती है। उस राज्य

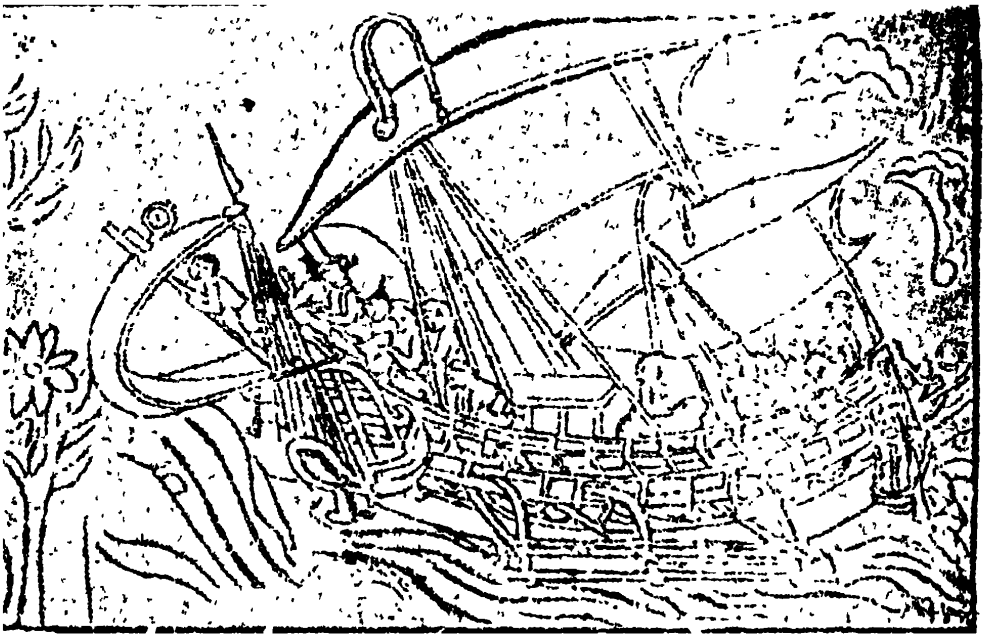


बोरोबुदुर मन्दिर, जावा, ८वीं शताब्दी ई०

से भी ९८६ ई० में सुबुकतगीन ने पहलेपहल कुछ किले छीने थे, और १००१ ई० में उसे अपनी राजधानी ओहिन्द से भेरा हटानी पड़ी थी। यों भारतीय राज्य-सीमा पच्छिमी और पूरबी दोनों किनारों से एक साथ पीछे ठेली जा रही थी।

§ ३. **कम्बुज का उत्कर्ष-युग**—कम्बुज-राष्ट्र के उदय तथा उसकी राजधानी ईशानपुर का उल्लेख पीछे हो चुका है [७, २§११]। आठवीं

शताब्दी के आरम्भ में उस राज्य के दो टुकड़े हो गये, समुद्रतट का प्रदेश दक्खिनी राज्य में रहा और भीतरी स्थल प्रदेश उत्तरी राज्य में। समुद्रतट का कम्बुज लग० ७७५ ई० में श्रीविजय [६,४§३; ७,२§१२] के आधिपत्य में चला गया। फिर ८०२ ई० में श्रीविजय के अधीन यवद्वीप (जावा) से जयवर्मा ने आ कर कम्बुज के दोनों खंडों को मिला कर वहाँ अपना राज्य स्थापित किया। नौवीं शताब्दी के अन्त में राजा यशोवर्मा (८८६–९०६ ई०) ने नई राजधानी यशोधरपुर की स्थापना की जो अब अंकोर-थोम कहलाती है। उसके उत्तराधिकारियों ने भी विशाल भवनों और मन्दिरों की रचना जारी रक्खी। बारहवीं



भारतीय उपनिवेश में मातृभूमि से जहाज का पहुँचना
[illegible]बुदुर मन्दिर का मूर्त्त दृश्य।

शताब्दी में आजकल का स्याम देश समूचा कम्बुज के अन्तर्गत था। उसके दक्खिनी प्रान्त की राजधानी लवपुरी (= आधुनिक लोपबुरी) [नक्शा ३] थी, तथा उत्तरी प्रान्त सुखोदय कहलाता था। उस शताब्दी के अन्त में कम्बुज के राजा जयवर्मा ७म (११८१–१२०१ ई०) ने समूचे देश में "आरोग्यशालाएँ" स्थापित कीं जिनपर संस्कृत का इस अर्थ का श्लोक खुदा है कि प्राणियों का जो दैहिक या मानसिक रोग है वह राष्ट्र का और उसके भर्त्ताओं (नेताओं) का

अपना दुःख है।

§४. श्रीविजय का साम्राज्य—श्रीविजय राज्य का उदय गुप्त युग में हुआ था। इस युग में वह क्रमशः साम्राज्य बनता गया। आठवीं शताब्दी में मलाया प्रायद्वीप और जावा जीत कर उसमें मिलाये गये; ७७५ ई० तक उसका दक्खिनी कम्बुज पर आधिपत्य हो गया। नौवीं शताब्दी के अन्त में पूर्वी जावा अलग हो गया, पर दसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में कटाह प्रदेश अर्थात् मलाया प्रायद्वीप श्रीविजय साम्राज्य में सम्मिलित था। ११वीं शताब्दी के आरम्भ में, जैसा कि हम देख चुके हैं, वहाँ के राजा संग्रामविजयोत्तुंगवर्मा से राजेन्द्र चोळ ने राज्य छीन लिया। १०६८ ई० में चोळों ने श्रीविजय पर आधिपत्य छोड़ दिया। उसके बाद की डेढ़ शताब्दी में श्रीविजय का साम्राज्य अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया [नक्शा २०]। १२२५ ई० में श्रीविजय के अधीन १५ राज्य थे।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. चीन-हिन्द में तुर्कों और अरबों का प्रवेश कब और कैसे हुआ?

२. चीन-हिन्द के भारतीय उपनिवेशों में इस्लाम कब से फैलने लगा?

३. चम्पा राज्य पर आनामियों ने कब धावे किये और उनका क्या परिणाम हुआ? इस प्रसंग में चम्पा की तुलना काबुल-पंजाब के शाहि राज्य से कैसे होती है?

४. ८वीं से १२वीं शताब्दी तक कम्बुज राज्य के उत्कर्ष का इतिहास लिखिए।

५. १३वीं शताब्दी के प्रारंभ में श्रीविजय साम्राज्य कहाँ तक फैला था?

६. इन पर टिप्पणी लिखिए—इन्द्रपुर, लवपुरी, सुखोदय, अंकोरयोम, कटाह, जयवर्मा ७म।

७. "पहले मध्य काल में बृहत्तर भारत" इस विषय पर दिग्दर्शनात्मक टिप्पणी लिखिए जो इस ग्रन्थ के एक पृष्ठ से बड़ी न हो।

अध्याय ८

पहले मध्य काल का भारतीय जीवन

§ १. राजनीतिक चैतन्य का ह्रास—गुप्त युग में भारतीय राज्यों के विस्तार की सीमाएँ जहाँ तक पहुँची थीं, इस युग में उन्हें वहाँ से किस प्रकार क्रमशः पीछे हटना पड़ा सो हमने देखा है। वह क्रमिक ह्रास की कहानी है। एक बार जो भूमि हाथ से गई उसे वापिस लेने का प्रयत्न नहीं किया गया। ५५० से ६२० ई० तक ह्रास थोड़ा है, उसके बाद एकाएक अधिक।

उस ह्रास के एक पहलू पर प्रकाश डालने वाली अनेक घटनाओं का उल्लेख भी पीछे आया है। अरबों ने सिन्ध पर चढ़ाई की तो सिन्धी लोग यह माने हुए थे कि देवल बन्दरगाह के मन्दिर के झंडे में जादू है, जब तक वह फहराता है कोई क्षति न होगी। वहाँ के विहार में ७०० भिक्षुणियाँ थीं। सिवी प्रदेश की जनता में बहुत लोग भिक्षु थे जो युद्ध के अवसर पर तमाशबीन बने रहे। सिन्ध के राजा चच और दाहर ने अपनी जाट प्रजा के साथ अन्याय किया था, अतः बहुत जाटों ने विदेशी का साथ दिया। मिहिर भोज और महेन्द्रपाल मुलतान को आसानी से ले सकते थे। पर कैसी तुच्छ बाधा से वे रुक जाते रहे! गज़नी में सुबुक्तगीन से लड़ने वाली जयपाल की सेना ने केवल अपने सोते का पानी गन्दा हो जाने से हार मान ली! महमूद की सोमनाथ चढ़ाई के अवसर पर वहाँ के लोग उसी शिवलिंग से प्रार्थना करते रहे कि हमारी रक्षा करो!

इन बातों से एक तरफ धर्म-कर्म में अन्ध विश्वास का बढ़ना प्रकट है तो दूसरी तरफ राजनीतिक चैतन्य का क्षीण होना। सिन्ध के जाटों ने जो मनोवृत्ति दिखलाई वह शासन का अन्याय बहुत बढ़ जाने और शासकों और शासितों के बीच वर्गविद्वेष उत्पन्न हो जाने से ही हो सकती थी। वह दशा भारत के दूसरे प्रान्तों में तब तक न थी। तो भी जनता की शासन के प्रति उपेक्षा क्रमशः बढ़ रही थी। उस दशा में जनता के पुराने निकायों—ग्राम श्रेणि निगम जनपद-संघ आदि—का क्या हुआ?

इस प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर हम नहीं दे सकते, क्योंकि मध्य काल में भारत के विभिन्न जनपदों में उन निकायों की दशा में क्रमशः परिवर्त्तन कैसे हुआ इसकी शृंखलाबद्ध खोज अभी बाकी है। जो झाँकियाँ मिली हैं उनमें अच्छे और बुरे दोनों पहलू हैं। एक तरफ हम देखते हैं कि प्रायः राज्यों का शासन नियमित और उदार रहा, और बहुत कुछ गुप्त शासन के ढाँचे पर चलता रहा। गाँवों की पंचायतें ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी तक सुसंघटित रहीं। चोळ राजाओं के अधीन प्रत्येक गाँव में बड़ी सभा होती, जिसके अलग अलग महकमों के लिए पाँच पाँच व्यक्तियों के वर्ग होते थे। उन सभाओं और वर्गों के चुनाव के नियम बारीकी से निश्चित किये गये थे। गाँव की खेती, सिंचाई, मन्दिरों की देखरेख, कर की वसूली, अपराधियों को पकड़ना सब पंचायत का काम था। मन्दिर उन पंचायतों के सभा-भवन का काम देते थे। साथ ही वे शिक्षा और पूजा के तथा कला की अनुभूति द्वारा मनोरञ्जन के भी केन्द्र थे। चोळ राज्य की शासन-पद्धति इन ग्राम-पंचायतों पर निर्भर थी। दूसरे राज्यों में भी पंचायतों का बहुत प्रभाव था। किन्तु प्राचीन काल की तरह क्या वे अपने नियम-कानून भी स्वयं बनातीं या पुरानी प्रथाओं के अनुसार ही चलने लगी थीं? क्या उनके अधिकारी वंशागत तो न होने लगे थे? इन प्रश्नों पर प्रकाश पड़ना बाकी है।

हम यह भी देखते हैं कि इस युग तक भी राजा देश की भूमि का मालिक न होता था। कश्मीर के इतिहास की एक मनोरंजक घटना इस प्रश्न पर प्रकाश डालती है। राजा चन्द्रापीड ने अपने प्रशासन में त्रिभुवनस्वामी का मन्दिर बनवाने की आज्ञा दी। कुछ काल बाद नवकर्माधिकारियों (इमारती महकमे के अधिकार्यों) ने सूचना दी कि मन्दिर की नींव पड़ चुकी है, पर एक चमार की कुटिया बीच में पड़ती है और वह उस ज़मीन को नहीं देता। राजा उन अधिकारियों से नाराज़ हुआ कि तुमने चमार से पूछे बिना नींव क्यों डाली और कहा कि अब दूसरी जगह इमारत शुरू करो। मन्त्रि-परिषद् ने यत्न करके चमार को राजा के सामने बुलवाया। तब राजा ने उससे पूछा, "हमारे पुण्यकार्य में तुम्हीं विघ्न बने हो? अपनी कुटिया के बदले में उससे

क़ीमती ज़मीन या घर क्यों नहीं ले लेते ?" चमार ने कहा, "राजन् आपके लिए जैसे आपका महल है, वैसे मेरे लिए वह कुटिया है जिसकी दीवार में फूटे घड़ों के मुँह लगा कर झरोखे बनाये गये हैं। वह मेरी माँ के समान जन्म से मेरे सुख-दुख की साक्षी है; उसका ढहाया जाना मुझसे देखा नहीं जाता। हाँ, यदि मेरे घर आ कर आप मुझसे उसे माँगें तो सदाचार के अनुरोध से मेरे लिए उसे देना ही उचित होगा।" राजा चन्द्रापीड ने तब उस चमार के झोपड़े पर जा कर भिक्षा माँगी और उस चमार ने दान का पुण्य और पुरस्कार पाया !

दूसरी तरफ, यह उल्लेखनीय है कि मध्य काल में किसी गण-राष्ट्र का नाम भी नहीं सुना जाता। प्राचीन काल में स्थानीय शासन जनता के निकायों के हाथ में था तथा राज्य और साम्राज्य उसी नींव पर खड़े होते थे। पर जनता जब अपने राजनीतिक कर्त्तव्यों और अधिकारों के लिए सजग नहीं रहती और अन्याय सहने को तैयार हो जाती है तब राजा द्वारा नियुक्त स्थानीय शासक जागीरदार उच्छृङ्खल हो उठते हैं। कश्मीर का इस काल का इतिहास पूरा मिलता है और उससे हम जानते हैं कि दसवीं शताब्दी से डामर अर्थात् जागीरदार सिर उठाने लगते हैं और धीरे धीरे राज्य की सब शक्ति उनके हाथों बँट कर छिन्न-भिन्न हो जाती है। ऐतिहासिक कल्हण उन्हें तस्कर (चोर) और दस्यु (डाकू) कह कर याद करता है। प्रकट है कि देश की राज्यसंस्था में ऐसी दशा पैदा हो रही थी जिसे उस काल के मेधावी बुरा मानते, तो भी रोकने का कोई उपाय न कर पाते थे।

नौवीं शताब्दी के अन्त में कश्मीर के राजा शंकरवर्मा ने युद्ध के अवसर पर रूढिभारोढि अर्थात् प्रजा के लिए भार ढोने की बेगार चलाई। वह भी उसी दशा की सूचक है। कौटल्य के अर्थशास्त्र से पता चलता है कि मौर्य युग में सामूहिक हित के कार्यों के लिए राजा ग्रामों श्रेणियों आदि से श्रम माँगता और उनके सब जवान श्रम देते थे। पर वह स्वेच्छाकृत सहयोग था और यह बेगार थी। सातवाहन युग में तमिळ और सिंहल राजाओं ने एक-दूसरे राज्य के युद्धकैदियों द्वारा बाँध आदि बनवाये थे [५,३ § ८], पर युद्धकैदियों से बेगार लेना एक बात थी, और अपनी प्रजा से दूसरी। रुद्रदामा

स्पष्ट लिखता है कि उसने गिरिनगर के सुदर्शन बाँध को प्रजा से बेगार लिये बिना फिर से बनवाया [५, २ § ७]।

जनता की अपने राज्य के कार्यों में उपेक्षा की दशा में एक और बात जो इस काल में चली वह थी राज्यों में भाड़ैत सेना का उपयोग। उसे हम कम से कम नौवीं शताब्दी के आरम्भ से अभिलेखों में पाते हैं। बंगाल तक के राज्यों में तुर्क भाड़ैत सैनिक आते थे, जिन्हें यहाँ के लेखों में हूण ही कहा है।* तुर्कों ने बाद में भारतीय राज्यों को आसानी से कैसे जीत लिया इसपर इससे प्रकाश पड़ता है।

दोनों पहलू देखते हुए यह कहना चाहिए कि इस काल के भारतीय राज्यों के सामने सुशासन के पुराने आदर्श चाहे बने हुए थे और उनका पतन बहुत नहीं हुआ तो भी उनकी प्रजा राजकीय मामलों की तरफ उपेक्षा करने लगी थी और उन राज्यों की प्रगति बन्द हो गई थी।

§ २. **बौद्ध सम्प्रदाय की अवनति, वज्रयान**—हर्षवर्धन के ज़माने में बौद्ध सम्प्रदाय उन्नति पर था, तो भी उसमें अवनति का बीज पड़ चुका था। कम से कम सिन्धु प्रान्त अर्थात् सिन्ध नदी के बिचले काँठे—मुलतान के पच्छिम के प्रदेश—में वह अवनति तभी स्पष्ट दिखाई देने लगी थी। य्वानच्वाङ का कहना है कि वहाँ के भिक्खु-भिक्खुनी निठल्ले कर्तव्य-विमुख और पतित थे। सिन्ध पर जब अरब आक्रमण हुआ तब वहाँ भी श्रमणों का निकम्मापन स्पष्ट प्रकट हुआ। दूसरे प्रान्तों की हालत अच्छी थी, पर वहाँ भी यह बुरी प्रवृत्ति शुरू हो चुकी थी। महायान में से एक नया पन्थ वज्रयान निकल आया। वह बौद्ध वाममार्ग छठी शताब्दी ई० में या और पहले आन्ध्रदेश के श्रीपर्वत में पहलेपहल प्रकट हुआ। महायान बुद्ध को जनता के उद्धारक रूप में देखता था। वज्रयान ने उसे "वज्रगुरु" बना दिया। वज्रगुरु वे उस आदर्श पुरुष को कहते थे, जिसे अलौकिक "सिद्धियाँ" प्राप्त हों। उन सिद्धियों को पाने के लिए अनेक

* ज० च० विद्यालंकार (१९३१)—भारतभूमि और उसके निवासी पृ० २१५; (१९४१, १९५५) भारतीय इतिहास की मीमांसा, पृ० ८८।

गुह्य साधनाएँ करनी पड़तीं। मन्त्रों अर्थात् गोप्य वाक्यों के बार बार दोहराने से भी वे सिद्धियाँ होती मानी जातीं, और वह मार्ग मन्त्रयान कहलाता। सातवीं से नौवीं शताब्दी तक वज्रयान के ८४ सिद्ध हुए। गोरखनाथ उन्हीं ८४ में से था। ७४७ ई० में नालन्दा महाविहार का आचार्य शान्तरक्षित निमन्त्रण पा कर तिब्बत गया। उसने वहाँ उड्डीयान प्रदेश (स्वात नदी की दून) [७,२§६] के राजकुमार पद्मसम्भव नामक सिद्ध को भी बुलवाया। पद्मसम्भव को तिब्बती अब भी अपना गुरु मानते हैं। फिर १०४०-४२ ई० में विक्रमशिला विहार से जो आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान् उर्फ अतिशा तिब्बत गया, वह तो स्वयं वज्रयानी था।

बौद्ध सम्प्रदाय की अवनति का मुख्य कारण उसके अंदर की ये नई प्रवृत्तियाँ थीं।

§ ३. **पौराणिक मत की अवनति**—इस काल के दार्शनिक आचार्यों की चर्चा हम आगे करेंगे। उन आचार्यों के ऊँचे ऊँचे वाद साधारण जनता के लिए नहीं थे। वह अपने देवताओं को ही पूजती रही। परन्तु जनता की वह सरल भक्तिमयी पौराणिक पूजा भी, जिसने सातवाहन और गुप्त युगों में नया जीवन जगाया था, अब आडम्बर से घिर गई। देवताओं के सुनहले मन्दिर बनने लगे; उनका साज-शृंगार होने लगा और उनकी पूजा भारी प्रपंच हो गई। जीवित देवता मानो जड हो गये। महायान से जैसे मन्त्रयान और वज्रयान पैदा हुए, वैसे ही शैव मत में पाशुपत और कापालिक, वैष्णव मत में गोपीलीला, शाक्त सम्प्रदाय में आनन्दभैरवी की पूजा और गाणपत्य सम्प्रदाय अर्थात् गणेश के उपासकों में हरिद्रागणपति और उच्छिष्ट गणपति की पूजा आदि घोर और अश्लील पन्थ चल पड़े। "सिद्धि" पाना अब सभी पन्थों में जीवन का मुख्य ध्येय बन गया। पद्मसम्भव और सिद्धराज जयसिंह के उदाहरण से हमने देखा है कि राजाओं तक का ध्यान "सिद्धियाँ" पाने की ओर लगा हुआ था। ये "अति मार्ग" या "वाममार्ग" पहले मध्य काल के पिछले अंश में विशेष रूप से बढ़े।

§ ४. **भक्त दार्शनिक और सुधारक**—अनेक भक्त दार्शनिक और सुधारक भी इस युग में हुए जिन्होंने धर्म के नाम पर होते पतन और जडपूजाओं से जनता का ध्यान हटाने का कुछ प्रयत्न किया। तमिळ देश में वैष्णव और

शैव भक्तों की परम्परा ही जारी रही। वैष्णव भक्त वहाँ आळवार और शैव भक्त नायन्मार कहलाते थे। उनकी तमिळ रचनाओं का वेद और उपनिषद् की तरह आदर किया जाता है।

सातवीं शताब्दी में कुमारिल नामक विद्वान् ने फिर से वैदिक यज्ञों को चलाना चाहा। फिर आठवीं शताब्दी के अन्त में केरल देश में शंकर नामक आचार्य प्रकट हुआ (जन्म ७८८ ई०)। कहा जाता है कि शंकर ने बौद्ध मत को भारत से उखाड़ दिया। सच बात यह है कि शंकर के विचारों पर बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु की पूरी छाप है। इसी कारण शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहते हैं। और चूँकि शंकर ने अपने दर्शन में बौद्धों की मुख्य बातें अपना लीं, इसलिए बौद्ध दर्शन अनावश्यक सा हो गया। शंकर ने घूम घूम कर सारे

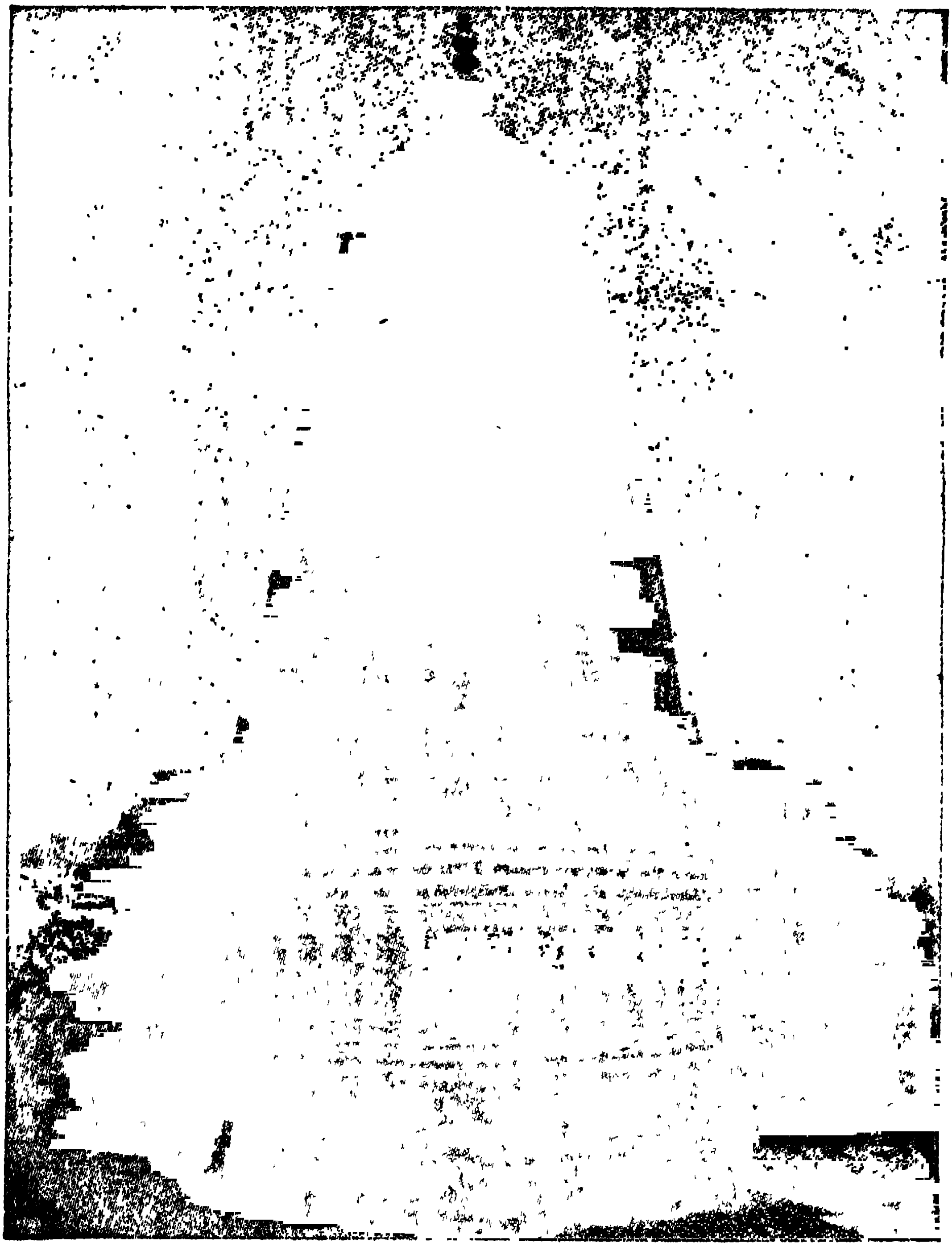


बिन्दु सरोवर के किनारे लिंगराज और अन्य मन्दिर, भुवनेश्वर, जि० पुरी [भा० पु० वि०]

भारत में अपने मत का प्रचार किया। कहते हैं एक बार मंडन मिश्र नाम के विद्वान् से शंकर का शास्त्रार्थ हुआ, जिसमें मंडन की विदुषी स्त्री भारती मध्यस्थ बनाई गई, और उसने अपने पति के विरुद्ध फैसला दिया! शंकर ने भारत के चार कोनों में अपने चार मठ स्थापित किये—एक केरल में शृंगेरी मठ, दूसरा

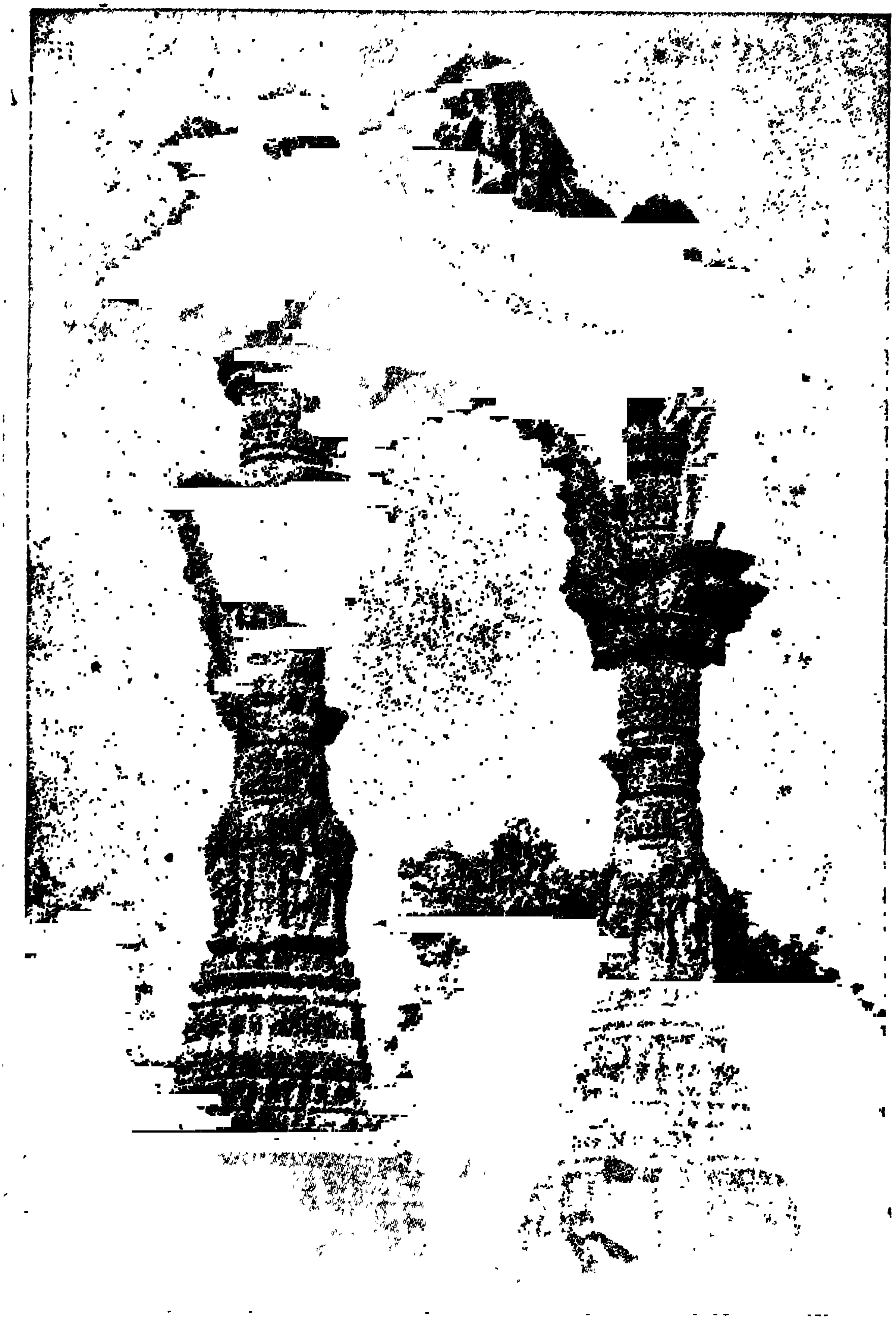
गढ़वाल में बदरिकाश्रम, तीसरा पुरी में और चौथा द्वारिका में। भारतवर्ष के समूचे विचार पर शंकर का गहरा प्रभाव पड़ा।

कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के ज़माने में (८५५–८८३ ई०) वहाँ



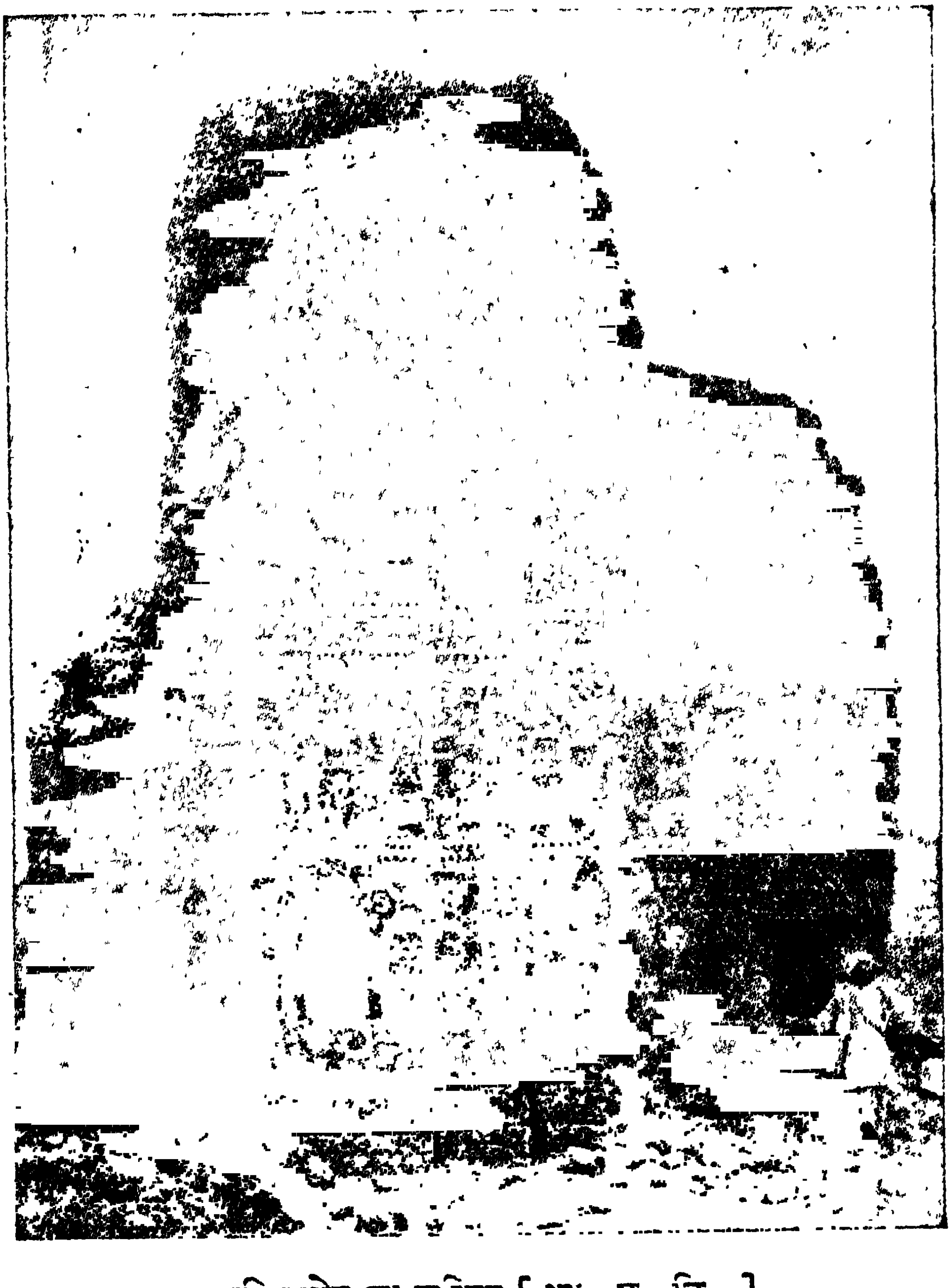
उदयपुर (मालवा) में उदयादित्य का उदयेश्वर मन्दिर [ग्वालियर पु० वि०]

शैव सम्प्रदाय में सुधार की एक और लहर चली। फिर वहीं के राजा शंकरवर्मा (८८३–९०२ ई०) ने अपनी आय बढ़ाने के लिए जो उपाय किये, उनमें



वडनगर (गुजरात) के एक मन्दिर का तोरण, सोलंकी राज्यकाल का।
[राय कृष्णदास के सौजन्य से]

मन्दिरों की जायदाद जब्त करना भी एक था। शंकरवर्मा ने वह कार्य सुधार की दृष्टि से न किया हो तो भी यह कहना होगा कि उसकी आँखों पर अपने सम-



काफ़िरकोट का मन्दिर [भा० पु० वि०]

कालिकों जैसा अन्ध विश्वास का पर्दा छाया हुआ न था। और उसके कार्य से कुछ लोगों की आँखें अवश्य खुली होंगी।

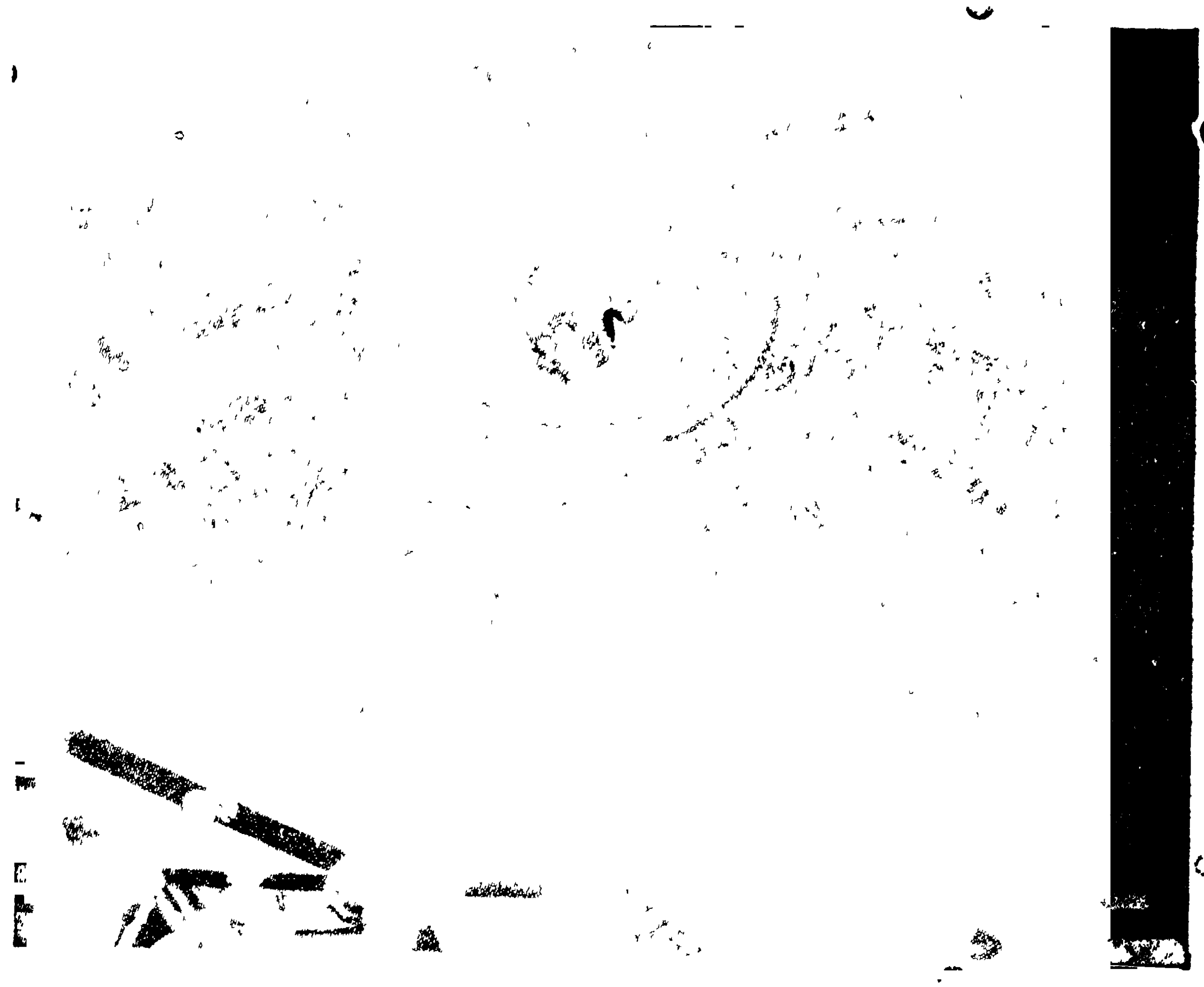
शंकर के विचारों के आगे दो-तीन शताब्दियों तक दूसरी कोई विचार-

पद्धति टिकने न पाई। किन्तु वह प्रच्छन्न बौद्ध था। आस्तिक लोग धीरे धीरे अनुभव करने लगे कि उसकी पद्धति में भक्ति को स्पष्ट और यथेष्ट स्थान नहीं है। इसी कारण पीछे ग्यारहवीं शताब्दी से आस्तिक विद्वान् उसके विरोध में आवाज़ उठाने लगे। उस विरोध का पहला नेता रामानुज था जिसका जन्म तमिळ देश में १०१६ ई० में हुआ। रामानुज वैष्णव भक्त था और उसने तिरुचिरपल्ली के पास कावेरी के टापू में स्थित श्रीरंगम् मन्दिर को अपना मुख्य स्थान बनाया था। उस युग में उस प्रदेश के चोळ राजा शिव के उपासक थे, और राजा कुलोत्तुंग १म के पीडन से रामानुज को श्रीरंगम् छोड़ना पड़ा था।

ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में—कीर्तिवर्मा चन्देल, विक्रमांक चालुक्य, चन्द्र गाहड्वाल और सिद्धराज जयसिंह के ज़माने में—कश्मीर के राजा हर्ष (१०८९–११०१ ई०) ने एक "देवोत्पाटन-नायक" अर्थात् मन्दिर उखाड़ने वाला अधिकारी रक्खा, जिसका काम था देवमन्दिरों को चुपके चुपके बिगड़वा देना, और जब लोग उन्हें पूजना छोड़ दें तब जब्त कर लेना। प्रायः तभी कर्णाटक में लिंगायत या वीरशैव नाम का सुधार-पन्थ चला। अपने अच्छे अंश के कारण ही पौराणिक सम्प्रदाय में अब तक इतनी शक्ति बची रही कि वह सातवीं से बारहवीं शताब्दी तक इस्लाम का प्रायः सफलता से सामना करता रहा। यह भी जानना चाहिए कि अन्ध विश्वास में मुसलमान भी हिन्दुओं से बहुत पीछे न थे। महमूद के बेटे मसऊद के राज्य पर सेलजुकों का हमला होने पर उसने शुरू में उनका मुकाबला इसलिए नहीं किया कि पच्छिमी तारा उसके प्रतिकूल था!

§५. **ललित कला**—धार्मिक श्रद्धा से कहीं अधिक ललित कला की रुचि थी जो बड़े बड़े मन्दिर बनाने की प्रेरणा देती थी। पिछले कई युगों से देश में पूँजी जमा हो रही थी। वह फालतू पूँजी अब सुन्दर और विशाल मन्दिर बनाने और अन्य कारीगरी के कामों में खर्च हुई। यह भी एक कारण था कि महमूद के अनेक मन्दिर ढहाने और लूटने से भी हिन्दुओं की वह प्रवृत्ति दबने न पाई। गुजरात के चालुक्य राज्य के दक्खिनी छोर पर महमूद जब सोमनाथ को ढहा रहा था, तभी उसी राज्य के उत्तरी छोर पर आबू के पास देलवाड़ा का वह विशाल मन्दिर खड़ा हो रहा था जो संगमरमर की बारीक

नक्काशी के काम में भारत भर में अनूठी रचना है ! और स्वयं महमूद ने क्या अपनी लूट के बड़े अंश को गज़नी के भव्य महलों और मसजिदों पर खर्च न कर दिया ? और पीछे के विजेताओं ने क्या उनकी वही गति न की जो महमूद ने सोमनाथ की की थी ?



विमलवसही (विमलशाह का बनवाया मन्दिर, १०३१ ई०) देलवाड़ा, आबू की छत का दृश्य [भा० पु० वि०]

ललित कला के उत्कर्ष में इस युग के भारतवासियों ने सचमुच कमाल किया। किन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि वह उत्कर्ष तीसरे कन्नोज साम्राज्य के उत्कर्ष-काल (९१६ या लग० ९२० ई०) तक ही रहा। तभी पहले मध्य काल का पूर्वांश पूरा होता है। भारतीय स्थापत्य और मूर्तिकला इस काल में अपने सबसे मनोरम रूप में प्रकट हुईं। गुप्त-युग का सा ओज और सरलता उनमें

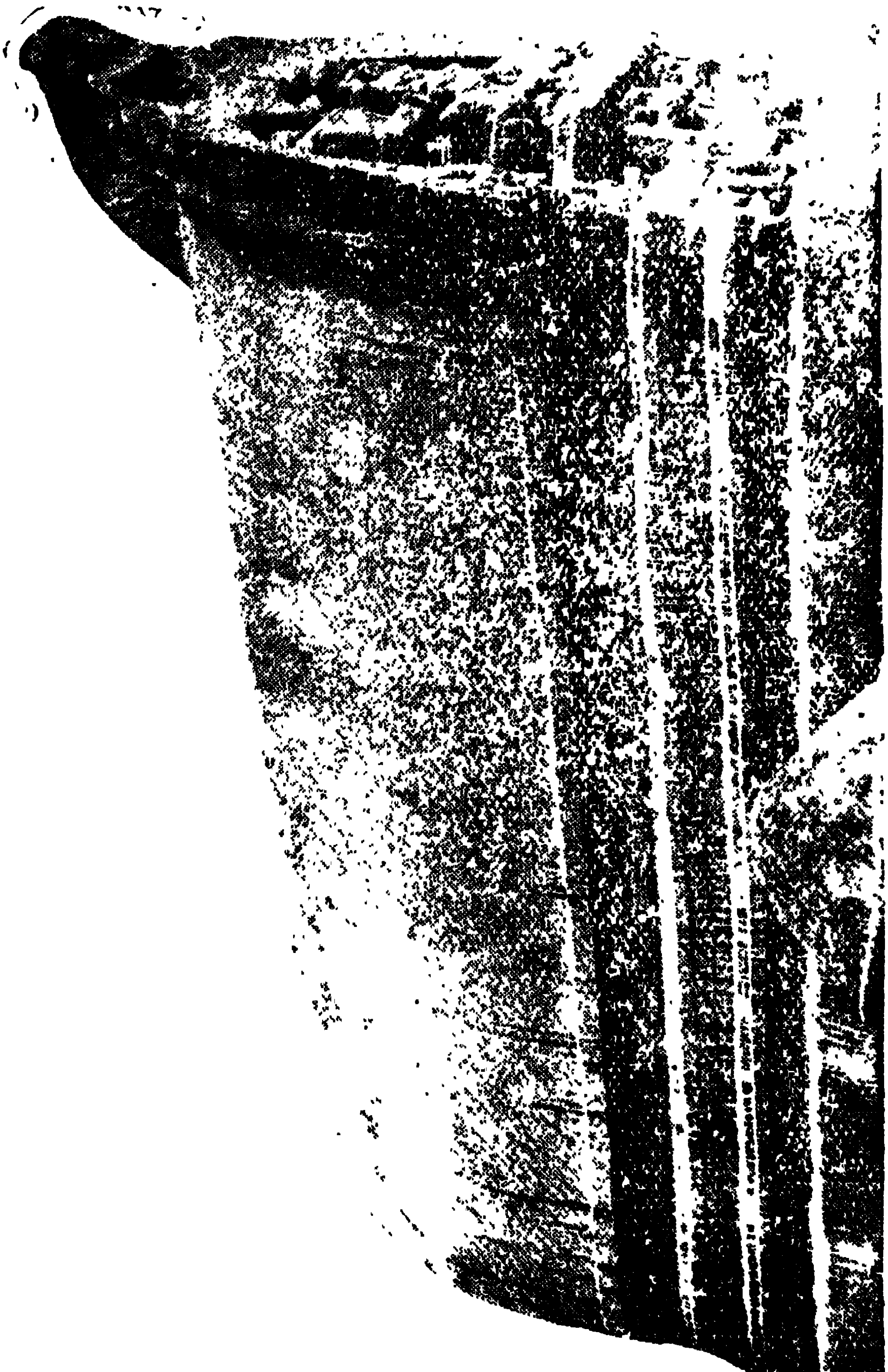
नहीं है, पर लालित्य पूरा है, और विशालता अद्भुत है।

गुप्त युग तक के गुहामन्दिर पहाड़ों में काटी हुई गुफाएँ ही थे। मौर्य युग की लोमश ऋषि की गुफा आरम्भिक वस्तु थी। सातवाहन युग की भाजा कार्ले आदि की लेणों और रानीगुम्फा हातीगुम्फा आदि में उस कला की आगे उन्नति दिखाई देती है। वाकाटक-गुप्त युग की अजिंठा और बामियाँ की गुहाओं में वह शिल्प एक दर्जा और आगे बढ़ा। इस काल में टीले के टीलों को काट कर मन्दिर का रूप दिया गया। मामल्लपुरम् के रथ और वेरूल का कैलाश-मन्दिर उस प्रकार की कृतियाँ हैं। मुम्बई के पास घारपुरी ("एलिफेंटा") की गुफा भी आठवीं शताब्दी की उसी शैली की रचना है। गुप्त काल के गुहा-चैत्यों और मामल्लपुरम् के रथों के बीच की विकास-प्रक्रिया चेज़र्ला (जि० गुंटूर) के कपोतेश्वर मन्दिर से प्रकट होती है। वह भी एक समूचे टीले का रूपान्तर है। इन रथों की मूर्त्तिकला भी वैसी ही अद्भुत है। पौराणिक कथानकों के मूर्त्त दृश्य पत्थर में कांट दिये गये हैं। उन दृश्यों में प्रत्येक पात्र की मुद्रा ठवन और भाव उसके अनुरूप है। भारत और बृहत्तर भारत के किसी भी प्रान्त से इस युग की पत्थर या धातु की जो मूर्त्तियाँ मिलती हैं, उनमें अनोखा सौन्दर्य दिखाई देता है।

इसी युग में श्रीविजय के बौद्ध शैलेन्द्र राजाओं ने जावा के बोरोबुदुर स्थान में वे अनोखे मन्दिर बनवाये जिन्हें "पत्थर में तराशे हुए महाकाव्य" कहा जाता है। नौवीं शताब्दी के अन्त में पूर्वी जावा के स्वतन्त्र शैव राजा दक्ष ने प्राम्बनन के मन्दिर बनवाये, जिनपर रामायण की सारी कहानी मूर्तियों में चित्रित है। कम्बुज के राजा यशोवर्मा (८८६-६०६ ई०) ने यशोधरपुर की स्थापना तभी की थी।

अजिंठा और सिद्धनवासल की लेणियों के चित्रों का उल्लेख हो चुका है। मालवे में बाघ के गुहामन्दिरों में, सिंहल के सीगिरिय (श्रीगिरि) नामक स्थान में और चीन-हिन्द में दन्दान-ऊलिक मीरान आदि के अवशेषों में सातवीं शताब्दी की भारतीय चित्रकला के सुन्दर नमूने पाये गये हैं। वेरूल के मन्दिरों में भी भित्तिचित्र हैं, पर उनमें कला का ह्रास दिखाई देता है।

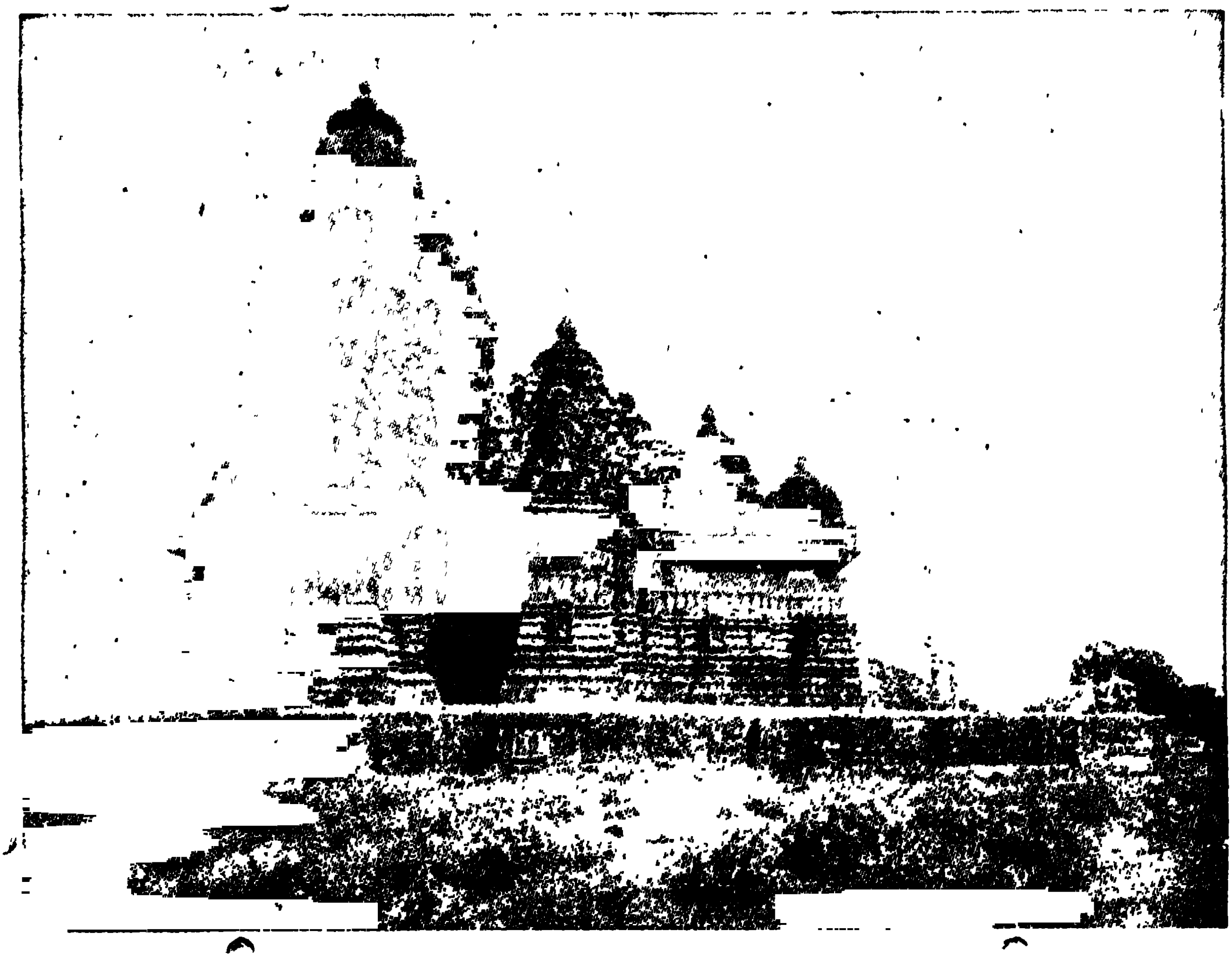
पहले मध्य काल के उत्तरांश में अर्थात् ६२० ई० के बाद से कला का



कपोतेश्वर मन्दिर, चेजर्ला [भा० पु० वि०]

चौमुखा ह्रास है। अलंकरण हद से अधिक है। कारीगरी का चमत्कार दिखाना शिल्पियों और उनके आश्रयदाताओं का मुख्य उद्देश प्रतीत होता है। उन

पहलुओं में अर्थात् रचनाओं की विशालता और बारीक सजावट में वे सचमुच कमाल कर दिखाते हैं। पर उनकी कृतियों में जान नहीं है। तो भी पुराने अभ्यास से अनेक सुन्दर और अद्भुत रचनाएँ रची गई हैं। तांजोर का राजराजेश्वर मन्दिर उड़ीसा में भुवनेश्वर के मन्दिर खजुराहो में चन्देल राजाओं के बनवाये मन्दिर डेराइस्माइलखाँ जिले में काफिरकोट का मन्दिर और मालवे में उदयादित्य का मन्दिर आदि इस युग की कला के कुछ नमूने हैं। देलवाड़े



कंडरिया महादेव, खजुराहो [भा० पु० वि०]

की विमलवसही अलंकृति की परा काष्ठा में कमाल की कृति है। समूचा मन्दिर संगमरमर का है और उसमें एक अंगुल जगह भी नक्काशी से खाली नहीं है! कम्बुज की राजधानी यशोधरपुर (अङ्कोर थोम) में १२वीं शताब्दी के प्रारम्भ में एक वैष्णव मन्दिर बना, जिसकी कारीगरी देख कर आज भी सभ्य जगत् के लोग चकित होते हैं। वह मन्दिर अब अंकोर-वाट अर्थात् नगर का



कुर्किहार, ज़ि० गया, से पाई गई कांस्य बोधिसत्त्व-मूर्त्ति—पहले पाल युग में मगध की मूर्त्तिकला का नमूना [पटना संग्र०]

मन्दिर कहलाता है। उसमें भी प्राम्बनन के मन्दिरों की तरह रामायण की समूची कहानी मूर्त्त दृश्यों में अंकित है।

उड़ीसा खजुराहो काठमांडू आदि के इस युग के मदिरों की एक विशिष्टता उनमें की अश्लील मूर्त्तियाँ हैं। मन्दिरों को युगल मूर्तियाँ से सजाने की प्रथा भारतीय कला में आरम्भ से थी। उनकी यह परिणति वाममार्ग के प्रभाव से हुई, जो धर्म-कर्म के साथ ही कलाभिरुचि और सामाजिक आचार के भी पतन की सूचक थी। पर अच्छी मूर्तियाँ भी बनती रहीं। दक्खिन भारत में नटराज की प्रसिद्ध कांस्य-मूर्त्तियाँ भी इसी युग के अन्त में बनने लगीं।

§६. चित्रकला की अपभ्रंश शैली—दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी से भारतीय कला का "ह्रास सर्वतोमुख सड़ान और अधःपतन को पहुँच" गया। चित्रकला में वह बहुत स्पष्ट दिखाई दिया। हस्तलिखित पुस्तकों में इस युग के हज़ारों चित्र पाये जाते हैं, जिनमें अंकित प्राणियों के अंग-प्रत्यंग जकड़े से लगते हैं, जिनकी शैली अतिरंजित रूढिग्रस्त और निर्जीव है। इस शैली का आरम्भ शायद गुजरात से हुआ, पर वहाँ से यह भारत के मुख्य भाग में और बृहत्तर भारत में—श्रीक्षेत्र सुखोदय और कम्बुज अर्थात् आधुनिक बरमा और स्याम में—भी फैल गई। इस शैली को कई नाम दिये गये हैं, पर अपभ्रंश शैली इसका सबसे ठीक नाम है।

पाल राजाओं के राज्य में अर्थात् बंगाल बिहार नेपाल में इसी की समकालीन एक और शैली चलती रही जिसके चित्र प्रायः वहाँ की ताळपत्रों पर लिखी पोथियों में पाये जाते हैं। रूढि का प्रभाव इसमें भी है, तो भी इसके चित्र उतने निर्जीव नहीं लगते। यह पाल शैली नेपाल से तिब्बत भी पहुँची और वहाँ से चीन भी। इसी से मिलती हुई कश्मीर की भी अपनी शैली बनी रही।

§७. पहले मध्य काल का ज्ञान और वाङ्मय—भारतीय मस्तिष्क की प्रगति रुकना—ज्ञान और वाङ्मय के क्षेत्रों में ऊँची चेष्टा की परम्परा भी गुप्त युग के साढ़े तीन शताब्दी बाद तक अर्थात् पहले मध्य काल के पूर्वांश में जारी रही।

छठी शताब्दी में ज्योतिषी वराहमिहिर हुआ, सातवीं में ब्रह्मगुप्त और आठवीं में लल्ल। ब्रह्मगुप्त और लल्ल ने आर्यभट की स्थापनाओं का, विशेष कर पृथ्वी के सूर्य के चौगिर्द घूमने के सिद्धान्त का विरोध किया! उसके बाद उन्हीं के मत का प्रचार रहा। वास्तव में आर्यभट के विचार अपने युग से इतने आगे थे कि लोगों का उन्हें मान लेना कठिन था। किन्तु १२वीं शताब्दी में भास्कराचार्य ने उनका फिर प्रतिपादन किया। भास्कर की पत्नी लीलावती भी बड़ी गणितज्ञा थी। गणित और ज्योतिष में इस काल में भारत का ज्ञान दूसरे देशों से ऊँचे स्तर पर रहा। तो भी आर्यभट के विचारों से आगे बढ़ने के बजाय वह पुराने विचारों तक परिमित रहा।

वैद्यक में गुप्त युग तक बहुत काफी उन्नति हुई थी। पहले मध्य काल के पूर्वांश में भारतीयों का ज्ञान उससे कुछ आगे बढ़ा। चरक और सुश्रुत धमनियों की तरह ज्ञाननाडियों का केन्द्र भी हृदय को मानते थे जो कि गलत था। इस काल के हठयोगी और तान्त्रिक आचार्यों ने यह ठीक पहचान लिया कि ज्ञाननाडियों का केन्द्र मस्तिष्क है और कि उसका मेरुदण्ड से सम्बन्ध है।

दर्शन के क्षेत्र में मौखरि-हर्ष युग में विचारों का मथन खूब होता रहा। बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु और दिङ्नाग गुप्त युग में हुए थे। दिङ्नाग के उत्तर में उद्योतकर ने न्यायवार्त्तिक लिखा। तभी कुमारिल भट्ट ने अपना श्लोकवार्त्तिक लिखा। उन दोनों का उत्तर बौद्ध धर्मकीर्त्ति ने "प्रमाणवार्त्तिक" में दिया जिसके विचारों में खूब ताज़गी और स्पष्ट-चिन्तन है। धर्मकीर्त्ति की कृति लग० ६७५ ई० से पहले नालन्दा में पढ़ाई जाने लगी थी। आगे चल कर वाचस्पति मिश्र ने उसके उत्तर में तात्पर्यटीका लिखी। आठवीं शताब्दी मध्य के बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित और नौवीं के आरम्भ के शंकराचार्य का उल्लेख हो चुका है। शंकर के विचार वसुबन्धु के साँचे में ढले हैं। किन्तु इस काल की सब दार्शनिक विवेचना पुराने विचारों के भाष्य वार्त्तिक वृत्ति और टीकाओं के रूप में थी। शंकर का समकालिक कश्मीरी दार्शनिक जयन्त भट्ट सीधे शब्दों में कहता है कि "हममें नई वस्तु की उत्प्रेक्षा (कल्पना) करने की क्षमता कहाँ है?' दार्शनिक उत्प्रेक्षा की नींव वैज्ञानिक प्रेक्षा (देखभाल) होती है। जाँचे परखे हुए तथ्यों के आधार पर की हुई उत्प्रेक्षा में बल होता है। मध्य काल में हमारे देश में विज्ञान की प्रगति रुक गई। उस दशा में जो दार्शनिक चिन्तन चलता गया उसमें क्रमशः बाल की खाल उधेड़ने की प्रवृत्ति बढ़ती गई।

वही बात स्मृति वाङ्मय के सम्बन्ध में है। जनता की संस्थाएँ अपने अपने "चरित्र" स्वयं बनाने में ढील करने लगीं, तब राजा लोग पुरानी परम्पराओं या अपनी इच्छा के अनुसार शासन करने लगे, और कानून के पंडित पुरानी स्मृतियों की व्याख्या करने लगे। विज्ञानेश्वर की याज्ञवल्क्य स्मृति पर मिताक्षरा टीका का उल्लेख हो चुका है। उस तरह की कानूनी टीकाएँ इस युग में और भी लिखी गईं, पर मिताक्षरा ने बड़ा नाम पाया, और आज तक

भारत के बड़े अंश में हिन्दुओं का सामाजिक और पारिवारिक कानून उसी के अनुसार चलता है।

कवियों में भवभूति जिसे यशोवर्मा की सभा से ललितादित्य कश्मीर ले गया था, अपनी रचनाओं में कालिदास से टक्कर लेता है। प्रतिहार राजा महेन्द्र-



सुहानिया (ग्वालियर राज्य) से पाई गई सरस्वती-मूर्त्ति—आरम्भिक मध्य युग की।
[ग्वालियर पु० वि०]

पाल (८९१-९०७ ई०) के गुरु कवि राजशेखर की रचनाओं में कालिदास का सा प्रकृति-प्रेक्षण और काफी ताज़गी है। उसके बाद स्पष्ट अवनति है। कन्नौज के राजा जयचन्द्र के दरबारी कवि श्रीहर्ष की रचना में हमें पिछली अलंकारों से लदी कविता का ठीक नमूना मिलता है।

कश्मीरी कवि कल्हण ने ११४९ में राजतरंगिणी नामक कश्मीर का इतिहास लिखा, जो भारतीय साहित्य का रत्न है। वह भी पहले मध्य काल के उत्तरांश की कृति है, फिर भी उसमें बड़ा सीधापन मौलिक चिन्तन और स्पष्टोक्ति है।

साधारण रूप से यह कहना चाहिए कि इस काल की रचनाओं में मौलिकता और ताज़गी क्रमशः घटती गई। कविता में कला की तरह सहज सुन्दरता का स्थान अलंकारों की भूषा ने ले लिया; दर्शन में नये विचार के बजाय बाल की खाल उधेड़ना शुरू हो गया; विज्ञान की प्रगति रुक गई, और कानून के लेखक अपना काम केवल पुराने शास्त्रों की व्याख्या करना समझने लगे। भारतीय विचार आगे बढ़ना छोड़ कर जहाँ तक पहुँच चुका था उतने में ही चक्कर काटने लगा।

परन्तु विचार की प्रगति बन्द हो जाने पर भी इस युग में विद्या और शिक्षा का प्रचार खूब रहा। मगध के विहार बौद्ध शिक्षा के बड़े केन्द्र थे। उनमें सुदूर देशों से विद्यार्थी आते थे। सन् ६७५ से ६८५ ई० तक इ-चिङ नामक चीनी विद्वान् नालन्दा में रह कर पढ़ा। उस काल में वहाँ पर ३५०० से ५००० तक छात्र पढ़ते थे। इ-चिङ ने वहाँ बैठ कर एक संस्कृत-चीनी कोश तैयार किया, जो अब भी प्राप्य है और एशिया के वाङ्मय का अमूल्य रत्न है। आठवीं शताब्दी मध्य के, गौडराज गोपाल के ज़माने के तिब्बत को सभ्यता सिखाने वाले नालन्दा के आचार्य शान्तरक्षित का उल्लेख हो चुका है [ऊपर § २] शान्तरक्षित ने नालन्दा विहार के ही नमूने पर तिब्बत में सम्ये विहार स्थापित कराया। नालन्दा के ही नमूने पर जापान में नारा विहार बना। जापानी लोग इसी युग में बौद्ध शिक्षा पा कर



"नालन्दामहाविहारीयार्यभिक्षुसंघस्य" नालन्दा की खुदाई में पाई गई नालन्दा विद्यापीठ की मुहर, असल परिमाण। [भा० पु० वि०]

सभ्यता के पथ पर आगे बढ़े।

आठवीं शताब्दी के अन्त और नौवीं के आरम्भ में खलीफ़ा हारूँल-रशीद के दरबार में भारत से ज्ञान की ज्योति कैसे पहुँची सो भी कहा जा चुका है। नौवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में गौडराज देवपाल (८१०–८५१ ई०) ने श्रीविजय के राजा बालपुत्रदेववर्मा की प्रेरणा से नालन्दा में एक और विहार बनवाया, और नगरहार (= निंग्रहार, अफगानिस्तान) [४, ३§३; ७, २§६] के अफगान



समये विहार [राहुल जी के सौजन्य से]

विद्वान् वीरदेव को उसका मुख्य आचार्य नियत किया। वीरदेव ने नगरहार में ही वेद पढ़े थे, फिर पेशावर के कनिष्क महाविहार में आ कर त्रिपिटक और बौद्ध दर्शन का अध्ययन किया था। उसकी विद्वत्ता की कीर्त्ति

दूर देशों तक फैल गई। वह "वज्रासन" (बुद्ध के ध्यानावस्थित होने के स्थान) की वन्दना करने "महाबोधि" (बुद्ध-गया) आया, और वहाँ से अपने सहदेशी—अफगानिस्तान के—विहार में रहने वाले भिक्षुओं और छात्रों से मिलने गया, जब कि राजा देवपाल ने वहाँ उपस्थित हो कर उससे "नालन्दा के परिपालन" की प्रार्थना की, जो उसने मान ली। यह ध्यान देने की बात है कि नौवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भी जब कि सिन्ध में इस्लाम स्थापित हो चुका था, अफगानिस्तान में वेदों और त्रिपिटक का गहरा अध्ययन जारी था, और वहाँ के विद्वानों और छात्रों का भारत के केन्द्र से सम्पर्क बना हुआ था, जिसका दूसरी ओर सुमात्रा जावा और चीन तक से भी घनिष्ठ सम्पर्क था।

राजा भोज और चेदिराज कर्ण के ज़माने में तिब्बत जाने वाले विक्रमशिला के आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान उर्फ़ अतिशा का भी उल्लेख हो चुका है [७, ५ § १३ तथा ऊपर § २]। तब तक श्रीविजय भी विद्या का बड़ा केन्द्र बन चुका था। स्वयं अतिशा तिब्बत जाने से पहले श्रीविजय के आचार्य धर्मकीर्ति के पास गया था।

मगध और श्रीविजय जैसे बौद्ध शिक्षा के केन्द्र थे, वैसे ही कन्नौज वैदिक और पौराणिक का। कन्नौज के ब्राह्मणों ने इस युग में दूसरे प्रान्तों में भी जा जा कर वैदिक और पौराणिक रीतियों को स्थापित किया। कवियों और विद्वानों की खान के रूप में कश्मीर ने इस युग में बड़ी प्रसिद्धि पाई।

मालवे के राजा भोज का नाम विद्या-प्रचार के लिए आज तक प्रसिद्ध है। भोज ने सब प्राचीन विद्याओं का फिर से सम्पादन और संकलन करवाने का प्रयत्न किया। उसने धारा में एक बड़ा विद्यालय बनवाया जिसकी इमारत अब नहीं बची। दिल्ली के विजेता बीसलदेव चौहान ने भी अजमेर में वैसा ही विद्यालय बनवाया; उसकी इमारत अब अढ़ाई दिन का झोंपड़ा कहलाती है।

§ ८. अपभ्रंश और देशी भाषाएँ—संस्कृत और प्राकृतों में तो पढ़ना-लिखना चलता ही था, पर इस काल में प्राकृतों के 'अपभ्रंश' बने और फिर उनसे हमारी वे 'देशी भाषाएँ' निकलीं जो आज तक बोली

जा रही हैं। हेमचन्द्र नामक जैन आचार्य सिद्धराज जयसिंह के गुरु के समान



'अढ़ाई दिन का झोंपड़ा', अजमेर [भा० पु० वि०]

था। उसने प्राकृतों का वैसा ही व्याकरण लिखा जैसा पाणिनि ने संस्कृत का लिखा था। ८४ सिद्धों के गीत और दोहे अपभ्रंश और 'देशी भाषा' में हैं। उन सिद्धों की वाणियों के तिब्बती अनुवाद भी हैं। तमिळ वाङ्मय सातवाहन युग से शुरू हुआ था। अब उसमें वैष्णव और शैव भक्तों ने अनेक रचनाएँ कीं। तेलुगु वाङ्मय भी पूरबी चालुक्यों के प्रोत्साहन से दसवीं शताब्दी में शुरू हुआ।

गुप्त युग में जैसे तुखारी और खोतनदेशी भाषाओं में वाङ्मय प्रकट हुआ था, वैसे ही आठवीं शताब्दी से जावा की देशी भाषा में संस्कृत के प्रभाव से ग्रन्थ लिखे जाने लगे। उस भाषा को 'कवि' कहते हैं। बारहवीं शताब्दी उसके साहित्य का स्वर्ण-युग रही।

ध्यान रहे की हमारी विद्यमान देशी भाषाओं के साहित्यों की नींव ऐसे युग में पड़ी जब कि हमारा राष्ट्र अवनति-मुख था, जब कि उसकी आँखें मुँदी सी और हिम्मत बुझी सी थी, और जब कि वह खुल कर मौलिक दृष्टि से विचारने और बोलने के बजाय केवल पुरानी परम्परागत बातें दोहराता था।

§९. **सामाजिक जीवन, जात-पाँत का उदय**—विचारों की प्रगति और प्रवाह बन्द होने का प्रभाव भारतीयों के सामाजिक जीवन पर भी पड़ा और उससे जात-पाँत की सृष्टि हुई। जात-पाँत का आरम्भ वस्तुतः इसी काल के अन्त में आ कर हुआ। प्राचीन काल के समाज में भी ऊँचे नीचे स्तर या वर्ग थे, पर उनमें खानपान विवाह की रुकावट न थी। वाकाटक-गुप्त युग में कादम्ब मयूर-शर्मा के वंशज किस प्रकार वर्मा बन गये सो हमने देखा है [६, १ § ६]। वाकाटकों का पूर्वज भी ब्राह्मण था। गुप्त राजाओं का पूर्वज किस वर्ण का था सो हम नहीं जानते। पर गुप्तों वाकाटकों कादम्बों में बराबर विवाह-सम्बन्ध होते रहे। पहले मध्य काल के पूर्वांश में भी भारतीयों का दूर दूर देशों में जाना-आना बना हुआ था। खानपान के बहुत परहेज़ों और छूतछात के रहते वैसा न हो सकता था। पर दसवीं शताब्दी से संकीर्णता आने लगी। जब धर्म का तत्त्व पूजापाठ और खानपान-स्नान के नियमों में रह गया तब मजदूर वर्ग का, जिसे उतने पूजापाठ के लिए फुरसत न थी, कुलीन

वर्गों से अन्तर बढ़ता गया। अपने बराबर वालों में ही ब्याह-शादी की जाय, ऐसा रुझान लोगों में सदा से रहा है। पर १२वीं शताब्दी से भारत में एक नई बात होने लगी। जीवन में संकीर्णता आ जाने के कारण लोगों को दूर के और अपरिचित लोगों से शंका और डर प्रतीत होने लगा कि कहीं उनसे मिल कर हमारा कुल बिगड़ न जाय। सामाजिक ऊँचनीच के जितने दरजे थे वे पथरा कर जात-पाँत बनने लगे। नदी का प्रवाह बन्द हो जाने से जैसे छोटे छोटे जोहड़ बन जाते हैं, वैसे ही भारतीय समाज में ये जातें बन गईं।

११४६ ई० में लिखते हुए कल्हण ने जिस प्रकार डामरों (जागीरदारों) के उदय से अनिष्ट की आशंका प्रकट की है, वैसे ही जातपाँत के उदय से भी। सुव्यवस्थित राज्यसंस्था और सुशासन को नष्ट करने वाले जो कारण उसे दिखाई दे रहे थे उन्हें गिनाता हुआ वह कहता है—"परस्पर विवाहों द्वारा कायस्थ (छोटे राजकर्मचारी) यदि संहत हो जायँगे तो निःसंशय प्रजा का दुर्भाग्य जानना चाहिए।" इसका यह अर्थ हुआ कि ११४६ ई० तक कायस्थों की जात न बनी थी, पर उसके बनने के लक्षण थे, जिन्हें देख कर मेधावियों को अनिष्ट की आशंका होती थी। हमने देखा है कि इसके २६ बरस पीछे शहाबुद्दीन गोरी के गुजरात में कैद होने वाले सैनिकों की दाढ़ी-मूँछ मुँडा कर गुजरातियों ने उन्हें उनकी हैसियत के अनुसार अपने ऊँचे नीचे वर्गों में मिला लिया [७, ६ §६]। इससे यह प्रकट है कि बारहवीं शताब्दी में जातें बनने की प्रवृत्ति रहते हुए भी जातें स्थिर न हुई थीं। जोहड़ बनते थे, पर फिर बाढ़ आ जाने से उनका पानी बह जाता था। हम देखेंगे कि कम से कम १३वीं शताब्दी तक भी इन जातों में बाहर के लोगों के आ मिलने की गुंजाइश बनी रही। वास्तव में जातपाँत के जोहड़ १२वीं से १६वीं शताब्दी तक धीरे धीरे बने।†

जात-पाँत का प्रभाव फिर देश के समूचे जीवन पर हुआ। आठवीं शताब्दी से भारतीय समुद्र में अरब नाविक और व्यापारी अधिक आने लगे।

---

† परिशिष्ट ५।

जब भारत के शिक्षित वर्ग स्वयं दूर जाने से कतराने और अपने श्रमी वर्ग को हेच मानने लगे, जब उनके धर्म के आडम्बर को निबाहना श्रमी वर्ग के लिये असम्भव हो गया, तब दूरगामी भारतीय मल्लाहों में इस्लाम आसानी से फैला। खानपान और जात-पाँत के नियमों को इस युग के भारतीयों ने इतना महत्त्व दे दिया कि उनपर वे अपनी भूमि स्वतन्त्रता और देशभाइयों को भी न्यौछावर करने लगे। सुबुक्तगीन से जयपाल की पहली हार इसका उदाहरण है। जैसा कि अल्बरूनी ने लिखा, "मैंने कई बार सुना है कि जब (युद्ध में कैद हुए हुए) हिन्दू दास भाग कर अपने देश और धर्म में वापिस जाते हैं तब हिन्दू उन्हें प्रायश्चित्त रूप में उपवास करने का आदेश देते हैं। फिर वे उन्हें गौओं के गोबर मूत्र और दूध में नियत दिनों तक दबाये रखते हैं ··· फिर उन्हें वही मल खिलाते हैं। मैंने ब्राह्मणों से पूछा कि क्या यह सत्य है। परन्तु वे इससे इनकार करते और कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति के लिए कोई भी प्रायश्चित्त सम्भव नहीं, और उसे जीवन की उस स्थिति में लौट आने को कभी इजाज़त नहीं दी जाती जिसमें वह बन्दी रूप में ले जाये जाने के पहले रहा हो।"

अल्बरूनी और लिखता है—"उन्हें (हिन्दुओं को) इस बात की इच्छा नहीं होती कि जो वस्तु एक बार भ्रष्ट हो गई है उसे शुद्ध कर के पुनः ग्रहण कर लें। ··· मूर्खता ऐसा रोग है जिसकी कोई दवा नहीं। हिन्दुओं का विश्वास है कि उनके समान कोई जाति ··· कोई सम्राट् ··· कोई धर्म ··· कोई विद्या नहीं। ··· उनके पूर्वज ऐसे संकीर्ण विचार वाले नहीं थे जैसी कि यह वर्तमान पीढ़ी है।" इसे सिद्ध करने को वह वराहमिहिर का उदाहरण और उद्धरण [६,५§२] देता है। अलबरूनी ने संस्कृत भाषा और प्राचीन भारतीय शास्त्रों का गहरा अध्ययन किया था, उसके मन में उनके लिए बड़ी श्रद्धा थी। उस श्रद्धा के कारण वह हिन्दुओं को उन्नत दशा में देखना चाहता, पर जब वह देखता कि उनकी अपनी जडता ही उनके अधःपतन का कारण बन रही है तब उसके दिल पर चोट लगती। उसका यह कहना ठीक है कि प्राचीन हिन्दुओं के विचार संकीर्ण नहीं थे। यह मध्य काल में पैदा हुई नई बात थी।

स्त्रियों को समाज में इस काल में भी पूरी स्वतन्त्रता रही। उनमें परदा

नहीं था, और विवाह सयानी होने पर होता था। उनमें शिक्षा का प्रचार भी बहुत था। राजघरानों तक की कन्याएँ गाना-नाचना सीखती थीं।

परिशिष्ट ५

राजपूत जातों का उद्भव

पहले मध्य काल में हमें चालुक्य या सोलंकी राष्ट्रकूट प्रतिहार आदि कई वंशनाम सुनाई देते हैं जो कि आगे चल कर राजपूत जातों के नाम बने हुए मिलते हैं। इससे अनेक विद्वानों ने यह मान रक्खा है कि इसी काल से राजपूत जातों का आरम्भ हुआ। पृथ्वीराजरासो नामक राजस्थानी काव्य में राजपूतों के ३६ कुल लिखे हैं। पृथ्वीराजरासो १२वीं शताब्दी की रचना मानी जाती है। उसमें कुछ राजपूत कुलों के अग्निकुण्ड से निकलने की कहानी है, जिससे यह कल्पना की गई कि इनका उद्भव विदेशी था और इन्हें यज्ञ द्वारा शुद्ध किया गया। कन्नौज के प्रतिहारों के नाम के साथ गुर्जर शब्द लगा है, वे गुर्जर-प्रतिहार थे। गुर्जर नाम हमारे इतिहास में पहलेपहल छठी शताब्दी में आता है। गुर्जरों के भी हूणों के साथ की कोई विदेशी जाति होने की कल्पना की गई और उसके आधार पर यह कल्पना कि जैसे प्रतिहार गूजर थे, वैसे ही अग्निकुण्ड से निकले कहे जाने वाले अन्य राजपूत भी मूलतः विदेशी थे, पर मध्य काल के आरम्भ में भारत में आ कर वे राजपूत जातें बन गये।

किन्तु हम देखेंगे कि पृथ्वीराजरासो १६वीं शताब्दी से पहले की कृति नहीं है [परिशिष्ट ६]। यदि राजपूतों के कुल १२वीं शताब्दी में गिने गये होते तो उनमें कन्नौज के गाहड्वालों (गहरवारों) का प्रमुख स्थान होता, क्योंकि वे उस शताब्दी में उत्तर भारत के सम्राट् थे। छत्तीस कुलों में उनका नाम नहीं है, न बंगाल के पालों और सेनों तथा दक्खिन भारत के चोळों गंगों आदि का। इससे यह सूचित है कि छत्तीस कुलों का परिगणन ऐसे काल में हुआ जब कि इन वंशों की याद भी मिट चुकी थी।

पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने दिखाया है कि गुर्जर प्रतिहारों की तरह ब्राह्मण प्रतिहारों आदि का भी उल्लेख मिलता है, और कि गुर्जर प्रतिहार का अर्थ है गुर्जर देश के प्रतिहार अथवा गुजराती प्रतिहार, और कुछ नहीं।

जिन गुर्जर लोगों के कारण छठी शताब्दी में देश का नाम गुर्जरत्रा पड़ा, वे भी कोई जात न थे और न उनका विदेशी होना प्रमाणित होता है। गूजर लोग आज राजस्थान और पच्छिमी अन्तर्वेदी से ले कर कश्मीर स्वात तक पाये जाते हैं। यह कल्पना की गई कि वे उत्तरपच्छिम से आये, और उनमें से कुछ स्वात कश्मीर पंजाब में रह गये, बाकी राजस्थान और गंगा काँठे तक पहुँच गये। किन्तु स्वात और कश्मीर में जो गूजर हैं वे आज तक भी स्थानीय शब्दों से मिश्रित राजस्थानी बोलते हैं। इससे उनका राजस्थान से बाहर गया होना सिद्ध है। इसके अतिरिक्त पच्छिमी पंजाब की भाषा में जहाँ गाय-भैंस पालने वाले गुज्जर कहलाते हैं, वहाँ भेड़-बकरी पालने वाले अजिड़ या आजड़ी कहलाते हैं। इससे प्रकट है कि ये दोनों शब्द संस्कृत गो और अजा (बकरी) से निकले हैं, और दोनों आरम्भ में पेशों या धन्धों के नाम थे न कि जातियों के।

सोलंकियों या चालुक्यों का सम्बन्ध डा० प्रबोधचन्द्र बाग्ची ने मध्य एशिया के शूलिकों से जोड़ा था। उस स्थापना में काफी बल है, पर उसपर और प्रकाश पड़ना चाहिए।

प्रतिहार राष्ट्रकूट आदि उपनामों के मूल अर्थ ऊपर स्पष्ट किये गये हैं। इन उपनामों वाले वर्ग बाद में जातें बन गये। इससे यह नहीं मान लेना चाहिए कि वे आरम्भ से ही जातों के नाम थे, जैसे कायस्थ १२वीं शताब्दी तक किसी जात का नाम न था। असल प्रश्न यही है कि इन उपनामों वाले वंश जात कब से बने। हमारे वाङ्मय या इतिहास में जात के अर्थ में राजपूत शब्द महाराणा कुम्भा के काल अर्थात् पन्द्रहवीं शताब्दी से पहले कहीं नहीं मिलता। अल्बरूनी या कल्हण राजपूत जात का उल्लेख कहीं नहीं करते। कल्हण की राजतरंगिणी के नमूने पर पीछे तीन और राजतरंगिणियाँ लिखी गई जिनमें कश्मीर का इतिहास ११४९ ई० से अकबर के युग तक पहुँचाया गया।

इनमें से चौथी राजतरंगिणी में पहलेपहल राजपुत्र शब्द जात के अर्थ में बर्त्ता गया है। जैसा कि राजस्थानी इतिहास के प्रकाण्ड पण्डित स्व० गौ० ही० ओझा ने लिखा था—"यह (राजपूत) शब्द जाति-सूचक हो कर मुगलों के समय अथवा उसके पूर्व सामान्य रूप से प्रचार में आने लगा।" उससे पहले के किन्हीं वंशों को राजपूत कहना गलत है, और अनेक लेखक जो पहले मध्य काल को ही राजपूत काल कहते और इसके आरम्भ से राजपूतों की चर्चा करने लगते हैं, सो उनकी निरी भ्रान्ति है—ठीक वैसी ही भ्रान्ति जैसे प्राचीन काल में केवल ब्राह्मण आदि नाम देख कर जातपाँत की विद्यमानता मान लेना।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. पहले मध्य काल में किसी गणराष्ट्र के न होने से आप क्या परिणाम निकालते हैं ?

२. उदाहरण से स्पष्ट कीजिए कि पहले मध्य काल तक राजा भूमि का मालिक न होता था।

३. चोळ राज्य की ग्राम-पंचायतों के विषय में आप क्या जानते हैं ?

४. डामर और रूढभारोढि का क्या अर्थ है ? कब कहाँ कैसे इनका उदय हुआ ?

५. बौद्ध संप्रदाय की अवनति कब किस रूप में प्रकट हुई ? पौराणिक मतों के वाम-मार्गों से उसकी समानता कैसे थी ?

६. शंकराचार्य को 'प्रच्छन्न बौद्ध' क्यों कहते हैं ?

७. गुप्त युग और पहले मध्य काल की ललित कला की तुलना कर दोनों का अंतर स्पष्ट कीजिए।

८. 'हममें नई वस्तु की उत्प्रेक्षा करने की क्षमता कहाँ है ?' यह कब, किसने कहा ? यह कथन भारतीय विचार और वाङ्मय की प्रगति पर कहाँ तक घटता है ?

९. इस युग के दो ऐसे विद्वानों का परिचय दीजिए जिन्होंने भारतीय ज्ञान का प्रसार पड़ोसी देशों में किया।

१०. नालंदा विहार के नमूने पर विदेशों में कौन से विहार स्थापित हुए ?

११. देशी भाषाओं में साहित्य का उदय कब और किस क्रम से हुआ ?

१२. जातपाँत का क्रम-विकास दिखाते हुए स्पष्ट कीजिए कि भारतीय नाविकों में इस्लाम जल्दी क्यों फैला ?

१३. 'देवोत्पाटन-नायक' का क्या अर्थ है ? उसकी नियुक्ति कब किस राज्य में की गई ?

१४. "कन्नौज के प्रतिहार सम्राटों के लिए अनेक ऐसे अवसर आये जब वे मुलतान-सिन्ध को आसानी से जीत सकते थे।" तब उन्होंने उसे क्यों न जीता ?

१५. चित्रकला की अपभ्रंश शैली का क्या अर्थ है ? वह कब कहाँ प्रचलित रही ?

१६. "उन (हिन्दुओं) के पूर्वज ऐसे संकीर्ण विचार वाले नहीं थे जैसी कि यह वर्त्तमान पीढ़ी है", अल्बरूनी के इस कथन की सत्यता कैसे सिद्ध होती है ?

१७. कायस्थ जात कब कैसे बनी ?

१८. इनपर टिप्पणी लिखिए—नालन्दा, विक्रमशिला, प्राम्बनन, बोरोबुदुर, सम्ये और नालन्द विहार, सोमनाथ और देलवाड़ा के मन्दिर, 'कवि' भाषा, राजतरंगिणी, आळ्वार और नायन्मार, मिताक्षरा, वीरदेव, धर्मकीर्त्ति, रामानुज, राजशेखर, श्रीहर्ष, हेमचन्द्र, बालपुत्रदेव वर्मा, अल्बरूनी, इ-चिङ।

———

८. सल्तनत पर्व

(११९४–१५०९ ई०)

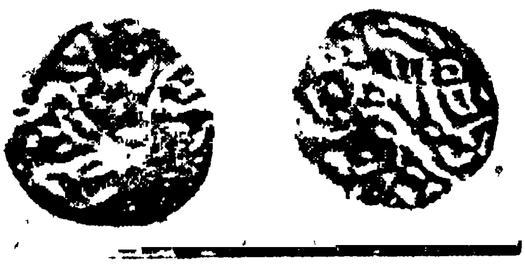
अध्याय १

दिल्ली और लखनौती में तुर्क राज्य की स्थापना

(लग० ११९०–१२०६ ई०)

§१. **गोरी का दिल्ली अजमेर जीतना**—पंजाब में स्थापित होने के बाद शहाबुद्दीन गोरी ने अजमेर राज्य की सीमा का सरहिन्द गढ़ ले लिया। सरहिन्द और उसका प्रदेश तीस-चालीस बरस से अर्थात् बीसलदेव के ज़माने से अजमेर के राजाओं के अधीन था। राजा पृथ्वीराज, जो अब तक जझौती में अपनी शक्ति नष्ट कर रहा था, अब शहाबुद्दीन के मुकाबले को बढ़ा।

गोरी का नन्दी-छाप टंका



चित, घुड़सवार, पुरानी नागरी में लेख स्री हमीर‡। पट, बैठे हुए नन्दी की भद्दी* मूरत, चारों तरफ नागरी लेख—स्री महमद साम [श्रीनाथ सं०]

पानीपत के पास तरावड़ी की लड़ाई में शहाबुद्दीन घायल हो कर भाग गया (११९१ ई०)। पृथ्वीराज ने सरहिन्द भी ले लिया, किन्तु शहाबुद्दीन ने हिम्मत न हारी। दूसरे बरस वह फिर फौज ले कर चढ़ आया और तरावड़ी पर ही फिर लड़ाई हुई, जिसमें पृथ्वीराज कैद हो कर मारा गया। जीत के बाद गोरी सीधा अजमेर पर टूटा और वहाँ पृथ्वीराज के बेटे गोविन्दराज को अपना सामन्त

---

‡ हमीर=अमीर।

* पहले मध्य काल के अन्त तक कला के ह्रास के फलस्वरूप जैसी भद्दी मूरतें सिक्कों पर बनने लगी थीं, वैसी ही गोरी के सिक्कों पर भी जारी रहीं।

बनाया। दिल्ली का इलाका दखल करने के लिए अपने तुर्क दास कुतुबुद्दीन ऐबक को छोड़ वह गज़नी लौट गया। कुतुबुद्दीन ने दिल्ली पर अधिकार कर उसे अपनी राजधानी बनाया। इस तरह गुजरात और कन्नौज के राज्य तुर्कों के पड़ोसी हो गये।

§२. कन्नौज साम्राज्य का पतन—दिल्ली की सीमा से भागलपुर तक कन्नौज का साम्राज्य था। ११६४ ई० में शहाबुद्दीन उसपर चढ़ाई करने को बड़ी फौज ले कर आया। राजा जयचन्द्र इटावे के पास चन्दावर की लड़ाई में खेत रहा। उसके बेटे हरिश्चन्द्र ने कन्नौज का गढ़ अपने हाथ से न जाने दिया और अपने राज्य के पूरबी छोर अवध में हट कर युद्ध जारी रक्खा।

पृथ्वीराज के भाई हरिराज ने चम्बल के किनारे रणथम्भोर में चौहानों की नई राजधानी स्थापित की (११६५ ई०)। अजमेर के साथ उत्तरी मारवाड़—नागोर—का इलाका भी तुर्कों के हाथ चला गया, किन्तु दक्खिनी मारवाड़—जालोर—में चौहानों की एक शाखा का राज्य बना रहा।

§३. बिहार-बंगाल में तुर्क सल्तनत—अजमेर और कन्नौज राज्यों के जिन अंशों को तुर्क विजेता अधीन कर सके, वे तुर्क अमीरों में बाँट दिये गये। कन्नौज के गढ़ को छोड़ कर गंगा-जमना के समूचे दोआब में, गंगा पार सम्भल और बदाऊँ के इलाके में और दक्खिनी अवध में जगह जगह उनके केन्द्र स्थापित हो गये। ११६७ ई० के बाद तुर्कों ने दक्खिनी पंचाल में कम्पिला और पटियाली का प्रदेश कन्नौज के सामन्तों से ले लिया, और वह मुहम्मद-बिन-बख्तियार खिलजी नामक तुर्क सरदार को सौंपा गया। वहाँ से मुहम्मद ने मगध के इलाकों पर धावे मारना शुरू किया। मगध में पिछली शताब्दी में पाल राजा की हैसियत मामूली सरदार की सी रह गई थी। उद्दंडपुर आदि नगर उसके अधिकार में थे। ११६६ ई० में मुहम्मद ने २०० सवारों के साथ उद्दंडपुर पर हमला किया

गोरी की लक्ष्मी-छाप टंका



चित, लक्ष्मी की भद्दी मूरत। पट, नागरी लेख—श्रीमद् मीर महम्मद साम। [दिल्ली संग्र०; भा० पु० वि०]

और पहाड़ी पर बौद्ध भिक्खुओं के विहार को गढ़ समझ कर घेर लिया। कोई चारा न देख भिक्खुओं ने भी शस्त्र उठाये। उनमें से एक भी ज़िन्दा न बचा। विजेताओं को जब यह मालूम हुआ कि वह स्थान गढ़ नहीं विहार था, और उस विहार की पुस्तकों को पढ़ कर सुना सकने वाला भी कोई आदमी जीवित नहीं बचा, तब उन्होंने शताब्दियों से जमा हुए पुस्तकों के उस संग्रह को आग की भेंट कर दिया। उस विहार के नाम से उस शहर को भी वे बिहार कहने लगे, और इस प्रकार समूचे मगध प्रान्त का भी वही नाम पड़ गया*।

विहार जीत लेने के बाद मुहम्मद-बिन-बख्तियार ने सेन राजाओं के गौड देश पर चढ़ाई की और उनकी राजधानी लखनौती ले कर वहीं अपनी राजधानी स्थापित की (१२००)†। बंगाल में उसका राज्य तब लखनौती के चौगिर्द प्रायः ४०-४० कोस तक था। लक्ष्मणसेन के बेटे केशवसेन और विश्वरूपसेन उससे बराबर लड़ते रहे। वे अपनी राजधानी ढाके के पास सुवर्णग्राम (सोनार-गाँव) ले गये। दक्खिनी और पूरबी बंगाल अगले सवा सौ बरस तक सेन राजाओं के अधिकार में बना रहा।

§४. विन्ध्य और हिमालय की तरफ बढ़ने की विफल चेष्टाएँ— गंगा-जमना का दोआब कुतुबुद्दीन के हाथ आ जाने से जझौती का चन्देल राज्य उसका पड़ोसी बन गया। १२०२ ई० में उसने उसपर चढ़ाई कर राजा परमर्दी चन्देल से कालंजर का गढ़ छीन लिया। उसके मुँह फेरते ही चन्देलों ने कालंजर वापिस ले लिया, तो भी जझौती का उत्तरी मैदान अर्थात् कालपी का प्रदेश तुर्कों के हाथ रहा।

इधर मुहम्मद-बिन-बख्तियार ने एक और साहस का काम किया। गौड और हिमालय के बीच मेच कोच और थारू लोग रहते थे। मुहम्मद ने एक

* १५वीं शताब्दी तक बिहार से केवल मगध ही समझा जाता था, अर्थात् वह प्रदेश जो सोन नदी के पूरब, गंगा के दक्खिन, गया की पहाड़ियों के उत्तर और राज-महल की पहाड़ियों के पच्छिम में है।

† परिशिष्ट ६।

मेच सरदार को पकड़ कर मुसलमान बना लिया और उसी अली मेच की पथ-प्रदर्शकता में ११-१२ हज़ार सवारों के साथ हिमालय तराई के किसी हिन्दू राज्य पर धावा मारा। कामरूप के पच्छिम हिमालय तराई के उस राजा ने तुर्कों को अपने राज्य में बढ़ जाने दिया, पर पीछे से उन्हें घेर कर लौटती वेला करतोया नदी में समूची सेना को नष्ट कर दिया। मुहम्मद-बिन-बख्तियार इने-गिने साथियों के साथ बच कर देवकोट [नक्शा २३] पहुँचा और वहाँ अपने सिपाहियों की विधवाओं के अभिशापों के डर से उसे घर से बाहर निकलना दूभर हो गया। उसी दशा में उसकी मृत्यु हुई (१२०५-६ ई०)।

§५. **खोकरों का स्वतन्त्र होना**—उधर तभी जेहलम नदी पर रहने वाले खोकर लोगों ने अपने राजा राय साल के नेतृत्व में, जो एक बार मुसलमान बन कर फिर हिन्दू हो गया था, विद्रोह करके लाहौर ले लिया। ग़ज़नी से शहाबुद्दीन और दिल्ली से क़ुतुबुद्दीन खोकरों के खिलाफ़ बढ़े। उनका दमन कर शहाबुद्दीन ग़ज़नी लौट रहा था कि एक खोकर ने सिन्ध के किनारे उसे मार डाला (१२०६ ई०)। इसके बाद पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक दिल्ली के सुलतान खोकरों को अधीन न रख सके। ग़ज़नी से दिल्ली आने वाला रास्ता तब दूर तक सिन्ध के दाहिने किनारे जा कर उच्च के सामने उसे लाँघता और उच्च से मुलतान और भटिंडा हो कर दिल्ली पहुँचता था।

परिशिष्ट ६

पृथ्वीराजरासो और तुर्कों के बंगाल-विजय विषयक प्रचलित भ्रम

१. **पृथ्वीराजरासो**—इस युग के इतिहास के विषय में अनेक भ्रम-पूर्ण धारणाएँ फैली हुई हैं जिनमें से बहुत सी हिन्दी काव्य पृथ्वीराजरासो के कारण हैं। स्व० महामहोपाध्याय डा० गौरीशंकर हीराचंद ओझा नई खोज का प्रकाश डाल कर इन भ्रमों को दूर करने का लगातार यत्न करते रहे, फिर भी हमारे देश के बहुतेरे शिक्षित लोगों ने इन्हें अपने दिमागों से चिपटा रक्खा है और वे इन्हें छोड़ना नहीं चाहते। उनका यह बर्त्ताव दयनीय है। ऐसी

गप्पों से छुटकारा पाना ही होगा।

(क) रासो का कर्त्ता चन्द बरदाई अपने को पृथ्वीराज चौहान का समकालीन बताता है। परन्तु चौहान वंश और अन्य वंशों के पचासों समकालीन अभिलेखों और उस युग के मुस्लिम और हिन्दू अन्य सब ऐतिहासिक ग्रन्थों में घटनाओं का वृत्तान्त जिस प्रकार प्राप्त होता है, रासो का वृत्तान्त उससे सर्वथा भिन्न और स्पष्टतः ऊलजलूल है।

कश्मीरी कवि जयानक का संस्कृत में लिखा पृथ्वीराजविजय महाकाव्य है, जिसपर दूसरी राजतरंगिणी के लेखक जोनराज की टीका भी है। जोनराज का काल लग० १४३० ई० है। पृथ्वीराजविजय में चौहान वंश का इतिहास जिस रूप में दिया है, वह अभिलेखों से प्राप्य वृत्तान्त से पूरी तरह मेल खाता है। जयानक अपने को पृथ्वीराज का राजकवि बतलाता है, और उसका वह कथन ठीक सिद्ध होता है। पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ का नयचन्द्र सूरि का लिखा संस्कृत "हम्मीर महाकाव्य" है। रणथंभोर का अंतिम चौहान राजा हम्मीर उसका नायक है और उसमें भी चौहानों का इतिहास है। नयचन्द्र सूरि का दूसरा ग्रंथ 'रम्भामंजरी' नाटक है, जिसका नायक कन्नौज का राजा जयचन्द्र है। उसी शताब्दी के मेरुतुंग कृत ऐतिहासिक निबन्धों का संग्रह प्रबन्धकोश, प्रबन्धचिन्तामणि आदि ग्रन्थ उपलब्ध हैं। सोलहवीं शताब्दी के अन्त में बूंदी के चौहान राव सुर्जन के काल का सुर्जनचरित काव्य है। इन सभी ग्रन्थों में इतिहास के जो अंश मिलते हैं, वे पूर्वोक्त अभिलेखों तथा फ़ारसी इतिहास-ग्रन्थों के वृत्तान्तों से मेल खाते हैं, पर रासो के विपरीत जाते हैं। रासो का वृत्तान्त कैसा बे-सिर पैर का है, सो नीचे लिखे कुछ उदाहरणों से प्रकट होगा।

(ख) रासो के अनुसार पृथ्वीराज और जयचन्द दोनों दिल्ली के अनंगपाल तोमर की दो लड़कियों—सुन्दरी और कमला—के बेटे थे, अनंगपाल ने अपना दिल्ली का राज्य अपने दोहते पृथ्वीराज को दे दिया था, जिसमें से आधा अंश पाने के लिए जयचन्द ने उसपर और उसके सहायक मेवाड़ के रावल समरसिंह पर विफल आक्रमण किया। वास्तविक बात यह है कि अनंगपाल

पृथ्वीराज और जयचन्द्र से सवा सौ बरस पहले हो चुका था, तथा पृथ्वीराज की माँ त्रिपुरी (चेदि) के राजा अचलराज उर्फ तेजल की पुत्री कर्पूरदेवी थी। दिल्ली को पृथ्वीराज के ताऊ बीसलदेव ने जीता था और उसके बाद भी चौहानों की राजधानी अजमेर ही रही, दिल्ली उनके राज्य का प्रान्त मात्र था।

(ग) मेवाड़ के रावल समरसिंह का विवाह रासो के अनुसार पृथ्वीराज की बहन पृथा से हुआ था और समरसिंह तरावड़ी की लड़ाई में काम आया था। पर समरसिंह के आठ शिलालेख वि० सं० १३३० से १३५८ तक के मिले हैं, उसके पिता और दादा के भी लेख हैं, जिनसे यह सिद्ध है कि समरसिंह पृथ्वीराज के एक शताब्दी बाद हुआ था।

(घ) पृथ्वीराज के ११ बरस की आयु से ३६ बरस की आयु तक कुल १४ विवाह चन्द बरदाई ने कराये हैं। पहला ब्याह वह मंडोवर के प्रतिहार नाहरराय की लड़की से करवाता है। पर मंडोवर का प्रतिहार नाहरराय ८६४ वि० से पहले हो चुका था यह उस वंश के अभिलेख से सिद्ध है, और १२वीं शताब्दी से बहुत पहले मंडोवर से प्रतिहार वंश का राज्य उठ चुका था। दूसरा ब्याह बारह बरस की आयु में वह आबू के परमार राजा सलख की पुत्री और जैत की बहन इछनी से हुआ बताता है। आबू के परमारों की वंशावली उनके समकालीन अभिलेखों में उपलब्ध है। उस वंश में सलख या जैत नाम के कोई राजा नहीं हुए। इसी कल्पित सलख द्वारा शहाबुद्दीन के कैद किये जाने की बात भी रासो में लिखी है। बाकी सब ब्याहों की कहानियाँ भी इसी नमूने की हैं। पृथ्वीराज ३० बरस से कम आयु में ही मारा गया था, इसलिए उसके ब्याह ३६ बरस की आयु तक होते न जा सकते थे।

(ङ) रासो के अनुसार पृथ्वीराज का तीसरा ब्याह १३ बरस की आयु में हुआ जिससे उसका पुत्र रैणसी हुआ। पर पृथ्वीराज के पुत्र का नाम गोविन्द राज था, रैणसी नहीं, यह फारसी तवारीखों और हम्मीर महाकाव्य से ज्ञात होता है।

(च) चन्द बरदाई के अनुसार कन्नौज के राजा राठोड थे। जयचन्द के पिता विजयपाल ने सेतुबन्ध रामेश्वर तक सारे भारत का दिग्विजय किया, पर पृथ्वीराज को न जीत सका। जयचन्द ने भी राजसूय यज्ञ किया जिसमें अपनी

पुत्री संयोगिता का स्वयंवर-मण्डप रचा, संयोगिता ने पृथ्वीराज को अपना पति वरा, और पृथ्वीराज उसे हर ले गया, बाद में जयचन्द ने वैर-वश शहाबुद्दीन को बुलाया, इत्यादि। इस समूची कहानी में सिवाय इस बात के कि पृथ्वीराज और जयचन्द्र समकालीन थे और जयचन्द्र के पिता का नाम विजयचन्द्र था, बाकी सब निरी कल्पना है। कन्नौज के राजा राठोड नहीं गाहड्वाल थे। जयचन्द्र बड़ा दानी राजा था, उसके अनेक दान-लेख उपलब्ध हैं। यदि उसके पिता ने सेतुबन्ध तक दिग्विजय किया होता या उसने स्वयं राजसूय किया होता तो अपने लेखों में वह इसका उल्लेख करने से न चूकता। संयोगिता भी शुद्ध कल्पना की उपज है, और उसी प्रकार उसके स्वयंवर की, पृथ्वीराज और जयचन्द के वैर की तथा जयचन्द के गोरी को बुलाने की बात भी। पृथ्वीराजविजय, प्रबन्धकोश, हम्मीर महाकाव्य, रम्भामंजरी आदि में इन बातों का कहीं पता नहीं।

(छ) चौहानों की जो वंशावली रासो में दी गई है वह भी अन्य ग्रन्थों और अभिलेखों से प्राप्त वंशावली से मिलान करने पर सर्वथा कल्पित सिद्ध होती है।

(ज) रासो में दिये हुए पृथ्वीराज के जन्म गद्दीनशीनी मृत्यु आदि घटनाओं के संवत् भी सभी गलत हैं। उन्हें ठीक बनाने के लिए अनन्द विक्रम संवत् की कल्पना की गई, पर उससे भी वे ठीक नहीं बन सके।

(झ) रासो के अनुसार पृथ्वीराज का पिता सोमेश्वर गुजरात के राजा भीम के हाथ मारा गया और पृथ्वीराज ने गुजरात पर चढ़ाई कर भीम को मार डाला। पर अभिलेखों और अन्य सामग्री से जाना गया है कि भीम जब गद्दी पर बैठा, तब वह बच्चा ही था और सोमेश्वर की मृत्यु उसके अगले वर्ष ही हो गई जो भीम के हाथों नहीं हो सकती थी, और भीम पृथ्वीराज के पचास बरस पीछे तक जीवित रहा।

(ञ) उक्त प्रकार की कितनी ही और बे-सिर-पैर की बातें रासो में हैं, पर सबसे अधिक पते की निम्नलिखित दो हैं। एक यह कि रावल समरसिंह का बड़ा बेटा कुम्भा पिता से रूठ कर दक्खिन में बिदर के सुलतान के पास जा कर रह गया था। दूसरी यह कि सोमेश्वर और पृथ्वीराज ने मेवात के मुगल

राजा पर चढ़ाई की, जिसमें मुगल कैद हुआ और उसका बेटा वाजिदखाँ मारा गया। पृथ्वीराज के ज़माने में दक्खिन में कोई मुस्लिम सल्तनत होने की बात तथा भारत में कहीं भी मुगल राजा होने की बात जो व्यक्ति कह सकता और तिस-पर भी अपने को पृथ्वीराज का समकालीन बता सकता था, उसकी बातों का मूल्य चंडूखाने की गप्पों से अधिक नहीं लगाना चाहिए। बिदर की सल्तनत १४३० ई० में स्थापित हुई और भारत में मुगल सोलहवीं शताब्दी में आये। इससे प्रकट है कि पृथ्वीराजरासो सोलहवीं शताब्दी से पहले की रचना नहीं है और उसका ऐतिहासिक मूल्य कुछ भी नहीं है।

(ट) पृथ्वीराजरासो में राजपूतों के ३६ कुल लिखे हैं, तथा प्रतिहार चालुक्य परमार और चौहान कुलों के पूर्वजों का अग्निकुंड से पैदा होना बताया है। जैसा कि पीछे (परिशिष्ट ५) कहा जा चुका है, इससे तथा रासो को बारहवीं शताब्दी का मान कर राजपूत जातियों के उद्भव के विषय में अनेक कल्पनाएँ की गई हैं। परन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी तक के लेखों से प्रकट होता है कि उक्त चार कुलों में से प्रतिहार अपने को रघुवंशी, चौहान अपने को सूर्यवंशी तथा चालुक्य अपने को सोमवंशी कहते थे; केवल परमार अपनी उत्पत्ति अग्निकुंड से बताते थे। उन कहानियों या रासो की कहानी से कोई भी परिणाम नहीं निकाला जा सकता। राजपूत जाति की कल्पना हमारे साहित्य और इतिहास में पहलेपहल महाराणा कुम्भा के काल से अर्थात् पन्द्रहवीं शताब्दी में प्रकट होती है।

(ठ) हिन्दी साहित्य के तथाकथित इतिहासों में भी अनेक स्थापनाएँ पृथ्वीराजरासो को १२वीं शताब्दी का मान कर की गई हैं। वे सब बेबुनियाद हैं। रासो की भाषा में दस प्रतिशत फारसी शब्द हैं। १२वीं से १५वीं शताब्दी तक के भाषा के जो अन्य नमूने मिले हैं उनसे तुलना करने से भाषा के विकास की दृष्टि से पृथ्वीराजरासो की भाषा भी सोलहवीं शताब्दी की सिद्ध होती है।

२. तुर्कों के बंगाल-विजय की कहानी—बंगाल के इतिहास के बारे में मुस्लिम लेखकों की चलाई हुई यह कहानी प्रसिद्ध है कि सिर्फ १८ सवारों के साथ, जिन्हें लोग घोड़े बेचने वाले समझते रहे, बख्तियार के बेटे

ने नदिया के राजमहल के रक्षकों पर एकाएक हमला कर दिया, और राजा लक्ष्मणसेन महल के दूसरी तरफ से भाग निकला। परन्तु नदिया कभी सेनों की राजधानी न थी, और राजा लक्ष्मणसेन ११७० ई० से पहले ही मर चुका था। तीसरे, लखनौती जीतने के ५५ बरस पीछे १२५५ ई० में नदिया पहलेपहल तुर्कों के कब्जे में आया था, जिसके उपलक्ष में चलाये सिक्के प्राप्त हैं। इन बातों की पूरी विवेचना स्व० राखालदास बनर्जी ने अपने "बांग्लार इतिहास" (१९१४, १९२१) में की है। कन्नौज राज्य के तुर्कों द्वारा जीते जाने के क्रम की ठीक विवेचना भी उन्हीं ने उसी ग्रन्थ में पहलेपहल की थी।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. अजमेर-दिल्ली के राज्य पर चढ़ाई करने से पहले शहाबुद्दीन गोरी ने किन राज्यों को किस क्रम से जीता अथवा जीतने का यत्न किया?

२. पृथ्वीराज चौहान की मृत्यु के बाद उसके राज्य का कौन सा अंश गोरी के अधीन हुआ और कौन सा अंश स्वतंत्र बचा? कैसे?

३. लखनौती की तुर्क सल्तनत कैसे स्थापित हुई? उसका विस्तार कहाँ से कहाँ तक था?

४. सम्राट् जयच्चन्द्र के युद्ध में मारे जाने पर उसके साम्राज्य का कौन सा अंश तुर्कों के अधीन चला गया तथा बाकी कैसी स्थिति में रहा?

५. चन्द बरदाई के पृथ्वीराजरासो की कहानी को क्यों निर्मूल मानना पड़ता है? वह कहानी कब की बनी है?

६. अठारह तुर्क सवारों द्वारा लक्ष्मणसेन की राजधानी नदिया पर चढ़ाई और वहाँ से राजा लक्ष्मणसेन के भागने की कहानी किस प्रकार गलत सिद्ध होती है?

अध्याय २

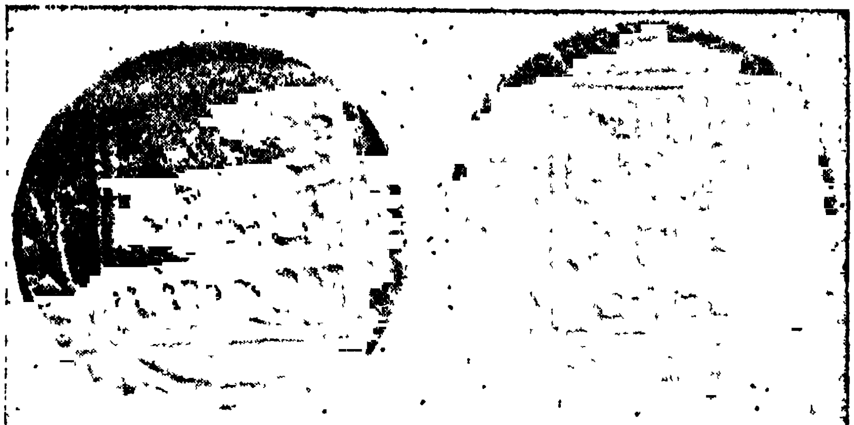
गुलाम गंग पाण्ड्य

(१२०६–१२९० ई०)

§ १. **कुतुबुद्दीन ऐबक**—शहाबुद्दीन के मरने पर उसके उत्तराधिकारी ने दिल्ली का राज्य दास कुतुबुद्दीन को सौंप दिया। उसके बाद भी दिल्ली की

गद्दी पर कई गुलाम बादशाह बैठे, इससे वह गुलाम वंश कहलाता है। ये सब गुलाम शासक तुर्क थे। इस प्रकार दिल्ली की यह सल्तनत तुर्कों की थी। चार बरस के दृढ न्यायपूर्ण शासन के बाद कुतुबुद्दीन लाहौर में मर गया (१२१० ई०)। दिल्ली की कुतुबमीनार उसकी स्मारक मानी जाती है।

§ २. **अल्तमश**—कुतुबुद्दीन का गुलाम और दामाद इल्तुतमिश (जिसके नाम का घिसा रूप अल्तमश है) कुतुबुद्दीन के बेटे आरामशाह को हटा कर सुल्तान बन बैठा। तब तक भारत में तुर्कों के जीते प्रदेश कई शासनों में बँट गये थे। लखनौती का राज्य शुरू से ही दिल्ली से अलग था। गोरी की मृत्यु के बाद से गज़नी भी अलग सल्तनत थी, जो ताजुद्दीन एलदोज़ नामक तुर्क सरदार को सौंपी गई थी। सिन्ध नासिरुद्दीन कुबाचा को मिला था। अल्तमश के गद्दी पर बैठते ही एलदोज़ ने लाहौर ले लिया। कुबाचा के दाँत भी लाहौर पर गड़े थे। अल्तमश ने एलदोज़ को कैद कर लाहौर वापिस ले लिया। पीछे उसने कुबाचा का भी उसी तरह दमन किया।



अल्तमश के कन्नौज-विजय का स्मारक टंका
[दिल्ली संग्र०; भा० पु० वि०]

दूसरी तरफ उसका कन्नौज के सामन्तों से अवध की सीमा पर लगातार युद्ध जारी था, जहाँ 'वर्त्तु' नामक हिन्दू सरदार से लड़ते हुए एक लाख बीस हज़ार तुर्क सैनिक मारे जा चुके थे। कन्नौज का गढ़ तब तक जीता न गया था। अल्तमश के प्रशासन में 'वर्त्त' मारा गया और कन्नौज का गढ़ भी लिया गया। इसकी खुशी में उसने नये सिक्के चलाये†।

† उस सिक्के का चित्र यहाँ दिया जा रहा है। इसपर के लेख की ठीक व्याख्या स्व० राखालदास बनर्जी ने 'बाँग्लार इतिहास' में की थी।

§३. मध्य एशिया में मंगोल—इसी काल में उत्तरपूरवी एशिया से नई प्रबल लहर उठी जिसने दुनिया का नक्शा पलट दिया। जैसे पाँचवीं-छठी शताब्दी में हूण-तुर्क और सातवीं में अरब दुनिया को जीतने निकले थे; वैसे ही अब मंगोलों ने अपनी विजय-यात्रा शुरू की। उनका नेता चिङ-हिर हान (चंगेज़ खान*) था। मंगोलों ने तुर्किस्तान के तमाम मुस्लिम राज्यों को उखाड़ फेंका (१२१६ ई०), महल और मस्जिदें फूँक दीं। अफगानिस्तान को भी चंगेज़ ने तुर्कों से छीन लिया। इसके बाद पौने दो शताब्दियों तक अफगानिस्तान मंगोलों के अधिकार में बना रहा और वे दिल्ली के तुर्कों के लिए सदा आतंक का कारण रहे। यों भारत में स्थापित होने के २५ वर्ष बाद ही तुर्कों का उत्तर-पच्छिमी देशों से सम्बन्ध टूट गया।

१२२१ ई० में ख्वारिज्म (खीवा प्रदेश) के तुर्क शाह जलालुद्दीन का पीछा करता हुआ चंगेज़ सिन्ध नदी के किनारे आ पहुँचा। जलालुद्दीन सिन्ध में भाग आया था। पंजाब और सिन्ध में इससे खलबली मच गई। चंगेज़ भारत की गर्मी के कारण सिन्ध नदी से लौट गया। उसके लौट जाने पर ही अल्तमश उन प्रान्तों को पूरी तरह वश में कर सका।

§४. अल्तमश का गौड जीतना और मालवे पर चढ़ाई—मुहम्मद-बिन-बख्तियार की मृत्यु होने पर लखनौती में ५-६ बरस की मार-काट के बाद खिलजी अमीरों ने गयासुद्दीन उवज़ को गद्दी पर बिठाया था। उसके प्रशासन में (१२११–२६ ई०) गौड सल्तनत की सीमा गंगा के पूरब तरफ देवकोट तक और दक्खिनपच्छिम तरफ लखनोर तक पहुँच गई। पंजाब और सिन्ध के नियन्त्रण के बाद अल्तमश ने बिहार और गौड की तुर्क सल्तनत को भी जीत लिया। तब से १२८८ ई० तक गौड प्रायः दिल्ली के अधीन रहा।

इस प्रकार गाहडवालों को परास्त करने और उत्तर भारत के सब तुर्क प्रान्तों को एक शासन में लाने के बाद अल्तमश ने पड़ोसी हिन्दू राज्यों की

---

* हान या खान मंगोलों में सम्मानसूचक शब्द था। दूसरी जातियों ने उसे उन्हीं से लिया।

तरफ ध्यान दिया। उसने रणथम्भोर और ग्वालियर पर अधिकार किया और परमर्दी चन्देल के बेटे त्रैलोक्यवर्मा पर चढ़ाई कर जझौती को लूटा (१२३३-३४ ई०)। तब मालवे पर चढ़ाई कर उज्जैन और भेलसा भी लूटे (१२३४ ई०)।



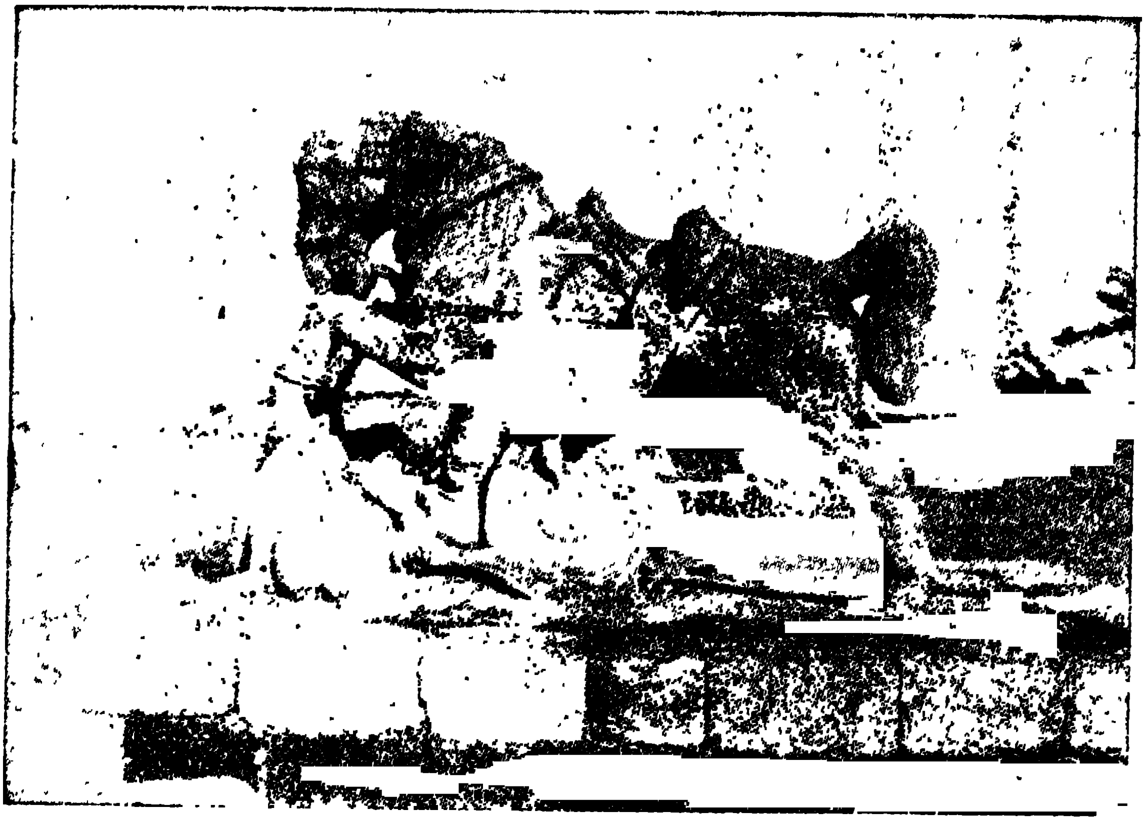
अल्तमश के गौड-विजय का स्मारक टंका
[इस्लाम में जन्तुओं की मूरतें बनाना वर्जित था, पर इस सिक्के से प्रकट है कि अल्तमश ने उस निषेध की परवा नहीं की।
[बर्लिन संग्र०; नेल्सन राइट के ग्रन्थ से]

§५. **मेवाड़ के गुहिलोत**—मालवे से अल्तमश गुजरात की तरफ बढ़ा। रास्ते में उसने मेवाड़ की राजधानी नागदा को, जो आधुनिक एकलिंग की जगह पर थी, उजाड़ डाला। पर राजा जैत्रसिंह से हार कर उसे लौटना पड़ा। मेवाड़ का नाम इसके बाद इतिहास में बहुत प्रसिद्ध हुआ। सुराष्ट्र के मैत्रक वंश [७, १ § ३] में भटार्क का पोता राजा गुहसेन या गुहिल हुआ था। मेवाड़ के राजा उसी के वंशज थे। वे पहले गुजरात के चालुक्यों के सामन्त थे। १२वीं शताब्दी के अन्त में गुजरात के कमज़ोर होने पर वे स्वतन्त्र हो गये और इस स्वतन्त्र हैसियत में उन्होंने अनेक बार दिल्ली के तुर्कों का सामना किया। अल्तमश के नागदा को उजाड़ने के बाद चित्तौड़ मेवाड़ की राजधानी बनी।

§६. **रज़िया और नरसिंहदेव**—मालवा-मेवाड़ की चढ़ाइयों से लौट कर अल्तमश मर गया (१२३६ ई०)। वह कह गया था कि उसकी बेटी रज़िया उसकी उत्तराधिकारिणी हो। लेकिन तुर्क सरदारों ने उसके एक बेटे को गद्दी दी। छह मास बाद वह उनके हाथ मारा गया। तब कुमारी रज़िया गद्दी पर बैठी। वह कुशल और वीर स्त्री थी। मर्दाने कपड़े पहन कर खुले मुँह दरबार में बैठती और युद्ध में सेना का संचालन भी करती। किन्तु किसी स्त्री के शासन में उस ज़माने के तुर्क कहाँ रह सकते थे? उन्होंने फिर बगावत की, जिसे दबाते हुए रज़िया मारी गई (१२४० ई०)। उसके बाद उसका एक भाई सुल्तान

बना। डेढ़ बरस बाद वह भी मारा गया और उसके एक भतीजे को राज मिला। चार बरस बाद उसकी भी वही गति हुई।

इस बीच दिल्ली सल्तनत की बड़ी दुर्दशा रही। चौहान राजा वाग्भट ने रणथम्भोर वापिस ले लिया। बंगाल तथा मुलतान-सिन्ध के प्रान्त अलग हो गये थे। बिहार के हिन्दू सरदार स्वतन्त्र हो गये थे। पंजाब के बड़े भाग पर खोकरों ने अधिकार कर लिया था। गंगा-जमना दोआब में भी अनेक हिन्दू



कोणार्क के सूर्य-मन्दिर में घोड़े की मूर्त्ति
नरसिंहदेव के विजयों का सुन्दर स्मारक। [भा० पु० वि०]

सरदारों ने सिर उठाया। दिल्ली से बिलकुल लगे हुए अलवर प्रदेश (प्राचीन मत्स्य देश) में मेव लोग रहते हैं जिससे वह मेवात कहलाता है। मेवों या मेवातियों ने दिल्ली पर धावे मारना ही अपना धन्धा बना लिया था। उत्तर-पच्छिम से अफगानिस्तान के मंगोल गज़नी से मुलतान के रास्ते दक्खिनी पंजाब और सिन्ध पर धावे मारते थे। १२४१ ई० में उन्होंने लाहौर पर चढ़ाई कर वहाँ तुर्कों की बड़ी मार-काट की।

उधर पूरबी सीमान्त पर भी वैसी ही विपत्ति उपस्थित थी। उड़ीसा के गंग-वंशी राजा नरसिंहदेव १म ने गौड पर चढ़ाई की। केवल ५० उड़िया सवारों और २०० पैदल सैनिकों के एकाएक आक्रमण करने पर तुर्क सेना सीमान्त का एक गढ़ छोड़ कर भाग गई। नरसिंहदेव के सेनापति सामन्तराज ने तुर्कों से लखनोर का गढ़ छीन लिया। गंगा के उत्तर भी तुर्कों की जहाँ तहाँ हार हुई और सामन्तराज ने लखनौती पर घेरा डाल दिया। अन्त में अवध से तुर्क सेना आने पर उसे लौटना पड़ा (१२४४ ई०)। मेदिनीपुर हावड़ा और हुगली ज़िले नरसिंहदेव के अधीन रहे। यह नरसिंह (१२३८–६४ ई०) अनन्तवर्मा चोळगंग [७,६§२] के पोते का पोता था। अपने विजयों की याद में इसने उड़ीसा के समुद्रतट पर कोणार्क का सूर्य-मन्दिर बनवाया।

§७. **बलबन**—१२४५ ई० में फिर मंगोलों के एक दल ने उच्च के गढ़ को घेर लिया। तब अल्तमश का दामाद गयासुद्दीन बलबन सेना ले कर उनके विरुद्ध बढ़ा और उन्हें मार भगाया। दिल्ली की गद्दी पर सरदारों ने अब रज़िया के छोटे भाई नासिरुद्दीन महमूद को बैठाया। उसने बलबन को अपना मन्त्री नियुक्त कर राजकाज उसके हाथ सौंप दिया। तब से दिल्ली के शासन में फिर जान पड़ी।

बलबन ने सुलतान के साथ खोकरों पर चढ़ाई की (१२४७ ई०)। नासिरुद्दीन को चनाब पर छोड़ कर वह खोकरों के देश में घुसा, और सिन्ध के किनारे उसने उनके राजा जसपाल सेहरा को हराया। किन्तु खोकरों ने सिन्ध और जेहलम के बीच तमाम बस्ती और खेती उजाड़ दी थी, इससे बलबन को शीघ्र लौटना पड़ा। वहाँ से लौट कर उसने गंगा-जमना-दोआब और मेवात पर चढ़ाइयाँ कीं, और रणथम्भोर को वापिस लेने की विफल चेष्टा की।

नासिरुद्दीन ने मालवा और जझौती की सीमा पर के नरवर चन्देरी तथा कालंजर प्रदेशों पर भी धावे मारे। वह इनपर अधिकार न कर सका, तो भी काफी लूट उसके हाथ लगी।

१२५७ ई० में मंगोलों का एक दल मुलतान ले कर सतलज तक आ पहुँचा और बड़ी मुश्किल से वापिस किया गया। यह ध्यान देने की बात है कि

इस युग में अफगानिस्तान और दिल्ली के बीच का रास्ता मुलतान हो कर जाता था। उत्तरपच्छिम पंजाब के गक्खड़ खोकर आदि लोग कभी दिल्ली के अधीन नहीं हुए। इसी कारण दिल्ली सल्तनत का मुलतान उच्च वाला इलाका एक तरफ को बढ़ा हुआ था और मंगोलों को अधिक आकर्षित करता था। ब्यासा नदी तब सतलज में मिलने के बजाय मुलतान के नीचे चनाब में मिलती थी*, जिससे रावी और सतलज के बीच आज जो 'बार' (बाँगर, सूखी ऊँची बियाबान भूमि) है; वह हरा भरा प्रदेश था। इन कारणों से सीमान्त का रास्ता तब गज़नी से उच्च मुलतान प्रदेश और दीपालपुर हो कर दिल्ली पहुँचता था। दीपालपुर तब ब्यासा के किनारे दिल्ली सल्तनत का बड़ा सीमान्त नाका था। सीमान्त का रास्ता उधर से होने के कारण नागोर और अजमेर भी तब सरहद के नज़दीक पड़ते थे।

नासिरुद्दीन महमूद के राज्यकाल में लखनौती के हाकिम उज़बक ने गंगा के दक्खिन नदिया तक और उत्तरपूरब वर्धनकोट (ज़ि० बगुड़ा) तक तुर्क राज्य की सीमा पहुँचा दी (१२५५ ई०)। उसने कामरूप पर भी चढ़ाई की, पर वहाँ उसकी वैसी ही गत बनी जैसी मुहम्मद-बिन-बख्तियार की बनी थी, और वह कामरूप के राजा की कैद में मरा।

दोआब मेवात और कटहर (आधुनिक रुहेलखंड) के हिन्दुओं के साथ संघर्ष अभी जारी था। इसलिए १२५६-६० में बलबन ने उनपर फिर चढ़ाइयाँ कीं, और १२०००० मेवों को मार डाला। १२६४ में उसने कटहर पर चढ़ाई की।

१२६६ ई० में नासिरुद्दीन की मृत्यु होने पर बलबन स्वयं सुलतान बना। मेवात दोआब और कटहर की स्थिति में कोई सुधार न हुआ था। मेव तो अब हिमालय की तराई तक और दिल्ली शहर के भीतर तक धावे मारने लगे थे।

---

* वैदिक काल में ब्यासा आजकल की तरह सतलज में मिलती थी, किन्तु आठवीं शताब्दी से पहले [७, ३ § ६] वह अपना मार्ग बदल कर चनाब में मिलने लगी थी। यह परिवर्त्तन ठीक कब से हुआ इसका पता नहीं। अठारहवीं शताब्दी के मध्य से वह फिर सतलज में मिलने लगी। उसके पुराने सूखे पाट के चिह्न अब भी मौजूद हैं। उन्हीं के अनुसार इस प्रकरण के नक्शों में ब्यासा अंकित की गई है।

उनके कारण दिल्ली की पनिहारिनों का कुओं पर जाना दूभर हो गया था और शहर के पच्छिमी दरवाजे सन्ध्या से पहले ही बन्द कर देने पड़ते थे। बलबन ने दिल्ली के पड़ोस के वे सब जंगल साफ कर दिये जिनमें मेव शरण पाते थे। उसने दोआब और कटहर पर भी फिर चढ़ाइयाँ कीं।

बलबन यों दिल्ली के पास-पड़ोस को वश में करने में लगा था कि एक मंगोल सरदार ने कश्मीर के रास्ते से उतर कर उससे लाहौर का प्रान्त छीन लिया। उसका वृत्तान्त हम आगे कहेंगे। दिल्ली सल्तनत की सीमा यों उत्तर-पच्छिम तरफ सतलज तक रह गई। किन्तु पच्छिम और दक्खिनपच्छिम मुलतान और सिन्ध अभी उसमें बने हुए थे। बलबन ने अपने बेटे मुहम्मद को मंगोलों पर निगाह रखने को मुलतान का हाकिम बनाया।

अल्तमश की तरह बलबन ने भी मालवे की तरफ से गुजरात पर चढ़ाई करने का जतन किया, पर रास्ते में चित्तौड़ के राजा समरसिंह (१२७३–१३०२ ई०) से हार कर लौट आया।

लखनौती में भी बलबन ने अपने एक विश्वासपात्र को नियुक्त किया था। उसने कामरूप और उड़ीसा पर चढ़ाइयाँ कीं, जिनमें उसे बड़ी लूट मिली। इससे उसका दिमाग फिर गया और बलबन को पच्छिमी सीमान्त पर व्यस्त देख वह मुगीसुद्दीन तोगरल नाम से स्वतन्त्र बन बैठा। उसके खिलाफ दो बार सेना भेजने के बाद बलबन ने स्वयं उसपर चढ़ाई की। तोगरल तब लखनौती से भाग निकला। बलबन ने सोनारगाँव की तरफ बढ़ कर राजा दनुजराय से, जो पूरबी और दक्खिनी बंगाल का स्वामी था, वचन लिया कि वह उधर के किसी जल-मार्ग से तोगरल को भागने न देगा। फिर उसने तोगरल का पीछा कर उड़ीसा की सीमा पर उसे जा पकड़ा, और लखनौती के बाज़ार में खुली फाँसियाँ टाँग कर विद्रोहियों को लटकवा दिया (१२८२ ई०)। अपने बेटे नासिरुद्दीन महमूद उर्फ बुगरा को गौड का हाकिम बना कर वह दिल्ली लौट आया।

१२८५ ई० में युवराज मुहम्मद मंगोलों से लड़ता हुआ मारा गया। फारसी और हिन्दी का प्रसिद्ध कवि मलिक खुसरो, जो मुहम्मद का साथी था, उसी लड़ाई में कैद हुआ। दूसरे बरस बलबन भी चल बसा। मरने से

पहले उसने बुगराखाँ को दिल्ली की सल्तनत सौंपनी चाही, पर बुगरा ने उस काँटों के ताज से गौड की सूबेदारी अधिक आराम की समझी। बुगरा का बेटा कैकोबाद चार बरस ही दिल्ली की गद्दी को कलंकित कर पाया था कि जलालुद्दीन खिलजी नामक सरदार ने उसका काम तमाम कर उसकी लाश जमना में फेंकवा दी। इस तरह दिल्ली में गुलाम वंश का अन्त हुआ (१२९० ई०)।

§८. **चोळ राज्य का टूटना, पाण्ड्य राजवंश का उदय**—हम देख चुके हैं कि बारहवीं शताब्दी के आरम्भ में समूचा दक्खिन भारत चालुक्य और चोळ राज्यों में बँटा था; पर उस शताब्दी के अन्त तक चालुक्य राज्य टूट कर महाराष्ट्र (देवगिरि) आन्ध्र (ओरंगल) और कर्णाटक (धोरसमुद्र) के अलग अलग राज्य हो गये थे। चोळ राज्य में तब तमिळ और केरल प्रान्त बचे थे। १३वीं शताब्दी की मुख्य घटना है चोळ राज्य टूट कर उसके स्थान पर पांड्य राज्य का स्थापित होना।

राजराज ३य के शासन-काल (१२१६–४५ ई०) में १२२५ ई० से पहले उसके मदुरा के सामन्त मारवर्मा सुन्दर पांड्य ने ठेठ चोळ देश अर्थात् कावेरी काँठे पर चढ़ाई कर उरैपुर (तिरुचिरप्पल्ली) और तांजोर को ले लिया, कोंगुदेश (कोयम्बतूर) पर अपना प्रभाव स्थापित किया और चिदम्बरम् तक चढ़ाई की। तब चोळ राजा को उत्तर तरफ भागना पड़ा जहाँ कुड्डलूर के उसके पल्लव सामन्त ने उसे कैद कर लिया। राजराज चोळ ने तब अपने सम्बन्धी होयसल राजा वीरनरसिंह २य (१२१८–३५ ई०) की सहायता से मुक्ति पाई। १२४४ ई० में राजराज और उसके भाई राजेन्द्र ३य में युद्ध छिड़ा। तब फिर राजराज ने वीरनरसिंह के बेटे वीरसोमेश्वर से मदद ली। राजराज मारा गया और राजेन्द्र ने गद्दी पाई। किन्तु वीरसोमेश्वर ने अब श्रीरंगम् के ५ मील उत्तर खंडनपुर (कण्णनूर) में छावनी डाल दी और कर्णाटक पठार के साथ लगा हुआ कावेरी तक का तमिळ प्रदेश दखल कर लिया। तभी ओरंगल के काकतीय राजा गणपति (१२००–१२६० ई०) ने नेल्लूर से कांची तक का उत्तरी तमिळ प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया।

§९. **जटावर्मा पांड्य**—राजेन्द्र ने गणपति से अपना प्रदेश वापिस

लिया, और सोमेश्वर की भी कुछ रोकथाम करके २१ बरस राज किया (१२४६–६७ ई०)। परन्तु इस बीच मारवर्मा का दूसरा उत्तराधिकारी जटावर्मा सुन्दर पांड्य (१२५१–७४ ई०) अपनी शक्ति बढ़ा रहा था। उसने पहले केरल को अधीन किया; फिर कावेरी काँठे पर चढ़ाई कर राजेन्द्र चोळ को करद बनाया। उसने सोमेश्वर को कण्णनूर से भगा दिया और कोंगुदेश को जीत लिया। उधर उसके भाई वीर पांड्य ने इस काल तक सिंहल को जीत लिया था। उत्तर तरफ बढ़ कर जटावर्मा ने कांची जीत ली और नेल्लूर तक समूचे तमिळ प्रदेश को दखल किया। उत्तरी पैण्णार को पार कर उसने तैलंग गणपति को उसी के देश में हराया और कृष्णा पार भगा दिया। तभी गणपति की मृत्यु हुई और उसकी बेटी रुद्रम्मा आन्ध्र देश की गद्दी पर बैठी। जटावर्मा ने उससे लड़ाई नहीं की।

लौटते हुए उसकी सोमेश्वर से फिर लड़ाई हुई, जिसमें सोमेश्वर खेत रहा (१२६२ ई०)। तब जटावर्मा ने श्रीरंगम् के मन्दिर में प्रवेश कर उसे १८ लाख सुवर्ण मुद्रा का दान दिया। श्रीरंगम् तिरुचिरप्पल्ली का उपनगर है, जो कावेरी के बीच टापू पर बसा है। समूचा नगर अब रंगनाथ के विशाल मन्दिर के सात परकोटों के बीच आबाद है और उस मन्दिर का अंश जान पड़ता है। जटावर्मा और उसकी रानी चेरकुलवल्ली की सादी मूर्त्तियाँ उस मन्दिर में अब भी विद्यमान हैं।

§ १०. **रुद्रम्मा**—रानी रुद्रम्मा ने आन्ध्र देश पर ३१ बरस राज किया (१२६०–९१ ई०)। उसके बाद अपने पोते प्रतापरुद्र को राज दे स्वयं निवृत्त हो गई। मार्को पोलो नामक इतालवी यात्री १३वीं शताब्दी के अन्त में स्थल के रास्ते इतालिया से चीन तक गया था। कुबलै खान मंगोल के दूत-मंडल में वह भारत भी आया। रुद्रम्मा के बारे में वह लिखता है कि वह बड़ी विवेकशील और न्यायपरायण स्त्री थी, "और उसकी प्रजा उसे ऐसा चाहती थी जैसा पहले किसी राजा या रानी को नहीं। ... और इस राज्य में बढ़िया नफीस कपड़े बनते हैं, जो सचमुच मकड़ी के जाले से लगते हैं। दुनिया का कोई राजा या रानी ऐसा नहीं है जो उन्हें पहन कर खुश न हो।" रुद्रम्मा के राज्य में हीरे की खानें थीं। उन हीरों के विषय में मार्को पोलो ने अनेक कहानियाँ लिखी हैं।

§ ११. **कुलशेखर पांड्य**—जटावर्मा के उत्तराधिकारी मारवर्मा कुलशेखर ने १३११ ई० तक राज्य किया। वह तमिळ देश का अत्यन्त समृद्धि का युग था। अरब लोग, जो उस काल में युरोप और चीन के बीच मुख्य व्यापारी थे, तमिळनाड को संसार का सबसे समृद्ध देश मानते थे। खम्भात से कनारा तक का भारत का पच्छिमी तट उन्हें पसन्द न था, क्योंकि वहाँ समुद्री डाकुओं के अनेक अड्डे थे, और उसके अलावा वहाँ यह कायदा था कि यदि कोई जहाज विप्रनष्ट होकर किसी बन्दर पर आ लगे तो वह वहाँ के राजा का हो जाता था। इसके विपरीत केरल तमिळ और आन्ध्र तटों पर विदेशी व्यापारियों को अनेक सुविधाएँ थीं। राजा गणपति के वे शासनपत्र अभी तक विद्यमान हैं जिनमें उसने विदेशी व्यापारियों को आश्वासन दिलाया है कि उसके राज्य में उनसे 'कूपशुल्क' (देश की सीमा पर ली जाने वाली चुङ्गी) के सिवाय और कोई चुंगी न ली जायगी। वैसी ही सुविधा तमिळदेश में भी थी। इसी से "कूलम (कोल्लम) से निलावर (नेल्लूर) तक" के प्रदेश को अर्थात् केरल और तमिळनाड को अरब लोग "मअबर" यानी रास्ता कहते थे—वह उनके लिए चीन जाने का खुला रास्ता था। इस मअबर में तीन बड़े बन्दरगाह तब प्रसिद्ध थे—रामेश्वरम् का पट्टण, देवीपट्टणम् तथा ताम्रपर्णी के मुहाने में कायलपट्टणम्। "चीन और महाचीन की अद्भुत कला की वस्तुएँ और हिन्द और सिन्ध की सब उपज लादे हुए जंक कहलाने वाले जहाज, जो पानी पर हवा के पंख फैलाये हुए पहाड़ से लगते थे", सदा इन पट्टणों को घेरे रहते थे। ओरमुज़ ईरान और अरब से वहाँ बड़ी संख्या में घोड़े आते थे। राजा कुलशेखर हर साल १० हज़ार घोड़े ईरान और अरब में खरीदता था, जिसके लिए ईरान की खाड़ी में कैस टापू के सरदार मलिक जमालुद्दीन को ठेका दिया गया था। जो घोड़े राह में मर जाते उनके दाम भी कुलशेखर चुका देता था। जमालुद्दीन की एक कोटी कायलपट्टणम् में थी, जहाँ उसका भाई रहता था। उसे इन पट्टणों के कूपशुल्क का ठेका भी दिया गया था। अरब लोगों की दृष्टि में "ईरान की खाड़ी के द्वीपों और ईराक से रोम और युरोप तक सब देशों की समृद्धि मअबर पर निर्भर थी।" राजा "कलेस देवर" (कुलशेखर देव) के

न्याय शासन की उन्होंने बड़ी प्रशंसा की है।

§ १२. **बघेल-सोलंकियों का उदय**—आन्ध्र और महाराष्ट्र के उत्तर तरफ उड़ीसा के गंगों और गुजरात के चालुक्यों का सम्बन्ध उत्तर और दक्खिन दोनों से था। जब अल्तमश गुजरात पर चढ़ाई करना चाहता था तभी देवगिरि का राजा सिंघण भी उसपर घात लगाये था। भोला भीम के मन्त्री वीरधवल ने दोनों से गुजरात को बचाया। भीम के उत्तराधिकारी से १२४३ ई० में वीरधवल के बेटे ने राज्य छीन लिया। वीरधवल भी गुजरात के सोलंकियों की दूसरी शाखा में से था। उस शाखा के पास व्याघ्रपल्ली या बघेल गाँव की जागीर थी। इस कारण ये बघेल-सोलंकी कहलाये।

§ १३. **चेदि राज्य का टूटना**—महाराष्ट्र और उड़ीसा के बीच त्रिपुरी का चेदि राज्य था, जिसकी स्वाभाविक सीमा वर्धा नदी से मगध के दक्खिन-पच्छिम तक थी। उस राज्य पर कोई तुर्क आक्रमण नहीं हुआ, तो भी १२वीं सदी के अन्त में वह आप से आप छिन्न-भिन्न हो गया, और उसके इलाकों में जहाँ तहाँ छोटे मोटे सरदार खड़े हो गये। उत्तरपूरबी चेदि में गुजरात के बघेल सोलंकियों की एक शाखा जा बसी, जिससे वह प्रदेश बघेलखंड कहलाने लगा। इन बघेलों ने जझौती के चन्देलों से कालंजर ले लिया। महाकोशल अर्थात् छत्तीसगढ में चेदि राजवंश की एक छोटी शाखा राज करती थी। उनकी राजधानी रत्नपुर थी।

§ १४. **मालवे के परमार और जझौती के चन्देल**—बारहवीं शताब्दी में गुजरात के सिद्धराज जयसिंह ने मालवे को जीत लिया था [७, ६ § ५]। पर तेरहवीं शताब्दी में वहाँ के परमार राजा ने फिर स्थानीय सरदार रूप में सिर उठाया। दिल्ली सल्तनत और मालवे के बीच रणथम्भोर का चौहान राज्य बना रहने से इनकी स्वाधीनता बनी रही।

जझौती के चन्देल राज्य से पृथ्वीराज ने जब धसान नदी तक का प्रदेश ले लिया था तभी से उसका सम्बन्ध उत्तर के मैदान से टूट गया था। फिर उससे कालपी का मैदान और कालंजर भी छिन गया, तो भी बाकी प्रदेश में चन्देलों की शक्ति बनी रही। दिल्ली के गुलाम वंश के समकालीन जझौती में

केवल दो राजाओं त्रैलोक्यवर्मा (१२१२–६१ ई०) और वीरवर्मा (१२६१–८६ ई०) ने राज्य किया।

§१५. **गंग सेन कर्णाट राज्य**—उड़ीसा के गंग राजा इस शताब्दी में बड़े प्रबल रहे। आन्ध्र और छत्तीसगढ़ की सीमा से हुगली ज़िले के मन्दारण गढ़ तक उनका राज्य था। उनकी राजधानी जाजपुर थी, जिसके नाम से फारसी लेखक उन्हें जाजनगर के राजा कहते थे।

सुवर्णग्राम के सेन राजा इस शताब्दी भर दुर्बल रहे। गौड के तुर्कों के अलावा अराकान के मग भी उनके राज्य पर धावे मारते रहे। १२३८ ई० में कामरूप राज्य से, जैसा हम अभी देखेंगे, पूरबी असम छिन गया और बंगाल में भी वह राज्य अन्तिम साँस ले रहा था। तिरहुत में नान्यदेव के वंशज कर्णाट राजाओं ने दिल्ली और लखनौती के बीच खुले मैदान में अपनी स्वतन्त्रता बनाये रक्खी।

§१६. **कश्मीर और अन्य पहाड़ी राज्य**—कश्मीर राज्य का इस युग का पूरा इतिहास उपलब्ध है। बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में डामरों (जागीरदारों) के उपद्रवों और राज्याधिकारियों की भ्रष्टता और तुच्छता को वहाँ के दुर्बल राजा नहीं दबा सके, जिससे राज्य की बड़ी दुर्दशा रही। किन्तु ११६६ से १२७२ ई० तक वहाँ चार शक्त राजा हुए जिन्होंने डामरों को दबा कर सुशासन जारी रक्खा। उसके बाद राजा लक्ष्मण या लक्ष्मदेव के गद्दी पर बैठते ही शासन-यन्त्र फिर ढीला पड़ गया। तभी एक मंगोल सरदार ने कश्मीर पर चढ़ाई की। लक्ष्मदेव कश्मीर के पूरबी छोर पर लिदर† दून में भाग गया जहाँ उसका सवा तेरह बरस (१२७३–८६) नाम का प्रशासन रहा। कश्मीर इस बीच लुटता उजड़ता रहा।*

---

† अमरनाथ पर्वत से निकलने वाली नदी जिसके तट पर प्रसिद्ध स्वास्थ्य-स्थान पहलगाम बसा है। संस्कृत लेदरी।

* इस परिच्छेद तथा ४थे ५वें अध्यायों के कश्मीर विषयक परिच्छेदों के विषय की विशेष विवेचना के लिए देखिए जयचन्द्र विद्यालंकार (१६५६)—भारतीय इतिहास की मीमांसा, नवपरिशिष्ट ४ इ उ (पृ० ३७१—४५७)।

कश्मीर के पूरब नेपाल तक पहाड़ में छोटे छोटे हिन्दू राज्य बने रहे, पर उन सभी का जीवन अपने संकीर्ण दायरों में ही बन्द रहा।

§१७. अफगानिस्तान की दुर्दशा, नगोदर की कश्मीर चढ़ाई और लाहौर पर अधिकार—मंगोलों का साम्राज्य मध्य और पच्छिमी एशिया होते हुए युरोप के पूरबी भाग तक में फैल गया। मध्य एशिया का शासन चंगेज़ के छोटे बेटे चगतइ को सौंपा गया था। अफगानिस्तान मंगोल साम्राज्य का दक्खिनी सीमा-प्रदेश था, जहाँ उन्होंने नियमित शासन स्थापित न किया। तेरहवीं शताब्दी में वहाँ अव्यवस्था मची रही। वंतु और सिन्ध नदियों के बीच के सब प्रदेशों को अर्थात् बलख बदख्शाँ ठेठ अफगान प्रदेश और पच्छिमी गन्धार को "करौना" लुटेरे बरबाद करते रहे। समकालिक इतालवी यात्री मार्को पोलो ने उस बरबादी का आँखों देखा वर्णन किया है। "करौना ... भारतीय माताओं के तातार पिताओं से पुत्र थे।" भारतीय से अभिप्राय यहाँ स्पष्ट ही मध्य एशिया और अफगानिस्तान के भारतीयों से है, और तातार का अर्थ अल्तइक वंश के लोग अर्थात् तुर्क और मंगोल दोनों है। करौना उनके मिश्रण से पैदा हुए दोगले थे। उनके नेता की स्वात कश्मीर पंजाब चढ़ाई का वर्णन मार्को पोलो ने यों किया है †—

"इन बदमाशों का राजा नगोदर था। नगोदर बड़े खान के भाई चगतइ के दरबार में १० हज़ार सवारों के साथ आया। चगतइ उसका ताऊ (अथवा मौसा या मामा) था। ... उसका ताऊ जब बृहत्तर अरमिनिया में था, तब नगोदर अपने सवारों सहित भाग गया, पहले बदख्शाँ में, फिर ... (हिन्दकोह को मंडल घाटे से पार कर) दीर (स्वात बुनेर) अग्रोर (उरशा अथवा हज़ारा के पच्छिमी अंश की दून जो कश्मीर के अधीन थी) कश्मीर। वहाँ सड़कें बहुत तंग और खतरनाक होने से उसके बहुत घोड़े और आदमी मरे। इन सब प्रान्तों को जीत कर वह भारत घुसा लाहौर प्रान्त के किनारे पर। उस नगर को वहाँ के राजा गियासुद्दीन (बलबन) सुल्तान से, जो बड़ा शक्तिशाली

† स्थानों और व्यक्तियों के नाम जो मार्को पोलो ने अपने उच्चारण के अनुसार लिखे हैं, उन्हें मूल रूप देते हुए।

और धनाढ्य था, छीन कर वहाँ बैठ गया। वहाँ अब नगोदर अपनी सेना के साथ रहता है।"

यों नगोदर बदख्शाँ से कूनड़ स्वात नदियों की दूनों द्वारा भारत में घुसा और लग० १२७३–८६ ई० में स्वात कश्मीर और लाहौर उसके शासन में रहे। कश्मीरी इतिहास में उसका नाम कज्जल तुरुष्क है। उसके पीछे कश्मीर में तो लक्ष्मदेव के वंशजों का राज्य फिर स्थापित हुआ, बाकी प्रदेशों में कैसे क्या परिवर्त्तन हुआ इसपर अभी तक ठीक ठीक प्रकाश नहीं पड़ा।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. अल्तमश के कन्नौज-विजय-स्मारक सिक्कों से क्या सिद्ध होता है? वे सिक्के किस घटनावली के परिणामस्वरूप निकाले गये?

२. चंगेज़ खान कब हुआ? उसने मध्य एशिया में क्या परिवर्त्तन किया? भारत के किस अंश तक वह आया? उसके कार्य का प्रभाव भारत पर क्या पड़ा?

३. मेवाड़ के गुहिलोत कौन थे? वे पहलेपहल कब कैसे प्रसिद्धि में आये?

४. कोणार्क मन्दिर किस राजा ने बनवाया? उस राजा के विषय में आप और क्या जानते हैं?

५. १३वीं शताब्दी की किन्हीं दो ऐसी रानियों का वृत्तान्त लिखिए जिन्होंने भारत के किसी बड़े प्रदेश पर राज किया हो।

६. दिल्ली के गुलाम सुल्तानों के युग में पंजाब की स्थिति को स्पष्ट कीजिए।

७. दीपालपुर दिल्ली सल्तनत का सीमान्त नाका कैसे था? वह किस नदी के तट पर था? अब उसके तट पर क्यों नहीं है?

८. अरब लोग 'मअबर' किस प्रदेश को कहते थे? वहाँ के राज्य का संक्षिप्त विवरण लिख कर बताइए कि इराक रोम और योरप तक सब देशों की समृद्धि 'मअबर' पर क्यों निर्भर थी?

९. चेदि राज्य कब और क्यों टूटा? उत्तरपूरबी चेदि का नाम बघेलखंड कब किस कारण पड़ा?

१०. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए—(१) खोकर (२) मेव (३) बलबन की लखनौती चढ़ाई (४) बघेल सोलंकी (५) जाजनगर (६) कज्जल तुरुष्क (७) मार्को पोलो।

११. तेरहवीं शताब्दी में निम्नलिखित के इतिहास का संक्षिप्त ब्यौरा दीजिए—(क) द्राविड-भाषी भारत (ख) चेदि और जझौती (ग) उड़ीसा, बंगाल, बिहार।

अध्याय ३

मंगोलों का विश्व-साम्राज्य और परला हिन्द

§१. **मंगोल साम्राज्य का विस्तार**—चंगेज़ खान सन् १२०३ में मंगोलों का खान बना, और १२१६ ई० तक उसने उत्तरी और मध्य एशिया से पच्छिमी एशिया तक सब तुर्क राज्यों को उखाड़ फेंका। १२२७ ई० में उसकी मृत्यु पर मंगोल साम्राज्य प्रशान्त महासागर से रूस बुल्गारिया और हुनगारी के अन्दर तक पहुँच चुका था। अफगानिस्तान लेने के बाद चंगेज़खाँ ने भारत हो कर कामरूप के रास्ते वापिस जाने का इरादा किया, पर हमारे देश की गर्मी वह न सह सका और लौट गया। अफगानिस्तान में अब जो हज़ारा नाम के लोग हैं, वे चंगेज़ के मंगोलों के ही वंशज हैं।

चंगेज़ के वंशज उसी की तरह प्रतापी हुए। चंगेज़ के बाद उसके बेटे ओगोतइ ने राज्य किया (१२२७–४१ ई०), फिर ओगोतइ के भतीजे मानकू खान ने (१२४१–५६ ई०), और उसके पीछे मानकू के भाई कुबलैखान ने (१२५६–६४ ई०)। इनके काल में मंगोल साम्राज्य प्रशान्त महासागर से बाल्तिक सागर और दक्खिनी चीन सागर तक फैल गया। साम्राज्य की राजधानी मंगोलिया में ही रही।

सोता-तारीम का काँठा, वंक्षु-सीर दोआब, बलख और गज़नी प्रान्त चंगेज़ के बेटे चगतइ को दिये गये, जिससे उस सारे देश का नाम ही बाद में चगतइ पड़ गया, और वहाँ के तुर्क भी चगतइ तुर्क कहलाने लगे। ओगोतइ और मानकू के प्रशासनों में सारा चीन भी जीत लिया गया। मानकू के भाई हलाकू खान की राजधानी तबरेज़ (ईरान) में थी। उसने १२५८ ई० में बगदाद के खलीफा मोतसिमबिल्ला का वध कर खिलाफत की जड़ उखाड़ डाली। कुबलै का दूत-सम्बन्ध १२८६ ई० तक दक्खिन भारत के राज्यों से भी स्थापित हो गया। १२८६ ई० में "मअबर" के राजा मारवर्मा कुलशेखर ने कुबलै के पास अपने दूत भेजे। कुबलै ने अपना बेड़ा सुमात्रा-जावा को जीतने भी भेजा (१२६३ ई०)। वे द्वीप उसके साम्राज्य में शामिल तो न हुए, पर उसकी

चढ़ाई से वहाँ के पुराने राज्य समाप्त हो गये।

§२. परले हिन्द और असम में चीन-किरात जातियों का आना—मंगोलों की इस प्रगति से चीन और तिब्बत की अनेक जातियों में भी खलबली मच गई, और वे दक्खिन की ओर बढ़ीं। बरमा-स्याम-व्येतनम प्रायद्वीप में चीन-किरात जातियों की प्रधानता तभी से हुई। उससे पहले वहाँ आग्नेय लोग थे, जिनमें भारतीय प्रवासी खूब घुल मिल चुके थे। चीन से अब आने वाली जातियों में दै (तइ)* और शान उल्लेखनीय हैं। कम्बुज राष्ट्र का पच्छिमी अंश अब उनके कारण दइ-देश या स्याम कहलाने लगा। कम्बुज राष्ट्र का उत्तरी प्रान्त सुखोदय था [७,७§३]। तेरहवीं शताब्दी के मध्य में एक दै सरदार ने उसे जीत लिया। उस सरदार ने अपना विरुद (राजकीय उपनाम) इन्द्रादित्य रक्खा। उसके बेटे राम खामहेंग (लग० १२८३—१२६६ ई०) ने मेकोङ नदी और मलाया प्रायद्वीप तक के प्रदेश जीते।

हिन्द-चीन प्रायद्वीप के इन नये विजेताओं ने पुराने हिन्दू राज्य दबा या मिटा दिये, पर स्वयं उनके धर्म सभ्यता और लिपि की दीक्षा ले ली। उसी शान जाति की एक शाखा अहोम ने कामरूप का पूरबी भाग प्राग्ज्योतिष जीत लिया, जिससे वह प्रान्त असम कहलाने लगा। अगली शताब्दी में कामरूप का पच्छिमी अंश भी जीता गया, पर अहोम लोग स्वयं धीरे धीरे हिन्दुओं में घुल मिल गये। असम में अब भी फूकन बरुआ आदि जो उपनाम हैं, वे अहोमों के ही हैं।

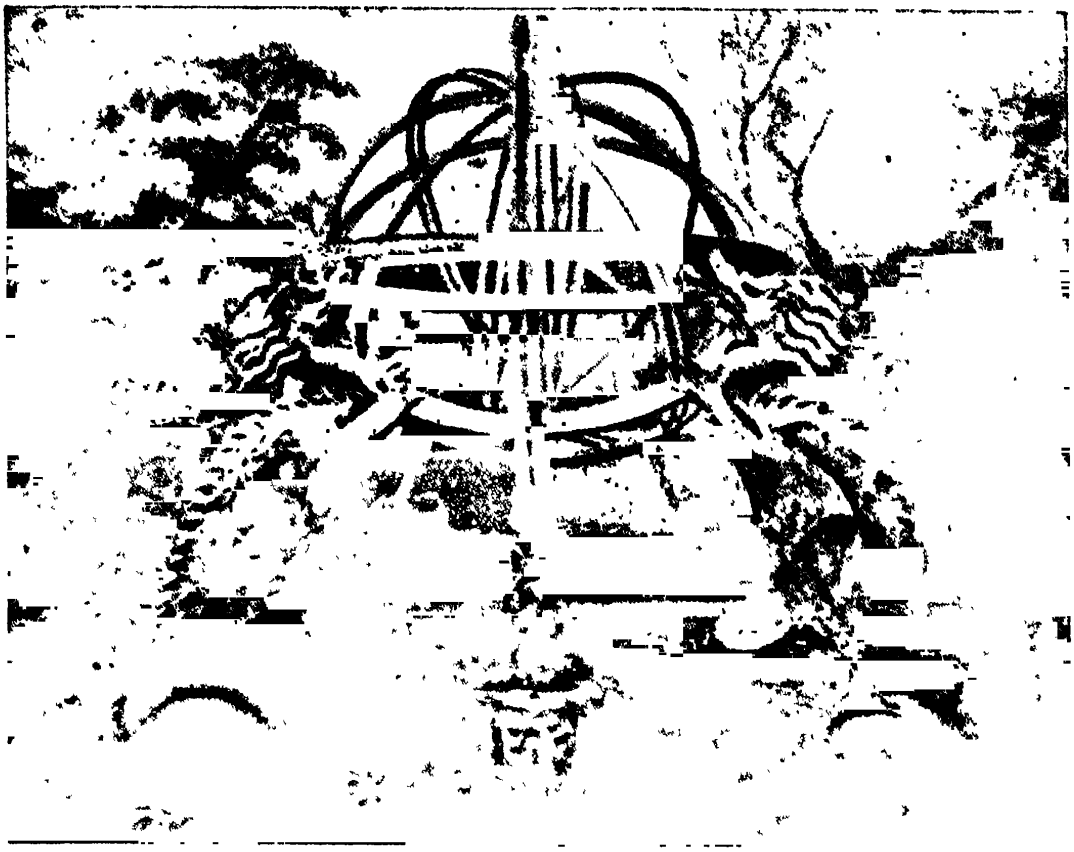
§३. मंगोलिया में बौद्ध मत का प्रचार—मध्य युग के संसार की अन्य जातियाँ जब अपने अपने तंग दायरों में कूपमण्डूकों की तरह सीमित और सन्तुष्ट थीं, तब मंगोलों ने विश्व-साम्राज्य खड़ा किया। भूमंडल की किसी भी रुकावट की उन्होंने परवा न की। अनेक प्रकार की सभ्यताओं विचारों और

---

* स्यामी लिपि भारतीय वर्णमाला में ही लिखी जाती है [१,२§५]। स्यामी अपने राष्ट्र का नाम ठीक दै लिखते हैं, उसका उच्चारण तै या तइ करते हैं, अंग्रेजी से नकल करने में वही थाई बन जाता है। अपने देश को वे प्रदेस-दै अर्थात् दै प्रदेश कहते हैं, जिसका अंग्रेजी रूपान्तर थाइलैंड बन गया है।

धर्मों के सम्पर्क में आने के कारण उनकी दृष्टि भी बड़ी उदार हो गई थी।

मुहम्मद-बिन-बख्तियार ने जब बिहार जीता तब विक्रमशिला महाविहार का आचार्य श्रीभद्र नामक कश्मीरी था। वह भाग कर नेपाल पहुँचा, और वहाँ से तिब्बत के साक्य विहार में बुलाया गया। उसका तिब्बती शिष्य कुङ्ग्येंछन पीछे साक्य विहार का महन्त बना। चंगेज़ ने जब अफगानिस्तान जीता तभी कुङ्ग्येंछन मंगोलिया को बौद्ध मार्ग की दीक्षा देने गया (१२२२ ई०)। सम्राट् ओगोतइ उसका चेला बन गया। सम्राट् मानकू खान ने अपनी राजधानी में



चीन की राजधानी पेकिङ में कुबलै खान की बनवाई वेधशाला के खँडहरों में काँसे का गोल यन्त्र (अन्तरिक्ष में राशियों की आपेक्षिक स्थिति देखने का यन्त्र—अंग्रेजी 'आर्मिलरी स्फ़ीयर')—मंगोलों के विज्ञान-प्रेम का प्रमाण।

सभा बुला कर यह तय करना चाहा कि संसार का कौन सा मत सब से अच्छा है। पहले तो उस सभा में ईसाई और इस्लाम मतों की जीत होती दिखाई दी, पर अन्त में कुङ्ग्येंछन के भतीजे फग्स्पा का भाषण सुन कर मानकू ने कहा, "हाथ की हथेली से जैसे पाँचों अँगुलियाँ निकली हैं, वैसे ही बौद्ध मत से

सब मत निकले हैं।" कुबलै ने फग्स्पा को अपना राजगुरु बनाया। तिब्बती से बौद्ध ग्रन्थों के मंगोल भाषा में अनुवाद कराये गये, और फग्स्पा ने मंगोल भाषा लिखने के लिए ब्राह्मी वर्णमाला की लिपि भी बनाई। मंगोल सम्राटों ने अपने इन गुरुओं को तिब्बत में जागीरें दीं, जिससे वहाँ लामा-शासन की नींव पड़ी।

'फग्स्पा' उस विद्वान् का उपनाम था, नाम नहीं। वह संस्कृत 'आर्य' का अनुवाद है। फग्स्पा-लिपि के लेख मंगोल सम्राटों के सोने के बर्त्तनों पर और कुछ शिलाओं पर खुदे हुए भी मिले हैं। उसका प्रत्येक अक्षर जटिल तान्त्रिक 'यन्त्र' सा है। वज्रयान और तन्त्रमार्ग के विश्वासों के अनुसार वैसे संकेतों में मन्त्र-शक्ति मानी जाती थी। पर वैसे जटिल संकेत जनता में न चल सकते थे। इसी से वह लिपि अधिक चली नहीं।

§४. मंगोलों की विश्व को देन—मंगोलों द्वारा चीन से बारूद का ज्ञान युरोप पहुँचा, जिससे अगले युग में संसार की काया पलट गई। मध्य युग के पूरबी और पच्छिमी संसार की सभ्यताएँ जब निश्चेष्ट और मन्द हो चुकी थीं तब मंगोलों ने उन्हें मानो मथ कर उनमें गति और जीवन पैदा किया।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. तेरहवीं शताब्दी के मंगोल साम्राज्य का विस्तार कहाँ से कहाँ तक था?
२. चगतई देश कौन सा था? उसका वह नाम कैसे पड़ा?
३. अहोम लोग भारत के किस प्रदेश में कब कैसे कहाँ से आये?
४. चीन में मंगोल साम्राज्य स्थापित होने से परले हिन्द में क्या परिवर्त्तन हुए?
५. मंगोलिया में बौद्ध मत का प्रचार कैसे हुआ?

अध्याय ४

सल्तनत का चरम उत्कर्ष

(१२९०–१३२५ ई०)

§१. जलालुद्दीन खिलजी, मालवे का विजय—जलालुद्दीन दिल्ली की गद्दी पर बैठा तो ७० बरस का था। वह स्वभाव का नरम और क्षमाशील

था। सन् १२९१ में उसने रणथम्भोर पर चढ़ाई की। वहाँ सफलता की आशा न देख वह उज्जैन की तरफ चला गया और उसे लूटने में सफल हुआ। दो बरस बाद उसके भतीजे और दामाद अलाउद्दीन ने मालवे पर फिर चढ़ाई करके भिलसा अर्थात् पूरवी मालवा पर अधिकार कर लिया। तब से मालवा दिल्ली का सूबा बना।

इधर १२९२ ई० में मंगोल सतलज पार कर सुनाम (पटियाला के पास) तक बढ़ आये, किन्तु वहाँ उनकी हार हुई, और उनमें से तीन हज़ार नें मुसलमान बन कर सुल्तान की सेवा स्वीकार की।

§२. **अलाउद्दीन की महाराष्ट्र चढ़ाई**—मालवे का मुख्य अंश जीता जाने से गुजरात और दक्खिन का सीधा रास्ता तुर्कों के हाथ आ गया।



देवगिरि का गढ़

आजकल के इलाहाबाद ज़िले का मुख्य स्थान तब कड़ा-माणिकपुर था। वह दिल्ली सल्तनत का सब से पूरवी प्रदेश था, क्योंकि बलबन की मृत्यु पर उसका बेटा लखनौती में स्वतन्त्र हो गया था और बिहार लखनौती के साथ था।

अलाउद्दीन कड़ा का हाकिम था। वह महत्त्वाकांक्षी था। पहले उसने बंगाल जीतने का इरादा किया, पर पीछे उसे दक्खिन जीतना उपयुक्त प्रतीत हुआ, क्योंकि दक्खिन भारत के हिन्दू राज्य भीतर से सब थोदे हो चुके थे और उनमें खूब धन सञ्चित था। मालवे की पूरबी सीमा पर चेदि राज्य का चन्देरी प्रदेश (=आजकल के सागर दमोह ज़िले) था। आठ हज़ार सेना के साथ चन्देरी पर चढ़ाई करने के बहाने अलाउद्दीन दक्खिन की ओर बढ़ा और चन्देरी से इलिचपुर होते हुए एकाएक देवगिरि को जा घेरा (१२९४ ई०)। वहाँ के राजा रामदेव ने ख्याल भी न किया था कि उसपर यों एकाएक आक्रमण हो जायगा। देवगिरि का पहाड़ी गढ़ अत्यन्त दुर्भेद्य था, पर उसमें रसद ठीक से जुटा कर न रक्खी गई थी। रामदेव ने हार कर इलिचपुर का इलाका (उत्तरी बराड़) और बहुत सा धन अलाउद्दीन को दिया। अपनी उस लूट को लिये वह कड़ा वापिस आया। वहाँ उसने सुल्तान को वह लूट भेंट करने के बहाने बुलाया। बूढ़ा चचा जब उसे छाती से लगा रहा था तब उसने उसे कत्ल करा दिया और खुद दिल्ली का सुल्तान बन बैठा (१२९५ ई०)।

§ ३. **गुजरात-राजस्थान-विजय**—राज सँभालते ही अलाउद्दीन को मंगोलों का सामना करना पड़ा। १२९६ ई० में एक लाख मंगोल मुलतान पंजाब और सिन्ध जीतने को चढ़ आये। सेनापति ज़फ़रखाँ ने जलन्धर के पास उन्हें हरा दिया और वे लौट गये। मंगोलों के आक्रमण अलाउद्दीन को अपने लक्ष से न टाल सके।

१२९७ ई० में उसने अपने भाई उलूगखाँ और सेनापति नसरतखाँ को गुजरात पर चढ़ाई करने भेजा। मालवे से उन्होंने मेवाड़ के रास्ते बढ़ना चाहा, किन्तु राजा समरसिंह ने उन्हें मार भगाया। तब मेवाड़ के दक्खिन घूम कर वे आसावल (आशापल्ली) जा पहुँचे। यह वह स्थान है जहाँ अब अहमदाबाद बसा है। वहाँ से उन्होंने अणहिलपाटन पर चढ़ाई कर उसे ले लिया। राजा कर्ण, जिसे गुजरात में करण घेलो (पगला कर्ण) कहते हैं, भाग कर देवगिरि चला गया। तुर्कों ने खम्भात का प्रदेश खूब लूटा और उजाड़ा।

गुजरात की चढ़ाई से लौटते हुए नौमुस्लिम मंगोलों ने विद्रोह किया।

वे बड़ी संख्या में मारे गये और बहुत से जहाँ तहाँ भाग गये। अलाउद्दीन ने दिल्ली में उनकी स्त्रियों और बच्चों से बदला चुकाया। १२९९ ई० में फिर दो लाख मंगोल सेना कुतलग नामक सरदार के नेतृत्व में दिल्ली तक आ पहुँची। इस बार उन्होंने रास्ते में कहीं लूटमार न की क्योंकि दिल्ली को जीत लेना ही उनका उद्देश था। घोर युद्ध के बाद उनकी हार हुई। इस युद्ध में सेनापति ज़फ़रखाँ काम आया।

मालवा और गुजरात के दिल्ली साम्राज्य में चले जाने से राजस्थान के राज्य तीन तरफ़ से घिर गये। अलाउद्दीन ने एक तरफ़ इन राज्यों को जीतना तथा दूसरी तरफ़ ताप्ती के आगे दक्खिन की ओर बढ़ना अपना उद्देश बना लिया। राजस्थान में रणथम्भोर का चौहान राज्य उसका सबसे पहला पड़ोसी था। वहाँ के राजा हम्मीर ने इसी अवसर पर एक भागे हुए मंगोल सरदार को शरण दी, और अलाउद्दीन के माँगने पर उसे लौटाने से इनकार किया। अलाउद्दीन ने तब उसपर चढ़ाई की। एक बरस के कड़े युद्ध के बाद हम्मीर के मारे जाने पर गढ़ सुलतान के हाथ लगा। सेनापति नसरतखाँ भी इस युद्ध में काम आया (१३०१ ई०)। रणथम्भोर की जीत से दिल्ली सल्तनत की सीमा मेवाड़ से जा लगी। समरसिंह के बेटे रत्नसिंह को मेवाड़ की गद्दी पर बैठे अभी कुछ महीने ही बीते थे कि अलाउद्दीन ने चित्तौड़ को घेर लिया (१३०२ ई०)। ६ महीने घिरे रहने के बाद रसद और पानी चुक गये तो गढ़ अलाउद्दीन के हाथ आया। रत्नसिंह मारा गया और उसकी रानी पद्मिनी ने बहुत सी स्त्रियों के साथ जौहर कर लिया। अलाउद्दीन ने चित्तौड़ का राज्य अपने बेटे खिजरखाँ को दे कर उसका नाम खिजराबाद रक्खा।

§४. मंगोलों के आक्रमण—अलाउद्दीन चित्तौड़ को मुश्किल से ले पाया था कि दिल्ली पर मंगोलों की नई चढ़ाई की खबर आई। तरगी नामक मंगोल सरदार ने बड़ी सेना के साथ जमना किनारे डेरा आ डाला और दिल्ली को घेर लिया था। अलाउद्दीन के आने पर वह हट गया। मंगोलों को किलों को सर करने का अभ्यास न था, इसी से वे दिल्ली के घेरे से ऊब गये थे। १३०४ ई० में फिर मंगोल चढ़ाई हुई। तब अलाउद्दीन ने गाज़ी तुगलक नामक

सेनापति को मगोलों को रोकने के लिए दीपालपुर के सरहद्दी थाने पर नियुक्त किया। उसके बाद भी दो बार मंगोल फिर चढ़ आये, पर गाज़ी तुगलक ने उनका दृढता से मुकाबला किया, और फिर तो उसने कई बार काबुल और लमगान तक उनका पीछा किया।

सन् १३०५ से १३११ ई० तक अलाउद्दीन ने मारवाड़ पर सेनाएँ भेज कर सिवाना जालोर भिन्नमाल सांचोर आदि छोटे छोटे राज्य जीत लिये तथा जयसलमेर को भी लूटा।

§५. मलिक काफूर की दक्खिन चढ़ाइयाँ—गुजरात की चढ़ाई में अलाउद्दीन की सेना ने जो दास पकड़े थे उनमें से दो अछूत थे जो मुसलमान बनने पर मलिक काफूर और नासिरुद्दीन खुसरो कहलाये। काफूर धेड़ जात का था जो गुजरात में बर्त्तन माँजने का काम करते हैं। उसमें सेनानेतृत्व की स्वाभाविक योग्यता थी। वह हिन्दू रहता तो बर्त्तन ही माँजता रहता, मुसलमान बनने पर उसकी महत्वाकांक्षा जाग उठी और उसे अपनी योग्यता दिखाने का अवसर मिला। राजा रामदेव ने इलिचपुर का कर भेजना बन्द कर दिया था, इसलिए १३०६-७ ई० में अलाउद्दीन ने बड़ी सेना मलिक काफूर के नेतृत्व में उधर रवाना की। नासिक के उत्तर और ताप्ती के दक्खिन का पहाड़ी प्रदेश जो महाराष्ट्र का उत्तरपच्छिमी छोर है, बागुल्ल देश या बागलान कहलाता था। गुजरात से भाग कर कर्ण सोलंकी रामदेव के राज्य में बागलान के साल्हेरगढ़ में रहता था। मलिक काफूर ने मालवा और गुजरात होते हुए वहाँ कर्ण को जा घेरा और हराया। देवगिरि का यादव राजा रामदेव और उसका बेटा शंकर भी कैद हो कर दिल्ली पहुँचे, और अधीनता मानने पर अपने देश वापिस भेजे गये। इलिचपुर प्रान्त काफूर ने दखल कर लिया।

दूसरे बरस काफूर को ओरंगल की चढ़ाई पर भेजा गया (१३०८ ई०)। एक बरस गढ़ में घिरे रहने के बाद राजा प्रतापरुद्र ने बहुत सा खजाना और वार्षिक कर का वचन दे कर छुटकारा पाया। एक हज़ार ऊँटों पर उस लूट को लादे हुए काफूर दिल्ली वापिस पहुँचा। १३१० ई० के अन्त में वह फिर रवाना हुआ और धोरसमुद्र के राजा वीर बल्लाल को हरा कर उससे भारी रकम वसूल

की और अधीनता का वचन लिया।

तमिळ देश के राजा कुलशेखर ने अपने छोटे बेटे वीर पांड्य को अधिक योग्य जान कर उत्तराधिकारी बनाया था। इसपर बड़े बेटे सुन्दर पांड्य ने पिता को मार डाला (१३११ ई०), और जब वीर पांड्य ने उसपर चढ़ाई की तब वह मलिक काफूर की मदद लेने पहुँचा। इस दशा में काफूर ने 'मअबर' पर चढ़ाई की। घाट पार कर वह कावेरी-काँठे में उतरा और कण्णनूर पर छावनी डाली। वहाँ से श्रीरंगम् चिदम्बरम् आदि की बस्तियों और मन्दिरों को लूटते हुए उसने तिरुचिरप्पल्ली से मदुरा पर चढ़ाई की, और मदुरा से पट्टणम् अर्थात् रामेश्वर-पट्टण के सामने तक जा पहुँचा, जहाँ उसने मस्जिद बनवाई। वीर पांड्य इस बीच जंगलों में भाग गया था। मदुरा में कुछ सेना छोड़ कर बहुत बड़ी लूट के साथ १३११ ई० के अन्त में काफूर दिल्ली पहुँचा।

§ ६. **रविवर्मा कुलशेखर**—मलिक काफूर के तमिळनाड से लौटते ही केरल के कूपक-वंशी राजा रविवर्मा कुलशेखर ने समूचे तमिळ देश पर अधिकार कर लिया। मदुरा में दिल्ली की जो सेना थी, वह उस शहर में घिर गई। वीर पांड्य कोंकण भाग गया। रविवर्मा की राजधानी कोल्लम्* थी।

देवगिरि के राजा शंकर ने खिराज देना बन्द कर दिया और पिछली चढ़ाई में मदद भी न की थी। इस कारण १३१२ ई० में काफूर ने चौथी बार दक्खिन पर चढ़ाई कर उसे हराया और समूचे महाराष्ट्र को लूटा।

§ ७. **अलाउद्दीन का शासन**—अलाउद्दीन कठोर शासक था। तुर्क सरदारों की उच्छृङ्खलता दबाने के लिए उसने उनके पारस्परिक प्रीतिभोजों तक को बन्द कर दिया। उसने स्वयं शराब पीना छोड़ा और राज्य में उसकी कड़ी मनाही कर दी। उसने सब मुफ्तखोरों की वक्फ़ जागीरें आदि ज़ब्त कर लीं। पिछले सुल्तान शरीअत अर्थात् इस्लामी कानून के अनुसार शासन करते थे; अलाउद्दीन ने अपने राजकीय अधिकार को उससे भी ऊँचा मान कर स्वतन्त्रता से नियम बनाये। वह अपने जासूसों द्वारा अपने हाकिमों के कार्यों का पूरा पूरा

---

* कोल्लम् का बिगाड़ा हुआ अंग्रेज़ी रूप क्विलोन (Quilon)

पता रखता था। उसकी सेना तो सुसंघटित थी ही।

दोआब के हिन्दू ज़मींदारों को भी उसने दबाया, और उनपर वसूली का ५० फी सदी तक कर लगा दिया। कहते हैं उनकी यह हालत हो गई कि वे न घोड़े पर चढ़ सकते और न अच्छे कपड़े पहन सकते थे। व्यापार और बाज़ारों का अलाउद्दीन ने पूरा नियन्त्रण किया, यहाँ तक कि चीजों के भाव तक तय कर दिये। वैसा करने का प्रयोजन शायद यह था कि ज़मींदार और बिचवानिये गरीब प्रजा को न लूट पावें। कहते हैं इन उपायों से राज्य में सुभिक्ष रहा।

§८. **लखनौती सल्तनत का विस्तार**—बलबन के मरने पर जब कैकोबाद दिल्ली की गद्दी पर बैठा था तब उसका बाप नासिरुद्दीन महमूद लखनौती में स्वतन्त्र हो गया था। दिल्ली राज्य के विस्तार के साथ साथ लखनौती राज्य का भी विस्तार हुआ। बिहार भी लखनौती के सुलतानों के अधीन रहा। लखनौती के इन सुल्तानों के राज्यकाल यों हैं—

नासिरुद्दीन महमूद
(१२८७–९१ ई०)

कैकौस	शम्सुद्दीन फीरोज़
(लग० १३०० ई० तक)	(१३२२ ई० तक)

१२९८ ई० में दक्खिनी बंगाल का मुख्य नगर सातगाँव जीता गया। फिर शम्सुद्दीन फीरोज़ के प्रशासन में उसके बागी बेटे गयासुद्दीन बहादुर ने सोनारगाँव छीन कर सेन राजवंश को मिटा दिया। इस प्रकार बंगाल का मुख्य भाग लखनौती के अधीन हुआ। पूरब में सिलहट और त्रिपुरा, और दक्खिनी समुद्रतट पर यशोहर खुलना आदि प्रदेशों में छोटे छोटे हिन्दू राज्य बने रहे। उत्तर बंगाल से कामरूप राज्य तो अहोमों के हाथों समाप्त हो गया, पर कामतापुर में एक हिन्दू राज्य बना रहा।

§९. **तिरहुत का कर्णाट राज्य**—यों जब बंगाल का बड़ा अंश लखनौती सल्तनत में चला गया और बिहार अर्थात् मगध (आजकल का केवल

दक्खिनी बिहार) भी उसके अधीन था, तथा दिल्ली सल्तनत में मेवाड़ मारवाड़ जैसे दुर्गम प्रदेश भी सम्मिलित हो चुके और उसका आधिपत्य आन्ध्र और कर्णाटक तक पहुँच गया, तब भी तिरहुत के खुले मैदान में जो दिल्ली और लखनौती के बीच सीधे रास्ते पर था, नान्यदेव के वंशज कर्णाट राजाओं ने अपनी स्वाधीनता बनाये रक्खी। तिरहुत की पच्छिमी और पूरबी सीमाओं पर कोई पहाड़ या मरुभूमि नहीं है, उसकी दक्खिनी सीमा केवल गंगा से बनती है। किन्तु जहाँ कोई प्राकृतिक रुकावट उसकी रक्षा करने वाली न थी वहाँ प्रकटतः उस राज्य के पालकों की जागरूकता ऐसी थी कि जिसे देख कर कड़ा-माणिकपुर से तिरहुत के इतना नजदीक रहते हुए भी अलाउद्दीन ने उस पर चढ़ाई करने में कोई लाभ न देखा। चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में तिरहुत के राजा हरसिंहदेव के मन्त्री चण्डेश्वर ने नेपाल को भी जीत कर तिरहुत राज्य में मिला दिया।

§ १०. **नासिरुद्दीन खुसरो**—अलाउद्दीन के बूढ़ा होते होते दिल्ली राज्य का संघटन ढीला पड़ने लगा। उसकी मृत्यु (१३१६ ई०) के बाद मलिक काफूर ने उसके दो बेटों की आँखें निकलवा दीं, पर तीसरा मुबारक बच निकला। काफूर को मार कर वह गद्दी पर बैठा। दिल्ली के इस राजविप्लव में दक्खिन के राज्य स्वतन्त्र हो गये। वीर-बल्लाल ने धोरसमुद्र को फिर से बसाया (१३१६ ई०), और देवगिरि तथा ओरंगल ने भी कर देना छोड़ दिया। मुबारक ने देवगिरि के राजा हरपालदेव पर, जो रामदेव का दामाद था, चढ़ाई की, और उसे पकड़ कर उसकी खाल उधड़वा दी। तब उसने महाराष्ट्र में उस राज्य को मिटा कर देवगिरि को दिल्ली का सूबा बना दिया और वहाँ अपने हाकिम नियत किये (१३१८ ई०)। उसने सेनापति खुसरो को ओरंगल पर भेजा। राजा प्रतापरुद्र ने फिर कर देना स्वीकार किया और राज्य के पाँच परगने सौंप दिये। ओरंगल से देवगिरि लौट कर खुसरो ने मअबर पर चढ़ाई की, जहाँ बरसात के कारण उसे छावनी में बन्द पड़ा रहना पड़ा।

दिल्ली लौट कर खुसरो ने मुबारकशाह को अपने हाथ की कठपुतली बना लिया। पीछे उसका काम तमाम कर खुसरो नासिरुद्दीन नाम से दिल्ली की गद्दी पर बैठा (१३२० ई०)। उसके दिल में हिन्दू संस्कार बाकी थे। पुराने

सरदारों को दबा कर उसने अपनी जात के लोगों को बड़े बड़े पदों पर पहुँचा दिया और मस्जिदों में कुरानों के ऊपर मूर्तियाँ रखवा दीं। उसके ज़ोर-ज़ुल्म से तुर्क तंग आ गये। दीपालपुर के हाकिम गाज़ी तुगलक ने दिल्ली पर चढ़ाई की और खुसरो को मार डाला (१३२० ई०)। कुल ३० बरस शासन करके खिलजी राजवंश मिट गया, और गाज़ी तुगलक गयासुद्दीन के नाम से दिल्ली की गद्दी पर बैठा।

§ ११. **गयासुद्दीन तुगलक**—गयासुद्दीन तुगलक किसी गरीब तुर्क का बेटा था। उसकी माँ पंजाब की जट्टी (जाटनी) थी। उसने दिल्ली के शासन को फिर से व्यवस्थित किया। ओरंगल के राजा प्रतापरुद्र ने कर देना फिर बन्द कर दिया था। उसके विरुद्ध गयासुद्दीन ने अपने बेटे जूना को भेजा, जो एक बार (१३२१ ई०) विफल लौट कर दूसरी बार सफल हुआ (१३२३ ई०)। राजा प्रतापरुद्र कैदी बना कर दिल्ली भेजा गया, और तेलंगण को दिल्ली का सूबा बना दिया गया। ओरंगल से जूना ने राजमहेन्द्री पर चढ़ाई कर उस नगर को ले लिया। वहाँ से उसने उड़ीसा के राज्य पर धावा मारा। उड़ीसा में तब नरसिंहदेव १म का पड़पोता भानुदेव २य राज कर रहा था।

गयासुद्दीन के दीपालपुर से दिल्ली जाते ही सिन्ध के समरा सरदार, जो वहाँ के असल शासक थे, विद्रोह कर स्वतन्त्र हो गये। गयासुद्दीन उधर ध्यान न दे सका। इसके बाद सिन्ध नाम को ही दिल्ली के अधीन रहा।

बंगाल में शम्सुद्दीन फीरोज के मरने पर उसके बेटे आपस में लड़ने लगे। उनमें से दो दिल्ली के सुल्तान से मदद लेने पहुँचे। १३२४ ई० में गयासुद्दीन ने बंगाल पर चढ़ाई की। वह गंगा के उत्तर उत्तर तिरहुत के रास्ते बढ़ा। इस कारण राजा हरसिंहदेव से उसका युद्ध हुआ। हरसिंहदेव को नेपाल भागना पड़ा। बंगाल को जीत कर गयासुद्दीन ने लखनौती सातगाँव और सोनारगाँव के तीन प्रान्त बना दिये और उनमें अपने हाकिम नियुक्त किये।

वह लौट कर दिल्ली आया तो उसके बेटे जूना ने उसके स्वागत को शहर के बाहर लकड़ी का कुश्क (तोरण) खड़ा कराया, जो ठीक मौके पर सुल्तान के ऊपर गिर पड़ा (१३२५ ई०)। यह जूना की ही करतूत थी।

गयासुद्दीन सीधा सादा कर्तव्यपरायण पुरुष था। दिल्ली के पास तुगलकाबाद किले की इमारत में, जो उसने बनवाई थी, उसका वही गौरवयुक्त सीधापन झलकता है।

§१२. **दिल्ली सल्तनत का चरम विस्तार**—दिल्ली की पहली सल्तनत गयास तुगलक के प्रशासन में अपनी चरम सीमा पर पहुँची। मुलतान दीपालपुर और लाहौर से सोनारगाँव और सातगाँव तक केवल तिरहुत का एक प्रान्त बाकी था, जो उसके अधीन न हुआ था। पर तिरहुत का भी पराभव हो चुका था। मालवा-सहित राजस्थान तथा कच्छ-काठियावाड़ के बिना गुजरात भी उसमें सम्मिलित थे। मालवे के पूरब लगा हुआ चन्देरी का सूबा (=सागर-दमोह ज़िले) भी, जो पुराने चेदि राज्य में था, गयासुद्दीन के अधीन था। दक्खिन में महाराष्ट्र और तेलंगण दिल्ली साम्राज्य के अन्तर्गत थे और कर्णाटक (धोरसमुद्र) का राजा कर देता था। 'मअबर' अर्थात् तमिळनाड का भी पराभव हो चुका था और उसपर दिल्ली साम्राज्य का दावा था। भारतवर्ष का मुख्य भाग जो दिल्ली के अधीन न हुआ था, वह था एक तो बंगाल ओरंगल चन्देरी और कड़ा-माणिकपुर के बीच का जिसमें जझौती चेदि छत्तीसगढ़ (महाकोशल) झाड़खंड (छोटा नागपुर) और उड़ीसा सम्मिलित थे, तथा दूसरा कश्मीर से असम तक का उत्तरी पहाड़ी अंचल और कश्मीर के साथ लगा हुआ खोकरों का रावलपिंडी प्रदेश (पूरबी गन्धार)। सिन्ध भी अब वस्तुतः स्वतन्त्र था।

§१३. **कश्मीर में डुल्च और रिंचन**—कश्मीर में लक्ष्मदेव के उत्तराधिकारी सिंहदेव ने, जो आरम्भ में केवल लिदर दून का राजा था, किसी प्रकार "क्षयाकुल भूमि की रक्षा की।" लिदर दून से वोलुर सरोवर तक की भूमि अर्थात् कश्मीर दून के पूर्वार्ध पर उसने फिर अधिकार स्थापित कर लिया। किन्तु अपने १४½ बरस के प्रशासन (१२८७–१३०१) में वह कश्मीर के घाटों रास्तों की रक्षा कर नगोदर कज्जल के आक्रमण जैसी घटना फिर न होने देने के उपाय करने के बजाय नृसिंह का मन्दिर बनवाने, विजयेश्वर की मूर्त्ति को एक लाख निष्क से खरीदे दूध से नहलाने और शंकर की वन्दना करने में

ही लगा रहा ! उसकी प्रजा उससे विरक्त हो गई, उसने एक निर्लज्जता का काम किया, जिससे अन्त में उसी के एक राज्याधिकारी ने उसका काम तमाम कर दिया।

सिंहदेव के बाद उसका भाई सूहदेव राजा हुआ। उसके एक मन्त्री ने समूची कश्मीर भूमि (शायद उरशा-सहित) फिर से उसके वश में ला दी। किन्तु "वह राजा नाम का राक्षस देश की रक्षा करने के बहाने इसे उन्नीस बरस चार महीने और पाँच दिन (१३०१–१३२० ई०) खाता रहा !" उसका राक्षसपन केवल अपनी निरीह प्रजा के लिए था। नगोदर-कज्जल के लम्बे उपद्रव से पड़ोस के विदेशी लुटेरों ने देख लिया था कि कश्मीर में उन्हें रोकने वाला कोई नहीं है। लग० १३१८ ई० में कश्मीर के उत्तर से "कर्मसेन चक्रवर्ती का सेनापति" डुलुच या डुलच ६० हज़ार सवारों के साथ कश्मीर उतरा, "मानो सिंह मृग की गुफा पर" आया हो ! "कर्मसेन" प्रकटतः पूरबी मध्य एशिया के किसी मंगोल शासक के नाम का संस्कृत रूपान्तर है। तभी कश्मीर के पूरब भोट्ट देश (लदाख या ज़ङ्स्कर) के राजकुल में मारकाट मची, जिससे बच कर रिंचन नामक भोट राजकुमार अपने बान्धवों और सैनिकों के साथ कश्मीर के उत्तरपूरबी छोर पर आ डटा।

कश्मीर की उत्तरपूरबी सीमा ज़ोजी घाटे [१, १ § ५] पर तिब्बत या भोट से जहाँ लगती है, वहीं से सिन्ध नाम की छोटी नदी निकलती, जो श्रीनगर के आगे जेहलम में मिलती है। उस सिन्ध का काँठा लहर [=आधुनिक लार] कश्मीर का सबसे बड़ा परगना है। वहाँ के ठिकानेदार रामचन्द्र ने रिंचन को कश्मीर की सीमा पर से हटाने का यत्न किया, पर राजा सूहदेव को रामचन्द्र से ईर्ष्या थी, सो उसने उसे सहायता न दी। सूहदेव ने अपने एक मन्त्री उदयन को डुलच के पास उसे अच्छी रकम दे कर लौटा देने के लिए भेजा। डुलच ने वह पेशकश स्वीकार नहीं की, और अपनी तुर्कों ताजिकों (पामीर के आर्यभाषियों) मंगोलों की सेना सारे कश्मीर में फैला कर लूटमार-उजाड़ शुरू की।

"डुल्च की आग ··· में सब कश्मीरी पतंगे बन कर" भुनने लगे ! जिन्होंने बच कर भागना चाहा उनमें से पूरब जाने वालों को रिंचन के सैनिक पकड़

लेते, सो बहुत लोग पच्छिम और दक्खिन—गन्धार को—भागे। ठिकानेदार लोग अपने अपने कोटलों में बन्द पड़े रहे; डुल्च ने भी उन्हें नहीं छेड़ा, क्योंकि उसे कोटलों पर अपनी शक्ति और काल नष्ट नहीं करना था। अन्त में वह श्रीनगर पहुँचा। वहाँ से भी लोग भागे, पर बहुतेरे भगोड़ों को उसके सैनिक पकड़ कर बाँध लेते। "राजा भी डर के मारे कहीं उल्लू की तरह छिप कर जा बैठा।" पकड़े हुए लोग पहले तो धन दे कर छुटकारा पाते रहे, पीछे घोड़ों के बदले में बेचे जाते रहे! जो मेहनत-मजदूरी करने योग्य थे उन्हें दास बनाया गया। उनकी छाती और कन्धे के जोड़ पर छेद कर चाम की एक एक डोर से एक साथ बहुत से दासों को बाँध कर विजेता उन्हें हाँकते! बीच बीच में "घास ईंधन आदि के बोझ ढोने के लिए वे कैदी ... ऐसे छोड़े जाते जैसे बिलावों द्वारा चूहे!" डुल्च के सैनिकों की देखादेखी देश के पड़ोस और भीतर के दरद खश भौट्ट और तुर्क आदि भी लूटमार में जुट गये। बहुत से लोग लुटेरों से बचने को गुफाओं में जा छिपे। उन्हें "उनमें से निकालने के लिए निर्दय तुर्कों ने गुफाओं के मुँह में धुआँ दे दिया।" सवा सौ बरस बाद कश्मीरी ऐतिहासिक जोनराज लिखता है कि उसके काल तक उन गुफाओं में हड्डियों के ढेर तथा धुएँ के दाग दिखाई देते थे!

कश्मीर के उत्तर तरफ लघु हिमालय का हरमुकुट (हरमुक) पर्वत है और उसके आगे कृष्णगंगा दून [१, १ § ५] पार कर महा-हिमालय। इन दोनों के घाटे केवल गर्मियों के चार महीने—मध्य जेठ से मध्य असौज तक—खुले रहते हैं। डुल्च उन घाटों के खुलने पर जून के अन्त में कश्मीर आया था। गर्मियाँ कश्मीर में बिता कर अब उसे बड़ी लूट के साथ वापिस जाना था। इसलिए वह उत्तरी घाटों के बरफ से बन्द होने के पहले सितम्बर में ही हरमुक के त्रागबल घाटे से, जिसपर से अब भी श्रीनगर से गिलगित जाने वाला रास्ता गुजरता है, वापिस चला गया। "उस बिलाव के चले जाने पर मरने से बचे हुए कश्मीरी मूसे धीरे धीरे बिलों के अन्दर से निकले!"

रिंचन जो अब तक भागे-भटके कश्मीरियों को पकड़ कर उन्हें अपने भोट प्रदेश में बेच बेच कर धन जुटा रहा था, अब कश्मीर को जीतने के लिए

बढ़ा। रामचन्द्र ने पग पग पर उसे रोका। अन्त में रिंचन ने अपने सैनिकों के एक दल को गर्म कपड़े के भोटिया सौदागरों के भेस में लहरकोट्ट के अन्दर भेज रामचन्द्र को धोखे से मरवा कर वह कोट्ट (गढ़) ले लिया। "रामचन्द्र के कुलोद्यान की कल्पलता"—बहुत सम्भवतः उसकी युवती बेटी—कोटादेवी को उसने अपनी पत्नी बना लिया। रिंचन के लहर से श्रीनगर की ओर बढ़ने पर "डरा हुआ राजा-सियार ··· (किसी) गुफा में जा घुसा", पर पकड़ा और मारा गया (नवम्बर १३२० ई०)। रिंचन कश्मीर का राजा बना। उसने सारे कश्मीर को अधीन कर डामरों (ठिकानेदारों) को दृढता से वश में किया और "प्रजा के हित के लिए तत्पर रहते हुए" ऐसा न्यायपूर्ण शासन स्थापित किया कि "दोष करने वाले अपने पुत्र मन्त्री या मित्र को भी क्षमा नहीं दिखलाई।" उसने एक कश्मीरी शैव आचार्य से शैव मत की दीक्षा लेनी चाही, पर रिंचन के विदेशी होने के कारण उस आचार्य ने "उसपर अनुग्रह नहीं किया"। रिंचन तब इस्लाम की ओर झुका।

सूहदेव ने अपने जिस मन्त्री उदयन को डुल्च के पास भेजा था, वह डुल्च की चढ़ाई के बीच गन्धार (पेशावर या रावलपिंडी) भाग गया था। उसने अब वहीं से षड्यन्त्र कर रिंचन के कुछ भोटिये साथियों को उसके विरुद्ध भड़का दिया। उन साथियों ने रिंचन पर आक्रमण किया जिससे वह मूर्छित हो गिर पड़ा। उसकी जान बच गई, पर उसने जान लिया कि अब अधिक दिन जी न सकूँगा।

सूहदेव के प्रशासन में डुल्च की चढ़ाई के ५-६ बरस पहले कश्मीर में पड़ोस के प्रदेश से दो योग्य व्यक्ति आ कर राजकीय सेवा में लगे थे। इनमें से एक था अलंकार चक्र जो दरददेश से आया था। दूसरा था शाहमेर जो कश्मीर के दक्खिन लगे अभिसार देश [४, १ § ५] के उत्तरपूर्वी छोर का था। शाहमेर का पूर्वज कोई पार्थ और उसका बेटा बभ्रुवाहन अपने प्रदेश में प्रसिद्ध रह चुके थे। उनका वंशज कुरुशाह, उसका बेटा ताहराज और ताहराज का बेटा शाहमेर था। रिंचन के प्रशासन में शाहमेर ऊँचे पद पर पहुँच गया। रिंचन ने अपनी मृत्यु निकट देख कोटादेवी और उसके बेटे की रक्षा का भार

शाहमेर को सौंपा। कुछ मास बाद रिंचन चल बसा (दिस० १३२३ ई०)। उदयन तब गन्धार से कश्मीर का राज्य लेने आया। शाहमेर ने अपनी शक्ति यथेष्ट न देखते हुए "मूर्त्त जयश्री सी श्रीकोटादेवी के साथ तब उस उदयनदेव को कश्मीर की भूमि प्राप्त करा दी।"

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. अलाउद्दीन खिलजी ने देवगिरि पर चढ़ाई कहाँ से किन दशाओं में की ? उसका फल क्या हुआ ?

२. राजस्थान मालवा गुजरात के कौन कौन से राज्य खिलजी साम्राज्य में किस क्रम से मिलाये गये ?

३. खिलजी साम्राज्य की पूर्वी सीमा कहाँ तक थी ?

४. मलिक काफ़ूर कौन था ? उसने दक्खिन भारत के राज्यों को किन दशाओं में किस क्रम से जीता ?

५. सातगाँव सोनारगाँव किस कारण प्रसिद्ध थे ? वे कौन सी सल्तनत में पहले-पहल कब मिलाये गये ? उस सल्तनत का विस्तार उन्हें जीतने से पहले कहाँ तक था, बाद में कहाँ तक हुआ ?

६. उत्तर भारतीय मैदान में कौन सा राज्य खिलजी साम्राज्य युग में दिल्ली और लखनौती सल्तनतों से स्वतन्त्र रहा ?

७. गाज़ी तुगलक का ऐतिहासिक चरित संक्षेप से लिखिए।

८. दिल्ली में मुबारक खिलजी तथा गयासुद्दीन तुगलक के प्रशासन काल की कश्मीर इतिहास की घटनावली लिखिए।

९. दिल्ली सल्तनत की उसके अधिकतम विस्तार के काल में सीमाएँ कहाँ कहाँ तक थीं ?

अध्याय ५

दिल्ली साम्राज्य का ह्रास और प्रादेशिक राज्यों का उदय

(१३२५—१३६८ ई०)

§ १. मुहम्मद तुगलक—गयासुद्दीन की मृत्यु के बाद जूना मुहम्मद तुगलक नाम से गद्दी पर बैठा (१३२५ ई०)। रायचूर के उत्तरपच्छिम कृष्णा

नदी के बाँयें सागर प्रदेश का हाकिम बहाउद्दीन गुर्शास्प था। उसने मुहम्मद को सुल्तान मानने से इनकार किया और देवगिरि पर चढ़ाई की। मुहम्मद ने तब दक्खिन पर चढ़ाई की (१३२७ ई०), और बहाउद्दीन, जो धोरसमुद्र के राजा के पास भाग गया था, पकड़ा और मारा गया। उसी प्रसंग में मुहम्मद ने धोरसमुद्र राज्य को भी दखल करने की चेष्टा की और मग्रबर पर नई फौज भेजी। प्रकटतः उसका विचार समूचे दक्खिन भारत को जीतने का था। इसलिए उसने दिल्ली के बजाय देवगिरि को अपनी राजधानी बनाया और उसका नाम दौलताबाद रक्खा। बहाउद्दीन की खाल में भुस भरवा कर उसे प्रान्तों में घुमवा दिया कि फिर कोई विद्रोह करने की न सोचे। उसका उलटा फल हुआ। मुलतान के नाज़िम ने, जिसे गयासुद्दीन तुगलक अपने भाई की तरह मानता था, उस लाश को दफनवा दिया और स्वयं विद्रोह किया (१३२८ ई०)। तब मुहम्मद को अपनी दक्खिन की योजनाएँ छोड़ पंजाब जाना पड़ा। मुलतान का प्रबन्ध करके वह लौटता ही था कि मंगोलों की एक सेना पंजाब लाँघ कर जमना तक चढ़ आई। उन्हें हरा कर उसने कलानौर* तक उनका पीछा किया।

मुहम्मद तुगलक पढ़ा लिखा विद्वान् था, पर सनकी क्रूर और मूर्ख। समूचे दक्खिन के अतिरिक्त पहाड़ी राज्य जीतने की योजनाएँ भी उसके दिमाग में थीं, जिनके लिए रुपये की जरूरत थी। इसलिए उसने दोआब के किसानों पर एकदम दूना तिगुना कर बढ़ा दिया। दूसरे, उसने ताँबे का सिक्का चलाया और उसे सोने-चाँदी के बराबर ठहराया। पर यदि शाही टकसालों में सिक्के ढल सकते थे तो लोगों के घरों में भी ढल सकते थे। इसलिए ताँबे के सिक्के इतने बन गये कि उनका मूल्य ताँबे के ही बराबर रहा। तब सुल्तान ने उनका चलन बन्द किया, और उन्हें खजाने में लौटाने का हुक्म दिया। लोग उन्हें लौटा लौटा कर चाँदी-सोने के सिक्के ले गये, जिससे खजाने को भारी नुकसान हुआ।

ये नये प्रबन्ध करके सन् १३३० में मुहम्मद अपनी राजधानी (दौलता-

* कलानौर तीन हैं, एक गुरदासपुर जिले में, एक जमना के पच्छिम जगाधरी के पास, तीसरा रोहतक जिले में। यहाँ तीसरा प्रतीत होता है।

बाद) पहुँचा। तब उसे सोनारगाँव के हाकिम के विद्रोह की खबर मिली। विद्रोही पकड़ कर मार डाला गया। उसी प्रसंग में तिरहुत को भी जीत कर वहाँ एक तुगलकपुर की स्थापना की गई। इसी बीच किसानों के प्रति सुलतान की नई नीति फल लाने लगी। किसानों ने देखा कि वे बढ़ा हुआ कर किसी तरह नहीं दे सकते तो वे खेत छोड़ कर भागने लगे। उन्हें दंड देने को मुहम्मद फिर दिल्ली आया और दोआब पर चढ़ाई की। बरन (ऊँचागाँव या बुलन्द-शहर) कन्नौज दलमऊ आदि के इलाके उसने ऐसे उजाड़े मानो किसी शत्रु के देश पर चढ़ाई कर रहा हो! और किसानों को जंगलों में घेर-घेर कर ऐसे मारा मानो जंगली जानवरों का शिकार करता हो!

दिल्ली लौटने पर उसे खबर मिली कि मअबर में जिस सेनापति जलालुद्दीन को भेजा गया था वह वहाँ स्वतन्त्र सुलतान बन बैठा है (१३३५ ई०)। वह फिर दक्खिन चला, पर ओरंगल पहुँचने पर उसकी सेना में बीमारी फैल गई और उसे देवगिरि लौटना पड़ा। उसके दिमाग में पहाड़ जीतने की धुन समाई थी। उसके लिए उसने बड़ी फौज खड़ी की, पर एक साल बाद जब तनखाह देने को खजाने में रुपया न रहा तब वह तितरबितर हो गई। वह पहाड़ जीतने के सपने देख रहा था कि इधर हुलागू नामक मंगोल सरदार और कुलचन्द्र खोकर ने मिल कर लाहौर पर कब्जा कर लिया और वहाँ के राजा और मन्त्री बन बैठे। मुहम्मद फिर दिल्ली के लिए रवाना हुआ। हुलागू और कुलचन्द्र को उसके वज़ीर ने हरा दिया।

सिक्कों का परीक्षण विफल होने के बाद मुहम्मद ने मालगुजारी नीलाम करना अर्थात् प्रान्तों का शासन ऐसे व्यक्तियों को देना, जो अधिकतम मालगुजारी उगाहने का वचन दें, शुरू कर दिया। इससे जालिमों के हाथ में शासन चला गया। १३३६ ई० में मुहम्मद जब दिल्ली पहुँचा तब दिल्ली और दोआब के प्रदेशों में घोर दुर्भिक्ष शुरू हो चुका था, जो सात साल तक जारी रहा। बहुत अंश तक यह उसकी ही करतूतों का फल था। अवध के सूबे में तब सुभिक्ष था, इसलिए एक साल तक वह अपनी राजधानी फर्रूखाबाद जिले में गंगा के किनारे ले गया। इस दशा में भी पहाड़ जीतने की सनक ने उसका

पीछा न छोड़ा ! एक लाख सवार उसने हिमालय की तरफ भेजे, जिनमें से साल भर बाद १० वापिस आये ! दिल्ली के चौगिर्द इलाके में प्रजा ने कृषि छोड़ कर लुटेरे जत्थे बना लिये थे। सुल्तान की एक लाख सेना नष्ट हो जाने से दूर के प्रान्तों से उसका डर उठ गया। मालगुजारी की नीलामी से प्रान्तों के शासक भी अयोग्य रह गये थे। यों अब सारा साम्राज्य टूटने लगा।

§२. **मेवाड़ के सीसोदिया**—मेवाड़ १३२६ ई० में ही स्वतन्त्र हो चुका था। वहाँ का राजा हम्मीर, जो गुहिलोत वंश [८, २ § ५] की एक छोटी शाखा का कुमार था, मुहम्मद के गद्दी पर बैठते ही स्वतन्त्र हो गया था। उस शाखा के पास तब तक सीसोदा गाँव की जागीर होने से हम्मीर के वंशज सीसोदिया कहलाये।

§३. **विजयनगर का उदय और मदुरा की सल्तनत**—होयसल राजा वीर-बल्लाल ३य ने १३२७ ई० में जब यह देखा कि सुल्तान उससे कर ले कर ही सन्तुष्ट होने वाला नहीं है, प्रत्युत उसका राज्य दखल करना चाहता है, तब वह अपने राज्य की रक्षा के उपाय करने लगा। उत्तरी सीमा पर उसने हाम्पी की किलाबन्दी की; वह स्थान आगे चल कर विजयनगर कहलाया। पाँच यादव (वोडेयार) भाई उसकी सेवा में थे, जिनमें से बड़े तीन—हरिहर, कम्पन और बुक्क—के नाम प्रसिद्ध हैं। गोवा से नेल्लूर तक की उत्तरी दुर्ग-पंक्ति इन्हें सौंपी गई। तमिळ मैदान में बल्लाल ने तिरुवण्णामलै की किलाबन्दी की—दिल्ली से मअबर के रास्ते पर वह बहुत अच्छा नाका था। १३३५ ई० से जलालुद्दीन अहसानशाह मअबर में स्वतंत्र हो गया तो बल्लाल ने उसे चारों तरफ से घेरा। कुछ काल बाद मअबर के सुल्तानों के हाथ में केवल कण्णनूर और मदुरा शहर रह गये। मदुरा में चौथे सुल्तान के राज्य-काल में बल्लाल ने कण्णनूर को भी घेर लिया; तब मदुरा के सुल्तान ने उसपर हमला किया। अस्सी बरस का बूढ़ा बल्लाल उस युद्ध में काम आया (१३४३ ई०)। उसके बेटे विरूपाक्ष बल्लाल ने युद्ध जारी रक्खा। तीन बरस बाद वह भी खेत रहा। बुक्क के बेटे कुमार कम्पन ने तब अपने राजा की मृत्यु का बदला चुकाया, और समूचे तमिळ तट पर अधिकार कर लिया। केवल मदुरा शहर में सल्तनत बची

रह गई ।

होयसल राजवंश के समाप्त हो जाने पर वोडेयार हरिहर और बुक्क क्रम से कर्णाटक-तमिळनाड के राजा हुए । पाँचों वोडेयार भाई अपने देश को स्वतन्त्र रखने का व्रत लिये हुए थे । विद्यारण्य और सायण नामक दो विद्वान् भाई उनके परामर्शदाता थे ।

इनकी देखादेखी प्रतापरुद्र के बेटे कृष्णय्या नायक ने भी १३४१ ई० में ओरंगल राज्य की पुनःस्थापना की ।

§ ४. बंगाल सल्तनत का उदय—१३३६ ई० में बंगाल भी स्वतन्त्र हो गया । सोनारगाँव-सातगाँव (पूर्वी और दक्खिनी बंगाल में) फखरुद्दीन नामक व्यक्ति सुल्तान बन बैठा । लखनौती की गद्दी सन् १३४६ ई० में शम्सुद्दीन इलियास ने छीन ली । उसने तिरहुत पर भी अधिकार कर लिया, और नेपाल की राजधानी काठमांडू पर चढ़ाई कर उसे लूटा (दिसम्बर १३४६ ई०) ।† उसके बाद उसने बिहार-बनारस तक अपना राज्य फैलाने का यत्न किया ।

§ ५. बहमनी सल्तनत का उदय—गुजरात और महाराष्ट्र में बहुत से मुस्लिम सरदारों ने विद्रोह किया । मुहम्मद उन्हें दबाने के लिए १३४५ ई० में दिल्ली से निकला और छह बरस बाद उसी कोशिश में मरा । गुजरात का विद्रोह दबा कर वह देवगिरि पहुँचा । तब देवगिरि के विद्रोही कुलबर्गा भाग गये । उधर गुजरात में फिर विद्रोह हुआ और मुहम्मद के वहाँ जाने पर दक्खिनी विद्रोहियों के नेता हसन गंगू या कांगू ने महाराष्ट्र में नये राज्य की नींव डाली । कांगू अपने को ईरान के सासानी सम्राट् बहमन का वंशज मानता था, इस कारण इस वंश का नाम बहमनी पड़ा । बहमनी राज्य की राजधानी पहले कुलबर्गा (कलबर्ग) और फिर बिदर (बदरकोट) में रही ।

§ ६. सुराष्ट्र के चूडासमा—गुजरात का दूसरा विद्रोह दबा कर मुहम्मद ने सुराष्ट्र या सोरठ (काठियावाड़) को जीतने की चेष्टाएँ कीं, पर चूडासमा वंश के राजा मंडलीक ने उसका बहादुरी से मुकाबला किया ।‡ गुजरात

† इस बात का पता पशुपतिनाथ मन्दिर में उसके संस्कृत अभिलेख से मिला है।

‡ मण्डलीक-काव्य नामक समकालिक संस्कृत ग्रन्थ में इसका विवरण है ।

का विद्रोही सरदार सिन्ध भाग गया था। मुहम्मद ने तब सिन्ध पर चढ़ाई की और वहीं विद्रोही समरों से लड़ते हुए उसका देहान्त हुआ (१३५१ ई०)।

§ ७. **कश्मीर सल्तनत की स्थापना**—कश्मीर में उदयनदेव ने सवा पन्द्रह बरस राज किया। "वह श्रोत्रिय की तरह अपना काल स्नान जप तप में बिताता था।" उसके शिथिल शासन में डामर फिर उच्छृंखल हो गये और उन्होंने अनेक राजकीय प्रदेश भी दबा लिये।

इस बीच लगभग १३३४ ई० में सुग्ध के मंगोल राजा का भेजा हुआ "अचल" नामक सेनापति नगोद्र वाले रास्ते से बड़ी सेना के साथ पच्छिम से कश्मीर पर चढ़ाई करने आया। उसने उरशा की पूर्वी सीमा की कुन्हार नदी (जो कृष्णगंगा-वितस्ता-संगम के प्रायः ५ मील नीचे वितस्ता में मिलती है) जैसे ही पार की वैसे ही उदयनदेव राजधानी छोड़ पूर्वी सीमा को भाग गया। किन्तु कोटादेवी अपने स्थान पर टिकी रही और उसने अमात्यों के हाथ अचल के पास यह लिखित सन्देश भेजा कि "विदेशी सेना को लौटा दो, व्यर्थ में देश को पीडित करने से क्या लाभ, बिना राजा के कश्मीर देश के कुलनाथ बन कर इसका पालन करो।" रानी से यह सन्देश पा कर अचल ने माना मुझे कश्मीर में अपना राजवंश स्थापित करने का मौका मिल रहा है, और अपनी सेना को लौटा दिया! कश्मीरी अमात्यों ने कुछ काल उसे रास्ते के उत्सवों के बहाने विलमाये रक्खा, उसके बाद अचल ने देखा कि मुझे बेवकूफ़ बनाया गया है। जिन अमात्यों ने रानी कोटा को यह सलाह दी थी उनमें शाहमेर मुख्य था। कश्मीर में यह पुरानी परम्परा थी कि देश में घुसने के पहाड़ी घाटों की रक्षा की ज़िम्मेदारी एक अमात्य को सौंपी जाती थी, जो द्वारेश कहलाता था। शाहमेर द्वारेश पद पर था और उसने कश्मीर की रक्षा की तैयारी भी की थी।

अचल का भय निकल जाने पर राजा उदयन पूरब से लौट आया। कोटादेवी ने उसे फिर स्वीकार किया। किन्तु उसकी प्रतिष्ठा धूल में मिल चुकी थी। शाहमेर ने इसके बाद राजा की परवा न कर अपनी शक्ति खूब बढ़ाई। अचल के आतंक के बीच उसने लोगों को जैसे ढारस बँधाया था उसके प्रभाव से और द्वारेश की हैसियत से उसने कश्मीर के मुख्य नाकेबन्दी के स्थान अपने

वश में कर लिये, तथा अपने बेटों बेटियों और पोतों के विवाहों द्वारा कश्मीर के बड़े बड़े ठिकानेदारों से नाते जोड़ लिये। कश्मीर में तब हिन्दू-मुस्लिम विवाह होना साधारण बात थी; वधू अपने पति का धर्म अपना लेती थी। हम देखेंगे कि सत्रहवीं शताब्दी तक भी यह रिवाज जारी रहा।

फरवरी १३३६ ई० में उदयनदेव की मृत्यु हुई। कोटादेवी ने तब शासन अपने हाथ में लिया। पाँच मास बाद एक बार वह जयापीडपुर (वितस्ता-सिन्धु-संगम के तीन मील नीचे वितस्ता के बायें तट पर) गई कि पीछे शाहमेर ने राजधानी हथिया ली। कश्मीर के ठिकानेदारों ने शाहमेर का शासन स्वीकार कर लिया, कोटादेवी जयापीडपुर के गढ़ में कैदिन हो गई; उसके दो बेटों को भी शाहमेर ने कैद में डाल दिया। यों कश्मीर में सल्तनत की स्थापना हुई (१३३९ ई०)। शाहमेर ने कश्मीर में फिर दृढ शासन के साथ सुख-शान्ति ला दी। तीन बरस बाद उसकी मृत्यु हुई; उसके वंश में राज बना रहा। राज्यसंस्था प्रायः पहले जैसी बनी रही, मन्त्री और मुख्य राज्याधिकारी भी प्रायः हिन्दू ही होते रहे।

§८. **फीरोज़ तुगलक**—मुहम्मद तुगलक के पीछे उसका चचेरा भाई फीरोज़ १३५१ से १३८८ ई० तक दिल्ली की गद्दी पर रहा। वह मुहम्मद की तरह पागल नहीं था। उसने दक्खिन भारत पर सिर पटकने में कोई लाभ न देखा। उत्तर भारत के किनारे के दो प्रान्तों—बंगाल और सिन्ध—को वापिस लेने का उसने प्रयत्न किया, पर उसमें भी विफलता देख उसने वह यत्न छोड़ दिया। दिल्ली साम्राज्य में तब बिहार मालवा और गुजरात ये ही दूर के प्रान्त बचे; इनमें उसने योग्य शासक नियुक्त किये। थानेसर से एक टांक (टक्क) वंश के सरदार को ज़फरखाँ नाम से मुसलमान बना कर उसके हाथ गुजरात का शासन सौंपा। आगे चल कर इन्हीं हाकिमों के वंशजों ने उन प्रान्तों में स्वतन्त्र राज्य स्थापित किये।

फीरोज़ तुगलक सच्चरित्र और योग्य शासक था। उसने प्रजा की भलाई के लिए बहुत से काम किये। दिल्ली के आसपास सैकड़ों बगीचे लगवाये, और सतलज और जमना से पाँच नहरें निकलवाईं, जिनमें से एक-आध अब तक

बची है। उसके सुशासन का बहुत कुछ श्रेय उसके मन्त्री खाने-जहान मक़बूल को है। खाने-जहान जन्म से तेलंगण का हिन्दू था। फीरोज ने हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के लिए पहले के सब सुल्तानों से अधिक जतन किये। अलाउद्दीन और मुहम्मद तुगलक न्याय और शासन में मुल्लों और मौलवियों की कुछ न सुनते थे, पर फीरोज़ पूरी तरह उनके हाथ में रहा।



दिल्ली में फीरोज़शाह का कोटला
हिमालय की तराई में साधौरा से अशोक की लाट को फीरोज़ उठवा लाया था जो इसके ऊपर खड़ी है। इसी लाट पर बीसलदेव का लेख भी है [७, ६§६]।

§९. **इलियासशाह और गणेश्वर**—इलियासशाह बंगाली के काठमांडू पर धावे का उल्लेख हो चुका है। १३५२ ई० में उड़ीसा के राजा नरसिंह ३य की मृत्यु हुई और उसका बेटा भानुदेव ३य राजा बना। इलियासशाह ने तब एकाएक उड़ीसा पर धावा मार उसे लूटा। उसके बाद उसने बिहार और तिरहुत भी ले लिये तो फीरोज़ तुगलक को उससे लड़ना पड़ा। फीरोज़ के आने पर इलियास तिरहुत से हट गया; बंगाल में फीरोज़ उसे न हरा सका। १३५४ ई० में फीरोज़ बंगाल से लौटा तो इलियास ने सोनारगाँव-सातगाँव भी जीत लिये और बंगाल के तीनों हिस्सों का सुल्तान बन गया। १३५७ ई० में उसकी मृत्यु हुई और उसका बेटा सिकन्दर गद्दी पर बैठा। फीरोज़ तुगलक ने तब फिर बंगाल पर चढ़ाई की; पर विफल। इलियास तथा उसके वंशजों के शासन में बंगाल में सुख-समृद्धि बनी रही। १३६० से

१५३८ ई० तक दिल्ली के किसी सुल्तान ने बंगाल पर चढ़ाई नहीं की।

बंगाल की इन चढ़ाइयों में फीरोज़ गोरखपुर और तिरहुत हो कर गया था। गोरखपुर तब दिल्ली का सीमान्त गिना जाता था। उस प्रदेश में फीरोज़ ने जौनपुर बसाया, और पहलेपहल तिरहुत में दिल्ली के कर्मचारी कर वसूलने को रक्खे। दूसरी चढ़ाई से जौनपुर लौट कर १३६० ई० में उसने कड़ा से गढ़कटंका (या गढ़ा) के रास्ते उड़ीसा पर धावा मारा। गढ़कटंका पुराने चेदि राज्य की राजधानी त्रिपुरी और जबलपुर के पास है। फीरोज़ के आने पर उड़ीसा का राजा भानुदेव तेलंगण भाग गया। फीरोज़ ने वाराणसी-कटक (=कटक*) को लूटा और पुरी से जगन्नाथ की मूर्त्ति उठा लाया।

उसके दिल्ली वापिस पहुँचने पर तिरहुत उसके हाथ से निकल गया। वह प्रान्त कुल ३०-३५ बरस ही दिल्ली के अधीन रहा था। कर्णाट राज्य के पतन काल में कामेश्वर नामक ब्राह्मण ने मिथिला में नया राज्य दिल्ली की अधीनता में खड़ा कर लिया था। कामेश्वर का बेटा भोगीश्वर फीरोज़ का मित्र था। उसने या उसके पुत्र गणेश्वर ने मिथिला राज्य को फिर स्वतन्त्र कर लिया। १३७० ई० में गणेश्वर दिल्ली या बंगाल की सेना से लड़ता हुआ काम आया, पर उसके पुत्र कीर्त्तिसिंह ने "पिता के वैरियों से अपनी राजलक्ष्मी की रक्षा की"। मैथिल कवि विद्यापति ने कीर्त्तिलता नामक काव्य में उसकी कीर्त्ति गाई। तिरहुत के स्वतन्त्र हो जाने पर भी बिहार (मगध) फीरोज़ और उसके वंशजों के अधिकार में बना रहा।

§ १०. **सिन्ध के जाम**—सिन्ध के विद्रोही समरों का दमन करते हुए मुहम्मद तुगलक की मृत्यु हुई थी। फीरोज़ ने उन्हें शान्त किया। किन्तु तभी सम्मा सरदारों ने विद्रोह कर दक्खिनी और उत्तरी सिन्ध की राजधानियाँ—सेहवान और बक्खर—ले लीं (१३५१ ई०)। सिन्ध के सम्मा और सोरठ के

---

* कटक संस्कृत में छावनी को कहते हैं। उड़ीसा के जिस नगर को अब कटक कहते हैं, उसका असल नाम वाराणसी था। वहाँ गंग राजाओं की छावनी होने से वह वाराणसी-कटक कहलाता था। मुगल युग तक वह बनारसी-कटक ही कहलाता रहा।

चूडासमा एक ही वंश के थे। सिन्ध में वे मुसलमान हो गये। उनके मुखिया 'जाम' कहलाते थे।

१३६२ ई० में फीरोज़ ने सिन्ध पर चढ़ाई की। उसकी सेना के साथ सिन्ध नदी में बेड़ा भी था। जाम माली और उसका भतीजा बाबनिया वीरता से लड़े। उन्होंने फीरोज़ का बेड़ा छीन उसे हरा कर ठट्ठा से रन के रास्ते गुजरात भगा दिया। एक बरस बाद फीरोज़ ने गुजरात से फिर ठट्ठा पर चढ़ाई की। इस बार उसकी जीत हुई। जाम माली और बाबनिया को वह दिल्ली ले गया, और अधीनता मानने पर छोड़ा। किन्तु १३७२ ई० में सम्मों ने सिन्ध से फीरोज़ की सब सेना को भगा दिया और वहाँ जामों का स्वतन्त्र वंश राज्य करने लगा।

§११. शहाबुद्दीन कश्मीरी की हिन्दकोह-चढ़ाई—शाहमेर के पोते शहाबुद्दीन ने अपने १८ बरस (१३५५–१३७३ ई०) के प्रशासन में ललितादित्य की तरह कश्मीर को बड़ी शक्ति बना दिया।। १२७३ से १३३५ ई० तक तीन मंगोल चढ़ाइयाँ कश्मीर पर हुई थीं, जिनमें से पहली दो में कश्मीरियों ने अपने को "सिंह के सामने मृगों की तरह" अथवा "बिलाव के सामने चूहों की तरह" माना था। तीसरी में शहाबुद्दीन के दादा के प्रोत्साहन से वे मनुष्य के सामने मनुष्य बन कर खड़े हुए थे। अब शहाबुद्दीन ने राज्य पाने के शीघ्र बाद उन्हीं कश्मीरियों की सेना से मंगोलों के घर पर चढ़ाई की। उरशा पार कर वह पहले ओहिन्द पहुँचा, जहाँ के राजा गोविन्दखान ने अधीनता मानी। गन्धार और सिन्धु (डेरा-इस्माइलखाँ प्रदेश) शायद गोविन्दखान के ही शासन में थे। सिन्धु के रास्ते शहाबुद्दीन ने गज़नी पर चढ़ाई कर उसे जीता। वहाँ से वापिस आ कर अष्टनगर अर्थात् प्राचीन पुष्करावती† पेशावर और नगरहार को लेते हुए वह हिन्दकोह तक गया।

पूरब तरफ शहाबुद्दीन ने सिन्ध नदी के तट के भोटदेश अर्थात् लदाख

---

† पुष्करावती के खँडहर अब भी हश्तनगर कहलाते हैं क्योंकि उनमें पड़ांग चारसद्दा आदि आठ बस्तियाँ और ढेरियाँ (टिबरियाँ, भीटे) हैं।

को भी अधीन किया। दक्खिनपूरब तरफ उसने कांगड़ा-होशियारपुर ले कर सतलज तक अपना आधिपत्य फैलाया। कोई मंगोल सरदार इसी काल दिल्ली पर धावा मार वहाँ से बहुत से दास पकड़ कर लौटता था। शहाबुद्दीन ने उसे सतलज पर रोका और तब तक रास्ता न दिया जब तक उसने सब दास छोड़ न दिये। उन सब को स्वतन्त्र कर उन्हें घोड़े और कपड़े दे कर शहाबुद्दीन ने अपने देश वापिस भेजा।

जैसा कि हम देखेंगे, इसके शीघ्र बाद १३७० ई० में मध्य एशिया से भी मंगोल प्रभुता उठ गई।

राजकाज में शहाबुद्दीन के मुख्य सलाहकार उदयश्री और चन्द्र डामर नामक दो मन्त्री थे।

§ १२. **पहला बहमनी-विजयनगर संघर्ष**—१३५८ ई० में हसन बहमनशाह की मृत्यु हुई और उसका बेटा मुहम्मद १म उत्तराधिकारी हुआ। उसने अपनी रियासत का सोने का सिक्का चलाना चाहा, पर दक्खिन के सुनार उस सिक्के को पाते ही गला देते और विजयनगर और ओरंगल राज्यों के सिक्कों को ही चलाते। मुहम्मद ने राज्य भर के सुनारों को मरवा दिया और उत्तर भारत के खत्रियों को उनकी जगह स्थापित किया। कृष्णय्या नायक और बुक्कराय को भी उसने धमकी दी। फलस्वरूप कृष्णय्या से उसका दो बरस तक युद्ध हुआ, जिसके अन्त में गोलकुंडा का प्रदेश उसके हाथ आया। १३६५-६७ ई० में उसने कृष्णा पार कर विजयनगर पर चढ़ाई की। बुक्कराय की हार हुई और लाखों की संख्या में जनता मारी गई। अन्त में सन्धि हुई और यह तय हुआ कि आगे से युद्धों में असैनिक जनता को न मारा जाय।

१३७७ ई० में मुहम्मद १म की मृत्यु हुई। उसके उत्तराधिकारी मुजाहिद ने घटप्रभा-तुंगभद्रा दोआब बुक्कराय से तलब किया और विजयनगर पर चढ़ाई की। उसे निष्फल लौटना पड़ा और लौटते हुए उसकी बुरी दशा हुई।

मदुरा की सल्तनत ने १३५६ ई० के बाद फिर सिर उठाना चाहा, किन्तु १३७७ तक बुक्कराय ने उसे बिलकुल मिटा दिया। अगले वर्ष बुक्क की मृत्यु

हुई और हरिहर २य उसका उत्तराधिकारी हुआ। मुजाहिद भी तभी मारा गया। १३७८ से १३९७ ई० तक मुहम्मद २य ने शान्तिपूर्वक राज किया। उस बीच खानदेश बहमनी सल्तनत से निकल गया और वहाँ स्वतन्त्र रियासत स्थापित हुई (१३८२ ई०)।

§ १३. **तैमूर की चढ़ाई**—फीरोज़ के वंशज बिलकुल ही निकम्मे निकले। उनके काल में राज्य की यह दशा हो गई कि पुरानी दिल्ली और फीरोज़ की बसाई नई दिल्ली में दो अलग अलग सुल्तान थे। वे शतरंज के बादशाह जब दिल्ली के तख्त के लिए झगड़ते थे, तभी मध्य एशिया में एक महान् विजेता प्रकट हो चुका था। वह था तैमूर, चगतइ प्रदेश का तुर्क। मध्य एशिया में चंगेज़खाँ के वंशजों के दो राज्य चले आते थे जिनकी उसने सफाई कर दी (१३७० ई०)। पच्छिम तरफ उसने रूस की वोल्गा नदी तक के तथा ईरान पार करते हुए कौकासुस (काकेशस) पर्वत और पच्छिमी एशिया तक के देश जीत लिये। उसके विशाल साम्राज्य की राजधानी समरकन्द थी।

इधर दिल्ली राज्य की दुर्दशा सुन कर उसने भारत पर चढ़ाई की (१३९८ ई०)। उसका पोता पीर मुहम्मद एक बरस पहले आ कर उच्च और मुलतान ले चुका था। अफगानिस्तान पहुँच कर तैमूर ने अलक्सान्दर की तरह पहले काबुल नदी के उत्तर का काफिरिस्तान† प्रदेश जीता। फिर सिन्ध और चनाब पार कर मुलतान के निकट तुलम्बा बस्ती पर आ टूटा। उसे लूट कर पाकपट्टन और भटनेर के रास्ते वह दिल्ली की तरफ बढ़ा। जहाँ जहाँ से उसकी फौज गुज़री, लूटना मारना फूँकना उजाड़ना उसके साथ साथ चलता गया। अन्त में दिल्ली से मेरठ होते हुए वह हरद्वार के पास आ निकला, और शिवालक के साथ साथ काँगड़ा होते हुए जम्मू पहुँचा। वहीं कश्मीर के सुल्तान सिकन्दर का दूत मैत्री का सन्देश लाया। यह सिकन्दर शहाबुद्दीन का पोता था। लाहौर पर इस काल शिखी या शेखा खोकर का अधिकार था। तैमूर ने उसे पकड़ मँगवाया और

† कापिशी नगरी के प्रदेश को अरबों ने काफिसिस्तान कहा। लिखने की गलती से वह काफिरिस्तान बन गया।

मरवा डाला। उसके बेटे जसरथ (दशरथ) ने तैमूर का सामान लूटने का यत्न



चि... : तैमूर
अकबर के प्रशासन में लिखी गई सचित्र तारीखे-खानदाने-तैमूरिया की हस्तलिखित प्रति में से पहलेपहल इस ग्रन्थ में प्रकाशित। खुदाबख्श ग्रन्थागार पटना के न्यासपालों के सौजन्य से। [प्रतिलिपिस्वत्व, खु० पु०]

किया, तब तैमूर उसे कैद कर अपने साथ ले गया। सिन्ध पार कर बन्नू होते हुए वह समरकन्द लौट गया।

दिल्ली साम्राज्य की शक्ति तैमूर के आने से पहले ही प्रान्तीय शासकों के हाथों में जा चुकी थी। जो प्रान्तीय शासक अब तक नाम को दिल्ली के अधीन थे, वे भी अब स्पष्ट रूप से स्वतन्त्र हो गये। दिल्ली साम्राज्य यों मटियामेट हो गया।

§१४. प्रादेशिक राज्यों का उदय—अलाउद्दीन खिलजी और गयासुद्दीन तुगलक के प्रशासनों में दिल्ली की सल्तनत ने जिन दूर के प्रान्तों को पहलेपहल जीता उनमें उसका शासन २५-३० बरस भी न टिक पाया। तो भी उनके विजयों से राजनीतिक युगपरिवर्तन हो गया। उन्होंने राजस्थान गुजरात दक्खिन और पूरब के पुराने जीर्ण राज्यों को तोड़ कर नये राज्यों के उदय के लिए मैदान साफ कर दिया। यदि उनके उत्तराधिकारी अधिक योग्य होते तो भी उनका खड़ा किया हुआ साम्राज्य अधिक टिकाऊ न हो पाता। कारण यह कि चौदहवीं पन्द्रहवीं शताब्दियों की अवस्थाएँ किसी विशाल साम्राज्य के बजाय प्रादेशिक राज्यों के अधिक अनुकूल थीं। हिन्दुओं में तब यदि इतना जीवट न था कि वे भारत में अपना साम्राज्य खड़ा कर सकते तो वे इतने मुर्दा भी न थे कि दूर के प्रान्तों में भी अपनी स्वतन्त्रता बनाये न रख सकते। दूसरी तरफ तुर्क सरदारों में भी अब दिल्ली का शासन मानने की प्रवृत्ति अधिक न थी। उन्होंने जब पहलेपहल भारत को जीता तब वे एक नये विशाल देश में छोटे से दल की तरह थे। उनकी अपनी रक्षा के लिए ही तब यह आवश्यक था कि वे आपस में मिल कर और एक शासन में संघटित हो कर रहें। किन्तु डेढ़ शताब्दी में वे भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों से परिचित हो चुके और भारत के बन चुके थे। प्रत्येक प्रान्त में कुछ लोग मुसलमान बन चुके और बाहर से आये हुए तुर्क उनमें घुल मिल चुके थे। अब जब अपने अपने प्रदेश में वे निःशंकता के साथ राज्य खड़े कर सकते और चला सकते थे, तब उन्हें किसी सम्राट् की आज्ञा मानने की आवश्यकता न थी।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. मुहम्मद तुगलक के मन में कौन से प्रदेश जीतने की योजनाएँ थीं? वे विफल क्यों हुईं?

२. तुगलक साम्राज्य से कौन कौन से प्रदेश मुहम्मद तुगलक के राज्यकाल में स्वतन्त्र हुए ? उनमें कौन कौन से नये राज्य खड़े हुए ?

३. कश्मीर सल्तनत की स्थापना किसने किन दशाओं में की ?

४. शम्सुद्दीन इलियासशाह का ऐतिहासिक चरित संक्षेप से लिखिए।

५. तुगलक युग में तिरहुत की दशा पर प्रकाश डालिए।

६. फ़ीरोज़ तुगलक का वृत्तान्त संक्षेप में दीजिए।

७. निम्नलिखित का परिचय दीजिए (१) मेवाड़ के सीसोदिया (२) सिन्ध के जाम (३) सुराष्ट्र के चूडासमा (४) मदुरा की सल्तनत (५) हसन गंगू (६) कश्मीर का सुल्तान शहाबुद्दीन (७) गणेश्वर।

८. विजयनगर राज्य का उदय कैसे हुआ ? उसका पहले पचास वर्षों का इतिहास संक्षेप में दीजिए।

९. तैमूर के उदय से मध्य एशिया में क्या विशेष परिवर्त्तन हुआ ?

१०. चौदहवीं पन्द्रहवीं शताब्दियों में भारत प्रादेशिक राज्यों में क्यों बँटा रहा ?

अध्याय ६

पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रादेशिक राज्य

(१३८२—१५०६ ई०)

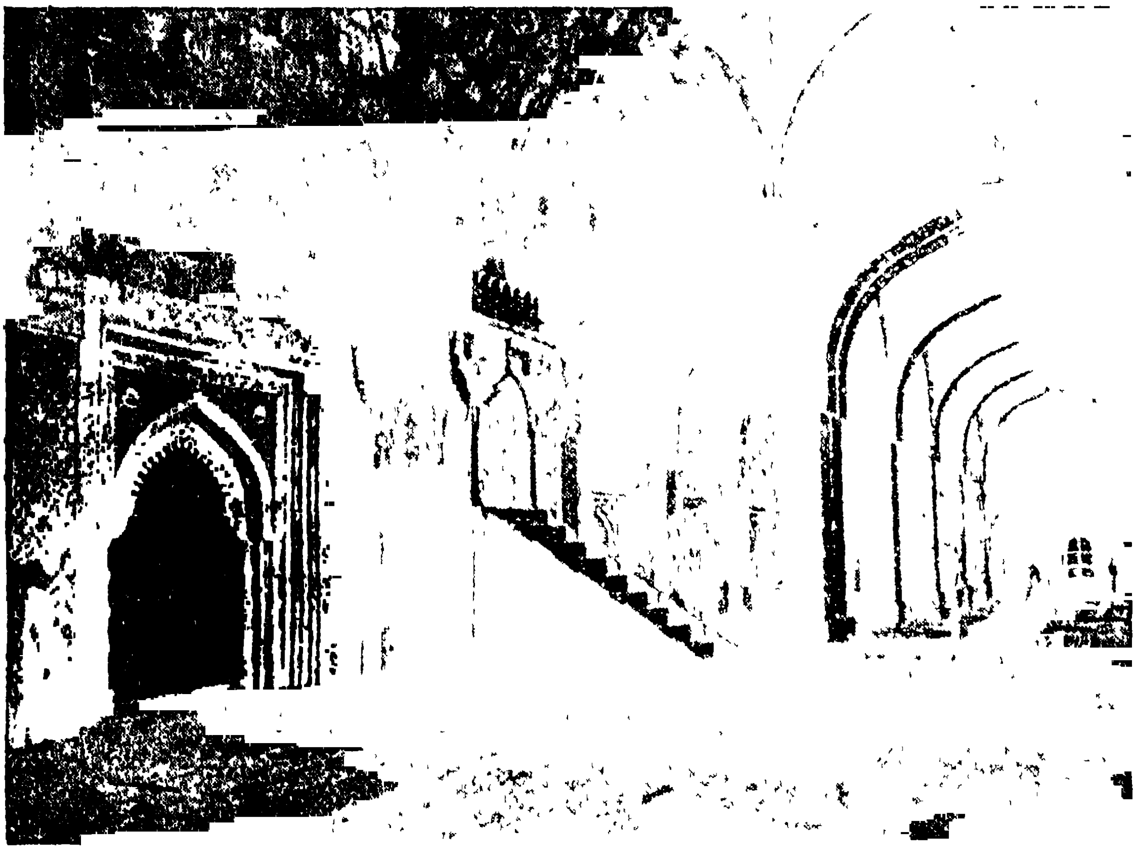
§ १. **राणा लाखा और मोकल**—मेवाड़ में राणा लक्षसिंह या लाखा का प्रशासन (१३८२–१४१६ ई०) अलाउद्दीन-काल की क्षतिपूर्त्ति और जीर्णोद्धार करने में बीता। तभी राज्य में चाँदी और सीसे की खान निकल आने से उसे बड़ी सहायता मिली। तभी मारवाड़ के केन्द्रभूत मंडोवर गढ़ को राव चूंडा राठोड नामक सरदार ने नागोर के तुर्क शासकों से छीन लिया। चूंडा ने राणा लाखा को अपनी लड़की हंसा ब्याह में दे कर उससे सहायता माँगी। लाखा और हंसा का बेटा राणा मोकल भी प्रतापी हुआ। उसने अपने राज्यकाल (१४१६–१४३३) में नागोर पर चढ़ाई कर मंडोवर में अपने मामा रणमल राठोड को अपना सामन्त नियत किया। दक्खिन-पच्छिम मारवाड़ में जालोर पर भी उसने धावे मारे तथा उत्तर तरफ़ अजमेर और साँभर को अपने राज्य में मिला लिया।

§२. राजा गणेश और शिवसिंह—बंगाल में इलियासशाह के पोते गयासुद्दीन आज़मशाह (१३८६–६६ ई०) के राज्यकाल में गणेश नाम का ज़मींदार सल्तनत का कर्ता धर्ता बन गया। उसने अन्त में आज़मशाह को मरवा डाला और फिर आज़मशाह का बेटा और पोता उसके हाथ की कठपुतली बने रहे। १४०६ ई० में आज़मशाह के पोते को मरवा कर गणेश स्वयं बंगाल का राजा बना। वह तिरहुत के कामेश्वर वंश के राजा शिवसिंह का समकालीन और पड़ोसी था। वह उदार शासक था और प्रजा उससे सन्तुष्ट थी, तो भी पीरों और फकीरों ने मुस्लिम सरदारों को हिन्दू राजा के विरुद्ध भड़काया। गणेश ने उनका दमन किया। उसके प्रशासन में बंगाल में संस्कृत पढ़ने लिखने की फिर से उन्नति हुई। गणेश ने सात बरस (१४०६–१५ ई०) राज किया। उसका बेटा यदु मुसलमान हो गया। गणेश ने उसे प्रायश्चित करा के हिन्दू बनाया, पर पीछे वह फिर मुसलमान हो गया और उसका नाम जलालुद्दीन हुआ। वह एक बरस ही राज्य कर पाया था कि दनुजमर्दन नाम के सरदार ने उससे राज्य छीन लिया (१४१७ ई०)। दनुजमर्दन ने अपने नाम के सिक्के भी चलाये, पर वह दूसरे ही बरस चल बसा। उसके बेटे महेन्द्र से जलालुद्दीन ने फिर राज्य छीन लिया। जलालुद्दीन तिरहुत के शिवसिंह से लड़ कर हारा। १४३० ई० से पहले उसने चटगाँव जीत लिया। उसका अत्याचारी बेटा १४४२ ई० में कत्ल किया गया, और बंगाल का राज्य फिर इलियासशाह के एक वंशज के अधिकार में आया।

§३. इब्राहीम शर्की—दिल्ली साम्राज्य के टूटने पर जो नई रियासतें उठ खड़ी हुईं उनमें से तीन—जौनपुर मालवा और गुजरात—बहुत शक्तिशाली और प्रसिद्ध हुईं। पिछले तुगलकों के काल से जौनपुर में एक हाकिम रहता था जो मलिक-उस्-शर्क अर्थात् पूरब का स्वामी कहलाता था। कन्नौज के पूरब बंगाल की सीमा तक साम्राज्य का सब इलाका उसके अधीन था। तैमूर की चढ़ाई के बाद उस हाकिम का बेटा मुबारकशाह नाम से स्वतन्त्र सुल्तान बन बैठा। मुबारक का भाई इब्राहीमशाह शर्की (१४००–१४३६ ई०) उसका उत्तराधिकारी हुआ। बिहार और बनारस के इलाकों पर उसका शुरू से ही

कब्जा था। उसने जौनपुर के ठीक पूरब तिरहुत की तरफ बढ़ना चाहा, पर राजा शिवसिंह से उसकी हार हुई। तब पच्छिम की ओर मुँह फेर कर उसने कालपी और कन्नौज जीत लिये और दिल्ली की तरफ बढ़ा। दोआब में बुलन्द-शहर और गंगा के उत्तर सम्भल भी उसने ले लिया। सम्भल तब उस प्रदेश की राजधानी थी जो आजकल रुहेलखंड कहलाता है। दिल्ली के परकोटे तक शर्की का अधिकार पहुँच गया। तब मालवे के नये सुलतान ने कालपी छीन कर उसे पीछे हटने को बाधित किया। अपने जमाने में इब्राहीम शर्की उत्तर भारत का एकमात्र प्रबल सुल्तान था। उसका दरबार विद्या और संस्कृति का केन्द्र था। जौनपुर की प्रसिद्ध अटालादेवी मस्जिद उसी के राज्यकाल में बनी।

§४. हुशंग गोरी और अहमदशाह गुजराती—मालवे का हाकिम



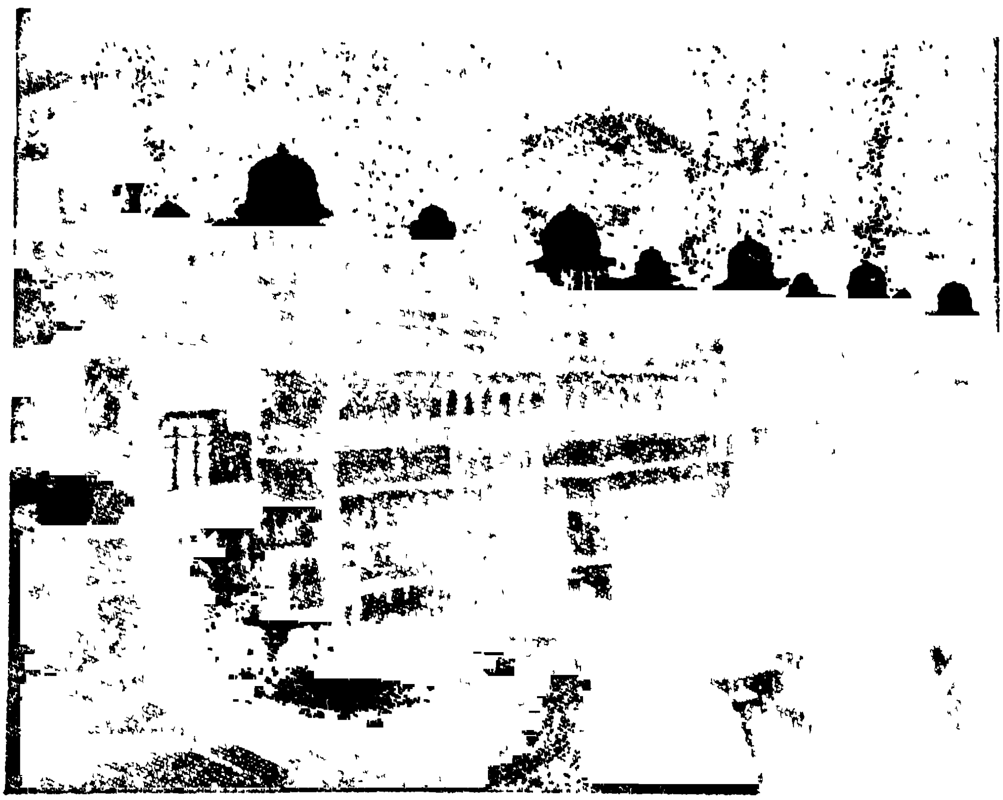
मांडू में हुशंग गोरी की बनवाई जामा मसजिद [भा० पु० वि०]

दिलावरखाँ गोरी १४०१ ई० में स्वतन्त्र हो गया। उसका बेटा हुशंग गोरी था (१४०५–३४ ई०)। मालवे के साथ चेदि देश का पच्छिमी अंश अर्थात् चन्देरी का प्रदेश (सागर और दमोह जिले) भी इन सुल्तानों के अधिकार में

रहा। हुशंग ने उत्तर तरफ कालपी तक और ग्वालियर के करीब तक अपना राज्य पहुँचा दिया।

ग्वालियर प्रदेश पर तैमूर के जाने के बाद हरसिंह तोमर ने अधिकार कर लिया था, १५१८ ई० तक वह राज्य उसके वंश में बना रहा।

गुजरात का हाकिम जफरखाँ भी तभी स्वतन्त्र हो कर मुजफ्फरशाह बन गया था। पच्छिम तरफ गिरनार, पूरब तरफ चाँपानेर, उत्तरपूरब ईडर और उत्तर जालोर और सिरोही के हिन्दू राज्यों तक गुजरात सल्तनत की सीमाएँ थीं। इसके अलावा इस तरफ दिल्ली सल्तनत के जितने इलाके थे उनपर



ग्वालियर में मानसिंह तोमर का महल
१५वीं शताब्दी के भारतीय शिल्प का नमूना [ग्वालियर पु० वि०]

गुजरात के सुल्तान अपना अधिकार मानते थे, इसीलिए मुजफ्फरशाह ने सुदूर नागोर में भी अपना सामन्त नियुक्त किया था। राव चूंडा ने उसी सामन्त से मंडोवर गढ़ छीना था। इस प्रकार चूंडा का मध्य मारवाड़ में खड़ा होना और राणा मोकल का उस राज्य को अपना सामन्त बनाना तथा जालोर पर

चढ़ाई करना गुजरात के शाह को चुनौती थी।

मुजफ्फरशाह का पोता अहमदशाह योग्य और न्यायी शासक हुआ (१४११-१४४१) ई०। वह गुजरात की राजधानी अणहिलपाटन से उठा कर आसावल (आशापल्ली) नामक प्राचीन बस्ती में ले आया, जिसका नाम उसने अहमदाबाद रक्खा। उसे उसने सुन्दर भव्य इमारतों से भूषित किया। हुशंग गोरी से उसकी बरसों खटपट चलती रही जिसमें हुशंग को दबना पड़ा। १४२१ ई० में अहमदशाह ने मालवे की राजधानी मांडू को जा घेरा।

§५. सिन्ध के जाम और खिज़रखाँ सैयद—तैमूर के पीछे काबुल का राज्य तैमूर-वंशजों के हाथ में बना रहा।

सिन्ध पर तैमूर की चढ़ाई का प्रभाव नहीं पड़ा था, वहाँ जामों का राज्य शांतिपूर्वक चलता रहा।

मुलतान का प्रान्त तैमूर सैयद खिज़रखाँ को दे गया था।

खास दिल्ली में फीरोज़ तुगलक का एक वंशज १४१३ ई० तक जैसे तैसे राज करता रहा। खिज़रखाँ सैयद ने उससे रोहतक नारनौल तक का प्रान्त छीन लिया। १४१४ ई० में उसकी मृत्यु होने पर खिज़रखाँ ने दिल्ली भी ले ली। पर खिज़रखाँ के वंशज मुलतान पर अधिकार जारी न रख सके, वे तब केवल दिल्ली के सुल्तान रह गये।

§६. जसरथ खोकर और जैनुलाबिदीन—तैमूर की मृत्यु (१४०५ ई०) के बाद जसरथ खोकर समरकन्द से भाग आया और कश्मीर के सुल्तान सिकन्दर की सहायता से उसने उत्तरी और मध्य पंजाब में फिर अपना राज्य स्थापित किया। कश्मीर के इसी सिकन्दर ने तैमूर के पास दूत भेजा था। इसके प्रशासन (१३८१-१४१३ ई०) में बाल्ती या बोलौर प्रान्त [७, ३ §§ ४, ८] जीता गया था। यह सिकन्दर बुतशिकन अर्थात् मूर्त्तिभंजक कहलाता था। इसके प्रशासन में मीर सैद मुहम्मद नामक बड़ा फकीर कश्मीर में हुआ, जिसके अनुयायियों ने इस्लाम को विशेष रूप से फैलाया। सिकन्दर का ब्राह्मण मन्त्री सूह भट्ट भी मूर्त्तिपूजा-विरोधी था। यों सिकन्दर के राज्यकाल में कश्मीर के अधिकतर पुराने मन्दिर ढहा दिये गये और प्रजा को ज़बरदस्ती मुसलमान बनाने

की कोशिशें की गईं। कश्मीर की पुरानी "संविदें" अर्थात् परम्परागत सामाजिक प्रथाएँ भी सैद मुहम्मद के अनुयायियों ने इसी काल में पहलेपहल तोड़ीं।

सिकन्दर के पीछे उसका बड़ा बेटा आलिशाह सात बरस राज कर के अपने दूसरे भाई जैनुलाबिदीन को राज दे तीर्थयात्रा को चला, पर फिर दूसरों के बहकाने से लौट आया। जैनुलाबिदीन ने तब उसके लिए राज छोड़ दिया, पर फिर जसरथ खोकर की सहायता से ले लिया।



जैनुलाबिदीन द्वारा फिर से बनवाया हुआ श्रीनगर के शंकराचार्य पहाड़ पर का शिवमन्दिर

जैनुलाबिदीन सच्चरित्र योग्य उदार और न्यायी शासक था। उसने देश की सिंचाई के लिए नहरें निकलवाईं, रास्ते और पुल बनवाये, निर्वासित हिन्दुओं को वापिस आने दिया, जो दिल से मुसलमान न बने थे उन्हें फिर हिन्दू हो जाने दिया, उनके टूटे मन्दिरों का स्वयं उद्धार करवाया और जज़िया कर नाम को रहने दिया। उसने और भी बहुत से कर उठा दिये, और खानों की उपज से राज्य की आमदनी बढ़ाई। अधिकांश कैदियों को छोड़ कर उसने उन्हें खानों सड़कों आदि पर काम में लगाया। उसे फारसी संस्कृत और तिब्बती का अच्छा ज्ञान था और संगीत और साहित्य की तथा विद्वानों की संगति की भी खूब रुचि थी। उसने कश्मीर की देशी भाषा कश्मीरी में रचना को भी प्रोत्साहन दिया। वह अपनी हिन्दू प्रजा की तीर्थयात्राओं और त्योहारों में भाग लेता था। उसके ५१ वर्ष (१४२०–७० ई०) के रामराज्य की याद कश्मीर में आज भी बनी है।

§ ७. **बुन्देलखंड बघेलखंड छत्तीसगढ़ गोंडवाना**—बंगाल बिहार जौनपुर बहमनी रियासत और तेलंगण के बीच उड़ीसा चेदि और जझौती के विशाल प्रदेश थे। जझौती का उत्तरी और पच्छिमी किनारा—कालपी और चन्देरी—अब मालवे की सल्तनत में शामिल था। बाकी अंश पहले चन्देलों के अधीन था, पर पन्द्रहवीं शताब्दी के शुरू से चन्देलों का पता नहीं मिलता। अब वहाँ अनेक बुन्देले सरदार राज्य करने लगे, जिससे वह प्रदेश बुन्देलखंड कहलाने लगा। बुन्देले गाहड्वालों के वंशज थे, जो विन्ध्य में रहने के कारण बुन्देले कहलाये। उसके पूरब का प्रदेश बघेलखंड बन चुका था [८, २§१३]। उसके दक्खिन महाकोशल या छत्तीसगढ़ का राज्य बना हुआ था। तीनों के बीच प्राचीन त्रिपुरी के पास गढ़कंटका या गढ़ा (जबलपुर) में एक गोंड राज्य स्थापित होने से इस प्रदेश को इसके पड़ोसी गोंडवाना कहने लगे। इस राज्य की स्थापना एक गोंड ने की, पर पीछे वह उसके क्षत्रिय दामाद के वंश में रहा। उड़ीसा का गंग राज्य १३२४ ई० से बराबर दुर्बल रहा।

§ ८. **फीरोज़ और अहमद बहमनी**—बहमनी रियासत में १३९७ से १४२२ ई० तक सुल्तान फीरोज़ ने राज किया, और १४२२ से १४३५ ई० तक उसके भाई अहमद ने। फीरोज़ के प्रशासन में विजयनगर से तीन युद्ध हुए। १३९८ ई० में ही हरिहर २य ने कृष्णा काँठे पर चढ़ाई की, तथा कृष्णा के उत्तरी किनारे के कोलियों और बराड के एक हिन्दू सरदार ने विद्रोह किया। विजयनगर की सेना कृष्णा के दक्खिन तट पर विशृंखल पड़ी थी; उसकी बड़ी संख्या के कारण फीरोज़ कृष्णा पार करने से डरता था। उस दशा में एक काज़ी ने साहस का काम किया। वह गाने-नाचने में निपुण था। भेस बदल कर नाच-मंडली बना कर वह हरिहर की छावनी में घुसा, और धीरे धीरे प्रसिद्धि पा कर हरिहर के बेटे के पास पहुँच गया। तलवार का नाच दिखलाते हुए वह एकाएक युवराज पर टूट पड़ा और उसका काम तमाम कर दिया। हरिहर अपने बेटे की लाश ले कर विजयनगर लौटा। उसकी भागती हुई सेना को फीरोज़ ने पूरी तरह हरा दिया।

इसके बाद गुजरात मालवा और खानदेश के सुल्तानों ने विजयनगर

के राजा को बहमनी सुल्तान के विरुद्ध मदद करने का वचन दिया। १४०६ ई० में हरिहर २य की मृत्यु हुई और उसका पुत्र देवराय १म राजा बना। उसी बरस उसकी सेना ने मुद्गल पर चढ़ाई की। उस सेना को हरा कर फीरोज़ ने विजयनगर पर चढ़ाई की जिसमें फीरोज़ घायल हुआ। देवराय ने आठ बार उसपर आक्रमण किया; पर मालवा आदि से कोई मदद न मिली। फीरोज़ की फिर जीत हुई और तुङ्गभद्रा नदी दोनों राज्यों की सीमा मानी गई।

देवराय के बेटे वीरविजय (१४१३–१४२५ ई०) के प्रशासन में १४१८ ई० में तेलङ्गण और विजयनगर के राजाओं ने मिल कर फिर फीरोज़ से युद्ध छेड़ा। इस बार फीरोज़ की पूरी हार हुई और विजेताओं ने पुरानी हत्याओं का पूरा बदला चुकाया। उस हार का बदला चुकाने को अहमदशाह बहमनी ने १४२३ ई० में चढ़ाई की। वह युद्ध पिछले पाँचों युद्धों से भयंकर हुआ। युद्ध-काल में असैनिकों को न मारने का वचन विजयनगर वालों ने तोड़ दिया था, इसलिए अहमदशाह ने इस बार दिल खोल कर कत्लेआम किये। वीरविजय कर देने को बाधित हुआ। इस युद्ध के बन्दियों में दो ब्राह्मण थे, जिनके वंशजों ने बाद में अहमदनगर और बराड की रियासतें स्थापित कीं।

१४२४ ई० में अहमद बहमनी ने ओरंगल नगर दखल करके उस राज्य को मिटा दिया और पूरबी समुद्र तक अपनी सीमा पहुँचा दी। ओरंगल के सब इलाकों पर वह कब्ज़ा न कर सका, क्योंकि कृष्णा के दक्खिन कोंडवीडु गढ़ (गुंटूर के पास) और उसके प्रदेश पर देवराय २य (१४२५–४६ ई०) ने अधिकार कर लिया था। इसके बाद अहमद बहमनी के मालवे और गुजरात से युद्ध हुए। अहमदशाह गुजराती से उसकी हार हुई (१४३० ई०), जिससे मुम्बई का द्वीप गुजरात के अधिकार में रहा।

§९. **कुम्भा और महमूद खिलजी**—राणा मोकल के बेटे कुम्भा (१४३३–६८ ई०) ने पच्छिमी भारत की राजनीति में नया अध्याय शुरू किया। मालवे में हुशंग गोरी के बेटे को मार कर उसका वजीर महमूद खिलजी गद्दी पर बैठा। वह कुम्भा का समकालीन था (१४३६–६९ ई०)। १४३७ ई० से कुम्भा ने अपनी अग्रसर नीति शुरू की। उसी बरस उसने सिरोही के राजा

से आबू छीन लिया, और मालवे में सारंगपुर तक पहुँच कर महमूद खिलजी को हरा कर कैद किया, पर छह मास बाद छोड़ दिया। आबू ले कर उसने गुजराती सुल्तान का पच्छिमी राजस्थान की तरफ रास्ता काट दिया, और महमूद का पराभव कर पूरबी राजस्थान में अपना रास्ता सुगम कर लिया। फिर ८ बरस में उसने मारवाड़ में आबू से नागोर तक, मध्य राजस्थान में अजमेर तक, उत्तरपूरब आम्बेर तक, और दक्खिनपूरब मांडलगढ़ से गागरौन तक अर्थात् बनास से काली सिन्ध तक अपना अधिकार फैला लिया। कुम्भा को रोकने के लिए महमूद खिलजी ने सन् १४४३, ४६ तथा ५४ में तीन युद्ध किये। पहली बार वह चित्तौड़ तक जा पहुँचा, पर फिर कभी मांडलगढ़ से आगे न बढ़ सका। किन्तु तीसरे युद्ध में उसने भरतपुर के पास बयाना के गढ़ पर अधिकार कर कुम्भा का दिल्ली आगरे की तरफ वाला रास्ता काट दिया। इसी बीच कुम्भा ने रणथम्भोर आम्बेर टोडा और डीडवाणा तक अधिकार कर लिया।

नागोर पर कुम्भा ने आधिपत्य कर ही लिया था। १४५६ ई० में उसने गुजराती सुल्तान की विडम्बना करते हुए वह "गढ़ तोड़ दिया, खाई भरवा दी और नागोर को जो तुर्की शक्ति की जड़ था, उजाड़ कर फूँक डाला, और उसका किस्सा खतम कर दिया।" तब गुजरात के सुल्तान कुतुबशाह (१४५१–५६ ई०) ने मेवाड़ पर चढ़ाई की, पर वह आबू भी न ले सका। दूसरे बरस गुजरात और मालवे के सुल्तानों ने एक साथ मेवाड़ पर चढ़ाई की। पर न तो कुतुबशाह सिरोही से आगे बढ़ पाया, और न महमूद ही मेवाड़ के अन्दर घुस सका। कुम्भा ने दोनों को एक साथ परास्त कर दिया।

मंडोवर के सामन्त राव रणमल के पुत्र जोधा ने कुम्भा की सहमति से मंडोवर के पास जोधपुर की स्थापना की। जोधा के बेटे बीका ने बीकानेर स्थापित किया। बीका के वहाँ स्थापित होने से पहले उस प्रदेश में जयसलमेर और पूगल के भाटियों तथा जोहिये (यौधेय) सरदारों का प्रभुत्व था।

महाराणा कुम्भा पराक्रमी होने के साथ साथ जागरूक और विद्वान् भी था। राजस्थानी के अतिरिक्त उसने संस्कृत मराठी और कन्नड का भी अभ्यास किया था। विजयनगर राज्य के उदय के कारण उसे कन्नड का महत्त्व

दिखाई दिया होगा। विजयनगर के राजाओं, जसरथ खोकर और कश्मीर के जैनुलाबिदीन से भी उसने मैत्री-संबंध रक्खा।

साहित्य संगीत नाट्यशास्त्र वास्तुशास्त्र इत्यादि पर उसने अनेक ग्रन्थ लिखे और लिखवाये। वह अपनी वास्तु-कृतियों (इमारतों) के लिए भी प्रसिद्ध है। चित्तौड़गढ़ के बुर्ज दरवाजे 'रथमार्ग' (चौड़ा रास्ता) और कीर्तिस्तम्भ तथा कुम्भलगढ़ और उसके पास कुम्भस्वामी का मन्दिर भी उसी के बनवाये हुए हैं।

बुढ़ापे में कुम्भा को उन्माद रोग हो गया, और उसके बेटे उदयसिंह ने उसे मार डाला। पितृघातक उदयसिंह को भगा कर सरदारों ने उसके भाई रायमल को गद्दी दी। रायमल ने मालवे के मुकाबले में मेवाड़ का गौरव बनाये रक्खा (१४७३–१५०६ ई०)।

§१०. उड़ीसा में सूर्य वंश; अलाउद्दीन बहमनी और देवराय २य—उड़ीसा का गंग राजवंश जीर्ण हो चुका था। १४३५ ई० में गंग राजा को हटा कर उसके सूर्यवंशी मन्त्री कपिलेन्द्र ने राज्य ले लिया। उसी साल बिदर में अहमदशाह बहमनी का बेटा अलाउद्दीन गद्दी पर बैठा। अलाउद्दीन ने पच्छिमी और पूरबी घाटों के छोटे छोटे स्वतन्त्र हिन्दू सरदारों को वश में करने को फौजें भेजीं। कोंकण में तो उसे सफलता हुई (१४३७ ई०), पर तेलंगण में कपिलेन्द्र ने उसे रोक दिया।

विजयनगर के देवराय २य (१४२५–४६ ई०) ने एक परिषद् इस बात पर विचार करने को बुलाई कि बहमनी बार बार युद्ध में क्यों जीत जाते हैं। विचार का परिणाम यह निकला कि उनके पास अच्छे घोड़े हैं तथा उनकी सेना में ऐसे सवार हैं जो घोड़े पर चढ़े चढ़े निशाना मार सकते हैं। उत्तर और पच्छिम के देशों में घोड़ों की अच्छी नस्लें पैदा होती हैं, और उनसे बहमनियों का सम्पर्क था। तब से घोड़ों के व्यापार को उत्साहित करना और जिस तरह बने अच्छे घोड़े प्राप्त करना विजयनगर राज्य की नीति हो गई। ईरान से बहमनी रियासत में घोड़े लाने वाली नावों को लूटने पर इनाम दिया जाने लगा। देवराय ने अपने राज्य में निशानची मुसलमानों को जागीरें दे कर बसाना भी

शुरू किया। सवार तीरन्दाजों की नई सेना तैयार कर उसने बहमनी रियासत पर चढ़ाई की और कृष्णा नदी तक का प्रदेश दखल कर लिया (१४४३ ई०)।

§ ११. **कपिलेन्द्र और हुमायूँ ज़ालिम**—१४४९ ई० में देवराय की मृत्यु हुई और उसका बेटा मल्लिकार्जुन उत्तराधिकारी हुआ। १४५८ ई० में अलाउद्दीन मरा और उसका बेटा हुमायूँ गद्दी पर बैठा। कपिलेन्द्र इस बीच गोदावरी कृष्णा दोआब को जीत चुका था। अब उसने कृष्णा से कावेरी पार तिरुचिरप्पल्ली तक का समूचा लम्बा तट-प्रदेश जीत लिया। हुमायूँ ने देवर-कोंडा के तेलुगु सरदार पर चढ़ाई की; उस सरदार ने कपिलेन्द्र से सहायता माँगी। कपिलेन्द्र के तुरन्त पहुँच जाने से हुमायूँ को भागना पड़ा (१४५९ ई०)। यह हुमायूँ दक्खिन में अब तक हुमायूँ ज़ालिम के नाम से याद किया जाता है। १४६१ ई० में वह मारा गया। तब कपिलेन्द्र सेना के साथ बिदर पर आ पहुँचा और बड़ी रकम ले कर लौटा। आन्ध्रदेश के पहाड़ी जिले—खम्मामेट और नलगोंडा—भी उसने दखल कर लिये।

उत्तर की ओर कपिलेन्द्र ने दामोदर से गंगा तक का पहाड़ी प्रदेश ले कर भागलपुर के पास जौनपुर रियासत से अपनी सीमा मिला दी। इब्राहीम शर्की के तीसरे उत्तराधिकारी हुसेनशाह शर्की ने तब तीन लाख फौज के साथ उसपर चढ़ाई की (१४६५ ई०)। इस युद्ध में दोनों पक्ष अपनी जीत हुई बताते हैं, अर्थात् परिणाम अनिश्चित रहा।*

कपिलेन्द्र कुम्भा का समकालीन था। उसका प्रशासन कुम्भा के दो बरस पीछे शुरू हुआ और दो ही बरस पीछे समाप्त हुआ।

§ १२. **पठानों का पुनरुत्थान, बहलोल लोदी**—१४४० ई० में सिन्ध के एक पठान ने खिज़रखाँ सैयद के वंशज से मुलतान ले कर वहाँ अपना राजवंश स्थापित किया।

१४५१ ई० में बहलोल लोदी नाम के पठान ने, जो सरहिन्द का शासक था, जसरथ खोकर की मैत्री और सहायता से दिल्ली ले कर वहाँ पहले पठान

---

* देखिए परिशिष्ट ७।

राजवंश की स्थापना की। बहलोल दिल्ली को साम्राज्य न बना सका, तो भी वह उसे मज़बूत राज्य बनाने में सफल हुआ। दिल्ली के इलाके सबसे अधिक शर्की सुल्तानों ने दबा रक्खे थे। भागलपुर मुंगेर से कन्नौज और अवध तक तो उनका राज्य निर्विवाद था। बहलोल ने हुसेनशाह शर्की को अनेक लड़ाइयों में हरा कर जौनपुर जीत लिया (१४७६ ई०)। हुसेनशाह तब बिहार भाग गया।

महमूद गजनवी के ज़माने से पठान लोग अपने देश में भी तुर्कों मंगोलों के सामने दबे रहे थे। अब मुलतान और दिल्ली में पठान राज्यों का स्थापित होना पठानों के पुनरुत्थान का सूचक था। इसके बाद से पठानों का आगे बढ़ना और पूरब और दक्खिन भारत तक जा कर बसना जारी रहा। मुगलों ने दिल्ली का राज्य पठानों से जीता, इस कारण मुगलों से पहले के दिल्ली के सभी मुस्लिम प्रशासकों को गलती से पठान कह दिया जाता है। पर वास्तव में मुस्लिम बनने के बाद पठानों का बढ़ाव पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य से ही शुरू हुआ। जिस प्रकार इस्लाम के सम्पर्क और प्रभाव से १४वीं शताब्दी के मध्य में कश्मीरियों की आँखें खुलीं और वे अपने को अपने पड़ोसियों के सामने मृग या चूहा सा अनुभव करने के बजाय उनके समान मनुष्य मानने लगे [८.५ § ११], उसी प्रकार १५वीं शताब्दी के मध्य में पठान जाग उठे।

§ १३. **उड़ीसा-बहमनी-विजयनगर संघर्ष**—१४७० ई० में उड़ीसा के राजा कपिलेन्द्र की मृत्यु हुई और उसका बेटा पुरुषोत्तम उत्तराधिकारी हुआ। हुमायूँ शाह बहमनी के बेटे मुहम्मद ३य ने तब अपने सेनापति हसन बहरी को भेज कर राजमहेन्द्री ले ली। विजयनगर के राजा का सामन्त सालुव नरसिंह, जो चन्द्रगिरि का सरदार था, नेल्लूर और उदयगिरि को लेते हुए कृष्णा के तट तक आ पहुँचा। उसने बहमनी सेना को कृष्णा के दक्खिन न बढ़ने दिया। गोदावरी-कृष्णा-दोआब के लिए पुरुषोत्तम और बहमनी सुल्तान में छीना-झपटी जारी रही। बहमनी रियासत में दक्खिनी और विदेशी अमीरों में आरम्भ से संघर्ष चला आता था। मुहम्मद ३य का मन्त्री महमूद गावाँ नामक चतुर विदेशी अमीर था। हसन बहरी ने उसके नाम से जाली चिट्ठियाँ बना कर मुहम्मदशाह के मन में यह बैठा दिया कि वह पुरुषोत्तम से मिल गया है। इसपर मुहम्मद ने

उसे मरवा डाला (१४८१ ई०)। इधर विजयनगर में मल्लिकार्जुन के बाद उसका भाई विरूपाक्ष राजा हुआ था। उसके कुशासन से राज्य की बुरी दशा हो गई। इस दशा में पुरुषोत्तम ने राजमहेन्द्री से नेल्लूर तक का तट तथा खम्मामेट और नलगोंडा जिले फिर जीत लिये।

§ १४. **बंगाल और बहमनी सल्तनत का टूटना, उड़ीसा की अवनति, विजयनगर का दूसरा तीसरा राजवंश**—जिस प्रकार बहमनी सल्तनत ने अपने किनारों पर के छोटे छोटे राज्य १४३५–३७ ई० में जीते थे, उसी प्रकार बंगाल की सल्तनत ने अपनी सीमाओं के राज्य १४५४–१४८२ ई० के बीच जीत लिये। दक्खिनी बंगाल के यशोहर खुलना आदि ज़िले उस अवधि में सल्तनत में मिलाये गये, और राजा गौरगोविन्द से श्रीहट्ट (सिलहट) छीन लिया गया। किन्तु कामतापुर (उत्तरी बंगाल) के राजा से इलियासी सेनापति की दीनाजपुर ज़िले में हार हुई।

इसके बाद १४८७ ई० में इलियास-वंश का राज्य समाप्त हुआ और बंगाल में अराजकता उमड़ पड़ी।

तभी से बहमनी रियासत की भी अवनति हुई। मुहम्मद ३य के बाद बहमनी सुल्तान सर्वथा निःशक्त हो गये। १४८७ ई० से बरीद नामक वंश के सरदार बिदर में सल्तनत के कर्ता धर्ता होने लगे, और बहमनी सुल्तान उनके हाथ में कैदी की भाँति रह गये।

उसी बरस सालुव नरसिंह ने विरूपाक्ष को पदच्युत कर विजयनगर का राज्य ले लिया। यों वहाँ दूसरा राजवंश स्थापित हुआ।

१४९० ई० में हसन बहरी के बेटे अहमद ने, जो अहमदनगर का संस्थापक तथा उत्तरी महाराष्ट्र का हाकिम था, बीजापुर और बराड के हाकिमों को लिखा कि हम तीनों स्वतन्त्र सुल्तान बन जायँ। यों अब एक बहमनी रियासत के बजाय चार रियासतें हो गईं।

पुरुषोत्तम का बेटा प्रतापरुद्र उड़ीसा का राजा हुआ (१४९७ ई०) तो उसका राज्य हुगली से नेल्लूर तक था। प्रतापरुद्र बंगाली सन्त चैतन्य का शिष्य बन गया और उसकी देखादेखी उसके सरदार भी वैष्णव हो गये। राज-

काज के बजाय भजन-कीर्तन इनका मुख्य काम बन गया। तब से उड़ीसा राज्य की शीघ्र अवनति हुई।

सालुव नरसिंह का सेनापति तुलुव वंश का नरस नायक था। १५०५ ई० में नरस की मृत्यु होने पर उसके बेटे वीर-नरसिंह ने सालुव नरसिंह के बेटे को पदच्युत कर स्वयं राज्य ले लिया। यों विजयनगर में तीसरा राजवंश शुरू हुआ।

§१५. **महमूद बेगड़ा**—गुजरात का महमूद बेगड़ा (१४५६–१५११ ई०) १५वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत का प्रमुख सुल्तान रहा। महमूद ने गुजरात के पच्छिम और पूरब के दो दुर्जेय गढ़—जूनागढ़ और चाँपानेर—हिन्दू राजाओं से जीते। राणा कुम्भा के दामाद जूनागढ़ के राव मंडलीक को हराने और उसे मुसलमान बनाने के बाद उसने द्वारिका और कच्छ अधीन किये। यों बेगड़ा के प्रशासन में समूचा गुजरात उसकी सल्तनत के अन्तर्गत हो गया। महमूद की मूँछें बड़ी बड़ी थीं जिन्हें वह घुमा कर उठा देता था। जिस बैल के सींग बड़े बड़े और ऊपर को घूमे हुए हों उसे गुजराती में बेगड़ो कहते हैं। यों जनता ने महमूद को बेगड़ा उपनाम दे दिया।

§१६. **हुसेनशाह बंगाली और सिकन्दर लोदी**—बंगाल की अराजकता का अन्त अलाउद्दीन हुसेनशाह ने किया (१४९३ ई०)। गौड पर अधिकार पाते ही उसने अपनी सेना को लूटने से रोका। पर उच्छृङ्खल सेना जब न मानी, तब उसने कई हज़ार सैनिकों को फाँसी दे दी।

हुसेनशाह के मुख्य सलाहकार हिन्दू थे। गोपीनाथ वसु उसका वजीर था, जिसे उसने पुरन्दरखाँ का बिरुद दिया था।† सनातन गोस्वामी उसका दबीरे-खास (निजी मन्त्री) था।* सनातन के दो भाई रूप और अनूप भी ऊँचे पदों पर थे।

बंगाल की गद्दी पाते ही हुसेन ने शर्की हुसेन से भागलपुर और

---

† इन्हीं गोपीनाथ वसु पुरन्दरखाँ के सीधे वंशज हमारे जमाने में सुभाषचन्द्र वसु हुए।

* वैष्णवों के इतिहास में इस बात का तोड़ मरोड़ कर यह रूप बन गया कि दाबिरे-खास नामक मुसलमान को चैतन्यदेव ने हिन्दू बना कर सनातन नाम दिया।

मुंगेर जीत लिये। दिल्ली की गद्दी पर बहलोल के बाद सिकन्दर लोदी बैठा (१४८८-१५१७ ई०)। उसने हुसेनशाह शर्की से बिहार भी छीन लिया (१४९४ ई०)। हुसेन शर्की तब हुसेन बंगाली की शरण में चला आया। तब सिकन्दर ने उसपर भी चढ़ाई की। सन्धि होने पर पटने के ३७ मील पूरब बाढ़ नाम के कस्बे पर बंगाल और दिल्ली सल्तनतों की सीमा मानी गई।

शर्की शक्ति का यों अन्त होने पर सिकन्दर जमना दक्खिन के दिल्ली के पुराने इलाकों को ग्वालियर राज्य से वापिस लेने में लगा। सिकन्दर लोदी धर्मान्ध मुसलमान था। उसके राज्य में हिन्दू धर्म को भरसक दबाया गया। दिल्ली के साथ साथ आगरे को भी उसने अपनी राजधानी बनाया।

उधर हुसेनशाह ने अपने पड़ोस के राज्यों से लोहा लिया। कामतापुर के राज्य का अन्त कर उसने अपनी सीमा असम से मिला दी। तब से बंगाल-असम का जल-स्थल-युद्ध जारी हुआ, जो ३५ बरस तक चलता रहा। उधर मिथिला के राजा से उसने सारन जिले तक का इलाका छीन लिया; वह राज्य तब उत्तर की तराई भर में रह गया। हुसेन के एक सेनापति ने उड़ीसा पर चढ़ाई कर पुरी को लूटा (१५०९ ई०)। प्रतापरुद्र ने दक्खिन से लौट कर उसका पीछा किया और उसे गंगा पर हराया। तो भी मन्दारण गढ़ प्रताप के हाथ से निकल गया। त्रिपुरा के राजा धन्यमाणिक्य से तीन बार हारने के बाद चौथी बार हुसेन ने उसका कुछ प्रदेश जीत लिया।

परिशिष्ट ७

शर्की-उड़ीसा-युद्ध

जौनपुर के सुल्तान महमूद शर्की (१४४०-५६ ई०) तथा हुसेनशाह शर्की का उड़ीसा के राजा से युद्ध होना मुस्लिम इतिहासों में दर्ज है। पर आधुनिक ऐतिहासिक इसे स्पष्ट नहीं कर सके और उन्होंने कल्पना की है कि जौनपुर से बंगाल हो कर शर्कियों ने उड़ीसा पर चढ़ाई की होगी। स्व० राखाल-दास बनर्जी ने पहलेपहल उड़ीसा का प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत किया (१९३०) जिससे उड़ीसा के राज्य या साम्राज्य की विभिन्न युगों में सीमाएँ प्रकट हुईं।

कपिलेन्द्र की राज्यसीमा राजमहल के आसपास शर्की राज्य से लगती थी यह प्रकट होने से दोनों राज्यों में सीधा युद्ध होने की बात सर्वथा ठीक सिद्ध हुई। कपिलेन्द्र के एक सामन्त का लेख, जिसमें वह दो तुर्क राजाओं को हराने की बात कहता है, राखालदास ने उद्धृत किया है (जि० १, पृ० २९८)। एक सुल्तान तो बहमनी था, दूसरा कौन रहा होगा यह वे भी नहीं बूझ सके। दूसरा शर्की था। वह लेख १४५४ ई० का है, अतः महमूद शर्की ही हो सकता है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. निम्नलिखित का ऐतिहासिक चरित लिखिए—(१) राजा गणेश (२) इब्राहीम शर्की (३) अहमदशाह गुजराती (४) हुशंग गोरी (५) जसरथ खोकर (६) जैनुलाबिदीन (७) महाराणा कुम्भा (८) कपिलेन्द्र (९) महमूद बेगड़ा (१०) हुसेनशाह बंगाली।

२. जोधपुर और बीकानेर राज्यों का उदय कब किन दशाओं में हुआ?

३. बहमनी राज्य और विजयनगर के संघर्ष का वृत्तान्त संक्षेप से दीजिए।

४. बुन्देलखंड नाम कब से चला? चंदेरी प्रदेश दिल्ली सल्तनत में कब किसने मिलाया? पन्द्रहवीं शताब्दी में वह किस राज्य के अन्तर्गत रहा?

५. पन्द्रहवीं शताब्दी में कौन सा राज्य गंगा से कावेरी तक फैला हुआ था? उसके फैलने का वृत्तान्त संक्षेप में दीजिए।

६. राणा कुम्भा की मृत्यु पर भारत के राजनीतिक नक्शे का विवरण दीजिए।

७. निम्नलिखित घटनाओं का विवरण दीजिए—(१) पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम अंश में बंगाल की अराजकता (२) बहमनी सल्तनत का टूटना (३) पठानों का भारत में बढ़ाव।

८. बहलोल और सिकन्दर लोदी का वृत्तान्त लिखिए।

९. कागज का बड़ा तख्ता ले कर उस पर पड़ी और खड़ी समान्तर रेखाएँ खींच कर चारखानेदार तालिका बना लीजिए। इसके बाएँ किनारे के २१ खानों में ऊपर से नीचे १३०१ से १५१० ई० तक की एक एक दशाब्दी के सन् लिख लीजिए, जैसे १३०१–१०, १३११–२० इत्यादि। सबसे ऊपर की पड़ी रेखा के ऊपर वाले खानों में इस ग्रन्थ में से देख कर इस काल के विभिन्न राज्यों या जनपदों के नाम लिखिए। दाहिने किनारे पर पाँच खानों में ये शीर्षक भरिए (१) बृहत्तर भारत (२) विदेश (३) साहित्य और कला (४) धर्म और समाज (५) विविध। अब इस तालिका में इस ग्रन्थ के आधार पर प्रत्येक दशाब्दी की प्रत्येक जनपद की तथा अन्तिम पाँच खानों में उस उस विषय की घटनाएँ दर्ज कीजिए।

अध्याय ७

उपनिवेशों और स्वतन्त्र विदेश-सम्बन्धों का अन्त

§१. **चम्पा और कम्बुज राष्ट्र का अन्त**—आठवीं से दसवीं शताब्दी तक मध्य एशिया के भारतीय राज्य कैसे समाप्त हुए, और ग्यारहवीं से तेरहवीं शताब्दी तक हिन्दचीन प्रायद्वीप में चीनकिरात जातियों की प्रधानता कैसे हो गई, सो हमने देखा है [७,७§§१,२; ८,३§२]।

चम्पा राज्य को आनामी (व्येतनमी) दसवीं शताब्दी अन्त से ही दबाने लगे थे। अन्त में १३०७ ई० में चम्पा के राजा जयसिंहवर्मा ३य को अमरावती प्रान्त का उत्तरी आधा उन्हें दे देना पड़ा। १४०२ में समूची अमरावती दी गई और आनाम राज्य की सीमा चम्पा के विजय प्रान्त से आ लगी। १४४६ से १४७१ तक विजय भी हारा गया और तब से चम्पा का राजवंश आनामियों की कठपुतली बन कर पांडुरंग (फनरन) प्रान्त में रह गया। उस रूप में १८२२ ई० तक टिमटिमाने के बाद वह बुझ गया।

कम्बुज राष्ट्र का मुख्य अंश दै राजा इन्द्रादित्य और राम खामहेंग ने १३वीं शताब्दी के अन्त तक जीत लिया था [८, ३ § २]। १५वीं शताब्दी में कम्बुज राजाओं को राजधानी यशोधरपुर भी छोड़नी पड़ी और वह राज्य भी मिट गया।

§२. **बिल्वतिक्त साम्राज्य**—कुबलै खान ने अपना जंगी बेड़ा सुमात्रा जावा को जीतने भेजा था, पर उन द्वीपों को मंगोल साम्राज्य में सम्मिलित न कर सका था। वहाँ से उसकी सेना चली जाने पर कृतरजस जयवर्धन ने जावा में नया राज्य खड़ा किया (१२९४ ई०) जिसकी राजधानी बिल्वतिक्त या मजपहित थी। जयवर्धन की लड़की त्रिभुवनोत्तुंगदेवी जयविष्णुवर्धनी भी बड़ी योग्य हुई। अपने निकम्मे भाई के बाद वह बिल्वतिक्त की गद्दी पर बैठी। उसकी बहन राजदेवी और माँ गायत्री भी उसके साथ शासन चलाती थीं। उसका पति राज्य का मुख्य न्यायाधीश था। उसके मन्त्री गजमद ने एक बार सभा में प्रण किया कि मैं पहांग सिंहपुर (सिंगापुर) और श्रीविजय (सुमात्रा) से ले कर बकुलपुर (दक्खिनी कलिमन्थन) तक सब

राज्यों को जीत कर छोड़ूँगा। सब लोगों ने उसकी हँसी की; किन्तु रानी ने हँसी करने वालों को निकाल कर गजमद के हाथ में पूरी शक्ति दे दी। गजमद ने जो कहा था उससे अधिक कर दिखाया। क्रम की स्थलग्रीवा और श्रीविजय से इरियन (न्यूगिनी) तक के सब प्रदेश बिल्वतिक्त के शासन में आ गये। उनमें से बहुतों को जयविष्णुवर्धनी के 'जलधिमन्त्री' (जल-सेनापति) नल ने जीता था। उनके उत्तर आनाम चम्पा कम्बुज अयोध्या और राजपुरी[1] तथा मरुत्म (मर्त्तबान, बरमा के तट पर) के राज्य बिल्वतिक्त का आधिपत्य मानने लगे।

यह साम्राज्य [नक्शा २०] प्रायः सौ बरस तक पूरे उत्कर्ष में रहा। १३८६ में जयविष्णुवर्धनी के बेटे रजसनगर की मृत्यु के बाद अवनति होने लगी। बौद्ध और शैव मतों के तान्त्रिक रूप, जिनमें गुह्य क्रियाकलाप मुख्य था, पूरे ज़ोरों पर आ गये। जनता की राजनीतिक कर्त्तव्यों के प्रति उपेक्षा बढ़ती गई। पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राजा कृतविजय हुआ, जिसने चम्पा की राजकुमारी से विवाह किया। वह इस्लाम की पक्षपातिनी थी। यों जावा में इस्लाम के पैर जम गये। १४४८ ई० में उसकी मृत्यु हुई और १४७८ ई० में वह अन्तिम भारतीय उपनिवेश-साम्राज्य भी हिन्दुओं के अन्य राज्यों की तरह अपनी भीतरी जीर्णता से टुकड़े टुकड़े हो गया।

§ ३. हिन्द महासागर में पुर्त्तगालियों का आना—७वीं से १५वीं शताब्दी तक, बीच में १३वीं-१४वीं छोड़ कर, संसार पर इस्लाम का आतंक छाया था। ८वीं शताब्दी में जब अरबों ने सिन्ध से स्पेन तक जीता, तब से दक्खिनी स्पेन में इस्लाम के पैर जम गये थे। अरबों का स्थान पीछे तुर्कों ने ले लिया और १३वीं शताब्दी में उन्हें मंगोलों से दबना पड़ा। पर १३७० ई० में तैमूर के उदय से तुर्कों का बल फिर प्रकट हुआ। १४५३ में तुर्कों ने कुस्तुन्तुनिया (कोन्स्तान्तिनोपल) को और बलकान प्रायद्वीप के रोमी साम्राज्य के बचे-खुचे अंश को भी ले लिया। युरोप को तब अपने दोनों दक्खिनी पहलुओं पर इस्लाम का दबाव लगने लगा। रोम और भारत के बीच मुस्लिम राज्यों के उठ खड़े होने

[1] अयोध्या और राजपुरी दोनों स्याम में। अयोध्या की स्थापना १३५० ई० में हुई।

से भारत और युरोप का सीधा व्यापार-सम्बन्ध टूट गया था।

पच्छिमी युरोप के लोग अरबों को मूर कहते थे। उनकी दृष्टि में मूर लोग युरोप और भारत के व्यापार में दोनों के बीच आ गये थे। अरबों के साथ आने जाने वाले दूसरे मुसलमान भी मूर कहलाते। हिन्दुओं में इस युग में सामाजिक संकीर्णता और दूर देश जाने में अरुचि पैदा हो जाने से भारतीय नाविकों में इस्लाम फैलता गया। पिछले मध्य युग में भारत और हिन्द-द्वीपावली के ये मुस्लिम नाविक अरबों के साथ एशिया से मिस्र तक माल ले जाते लाते थे। मिस्र से युरोप तक का व्यापार इतालवियों के हाथ में था।

१५वीं शताब्दी में पच्छिमी युरोप के राष्ट्रों में गहरी जागृति हुई। प्राचीन यूनानी विद्याओं की तरफ लोगों की रुचि फिरी और उनके ज्ञानचक्षु खुलने लगे। लोगों में नये नये और साहसपूर्ण विचार जागने लगे। स्पेन का दक्खिनी छोर मूरों ने दबा रक्खा था, इसलिए स्पेन-पुर्तगाल वालों की मुसलमानों से विशेष शत्रुता थी। अफरीका के पच्छिमी तट पर स्पेन-पुर्तगाल के लोग तब कुछ दूर तक जाते थे। उन्हें तब यह मालूम न था कि अफरीका कितना बड़ा महाद्वीप है। उनमें यह विश्वास भी प्रचलित था कि अफरीका के पूरबी छोर पर हब्शदेश (अबीसीनिया) में प्रेस्तर जौन नाम का ईसाई राजा है। उनके दिलों में यह उमंग उठी कि यदि वे अफरीका के दक्खिनी छोर से घूम सकें तो एक तो उनका मुस्लिम शत्रु दोनों तरफ से घिर जाय, जिससे वे उसे पीठ पीछे से चोट लगा सकें—जिसमें शायद प्रेस्तर जौन का भी सहयोग मिल जाय--और दूसरे भारत के व्यापार में उन्हें अपने शत्रुओं पर निर्भर न रहना पड़े।

यह उमंग उन्हें अफरीका के पच्छिमी तट पर आगे आगे धकेलने लगी। उस महाद्वीप के पहले पूरबी घुमाव पर पहुँच कर (१४८२ ई०) उन्होंने जाना कि अब रास्ता पा लिया। किन्तु जब आगे स्थल का किनारा दक्खिन बढ़ा निकला और वह आगे आगे बढ़ता ही गया, तब वे निराश होने लगे। अन्त में दियाज़ नामक नाविक उसकी नोक पर पहुँच गया (१४८७ ई०) तो फिर से उनकी आस बँधी। इसीलिए उस नोक का नाम उन्होंने आशा अन्तरीप रक्खा।

तभी कोलम्बस नामक नाविक को नई बात सूझी। प्राचीन

यूनानियों का विचार था कि ज़मीन गोल है। कोलम्बस ने सोचा यदि ऐसा है तो पच्छिम बढ़ते बढ़ते भारत पहुँच जाना चाहिए। स्पेन की राज्ञी इसाबेला ने उसे जहाज दिये, जिनसे उसने अतलान्तक पार किया, और पच्छिमी अमरीका के द्वीपों पर पहुँच कर समझा कि भारत मिल गया (१४६२ ई०)। छह बरस पीछे पुर्तगाली नाविक वास्को-दि-गामा आशा अन्तरीप का चक्कर लगा कर पूरवी अफरीका में व्यापार करने आये हुए भारतीयों से भारत का रास्ता जान कर कोष्हिकोड (कालीकट) आ पहुँचा (१४६८ ई०)। तब यह समझा गया कि कोलम्बस भारत के एक छोर पर पहुँचा है और वास्को उसी के दूसरे छोर पर। रोम का पोप ईसाइयों का सबसे बड़ा महन्त था। पोप ने अतलान्तक के बीच एक रेखा निश्चित कर फतवा दे दिया कि उसके पच्छिम के सब नये गैर-ईसाई देश स्पेन के और पूरब के पुर्तगाल के होंगे।



वास्को-दि-गामा

§४. दीव की लड़ाई—केरल तट के सरदारों ने अपना व्यापार बढ़ाने के लिए इन आगन्तुकों को अपने यहाँ कोठियाँ बनाने दीं। पुर्तगालियों के भारतीय समुद्र में पहुँचने पर मूर अर्थात् मुस्लिम सामुद्रिक उनका विरोध करने लगे। पुर्तगाली तट पर, जहाँ जैसे दाव लगा, किलाबन्दी करने लगे। सबसे पहले

१५०३ ई० में उन्होंने कोच्चि (कोचीन)* में अपनी कोठी की किलाबन्दी की। फिर अफरीका के तट पर कई किले बनाये। गुजरात प्रान्त भारत के पच्छिमी व्यापार में प्रमुख रहा है। गुजराती सुल्तान महमूद बेगड़ा ने इन आक्रान्ताओं को भारतीय समुद्र से निकालना अपना कर्तव्य समझा। १५०७ ई० में मिस्र के सुल्तान ने इस कार्य में उसकी सहायता के लिए मीर होज़ेम की नायकता में १२ जंगी जहाजों में पन्द्रह हज़ार सैनिक भेजे। पहली लड़ाई में पुर्तगाली बेड़ा डुबाया गया, किन्तु आलमीदा और आलबुकर्क नामक पुर्तगाली सेनापतियों ने फिर तैयारी करके दूसरी लड़ाई में दीव के सामने मिस्री-गुजराती बेड़े को जला कर लूट लिया (१५०६ ई०)। फिर उन्होंने हिन्द महासागर में जहाँ तहाँ मूरों के जहाजों का संहार कर हमारे समुद्र पर एकाधिपत्य कर लिया। १५१० ई० में आलबुकर्क ने बीजापुर से गोवा छीन कर उसे पुर्तगालियों के सामुद्रिक साम्राज्य की राजधानी बनाया, तथा १५११ और १५१५ ई० में मलक्का और ओर्मुज़ ले कर हिन्द महासागर की दो मुख्य खाड़ियाँ काबू कर लीं।

§५. **पहली पृथ्वी-परिक्रमा**—मसाले पैदा करने वाले पूरबी द्वीपों के लिए स्पेन वाले भी तरसते थे। पोप की सीमान्त-रेखा से पच्छिम जाते हुए उन द्वीपों तक पहुँचने की उन्हें सूझी। मागेलान नामक नाविक इस दृष्टि से पृथ्वी की परिक्रमा करने निकला। इसाबेला के पोते चार्ल्स ने उसे पाँच जहाज दिये, जिनमें २०० नाविकों को ले कर वह चला (१५१६ ई०)। मागेलान ने कोलम्बस से कहीं अधिक हिम्मत और बहादुरी का काम किया। अमरीका के दक्खिनी छोर से वह पहलेपहल प्रशान्त महासागर में घुसा। दो बरस पीछे उसे एक द्वीपावली मिली, जिसका नाम उसने चार्ल्स के बेटे फिलिप के नाम पर फिलिपीन रक्खा। वहीं उसकी मृत्यु हुई। उसके १८ बचे हुए साथी एक जहाज ले कर दूसरे बरस स्पेन पहुँचे (१५२२ ई०)। तब लोगों ने जाना कि अमरीका और भारत अलग अलग देश हैं।

---

* पुर्तगाली लोग शब्दों के अन्तिम स्वर को सानुनासिक बोलते थे। कोच्चि को उन्होंने कोचिं कहा, जिससे कोचीन बन गया।

फ़िलिपीन की पुरानी पोथियों के भंडार ईसाई स्पेनियों ने यह मानते हुए कि उनमें काफ़िरों के कुफ़्र की बातें हैं, ऐसी पूर्णता से नष्ट किये कि आज के खोजियों के लिए यह जानने का कोई साधन नहीं बचा कि पुराने फ़िलिपीन वाङ्मय में क्या कुछ था। जो कुछ-एक चिह्न मिले हैं उनसे जाना गया है कि फ़िलिपीन की लिपि ब्राह्मी वर्णमाला का ही अपभ्रंश रूप थी। फ़िलिपीन के लोग अनुश्रुति से मनु और लाओ-चे को अपने पहले विधान-दाता मानते हैं, जिससे प्रकट होता है कि उनकी सभ्यता का आधार भारतीय और चीनी था।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. परले हिन्द के चम्पा राज्य की अवनति और अन्त का संक्षिप्त वृत्तान्त लिखिए।

२. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए—(१) बिल्वतिक्त साम्राज्य का उदय और अस्त (२) पुर्तगालियों का भारत आना (३) पहली पृथ्वी-परिक्रमा।

३. पुर्तगालियों ने भारतीय समुद्र पर एकाधिपत्य किन दशाओं में कर लिया?

४. दीव की लड़ाई का इतिहास में क्या महत्त्व है?

अध्याय ८

पिछले मध्य काल का भारतीय जीवन

§ १. हिन्दुओं का राजनीतिक पतन और उसके कारण— पिछला मध्य युग हिन्दू सभ्यता की सड़ान और अधोगति का युग था। हिन्दुओं की राजशक्ति इस युग में तितरबितर हो गई। हिन्दू इस युग में प्रायः सदा हारते ही क्यों रहे? इस प्रश्न के बहुत से उत्तर प्रचलित हैं, जैसे कि ठंडे देशों के निवासी और मांसाहारी होने के कारण मुसलमान हिन्दुओं से अधिक बलिष्ठ होते थे, कि युद्ध में हिन्दू अपने भारी-भरकम हाथियों पर भरोसा रखते जो फुर्तीले घुड़सवारों के मुकाबले में निकम्मे निकलते थे, और कि हिन्दुओं में एकता न थी—हर्षवर्धन के बाद से भारत में कोई सम्राट् नहीं हुआ और अराजकता छाई रही, छोटे छोटे राज्य सदा आपस में लड़ कर कमज़ोर होते रहे।

इनमें से कोई भी व्याख्या परख पर पूरी नहीं उतरती। भारतवर्ष के

गरम मैदानों के लोग ठंडे देशों के लोगों से कभी कमज़ोर नहीं रहे। भारतीय योद्धा तुर्कों से शारीरिक बल में कम न थे। अब भी भारत के गरम प्रदेशों के निवासी राजपूत जाट सिक्ख मराठे भोजपुरी कन्नड आदि संसार की बलिष्ठ सैनिक जातियों से टक्कर लेते हैं। यदि गरम और ठंडे देश में पैदा होने से ही यह भेद होता तो अफगान जब हिन्दू थे, तब महमूद से क्यों हारते रहे? और कश्मीर से नेपाल तक के ठंडे प्रदेशों के हिन्दू राज्य इस युग में क्यों मुर्दा पड़े रहे? मलिक काफूर किसी ठंडे देश में पैदा न हुआ था। हिन्दू रहते हुए उसी काफूर ने वह योग्यता क्यों न दिखलाई? मांसाहार की बात भी वैसी ही है। दाक्षिणात्य और गौड ब्राह्मणों बनियों और जैनों को छोड़ कर आज भी प्रायः सब हिन्दू मांसाहारी हैं। हाथियों वाली बात भी ठीक नहीं है। स्वयं महमूद गज़नवी ने मध्य एशिया में अपने विरोधियों के मुकाबले में भारतीय हाथियों का प्रयोग किया था। उसका वृत्तान्त मनोरंजक है। उसके हाथी शत्रु के सवारों को अपनी सूँडों से पकड़ कर काठियों में से खींच लेते और नीचे पटक कर पैरों तले रौंद देते थे।

तीसरी बात भी अज्ञानमूलक है। प्रतिहारों और राष्ट्रकूटों के साम्राज्य हर्ष और पुलकेशी के साम्राज्यों के प्रायः बराबर थे। ८वीं ९वीं १०वीं शताब्दियों में जितने बड़े राज्य भारतवर्ष में रहे उतने बड़े राज्यों का परस्पर लड़ना यदि अराजकता हो तो संसार के सब देशों में सदा ही अराजकता रही है। बीच बीच में उनके परस्पर लड़ने से तो उलटा उनका पौरुष बना रहा। भारत जैसे बड़े देश में यदि तीन सदियों तक कोई युद्ध न होता तो लोग शायद युद्ध करना ही भूल जाते। तुर्क लोग भी आपस की लड़ाइयों में हिन्दुओं से क्या कुछ कम थे? यदि तुर्कों ने हिन्दू राज्यों की लड़ाइयों से लाभ उठाया तो क्यों नहीं किसी हिन्दू राजा ने तुर्कों की आपसी लड़ाइयों से लाभ उठाने की चेष्टा की? सच यह है कि यदि हिन्दुओं का राजनीतिक जीवन मन्द न हो गया होता तो अकेले अकेले हिन्दू राज्य भी शत्रु का मुकाबला कर सकते और यदि महमूद जैसा कोई असाधारण सेनापति उन्हें पछाड़ भी देता तो भी अवसर पाते ही वे फिर उठ खड़े होते।

इस प्रसंग में हमें इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि इस युग में

हिन्दुओं ने जितनी लड़ाइयाँ लड़ीं, वे प्रायः सब रक्षापरक ही थीं। उन्हें आगे बढ़ कर शत्रु पर चढ़ाई करने की न सूझती थी और सूझती भी तो बहुत दूर की नहीं। शहाबुद्दीन गोरी यदि कई चढ़ाइयां में हारा भी तो उन हारों से उसे अपने राज्य का कोई अंश तो न देना पड़ा। और हिन्दू राजा यदि उसके मुकाबले में जीते भी तो अधिक से अधिक अपना घर ही बचा पाये। इस युग में उन्होंने जो वीरता दिखाई प्रायः वह अपना अन्त निकट देख कर निराश हो मरने मारने पर तुले हुए आदमियों की वीरता थी। उसमें महत्त्वाकांक्षा की वह प्रेरणा, विशाल दृष्टि का वह स्वप्न और वह ऊँची साध न थी जो मनुष्यों को नई भूमियाँ खोजने और जीतने के खतरे उठाने के लिए आगे बढ़ाती है। बेशक, कायर बन कर अधीनता मानने की अपेक्षा वैसी वीरता की मौत मरना बेहतर था। किन्तु वह बहादुरी का मरना ही था, बहादुरी का जीना नहीं।

हिन्दुओं की हार का एक यह कारण भी कहा जाता है कि उनमें अनेक देशद्रोही पैदा होते रहे। देशद्रोह के बहुत से उदाहरण तो कल्पित हैं, जैसे पृथ्वीराज के विरुद्ध जयचन्द्र का। अनेक सच भी हैं, जैसे मुहम्मद गोरी के ज़माने में उच्च की रानी का या अलाउद्दीन की गुजरात चढ़ाई से पहले कर्ण के उस मन्त्री का जिसका कर्ण ने मूर्खतावश अपमान किया था। इन उदाहरणों के विषय में यह सोचना चाहिए कि हिन्दू राज्यों के नेता इतने जागरूक क्यों न रहते रहे कि देशद्रोह के अंकुर को ही कुचल देते। प्रजा का कोई आदमी ज्योंही देशद्रोह करने लगता, राजा उसे पकड़ कर दंड क्यों नहीं देता था? और यदि राजा ही देश बेचने लगता तो प्रजा उसके विरुद्ध क्यों नहीं उठ खड़ी होती थी? कर्ण सोलंकी ने ऐसा अन्धा हो कर अपने मन्त्री को क्यों सताया—प्रजा ने उसे वैसा बर्ताव क्यों करने दिया—कि उसका मन्त्री शत्रु से जा मिला?

इस प्रकार देशद्रोह के इन दृष्टान्तों से वास्तव में राजनीतिक जीवन की मन्दता ही सूचित होती है। हिन्दुओं की इस युग की अधोगति का असल कारण यह था कि उनकी प्रगति या आगे बढ़ने की प्रवृत्ति रुक गई थी, उनकी महत्त्वाकांक्षा क्षीण हो गई थी, और वे अपने राजनीतिक हिताहित की उपेक्षा करने लगे थे।

§२. तुर्कों और हिन्दुओं के राजनीतिक जीवन और शासन

की तुलना—इस युग के तुर्क सरदार और सैनिक निःसन्देह बहुत उच्छृंखल और उपद्रवी थे। सन् ११६३ से १५२६ ई० तक दिल्ली की गद्दी पर ५ वंशों के ३५ बादशाह बैठे। उसी अवधि में मेवाड़ में १३ राजाओं ने राज्य किया। दिल्ली के उन बादशाहों में से १६ तथा मेवाड़ के राजाओं में से ३ स्वाभाविक मृत्यु* के बिना मारे गये। सन् ११६६ से १५३८ ई० तक गौड में कुल ४३ शासकों ने शासन किया। उसी अरसे में उसके पड़ोसी उड़ीसा में केवल १४ राजाओं का शासन रहा।

इन अंकों से तुर्क शासन की कमज़ोरी प्रकट होती है। किन्तु यदि कोई हिन्दू राजा इस कमज़ोरी से लाभ उठा कर दिल्ली पर चढ़ाई करता तो क्या होता? तुर्कों में कोई न कोई गयास तुगलक उठ खड़ा होता, और सब तुर्क अपने उपद्रव छोड़ उसके झंडे तले जमा हो जाते। यह समझना चाहिए कि तुर्क सल्तनत में वास्तविक शासन तुर्कों के सैनिक दल के हाथ में था। उस दल के नेता कब खिलजी रहे, कब तुगलक, आदि, सो गौण बात है। वह दल एक जाति के लोगों का था, जिनका जीवन रहनसहन भाषा और मज़हब एक था। उस तरुण जाति में नये नये देश जीतने की उमंग सहज ही विद्यमान थी। इस्लाम ने उनमें यह विश्वास पैदा कर दिया था कि उनकी वह उमंग और लूटमार की प्रवृत्ति भी ईश्वरीय प्रेरणा है। यों वह उमंग उनके लिए ऊँचा आदर्श बन गई जो आदर्श उन्हें सदा आगे बढ़ने को प्रेरित करता रहा।

उनके दल में छोटे बड़े सब बराबर थे, योग्यता से कोई भी आगे बढ़ सकता था। वे लोग काफी उत्पाती और उच्छृंखल थे, तो भी इस्लाम की शरीअत ने उनके समाज में कुछ नियम बाँध दिये थे, और चूँकि वे नियम उनकी दृष्टि में ईश्वरी कानून थे, अतः उनके उल्लंघन करने की आन्तरिक रुकावट उनके लिए उपस्थित रहती। यदि उनका शासन उपद्रवमय था तो इसका समूचा दोष भी उन्हें नहीं दिया जा सकता। इसके लिए मुख्य दोषी शासित प्रजा थी जो निश्चेष्ट हो कर सब कुछ सहने को तैयार थी, और अपने

* आयु पूरी कर के, रोग से या बाहरी शत्रु से युद्ध में लड़ते हुए मृत्यु स्वाभाविक गिनी जाती है, पर भीतरी विद्रोह या घरेलू लड़ाई से होने वाली मृत्यु अस्वाभाविक है।

राजनीतिक अधिकारों और कर्त्तव्यों के प्रति बिलकुल बेहोश हो गई थी। यदि हिन्दू सभ्यता में पहले का सा जीवन होता तो वह शकों की तरह तुर्कों को भी पालतू बना लेती; इस्लाम ने तुर्कों के दल में जो व्यवस्था पैदा की वह उससे अधिक अच्छी व्यवस्था पैदा कर देती।

खिलजियों के पतन-काल में यदि कोई हिन्दू सरदार दिल्ली पर अधिकार कर भी लेता तो जहाँ उसे तुर्कों के उस जीवित दल का सामना करना पड़ता, वहाँ उसके अपने पक्ष में कौन सी शक्तियाँ आतीं? यदि वह 'नीच' जात का होता, जैसा कि खुसरो था ही, तो उसे कहीं से भी सहयोग न मिलता। और यदि वह कुलीन होता तो भी उसकी दशा प्रायः वही होती जो बंगाल में राजा गणेश की हुई। गणेश के बेटे के मुसलमान होने के विषय में कई कहानियाँ प्रसिद्ध हैं, पर असल बात यह प्रतीत होती है कि उसके अधीन हिन्दू सरदार निश्चेष्ट थे जिनसे सहयोग पाने की उसे कोई आशा न थी, और सचेष्ट मुस्लिम सरदारों और पीरों फकीरों का अकेले मुकाबला करने लायक दृढ़ता, जो उसके बाप में थी, उसमें न थी।

चौदहवीं पन्द्रहवीं सदियों में उत्तर भारतीय मैदान के मुख्य अंश कश्मीर मालवा गुजरात और महाराष्ट्र के सिवाय समूचे भारत में अर्थात् लगभग आधे भारत में हिन्दू राज्य थे। यदि उनमें राजनीतिक सचेष्टता जागरूकता और अपनी एकता का विचार होता तो वे अपनी बड़ी शक्ति संघटित कर सकते। किन्तु उनकी दृष्टि संकीर्ण और शून्य थी। पुरानी लकीर पर चलने के अतिरिक्त कोई दूर का या ऊँचा लक्ष्य उनके सामने आता ही न था।

जिन राज्यों के संचालक अपने चारों तरफ की परिस्थिति को देखने और समझने में इतने बेसुध और जागरूकताहीन थे, उनके अन्दर का शासन भी कैसा रहा होगा? हमने दिल्ली और लखनौती के तुर्क शासन की एक अंश में मेवाड़ और उड़ीसा के मुकाबले में कमज़ोरी देखी है। हिन्दू शासन में दूसरी कमज़ोरी थी। जहाँ राज्य के नेता ऊँघने वाले और उपेक्षाशील होते हैं, वहाँ उसका संघटन बाहर की किसी चोट के बिना ही ढीला हो जाता है और चारों तरफ उपद्रव होने लगते हैं। चेदि देश का इतिहास इसका उदाहरण है।

सल्तनत युग में उसका बड़ा अंश प्रायः स्वतन्त्र रहा; किन्तु बारहवीं सदी के अन्त में वह राज्य आप से आप ही टूट गया। इसके बाद उसके स्थान में कोई सुसंघटित राज्य पैदा न हुआ; जहाँ तहाँ छोटे मोटे सरदारों के ठिकाने खड़े हो गये, जिनकी सीमाओं पर सदा ही अशान्ति रहती होगी। यदि भारत में तुर्क न आते तो प्रायः समूचे भारत की वही दशा हो जाती। इस प्रकार यदि तुर्कों के राज्य में शासक दल की असंयत सचेष्टता के कारण उत्पात और उपद्रव होते रहते थे तो हिन्दुओं के राज्य में शासकों की निश्चेष्टता के कारण वैसे ही उपद्रव जारी थे। प्रजा में राजनीतिक चैतन्य न रहने के कारण उस युग में देश की वैसी दुर्दशा होना अवश्यम्भावी था।

§३. डामर शासनप्रणाली और जागीर-पद्धति—जनता की राजनीतिक निश्चेष्टता तथा तुर्कों के विजयों से इस युग में शासन की एक नई पद्धति जिसकी बुनियाद पहले मध्य युग से पड़ रही थी, पूरी तरह जम गई। तुर्क और दूसरे विजेता विजय के बाद इलाके आपस में बाँट लेते। वे पहले किसानों को हटा कर उनके स्थान में स्वयं बसने के बजाय उन्हीं को खेती-बाड़ी करने देते और उनके ऊपर स्थानीय शासक बन बैठते थे। जो काम पहले शिल्पियों की श्रेणियाँ, ग्रामों और नगरों की सभायें या पंचायतें करतीं थीं, उसका बहुत सा अंश इन स्थानीय शासकों या जागीरदारों ने हथिया लिया। पंचायतें भी बनी रहीं, पर जनता के अपने स्वत्वों के प्रति उदासीन हो जाने के कारण उनके और इन जागीरदारों के अधिकारों की सीमा का निश्चय करना कठिन है। इस पद्धति का विकास पहले मध्य युग से ही होने लगा था, बाहरी विजेताओं के आने से वह तेज़ी से बढ़ा। जहाँ नये विजेता न पहुँचे, वहाँ भी पुराने कर वसूल करने वाले और अन्य राज्याधिकारी उसी तरह जनता के बहुत से अधिकार लेते गये। राजा अपने बड़े सरदारों या डामरों† को मानो देश का शासन ठेके पर देता—या जागीर देता—और वे अपने छोटे सरदारों

† पहले हम इस अर्थ में सामन्त लिखते रहे हैं। किन्तु इस अर्थ में ठीक पुराना शब्द डामर है। सामन्त और डामर में अन्तर भी है। सामन्त अपने प्रदेश का राजा होता है जो दूसरे को अपना अधिपति मान लेता है; डामर स्थानीय शासक होता है।

और सैनिकों को उसी तरह ठेका देते। इस ठेके की परम्परा में प्रत्येक ठेके की यह शर्त होती कि सैनिक या सरदार अपने 'स्वामी' को बदले में सैनिक सेवा देंगे। इसी को हम डामर-तन्त्र या जागीर-पद्धति कहते हैं।

§४. सामाजिक जीवन—जातपाँत परदा बालविवाह—न केवल हिन्दुओं के राजनीतिक जीवन में प्रत्युत उनकी सभ्यता के सभी पहलुओं में जीर्णता आ गई। उस सभ्यता में प्रगति और प्रवाह बन्द हो गये थे। किन्तु जीर्ण होने पर भी हिन्दू सभ्यता ने अपने को बचाये रखने की अनुपम शक्ति दिखाई। पहले मध्य युग में जात-पाँत का आरम्भ हो चुका था और ब्याह-शादी खान-पान पर बन्धन लगने लगे थे। वे बन्धन अब और कड़े हो गये, जिससे हिन्दू समाज के अन्दर के जीवन पर बाहर से कोई प्रभाव पड़ना बहुत कठिन हो गया। हिन्दुओं ने अपने विजेताओं को अपने से ऊँचा मानने के बजाय उलटा नीचा बताया। चौदहवीं शताब्दी में राजस्थान के जो अनेक राजवंश पदच्युत हुए उनके वंशधर अपने को राजपूत कहने लगे और वह भी एक जात बन गई।

परन्तु इस युग तक भी हिन्दू अपनी जातों में बाहर के आदमियों को मिला लेते थे। इसका एक उदाहरण शहाबुद्दीन गोरी के हारे हुए कैदियों का गुजराती हिन्दुओं में मिलाये जाने का है [७, ६§९]। दूसरा बड़ा उदाहरण अहोम लोगों के हिन्दुओं में मिलने का है। तेरहवीं सदी में वे असम में आये तो अपनी बोली बोलते और गोमांस खाते थे। धीरे धीरे उन्होंने आर्य भाषा अपना ली और पूरे हिन्दू बन गये। तीसरा उदाहरण कश्मीर आदि प्रान्तों में एक एक जात के भीतर, जहाँ जात के कुछ लोग मुस्लिम बन गये, कुछ हिन्दू रह गये थे, हिन्दू-मुस्लिम विवाह होते चलने का है [८, ५§७]। जैसे हिन्दू लड़कियाँ मुस्लिम घर में ब्याही जाने पर इस्लाम अपना लेतीं, वैसे ही मुस्लिम लड़कियाँ हिन्दू घर में ब्याही जाने पर हिन्दू धर्म-कर्म अपना लेतीं। पति के मत के अनुसार पत्नी का शव मृत्यु के बाद दफ़नाया या जलाया जाता।

परदा और बालविवाह की प्रथाएँ भी इसी युग में परिपक्व हुईं।

§५. धार्मिक जीवन—(अ) जडपूजा वाम मार्ग और जटिल क्रियाकलाप—पहले मध्य काल के अन्त तक हिन्दू धर्म में जो प्रवृत्तियाँ प्रकट

हो चुकी थीं वे तेरहवीं शताब्दी में तथा चौदहवीं के आरम्भ तक भी जारी रहीं। जनसाधारण में मूर्त्ति पूजा जड-पूजा बन चुकी थी। इसके अलावा प्रायः सभी पन्थों में कोई न कोई विषयी या घोर रूप चल चुके थे। तीसरे, अलौकिक और असाधारण सिद्धियाँ ऊँचे जीवन का मुख्य चिह्न मानी जाने लगी थीं। चौथे, धर्म में निरर्थक क्रियाकलाप बहुत बढ़ गया था, और उस रूप में उसे निभाना फुरसत वाले निठल्ले लोगों के लिए ही शक्य था। देवगिरि के अन्तिम यादव राजा के मन्त्री हेमाद्रि (हेमाड पन्त) ने हिन्दू धर्म-कर्म का ग्रन्थ 'चतुर्वर्ग-चिन्तामणि' लिखा जिसमें बरस भर में करने के लिए प्रायः २००० व्रतों अनुष्ठानों का विधान है। उसी तरह के ग्रन्थ काशी और मिथिला में शूलपाणि उपाध्याय, कमलाकर भट्ट, नीलकंठ आदि ने लिखे, जिनमें हिन्दू धर्म-कर्म का बड़ी जटिल रूप दिखाई देता है।

(इ) तौहीद और मूर्तिपूजा—इस्लाम भारत में हिन्दू धर्म-कर्म की उक्त सब प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया रूप में उपस्थित हुआ था। उसकी चोट ने हिन्दू मस्तिष्क को जगाया और उसने अपने को स्वयं पैदा किये हुए जिस जाले में उलझा लिया था उसमें से निकल कर अपने पुराने दर्शन को फिर से पहचानने में सहायता दी। वास्तव में इस्लाम के धार्मिक विचारों में शिक्षित हिन्दुओं के लिए कोई नई बात न थी। एक ब्रह्म का विचार उपनिषदों के काल से स्पष्ट रूप में चला आता था। हमने देखा है कि महमूद गज़नवी के टंके पर 'लाइलाह इल्लिलाह' का अनुवाद 'एक अव्यक्त' किया गया है [७, ५ § ६]। इससे प्रकट है कि इस्लाम की इस आधारशिला में शिक्षित हिन्दुओं ने अपने दर्शन का पुराना विचार ही देखा। उनकी दृष्टि में ब्रह्मा विष्णु शिव आदि केवल उस 'एक अव्यक्त' की विभिन्न शक्तियों के सूचक थे। उनकी मूर्तियाँ केवल संकेत थीं, जिनकी रचना में कला को अपना कौशल दिखाने का अवसर मिलता था। महाराणा कुम्भा के प्रसिद्ध कीर्तिस्तम्भ में हिन्दुओं के सब देवी-देवताओं की मूर्त्तियाँ हैं। ब्रह्मा विष्णु और शिव से आरम्भ कर ऋतुओं और मासों तक को मूर्त्त किया गया है। स्पष्ट है कि वे सब मूर्त्तियाँ पूजा के लिए न थीं। वहाँ प्रतिमा का अर्थ केवल भाव का मूर्त्त रूप है। वह पत्थर में तराशी गई कविता

है। धार्मिक विचारों में हिन्दू कितने उदार थे, इसका उदाहरण भी उसी कीर्ति-स्तम्भ में विद्यमान है। ब्रह्मा विष्णु शिव की मूर्त्तियों के साथ साथ अरबी अक्षरों में अल्लाह का नाम भी वहाँ लिखा है। वह निराकार ब्रह्म का अरबी नाम है। यों इस युग में इस्लाम के बुनियादी विचार को हिन्दुओं ने खुशी खुशी स्वीकार कर लिया था।

(उ) **सन्त और सूफी सम्प्रदाय**—इस परिवर्त्तन को लाने में इस युग के सन्तों की चलाई हुई सुधार की लहर मुख्य कारण हुई। वे सन्त सब वैष्णव भक्त थे। उन्होंने जनता का ध्यान मूर्त्तियों के जड रूप से हटा कर उनके भाव और आदर्श की तरफ खींचा, विषयासक्त पूजाओं की उपेक्षा कर शुद्ध पूजाओं को उज्ज्वल और आकर्षक रूप में उपस्थित किया, तथा पूजा की विधि और क्रियाकलाप के बजाय भाव और भक्ति पर ज़ोर दिया। मध्य एशिया में बौद्ध मार्ग के सम्पर्क से इस्लाम में भी रहस्यवाद चला। उसके प्रवक्ता सूफी कहलाये।† उनकी धार्मिक दृष्टि बहुत उदार थी। सूफ़ी सम्प्रदाय का उदय भारतीय प्रभाव से मुस्लिम कट्टरपन पिघलने का लक्षण था।

इस युग के पहले सुधारक प्रयाग के रामानन्द तथा पंढरपुर (महाराष्ट्र) के विसोबा खेचर थे, जो दोनों चौदहवीं शताब्दी में हुए। रामानन्द ने गोपियों से घिरे कृष्ण के बजाय राम को भगवान् माना, संस्कृत के बजाय देशी भाषा में उपदेश दिया तथा नीच कहलाने वाली जातियों के लोगों स्त्रियों और मुसलमानों को भी शिष्य बनाया। भक्ति छोटे बड़े सब को पवित्र बना सकती है, अतः भक्त सन्तों ने 'नीच' जातों को भी सहज ही ऊँचा उठा दिया। विसोबा खेचर ने खुले शब्दों में मूर्त्ति-पूजा को धिक्कारा—"पत्थर का देवता नहीं बोलता ... वह चोट से टूट जाता है। ... पत्थर के देवताओं के पुजारी मूर्खतावश सब खो बैठते हैं।"

१४वीं सदी में ही ईरान में हाफिज नामक सूफ़ी कवि हुआ। उसे बहमनी

---

† संस्कृत ग्रन्थों के तुर्की और उनके अरबी अनुवाद ऐसे पाये गये हैं जिनसे सिद्ध हुआ है कि भारतीय वेदान्त से सम्पर्क होने से पहले ही इस्लाम में सूफ़ी सम्प्रदाय चल चुका था।

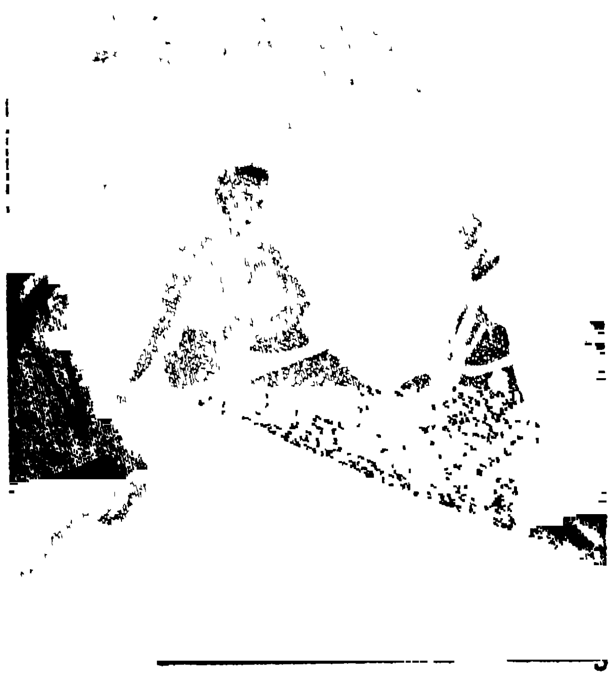
रियासत के मुहम्मदशाह २य (१३७८–९७) तथा बंगाल के गयास आज़मशाह (१३८९–९६) दोनों ने अपने यहाँ आने का निमन्त्रण दिया था। इससे प्रकट है कि भारतीय मुसलमानों पर हाफ़िज़ का बड़ा प्रभाव पड़ा था।

विसोबा का शिष्य नामदेव तथा रामानन्द का शिष्य कबीर था यह माना जाता है। नामदेव ने तीर्थ व्रत उपवास आदि धर्म के सब बाह्य साधनों को व्यर्थ कह कर मन की शुद्धि और हरि के ध्यान को ही ठीक मार्ग बतलाया। कबीर सिकन्दर लोदी का समकालीन मुस्लिम जुलाहा था। हिन्दू और मुसलमान दोनों में उसके अनुयायी हैं, और दोनों को उसने खरी खरी सुनाई। वह भी राम का उपासक था। हिन्दुओं से उसने कहा—

पाहन पूजे हरि मिलैं
तो मैं पुजौं पहार !
तातैं ये चाकी भली
पीस खाय संसार !

और मुसलमानों से कहा—

काँकर पाथर जोरि कै
मसजिद लई चिनाय,
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे,
बहरा हुआ खुदाय ?


कबीरदास—राजपूत कलम का चित्र। [ब्रितानवी संग्रहालय में रक्खे पुराने चित्र की प्रतिलिपि, भारत-कलाभवन]

कबीर के बाद उल्लेखयोग्य नाम पंजाब के गुरु नानकदेव (१४६८–१५३८ ई०) का है जो सन्त होते हुए भी गृहस्थ था। संसार के कर्त्तव्यों को करते हुए भी सदाचरण और भक्ति से मनुष्य धर्मात्मा हो सकता है, यह नानक की शिक्षा थी।

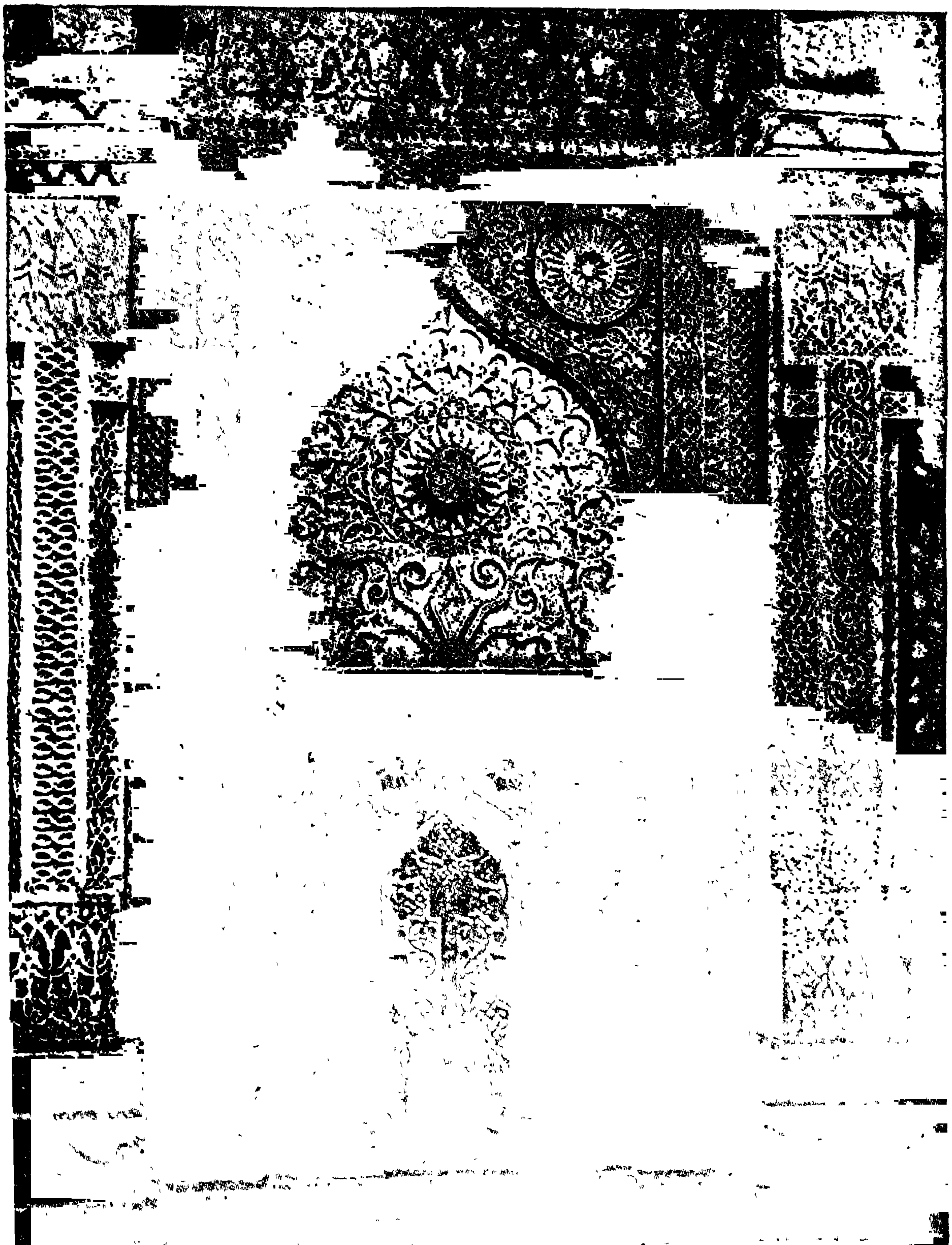
नानक और हुसेनशाह का समकालीन बंगाली सन्त चैतन्य था (१४८५–

१५३३ ई०)। राजा गणेश के प्रधान मन्त्री का पोता अद्वैताचार्य चैतन्य का साथी था। इन दोनों ने बंगाल को वज्रयान और शाक्त वाम मार्ग से उबारा। इनके वैष्णव धर्म में जटिल दार्शनिकता न थी, भाव-प्रधान भक्ति ही उसका सार था। इन्होंने जाति-भेद को दूर किया और मुसलमानों को भी अपना शिष्य बनाया। बंगाल में बौद्ध भिक्खु-भिक्खुनियों का बड़ा समुदाय था, जो हिन्दू समाज से अलग हो गया था। वे नेड़ा-नेड़ी कहलाते थे। अद्वैताचार्य ने उन सब को वैष्णव दीक्षा दे हिन्दुओं में मिला लिया। बंगाली वैष्णव भक्तों ने अहोमों को भी हिन्दू बनाया। किन्तु इन भक्तों के द्वारा भजन-कीर्त्तन को ही जीवन का मुख्य धन्धा बना देने का प्रभाव अच्छा न हुआ, जैसा कि हमने उड़ीसा इतिहास में देखा है [८, ६§१४]।

मारवाड़ की मीराबाई, जो महाराणा कुम्भा के पोते महाराणा सांगा की पतोहू थी, चैतन्य से १३ बरस पीछे पैदा हो कर १३ बरस पीछे ही परलोक सिधारी (१४९८–१५४६ ई०)। उसने अपने दादा और पिता की परम्परा से वैष्णव भक्ति पाई थी।

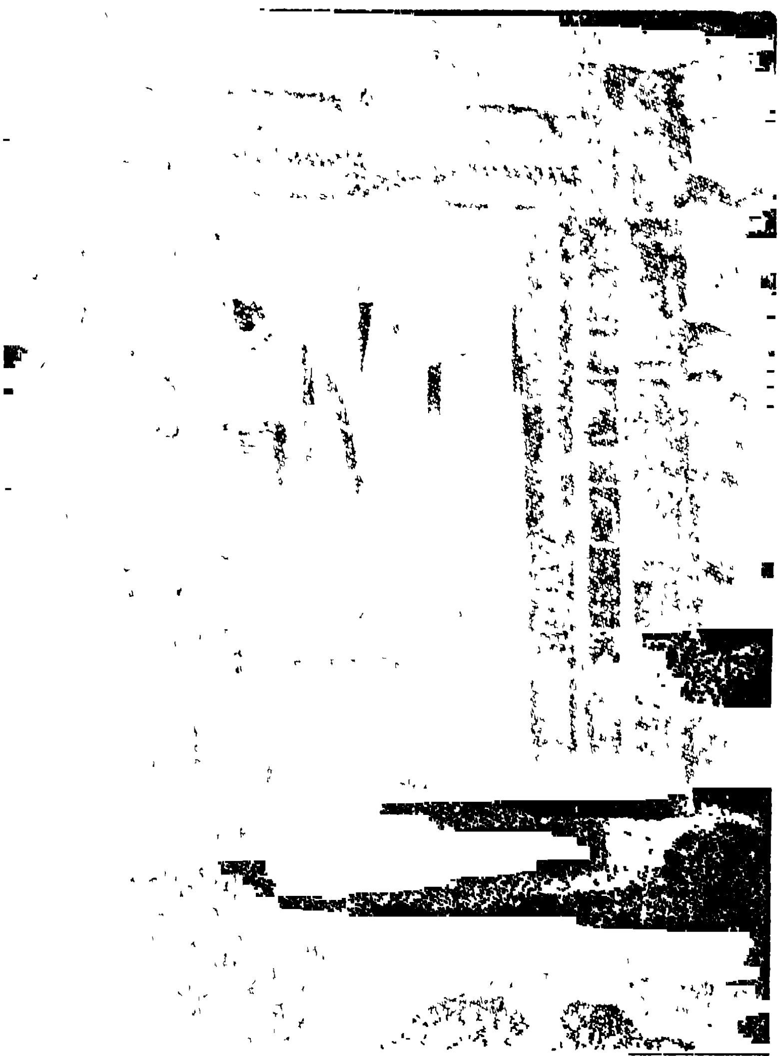
इन सब सूफ़ियों और सन्तों ने धर्म-कर्म में ऊँचनीच हिन्दू-मुस्लिम का भेद मिटाया, तो भी इनका सुधार-कार्य ऐसा स्पष्ट और गहरा न था कि भारत के सामाजिक जीवन से भी उन भेदों को मिटा सकता।

(ऋ) भारतीय इस्लाम—चौदहवीं सदी से—प्रादेशिक मुस्लिम राज्यों की स्थापना के साथ साथ—इस्लाम भी भारतवर्ष में विदेशी न रहा। तुर्क लोग तब तक भारतीय हो गये थे और बहुत से भारतीय भी मुसलमान बन चुके थे। लोदी और अन्य पठान भारतीय मुसलमान अर्थात् हिन्दू से बने हुए मुसलमान ही थे। भारतवर्ष में इस्लाम का वास्तविक प्रचार प्रादेशिक मुस्लिम राज्यों द्वारा ही हुआ। उन राज्यों के शासकों में से कई इस्लाम के उग्र प्रचारक थे और उन हिन्दी मुसलमानों ने तुर्कों से बढ़ कर इस्लाम को फैलाया। फीरोज़ तुगलक, सिकन्दर बुतशिकन, अहमदशाह गुजराती, महमूद बेगड़ा तथा सिकन्दर लोदी उस प्रकार के इस्लाम-प्रचारक थे। दूसरी तरफ़ जैनुलाबिदीन जैसे सुशासकों ने अपने चरित्र के उदाहरण से इस्लाम का गौरव बढ़ाया।



चन्देरी के एक मकबरे की मेहराब—मालवे की १५वीं सदी की कारीगरी।
[ग्वालियर पु० वि०]

§ ६. **ललित कला**—१४वीं १५वीं शताब्दियों के सभी प्रादेशिक प्रशासकों ने भारतीय साहित्य और कला को अपनाया और पुष्ट किया। भारतीय कला पहले मध्य काल के अन्त में भावशून्य और अलंकारप्रधान होने लगी थी। तुर्कों ने जहाँ उसके बहुत से पुराने चिह्न मिटा दिये वहाँ उसमें नई जान भी फूँकी। भारतीय कारीगरों का कौशल मिट न गया था। वह कौशल अब नई मुस्लिम इमारतों में प्रकट हुआ। इनमें से बहुत सी तो पुरानी हिन्दू कृतियों का रूपान्तर मात्र थीं। बंगाल में इलियास के बेटे सिकन्दरशाह की बनवाई पाण्डुआ (ज़ि० मालदा) की अदीना मसजिद, जो किसी बौद्ध स्तूप की सामग्री से बनी तथा जिसके बराबर बड़ी मसजिद भारत में कभी कोई नहीं बन पाई, जौनपुर की अटालादेवी मसजिद तथा मालवा गुजरात और दक्खिन की इस युग की इमारतें भारतीय वास्तु-कला के बढ़िया नमूनों में से हैं। उनमें से प्रत्येक पर अपने अपने प्रान्त की पुरानी शैली की छाप है।



अदीना मस्जिद का एक दरवाजा [भा० पु० वि०]

मूर्ति-कला के लिए मुस्लिम दरबारों में कोई स्थान न था, और हिन्दू राज्यों में भी वह अवनति पर थी। चित्तौड़ के कीर्ति-स्तम्भ की मूर्त्तियाँ भद्दी हैं। किन्तु दक्खिन की नटराज मूर्त्तियाँ सुन्दर और सजीव हैं। इस युग की मूर्त्ति-कला का बढ़िया नमूना जावा से पाई गई राजा रजससंग अमुर्वभूमि (१२२०–२७ ई०)

के काल की प्रज्ञापारमिता की प्रतिमा है, जो उस राजा की सुन्दरी रानी देदेस की प्रतिकृति मानी जाती है। पारमिता का अर्थ है बड़प्पन या परम उत्कर्ष। बौद्ध कला में भिन्न भिन्न पारमिताओं को भी मूर्त्त रूप दिया गया है।

सिक्कों पर बनने वाली मूरतें पहले मध्य काल के अन्त में ही भद्दी होने लगी थीं। चौहानों और गाहड्वालों के सिक्कों पर नन्दी और लक्ष्मी की जैसी मूरतें बनती थीं, मुहम्मद गोरी ने उन्हें वैसा ही जारी रक्खा। अल्तमश ने अपने गौड-विजय की याद में जो टंका ढलवाया, उसपर घुड़सवार की सजीव मूरत है [८, २§४] प्राणियों की मूर्त्ति बनाना इस्लाम के खिलाफ था। प्रकट है कि ये सुलतान इस्लाम की प्रेरणा से ही न चलते थे।

§ ७. **साहित्य**—चौदहवीं पन्द्रहवीं शताब्दियों में देशी भाषाओं के साहित्यों को एक तरफ तो प्रादेशिक राज्यों से प्रोत्साहन मिला, दूसरी तरफ उन्हें सन्त सुधारकों ने अपना कर पुष्ट किया। मलिक खुसरो (१२५३–१३२५ ई०) ने खड़ी बोली में सबसे पहले कविता की। खुसरो की उस कविता से यह भी प्रकट होता है कि तुर्क तेरहवीं शताब्दी तक ही किस प्रकार भारतीय बन चुके और भारतीय विचारों को अपना चुके थे। यदि हिन्दुओं की सामाजिक संकीर्णता बाधक न होती तो तुर्कों के कारण भारतीय समाज का विकास होने में कोई रुकावट न पड़ती।



नटराज (ताण्डव करते हुए शिव) १५वीं सदी का दक्खिन भारतीय कांस्य [पैरिस संग्र०]

बँगला साहित्य का उदय राजा गणेश के काल से हुआ। चण्डीदास के पद उसमें सबसे पहली प्रसिद्ध रचना हैं। उसी प्रकार के पद विद्यापति ने मैथिली में लिखे। हुसेनशाह, उसके पुत्र और सरदारों ने बँगला में भागवत और महाभारत के अनुवाद करवाये। बंगाली



प्रज्ञापारमिता (जावा, १३वीं सदी)

कवियों ने भी उस 'श्रीयुत हसन जगतभूषण' के नाम को अपने गीतों में चिर-स्थायी किया। कश्मीर के जैनुलाबिदीन के विषय में दूसरी तीसरी राजतरंगिणियों के लेखकों ने इस बात को दर्ज किया कि उसने देशी भाषा अर्थात् कश्मीरी में रचना को विशेष रूप से प्रोत्साहित किया।

द्राविड भाषाओं में से तमिळ और कन्नड में पहले भी साहित्य था। तेलुगु में साहित्य का विकास राजा गणपति और उसके सामन्तों तथा मध्य काल के भक्तों के प्रोत्साहन और प्रयत्न से शुरू हुआ। १२वीं शताब्दी के तमिळ कवि कम्बन की रामायण तथा कवयित्री आण्डाल के गीत भारतीय साहित्य के उज्ज्वल रत्न हैं। कम्बरामायण के नमूने पर पीछे दूसरी भाषाओं में भी रामायणें लिखी गईं।

मुस्लिम राज्यों के इतिहास फारसी में लिखे जाते रहे। भारतीय तुर्कों की साहित्यिक भाषा फारसी थी। असम के अहोम राजाओं के वृत्तान्त अहोम भाषा में बराबर लिखे गये। वे बुरंजी कहलाते हैं। कश्मीर का इतिहास दूसरी तीसरी चौथी राजतरंगिणी के रूप में इस युग में बराबर संस्कृत पद्य में लिखा जाता रहा। संस्कृत में अन्य अनेक ऐतिहासिक प्रबन्ध और ग्रन्थ भी इस युग में लिखे जाते रहे। ये सभी महत्त्वपूर्ण हैं।

इसके साथ ही यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस युग के देशी भाषाओं के वाङ्मय में भावप्रधान काव्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इतिहास भी हिन्दुओं मुस्लिमों ने लिखे तो संस्कृत या फ़ारसी में ही। अर्थात् देशी भाषाओं में ज्ञानपूर्ण विचार-प्रधान विषयों की चर्चा की परम्परा नहीं बनी।

§ ८. **चौदहवीं पन्द्रहवीं शताब्दियों का पुनरुत्थान**—बारहवीं शताब्दी के अन्त में जब उत्तर भारत के हिन्दू राज्य एक एक ठोकर से गिरते गये तब से पिछले मध्य काल का आरम्भ हुआ। तेरहवीं शताब्दी के अन्त और चौदहवीं के आरम्भ में जब दक्खिन भारत और कश्मीर के राज्य गिरे तब वह पतन की प्रक्रिया परा काष्ठा पर पहुँच गई। उसके बाद प्रतिक्रिया हुई। चौदहवीं पन्द्रहवीं शताब्दियों में जो प्रादेशिक राज्य उठे वे उस प्रतिक्रिया की उपज थे। यह बात हिन्दू और मुस्लिम राज्यों के विषय में समान रूप से लागू होती है,

क्योंकि इस युग के प्रादेशिक मुस्लिम राज्यों के प्रशासक अपने अपने प्रदेश में जनता की रक्षा करने और सुव्यवस्था रखने की भावना से पूरी तरह प्रेरित थे, वे अपने को पूरी तरह अपने प्रदेश का मानते, और उसकी कृष्टि से जी जान से प्रेम करते और अपने को विदेशी किसी प्रकार भी न मानते थे। मलिक काफूर, डुल्च और तैमूर के सामने विभिन्न प्रदेशों की जनता ने अपने को जैसा असहाय पाया था, वैसी असहायता फिर न आये यह आदर्श उन सभी राज्यों के सामने प्रायः रहा। चौदहवीं शताब्दी से जो धार्मिक संशोधन की लहर चली वह और यह राजनीतिक पुनर्जीवन एक ही लहर के दो पहलू थे।

प्रायः इन सभी राज्यों ने भारतीय कृष्टि को पुनर्जीवित करने का यत्न किया। जौनपुर के इब्राहीम शर्की तथा उसके पोते हुसेनशाह शर्की (१४५७–७६) के प्रशासन में भारतीय संगीत की विशेष उन्नति हुई। इब्राहीम के अधीन कड़ा-मानिकपुर के बहादुर मलिक नामक व्यक्ति ने दूर दूर के गायकों का एक सम्मेलन जुटा कर संगीत के पुराने संस्कृत ग्रन्थों का संग्रह करवाया, विवादास्पद बातों का निर्णय करवाया और संगीतशिरोमणि नामक नया ग्रन्थ तैयार करवाया (१४२८ ई०)। इसके कुछ ही काल बाद महाराणा कुम्भा और जैनुलाब्दिदीन ने भी संगीत की उन्नति के प्रयत्न किये। इस युग के प्रादेशिक राज्यों ने किस प्रकार भारतीय वास्तुकला को पुनर्जीवित और देशी भाषाओं को प्रोत्साहित किया, सो हम देख चुके हैं। चित्रकला में भी अपभ्रंश शैली की रूढियों को कुछ तोड़ कर एक नई शानदार कलम (शैली) गुजरात और मेवाड़ में १५वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से चली जिसे राजपूत कलम† नाम दिया गया है। अपभ्रंश शैली में शबीहें न बनती थीं, इसमें बनने लगीं।

---

† आनन्द कुमारस्वामी ने राजपूत कलम के अन्तर्गत पहाड़ी कलम को भी माना था, जो हिमालय के राजपूत राज्यों में पैदा हुई और पली। यों अगले युग में जारी रहने वाली राजपूत कलम और मुगल कलम [६,४§५] में से एक अपने नाम से भारतीय और दूसरी बाहरी प्रतीत होती है। राय कृष्णदास ने दिखाया है कि मुगल कलम भी पूरी तरह भारतीय है, कि पहाड़ी कलम जो १८वीं सदी में पैदा हुई उसी का रूपान्तर है, और कि पहाड़ी और राजपूत कलमों के तत्त्वों में इतना अन्तर है कि उन-

§९. मध्य काल का ज्ञान और अर्वाचीन काल का आरम्भ— हम कह चुके हैं कि गुप्त युग में भारतवर्ष में ज्ञान की उन्नति जहाँ तक हो गई थी, उसके आगे प्रायः एक हज़ार बरस तक संसार ने विशेष उन्नति न की। इस बीच पहले अरबों और फिर मंगोलों द्वारा भारत और चीन का ज्ञान युरोप तक पहुँचता रहा। दशगुणोत्तर गणना अरब लोगों ने भारत से सीखी, इसी कारण उन्होंने हमारे अंकों को हिन्दसे कहा। युरोप वालों ने वह गणना अरबों से तेरहवीं शताब्दी में सीखी। लकड़ी के ठप्पों (ब्लाकों) से कागज़ पर छापने की विद्या चीन वालों से सीख कर अरबों ने युरोप पहुँचाई। मंगोलों ने युरोप में बारूद पहुँचाया। इसी प्रकार और अनेक बातों का ज्ञान युरोप में पूरब से गया। रोम के पतन के काल से जब युरोप के राष्ट्रों ने ईसाई विचार को अपनाया, तब से वे अज्ञान की निद्रा में रहे। अब धीरे धीरे यह ज्ञान पा कर उनमें गहरी जागृति पैदा हुई। प्राचीन यूनान की विद्याओं के लिए वे तरसने लगे। १४५३ ई० में तुर्कों के कुस्तुन्तुनिया जीत लेने पर प्राचीन यूनानी विद्याओं के अनेक विद्वान् भाग कर युरोप के देशों में पहुँचे।

पूरब और यूनान के ज्ञान से युरोप में नई जागृति पैदा हो गई। वहाँ के तरुण आर्य राष्ट्रों के विचार जहाँ एक बार उस ज्ञान से जग उठे कि उन्होंने स्वयं नई नई खोजें करना शुरू कर दिया। नये देशों की खोज की बात पीछे कही जा चुकी है। गुट्टनबर्ग नामक जर्मन ने इसी काल सीसे के चल टाइप से छापने की कला निकाली (१४५४–५६ ई०), जिससे नई पुस्तकें छापने में बड़ी सुविधा हो गई। यों दुनिया में नया युग उपस्थित हुआ। उस नये युग को लाने में तीन वस्तुओं के ज्ञान का विशेष प्रभाव हुआ। एक नाविकों के दिग्दर्शक यन्त्र का, दूसरे बारूद का, और तीसरे पुस्तक छापने की कला का।

पर एक शीर्षक नहीं लगाना चाहिए। उन्होंने राजपूत के बजाय राजस्थानी नाम रक्खा है, पर साथ ही कहा है कि वह नाम भी "हम बहुत सार्थक नहीं समझते।" सो उनकी सब बातें मानते हुए भी राजपूत नाम चलने देना ही ठीक है, विशेषतः इस कारण कि राजपूत जाति की कल्पना भी १५वीं शताब्दी के उसी पुनरुत्थान में पैदा हुई, जिसमें यह कलम।

भारत का पन्द्रहवीं शताब्दी का सांस्कृतिक पुनरुत्थान इतना गहरा न था कि भारतीयों के ज्ञानचक्षुओं को पूरी तरह खोल देता। युरोप के पुनर्जागरण के मुकाबले में वह बहुत उथला रहा। ज्ञान के क्षेत्र में भारतीय अब भी वैसे ही सोये रहे जैसे गुप्त युग के बाद से सोये थे। किन्तु पच्छिमी लोगों के जाग जाने का प्रभाव हमारे देश पर भी हुए बिना न रह सकता था। नई जागृति के जोश में स्पेन वालों ने अपने दक्खिनी और रूमियों ने अपने पूरबी प्रान्त से मूरों और मंगोलों को निकाल दिया, तथा युरोपियों ने दुनिया के सब देश खोज डाले। और जब १५०६ ई० में पुर्त्तगालियों ने हमारे समुद्र पर अधिकार कर लिया, तब से हमारा देश भी उस नये युग से प्रभावित होने लगा।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. बारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक हिन्दुओं के राजनीतिक पतन के कारण क्या कहे जाते हैं और वस्तुतः क्या थे?

२. पिछले मध्य काल में तुर्कों और हिन्दुओं के राजनीतिक जीवन की तुलनात्मक विवेचना कीजिए।

३. डामर-शासनप्रणाली का अर्थ क्या है? भारत में उसका उदय कैसे हुआ?

४. पिछले मध्य काल में हिन्दुओं की जातपाँत में बाहर के लोगों के मिलाये जाने के कौन से उदाहरण हैं? हिन्दुओं में जातपाँत का विकास क्यों हुआ?

५. तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के हिन्दू धर्म विषयक ग्रन्थों से उस धर्म का कैसा स्वरूप प्रकट होता है? हिन्दुओं के सामाजिक राजनीतिक जीवन पर उसका क्या प्रभाव पड़ा?

६. चित्तौड़ के कीर्त्तिस्तम्भ में ब्रह्मा विष्णु महेश की मूर्त्तियों के साथ अल्लाह का नाम लिखा होने से क्या सूचित होता है?

७. चौदहवीं पन्द्रहवीं शताब्दियों के प्रमुख भारतीय सन्तों का परिचय दीजिए। उनका भारत के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा?

८. चौदहवीं पन्द्रहवीं शताब्दियों की भारतीय ललित कला और साहित्य के विषय में आप क्या जानते हैं?

९. अर्वाचीन काल का आरंभ कैसे हुआ?

१०. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए—(१) चतुर्वर्गचिन्तामणि (२) बुरंजी (३) कम्ब-रामायण (४) नेड़ा-नेड़ी (५) प्रज्ञापारमिता (६) नटराज की कांस्य मूर्त्ति (७) आण्डाल (८) 'श्रीयुत हसन जगतभूषण' (९) विद्यापति (१०) हिन्दसे (११) चण्डीदास।

६. मुगल-मराठा पर्व

(१५०६—१७६६ ई०)

अध्याय १

साम्राज्य के लिए पहला संघर्ष—सांगा और बाबर

(१५०१—१५३० ई०)

§१. कृष्णदेव राय और दक्खिनी मंडल का संघर्ष—जिस साल दीव का युद्ध हुआ उसी साल मेवाड़ में रायमल का बेटा संग्रामसिंह या सांगा और विजयनगर में वीर-नरसिंह [८, ६§१४] का भाई कृष्णदेवराय गद्दी पर बैठा। दोनों योग्य और शक्तिशाली राजा थे। नरस नायक [८, ६ § १४] अपने बेटों से कह गया था कि बीजापुर से रायचूर दोआब तथा उड़ीसा से उदयगिरि जरूर वापिस लेना। १५१५ ई० तक कृष्णराय ने वे दोनों काम पूरे कर के कृष्णा नदी तक अपनी सीमा पहुँचा दी। १५१७ ई० में उसने कृष्णा पार कर बेजवाड़ा (विजयवाडा) और कोंडपल्ली ले लिये, और तब विशाखापट्टन तक चढ़ाई की। खम्मामेट और नलगोंडा जिलों सहित कृष्णा-गोदावरी दोआब उसने प्रतापरुद्र से ले



कृष्णदेवराय और उसकी रानियाँ
तिरुपति के पास तिरुमलै पहाड़ी पर के श्रीनिवास पेरुमल मन्दिर में की समकालीन कांस्य मूर्त्तियाँ [भा० पु० वि०]

लिया। १५१२ ई० से गोलकुण्डा का प्रान्त बिदर से अलग हो कर स्वतन्त्र रियासत बन गया था। गोलकुण्डा के सुल्तान कुली कुतुबशाह* ने गोदावरी-कृष्णा-दोआब को तथा बीजापुर के इस्माइल आदिलशाह* ने रायचूर दोआब को वापिस लेने की बहुत कोशिश की; पर कृष्णराय के मुकाबले में उनकी एक न चली। हारे हुए शत्रुओं के साथ कृष्णराय का बर्ताव बड़ी उदारता का होता और जीते हुए नगरों में वह कभी लूटमार न होने देता था।

§२. **सांगा और पच्छिमी मंडल का संघर्ष**—महाराणा संग्रामसिंह उर्फ सांगा को जो राज्य मिला, उसमें मेवाड़ के अतिरिक्त मारवाड़ बीकानेर और ढूंढाड़ (आधुनिक जयपुर प्रदेश) पहले से ही थे। सांगा ने अब अपने दादा की नीति को पुनरुज्जीवित कर आगे बढ़ना और दिल्ली के इलाकों पर हाथ साफ करना शुरू किया। इसपर सिकन्दर लोदी के बेटे इब्राहीम लोदी ने उसपर दो चढ़ाइयाँ कीं (१५१७-१८ ई०), जिनमें हार कर इब्राहीम को चम्बल की दून में ग्वालियर धौलपुर तक का इलाका देना पड़ा। सिकन्दर और इब्राहीम ने ग्वालियर राज्य जीता था, वह अब सांगा के हाथ आ गया। आगरे के पास पीलिया खाल उसके राज्य की सीमा बनी। दिल्ली और मालवे के बीच सांगा ने यों पच्चर ठोक दिया।

१५१० ई० में महमूद २य मालवे की गद्दी पर बैठा। उसके भाई ने सरदारों से मिल कर विद्रोह किया, और दिल्ली और गुजरात से मदद मँगवाई। गुजरात का मुज़फ्फरशाह २य (१५११-२६ ई०) स्वयं फौज के साथ आया। चन्देरी के जागीरदार मेदिनीराय ने, जो महमूद का मन्त्री था, दिल्ली मालवा और गुजरात की सम्मिलित सेनाओं को हरा कर विद्रोह कुचल दिया। पीछे उन्हीं अमीरों के बहकाने से महमूद ने मेदिनी को धोखे से मरवाना चाहा, और उस प्रयत्न में विफल हो कर वह मुज़फ्फरशाह के पास गुजरात भाग गया।

---

*अहमदनगर बीजापुर और गोलकुण्डा के सुल्तान-वंशों के नाम क्रमशः निज़ामशाह आदिलशाह और कुतुबशाह रहे। बराड़ के सुल्तानों का पद इमादशाह तथा बिदर वालों का बरीदशाह था।

मेदिनीराय ने राणा सांगा से सहायता ली। पर सांगा से पहले मुजफ्फरशाह ने मांडू जीत लिया, और गुजराती फौज की मदद से महमूद मेवाड़ की तरफ बढ़ा। गागरौन की लड़ाई में वह सांगा का कैदी हुआ। तीन महीने बाद सांगा ने आधा राज्य वापिस दे कर उसे छोड़ दिया। रणथम्भोर गागरौन भिलसा चन्देरी और कालपी के प्रदेश अर्थात् उत्तरी इलाके राणा के पास रहे, जिससे दिल्ली और मालवे की सल्तनतें एक दूसरे से बिलकुल अलग हो गईं, और चित्तोड़ राज्य की सीमा बुन्देलखण्ड और गढ़कटंका से जा लगी।

गढ़कटंका का राजा संग्रामशाह राणा संग्रामसिंह का समकालीन था, और उसने अपने आधी शताब्दी (लग० १४६१–१५४१ ई०) के प्रशासन में भोपाल से मंडला तक—अर्थात् मालवे और छत्तीसगढ़ के बीच के दक्खिनी बुन्देलखंड के—सब गढ़ जीत कर मजबूत राज्य खड़ा कर लिया था। सांगा ने उसके उत्तर तरफ समूचा उत्तरी बुन्देलखंड ले कर बघेलखंड में बान्धोगढ़ के पास तक अपना प्रभुत्व फैला लिया। गागरौन की जीत के बाद सांगा ने गुजरात पर भी चढ़ाई की (१५२० ई०)।

§ ३. उत्तरी मंडल का संघर्ष और बाबर का पूर्व चरित— हम्मीर का वंशज सांगा जब पच्छिमी भारत में अपना आधिपत्य जमा रहा था तभी उत्तरपच्छिमी पंजाब में, जिसे दिल्ली के सुल्तान कभी अधीन न कर पाये थे, तैमूर का वंशज बाबर, जो आयु और वीरता में सांगा के जोड़ का था, अपने पैर जमाने की कोशिश में लगा था (१५०६–२० ई०)।

तैमूर ने काशगर से पच्छिमी एशिया तक सब देशों को जीता था, पर पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में उसके वंशजों के हाथ में केवल खुरासान अर्थात् उत्तरपूर्वी ईरान, वंक्षु-सीर के प्रदेश और काबुल-गजनी बचे थे। खुरासान की राजधानी हरात थी। काबुल का राज्य उससे अलग था। वंक्षु-सीर प्रदेश में तीन छोटे छोटे राज्य थे। एक समरकन्द का, दूसरा हिसार-बदख्शाँ का जिसकी राजधानी हिसार (आधुनिक स्तालिनाबाद के १२ मील दक्खिनपच्छिम) थी, तथा तीसरा फरगाना का, जिसकी राजधानी अन्दिजान थी। यों कुल मिला कर तैमूर-वंशजों के अब पाँच छोटे छोटे राज्य थे।

फ़रगाने के शासक उमरशेख के यहाँ १४८३ ई० में बेटा पैदा हुआ जो इतिहास में बाबर नाम से प्रसिद्ध हुआ। सांगा १४८२ ई० में पैदा हुआ था। तैमूर के पीछे मध्य एशिया में मंगोल सरदारों ने फिर जहाँ तहाँ सिर उठा लिया था। फ़रगाने के नीचे सीर के काँठे में ताशकन्द तब चंगेज़खाँ के वंशजों की राजधानी थी। बाबर की माँ वहाँ के राजा की बेटी थी। इसी कारण न केवल बाबर और उसके वंशज प्रत्युत उनके सरदार भी भारत में मुगल अर्थात् मंगोल कहलाते रहे। अगली तीन सदियों में भारत के जो मुगल बादशाह हुए, वे असल में तुर्क थे।

मध्य एशिया के लोग इस युग में तीन नृवंशों में विभक्त थे--ताजिक तुर्क और मंगोल। पुराने सब आर्यों—ईरानियों शक-तुखारों और आर्यावर्त्तियों—के वंशज अब ताजिक कहलाते थे। तुर्कों में तो आर्य रुधिर मिल ही चुका था, बहुत से मंगोलों की शकल-सूरतें भी मिश्रण के कारण ताजिकों की सी हो गई थीं। मंगोल भी मुसलमान हो चुके थे। ताशकन्द के अतिरिक्त कन्दहार में भी चंगेज़-वंशजों का एक राज्य चला आता था।

§४. मध्य एशिया में उज़्बकों का प्रवेश और बाबर का काबुल आना—१४६५ ई० में खालिस मंगोलों की एक नई शाखा—उज़्बक—सीर के निचले काँठे में आ गई थी। वह अब तैमूरी राज्यों के दिगन्त पर काले बादलों की तरह मँडरा रही थी। जब ११ बरस का कुमार बाबर फ़रगाने की गद्दी पर बैठा, तब तैमूर के वंशज इस उज़्बक आतंक के बावजूद आपस के तुच्छ झगड़ों में उलझे हुए थे। १५०३ ई० तक उज़्बकों के नेता मुहम्मद शैबानी ने समरकन्द और फ़रगाने से तैमूरियों की प्रभुता मिटा दी। बाबर को उसने समरकन्द के पास ज़रफशाँ नदी के पुल पर ऐसी करारी हार दी कि शैबानी का नाम सुन कर बाबर काँप उठता था। उसे अपना देश छोड़ भागना पड़ा। हरात या काबुल जाने के इरादे से वह बदख्शाँ से गुज़र रहा था कि खबरें आने लगीं कि शैबानी उधर भी चढ़ाई करेगा। बदख्शाँ में खलबली मच गई। वहाँ के अनेक भगोड़े भी बाबर के साथ हो गये। रास्ते के 'ईल-ओ-उलूज़' (पहाड़ी जंगली लोगों) की उस सेना के साथ वह काबुल की ओर बढ़ा।

काबुल का शासक जो बाबर का चचा था, इससे दो बरस पहले मर चुका था (१५०१ ई०)। उसकी मृत्यु पर कन्दहार के मंगोलों ने काबुल ले लिया था। हिन्दूकश को पार कर बाबर काबुल दून में उतरा और बात की बात में मंगोल शासक से काबुल छीन लिया (१५०४ ई०)। पर इसके १० बरस बाद तक भी बाबर का ध्यान पीछे (फरगाना) की तरफ रहा। इस बीच शैबानी ने वंक्षु के निचले काँठे—ख्वारिज़्म—को जीत लिया और अराल और बदख्शाँ के बीच सीर और वंक्षु के सब प्रदेशों को अधीन करने के बाद खुरासान भी ले लिया (१५०७ ई०)। यों सोलहवीं सदी के शुरू में मध्य एशिया से तैमूरी राजवंश का नाम-निशान मिट गया; केवल काबुल की गद्दी पर बाबर के रूप में उसका एक दीपक टिमटिमाता रहा। उसी बरस शैबानी कन्दहार पहुँचा। बाबर उसके आने की खबर सुनते ही काबुल से भाग खड़ा हुआ और जलालाबाद पहुँचा। शैबानी के लौटने की खबर पा वह वहाँ से लौटा। काबुल पहुँचने के बाद उसने बदख्शाँ को भी अधीन कर लिया।

ये सब घटनाएँ १५०६ ई० से पहले की हैं। उस बरस से ईरान और मध्य एशिया के इतिहास में भी नया पर्व शुरू हुआ। १५१० ई० में बाबर को खबर मिली कि ईरान के सफावी राजवंश के संस्थापक शाह इस्माइल से हार कर उज़्बक वंक्षु का मैदान छोड़ कुन्दूज़ दून तक हट गये हैं। इसी बीच मर्व की लड़ाई में मरते हुए उज़्बक योद्धाओं और उनके घोड़ों के बीच शैबानी कुचला जा कर मर गया। बाबर शाह के सामन्त रूप में समरकन्द की गद्दी पर बैठा, पर १५१२ ई० में उज़्बकों ने उसे फिर हरा कर बदख्शाँ की पच्छिमी सीमा (कुन्दूज़ नदी) तक अधिकार कर लिया। अपने देश से अन्तिम विदाई ले १५१३ या १५१४ ई० में वह फिर काबुल आया और तब से उसने अपना मुँह भारत की तरफ फेरा।

§ ५. **बाबर का उत्तरी पंजाब जीतना**—अगले पाँच बरस में बाबर ने काबुल के राज्य को व्यवस्थित किया। १५१६ ई० से वह भारत की ओर बढ़ने लगा। प्राचीन कपिश देश का नाम अब काफिरिस्तान पड़ चुका था। उसकी पूरवी सीमा कूनड़ नदी है। कूनड़ के पूरब बाजौर के लोग भी बाबर के काल

तक 'इस्लाम के विद्रोही' (हिन्दू) थे। बाबर ने उनपर चढ़ाई की (१५१९ ई०)। बाजौरियों ने कभी बन्दूक न देखी थी। बाबर के पास बन्दूकों के साथ तोपें भी थीं। परिणाम निश्चित था। बाजौर के बाद स्वात पार कर बाबर ने बुनेर जीता। फिर सिन्ध पार कर नमक की पहाड़ियाँ लाँघते हुए खोकरों गक्खड़ों का मुख्य नगर भेरा, जो तब जेहलम के दाहिने तट पर था, ले लिया। इस रास्ते में उसकी खोकरों गक्खड़ों से अनेक मुठभेड़ें हुईं। पर तीर-कमान के मुकाबले में बन्दूकों की जीत होनी ही थी। बाबर के मुँह फेरते ही गक्खड़ों खोकरों ने विद्रोह किया। उनके दमन के लिए उसने पंजाब पर दो और चढ़ाइयाँ कीं। इन चढ़ाइयों में वह स्यालकोट तक पहुँच गया। सांगा का जमना तक पहुँचना और बाबर का रावी तक पहुँचना प्रायः साथ ही साथ हुआ।

उधर बाबर ने कन्दहार भी जीत लिया। तब कन्दहार के मंगोल प्रशासकों ने, जो अरगून कहलाते थे, सिन्ध आ कर सम्मों से वह प्रांत छीन लिया (१५२१ ई०)। सात बरस बाद उन्होंने पटानों से मुलतान भी ले लिया।

§ ६. **बाबर का ठेठ हिन्दुस्तान जीतना**—इस बीच दिल्ली के पठान राज्य की बड़ी दुर्दशा रही। दुरभिमानी इब्राहीम लोदी ने अपने अनेक सरदारों को बिगाड़ लिया। पूरब में लोहानी अफगानों ने विद्रोह कर बिहार में स्वतन्त्र राज्य की नींव डाली (१५२१ ई०)। इसी सीमान्त राज्य में फरीद उर्फ शेरखाँ सूर नाम के प्रतिभाशाली पटान को बहारखाँ लोहानी के मन्त्री की हैसियत से अपनी शासन-नीति परखने का अवसर मिला। तभी हुसेनशाह बंगाली के बेटे नसरतशाह (१५१९–३२ ई०) की सेनाओं ने मिथिला के हिन्दू राज्य की अन्तिम सफाई कर हाजीपुर में छावनी डाली।

दिल्ली सल्तनत में पंजाब का जो अंश था, उसके सीमान्त थाने लाहौर और दीपालपुर थे। दिल्ली की तरफ से पंजाब के हाकिम दौलतखाँ लोदी ने भी विद्रोह किया और बाबर को बुला भेजा। तभी इब्राहीम लोदी का चचा अलाउद्दीन बाबर के पास पहुँचा और दिल्ली की गद्दी पाने के लिए उससे सहायता माँगी। राणा सांगा के दूतों ने भी काबुल पहुँच कर यह प्रस्ताव किया कि दिल्ली राज्य पर बाबर और सांगा एक साथ चढ़ाई करें, बाबर दिल्ली तक ले ले और

सांगा आगरे तक। इस दशा में बाबर ने पंजाब पर फिर चढ़ाई कर लाहौर और दीपालपुर जीत लिये। दूसरे बरस वह जमना तक चढ़ आया।

इब्राहीम ने पानीपत पर उसका सामना किया। बाबर के पास ७००



बाबर हिन्दुस्तान की गद्दी पर, सामने हुमायूँ
"तारीखे-खानदाने तैमूरिया" की हस्तलिखित
प्रति से पहलेपहल इस ग्रन्थ के लिए लिया गया फोटो।
[खुदाबख्श ग्रन्थागार]

युरोपी तोपें थीं, जिनकी गाड़ियों की पाँतों को चमड़े के रस्सों से बाँध दिया गया था। प्रत्येक जोड़ी के बीच तूरे अर्थात् बड़ी ढालें थीं, जिनके पीछे बन्दूकची

तैनात थे। उन तोपों की पंक्तियाँ सेना के आगे आगे बीच में थीं। तोपों को यों बाँधने का तरीका पहलेपहल युरोप में बोहीमिया (चेकोस्लोवाकिया) के लोगों ने जर्मन रिसालों का हमला तोड़ने को निकाला था। उनकी नकल कर १५१४ ई० में कुस्तुन्तुनिया के उस्मानली तुर्कों ने ईरानियों के विरुद्ध युद्ध में यही तरीका बरता था, और बाबर ने यह उन्हीं से सीखा था। बाबर के सेना-संचालन और साधनों के सामने अफगानों की वीरता किसी काम न आई। चार पाँच घंटों की लड़ाई में दिल्ली की फौज तहसनहस हो गई (२१-४-१५२६)।

पानीपत की हार का समाचार पा बहारखाँ लोहानी ने अपना नाम सुल्तान मुहम्मदखाँ रक्खा, और उसकी नायकता में पूरबी अफगान तुर्कों की बाढ़ रोकने के लिए कन्नौज तक चढ़ आये। पच्छिमी अफगानों का नेता हसनखाँ मेवाती था। उसने इब्राहीम के भाई महमूद लोदी को दिल्ली का सुल्तान बना कर खड़ा किया। गरमी के मौसम में तुर्कों को आगे बढ़ता न देख मुहम्मदखाँ बिहार लौट गया। उसके बाद पठानों में घर की फूट प्रकट होने लगी। बाबर के दिल्ली-आगरा दखल कर लेने पर दोआब अवध और जौनपुर के बहुत से अफगान सरदारों ने भी उसे अपनी अपनी सेवाएँ सौंप दीं। उनकी मदद के भरोसे उसने अपने बेटे हुमायूँ को उसी चौमासे में पूरब की चढ़ाई पर भेजा। हुमायूँ ने पाँच महीने में अवध जौनपुर और गाज़ीपुर तक जीत लिया।

§७. राजस्थान के लिए युद्ध—हसनखाँ मेवाती और महमूद लोदी राणा सांगा से जा मिले। बाबर ने जमना के दक्खिन कदम रक्खा कि सांगा से उसका युद्ध ठन गया। वह प्रदेश सांगा का वह उत्तरी सीमान्त था जिसे वह दिल्ली के सुल्तान से छीन चुका था। तो भी वहाँ के किलों के किलेदार सब पुराने ही थे। बाबर ने उनसे मिल कर बयाना धौलपुर और ग्वालियर के गढ़ ले लिये और बदले में उन्हें दोआब में बड़ी बड़ी जागीरें दे दीं। सांगा ने तेज़ी से बढ़ कर बाबर की फौज से बयाना छीन लिया। सांगा को इस प्रकार बढ़ता देख बाबर भी आगरे से बढ़ा और सीकरी गाँव पर डेरा डाल दिया (११-२-१५२७ ई०)। एक मुगल सेनापति सीकरी से खानवे की ओर बढ़ा

और राजपूतों से बुरी तरह हारा। बयाने की लड़ाई और इस मुठभेड़ के तजरबे से मुगल सेना में त्रास फैल गया। इस विपत्ति ने बाबर के अन्तरात्मा को जड़ तक हिला दिया। उसने शराब छोड़ने का प्रण किया और अपनी सेना के धर्म-भावों को उत्तेजित किया। उधर उसने सांगा से सन्धि की बातचीत भी शुरू की। सांगा ने पहली जीत के बाद एकाएक हमला न कर सुलह की बातों में उसे महीना भर तैयारी का मौका दे दिया। बाबर ने इस बीच पानीपत की तरह खाई-खन्दकें खुदवा लीं और तोपों की गाड़ियों को रस्सों से बँधवा लिया।

१७ मार्च १५२७ को खानवा के तंग मैदान में लड़ाई हुई। बाबर ने अच्छी खासी रक्षित सेना अपने व्यूह के पीछे दोनों किनारों पर अलग रख ली थी। राजपूत सवारों के दल बाबर की आग उगलने वाली दीवार पर टूटते और कई बार उसके पासों को पीछे ठेल ले जाते। इसी अवसर पर सिर में तीर खा कर सांगा मूर्छित हो गया, और उसी बेहोशी में उसे पालकी पर पीछे ले जाया गया। उसका स्थान झाला अज्जा ने ले लिया और लड़ाई वैसे ही जारी रही। जब सारी राजपूत सेना पूरी तरह लड़ाई में जुट गई तब बाबर की रक्षित सेना ने तेज़ी से घूम कर चन्दावल (पिछले हिस्से) को घेर कर पीछे से हमला किया। यह मंगोलों की खास चाल थी, जिसे वे तुलुगमा कहते थे। बाबर ने ज़रफशाँ के पुल वाली लड़ाई में शैबानी की इसी चाल से हार कर समरकन्द का मुकुट खोया था। अब इसी की बदौलत उसका हिन्दुस्तान का मुकुट बचा।

सांगा की तरफ इस युद्ध में मालवा-सहित राजस्थान के प्रत्येक भाग के अतिरिक्त अन्तर्वेद तक के राजपूत लड़ने आये थे। उन सभी प्रदेशों में इस हार का धक्का पहुँचा। झाला अज्जा, हसनखाँ मेवाती, मीराबाई का पिता रत्नसिंह राठोड आदि इस युद्ध में खेत रहे। सांगा को जब बसवा गाँव में (बाँदी-कुई के पास) होश आया तब वह इसपर बहुत खीझा कि उसे लड़ाई के मैदान से इतनी दूर क्यों लाया गया। उसने प्रण किया कि बाबर को जीते बिना चित्तौड़ न लौटूँगा, और रणथम्भोर में डेरा डाल कर फिर युद्ध की तैयारी शुरू की।

जनवरी १५२८ में बाबर राजस्थान की चढ़ाई के लिए निकला और सबसे पहले मेदिनीराय के चन्देरी गढ़ की तरफ चला। सांगा भी उसी

तरफ बढ़ा, पर कालपी के पास उसके साथियों ने, जो युद्ध से थक गये थे, उसे विष दे दिया! चन्देरी के राजपूत वीरता से लड़ कर काम आये।

§८. **बाबर की पूरब चढ़ाई**—चन्देरी के आगे बाबर का इरादा मालवे के दूसरे प्रमुख सरदार सलहदी के गढ़ों—रायसेन भिलसा और सारंगपुर—को ले कर मेवाड़ पर चढ़ाई करने का था। किन्तु तभी उसे खबर मिली कि अवध और पूरब के अफगानों ने विद्रोह कर कन्नौज से मुगल सेना को निकाल दिया है। दूसरे, जब बाबर का ध्यान राजस्थान की ओर लगा था, तभी नसरत-शाह बंगाली ने आज़मगढ़ और बहराइच तक अधिकार कर लिया था। बाबर चन्देरी से कालपी के रास्ते सीधा कन्नौज की ओर बढ़ा। अफगान विद्रोही उसके आने पर भाग गये। उसी गरमी और चौमासे के शुरू में उसने जौनपुर और बक्सर तक के प्रदेशों को पूरी तरह काबू कर लिया।

राणा सांगा की मृत्यु के बाद महमूद लोदी पूरब की ओर चला आया। बाबर के पीठ फेरते ही वहाँ फिर विद्रोह की आग भड़की। लोदी ने लोहानियों से बिहार छीन कर उसी को अपनी राजधानी बनाया, तथा मुगलों से गाज़ीपुर बनारस छीन कर चुनार और गोरखपुर को घेर लिया। १५२६ ई० के शुरू में बाबर को फिर पूरब लौटना पड़ा। उसके आते ही विद्रोही सेना तितरबितर हो गई और मुहम्मदखाँ लोहानी के बेटे जलाल ने उसे एक करोड़ कर दे कर बिहार की गद्दी पर बैठने की स्वीकृति पाई।

मुगलों की इस तीसरी पूरबी चढ़ाई के मौके पर बंगाली सेना गंडक के चौबीस घाटों को रोके खड़ी थी, और घाघरा-गंडक दोआब के लिए भी लड़ने को तैयार थी। बाबर जौनपुर से घाघरा की ओर बढ़ा। शत्रु चुस्त निशानेबाज़ थे, इसलिए उसने सावधानी से तैयारी की। घाघरा पार कर पानीपत और खानवा की तरह उसने बंगालियों को भी पीछे से घेर कर पूरी तरह हरा दिया। एक मास बाद बाबर और नसरतशाह ने सन्धि कर ली।

पानीपत खानवा और घाघरा के विजयों से बाबर उत्तर भारत का सम्राट् बन गया, और उसका साम्राज्य बदख्शाँ से बिहार तक फैल गया। १५३० ई० में उसका आगरे में देहान्त हुआ और शरीर काबुल ले जा कर दफनाया गया।

§९. **बहादुरशाह गुजराती और शेरखाँ का उदय**—गुजरात के मुज़फ्फरशाह २य का बेटा बहादुर अपने भाइयों के डर से भाग कर राणा सांगा की शरण में रहता था। सांगा की माँ उसे बहुत प्यार करती और 'बहादुर बेटा' कह कर पुकारती थी। १५२६ ई० में उसने गुजरात की गद्दी पाई थी।



काबुल में बाबर का मकबरा [फादर हेरस के सौजन्य से]

मेवाड़ में सांगा के पीछे उसका छोटा बेटा रत्नसिंह राणा हुआ। रत्नसिंह का बड़ा भाई भोजराज—मीराबाई का पति—सांगा से पहले मर चुका था। खानवे की हार से मेवाड़ के गौरव को भारी धक्का लगा, तो भी उसकी सीमा आगरे के पास से केवल बसवा गाँव (बाँदीकुई के पास) तक हटी थी। मालवे के महमूद खिलजी ने अब अपने छिने हुए इलाकों को वापिस लेने का यत्न किया। रत्नसिंह ने मालवे पर चढ़ाई कर उसे उज्जैन से भाग दिया।

बहादुरशाह की रत्नसिंह से भी अच्छी मैत्री रही। रत्नसिंह जब उज्जैन से लौट रहा था, तभी बहादुरशाह ने भी महमूद पर चढ़ाई की। रत्नसिंह ने सलहदी आदि सरदारों के साथ अपनी बहुत सी सेना उसके साथ कर दी, जिससे बहादुरशाह ने महमूद को कैद कर दक्खिनी मालवा (उज्जैन और मांडू) भी उससे छीन लिया (१५३० ई०)।

बाबर के मरने से पहले यों पच्छिम में बहादुरशाह का सितारा चमक उठा। पूरब में तभी उससे कहीं योग्य एक व्यक्ति प्रकट हुआ। जलालखाँ लोहानी को बिहार की सल्तनत वापिस मिली तो उसने अपने बाप के भूतपूर्व मन्त्री और अपने शिक्षक शेरखाँ सूर को फिर अपना मन्त्री बनाया था। बाबर की अन्तिम बीमारी के वक्त शेरखाँ ने चुनार का गढ हथिया लिया।

अभ्यास से लिए प्रश्न

१. कृष्णदेव राय कौन था ? उसका इतिहास संक्षेप से बताइए।

२. सांगा ने अपना राज्य-विस्तार किस क्रम से किया ? उसकी राज्य-सीमाएँ कहाँ कहाँ तक थीं ?

३. बाबर के बाल्यकाल में मध्य एशिया की राजनीतिक स्थिति का वर्णन कीजिए।

४. दिल्ली की गद्दी पर बैठने से पहले बाबर कौन कौन सी गद्दी पर कैसे कैसे बैठा था ?

५. बाबर के काबुल की गद्दी पर बैठने पर अफगानिस्तान सिन्ध और पंजाब की राजनीतिक स्थिति क्या थी ? बाबर काबुल से दिल्ली तक किस क्रम से बढ़ा ?

६. बाबर की युद्ध-शैली में कौन सी विशेषताएँ थीं जो पानीपत खानवा और घाघरा की लड़ाइयों में उसे जिताने में सहायक हुईं ?

७. राणा सांगा का अन्त कैसे हुआ ?

८. बिहार बंगाल उड़ीसा के प्रदेशों का बाबर के काल का राजनीतिक नकशा स्पष्ट कीजिए।

९. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए—(१) ताजिक (२) उज़्बक (३) अरगून (४) मुहम्मदखाँ शैबानी (५) संग्रामशाह (६) तुलुगमा।

अध्याय २

साम्राज्य के लिए दूसरा संघर्ष और सूर साम्राज्य
(१५३०—१५५४ ई०)

§ १. **हुमायूँ**—हुमायूँ को हिन्दुस्तान की गद्दी मिली तो उसे अपने भाई कामरान को बदख्शाँ काबुल कन्दहार और पंजाब सौंपना पड़ा। यों उसके राज्य में केवल ठेठ हिन्दुस्तान रहा। उसका पिता उसके लिए दो काम अधूरे छोड़ गया था—एक पच्छिम में राजस्थान जीतना, दूसरे पूरब में अफगानों का विद्रोह दबाना।

§ २. **बहादुरशाह गुजराती की बढ़ती**—१५३१ ई० में राणा रत्नसिंह को उसकी विमाता के भाई ने मार डाला और उसका सौतेला भाई विक्रमाजीत १४ बरस की उम्र में मेवाड़ का राणा बना। विक्रमाजीत के छिछोरे स्वभाव से उकता कर मेवाड़ और मालवे के अधिकांश सरदारों ने उसका साथ छोड़ दिया। उनमें से बहुतों ने अपनी सेवाएँ बहादुरशाह को सौंप दीं, जिससे रायसेन भिलसा रणथम्भोर आदि पूरबी राजस्थान के प्रदेश बहादुर के हाथ चले गये। पच्छिमी राजस्थान में जोधपुर का मालदेव जो कि चित्तौड़ का सामन्त था, स्वतन्त्र हो गया। उसने मेवाड़ के पच्छिमोत्तर के इलाके—अजमेर नागोर आदि—ले लिये। अन्त में बहादुरशाह ने चित्तौड़ पर भी चढ़ाई की।

गुजरात का पुर्तगालियों से सीधा सम्पर्क होने के कारण बहादुरशाह को तोपें और तोपची पाने की मुगलों से भी अधिक सुविधा थी। उसके पड़ोसी राज्य अब सब पस्त पड़े थे। उत्तरी मालवे के जिन प्रदेशों को खानवे की जीत के बाद से मुगल अपने मुँह का कौर माने हुए थे, उन्हें हुमायूँ के देखते देखते बहादुरशाह ने ले लिया। यों दोनों में युद्ध ठन गया।

§ ३. **हुमायूँ की गुजरात चढ़ाई**—बहादुरशाह चित्तौड़ घेरे हुए था जब हुमायूँ कालपी चन्देरी रायसेन होता हुआ उज्जैन पहुँचा (फरवरी १५३५)। चित्तौड़ ले कर बहादुरशाह उसकी तरफ बढ़ा। मन्दसोर पर

दोनों का सामना हुआ। दो महीने अपनी मोर्चाबन्दी में घिरे रहने के बाद एक रात गुजराती सुल्तान अपनी सेना को किस्मत के हवाले छोड़ कुछ साथियों के साथ भाग निकला। इस तरह गुजरात और मालवा हुमायूँ के हाथ आये, किन्तु अपने भाई अस्करी के विद्रोह के कारण उसे जल्द उत्तर को लौटना पड़ा। उसका पीठ फेरना था कि बहादुरशाह और उसके साथियों ने गुजरात मालवा और खानदेश वापिस ले लिये (१५३६ ई०)।

§४. **पुर्तगालियों का तट-राज्य**—बहादुरशाह ने पुर्तगालियों की सहायता के बदले उन्हें मुम्बई साष्टी† और बसई के द्वीप दिये। किन्तु उन्हें किलाबन्दी करते देख कर उसने उन्हें निकालना चाहा और अहमदनगर और बीजापुर के शाहों को भी वैसा करने को लिखा। वे चिट्ठियाँ पुर्तगालियों के हाथ पड़ गईं। उनका मुखिया नूनो-दा-कुन्हा एक बार दीव आ कर बीमार पड़ा था तो बहादुरशाह उसे देखने उसके जहाज पर गया। बहादुरशाह जब लौट रहा था तब पुर्तगालियों ने उसकी नाव पर हमला कर उसे मार डाला (१५३७ ई०)। महमूद बेगड़ा पुर्तगालियों की समुद्र पर प्रभुता न रोक पाया था, अब उसका पोता उन्हें तट-प्रदेश से भी निकालने में विफल हुआ। करंजा से बुलसाड तक कोंकण के उपजाऊ तट को अधीन कर पुर्तगालियों ने उसे अपना 'उत्तरी प्रान्त'* बनाया और उसकी राजधानी बसई में रक्खी। इसी काल में स्पेन वालों ने मेक्सिको और दक्खिन अमरीका में अपना साम्राज्य स्थापित किया था (१५१६–३६ ई०)।

§५. **शेरखाँ का बिहार बंगाल का बेताज बादशाह बनना**—बंगाल का नसरतशाह १५३१ ई० में चल बसा। उसकी मृत्यु पर उसका भाई महमूद उसके बेटे को मार कर बंगाल की गद्दी पर बैठा। नसरतशाह का दामाद मखदूम-ए-आलम उसकी तरफ से हाजीपुर (तिरहुत) में सर-ए-लश्कर (सेनापति)

---

† साष्टी और बसई को बिगाड़ कर अँगरेजी में सालसेट और बसीन बन गया है। पुर्तगाली लोग अन्तिम स्वर को सानुनासिक कर बसईं बोलते थे, जिससे अंग्रेजी में बसीन बन गया।

* दक्खिनी प्रान्त गोवा का था।

था, उसने महमूद को बादशाह न माना। मखदूम ने शेरखाँ को अपना मित्र बना लिया था। महमूदशाह ने उन दोनों से युद्ध छेड़ा। मखदूम मारा गया। तिरहुत तब शेरखाँ के हाथ आ गया, और बिहार में सम्मिलित हो जाने से अब से बिहार का अंश माना जाने लगा।

शेरखाँ ने बिहार के जागीरदारों की ज़मीनें नाप कर उन्हें राज्य-कर का ठीक भाग देने को मजबूर किया, उनके कोटले ढहा दिये और उनके लिए प्रजा पर ज़ुल्म करना असम्भव कर दिया था। इससे प्रजा तो शेरखाँ के शासन को राम-राज्य मानने लगी, पर सरदार उसके जानी दुश्मन बन गये थे। उन्होंने उसके विरुद्ध सुल्तान जलाल लोहानी के कान भरे। जलाल अपने मन्त्री के नियन्त्रण से बचने के लिए महमूदशाह बंगाली की शरण में भाग गया। यों बिहार में शेरखाँ की वही स्थिति हो गई जो मेदिनीराय की मालवे में हुई थी। बंगाली फौज के साथ जलाल लोहानी ने शेरखाँ पर चढ़ाई की। बंगाल बिहार के बीच के तंग पहाड़ी रास्ते के पच्छिमी मुँह पर किऊल नदी के किनारे सूरजगढ़ पर थोड़ी सी सवार सेना से शेरखाँ ने बंगाली फौज को हरा दिया (१५३४ ई०)। उस जीत से वह बिहार का बेताज बादशाह हो गया। बादशाह बनने के प्रलोभन से बच कर वह हुमायूँ का खुतबा* पढ़ता रहा। किसानों की खुशहाली के लिए सावधान रहने और सेना को नियम से वेतन देने के विषय में उसकी दूर दूर तक प्रसिद्धि हो गई। उसकी सेना शुरू में अफगान सवारों की थी। अब उसने बिहार में किसानों की पैदल सेना तैयार करके उसे बन्दूकों से सुसज्जित किया। शेरखाँ के ये बक्सरिये बन्दूकची १८वीं सदी के अन्त तक प्रसिद्ध रहे, और फिर उन्हीं की भरती से अंग्रेज़ों की वह सेना बनी जिसने उन्हें समूचा भारत जीत दिया। दक्खिनी बिहार के बक्सर नगर के नाम से वे बक्सरिये कहलाते थे।

हुमायूँ की गुजरात चढ़ाई के वक्त शेरखाँ ने अपना राज्य बढ़ाने का

---

* शुक्रवार की नमाज के बाद का उपदेश जिसमें प्रजा और राजा की मंगल-कामना की जाती है।

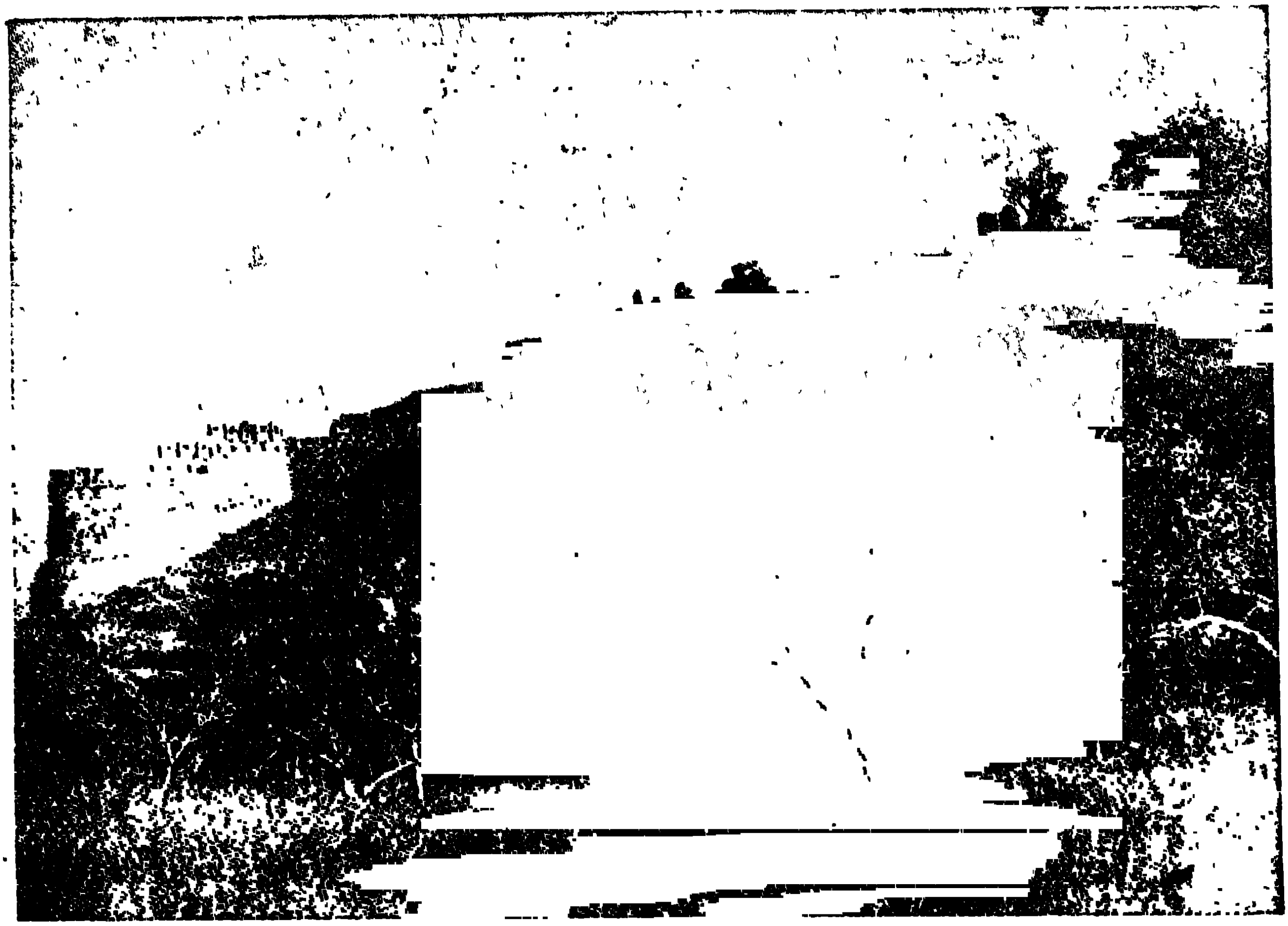
अच्छा अवसर देखा। मुंगेर और भागलपुर ज़िलों पर धीरे धीरे कब्ज़ा कर उसने गौड पर चढ़ाई की। महमूदशाह ने १३ लाख अशर्फियाँ दे कर उसे विदा किया। इस रकम से वह नई सेना तैयार हुई जिससे दो बरस पीछे शेर ने महमूद को बंगाल से निकाल भगाया।

हुमायूँ के गुजरात से लौट आने पर शेर चुप बैठ गया। पर इसी बीच महमूदशाह ने गोवा के पुर्तगाली गवर्नर से सहायता माँगी। पुर्तगाली लोग पहलेपहल १५३३ ई० में चटगाँव में उतरे थे। शेरखाँ को अब यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि पुर्तगाली सहायता आने से पहले अपने शत्रु से निपट ले। उसने गौड का गढ़ घेर कर अपनी सेना की टुकड़ियों से बंगाल का प्रत्येक ज़िला दखल कर लिया।

§६. **हुमायूँ की बंगाल चढ़ाई**—इस दशा में हुमायूँ शेरखाँ के विरुद्ध चला। शेरखाँ गौड पर विश्वस्त सेनापतियों को छोड़ झट चुनार आया और उस गढ़ में खूब रसद-बारूद जमा करके मुगलों को जब तक बने वहीं रोकने का उपाय किया। हुमायूँ उस फन्दे में फँस चुनार को सर करने में लग गया। उधर उसी बीच शेरखाँ अपने लिए नया आधार और नया रास्ता बनाने लगा। सोन के किनारे सहसराम से ऊपर रोहतास का विकट पहाड़ी गढ़ था। शेरखाँ ने रोहतास के राजा से शरण माँगी, और शरण पाने पर उस गढ़ को हथिया लिया। तब उसने झाड़खंड के राजा से लड़ कर बिहार के दक्खिन का पहाड़ी प्रदेश जीत लिया। अप्रैल १५३८ में शेरखाँ के सेनापतियों ने गौड ले लिया और मई में चुनार हुमायूँ के हाथ आया। उधर हुमायूँ गौड को रवाना हुआ, इधर शेरखाँ गौड की अतुल सम्पत्ति ले झाड़खंड के रास्ते रोहतास को चल दिया। गौड के महलों को वह हुमायूँ के आराम के लिए सजा कर छोड़ता आया। बिहार बंगाल दोनों अब हुमायूँ के हाथ में थे, शेर झाड़खंड में जा छिपा था।

§७. **शेरखाँ का बंगाल-जौनपुर का सुल्तान बनना**—उसी साल जाड़े में शेरखाँ ने झाड़खंड से निकल कर समूचे बिहार और जौनपुर पर कब्ज़ा कर लिया। प्रजा और किसानों को लूटने के बजाय उसने मालगुज़ारी की

दो किस्तें ठीक समय पर उगाह लीं। दिल्ली-आगरे का बंगाल से सम्बन्ध टूट गया। हुमायूँ गौड से रवाना हुआ तो शेरखाँ ने अपनी सेनाएँ रोहतास में समेट लीं और कर्मनाशा नदी पर चौंसा गाँव के पास हुमायूँ का रास्ता छेंका। शेरखाँ का चरित्र उस काल की एक घटना से प्रकट होता है। एक दिन



रोहतासगढ़—कथूटिया दरवाजा और बुर्ज [भा० पु० वि०]

मुगल दूत उसकी छावनी में गया तो वह अपने साधारण सिपाहियों के साथ फावड़ा लिये खन्दक खोदने में लगा था! उसी दशा में ज़मीन पर बैठ कर उसने दूत से बातचीत की। सन्धि की बातचीत विफल हुई। तब शेरखाँ ने एक रात चुपके से कर्मनाशा पार कर बड़े सवेरे जब मुगल सेना सो रही थी उसपर हमला कर दिया। हजारों मुगल अफगानों के हाथ मारे गये और गंगा की धार में डूब गये। हुमायूँ किसी भिश्ती की मदद से मुश्किल से बच कर भागा। बंगाल बिहार जौनपुर अवध पर शेरखाँ का पूरा अधिकार हो गया। वह

शेरशाह नाम से गौड की गद्दी पर बैठा (१५३६ ई०)। हुमायूँ के पास सिर्फ दोत्राब सम्भल (=आजकल का रुहेलखण्ड) तथा जमना का दाहिना काँठा बच गया।

§८. **शेरशाह का उत्तर भारत का सम्राट् होना**—सन् १५३३ ई० में बाबर के मौसेरे भाई मिर्ज़ा हैदर ने काशगर के सुलतान के साथ उत्तर की तरफ से कश्मीर पर चढ़ाई की थी। उन दोनों को हार कर भागना पड़ा था। मिर्ज़ा हैदर अब हुमायूँ के पास आ गया। हुमायूँ ने अपने भाई कामरान से बड़ी मिन्नत की कि वह भी उसे शेरशाह के खिलाफ मदद दे। लेकिन कामरान ने उसकी एक न सुनी। उन्हें आपस में झगड़ते देख शेरशाह ने तमाम मुगलों को भारतवर्ष से निकालने की ठानी। हुमायूँ उसके मुकाबले को भारी फौज ले कर आया। कन्नौज पर दोनों सेनाएँ आमने-सामने हुईं। हुमायूँ ने गंगा पार कर पानीपत और खानवा की तरह अपनी सेना का व्यूह बनाया। जंजीरों से बँधी तोपगाड़ियों की विकट पाँत मिर्ज़ा हैदर के नेतृत्व में सामने बीचों-बीच थी। शेरशाह ने तोपों के जमने से पहले ही मुगल सेना के दोनों पासों पर ज़ोर का हमला किया। जैसे ही वे पासे टूटे कि उसके रिसाले ने उन्हें घेर कर मुगल चन्दावल के साथ उनके केन्द्र की तरफ धकेला। यह भागती भीड़ तोपखाने की जंजीरों पर जा पड़ी और उनकी पंक्ति को तोड़ती फोड़ती आगे निकल गई। मुगलों की डरावनी तोपों को एक भी गोला फेंकने का अवसर न मिला। अफगानों के हमले के पहले वे जमने भी न पाई थीं, और अब उनके सामने अपनी ही सेना के भगोड़े थे! हुमायूँ जान बचा कर आगरे की तरफ भागा (१७-५-१५४० ई०)।

शेरशाह ने पंजाब तक मुगलों का पीछा किया। ग्वालियर के मुगल सेनापति ने वह गढ़ न छोड़ा, इसलिए उसपर घेरा डाल दिया गया। पंजाब से कामरान ने काबुल की राह ली और हुमायूँ सिन्ध की तरफ भाग गया। मिर्ज़ा हैदर कश्मीर में घुसा, और इस बार वहाँ के एक दल के साथ मिल कर राज्य हथियाने में सफल हुआ। कश्मीर और काबुल दोनों से पंजाब उतरने वाले रास्ते नमक-पहाड़ियों में मिलते हैं। इसलिए शेरशाह ने गक्खड़ों खोकरों के इस

देश को पूरी तरह काबू करने के विचार से उसके ठीक केन्द्र में रोहतास नाम का गढ़ बनवाना शुरू किया। वह काम उसने टोडरमल को सौंपा, जो लाहौर में उसकी सेवा में आया था।

§९. राजस्थान में मालदेव का उठना—बिहार के दक्खिन के पहाड़ी झाड़खंड प्रदेश को शेरशाह ने जीत लिया था। उससे पहले कोई सुल्तान उसे न जीत पाया था। किन्तु झाड़खंड के पच्छिम बघेलखंड बुन्देलखंड और राजस्थान की तरफ शेरशाह के विस्तृत साम्राज्य का दक्खिनी छोर बिलकुल अरक्षित था।

बहादुरशाह की मृत्यु के बाद से गुजरात मालवा में कई छोटे छोटे सुल्तान और राजा उठ खड़े हुए थे। मेवाड़ की दशा और भी खराब थी। वहाँ कई घरेलू लड़ाइयों के बाद राणा सांगा के छोटे बेटे उदयसिंह को गद्दी मिली थी। बाकी समूचे राजस्थान पर मालदेव ने आधिपत्य जमा लिया और वह अब पच्छिम भारत की प्रमुख शक्ति के रूप में खड़ा हो रहा था। राज पाने के पाँच बरस के अन्दर उसने दक्खिन तरफ आबू तक, उत्तर तरफ आधुनिक बहावलपुर बीकानेर और झज्झर तक तथा पूरब तरफ अजमेर को लेते हुए बनास नदी और ढूँढाड (आम्बेर राज्य = आधुनिक जयपुर) के अन्दर तक अपना राज्य फैला लिया था। हुमायूँ जब बिहार-बंगाल में उलझा था, तब मालदेव ने टोंक से चम्बल के काँठे की तरफ बढ़ना शुरू किया था। शेरशाह द्वारा हुमायूँ को भगा दिये जाने पर अब उसने हुमायूँ के पास सिन्ध में निमन्त्रण भेजा कि मुझसे मिल कर मालवे की तरफ से हिन्दुस्तान पर चढ़ाई करो! ग्वालियर के गढ़ में तब तक कुछ मुगल फौज थी ही। हुमायूँ मालवा आ जाता तो वह फौज भी उससे मिल सकती थी। पर हुमायूँ के दिमाग में सिन्ध और गुजरात को जीत कर गुजरात से फिर हिन्दुस्तान जीतने की धुन समाई थी। फलतः साल भर वह सिन्ध के गढ़ों पर टक्करें मारता रहा।

§१० शेरशाह का राजस्थान और उत्तरी सिन्ध जीतना—इसी बीच ग्वालियर की मुगल सेना ने आत्मसमर्पण किया, और शेरशाह ने मालवे पर पूरा अधिकार कर लिया। उधर सिन्ध में विफल होने पर हुमायूँ को

मालदेव के निमन्त्रण की याद आई और उत्तरी सिन्ध से वह फलोदी आ पहुँचा। खबर पाते ही शेरशाह सेना ले कर मालदेव के राज्य में डीडवाणे तक घुस आया और सन्देश भेजा कि या तो हमारे शत्रु को स्वयं निकालो, नहीं तो हमें निकालने दो। मालदेव को अब हुमायूँ को खदेड़ना पड़ा और उसके उमरकोट को रवाना हो जाने पर शेरशाह वापिस हुआ।

किन्तु मालदेव की शक्ति अभी टूटी न थी। पूरबी मालवे में रायसेन का सरदार अब सलहदी का बेटा पूरणमल चोहान था। मालदेव और पूरणमल कभी सांगा और मेदिनीराय की तरह आपस में मिल सकते थे। शेरशाह ने रायसेन पर चढ़ाई की और सात महीने के कड़े घेरे के बाद उसे ले लिया। उधर उसके सेनापतियों ने मुलतान और सक्खर भी जीत लिये। मालवा मुलतान और सक्खर जीते जाने से मालदेव तीन तरफ से घिर गया। अब से शेरशाह का ध्येय यह रहा कि उसे जीत कर सिन्ध को मालवे से और फिर बुन्देलखंड जीत कर मालवे को रोहतास-झाड़खंड से मिला दिया जाय।

इसी उद्देश से उसने पहले मालदेव पर चढ़ाई की (१५४४ ई०)। दिल्ली से सीधे जोधपुर जाने के लिए उसने मरुभूमि की राह पकड़ी। मेड़ताँ के नाके पर उसे रुकना पड़ा। मालदेव ने राणा सांगा की तरह शत्रु के तोपखाने पर अपने सवारों को झोंक नहीं दिया। वह इतना सावधान था कि शेरशाह कोई भी चाल न चल सका। लड़ाई में जीतने का कोई रास्ता शेरशाह को न दिखाई दिया तो उसने मालदेव के सरदारों के नाम जाली चिट्ठियाँ लिख कर उसके वकील के खेमे में डलवा दीं जिनसे उसे भ्रम हो कि उसके सरदार शत्रु से मिल रहे हैं। इस तुच्छ चाल से मालदेव बहक गया और अपनी परछाहीं से डर कर भाग निकला! उसके सरदारों ने बहुत मनाया, पर बेकार। तब १२ हज़ार राजपूत केसरिया बाना पहन लड़ाई में उतरे और अपने खून से उस कलंक को धो डाला। उनकी वीरता देख शेरशाह के मुँह से अनायास निकला—मैं मुट्ठी भर बाजरे के लिए हिन्दुस्तान की बादशाहत खोने लगा था! अजमेर आबू जोधपुर जहाजपुर (मध्य बनास काँठे में, मेवाड़ का उत्तरी छोर) बिना युद्ध के शेरशाह के हाथ आये, और चित्तौड़ ने अधीनता मानी।

राजस्थान में शेरशाह ने अपना बन्दोबस्त करने या स्थानीय सरदारों को उखाड़ने का जतन न किया; केवल अजमेर आदि नाकों को अपने हाथ में रख कर राजपूत राज्यों को एक दूसरे से अलग कर दिया।

राजस्थान से छुट्टी पा कर शेरशाह ने बुन्देलखंड बघेलखंड जीतने के लिए कालंजर पर चढ़ाई कर उस गढ़ को घेर लिया और अपने एक सेनापति को वहाँ से पूरब रीवाँ के इलाके काबू करने भेजा। ये प्रदेश ले लेने से मालवा और झाड़खंड के बीच का सारा पहाड़ी प्रान्त लिया जाता। कालंजर के ७ महीने के घेरे के बाद एक दिन बारूद में आग लगने से शेरशाह की देह जल गई। उसी साँझ को गढ़ लिया जाने के बाद उसने प्राण त्याग दिये (१५४५ ई०)।

§ ११. शेरशाह के समकालीन भारतीय राज्य—शेरशाह की मृत्यु पर उसका साम्राज्य कन्दहार काबुल और कश्मीर की सीमाओं से कोचबिहार की सीमा तक पहुँच गया था। पूरबी मालवे के जीते जाने पर सूर साम्राज्य की सीमा गढ़कटंका राज्य से जा लगी थी। यदि पूरा उत्तरी बुन्देलखंड भी जीता जाता तो उस तरफ भी दोनों की सीमाएँ मिल जातीं। वहाँ संग्रामशाह के बाद उसका बेटा दलपतिशाह गद्दी पर बैठ चुका था (लग० १५४१ ई०)। तभी उड़ीसा के राजा प्रतापरुद्रदेव की मृत्यु हुई और वहाँ सूर्य वंश का अन्त हो कर एक नया वंश शुरू हुआ। विजयनगर में कृष्णदेवराय के बाद उसके भाई अच्युतदेव ने राज्य किया (१५३०–४२ ई०)। उसके प्रशासन में भी विजयनगर की शक्ति और समृद्धि ज्यों की त्यों बनी रही। दक्खिनी रियासतें यथापूर्व थीं, सिवाव इसके कि बिदर १५२६ ई० में बीजापुर में मिल गया था। गुजरात में अराजकता छाई थी। यदि शेरशाह की एकाएक मृत्यु न हो जाती तो बुन्देलखंड के बाद वह स्वभावतः गुजरात पर ध्यान देता।

§ १२. शेरशाह की शासन-व्यवस्था—अनेक शताब्दियों बाद शेरशाह के प्रशासन में उत्तर भारत ने वह शान्ति देखी जो उसे राजा मिहिर भोज के बाद से न मिली थी। शेरशाह की विजयिनी सेनाएँ जिस देश से लाँघ जातीं, वहाँ छह महीने के अन्दर भूमि का माप-बन्दोबस्त हो जाता, सड़कें निकल

जातीं, टकसालें खुल जातीं, और अमन-चैन स्थापित हो जाता। मध्य युग के हिन्दू शासन-ढाँचे की इकाइयाँ 'प्रतिजागरणक' या 'परिगणक' (परगने) थे। पहले तुर्क विजेताओं ने जैसे हिन्दू मन्दिरों के शिखर तोड़ कर कुछ ऊपरी फेरफार कर अपनी मस्जिदें और इमारतें खड़ी की थीं, वैसे ही उन्होंने हिन्दू शासन के जीर्ण ढाँचे के ऊपर जागीरदारों के रूप में अपना आधिपत्य बैठा दिया था। वह ढाँचा उनके बोझ से दब कर बैठ रहा था। शेरशाह ने उसमें फिर जान फूँकी। उसने जागीरदारों को हटा कर परगनों को फिर से जगाया। अपने सारे साम्राज्य को परगनों में बाँट कर प्रत्येक परगने में एक शिकदार और एक आमिन नियुक्त किया। शिकदार का काम अपने प्रदेश की रक्षा और आमिन का काम कर उगाहना था। प्रत्येक परगने में अनेक गाँवों की पंचायतें थीं, जिनके अन्दर की स्वतन्त्रता में शेरशाह ने दखल नहीं दिया। उनपर भीतरी शासन की पूरी ज़िम्मेदारी थी। अनेक परगनों को मिला कर एक सरकार बनती थी जो आजकल के ज़िले की तरह होती थी। प्रत्येक सरकार में एक हज़ार से पाँच हज़ार तक सेना के साथ एक शिकदार-ए-शिकदारान और एक मुंसिफ़-ए-मुंसिफ़ान रहता था। वह मुख्य मुंसिफ़ दीवानी मामलों को देखता; मालगुज़ारी के मामले में परगने के आमिन का सीधा सम्बन्ध बादशाह से रहता। फौजदारी मामलों का निपटारा शिकदार-ए-शिकदारान करता। परगनों और सरकारों के हाकिमों की दूसरे बरस बदली हो जाती थी। बंगाल के सब सरकारों के ऊपर केवल निरीक्षक रूप से एक आमिन रक्खा गया था; किन्तु पंजाब मालवा आदि सीमा पर के



आगरा टकसाल का शेरशाह का रुपया। चित, कलमा और टकसाल का नाम; पट, फारसी में बादशाह का नाम, नीचे नागरी में स्री सीरसाह [श्रीनाथ सं०]

प्रान्तों में फौजी हाकिम रक्खे गये थे।

शेरशाह का सब से बड़ा सुधार मालगुज़ारी विषयक था। पहले सुल्तान अपने सेनानायकों को जागीरें बाँट देते और उन जागीरों से कर वसूल कर अपने सैनिकों को पालने का ज़िम्मा उनपर छोड़ देते थे। कर प्रायः अनुमान से लिया जाता था। शेरशाह ने सैनिकों को सीधा नकद वेतन देना शुरू किया। उसके अमले सब जगह ज़मीनों को नाप कर उनकी मालगुजारी निश्चित करते। यह नाप और बन्दोबस्त हर साल होता था। पैदावार का चौथाई भाग कर के रूप में लिया जाता था। किसानों को अधिकार था कि कर जिन्स या रुपया किसी भी रूप में दें। किसानों के साथ सीधा बन्दोबस्त करने की यह पद्धति समूचे मुगल युग में 'टोडरमल के बन्दोबस्त' के नाम से जारी रही।

कर की वसूली नियमित करने के लिए देश की मुद्रा-प्रणाली को सुधारना आवश्यक था। शेरशाह ने पेचीदा गणना के और मिश्रित धातुओं के अनेक सिक्कों को बन्द कर तथा सोने चाँदी और ताँबे के ठीक अनुपातों का निश्चय कर नई सरल मुद्रा-प्रणाली शुरू की, और उसके प्रचार के लिए जगह जगह टकसालें स्थापित कीं। इस तरह सिन्ध से बंगाल तक एक सा सिक्का चलने लगा। हमारा आजकल का रुपया शेरशाह के रुपये का वंशज है। उसके सिक्कों पर नागरी और फारसी में उसका नाम खुदा रहता था। उसके कई सिक्के ॐ और स्वस्तिक के चिह्न वाले भी पाये गये हैं।*



शेरशाह का स्वस्तिका छाप वाला रुपया

[दिल्ली संग्र०, भा० पु० वि०]

* नेल्सन राइट ने अपने ग्रन्थ दि कौइनेज ऐंड मेट्रोलोजी औफ़ दि सुल्तान्स

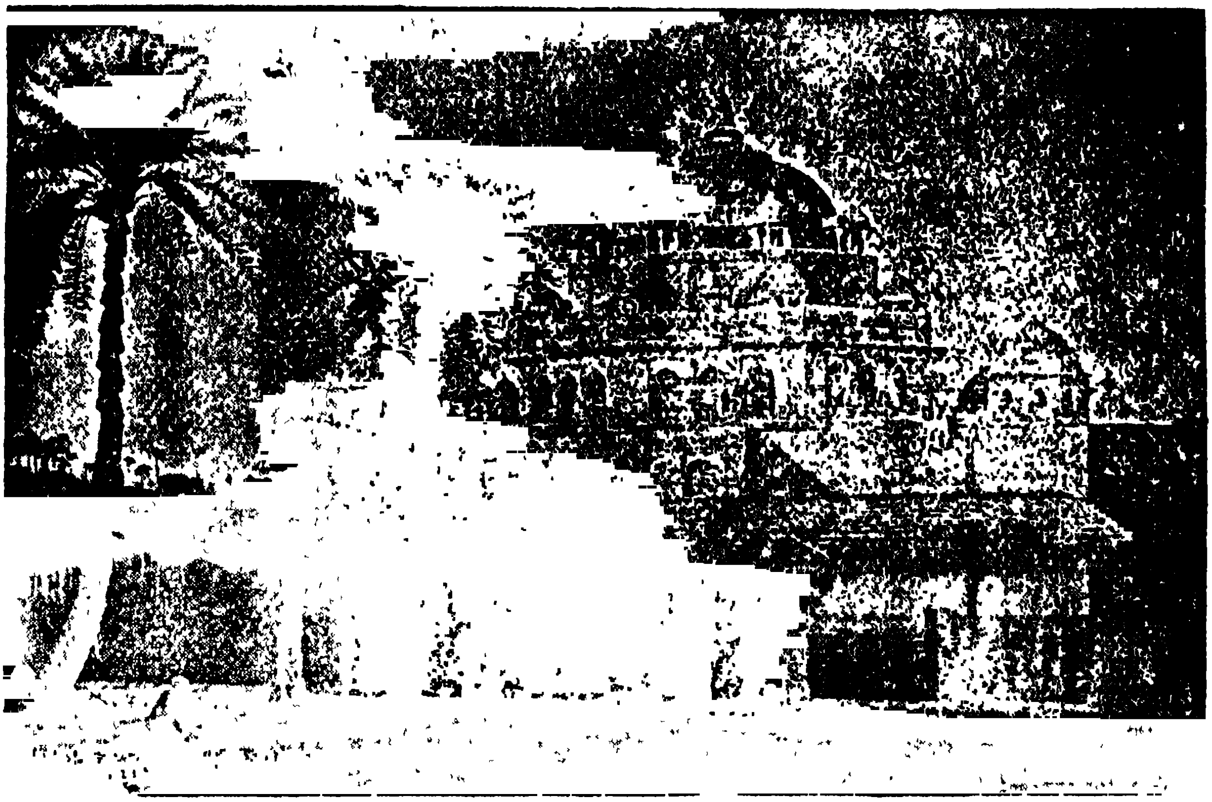
सिक्कों के इस सुधार से व्यापार की बड़ी सुविधा हो गई। इसके अलावा देश के रास्तों और घाटों पर जगह जगह जो अनेक किस्म की चुंगियाँ देनी पड़ती थीं, उन सब को उठा कर शेरशाह ने केवल सीमान्त तथा बिक्री के स्थान पर चुंगी रक्खी। व्यापार की उन्नति को वैसा ही प्रोत्साहन शेरशाह की सड़कों और सरायों से मिला। उसकी बनवाई सड़कों में सबसे मुख्य वह "सड़के आज़म" थी जो सोनारगाँव से रोहतास हो कर अटक तक चली गई थी। दूसरी आगरे से मांडू हो कर बुरहानपुर तक पहुँचती—अर्थात् ठेठ हिन्दुस्तान को दक्खिन से मिलाती थी। तीसरी आगरे को जोधपुर और चित्तौड़ से मिलाती तथा चौथी लाहौर से मुलतान को। सब सड़कों पर सरायें बनाई गई थीं। प्रत्येक सराय में राहियों के लिए भोजन और पानी का इन्तज़ाम रक्खा जाता था। वे सरायें डाक चौकियों का भी काम देती थीं। सड़कों और डाक के इस प्रबन्ध से साम्राज्य के कोने-कोने की खबरें लगातार शेरशाह को मिलती रहती थीं, और सेनाओं के आने जाने में बड़ी सुविधा होती थी।

शेरशाह का न्याय अटल था। एक साधारण स्त्री की फरियाद पर अपने बेटे को उसने कड़ा दंड दिया था। न्यायाधिकारियों की रहनुमाई के लिए उसने कई कानून भी बनाये। उसके बेटे इस्लामशाह के प्रशासन में राजकीय कानून और भी अधिक बने। इस प्रकार शेरशाह ने कानून को शरीयत के बन्धन से मुक्त कर दिया।

शेरशाह का सेना-संघटन भी अत्यन्त पूर्ण था। सेनानायकों को नकद वेतन नियमित रूप से मिलता था। साधारण सैनिकों की नियुक्ति भी बादशाह की तरफ से होती। सैनिकों को वेतन भी बादशाह के द्वारा ही मिलता। अकबर ने शेरशाह की शासन-व्यवस्था की प्रायः सब बातों में नकल की, पर वह सेनानायकों (मनसबदारों) की नियुक्ति स्वयं करता और सैनिकों की नियुक्ति उन पर छोड़ देता था। सैनिकों का वेतन भी अकबर के ज़माने में मनसबदार की

औफ़ देहली (दिल्ली मुल्तानों के सिक्के और उनका धातु-विवेचन) (१६३६) में शेरशाह और उसके बेटे के सिक्कों पर के इन चिह्नों का संकलन किया, पर इन्हें पहचाना नहीं था।

मारफत दिया जाता था। यह प्रथा अकबर के बाद समूचे मुगल युग में जारी रही। इसमें यह दोष था कि सैनिक सेनानायक को अपना सब कुछ समझते और यदि कभी वह बलवा करे तो उसके साथ वे भी बलवे में शामिल हो जाते थे। शेरशाह की पद्धति में यह दोष न था। सेनाएँ छावनियों में रहती थीं। छावनियों के फौजदारों का अपने इलाकों के शासन से कोई वास्ता न था; हाँ, कुछ सीमान्त प्रदेशों के फौजदारों को शिकदार का काम भी सौंपा गया था।



शेरशाह का मकबरा, सहसराम

शेरशाह की पैदल बन्दूकची सेना भोजपुरी (बक्सरिये) किसानों की थी। उसका तोपची दल भी था, और बहुत सी तोपें उसने स्वयं ढलवाई थीं।

शेरशाह का अपनी सेना पर कड़ा नियन्त्रण रहता था। झगड़ालू पठानों को सुशृंखल सैनिक बनाना उसी का काम था। सेना के प्रयाण-काल में क्या मजाल कि प्रजा को ज़रा भी कष्ट पहुँचे। ऐसी कड़ाई होने पर भी शेरशाह के सैनिक उससे बड़ा स्नेह करते थे। कारण कि वह उनकी मेहनत और मुसीबत में उनका शरीक होता, उनसे भाई का सा बर्त्ताव करता और उनके

गुणों को तुरन्त पहचान कर अनुरूप पुरस्कार देता था।

§१३. शेरशाह युग की कला और साहित्य—शेरशाह के चरित्र की छाप उसकी इमारतों पर भी है। सहसराम में उसका मकबरा, जो उसके आदेशानुसार बना था, उसकी सुरुचि का सुन्दर नमूना है। शेरशाह ने कई प्राचीन नगर फिर से बसाये—पटने का पुनरुद्धार किया और शेरगढ़ नाम से पाण्डवों के इन्दरपत गाँव में अपनी नई दिल्ली बसाई। हिन्दी साहित्य को उसके राज्य में विशेष प्रोत्साहन मिला। मलिक मुहम्मद जायसी ने अपना प्रसिद्ध काव्य पदुमावति 'सेरसाहि देहिली सुलतानू' के प्रशासन में लिखा। शेरशाह की गिनती भारतवर्ष के सच्चे राष्ट्र-निर्माताओं में है।

§१४. इस्लामशाह सूर—शेरशाह की मृत्यु पर उसका दूसरा बेटा इस्लामशाह या सलीमशाह नाम से गद्दी पर बैठा। उसके नौ बरस के प्रशासन (१५४५–५४ ई०) में शेरशाह की शासन-नीति जारी रही। शेरशाह के काल के पंजाब के फौजी हाकिम हैबतखाँ नियाज़ी ने स्वतन्त्र होने का यत्न किया। उसके दल के साथ इस्लामशाह को लम्बा युद्ध करना पड़ा। उस प्रसंग में पंजाब-शिवालक (हिमालय तराई) के प्रदेश जीते गये। अन्त में कश्मीर की उपत्यका में भिम्भर-राजौरी प्रदेश में इस्लामशाह ने नियाज़ियों को अन्तिम हार दी।

कश्मीर में मिर्ज़ा हैदर ने दस बरस राज किया। १५५१ ई० में प्रजा ने उसे और उसके मुगलों को निकाल भगाया और फिर पुराने राजवंश को स्थापित किया।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. बहादुरशाह गुजराती का ऐतिहासिक चरित लिखिए।

२. हुमायूँ के राज्य में आरम्भ में कौन से प्रदेश थे? फिर किस क्रम से उसके राज्य की बढ़ती घटती हुई?

३. सांगा की मृत्यु के बाद से शेरशाह का आधिपत्य राजस्थान पर स्थापित होने तक राजस्थान का इतिहास संक्षेप से बताइए।

४. बिहार में शेरखाँ के पहले शासन में कौन सी विशेषताएँ थीं जिनकी बदौलत

वह अपनी शक्ति बना सका ?

५. शेरखाँ ने बिहार बंगाल जौनपुर की सल्तनत किस प्रकार पाई ? हुमायूँ से ये प्रान्त छीनने में उसने क्या योजना बरती ?

६. पानीपत खानवा घाघरा में जिस युद्ध-शैली से मुगल जीते थे उसे शेरशाह ने कैसे विफल किया ? कब और कहाँ ?

७. जागीरदार पद्धति को उखाड़ कर शेरशाह ने उसके स्थान में कैसी शासन-पद्धति चलाई ?

८. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए—(१) भारत में पुर्त्तगालियों का उत्तरी प्रान्त (२) विजयनगर का राजा अच्युतदेव (३) रोहतासगढ़ (४) कश्मीर में मिर्जा हैदर (५) मलिक मुहम्मद जायसी (६) शेरशाह की सड़कें (७) शेरशाह का रुपया।

अध्याय ३

साम्राज्य के लिए तीसरा संघर्ष—अकबर

(१५५५-१५७६ ई०)

§१. **हुमायूँ की वापसी**—हुमायूँ सिन्ध से कन्दहार की तरफ भागा था और वहाँ से भी उसे अपने भाई के डर से ईरान जाना पड़ा था। शेरशाह की मृत्यु के ४ महीने बाद ईरान के शाह की मदद से उसने कन्दहार जीत लिया, और कामरान से काबुल भी छीन लिया। १५५० ई० तक वह फिर दो बार काबुल खो कर पा चुका तथा बदख्शाँ पर भी अधिकार कर चुका था।

इस्लामशाह के बाद उसके नाबालिग बेटे को मार कर शेरशाह का भतीजा मुहम्मदशाह आदिल या अदालीशाह नाम से गद्दी पर बैठा। इससे सूर साम्राज्य में खलबली मच गई तथा अदाली की अन्य कई गलतियों से अनेक पठान सरदारों ने विद्रोह किया। उसे दबाने अदाली चुनार गया तो दिल्ली-आगरा उसके एक प्रतिद्वन्द्वी ने ले लिये। पंजाब तथा बंगाल के पठान शासक भी स्वतन्त्र हो गये। अदाली ने चुनार को ही राजधानी बनाया। यों उत्तर भारत में चार पठान सल्तनतें खड़ी हो गईं। उन्हें आपस में लड़ता देख हुमायूँ ने पंजाब जीत लिया। अदाली ने हेमू (हेमचन्द्र) नामक मेवाती को

जो इस्लामशाह के राज्यकाल में राजदूत पद तक पहुँच चुका था, अपना मन्त्री और सेनापति बनाया। हेमू बिहार बंगाल से उलझा था कि हुमायूँ ने दिल्ली भी ले ली, और अपने १३ बरस के बेटे अकबर को सेनापति बैरामखाँ की संरक्षकता में पंजाब का हाकिम नियुक्त किया। फिर से दिल्ली में ६ महीने शासन करने के बाद हुमायूँ चल बसा।

§२. **हेमू**—हुमायूँ की वसीयत के अनुसार पंजाब और दिल्ली अकबर को मिले, और काबुल उसके छोटे भाई मुहम्मद हकीम को। हुमायूँ के मरने की खबर पा अदाली ने हेमू को दिल्ली जीतने भेजा। ग्वालियर आगरा दिल्ली से मुगलों को भगा हेमू पंजाब की तरफ बढ़ा। मुगल अब फिर भागने लगे, पर बैरामखाँ मुकाबले के लिए डट गया। फिर पानीपत पर लड़ाई हुई (५-११-१५५६ ई०)। हेमू ने मुगल सेना के दोनों पासे तोड़ दिये, पर सिर में तीर लगने से घायल हो वह कैद हो गया। दिल्ली और आगरा इस जीत से अकबर के हाथ आये। उधर अदाली सूर बिहार-बंगाल के अपने विद्रोही सरदारों से लड़ता हुआ मारा गया। ग्वालियर और जौनपुर तक तब मुगलों ने फिर दखल कर लिया।

§३. **अकबर के गद्दी पाने पर भारतीय राज्य**—बिहार-बंगाल और मालवे में सूर साम्राज्य के खण्ड अब भी बाकी थे। मालवे में शेरशाह के हाकिम शुजातखाँ का बेटा बाज़बहादुर स्वतन्त्र सुल्तान बन बैठा था (१५५५ ई०)। उसने रूपमती नाम की सुन्दरी से ब्याह किया। बाज़बहादुर और रूपमती युद्ध और शिकार में साथ साथ यात्रा करते थे। उनके पड़ोस में, गोंडवाने के राज्य में, जिसकी राजधानी अब मंडला थी, दलपतिशाह मर चुका (१५४८ ई०) और उसकी विधवा रानी दुर्गावती अपने बेटे के नाम पर शासन करती थी। बाज़बहादुर ने उसपर अनेक चढ़ाइयाँ की, और प्रत्येक लड़ाई में हारा। राजस्थान में उदयसिंह ने रणथम्भोर और अजमेर वापिस ले लिये, आम्बेर और आबू से फिर मेवाड़ का आधिपत्य मनवाया, और उदयपुर की स्थापना की। गुजरात का राज्य छिन्न-भिन्न ही रहा। बहमनी रियासतें भी दुर्बल रहीं। विजय-नगर में अच्युतदेव के बाद उसका भतीजा सदाशिव राजा हुआ (१५४२ ई०)।

उसने पहले अहमदनगर की सहायता से बीजापुर को हरा कर उसका बहुत सा इलाका छीना, फिर १५५८ ई० में बीजापुर की सहायता से अहमदनगर पर चढ़ाई की। पिछली दो पुश्तों में जो विजयनगर का रोबदाब तमाम बहमनी राज्यों पर जम गया था, उससे सदाशिव का दिमाग फिर गया। अहमदनगर की चढ़ाई में पराजित शत्रुओं का अपमान करते हुए उसने अपने मित्र-पक्ष की सेना के भावों का भी ख्याल न रक्खा।

§४. अकबर के पहले विजय और सुधार—अकबर की विचार-शक्ति इस काल तक जाग चुकी थी। १५६० ई० में उसने बैरामखाँ को हज को भेज स्वयं राज सँभाल लिया और उसी बरस साम्राज्य-निर्माण की चेष्टा शुरू कर दी। सब से पहली चढ़ाई मालवे पर की गई। अकबर के सेनापतियों ने बाज़-बहादुर को हरा कर भगा दिया, उसने चित्तौड़ जा कर शरण ली।



अकबर—समकालीन चित्र
"तारीखे खानदाने तैमूरिया" की हस्तलिखित प्रति से पहले-पहल इस ग्रन्थ के लिए लिया गया फोटो [खुदा० ग्र०]

रानी रूपमती ने विष खा कर प्राण दे दिये। १५६२ ई० में अकबर ने आम्बेर या आमेर के राजा भारमल की बेटी से विवाह किया और भारमल के पोते

मानसिंह को अपने दरबार में रक्खा। यों आमेर का राजा उदयसिंह के बजाय अकबर की अधीनता में आ गया। उसी बरस मेड़ताँ का गढ़ जीता गया, जिससे उत्तरी मारवाड़ भी अकबर के अधीन हो गया।

मालवे के बाद बुन्देलखंड-गोंडवाने की बारी आई। कड़ा-मानिकपुर के हाकिम आसफ़खाँ ने पन्ना के राजा को अधीन करने के बाद रानी दुर्गावती पर चढ़ाई की। वह बहादुरी से लड़ती हुई मारी गई (१५६४ ई०)। उसके पड़ोसी छत्तीसगढ़ के राजा कल्याणसिंह ने भी डर कर दिल्ली के दरबार में उपस्थित हो अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली।

एक ओर शस्त्रों द्वारा ये विजय किये जा रहे थे तो दूसरी ओर नई उदार नीति द्वारा साम्राज्य की नींव पक्की की जा रही थी। १५६२ ई० में अकबर ने युद्ध-बन्दियों को दास बनाने की प्रथा अपने फरमान द्वारा हटा दी। अगले बरस उसने हिन्दू तीर्थयात्रियों से लिया जाने वाला कर उठा दिया। कहते हैं यह कार्य उसने नानक के प्रशिष्य सिक्खों के तीसरे गुरु अमरदास के कहने से किया। १५६४ ई० में अकबर ने हिन्दुओं पर से जज़िया कर भी उठा दिया।

§५. **विजयनगर का पतन**—इसी काल दक्खिन में भी भारी परिवर्तन हो गया। १५५८ ई० की लाञ्छना के बाद बीजापुर बिदर गोलकुंडा और अहमदनगर ने मिल कर विजयनगर का मुकाबला किया। कृष्णा के उत्तर तालीकोटा के पास लड़ाई हुई जिसमें सदाशिव अपनी एक लाख सेना के साथ मारा गया (१५६५ ई०)। इस हार का समाचार पा कर विजयनगर गढ़ के भीतर की मुस्लिम सेना ने भी विद्रोह किया और विजेताओं ने राजधानी पर कब्जा कर उसे उजाड़ दिया। सदाशिव के भाई वेङ्कटाद्रि ने तब विजयनगर से १२० मील दक्खिन हट कर पेनुकोंडा को अपनी राजधानी बनाया।

§६. **पूर्वी भारत के राज्य; मेवाड़ और उड़ीसा का पतन**—बिहार के पठान शासक सुलेमान कर्रानी ने १५६४ ई० तक बंगाल पर अधिकार कर लिया। तभी कोचबिहार के राजा नरनारायण के भाई शुक्लध्वज उर्फ चीलराय ने जो उसका सेनापति था, कामरूप जयन्तिया सिलहट कछार मणिपुर और त्रिपुरा को जीत कर कोचबिहार को उत्तरपूरबी सीमान्त की एकमात्र शक्ति

बना दिया। १५६५ ई० में अकबर के उज़्बक अमीरों ने जौनपुर में विद्रोह करके शाही फौजों को अवध के पच्छिम तक खदेड़ दिया। अकबर को गुमान था कि उन्हें सुलेमान करांनी से मदद मिलती है, इसलिए उसने उड़ीसा के राजा मुकुन्द हरिचन्दनदेव से सुलेमान के विरुद्ध सन्धि कर सहायता ली। राजा मुकुन्द ने बंगाल पर आक्रमण कर सातगाँव ले लिया। यों सुलेमान का ध्यान उधर खिंच गया और अकबर ने विद्रोह दबा दिया। किन्तु अकबर के भाई मुहम्मद हकीम ने पूरवी विद्रोह की बात सुन कर पंजाब पर चढ़ाई कर दी। उसे भगाने के बाद १५६७ ई० में उड़ीसा से काबुल तक शान्ति हुई।



विजयनगर के खँडहर—विहंगम दृश्य, हाम्पी, ज़ि० बेल्लारि [भा० पु० वि०]

इधर से निश्चिन्त हो जाने पर अकबर ने भारी तैयारी के साथ मेवाड़ पर चढ़ाई की। मेवाड़ के सरदार निश्चित हार देखते हुए भी आहुति दिये बिना अपना देश देने को तैयार न हुए। उन्होंने राणा उदयसिंह को पहाड़ों में भेज दिया और उसकी भावज मीराबाई के चचेरे भाई जयमल राठोड को अपना मुखिया चुना। दूसरा नेता पत्ता सीसोदिया को चुना। अकबर ने चित्तौड़ घेर लिया। तोपों के तीन मोर्चे गढ़ के सामने लगाये गये, जिनमें एक स्वयं अकबर

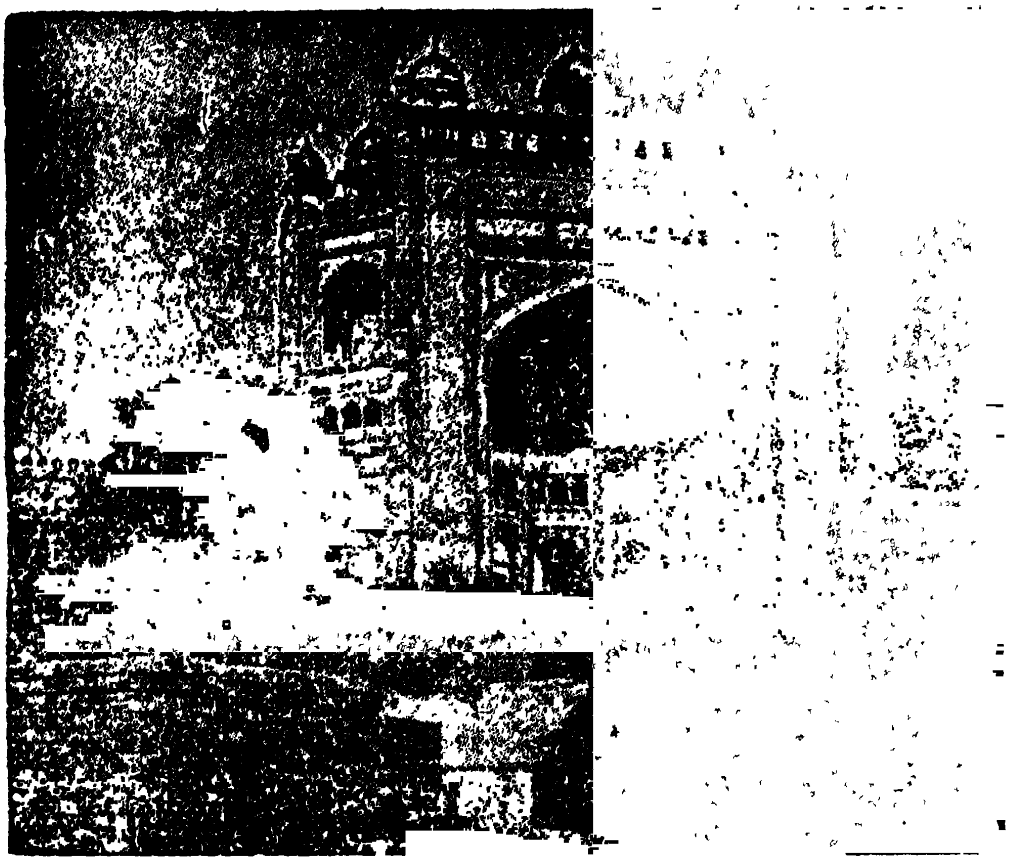
की ओर एक टोडरमल की देखरेख में था। साबातें और सुरंगें लगाई गई। साबात चमड़े के लम्बे छाजन होते थे जिनमें ढके हुए रास्तों से भाला लिये सवार मज़े में गुज़र सकते थे। उनकी रक्षा के बावजूद अकबर के कारीगरों की लाशें कई बार ईंटों की तरह चुनी गईं। एक दिन गढ़ की दीवार पर जयमल को मरम्मत का आदेश देते देख अकबर ने उसपर गोली चलाई। अकबर ने जाना कि वह मर गया, पर असल में वह लँगड़ा हो गया। गढ़ की रसद चुक जाने पर जयमल ने जौहर की आज्ञा दी। लँगड़ा जयमल अपने एक कुटुम्बी के कन्धों पर चढ़ शत्रुदल को काटता हुआ बढ़ा। चित्तौड़गढ़ के सबसे नीचे के दो दरवाजों के बीच जहाँ वह मारा गया, वहाँ ईंटों की एक सीधी सादी समाधि आज तक खड़ी है। पत्ता सूरजपोल (सूर्यद्वार) पर जो चित्तौड़गढ़ की पिछली तरफ है और जिस तक चढ़ने के लिए सीधा चढ़ाई का रास्ता है, लड़ता हुआ काम आया। मेवाड़ के किसानों ने भी अकबर को इस युद्ध में खूब सताया था। अकबर ने उन्हें कठिन दंड दिया। मेवाड़ पर पूरा अधिकार हो जाने पर उसने



चित्तौड़ का घेरा, १५६७ ई०, सूरजपोल की तरफ का दृश्य। "तारीख-ए-खानदान-ए-तैमूरिया" की हस्तलिखित प्रति से [खुदा० ग्र०]

अपने वीर शत्रु जयमल और पत्ता की हाथियों पर चढ़ी मूर्तियाँ बनवा कर आगरे के किले के बाहर स्थापित कराईं। अकबर के लौट जाने पर उदयसिंह ने कुम्भलगढ़ को अपनी राजधानी बनाया।

अकबर के मेवाड़ में व्यस्त रहने पर सुलेमान करानी ने उड़ीसा के राजा मुकुन्द हरिचन्दनदेव को गंगा से दामोदर तक हटा दिया। सुलेमान के



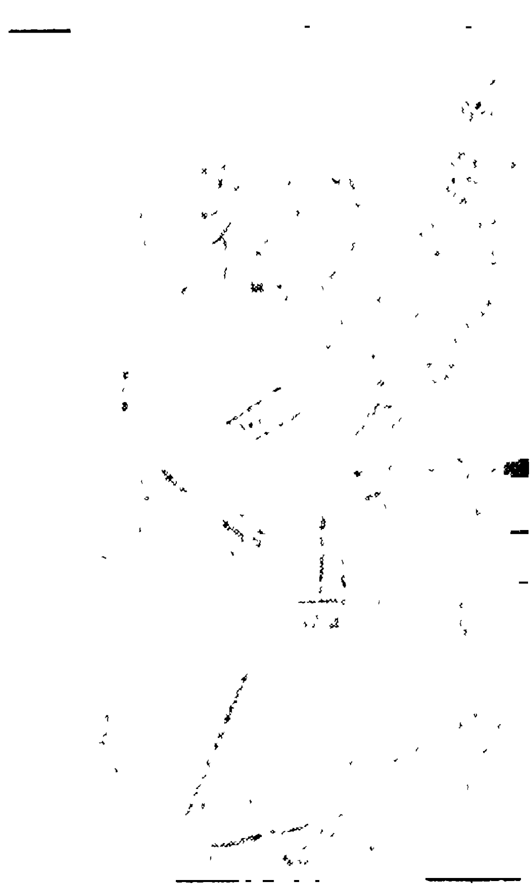
बुलन्द दरवाजा, फतहपुर सीकरी

सेनापति राजू कालापहाड़ ने दलभूम-मयूरभंज के पहाड़ी रास्ते से घूम कर पिछली तरफ से वाराणसी-कटक पर चढ़ाई की। हरिचन्दनदेव शीघ्र उधर लौटा, पर उसके एक सरदार ने विद्रोह कर उसे मार डाला। कालापहाड़ ने वाराणसी-कटक और पुरी को उजाड़ दिया। पीछे से चीलराय का हमला होने से कालापहाड़ को लौटना पड़ा। उड़ीसा में इसके बाद अव्यवस्था मची रही। उत्तरी और दक्खिनी उड़ीसा में दो राज्य खड़े हुए, जिनकी राजधानियाँ खर्दा और गंजाम थीं। लेकिन वे दोनों दुर्बल थे। उत्तरी उड़ीसा में २४ वर्ष तक पठान

और स्थानीय सरदार मारकाट करते रहे। गंजाम का राज्य १६वीं सदी के अन्त तक गोलकुंडा का मुक़ाबला करता रहा।

उधर चित्तौड़ के बाद रणथम्भोर भी अकबर के हाथ आया, और तभी बघेलखंड (रीवाँ) के राजा का कालंजरगढ़ भी जीता गया। तभी सीकरी में आम्बेर की राजकुमारी से अकबर का बेटा पैदा हुआ, जिसका नाम सलीम रक्खा गया। तब से फ़तहपुर सीकरी को अपनी राजधानी बना कर अकबर ने वहाँ अनेक महल बनवाये।

§ ७. गुजरात-बंगाल-विजय—गुजरात में बहादुरशाह की मृत्यु के बाद से फैली अराजकता ऐसी थी जिसे उत्तर या दक्खिन भारत में स्थापित हुए किसी साम्राज्य के नेता देर तक देखते न रह सकते थे। १५७२ ई० में अकबर ने गुजरात पर तेज़ी से चढ़ाई की। आगरे से २३ अगस्त को सवार सेना के साथ निकल कर उसने २ सितम्बर को अहमदाबाद में युद्ध छेड़ दिया। यन्त्रवाहनों से पहले के विश्व के उल्लिखित इतिहास में यह सबसे तेज़ चढ़ाई है। गुजरात के छोटे छोटे राज्य यह कल्पना भी न करते थे कि अकबर इस तरह उनपर आ टूटेगा। १५७३ ई० तक उसने उन सब को बारी बारी जीत लिया।



राणा प्रताप
(ब्रितानवी संग्र० में रक्खा पुराना चित्र)

तभी मेवाड़ का राणा उदयसिंह और बिहार-बंगाल का प्रजाप्रिय शासक सुलेमान चल बसे। उदयसिंह का बेटा प्रताप उजड़े मेवाड़ का राणा हुआ और सुलेमान का बेटा दाऊद बिहार-बंगाल की गद्दी पर बैठा। १५७६ ई० तक कोचबिहार के राजा नरनारायण की सहायता से अकबर ने बंगाल भी जीत लिया। गुजरात और बंगाल के विजय से वह उत्तर भारत का

एकच्छत्र सम्राट् हो गया।

दक्खिन में इसी काल में अहमदनगर के राज्य ने बराड़ को जीत लिया।

१५७६ ई० में अकबर के साम्राज्य के बराबर दुनियाँ में और कोई भी राज्य न था; तो भी मेवाड़ के अकिञ्चन राणा प्रताप ने उससे लोहा लेने की ठानी। उसने कुम्भलगढ़ और गोघूँदा के पहाड़ी प्रदेश को अपना केन्द्र बना कर मालवा और गुजरात जाने आने वाली मुगल सेनाओं काफिलों खजानों आदि पर आक्रमण शुरू किये। इस छापामारी से तंग आ कर अकबर ने मानसिंह को उसके विरुद्ध भेजा। गोघूँदा के रास्ते में हल्दीघाटी पर दोनों का सामना हुआ (१५७६ ई०)। पठान सरदार हकीम सूर भी प्रताप के साथ था। लड़ाई का फल अनिश्चित रहा। प्रताप ने आगे बीस बरस तक स्वाधीनता का संघर्ष जारी रक्खा और मेवाड़ का बहुत सा भाग वापिस ले लिया।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. इस्लामशाह सूर की मृत्यु के बाद सूर साम्राज्य के टुकड़े किस प्रकार हुए? उन्हें हुमायूँ और अकबर ने कैसे कब कब जीता?

२. विजयनगर का अन्तिम राजा कौन था? उसके प्रशासन में विजयनगर राज्य का उत्कर्ष और पतन कैसे हुआ?

३. अकबर ने अपने हाथ में राज लेने के बाद १५६५ ई० तक कौन कौन से प्रदेश किस क्रम से अपने साम्राज्य में मिलाये? और १५७६ ई० तक?

४. उड़ीसा के हिन्दू राज्य का अन्त कब कैसे हुआ?

५. आगरा किले के बाहर अकबर ने अपने किन शत्रुओं की मूर्त्तियाँ लगवाई थीं? क्यों?

६. अकबर के पहले शासन-सुधार क्या थे?

७. अकबर युग में कोचबिहार राज्य में कौन कौन प्रदेश सम्मिलित थे?

८. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए—(१) हेमू (२) बाजबहादुर (३) पेनुकोंडा (४) चीलराय (५) राजू कालापहाड़ (६) रानी दुर्गावती (७) हल्दीघाटी (८) राजा भारमल (९) रूपमती।

अध्याय ४

मुगल साम्राज्य का वैभव

(१५७६—१६५७ ई०)

§ १. **अकबर की शासन-व्यवस्था**—अकबर की शासन-नीति उदार राष्ट्रीय राजा की थी। अपनी हिन्दू और मुस्लिम प्रजा को उसने एक ही दृष्टि से देखा। उसके पहले ज़ैनुलाबिदीन, हुसेनशाह बङ्गाली और शेरशाह वैसी नीति के लिए रास्ता बना चुके थे।

अकबर ने सुशासन के लिए जो अनेक सुधार किये, उनमें उसने शेर-शाह का अनुसरण किया। गुजरात जैसे प्रान्तों में भी, जो शेरशाह के अधीन न हुए थे, उसने माप-बन्दोबस्त करवाया। टोडरमल इस कार्य में उसका मुख्य सहायक रहा। माप के लिए लम्बाई और क्षेत्रफल की इकाइयों—गज़ और बीघा—का ठीक मान निश्चित किया गया। उसके तीन और सुधार उल्लेखनीय हैं। पहला, कर्मचारियों को जागीर के बजाय नकद वेतन देना, और जागीरों को भरसक "खालसा" (राजकीय सम्पत्ति) बनाना। दूसरा, सब कर्मचारियों की दर्जाबन्दी, जो बिलकुल सैनिक दृष्टि से की गई थी, क्योंकि राज्य के सभी कर्मचारी सैनिक माने जाते थे। प्रत्येक कर्मचारी का पद और वेतन इस बात पर निर्भर होता कि वह कितने सवारों का नायक है। सब कर्मचारी मनसबदार कहलाते और उनके मनसब १० से १० हज़ार तक के होते। ये संख्याएँ उनके वास्तविक सवारों की नहीं, केवल उनकी हैसियत की सूचक होती थीं। तीसरा सुधार घोड़ों के दागने का था जिससे मनसबदार धोखा न दे सकें।

१५८० ई० में अकबर के साम्राज्य में दिल्ली आगरा इलाहाबाद अवध बिहार बंगाल अजमेर गुजरात मालवा लाहौर मुलतान और काबुल ये १२ सूबे थे। पीछे कश्मीर जीत लिये जाने पर लाहौर या काबुल में, सिन्ध मुलतान में और उड़ीसा बंगाल में मिलाया गया। दक्खिन जीता जाने पर तीन नये सूबे बराड़ खानदेश और अहमदनगर बने, जिससे कुल १५ सूबे हो गये। प्रत्येक सूबे का शासक सिपहसालार कहलाता था। बाद में वह सूबेदार कहलाने

लगा। उसके साथ एक दीवान, एक बख्शी (वेतन बाँटने वाला), एक मीर-आदिल (न्यायाधिकारी), एक सदर (धर्माधिकारी), एक मीर-बहर (जहाजों बन्दरगाहों घाटों आदि का प्रबन्धक, मौर्य युग का नावध्यक्ष) [४,२§१], एक वाकयानवीस (घटना-लेखक, मौर्य युग का प्रतिवेदक) [४,२§५] और हर शहर में एक कोतवाल तथा हर सरकार में एक फौजदार रहता था। केन्द्रीय शासन में सम्राट् के नीचे वकील अर्थात् प्रधानमन्त्री, वज़ीर या दीवान, मीर बख्शी और सदर-ए-सुदूर (मुख्य धर्माधिकारी) ये चार मुख्य तथा अनेक गौण अधिकारी रहते थे।

अकबर की सेना तीन तरह की थी। एक सामन्तों की, दूसरी मनसबदारों की और तीसरी खास अपनी। मुख्य सेना मनसबदारों वाली थी। शेरशाह की तरह मुगल बादशाहों की स्थिर वैतनिक प्रशिक्षित सेना नहीं रही।

§२. **अकबर की धर्म-सम्बन्धी नीति**—अकबर स्वभाव से ही विचारशील था। उसके अन्दर सचाई की खोज की उत्कट चाह थी, जिसे ज़माने की लहर ने और पुष्ट किया। मुस्लिम बादशाह को इस्लाम की शरीयत के अनुसार चलना चाहिए; किन्तु इस्लाम में अनेक फिरके हैं, इस कारण प्रश्न उठता था कि कौन सा फिरका सच्चा है और किसके आदेश माने जायँ। इस जिज्ञासा से प्रेरित हो कर अकबर ने फतहपुर-सीकरी में एक इबादतखाना (प्रार्थनागृह) बनवाया, जिसमें विभिन्न फिरकों के विद्वान् मिल कर विचार कर सकें। शुरू में उसमें केवल मुस्लिम विद्वान् बुलाये गये। उनके परस्पर विवाद के ढंग से बादशाह का चित्त इस्लाम से फिरने लगा। गुजरात की विजययात्रा से अकबर को पहलेपहल ईसाई पारसी और जैन मतों का परिचय मिला। उसके बाद उसके दरबार में शेख मुबारक नामक सूफी तथा उसके दो बेटे अबुलफ़ज़्ल और फ़ैजी उपस्थित हुए। अकबर पर उनका बड़ा प्रभाव पड़ा। तब इबादतखाने में इस्लाम के सिवा दूसरे मतों के विद्वान् भी बुलाये जाने लगे। जब एक बार विचार से सचाई का निर्णय करना मान लिया गया, तब ऐसा होना ही था। दूसरे, जब दीन (धर्म) के मुखिया आपस में झगड़ते और बादशाह उनके बीच मध्यस्थ बनता, तब मज़हबी मामलों में भी बादशाह की स्थिति उन

सबसे ऊँची प्रकट होने लगी। १५७६ ई० में अकबर ने स्वयं साम्राज्य के प्रमुख इमाम (धार्मिक नेता) की हैसियत से मसजिद के मिम्बर (वेदी) से खुतबा पढ़ा। तभी राज्य के प्रमुख उलमाओं के हस्ताक्षरों से उसने यह घोषणा करा दी कि इमाम-ए-आदिल (प्रमुख इमाम) सब मुजतहिदों (मज़हब के व्याख्याकारों) से बड़ा है, और विवादग्रस्त मामलों में उसका फैसला सबको मान्य होगा, जो न माने उसे दण्ड देना उचित होगा।

इस घोषणा से कट्टर मुसलमान भड़क उठे। वे अकबर के उन शासन-सुधारों से चिढ़े हुए थे, जो उसने जागीरदारों की जागीरें ज़ब्त करने और घोड़ों पर दाग लगाने आदि के सम्बन्ध में जारी किये थे। उन्होंने बिहार और बंगाल में बलवा कर दिया, और अकबर के भाई मुहम्मद हकीम से मिल कर षड्यन्त्र रचा। जौनपुर के एक काज़ी ने फतवा दे दिया कि अकबर के खिलाफ बलवा करना जायज़ है। अकबर ने बलवा दबाने के लिए टोडरमल को भेजा। उधर मुहम्मद हकीम फौज के साथ पंजाब पर चढ़ आया। रोहतास के किलेदार ने उसे वह किला न दिया, और लाहौर के शासक कुँवर मानसिंह ने शहर के दरवाजे न खोले। मुहम्मद हकीम की इस आशा पर कि सारी प्रजा उसका साथ देगी, पानी फिर गया और वह लस्टमपस्टम पीछे भागा। अकबर ने बड़ी तैयारी के साथ काबुल पर चढ़ाई की। टोडरमल को बङ्गाल में सफलता हुई और बलवा पूरी तरह कुचल दिया गया।

इसके बाद मज़हबी मामलों में अकबर को पूरी स्वतन्त्रता मिल गई। अब इबादतखाने की ज़रूरत न रह गई थी। अकबर दूसरे मतों की तरफ झुकने लगा और उसने घोषणा कर दी कि उसके बेटे चाहे जो मत मानें। ज़रथुस्त्रियों की तरह वह अपने घर में पवित्र आग रखने और सूर्य को प्रणाम करने लगा और जैनों और हिन्दुओं के प्रभाव से उसने गो-हत्या की मुमानियत कर दी और विशेष अवसरों पर कैदियों को छोड़ना शुरू किया। ईसाइयों का एकपत्नीव्रत भी उसे भाया। इस प्रकार सब धर्मों का सामञ्जस्य कर अकबर ने एक संग्राहक धर्म बनाने की कोशिश की। उसने लिखा, "एक साम्राज्य में जिसका एक शासक हो, यह अच्छा नहीं है कि प्रजा एक दूसरे के विरोधी विभिन्न मतों में बँटी रहे,

इसलिए हमें उन सबको मिला कर एक करना चाहिए; किन्तु इस प्रकार कि वे एक भी हो जायँ और अनेक भी बने रहें।"

अकबर ने अपने नये धर्म का नाम तौहीदे-इलाही रक्खा। उसका उद्देश उदार और ऊँचा था, तो भी तौहीदे-ईलाही सौ पन्थों को एक करने के बजाय एक सौ एकवाँ पन्थ बन गया और अकबर के साथ ही समाप्त हो गया। १५९३ ई० में अकबर ने धार्मिक स्वतन्त्रता के लिए कई आज्ञाएँ निकालीं, जैसे (१) कोई जबरदस्ती मुसलमान बनाया गया हिन्दू फिर हिन्दू बनना चाहे तो उसे कोई न रोके (२) किसी को बाधित कर दूसरे मजहब में न लाया जाय (३) हर किसी को अपना धर्म-मन्दिर बनाने की स्वतन्त्रता रहे (४) अनिच्छुक हिन्दू विधवा को सती न किया जाय; इत्यादि। अकबर की यह नीति अनेक मुल्लाओं को न रुची। उनके कट्टरपन से खीझ कर पिछले जीवन में अकबर को इस्लाम का बहुत कुछ दमन भी करना पड़ा; परन्तु इस्लाम की सबसे मुख्य बात तौहीद अकबर के पन्थ में मौजूद थी।

§३. उत्तरपच्छिम और दक्खिन में अकबर के साम्राज्य-विस्तार के प्रयत्न—१५७६ ई० के बाद भी अकबर के दिल में दो देश जीतने की अभिलाषा बनी रही, जो उसके वंशजों को भी विरासत में मिली, एक तो उत्तरपच्छिम तरफ बदख्शाँ और बलख के आगे तूरान अर्थात् वंक्षु-सीर-काँठों की अपने पुरखों की भूमि, और दूसरे दक्खिन भारत। दक्खिन में "सीमान्त के शासकों की बेपरवाही से तट के अनेक शहर और बन्दरगाह फिरंगियों के हाथ चले गये थे", उन्हें वापिस लेना भी अकबर का ध्येय था। गोवा में आने वाले जहाज कब कितने सैनिक और युद्धसामग्री उतारते हैं, इसका वह पता रखता था। गुजरात के तट से पुर्त्तगालियों को निकाल देने के अनेक जतन उसने किये, पर सब व्यर्थ। उस विफलता का कारण था समुद्र-विषयक ज्ञान और शक्ति का न होना। उधर पुर्त्तगाल देश स्पेन-सम्राट् के अधीन हो गया था (१५८० ई०), जिसका साम्राज्य तब पच्छिम जगत् में सब से बड़ा था। अमरीका से पाये हुए धन के ज़ोर से युरोप के कई देशों को भी स्पेन ने अधीन कर लिया था। स्पेन और पुर्त्तगाल के एक हो जाने से संसार

के सब समुद्रों पर उनका एकाधिपत्य हो गया। उनकी शक्ति इतनी बढ़ी चढ़ी थी कि अपने परवाने बिना वे किसी मुस्लिम जहाज को मक्का भी न जाने देते थे।



बीरबल
[भारत-कलाभवन, काशी]

१५६७ ई० तक सिंहल द्वीप स्पेन-साम्राज्य में मिला लिया गया। उसका समूचा तट पुर्त्तगालियों ने जीत लिया था और हिन्दू राज्य केवल अन्दर के पहाड़ों में रह गया था।

अकबर ने काबुल तो जीत लिया, पर तूरान के उज़बक शासक अब्दुल्लाखाँ ने जो अकबर के साथ साथ गद्दी पर बैठा था, काबुल राज्य के बदख्शाँ प्रान्त को ले लिया। अकबर को डर था कि कहीं वह भारत पर भी चढ़ाई न करे। इसलिए अकबर ने मानसिंह को काबुल भेजा और अब्दुल्ला उज़बक की मृत्यु तक स्वयं भी लाहौर रहा। सीमान्त के पठान तथा स्वात-बाजौर के लोग तभी विद्रोह कर उठे†। स्वातियों से लड़ता हुआ अकबर का मित्र बीरबल मारा गया। राजा टोडरमल ने उस हार का बदला चुकाते हुए स्वातियों को तो दबा दिया, परन्तु पठानों के ठेठ इलाकों ने अकबर के वंशजों के काल तक भी मुगलों की अधीनता कभी न मानी। उन चढ़ाइयों के प्रसंग में कश्मीर जीता गया। टट्टा अर्थात् दक्खिनी सिन्ध जीतने के लिए मुलतान का शासन बैरामखाँ के बेटे अब्दुर्रहीम खानखाना को सौंपा गया। खानखाना को इसमें सफलता मिली। पीछे सिबी कन्दहार और मकरान भी अकबर के अधिकार में आ गये।

---

† ध्यान रहे कि स्वात-बाजौर के लोग पठान नहीं हैं, वे प्राचीन पच्छिमी गन्धार के लोगों अर्थात् पंजाबियों के वंशज हैं। पठानों का प्रदेश काबुल नदी के दक्खिन था, स्वात-बाजौर उस नदी के उत्तर हैं।

राजा भारमल के बेटे भगवानदास की और टोडरमल की मृत्यु के बाद मानसिंह को बिहार बंगाल के सूबे सौंपे गये। उसने तब उत्तरी उड़ीसा को भी जीत लिया। दक्खिनी राज्यों में से खानदेश ने सन्देश पा कर अधीनता मान ली। दूसरों पर फौज भेजी गई। अहमदनगर में उस फौज का चाँदबीबी ने मुकाबला किया। वह अहमदनगर के सुल्तान की बुआ और बीजापुर के बालक सुल्तान की माँ थी। अन्त में अहमदनगर ने अधीनता मानी और बराड का प्रान्त सौंप दिया (१५९६ ई०)। सन् १५९७ में राणा प्रताप और १५९८ में अब्दुल्ला उज़बक का देहान्त होने पर अकबर स्वयं दक्खिन गया। १६००



असीरगढ़ [भा० पु० वि०]

ई० में अहमदनगर तथा खानदेश का असीरगढ़, जो तब भारत भर में विकट गढ़ माना जाता था, उसके हाथ आये।

तभी अकबर के बेटे सलीम ने विद्रोह किया और इलाहाबाद में स्वतन्त्र हो बैठा। अकबर को अपनी विजय-योजनाएँ छोड़ आगरा लौटना पड़ा। अहमद-नगर सल्तनत पूरी तरह मुगल साम्राज्य में न मिल पाई, तथा बीजापुर और गोलकुंडा तो ज्यों के त्यों बने रहे। उन दोनों के दबाव से कर्णाटक के राजा वेंकटाद्रि के बेटे ने पेनुकोंडा को भी छोड़ तमिळ देश के उत्तरी छोर पर चन्द्र-

गिरि को अपनी राजधानी बनाया (लग० १६०० ई०) ।

विद्रोह के प्रसंग में सलीम ने अकबर के मित्र अबुलफ़ज़्ल को ओरछा के राजा वीरसिंहदेव बुन्देले के हाथों मरवा डाला। पीछे बड़ी मुश्किल से उसने पिता से समझौता किया। १६०५ ई० में अकबर बीमार हुआ। तब दरबारियों का एक दल सलीम के बजाय उसके बेटे खुसरो को गद्दी पर बिठाने का जतन करने लगा; किन्तु अन्तिम काल में अकबर ने सलीम को उत्तराधिकारी बनाया।

§४. **अकबर युग में साहित्य और कला**—अकबर ने हिन्दू और मुस्लिम दृष्टियों को मिला कर एक करना चाहा। इस विचार से उसने महाभारत हरिवंशपुराण आदि के फारसी अनुवाद करवाये। उसके प्रशासन में फारसी में बहुत से इतिहास-ग्रन्थ भी लिखे गये। उनमें अबुलफ़ज़्ल के लिखे अकबरनामे के अन्तर्गत आईने-अकबरी अनमोल ग्रन्थ है।

दरबारी साहित्य से अधिक महत्त्व का सन्तों का साहित्य था। सूरदास तुलसीदास और गुरु अर्जुनदेव तथा रामानन्द के अनुयायी दादू मलूक रयिदास आदि सन्त कवि अकबर के युग में हुए। दादू अहमदाबाद का धुना था और रयिदास चमार। अब्दुर्रहीम खानखाना ने रहीम नाम से हिन्दी में जो कविता की, उसपर भी स्पष्ट वैष्णव छाप है। तुलसीदास का रामचरितमानस तो हिन्दीभाषी जनता का धर्म-ग्रन्थ बन गया।

अकबर की इमारतों में आगरा और इलाहाबाद के किले तथा फतहपुर-सीकरी के सुन्दर महल उल्लेखनीय हैं। उसके आश्रित हिन्दू राजाओं ने भी वृन्दावन में कई मन्दिर बनवाये।

संगीत और चित्रकला को भी अकबर ने प्रोत्साहन दिया। पन्द्रहवीं शताब्दी से चले संगीत के नवजीवन की परम्परा में १६वीं शताब्दी के शुरू में राजा मानसिंह तोमर ने ग्वालियर में संगीत-विद्यालय स्थापित किया था। वहाँ के गायक तानसेन को अकबर ने अपने दरबार में जगह दी।

§५. **चित्रकला की मुग़ल कलम**—इस्लाम में प्राणियों के चित्र बनाना वर्जित है, तो भी अरब देशों और ईरान में ११वीं शताब्दी से चित्रकला पुनर्जीवित हो चुकी थी, जिसपर चीन-हिन्द की भारतीय कला [६,५§३; ७,८§५]

का काफी प्रभाव था। तेरहवीं शताब्दी में मंगोल आधिपत्य के साथ "ईरानी चित्रकला में चीनीपन व्याप उठा। (पर) इस चीनीपन में भी (कुछ) भारतीय प्रभाव था।" फिर हरात में तैमूर-वंशजों के राज्य में ईरानी कलम की उस चित्रकारी को खूब प्रश्रय मिला था। हुमायूँ के काबुल में स्थापित होने पर शीराज़ का ख्वाजा अब्दुस्समद तथा एक अन्य ईरानी चितेरा उसकी सेवा में आया। अकबर ने इनके साथ भारत के योग्य से योग्य चितेरों को भी जुटाया, जिनमें दसवन्त (जसवन्त) और बसावन सबसे नामी थे। अकबर की समन्वय-भावना और ऊँची प्रेरणा के प्रभाव से इनकी कलमों (शैलियों) का सामञ्जस्य हो कर नई जानदार कलम चली, जो मुगल कलम कहलाती है। इसमें सबसे अधिक प्रभाव कश्मीर कलम [७, ८§६] का है, पर ईरानी कलम और राजपूत कलम [८, ८§८] का भी पुट है।

§ ६. **पहले सिक्ख गुरु**—पंजाब में गुरु नानक ने अपने 'उदासी' (विरक्त) बेटे के बजाय अपने एक शिष्य को अपना पद और गुरु अंगद नाम दिया था। पंजाब में तब महाजनों के कारबार में काम आने वाले "लंडे" अक्षरों के सिवाय कोई लिपि न थी। अंगददेव ने कश्मीर की शारदा लिपि को गुरमुखी नाम से अपना लिया और नानक की वाणी का उसमें संकलन किया। तीसरे गुरु अमरदास ने अपने दामाद रामदास के वंश में गुरु-गद्दी स्थायी कर दी। रामदास ने एक पुराने बौद्ध तीर्थ के स्थान पर अमृतसर की स्थापना की। पाँचवें गुरु अर्जुनदेव (१५८२–१६०६ ई०) ने गुरुओं की वाणियों तथा रामानन्द नामदेव कबीर फरीद रयिदास सूरदास आदि भक्तों के वचनों का संकलन एक 'ग्रन्थ' में किया जो 'सिक्खों' (शिष्यों) का धर्म ग्रन्थ बना। अर्जुन ने अपने शिष्यों को तुर्किस्तान से घोड़ों का व्यापार करने को भी प्रेरित किया, जिससे उनकी दूर देश जाने की झिझक निकल जाय और वे अच्छे सवार बन सकें।

§ ७. **जहाँगीर**—सलीम जहाँगीर नाम से हिन्दुस्तान के तख्त पर बैठा तो उसका बेटा खुसरो बलवा कर आगरे से पंजाब की ओर बढ़ा। चनाब के किनारे वह पकड़ा गया। उसके साथी और सहायक, जिनमें गुरु अर्जुन भी था, क्रूरता से मारे गये (१६०६ ई०)। अर्जुन के बेटे हरगोविन्द ने बदला लेने का

प्रण किया, और अपने 'सिक्खों' को शस्त्र धारण करने को कहा। इस जुर्म में उसे १२ बरस ग्वालियर के गढ़ में कैद रक्खा गया।

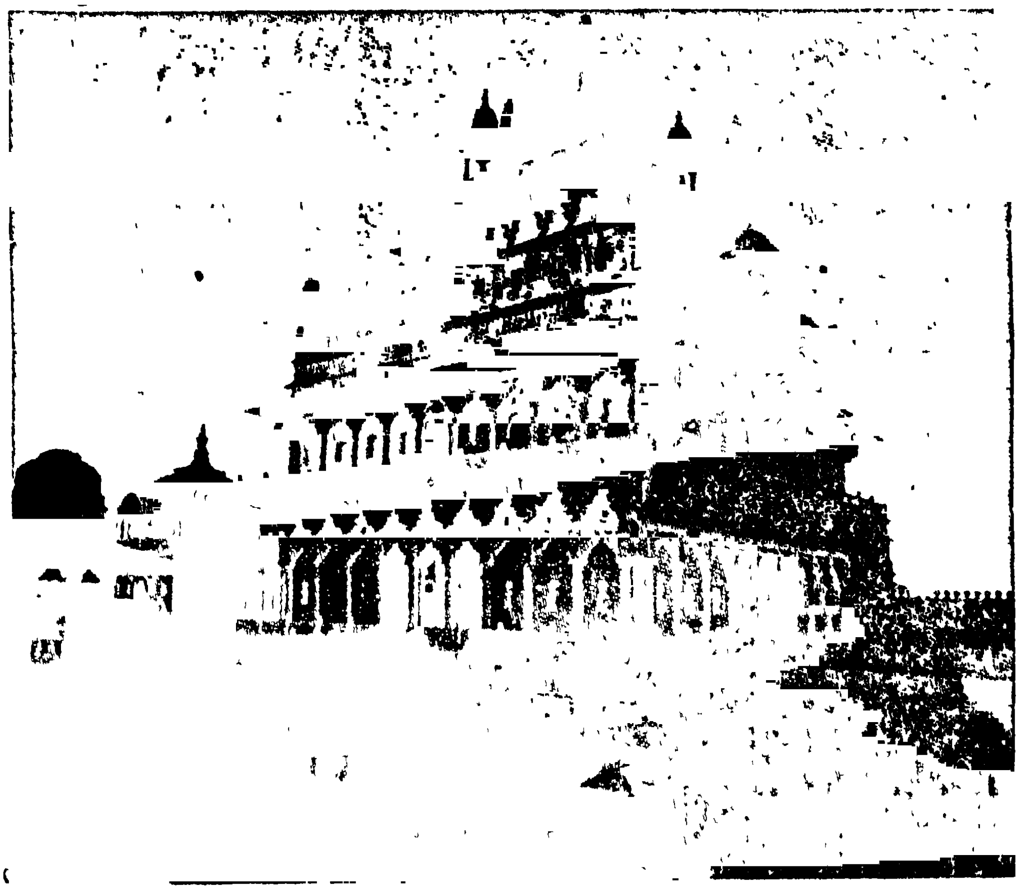
मुगल साम्राज्य की सेवा में बंगाल में शेर अफगन नामक ईरानी मनसबदार था, जिसकी स्त्री मेहरुन्निसा प्रसिद्ध सुन्दरी थी। जहाँगीर ने बंगाल की सूबेदारी कुतुबुद्दीन को दे कर उसे शेर अफगन को कैद करने का हुक्म दिया। कुतुबुद्दीन की शेर अफगन को पकड़ने की कोशिश में उन दोनों की जान गई (१६०६ ई०)। मेहरुन्निसा सम्राट् के दरबार में भेजी गई। चार बरस पीछे उसने जहाँगीर से शादी करना मान लिया, और उसे नूरजहाँ का खिताब मिला। वह चतुर स्त्री थी, जहाँगीर को वश में रख सब राज-काज चलाती थी। उसका भाई आसफखाँ सल्तनत का वज़ीर बना। आसफखाँ की बेटी शाहजादा खुर्रम को ब्याही गई और उसे मुमताज़-महल का खिताब दिया गया।



जहाँगीर शेर का शिकार करते हुए
[भा० क० भ०, काशी]

§८. **जहाँगीर के प्रशासन में साम्राज्य की घटबढ़**—जहाँगीर के गद्दी पर बैठते ही ईरानियों ने कन्दहार पर हमला किया जो निष्फल रहा।

मेवाड़ और दक्खिन की समस्याएँ अकबर के काल से चली आती थीं। जहाँगीर ने राणा प्रताप के बेटे अमरसिंह के खिलाफ पहले शाहजादा परवेज़ को, फिर महाबतखाँ को और अन्त में शाहजादा खुर्रम को भेजा। अमरसिंह ने १७ बरस लड़ने के बाद अन्त में हार मानी (१६१४ ई०)। मेवाड़ ने इस शर्त पर अधीनता मानी कि महाराणाओं को स्वयं मुगलों की सेवा में न जाना पड़े, तथा 'डोला' न देना पड़े। जहाँगीर ने अपने वीर शत्रु अमरसिंह और उसके बेटे करण की हाथियों पर चढ़ी मूर्तियाँ आगरे में स्थापित कीं।



दतिया में वीरसिंहदेव का महल
१७वीं सदी के वास्तु-शिल्प का नमूना [भा० पु० वि०]

बुन्देलखंड का राजा वीरसिंहदेव जहाँगीर का विशेष कृपापात्र था। मंडला (गोंडवाना) राज्य का जो भाग बाकी था, वह उसे जीतने दिया गया।

कोचबिहार और कामरूप में विश्वसिंह कोच के दो वंशजों का राज था। आपस की लड़ाई में कोचबिहार ने ढाका में मुगल साम्राज्य के अधिकारियों से

मदद माँगी। साम्राज्य की सेनाओं ने कामरूप जीत लिया (१६१२ ई०); तब से कोचबिहार मुगल साम्राज्य के भीतर घिर गया और असम का अहोम राज्य साम्राज्य को छूने लगा।

दक्खिन से अकबर के लौटते ही अहमदनगर के सुयोग्य हब्शी वज़ीर मलिक अम्बर ने मुगलों से अहमदनगर वापिस ले लिया और उन्हें बुरहानपुर तक खदेड़ दिया था। उसने टोडरमल की पद्धति से अपनी रियासत में पैमाइश और बन्दोबस्त भी कराया। मलिक अम्बर के खिलाफ शाहजादा खुर्रम को भेजा गया (१६१७ ई०)। उसने जो सन्धि की शर्तें भेजीं, उन्हें अहमदनगर के निज़ामशाह ने स्वीकार कर मुगलों को खानदेश वापिस कर दिया। खुर्रम को इस सफलता पर शाहजहाँ की पदवी मिली। ठेठ कर्णाटक (मैसूर) में १६०६ ई० में एक सरदार ने श्रीरंगपट्टम् का नया राज्य खड़ा किया।

पंजाब में काँगड़े के राज्य को अकबर ने जीतना चाहा था, पर वह विफल हुआ था। जहाँगीर के प्रशासन में वह जीत लिया गया (१६२० ई०)।

§९. **अराकानी और पुर्तगाली जलदस्यु**—१६वीं सदी में अराकान के तट पर अनेक पुर्तगाली बस गये थे। उनकी दोगली सन्तान ने समुद्र और नदियों में लूटमार करना अपना धन्धा बना लिया। वे गोवा के शासन में न थे। अराकान के राजा ने अब उनका दमन कर उन्हें अपनी सेवा में ले लिया और वे लूट में आधा हिस्सा राजा को देने लगे। चटगाँव इन फिरंगियों का अड्डा था। इनकी मदद से अराकान के राजा ने बाकरगंज जीत लिया (१६२० ई०) और ढाके को लूटा (१६२५ ई०)। उसके बाद अराकानियों और फिरंगियों के धावे बंगाल पर बराबर होते रहे। उनकी नावों के 'हरमद' (Armada) को देख कर बंगाली नव्वारा (बेड़ा) भाग जाता। वे असहाय जनता को पकड़ ले जाते और उनके एक एक हाथ में छेद कर एक रस्सी पिरो कर पशुओं की तरह अपनी नावों में भर ले जाते। अराकानी उन्हें दास बना कर काम लेते। फिरंगी उन्हें दक्खिन के बन्दरगाहों पर या फिलिपीन आदि द्वीपों में दूसरे फिरंगियों के हाथ बेच देते। लूटमार और उजाड़ का यह सिलसिला जहाँगीर और उसके बेटे शाहजहाँ के शासन-काल में साल-ब-साल जारी रहा।

§ १०. भारतीय समुद्र में ओलन्देज़ अंग्रेज़ और फ्रांसीसी— नई और पुरानी दुनिया में स्पेन का साम्राज्य कैसे फैल गया था, सो हम देख चुके हैं [ऊपर § ३]। स्पेन ने अपने अधीन छोटे राष्ट्रों को कुचलना चाहा; परन्तु १५७६ ई० में छोटे से हौलैण्ड राष्ट्र ने उसके विरुद्ध विद्रोह किया।

युरोप में मानसिक जागृति के बाद धार्मिक सुधार की लहर उठी। लूथर और कौल्विन नामक सुधारकों ने १६वीं सदी के शुरू में पोप की महन्ती का प्रतिवाद किया। उनके अनुयायी 'प्रतिवादी' (प्रोटेस्टैंट) कहलाये और पोप के अनुयायी 'रोमी सनातनी' (रोमन कैथोलिक)। स्पेन-सम्राट् ने पोप का साथ दिया। युरोप के कई राज्यों में आधे से भी अधिक सम्पत्ति गिर्जों के हाथ में थी, और गिर्जों के पुजारी नियत करना पोप के हाथ में था। स्वाधीन-वृत्ति राष्ट्र अब प्रतिवादी बनने लगे। इंग्लैंड के राजा ने पोप से सम्बन्ध तोड़ कर अनेक गिर्जों की जागीरें ज़ब्त कर लीं। स्पेन ने इंग्लैंड को भी दबाना चाहा। जिस फिलिप (१५५६–६८ ई०) के नाम से फिलिपीन द्वीपों का नाम पड़ा था, वह तथा इंग्लैंड की रानी एलिज़ाबेथ (१५५८–१६०३ ई०) अकबर के समकालीन थे। फिलिप ने इंग्लैंड पर जंगी बेड़ा भेजा, जिसे अंग्रेजों ने हरा कर फूँक दिया (१५८८ ई०)। इसके पहले कई अंग्रेज नाविक भी पृथ्वी-परिक्रमा कर आये थे। उधर ४० बरस की घोर कशमकश के बाद हौलैंड ने भी स्पेन से स्वतन्त्रता पा ली।

ओलन्देज़ अर्थात् हौलैंड के लोग* और अंग्रेज़ सुदूर समुद्रों पर भी स्पेन पुर्तगाल के एकाधिपत्य को तोड़ने लगे। ओलन्देज़ों ने पुर्तगालियों को चीन सागर से निकाल दिया। १६०० ई० के अन्तिम दिन इंग्लैंड में पूरब के व्यापार के लिए "ईस्ट इंडिया कम्पनी" बनी, जिसे राज्य की तरफ से उस व्यापार का एकाधिकार मिला। ईसाई मत के प्रचार के लिए पुर्तगाली जो ज़ोर-ज़ुल्म करते थे, उससे भारत के शासक परेशान थे। अंग्रेज़ और ओलन्देज़ 'प्रतिवादी' होने

---

* आजकल इस अर्थ में हिन्दी में कुछ लोग अंग्रेज़ी शब्द डच लिखने लगे हैं, पर मुगल युग में जब हौलैंड के लोगों से हमारा पहलेपहल परिचय हुआ, तब हम उन्हें ओलन्देज़ कहते थे।

के कारण वैसे कट्टर न थे। उन्हें केवल अपने व्यापार से मतलब रहता। भारतवर्ष के शासकों ने पुर्तगालियों के मुकाबले में उनका स्वागत किया। अंग्रेजों ने सूरत में व्यापारी कोठी खोली, और सूरत के पास पुर्तगाली बेड़े को हराया। उनके राजा जेम्स १म का दूत सर टामस रो अजमेर में जहाँगीर से मिला। अंग्रेज़ों को भारत में व्यापार करने की इजाज़त तो मिली ही, साथ ही अपनी बस्तियों में अपने कानून के अनुसार स्वयं शासन करने का अधिकार भी उन्हें मिल गया। यह बड़ी बात थी। १६१६ ई० में ओलन्देज़ व्यापारी वान डर ब्रोक सूरत आया। तब ओलन्देज़ों को भी सूरत बड़ोदा अहमदाबाद और आगरे में कोठियाँ खोलने की आज्ञा मिल गई। १६२० ई० में फ्रांसीसी व्यापारी भी सूरत आये।

§ ११. **कन्दहार का छिनना**—१६२२ ई० में ईरान के शाह अब्बास ने कन्दहार को फिर घेरा। शाहजहाँ के नेतृत्व में बड़ी फौज उसके खिलाफ जाने वाली थी, पर शाहजहाँ तभी विद्रोह कर बैठा। ईरानियों ने कन्दहार ले लिया। चार बरस बाद शाहजहाँ ने पिता से सुलह की। उसकी बगावत का मुख्य कारण नूरजहाँ की ईर्ष्या थी। इसी से महाबतखाँ नामक सेनापति भी बिगड़ उठा। बादशाह लाहौर से काबुल जाता था। जेहलम पर महाबतखाँ ने अपने ५००० राजपूतों द्वारा उसे कैद कर लिया। नूरजहाँ की कुशलता से वह कैद से छूटा। दूसरे बरस (१६२७ ई०) उसकी मृत्यु हुई।

§ १२. **शाहजहाँ**—शाहजहाँ जो जोधपुर की राजकुमारी का बेटा था और जहाँगीर के बेटों में सबसे योग्य था, अपने सब प्रतिद्वन्द्वियों का आसानी से अन्त कर हिन्द का बादशाह बना। जहाँगीर की मृत्यु के एक बरस आगे-पीछे ईरान के शाह अब्बास, ओरछा के राजा वीरसिंहदेव तथा मलिक अम्बर को भी मृत्यु हुई। शाहजहाँ के प्रायः साथ ही बीजापुर में मुहम्मद आदिलशाह और गोलकुंडा में अब्दुल्ला कुतुबशाह गद्दी पर बैठा।

यद्यपि शाहजहाँ ने अपने को इस्लाम का पक्का अनुयायी प्रकट किया, और अपने दादा और पिता की उदार नीति को अंशतः बदल दिया, तो भी अपनी समूची प्रजा के प्रति उसका बर्ताव अच्छा रहा, और हिन्दुओं को उसपर

विश्वास बना रहा। उसके कट्टरपन के कार्यों में एक यह था कि कश्मीर खानदेश आदि प्रान्तों में अनेक जातों में जो हिन्दू-मुस्लिम विवाह होते आते थे, उन्हें एकतरफा करने के लिए १६३४ में उसने यह फरमान निकाला कि यदि कोई हिन्दू किसी मुस्लिम स्त्री को ब्याहे तो वह या तो मुस्लिम बन उससे फिर निकाह करे और या उसे त्याग दे। इस फरमान का कड़ाई से पालन कराया गया, जिससे बाद में यही प्रथा "सनातन" मानी जाने लगी।

§ १३. **चम्पतराय और हरगोविन्द**—वीरसिंहदेव का बेटा जुझारसिंह नये बादशाह का रुख अपने खिलाफ देख आगरे से बुन्देलखंड भाग गया। शाहजहाँ ने आगरा कन्नौज और मालवे से उसके खिलाफ फौजें भेजीं। बेतवा के तट पर उसका इरिच गढ़ लिया गया, तब उसने अधीनता मानी (१६२९ ई०)। पर पाँच बरस पीछे उसने फिर युद्ध छेड़ा। छिन्दवाड़ा के २४ मील दक्खिन देवगढ़ में गोंडों की एक राजधानी थी। जुझारसिंह ने नर्मदा के दक्खिन उस देवगढ़ राज्य का चौरागढ़ छीन लिया। शाहजहाँ ने जुझार से चौरागढ़ तलब किया। उसके न देने पर शाहजादा औरंगज़ेब तथा उसके मामा शाइस्ताखाँ को फिर बुन्देलखंड की चढ़ाई पर भेजा गया। ओरछा दखल कर उन्होंने वहाँ का राज्य वीरसिंह के भतीजे देवीसिंह को दिया। मुगल सेनाएँ बुन्देलखंड के आरपार चाँदा तक जा निकलीं। जुझार और उसका बेटा जगराज जंगलों में गोंडों के हाथ मारे गये। जुझार की रानी पार्वती घायल हो कर मरी। उनका बेटा उदयभान और मन्त्री श्यामदेव कैद हो कर मारे गये।

चम्पतराय नाम के सरदार ने जुझार के बेटे पृथ्वीराज को राजा घोषित कर युद्ध जारी रक्खा। पृथ्वीराज को मुगलों ने कैद कर लिया, तब भी चम्पत जंगलों में भाग कर लड़ता रहा। जुझार के भाई पहाड़सिंह ने मुगलों की सेवा में जा कर चम्पत और उसके बन्धुओं को नष्ट करने का वचन दिया। उससे लड़ना उचित न जान चम्पत ने सन्धि की (१६४२ ई०)। उसके बाद भी पहाड़सिंह ने उसे विष दे कर मारना चाहा, पर चम्पत के एक मित्र ने उसका प्याला बदल कर स्वयं पी लिया। तब चम्पतराय ने अपनी माँ की सलाह से शाहजहाँ के बड़े बेटे दाराशिकोह की नौकरी कर ली।

पंजाब में गुरु हरगोविन्द ने, जो कैद से छुट चुका था [ऊपर § ७], साम्राज्य से छह बरस मुटभेड़ जारी रक्खी (१६२८–३४ ई०)। अन्त में उसे सतलज दून में कीरतपुर के पहाड़ों में भागना पड़ा और वहीं उसकी मृत्यु हुई।

१६३७ ई० में मथुरा के जाट किसानों ने विद्रोह किया, जो शीघ्र कुचल दिया गया।

§ १४. **मुगल साम्राज्य की दक्खिन पर दाब**—शाहजहाँ ने तख्त पर बैठते ही दक्खिन की रियासतों को दबाना शुरू किया। मलिक अम्बर के बेटे फतहखाँ ने अपने अहमदनगर के निज़ामशाह को कैद कर मार डाला और दौलताबाद मुगल सम्राट् को सौंप दिया; परन्तु शाहजी भोंसले नामक सरदार ने एक नये निज़ामशाह को खड़ा कर युद्ध जारी रक्खा। १६३६ ई० में शाहजहाँ ने दक्खिन में चार सूबे—खानदेश बराड़ दौलताबाद और तेलंगाना—बनाये, तथा औरंगज़ेब को उनके शासन के लिए भेजा। वह स्वयं भी भारी फौज ले कर दौलताबाद आया। गोलकुंडा ने उससे डर कर सालाना खिराज देना स्वीकार किया। बीजापुर पर चढ़ाई की गई, तब उसने भी नाम को आधिपत्य माना। भूतपूर्व अहमदनगर रियासत के ५० परगने उसे दिये गये। शाहजी ने अपने शाह को सौंप दिया और बीजापुर राज्य की सेवा कर ली (१६३६ ई०)। १६४५ ई० तक औरंगज़ेब दक्खिन में रहा और वहाँ अच्छा बन्दोबस्त किया।

बीजापुर और गोलकुंडा उत्तर की तरफ रोके गये तो भूतपूर्व विजयनगर और उड़ीसा राज्यों के इलाके दखल करने लगे। बीजापुरी अपने सेनापति अफजलखाँ के नेतृत्व में बेदनोर सेरा और बेंगलूर को जीतते हुए कावेरी तक जा पहुँचे। गोलकुंडा वालों ने समुद्र-तट के साथ साथ उत्तर तरफ दक्खिनी उड़ीसा में शिकाकोल और चिलिका तक तथा कृष्णा के दक्खिन नल्लमलै के प्रदेशों तक अधिकार कर लिया।

§ १५. **कन्दहार बलख बदख्शाँ के युद्ध**—बीजापुर और गोलकुंडा से अधीनता मनवाने के एक बरस पीछे शाहजहाँ ने कन्दहार के ईरानी हाकिम से षड्यंत्र कर उसे भी ले लिया (१६३८ ई०)। हिन्दकोह के उस पार बलख और बदख्शाँ के सूबे बुखारा के उज़बक सुल्तान के अधीन थे। बुखारा

सल्तनत की अव्यवस्था से लाभ उठा कर उन्हें भी हिन्दुस्तान की फौजों ने जीत लिया, पर वहाँ उनका अधिकार केवल दो बरस (१६४६-४७ ई०) रह पाया। कन्दहार को भी शाह अब्बास २य ने वापिस ले लिया (१६४८ ई०), क्योंकि शाहजहाँ अपनी घिरी हुई फौज के पास वक्त पर कुमुक न भेज सका। इसके बाद १६५३ ई० तक उसने तीन बार कन्दहार वापिस लेने का जतन किया, तीनों बार बेकार। इस विफलता का मुख्य कारण था हिन्दुस्तानी तोपचियों का निकम्मापन। तीन युद्धों की हारों से हिन्दुस्तानियों पर ईरानियों की धाक बैठ गई और आगे एक सदी तक ईरानी हौआ हिन्दुस्तानी शासकों के दिमाग पर मँडराता रहा।

§१६. शाहजहाँ के प्रशासन में पुर्तगाली ओलन्देज़ और अंग्रेज़—बंगाल में पुर्तगालियों की करतूतों का हाल कहा जा चुका है। उन्होंने अपनी हुगली की कोठी की किलाबन्दी कर ली और सम्राट् के आज्ञा देने पर भी उसे नहीं ढाया। तब १६३१ ई० में शाहजहाँ की फौज ने उस किले पर चढ़ाई की। पुर्तगालियों के दस हजार आदमी मारे गये, ४-५ हजार कैद हुए। उनके युरोपी शत्रु ओलन्देज़ों ने १६५८ ई० तक उनसे समूचा सिंहल और आशा अन्तरीप की बस्तियाँ भी छीन लीं। शाहजहाँ के प्रशासन में अंग्रेज़ों ने पूरबी तट पर भी बसना शुरू किया, मसुलीपट्टम् बालेश्वर और हुगली में कोठियाँ बनाईं, और चन्द्रगिरि के राजा से मद्रास का स्थान पा कर पहलेपहल वहाँ किलाबन्दी की (१६३६ ई०)। इसी काल में पुर्तगाल स्पेन से स्वतन्त्र हो गया (१६४० ई०), और तब से पुर्तगाल की नीति इंग्लैंड से मैत्री रखने की रही। हुगली के अंग्रेजों ने बंगाल के सूबेदार शाहजादा शुजा से विशेष सुविधाएँ प्राप्त कीं। ३०००) वार्षिक एकमुश्त दे कर उन्हें बंगाल में बिना चुंगी व्यापार करने की इजाज़त मिल गई। वे शोरा खांड और रेशम बिहार बंगाल से बाहर ले जाते, और बदले में सोना-चाँदी लाते, जो तब दक्खिनी अमरीका की खानों से आ रहा था। फ्रांसीसियों ने भी १६४२ ई० में सूरत में अपनी कोठी खोली।

उधर इन राष्ट्रों के लुटेरों ने भारतीय समुद्र में डकैती भी शुरू की। जहाँगीर के प्रशासन में भी ऐसी एक घटना हुई थी। सन् १६३५ और १६३८ ई० में इंग्लैंड के राजा से परवाना पाये हुए जहाज़ों ने वैसी हरकतें कीं।

मुगल सरकार ने इसपर सूरत के सब अंग्रेज़ों को कैद कर लिया और भारी हरजाना ले कर छोड़ा।

§ १७. **शिवाजी का उदय**—जिस साल जहाँगीर की मृत्यु हुई, उसी साल शाहजी भोंसले की पत्नी जीजाबाई ने जुन्नर के पास शिवनेरी गढ़ में शिवाजी को जन्म दिया था। शाहजी जब बीजापुर की सेवा में कर्णाटक और तमिळनाड में लड़ता था, तब शिवाजी उसकी पूने की जागीर में जीजाबाई से ऊँचे आदर्शों की शिक्षा पाता था। उस शिक्षा से उसके हृदय में स्वतन्त्र होने की अदम्य प्रेरणा जाग उठी।

उन्नीस बरस की आयु से वह अपनी उमंगों को चरितार्थ करने लगा। तीन गढ़ उसकी जागीर में थे। १६४६ ई० से उसने दूसरे बीजापुरी गढ़ छीन कर कोंकण जीतना शुरू किया। सह्याद्रि की मावलों (दूनों) और कोंकण को उसने अपना आधार बनाया। बीजापुर दरबार ने इसपर शाहजी को कैद कर लिया (१६४८ ई०) और एक बरस बाद इस शर्त पर छोड़ा कि शिवाजी शान्त रहे। यों छह बरस तक शिवाजी को चुप बैठना पड़ा। इस बीच उसने अपने राज्य और सेना का संघटन किया।

§ १८. **तमिळनाड के लिए संघर्ष**—इधर इस बीच मुगल साम्राज्य के दक्खिन के सूबे अव्यवस्थित थे तथा बीजापुर और गोलकुंडा का दक्खिन फैलना जारी था। गोलकुंडा वाले कृष्णा से उत्तरी पैण्णार तक जीत कर चन्द्रगिरि राज्य की उत्तरी सीमा पर जा पहुँचे। बीजापुर वाले कावेरी की दून से तमिळ तट में उतरे, और जिंजी का गढ़ जीत कर दक्खिन से चन्द्रगिरि को दबाने लगे। तब चन्द्रगिरि के राजा ने शाहजहाँ से शरण माँगी।

मीर जुमला नामक ईरानी सौदागर अब्दुल्ला कुतुबशाह का मन्त्री बन गया था। तमिळ मैदान को जीतने में उसने विशेष भाग लिया और अब वहाँ खुदमुख्तार बन बैठा। बीजापुर और गोलकुंडा ने मिल कर उसपर चढ़ाई करना तय किया। तब मीर जुमला ने भी शाहजहाँ से शरण माँगी।

इस प्रकार तमिळनाड के उपजाऊ मैदान के लिए तीन शक्तियों में स्पर्द्धा पैदा हुई। बाद में तट की तीन नई शक्तियाँ—शिवाजी फ्रांसीसी और

अंग्रेज़—भी इस छीनाझपटी में कूद पड़ीं। इस मैदान की डेढ़ सौ बरस की यह पेचीदा कशमकश भारतीय इतिहास में भाग्यनिर्णायक हुई। यह तमिळ मैदान पहले विजयनगर या चन्द्रगिरि के कर्णाटकी राजाओं के अधीन था, इस कारण इस युग में बाहर के लोग इसे कर्णाटक कहने लगे थे। अंग्रेज़ी की अन्धी नकल से वह गलती आज भी जारी है।

औरंगज़ेब कन्दहार से सीधा दक्खिन के शासन पर भेजा गया (१६५३ ई०)। उसके आने से दक्खिन के मुगल सूबों में फिर सुव्यवस्था आ गई। उसने गोलकुंडा पर एकदम चढ़ाई कर उसे घेर लिया और भारी हरजाना ले कर सन्धि की (१६५६ ई०)। मीर जुमला शाहजहाँ की सेवा में आया, और उसकी तमिळ जागीर भी मुगल साम्राज्य के अन्तर्गत हुई। उसी बरस मुहम्मद आदिलशाह की मृत्यु होने से बीजापुर में गोलमाल होने लगा। औरंगज़ेब जब गोलकुंडा घेरे हुए था, तभी शिवाजी ने रत्नागिरि तक सब कोंकण जीत लिया था। औरंगज़ेब ने अब बीजापुर पर चढ़ाई की (१६५७ ई०) तो शिवाजी ने बीजापुर से सहयोग कर मुगलों के जुन्नर गढ़ में एकाएक घुस कर उसे लूट लिया, और अहमदनगर तक धावे मारते हुए उत्तरी रास्ते बन्द कर दिये। औरंगज़ेब बीजापुर तक न बढ़ सका और सीमान्त के गढ़—बिदर कल्याण परेन्दा—ले कर सन्धि कर ली। उस सन्धि से उत्तरी कोंकण, जो शिवाजी की जागीर था, मुगल साम्राज्य के हिस्से में आ गया। इसी काल शाहजहाँ की बीमारी की खबर आई और औरंगज़ेब उत्तर को बढ़ा। मीर जुमला को दक्खिन में छोड़ते हुए उसने उसे सावधान किया कि "एक कुत्ते का बच्चा मौके की ताक में है।"

§ १९. **मुगल साम्राज्य का वैभव**—शाहजहाँ के प्रशासन में मुगल साम्राज्य का वैभव खूब चमका। उसे देख कर विदेशी चकित होते थे। शाहजहाँ ने तख्त-ताउस (मोर चौकी) और ताजमहल बनवाये। ताजमहल में उसने अपनी सुन्दरी और साध्वी स्त्री मुमताजमहल की स्मृति अमर की। उसकी अन्य रचनाओं में आगरे के किले की मोती मसजिद तथा आधुनिक दिल्ली शहर उर्फ़ शाहजहाँनाबाद प्रसिद्ध हैं।

मुगल साम्राज्य के जागीरदार और मनसबदार भी बड़े समृद्ध थे। मनसबदारों को बड़ी तनखाहें मिलती थीं, किन्तु उनकी मृत्यु के बाद उनकी सब सम्पत्ति का वारिस बादशाह होता था, इससे वे अपनी कमाई खुले हाथों खर्चते थे। बादशाह और उनकी ऐयाशी के कारण प्रजा का धन फिर प्रजा के पास लौट आता था। देश के कारीगर उससे लाभ उठाते थे। बादशाह और प्रान्तीय सूबेदारों के अनेक कारखाने देश के कारीगरों का बड़ा सहारा थे। बादशाह को प्रजा के सुख-दुःख का ध्यान रहता था। १६३०-३१ ई० में गुजरात खानदेश और दक्खिन में दुर्भिक्ष पड़ा। शाहजहाँ ने तब उन प्रान्तों के लगान में बहुत सी छूट कर दी और अनाज मुफ्त बँटवाया।



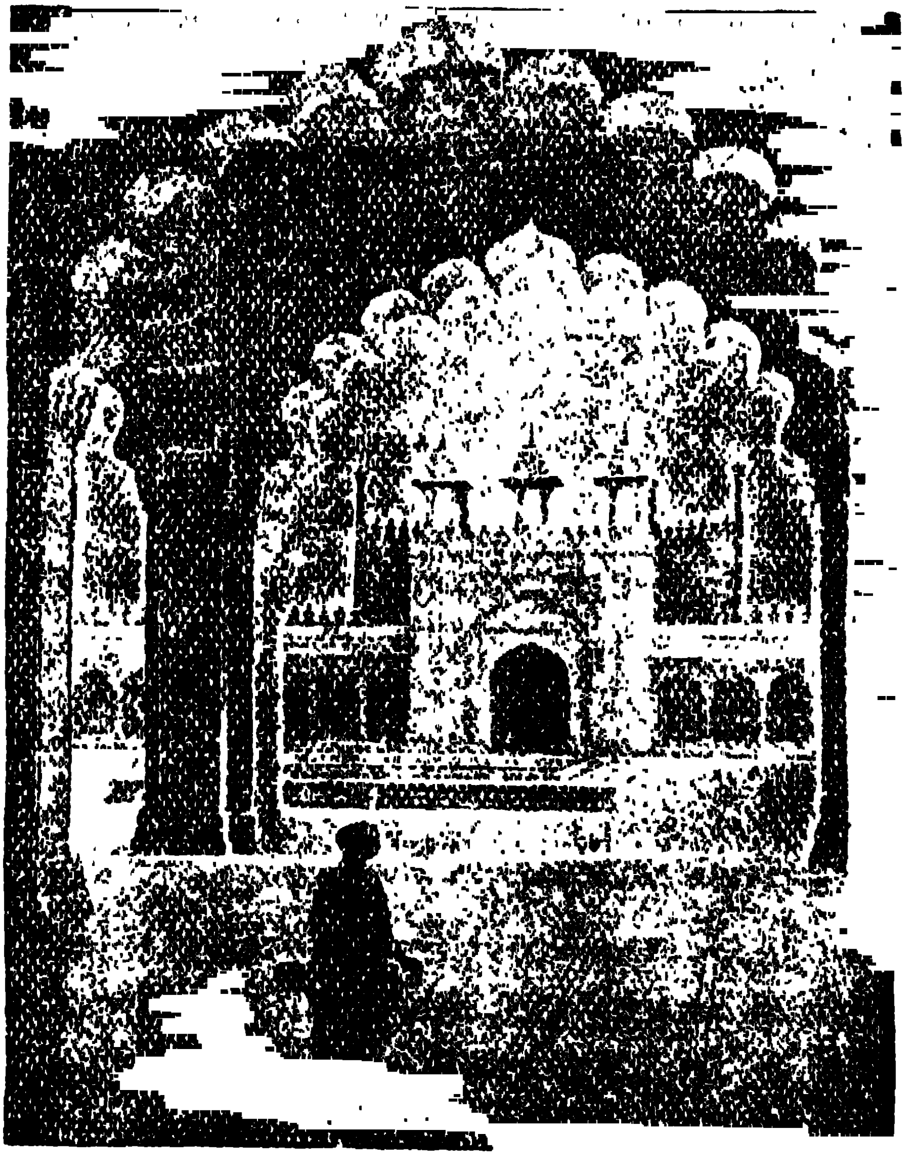
शाहजहाँ तख्त-ताउस पर—समकालीन चित्र
[रॉथशील्ड-संग्रह, पेरिस; पर्सी ब्रौन के ग्रन्थ से]

देश की कारीगरी का उल्लेख करते हुए यह याद रखना चाहिए कि युरोपी राष्ट्रों से भारतीय अब ज्ञानक्षेत्र में पिछड़ रहे थे। जहाजरानी और सामुद्रिक व्यापार में, भूमंडल के ज्ञान में तथा तोपें बनाने और चलाने की कला में युरोपी राष्ट्र अब भारतीयों से आगे बढ़ गये थे। गोवा में पुर्तगाली पुस्तकें छापते थे, पर भारतीयों को कभी उनसे वह शिल्प सीखने की न सूझी।

पच्छिम से कुछ नये व्यसन और रोग भी इस युग में आये। सन्

१६०५ में बीजापुर में पहलेपहल पुर्तगाली तमाखू लाये, जिसको युरोप वालों ने अमरीका में पाया था। १६१६ ई० में पंजाब में और १६१८-१६ ई० में दिल्ली आगरा में महामारी या प्लेग पच्छिम से आई।

स्थापत्य चित्रकला, संगीत और साहित्य के लिए यह समृद्धि का युग था तो भी इस युग के देशी भाषाओं के साहित्य में काव्य के अतिरिक्त कुछ न था, और काव्य भी भक्तों के उद्‌गारों के सिवाय प्रायः सब कृत्रिम शैली के थे। हिन्दी कवि बिहारी (१६०२-६३ ई०) की 'सतसई' में मुगल वैभव युग की ऐयाशी का पूरा प्रतिबिम्ब है। इस युग के भक्त कवियों में श्रेष्ठ थे महाराष्ट्र के तुकाराम (१६०७-४६ ई०) और समर्थ रामदास (१६०८-८१ ई०)। तुकाराम के कीर्तनों में शिवाजी शामिल होता था और रामदास तो शिवाजी का गुरु ही था। पर भक्तों सन्तों की वाणियाँ हृदय को भले ही उठातीं, ज्ञानचक्षुओं को न जगाती थीं।



मोती मस्जिद, आगरा

भारतीय राज्यों के इतिहास सब फारसी में ही लिखे जाते रहे। असम

के बुरंजी नामक इतिहास-ग्रन्थ [८,८§७] अब असमिया में लिखे जाने लगे। उनकी शैली जानदार है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. अकबर की चलाई शासनपद्धति का संक्षेप से विवरण दीजिए।

२. मनसबदार का क्या अर्थ है? मनसबदार-पद्धति क्या थी?

३. अकबर के साम्राज्य में कौन कौन से सूबे थे? शाहजहाँ के काल तक और कौन से सूबे बने?

४. अकबर की धर्मसम्बन्धी नीति क्या थी? उसे उसने कैसे चरितार्थ किया?

५. अकबर और उसके वंशजों की अपने साम्राज्य को किन दिशाओं में बढ़ाने की आकांक्षा बनी रही? १५७६ ई० से १६५७ ई० तक मुगल साम्राज्य की सीमाओं में घट-बढ़ किस प्रकार हुई?

६. चित्रकला की राजपूत कलम और मुगल कलम का विकास कब कैसे हुआ? उनकी विशेषताएँ क्या हैं?

७. अकबर काल तक के सिक्ख गुरुओं का चरित संक्षेप से लिखिए।

८. जहाँगीर और शाहजहाँ के प्रशासन में दक्खिनी और पूरबी बंगाल की जनता को क्या चिन्ता रहती थी? क्यों?

९. निम्नलिखित का परिचय दीजिए (१) तुलसीदास (२) रहीम (३) राणा अमरसिंह (४) चम्पतराय (५) मलिक अम्बर (६) जुझारसिंह (७) गुरु हरगोविन्द (८) शाहजी भोंसले (९) फतहपुर सीकरी (१०) चन्द्रगिरि (११) मीर जुमला (१२) समर्थ रामदास।

१०. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए (१) जहाँगीर-शाहजहाँ के प्रशासन में कन्दहार की लड़ाइयाँ (२) भारतीय समुद्र में पच्छिम युरोपी लोगों का प्रभाव स्थापित होना (३) शिवाजी का पहला (१६५७ ई० तक का) चरित।

११. सत्रहवीं शताब्दी उत्तरार्ध में तमिळनाड पर आधिपत्य जमाने के लिए किन किन शक्तियों में किस प्रकार संघर्ष चला, स्पष्ट कीजिए।

१२. अकबर जहाँगीर और शाहजहाँ की बनवाई कौन कौन सी इमारतें प्रसिद्ध हैं? वे कहाँ कहाँ हैं?

१३. मुगल युग में भारतीय युरोपियों से किन बातों में पिछड़ गये थे?

अध्याय ५

शिवाजी और औरंगज़ेब

(१६५८–१७०७ ई०)

§१. **गद्दी के लिए भ्रातृ-युद्ध**—शाहजहाँ की बीमारी की खबर से चारों तरफ अव्यवस्था फैलने लगी। असम के अहोम राजा जयध्वज ने कामरूप और गौहाटी ले लिये। कोचबिहार के राजा प्राणनारायण ने उत्तरी बंगाल पर धावे मारे। बंगाल में शुजा ने मुकुट धारण कर बनारस पर चढ़ाई की। गुजरात में उसके भाई मुराद ने भी अपने को बादशाह घोषित कर सूरत नगर को लूट लिया। औरंगज़ेब ने नर्मदा के घाट ऐसे रोके कि उसकी तैयारी की कोई खबर उस पार न जा सके। बादशाह ने सब राजकाज दाराशिकोह को सौंप रक्खा था। दारा ने शुजा के खिलाफ अपने बेटे सुलेमानशिकोह को भेजा और मुराद के खिलाफ मारवाड़ के राजा जसवन्तसिंह को। औरंगज़ेब मुराद से मिल गया। जसवन्त के पास दोनों से लड़ने की शक्ति न थी। उज्जैन के पास धर्मट में वह हार कर भागा। सुलेमान शुजा को हरा कर मुंगेर भगा चुका था कि उसने धर्मट की हार की खबर सुनी। उसके बाद औरंगज़ेब ने चम्बल पार कर सामूगढ़ पर दारा को हराया और आगरे को घेर कर किले से जमना का रास्ता काट दिया। उसके बूढ़े बाप को पानी के लिए गिड़गिड़ाते हुए किला सौंप कर कैदी बनना पड़ा। दारा दिल्ली से पंजाब की ओर भागा। मथुरा के पास औरंगज़ेब ने मुराद को शराब पिला कर कैद कर लिया और दिल्ली में अपने को बादशाह घोषित किया। दारा का पीछा कर उसने उसे पंजाब से सिन्ध और सिन्ध से कच्छ भगा दिया।

शुजा अपने पिता को कैद से छुड़ाने को बढ़ा। दारा ने अपने मित्रों को उसकी मदद करने को लिखा। पंजाब से औरंगज़ेब शुजा के मुकाबले को लौटा। इलाहाबाद के पच्छिम खजवा पर दोनों का सामना हुआ। शुजा हार कर बंगाल की तरफ भागा। औरंगज़ेब ने मीर जुमला को उसका पीछा करने भेजा। सुलेमान ने श्रीनगर (गढ़वाल) के राजा के यहाँ शरण ली। उधर गुजरात में औरंगज़ेब

के ससुर शाहनवाज़ ने दारा को शरण दी और जसवन्तसिंह ने उसे अजमेर आने को कहा। खजवा से औरंगज़ेब उधर लौटा। अजमेर के पास दोराई में लड़ाई हुई, जहाँ शाहनवाज़ मारा गया और दारा फिर हार कर भागा। राजा जयसिंह कछवाहा उसके पीछे भेजा गया। दर्रा बोलान के पास एक पठान ने दारा को पकड़ा दिया। सुलेमान की खातिर गढ़वाल के राजा पृथ्वीसिंह पर चढ़ाई की गई, पर बेकार। तब जयसिंह ने पृथ्वीसिंह के बेटे को रिश्वत दे कर सुलेमान को पकड़वा लिया। शुजा को अराकान भागना पड़ा, जहाँ उसका अन्त हुआ। औरंगज़ेब का बेटा मुहम्मद सुलतान शुजा से मिल गया था; वह पकड़ा गया और अपने बाप की कैद में मरा। दारा मुराद और सुलेमान भी मारे गये।

§ २. **चम्पतराय का बलिदान**—औरंगज़ेब आलमगीर नाम से गद्दी पर बैठा और उसने उन प्रान्तों में शान्ति स्थापित को जिनमें भ्रातृ-युद्ध के वक्त अव्यवस्था मच गई थी। मथुरा के पास जाट किसानों के नेता नन्दराम ने लगान देना बन्द कर दिया था। उसे अब दबना पड़ा। चम्पतराय बुन्देले [६,४ § १३] ने मालवे के रास्ते रोक लिये थे। उसके खिलाफ दतिया और ओरछा के बुन्देले राजा भेजे गये। वीरता से लड़ते हुए और अनेक विपत्तियाँ झेलते हुए चम्पत और उसकी स्त्री कालीकुमारी ने मालवे में प्राण दिये (१६-६१ ई०)। उनका बेटा छत्रसाल बच कर भाग गया। सिक्ख गुरु हरगोविन्द [६,४ §§ ७, १३] के पोते हरराय ने दारा की मदद की थी। उसे सफाई देने को बुलाया गया; उसने अपने बेटे रामराय को भेजा। रामराय ने दरबार में चापलूसी से काम लिया, तब हरराय ने अपनी मृत्यु से पहले छोटे बेटे को उत्तराधिकारी बनाया। वह बालक दिल्ली बुलाया गया और वहीं चेचक की बीमारी से मर गया। तब हरराय का चचा अर्थात् हरगोविन्द का दूसरा बेटा तेगबहादुर सिक्खों का गुरु बना (१६६४ ई०)।

§ ३. **शिवाजी के खिलाफ अफजलखाँ और शाइस्ताखाँ**—औरंगज़ेब के लौट जाने पर बीजापुर सरकार ने शिवाजी को कुचलने का निश्चय किया। सेनापति अफजलखाँ बड़ी सेना के साथ पच्छिम भेजा गया। उसने शिवाजी को अपने पास हाज़िर होने का हुक्म भेजा। शिवाजी के मन्त्रियों ने

अधीनता मानने की सलाह दी, पर जीजाबाई ने वह सलाह न मानी। प्रतापगढ़ के पहाड़ी गढ़ के नीचे दोनों का मिलना तय हुआ। अफजल ने शिवाजी को छाती लगाते हुए उसका गला घोंट कर छुरी मारनी चाही, तब शिवाजी ने अपने हाथ और आस्तीन में छिपाये बघनखे और बिछुए से उसका पेट फाड़ दिया (१६५६ ई०)। छिपे हुए मावलियों ने बीजापुरी फौज को तहसनहस कर दिया। तब शिवाजी ने दक्खिनी कोंकण कोल्हापुर ज़िला और पन्हाला गढ़ जीत लिये।

मीर जुमला के बाद शाइस्ताखाँ दक्खिन में मुगल सूबेदार बन कर आया था। अब उसने और बीजापुर के शाह ने मिल कर शिवाजी को दबाना तय किया। शाइस्ताखाँ और उसके साथी राजा जसवन्तसिंह ने, जो अब औरंगज़ेब की सेवा में आ गया था, उत्तरी कोंकण के अतिरिक्त शिवाजी की असल जागीर पूना भी दखल कर ली। उधर बीजापुर के अली आदिलशाह ने दक्खिनी इलाके छीन कर शिवाजी को पन्हाला गढ़ में घेरना चाहा (१६६० ई०)। शिवाजी पन्हाले से निकल गया। उसके विश्वस्त साथी बाजी प्रभु ने अपनी जान दे कर बीजापुरी फौज का रास्ता तब तक छेंके रक्खा जब तक शिवाजी विशालगढ़ न पहुँच गया। बीजापुरी पन्हाले से आगे न बढ़ सके। अब शिवाजी के पास वही थोड़ा सा इलाका बचा रह गया।

शाइस्ताखाँ और जसवन्तसिंह ने पूने में छावनी डाल दी। शिवाजी एक रात अपने चुने साथियों के साथ उस छावनी में जा घुसा, और ठीक शाइस्ताखाँ के मकान में पहुँच कर मारकाट शुरू कर दी (१६६३ ई०)। शाइस्ताखाँ खिड़की से निकल भागा। इससे पहले कि उसकी सेना सँभले, शिवाजी भी निकल गया। शाइस्ताखाँ तब पूने में जसवन्तसिंह को छोड़ स्वयं औरंगाबाद चला गया। उधर बीजापुर के सुल्तान से शिवाजी ने दक्खिनी कोंकण (रत्नागिरि) और उत्तरी कनाडा तट जीत लिये।

उत्तरी कोंकण को वापिस ले कर दूसरे बरस शिवाजी ने सूरत पर चढ़ाई की (जनवरी १६६४ ई०)। वह मुगल साम्राज्य का सबसे समृद्ध बन्दरगाह था। मुगल फौज गढ़ में जा छिपी। चार दिन में एक करोड़ रुपया ले कर शिवाजी लौट गया। फिर बरसात में उसने अहमदनगर को और उसी जाड़े में

कर्णाटक के समृद्ध नगर हुबली और कारवार को लूटा।

§४. **चटगाँव का विजय**—शुजा को अराकान भगाने के बाद मीर जुमला ने कोचबिहार कामरूप और असम पर चढ़ाइयाँ कीं। वहाँ से लौट कर उसकी मृत्यु हुई (१६६३ ई०)। तब शाइस्तखाँ दक्खिन से बंगाल भेजा गया। बंगाल में उसने खूब नेकनामी कमाई। चटगाँव को जीत कर १६६६ ई० में उसने पुर्तगाली और अराकानी चांचियों† का अड्डा तोड़ दिया। सारे बंगाल में इसपर खुशियाँ मनाई गईं। आगे २१ बरस तक शाइस्ताखाँ के न्यायपूर्ण शासन में बंगाल ने मुगल साम्राज्य का पूरा वैभव देखा।

§५. **शिवाजी का कैद होना और भागना**—दक्खिन में शाइस्ताखाँ और जसवन्तसिंह की जगह शाहज़ादा मुअज्जम और जयसिंह कछवाहा को भेजा गया। जयसिंह ने शिवाजी के सब शत्रुओं को मिलाया और पूने के चारों तरफ उसके इलाके उजाड़ना शुरू किया। फिर उसने पुरन्दर गढ़ पर चढ़ाई की। शिवाजी कनाडा से लौट आया, पर पुरन्दर का घेरा न उठा सका। तब उसने जयसिंह से भेंट कर सन्धि की बात शुरू की, और अपने ३५ गढ़ों में से २३ दे कर दक्खिन में बादशाह की सेवा करना स्वीकार किया।

अब शिवाजी और जयसिंह मिल कर बीजापुर की चढ़ाई पर चले; पर वहाँ से विफल लौटे। जयसिंह की सलाह से शिवाजी ने आगरे जाना तय किया। इस बहाने उसे मुगल बादशाहत तथा उत्तर भारत की हालत अपनी आँखों देखने का मौका मिला। अपने पीछे शासनसूत्र जीजाबाई को सौंप कर वह आगरा गया। जयसिंह के बेटे रामसिंह ने उसे औरंगज़ेब के दरबार में पेश किया (१२-५-१६६६ ई०)। लेकिन दरबारियों का सा बरताव शिवाजी से न बन पड़ा। औरंगज़ेब ने उसे कैद में डाल दिया। तीन महीने पीछे मिठाई के टोकरे में अपने को छिपा कर वह उस कैद से निकल भागा, और भेस बदल कर मथुरा प्रयाग बुन्देलखंड गोंडवाने के रास्ते महाराष्ट्र पहुँचा। दूसरे वर्ष

---

† राजस्थानी गुजराती और मराठी में जलडकैत के लिए चांचिया शब्द चलता है। वह शब्द मुगल-मराठा युग का ही है। सुराष्ट्र समुद्रतट के चाँच नामक गाँव के लोग इस धन्दे में अगुआ थे। यह शब्द उस गाँव के नाम का टिकाऊ स्मारक है।

दक्खिन से लौटते हुए बुरहानपुर में जयसिंह मर गया।

शिवाजी का भागना मुगल वैभव युग के अन्त का सूचक था। पानीपत के दूसरे युद्ध के बाद से सौ बरस तक मुगल बादशाहत का गौरव बढ़ता ही गया था। मुगलों के शस्त्र तब अजेय समझे जाते थे और उनके साम्राज्य की सीमाएँ अनुल्लंघनीय। शिवाजी ने उस धाक को तोड़ दिया। औरंगज़ेब जैसे पराक्रमी प्रतिभाशाली और दृढ व्यक्ति के गद्दी पर बैठने पर यह आशा की गई थी कि साम्राज्य का वैभव और बढ़ेगा। बेशक साम्राज्य की सीमाएँ औरंगज़ेब ने बहुत बढ़ा दीं। पर उसकी आँखों के सामने ही वह साम्राज्य बोदा और दिवालिया हो गया। विरोधी शक्तियाँ अब इतनी जाग उठीं कि औरंगज़ेब भी उनसे लड़ते लड़ते चूर हो गया। एक अंश तक उसकी अपनी धर्मान्धता उन विरोधी शक्तियों को जगाने और भड़काने का कारण थी; किन्तु चम्पतराय और शिवाजी की स्वाधीनता-चेष्टा औरंगज़ेब के राज्य से पहले प्रकट हो चुकी थी।

सन् १६६६ ई० में ही कैदी शाहजहाँ का देहान्त हुआ।

§ ६. **असम का स्वतन्त्र होना**—मुगल साम्राज्य के इतिहास का यह नया पन्ना खुलते ही सीमान्तों की अशान्ति और औरंगज़ेब की हिन्दू-विरोधी नीति प्रकट हुई। शिवाजी दक्खिन पहुँच कर अपनी तैयारी में लग गया, इससे दक्खिनी सीमान्त पर फिलहाल शान्ति रही। किन्तु अहोम राजा चक्रध्वज ने धुबड़ी तक समूचा असम वापिस ले लिया (१६६७ ई०)। राजा रामसिंह कछवाहा को उसके खिलाफ भेजा गया, पर वह आठ बरस के निरन्तर युद्धों के बाद अन्त में विफल लौटा। तब साम्राज्य के अधिकारियों ने रिश्वत दे कर गौहाटी पर कब्जा कर लिया; पर राजा गदाधरसिंह ने उसे वापिस ले लिया और साथ ही कामरूप भी छीन लिया (१६८१ ई०)। यह स्थिति अन्त तक बनी रही।

§ ७. **पठानों का संघर्ष**—उत्तरपच्छिमी सीमान्त पर भी वैसी ही दशा रही। पुराने जमाने में काबुल नदी के काँठे में और उसके उत्तर पठान लोग न रहते थे। बाबर ने जब स्वात और बाजौर जीता, तभी यूसुफ़जई पठान पहले-पहल कन्दहार से स्वात काँठे में आये थे। अब वे सिन्ध पार कर पखली (आजकल का हजारा जिला) दखल करने लगे। इस प्रवास के सिलसिले में

उन्होंने काबुल पेशावर और अटक में लूट मचा दी। तीन बरस की चढ़ाइयों के बाद मुगल सरकार उन्हें सिन्ध के पूरब से निकाल सकी। उसी प्रसंग में राजा जसवन्तसिंह को जमरूद का थानेदार नियत किया गया।

किन्तु पठानों और मुगलों में बाबर के काल से अस्थिवैर चला आता था। सन् १६७२ में अकमल के नेतृत्व में अफरीदी उठ खड़े हुए। उन्होंने मीर जुमला के बेटे से, जो काबुल की सूबेदारी पर जाता था, दो करोड़ रुपया लूट लिया, और खैबर का रास्ता बन्द कर दिया। खटक पठानों का नेता खुशालखाँ नामक कवि था। वह भी अकमल से जा मिला और कन्दहार से अटक तक सब पठान विद्रोह में शामिल हो गये। शाहजादा अकबर को कोहाट के रास्ते काबुल भेजा गया। आगरखाँ तुर्क और जसवन्तसिंह को कई घमासान लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं। औरंगज़ेब स्वयं हसन-अब्दाल (रावलपिंडी और अटक के बीच) तक आया। पाँच वर्ष बाद पठानों को घूँस दे कर खैबर का रास्ता खुलवाया गया। तब अमीरखाँ को काबुल की सूबेदारी दी गई। वह पठान फिरकों को एक दूसरे के खिलाफ उभाड़ने में सिद्धहस्त था। इस नीति से उसने २१ वर्ष तक शासन किया (१६७७–९८ ई०)। इस बीच अकमल मर गया और खुशाल को उसके बेटे ही ने पकड़वा दिया (१६९० ई०)।

§८. **शिवाजी की शासन-व्यवस्था**—शिवाजी ने तीन वर्ष मुगलों से शान्ति रक्खी। शाहजादा मुअज्जम अब दक्खिन का सूबेदार था। शिवाजी ने अपने बेटे सम्भाजी और सेनापति प्रतापराव गूजर को उसके दरबार में रक्खा। साथ ही इस बीच उसने एक बार पुर्तगालियों से गोवा छीनने की विफल चेष्टा की तथा अपने 'स्वराज्य' का सुप्रबन्ध करने पर ध्यान लगाया। उसकी शासन व्यवस्था में निम्नलिखित विशेषताएँ थीं—

(१) लगान बसूलने वाले ठेकेदारों को हटा कर उसने कृषकों के साथ राज्य का सीधा सम्बन्ध कर दिया।

(२) सैनिक और मुल्की कर्मचारियों का कार्य बहुत अंश तक अलग अलग कर दिया और कर की बसूली तथा देश-प्रबन्ध मुल्की कर्मचारियों को सौंप दिया।

(३) कर्मचारियों को जागीर के बजाय नकद वेतन देने का प्रबन्ध किया।

(४) अष्ट प्रधान नाम की मन्त्रियों की समिति स्थापित की। इसका काम राजा को परामर्श देना था तथा इसका मुखिया पेशवा कहलाता था।

(५) सुनियन्त्रित सेना और गढ़ों की सुशृंखल व्यवस्था की।

(६) अपने शासन में उदार धार्मिक नीति से काम लिया। लूट के वक्त भी शिवाजी की सेना को सख्त ताकीद रहती कि बच्चों और स्त्रियों को कभी न पकड़ें, और मन्दिरों मस्जिदों तथा धर्मपुस्तकों को कभी न बिगाड़ें।

(७) "स्वराज्य" के बाहर दक्खिन के "मुगलाई" इलाकों से "चौथ" और "सरदेशमुखी" तलब की। चौथ अर्थात् मालगुजारी की चौथाई माँगने में उसकी यह युक्ति होती थी कि "तुम्हारे बादशाह ने मुझे अपने राष्ट्र की रक्षा के लिए सेना रखने को बाधित किया है। उसका खर्चा तुम्हें देना होगा।" चौथ न देने वालों को लूटा जाता, देने वालों की रक्षा का भार लिया जाता। वह एक किस्म का खिराज था। जमीन के ज़मींदार देशमुख या वतनदार का मालगुजारी में १०% हिस्सा सरदेशमुखी कहलाता था। यह लगान वसूल करने की जिम्मेदारी के बदले में था। इस प्रकार शिवाजी का दावा था कि वह सारे दक्खिन की मालगुजारी स्वयं वसूल करेगा और उसकी रक्षा का जिम्मा अपने ऊपर लेगा।

§ ९. **औरंगज़ेब की धर्मान्ध नीति**—औरंगज़ेब अपनी धर्मान्धता का प्रमाण पहले ही दे चुका था। प्रसिद्ध सन्त मियाँमीर के शिष्य शाह-मुहम्मद को बुला कर उसने डाँटा, तथा सरमद नामक सूफी को फाँसी दी थी। अब उसकी नीति उग्र रूप में प्रकट हुई। बिक्री के माल पर २½% चुंगी लगती थी। हिन्दुओं पर उसने वह चुंगी ५% कर दी। बाद में मुसलमानों के माल पर से महसूल बिलकुल उठा दिया। मुसलमान बनने वालों को सरकारी ओहदे तरक्की कैद की माफी आदि रूप में भी रिश्वत देना शुरू किया। दिल्ली और अन्य बड़े शहरों में संगीत बन्द करा दिया। शहरों में होली दिवाली और मुहर्रम के जुलूस निकालना तथा स्त्रियों का कब्रें पूजना रोका। 'काफिरों' के मन्दिर और विद्यालय ढाने का हुक्म निकाला (१६६९ ई०)। उसके बाद सब हिन्दू पेशकारों और

दीवानों को राजकीय सेवा से निकालने का हुक्म दिया; पर पीछे आधे पद हिन्दुओं को देने पड़े। मूर्तिपूजा रोकने का फरमान निकाला। अन्त में औरंगज़ेब ने गैर-मुस्लिमों पर फिर से जज़िया लगा दिया (१६७६ ई०)। जज़िया मुंड-कर था, इसलिए गरीबों पर उसका बोझ अधिक पड़ता था।

§ १०. गोकला जाट सतनामी और तेगबहादुर—औरंगज़ेब के हुक्म से मथुरा में मन्दिर तोड़े गये तो गोकला जाट के नेतृत्व में वहाँ के किसान बिगड़ उठे (१६६६ ई०)। मथुरा का फ़ौजदार उनसे लड़ता हुआ मारा गया। दोआब और आगरे तक बलवा फैल गया, जिसे दबाने के लिए बादशाह को स्वयं जाना पड़ा। अन्त में तोपों के मुकाबले में जाट हारे। गोकला कैद हुआ और मारा गया।

उज्जैन में जो शाही कर्मचारी मन्दिर तोड़ने गये उन्हें प्रजा ने मार डाला। ओरछा में उन्हें बुन्देलों ने मार भगाया। दिल्ली के पच्छिम नारनौल जिला सतनामी पन्थ का केन्द्र था। वह पन्थ राजपूत बनिये इत्यादि सभी जातों के मिश्रण से बना था। १६७२ ई० में सतनामी विद्रोह कर दिल्ली के पास तक जा पहुँचे। अन्त में तोपों और बड़ी सेना के मुकाबले में वे परास्त हुए।

तेगबहादुर सिक्खों का गुरु बना [ऊपर § २] तो औरंगज़ेब ने उसे दिल्ली बुलाया। वहाँ से राजा रामसिंह उसे असम ले गया। असम से लौट कर गुरु ने पंजाब में फिर छेड़छाड़ शुरू कर दी और कश्मीर के हिन्दुओं को उत्साहित किया कि मुसलमान न बनें। बादशाह ने तेगबहादुर को दिल्ली बुला कर मुसलमान होने या सिर देने को कहा। तेगबहादुर ने सिर दे दिया (१६७५ ई०)। दिल्ली का सीसगंज गुरद्वारा उस घटना का स्मारक है।

§ ११. शिवाजी का अभिषेक—सन् १६७० से शिवाजी ने फिर युद्ध छेड़ दिया। पुरन्दर की सन्धि के अनुसार जो गढ़ उसने मुगलों को दे दिये थे, उन्हें एक एक करके फिर छीन लिया। उसने सूरत को फिर लूटा और बराड तथा बागलान (नासिक और सूरत के बीच के पहाड़ी प्रदेश) पर चढ़ाई कर साल्हेर का गढ़ ले लिया (१६७० ई०)। सन् १६७१ के अन्त में बहादुरखाँ को दक्खिन का सूबेदार बना कर भेजा गया। दिलेरखाँ पठान उसका सहायक

था। उन्हें कोई स्थायी सफलता न हुई। शिवाजी ने बागलान का दूसरा बड़ा गढ़ मुल्हेर भी ले लिया। उसके बाद उसने सूरत के ठीक दक्खिन का कोंकण का प्रदेश—कोलवन—और नासिक जिले का कुछ अंश भी दखल कर लिया (१६७२ ई०)। फिर बराड और तेलंगाना तक कई धावे मारे। सन् १६७२ से १६७७ तक शिवाजी मुगल इलाकों पर बराबर धावे मारता रहा। बहादुरखाँ और दिलेरखाँ ने उसे कोई नया इलाका दखल न करने दिया, पर वे उसके धावे न रोक पाते। १६७२ ई० में बीजापुर का अली आदिलशाह मर गया। तब शिवाजी ने दक्खिन बढ़ कर पन्हाला और सातारा ले लिये, तथा हुबली और कनाडा पर भी धावे मारे।

सन् १६७४ के शुरू में दिलेरखाँ ने कोंकण पर तथा बीजापुरियों ने पन्हाला और सातारा पर एक साथ चढ़ाई की, पर बेकार। तभी दिलेरखाँ को अपने पठान भाइयों से लड़ने के लिए उत्तरी सीमान्त पर बुला लिया गया। तब शिवाजी ने रायगढ़ में अपना अभिषेक कराया और वह शिव छत्रपति कहलाने लगा। अब वह विद्रोही सरदार न रह कर स्वतन्त्र राजा हो गया। अभिषेक के एक महीना पीछे उसने बहादुरखाँ की छावनी पर धावा मार कर एक करोड़ रुपया लूट लिया। दूसरे बरस बहादुरखाँ को सन्धि की बातों में बहका कर उसने बीजापुर से फोंडा (गोवा के पास) का गढ़ कोल्हापुर और कनाडा का तट (कारवार अंकोला) छीन लिये। तभी बेदनूर की रानी ने शिवाजी की अधीनता मान वार्षिक कर देना शुरू किया।

§ १२. शिवाजी की तमिळ चढ़ाई—तांजोर में शाहजी की जागीर उसके छोटे बेटे व्यंकोजी को मिली थी। उसका मन्त्री रघुनाथ नारायण हनुमन्ते था। हनुमन्ते व्यंकोजी को छोड़ कर शिवाजी की तरफ चला आया, और रास्ते में गोलकुंडा के वजीर मदन्न पण्डित से मिला। उनकी योजना के अनुसार कुतुबशाह ने मुगलों के बजाय शिवाजी को एक लाख होन (सोने के सिक्का) वार्षिक कर देना कबूल करके गोलकुंडा की रक्षा का भार सौंप दिया (१६७६ ई०)। शिवाजी का दूत प्रह्लाद नीराजी गोलकुंडा में रक्खा गया।

बहादुरखाँ अब बीजापुर को दबाने में लगा था, और शिवाजी को भी



शिवाजी

मीर मुहम्मद कृत १६८६ ई० से पहले का चित्र जो अब पैरिस के राष्ट्रीय पुस्तकालय में है।

दूर जाना था, इसलिए दोनों ने समझौता कर लिया। महाराष्ट्र का राज्य-कार्य पेशवा मोरो पिंगले को सौंप कर सन् १६७७ के शुरू में शिवाजी ने रायगढ़ से सीधे हैदराबाद की ओर प्रस्थान किया। वहाँ उसका खूब स्वागत किया गया। कुतुबशाह ने पाँच हज़ार सेना तोपखाना तथा चढ़ाई का तमाम खर्चा दे कर



सेनापति अक्कन्न—समकालीन ओलन्देज़ चित्र [भा० पु० वि०]

उसे विदाई दी। कृष्णा और पैरणार नदियाँ पार कर शिवाजी ने तमिळनाड पर चढ़ाई की और वेल्लूर से तांजोर की सीमा तक सब देश जीत कर महाराष्ट्र के अपने नये ढंग पर उसका फौजी और माली बन्दोबस्त किया। हनुमन्ते के हाथ में उसका प्रबन्ध छोड़ वह कर्णाटक पठार में घुसा। वहाँ कोल्हार बेंगलूर शिरा बेल्लारि कोप्पल और धारवाड़ को अधीन करके और उनका एक प्रान्त बना कर वह पन्हाला लौट आया (१६७८ ई०)। उसके बाद उसने पन्हाला से

तुंगभद्रा तक बीजापुर का इलाका जीत कर अपने कन्नड और तमिळ इलाकों को महाराष्ट्र से जोड़ दिया।

इस बीच दिलेरखाँ दक्खिन लौट आया था। शिवाजी को मदद देने के दंड में उसने कुतुबशाह से एक करोड़ रुपया तलब किया, जिससे दोनों में युद्ध छिड़ा। वजीर मदन्न के भाई गोलकुंडा के सेनापति अक्कन्न ने दिलेरखाँ को हरा दिया। शिवाजी ने अपने नये जीते प्रदेशों में से कुतुबशाह को कुछ भी न दिया। इससे कुतुबशाह ने उससे लड़ना चाहा, पर वह कुछ न कर सका।

शिवाजी का बड़ा बेटा सम्भाजी दुश्चरित्र था। उसके एक अपराध के कारण उसे पन्हाला में नज़रबन्द किया गया था। वह भाग कर दिलेरखाँ से जा मिला! किन्तु कुछ काल बाद वह ऊब कर वापिस आ गया।

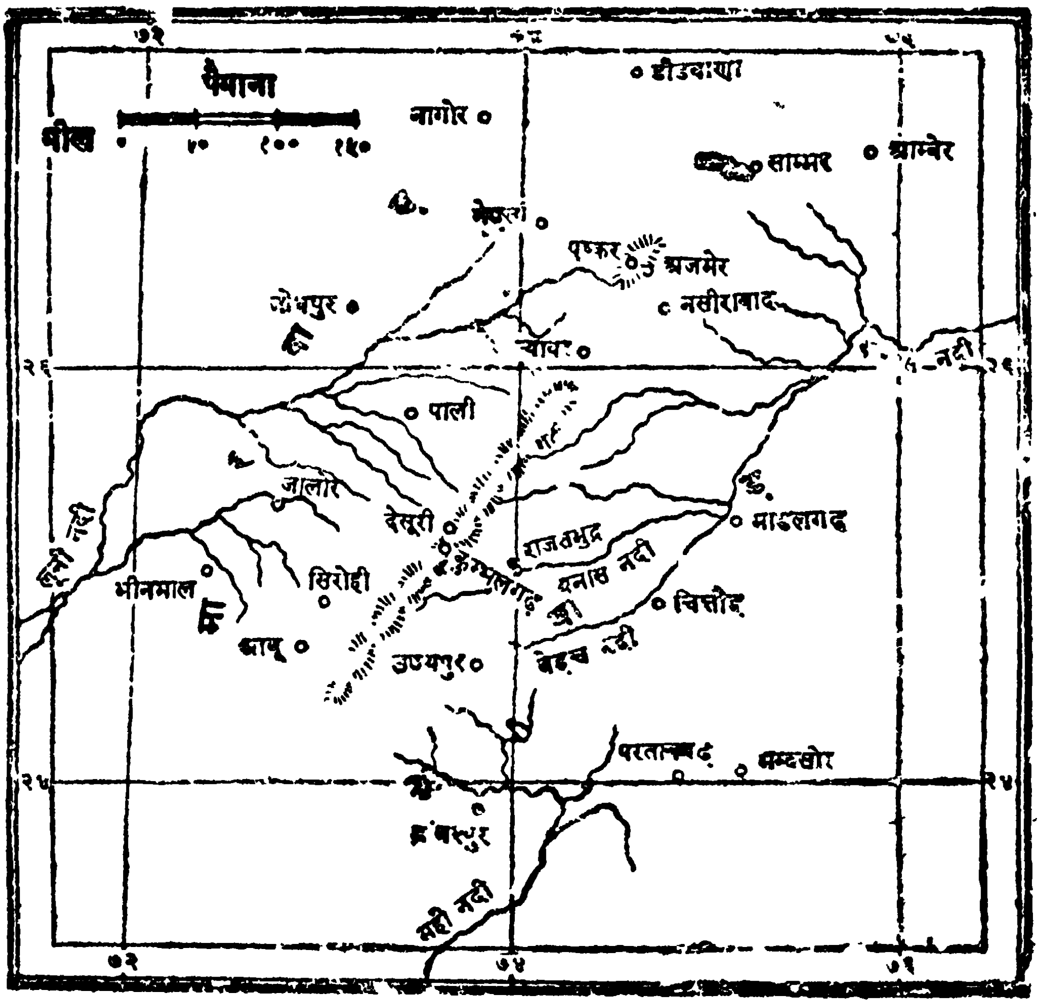
औरंगज़ेब ने जब जज़िया लगाया तब शिवाजी ने एक पत्र में उसका प्रतिवाद करते हुए उसे लिखा कि ऐसी असहिष्णुता की नीति से अकबर का स्थापित किया साम्राज्य नष्ट कर लोगे। दूसरे वर्ष कुछ दिन की बीमारी के बाद एकाएक शिवाजी का देहान्त हो गया (५-४-१६८० ई०)।

§ १३. छत्रसाल का उदय—अपने माता-पिता की मृत्यु पर छत्रसाल बुन्देला [ऊपर § २] केवल ग्यारह बरस का था। अपने देश में तब उसे कोई शरण न देता था। उस दशा में उसने राजा जयसिंह की सेवा स्वीकार कर ली थी। जयसिंह के साथ वह पुरन्दर और बीजापुर गया, और फिर दिलेरखाँ के साथ गोंडवाने की चढ़ाई में। वहाँ से वह एक दिन अपनी स्त्री कमलावती के साथ खिसक गया और महाराष्ट्र पहुँच कर शिवाजी से मिला (१६७१ ई०)। शिवाजी ने उसे अपने देश में जा कर सिर उठाने की सलाह दी। छत्रसाल तब दतिया के राजा शुभकर्ण बुन्देले से मिला, जो मुगलों की तरफ से दक्खिन में लड़ रहा था। छत्रसाल के राष्ट्रीय विद्रोह के प्रस्ताव को शुभकर्ण ने पागलपन कहा और उसे अच्छा मनसब दिलाना चाहा। छत्रसाल ने वह मंजूर न किया। ५ सवारों और २५ पियादों की अपनी सेना लिये वह बुन्देलखंड पहुँचा, और पूरबी बुन्देलखंड को आधार बना कर धामुनी ज़िले पर धावे मारने लगा। वहाँ के कई फौजदारों को उसने बारी बारी से हराया।

§१४. राजस्थान का युद्ध—१६७८ ई० के अन्त में राजा जसवन्तसिंह जमरूद में ही चल बसा। उसकी कोई सन्तान न थी। औरंगज़ेब ने मारवाड़ राज्य को जब्त करना तय कर तुरन्त शाही फौजदार भेज दिये और स्वयं बड़ी फौज के साथ अजमेर पहुँच गया। उधर जसवन्त की विधवा ने लाहौर में पुत्र जना जिसका नाम अजित रक्खा गया। दुर्गादास राठोड राजपरिवार को दिल्ली ले आया। मारवाड़ से औरंगज़ेब जिस दिन दिल्ली पहुँचा (२-४-१६७९ ई०), उसी दिन उसने सारे साम्राज्य में जज़िया लगा दिया। उसने दुर्गादास से अजित को तलब किया और कहा कि वह मुसलमान हो जाय तो राज्य पाय। मुट्ठी भर साथियों के साथ दुर्गादास रानियों और बालक को ले कर निकल भागा। मुगल फौज ने तब मारवाड़ पर चढ़ाई की। बादशाह ने खुद अजमेर में डेरा जमाया। पुष्कर घाटी की लड़ाई में राजपूतों का भारी संहार हुआ। मारवाड़ के मैदान पर शाही फौज ने कब्जा कर लिया। राजपूतों ने पहाड़ों जंगलों में शरण ली।

मेवाड़ के राणा राजसिंह ने अजित का पक्ष लिया। तब औरंगज़ेब ने उदयपुर पर भी चढ़ाई की। राणा पहाड़ों में और अन्दर चला गया। शाही फौज ने चित्तौड़ को आधार बनाया। राजसिंह का आधार आडावळा की चोटी पर कुम्भलगढ़ था। उसके पच्छिम मारवाड़ में और पूरब मेवाड़ में दोनों तरफ मुगल फौजें थीं। औरंगज़ेब ने तीन तरफ से राणा के केन्द्र पर चढ़ाई तय की और शाहज़ादा अकबर को मारवाड़ से देसूरी और झीलवाड़ा घाटियों द्वारा, शाहज़ादा मुअज्ज़म उर्फ शाहआलम को पूरब से राजसमुद्र के रास्ते, तथा शाहज़ादा आज़म को दक्खिनपूरब से उदयपुर के रास्ते कुम्भलगढ़ पहुँचने का आदेश दिया। मुअज्ज़म और आज़म एक पग भी न बढ़ सके। अकबर ने अपने हरावल को झीलवाड़ा तक पहुँचा दिया। आठ मील आगे कुम्भलगढ़ था। राजसिंह और दुर्गादास ने तब अकबर को फोड़ लिया। उन्होंने उसे समझाया कि तुम्हारा बाप अपनी धर्मान्धता से साम्राज्य को नष्ट किये डालता है, तुम अपनी बपौती को बचाओ। बात पक्की हुई, पर तभी राजसिंह का देहान्त हो गया और एक मास शोक मनाने में टल गया!

१ जनवरी सन् १६८१ को अकबर ने अपने को बादशाह घोषित किया। चार मुल्लाओं ने औरंगज़ेब के खिलाफ फतवा दे दिया। पर एकाएक अजमेर पर टूटने के बजाय अकबर ने वहाँ तक पहुँचने में १५ दिन लगा दिये। इस बीच शाही फौजें वहाँ आ जुटी थीं। राजपूत सेना के निकट आने पर औरंगज़ेब



नक्शा—२६ राजस्थान का युद्ध १६७६–८१ ई०

ने झूठी चिट्ठी वाली वही चाल चली जिससे शेरशाह मेड़ताँ पर जीता था। गलती मालूम होने पर दुर्गादास ने अकबर को शरण दी। राजस्थान में उसे सुरक्षित न जान उसने मुगल सूबों को चीरते हुए उसे सम्भाजी के दरबार में रायगढ़ पहुँचा दिया।

इधर कुछ मास बाद राजसिंह के बेटे जयसिंह ने बादशाह से हार मान ली। जज़िये की माँग के बदले में उसने तीन परगने सौंप दिये। मारवाड़ बादशाह के कब्जे में रहा।

§ १५. **सम्भाजी**—शिवाजी की मृत्यु के बाद अष्ट प्रधान ने रायगढ़ में उसके छोटे बेटे राजाराम को राजा घोषित किया था; पर सम्भाजी ने तुरन्त रायगढ़ पर चढ़ाई कर उसे कैद में डाल दिया और उसके साथियों का दमन किया। उसने अष्ट प्रधान की परवा न की, और प्रयाग के एक कनौजिया पंडे 'कविकुलेश' को, जो मन्त्र-तन्त्र और कृत्या-अभिचार में कुशल था, अपना सलाहकार बनाया। महाराष्ट्र के लोग इस कारण उससे और भी घृणा करने लगे।

मराठों और अकबर का मेल खतरनाक था, इसलिए राजस्थान से औरंगज़ेब सीधा दक्खिन गया। उसने महाराष्ट्र के खिलाफ बीजापुर से भी मदद लेनी चाही। परन्तु बीजापुर और गोलकुंडा के शाह अब यह अनुभव करने लगे थे कि उनके राज्य यदि मुगलों के हाथ जाने से बचे हैं तो केवल मराठा राज्य की बदौलत; इसलिए उन्होंने मराठों को मदद दी।

औरंगज़ेब दक्खिन पहुँचा तो सम्भाजी जंजीरा द्वीप के सिद्दियों से लड़ने में लगा था। एक मुगल सेना ने उत्तरी कोंकण से घुस कर कल्याण का गढ़ ले लिया (१६८२ ई०)। तब सम्भाजी जंजीरा छोड़ उधर मुड़ा और मुगलों को कोंकण से निकाल कर उसने कल्याण को घेर लिया। मुगल इलाकों पर धावे मारने ही में उसने अपनी रक्षा का उपाय माना, और औरंगाबाद बिदर नान्देड और चाँदा तक धावे मारे। १६८३ ई० में मुगलों को कल्याण भी छोड़ना पड़ा। तब सम्भाजो ने कोंकण का विजय पूरा करने को अकबर के साथ गोवा पर चढ़ाई की।

किन्तु मुगलों ने युद्ध बन्द न किया था। शाहआलम एक फौज ले कर दक्खिनी कोंकण में घुसा, तब गोवा सम्भाजी के हाथ जाते जाते बच गया (१६८४ ई०)। उत्तरी कोंकण में भी एक मुगल फौज घुस आई। इन दोनों फौजों को कोंकण से निकाल कर सम्भाजी विलास में डूब गया।

§ १६. **बीजापुर गोलकुंडा का पतन**—औरंगज़ेब ने अब यह समझ लिया था कि महाराष्ट्र का दमन करने के लिए बीजापुर और गोलकुंडा को लेना आवश्यक है। इसलिए बीजापुर पर चढ़ाई कर घेरा डाला। मदन

पंडित ने बीजापुर को मदद भेजी; तब शाहआलम को गोलकुंडा पर भेजा गया। उसने हैदराबाद ले लिया। कुतुबशाह गोलकुंडा के किले में भाग गया। उससे भारी हरजाना बहुत सा इलाका तथा मदन्न और अक्कन्न को पदच्युत करने का वचन ले कर शाहआलम वापस आया। डेढ़ बरस तक घिरे रहने के बाद इधर बीजापुर औरंगज़ेब के हाथ आ गया (१६८६ ई०)। अकबर तब कोंकण से ईरान चला गया।

बीजापुर के बाद गोलकुंडा की बारी आई। कुतुबशाह ने शाहआलम से मिन्नत की कि पिछले बरस की सन्धि के अनुसार उसे बचा रहने दिया जाय। पर उसकी कौन सुनता था? औरंगजेब ने इस बातचीत के अपराध में ही अपने बेटे (शाहआलम) को उसके बेटों सहित कैद में डाल दिया! मीर शहाबुद्दीन नामक तूरानी सेनापति ने मेवाड़-युद्ध में बहादुरी दिखाई थी और फिर मराठा युद्ध में फीरोज़जंग पद पाया था। शाहआलम की अनुपस्थिति में उसे गोलकुंडे का घेरा सौंपा गया। अन्तिम काल कुतुबशाह बड़ी वीरता से लड़ा। एक बरस के घोर युद्ध के बाद गोलकुंडा का पतन हुआ (१६८७ ई०)।

बीजापुर गोलकुंडा का बाँध टूटते ही शाही सेना तमिळनाड पर उमड़ पड़ी और मसुलीपट्टम से पलार नदी तक सब इलाका ले लिया। वहाँ उसे जिंजी के मराठों ने रोक दिया। उधर एक मुगल सेना फिर कोंकण भेजी गई। बदहोश सम्भाजी संगमेश्वर पर पकड़ा गया (जनवरी १६८६ ई०)। औरंगजेब ने उसे अन्धा करवा कर मरवा डाला।

§ १७. महाराष्ट्र का स्वतन्त्रता-युद्ध—महाराष्ट्र के अष्ट प्रधानों ने राजाराम को कैद से छुड़ा कर रायगढ़ में सभा की। सम्भाजी के बेटे शिवाजी २य (उर्फ शाहू) का अभिषेक किया और उसकी माँ येसूबाई के प्रस्ताव पर राजाराम को स्थानापन्न राजा बनाया। वज़ीर आसादखाँ के बेटे इत्तिकादखाँ ने तब रायगढ़ को आ घेरा। राजाराम वहाँ से निकल कर चला गया और रायगढ़ जीता गया। येसूबाई शाहू के साथ कैद हुई। इत्तिकाद को इसके उपहार में जुल्फिकारखाँ का पद मिला। येसूबाई के लिखने से राजाराम ने राजमुकुट धारण किया। उसने मराठा शासन का पुनःसंघटन किया, स्वयं अपने

मन्त्रियों के साथ, जिनमें प्रह्लाद नीराजी मुख्य था, जिंजी जाना तय किया, और महाराष्ट्र की रक्षा रामचन्द्र नीलकंठ बावडेकर को, जो दस बरस शिवाजी के अष्ट प्रधानों में रह चुका था, सौंप कर उसे 'हकूमत-पनाह' (अधिनायक) पद के साथ राजा के सब अधिकार दे दिये। रामचन्द्र का सचिव शंकर मल्हार था। पन्हाले से राजाराम की मंडली अनेक जगह बाल बाल बचती हुई जिंजी जा निकली (१६६० ई०)।

दक्खिनी छोर के सिवाय समूचा भारत अब औरंगज़ेब के पैरों तले था। पर तेईस बरस पहले जैसे शिवाजी उसके हाथ से निकल गया था, वैसे ही इस बार राजाराम निकल गया।

राजाराम जिंजी पहुँचा तो उसके पास न कोई भूमि थी, न कोष, न सेना। तो भी उसने अपने शासन का पुनःसंघटन किया। उसने पेशवा से भी ऊँचा 'प्रतिनिधि' नाम का नया पद बनाया और उसपर प्रह्लाद नीराजी को नियुक्त किया। जागीर न देने की शिवाजी वाली नीति अब उसने छोड़ दी और मराठा सरदारों को मुगल इलाकों में जागीरें बाँट कर उन्हें जीतने की इजाज़त और प्रेरणा दी। सेनापति सन्ताजी घोरपडे और धनाजी जादव राजाराम को जिंजी पहुँचा कर महाराष्ट्र लौट आये। जुल्फिकारखाँ ने जिंजी का घेरा डाल दिया।

महाराष्ट्र में केवल तीन गढ़ मराठों के पास बचे थे; पर रामचन्द्र बावडेकर ने तीन और वापस ले लिये। उधर जिंजी का घेरा और कसा गया। वज़ीर आसादखाँ और शाहज़ादा कामबख्श भी वहाँ भेजे गये। रामचन्द्र ने महाराष्ट्र से ३० हज़ार सेना खड़ी कर सन्ताजी और धनाजी को उधर भेजा। सन्ताजी ने तमिळनाड में पहुँचते ही दो मुगल फौजदार पकड़ लिये और कडप से कांची तक अर्थात् उत्तरी पैरणार से पालार तक सब मुगल थाने उठा कर अपने फौजदार बैठा दिये। जुल्फिकार को अपनी फौज समेटनी पड़ी और सन्ताजी ने उलटा कुछ काल उसे घेरे रक्खा (१६६२ ई०)। औरंगज़ेब ने यह देख कर घिरी फौज को कुमुक भेजी। सन्ताजी का स्वभाव उग्र था, अतः राजाराम ने मुख्य सेनापति का पद धनाजी को दिया (१६६३ ई०)। इससे सन्ताजी रूठ कर महाराष्ट्र चला आया। इधर उसने हैदराबाद तक धावे मारे। उधर जुल्फिकार ने जिंजी को

फिर घेर लिया ।

दक्खिन के सब सूबों में मराठों ने अपने सूबेदार कामविशदार और राहदार नियत कर दिये । कामविशदार मालगुज़ारी की चौथाई वसूल करते और राहदार चुंगी लेते; सूबेदार उनकी मदद के लिए ७ हजार सेना के साथ रहते थे । हर सूबे के दुर्गम स्थानों में उन्होंने गढ़ियाँ बना लीं, जहाँ वे कठिनाई में शरण ले सकें । अनेक गाँवों के मुखियों ने मराठों से मिल कर मुगलों को कर देना बन्द कर दिया; अनेक मुगल हाकिम स्वयं चौथ देने लगे । स्थानीय प्रजा दुहरे हाकिमों से तंग आ कर सभी जगह मुगलों के खिलाफ लड़ने को तैयार हो गई । उत्तर भारत पर भी दक्खिन का प्रभाव पड़ने लगा । औरंगजेब ने जल्दी दिल्ली लौटने का इरादा छोड़ भीमा के किनारे ब्रह्मपुरी पर अपनी स्थायी छावनी डाल दी, और शाहआलम को कैद से छोड़ उत्तरपच्छिमी सीमान्त की रक्षा के लिए भेजा (१६९५ ई०) ।

इसी वर्ष के अन्त में सन्ताजी बीजापुर जिले में और धनाजी भीमा पर प्रकट हुआ; कई मराठे सरदार बराड और खानदेश पर टूट पड़े । धनाजी ने भीमा से जिंजी पहुँच कर वहाँ का घेरा फिर उठवा दिया । सन्ताजी ने चितलदुर्ग जिले में एक फौजदार को बड़ी सफाई से पकड़ कर और दूसरे को मार कर उनकी फौजों को कुचल दिया । मुगल फौज में उसकी ऐसी धाक जम गई कि जब कोई घोड़ा पानी पीता अटकता तो उससे कहते, 'क्यों ? तुझे पानी में सन्ताजी दिखाई देता है ?' दक्खिन में युद्ध की प्रगति का अब यह रूप हो गया कि घटनाओं का आरम्भ सन्ताजी की ओर से होता, और मुगल नेताओं को अपनी रक्षा का ढंग सोचना पड़ता । ब्रह्मपुरी के पड़ोस तक उसके दल धावे मारते ।

अपने इन विजयों के बाद सन्ताजी जिंजी गया और उसने फिर सेनापति बनना चाहा । प्रह्लाद नीराजी अब मर चुका था । धनाजी और सन्ताजी आपस में लड़ पड़े । राजाराम ने धनाजी का पक्ष लिया । धनाजी हार कर भागा; राजाराम को सन्ताजी ने पकड़ लिया और फिर उसके आगे हाथ जोड़ कर कहा, "मैं अब भी तुम्हारा सेवक हूँ !" दोनों नेताओं के महाराष्ट्र पहुँचने पर फिर घरेलू लड़ाई हुई । सन्ताजी के कठोर नियन्त्रण से तंग आ कर उसकी सेना

धनाजी से जा मिली; तब उसे अकेले भागना पड़ा। पीछे उसके एक शत्रु ने बदला चुकाने के लिए उसे मार डाला (१६९७ ई०)।

उसी साल जिंजी का घेरा फिर कसा गया। तब सात साल पीछे अन्त को जुल्फिकार उसे ले पाया (१६९८ ई०)। इस विजय के उपहार में उसे नसरतजंग का पद मिला। किन्तु राजाराम फिर निकल गया और महाराष्ट्र में विशालगढ़ जा पहुँचा।

औरंगजेब ने अब महाराष्ट्र के गढ़ ले कर मराठों के दमन का अन्तिम यत्न आरम्भ किया। ब्रह्मपुरी में अपना बुंगा (आधार) रख कर वह मराठा गढ़ों को जीतने खुद रवाना हुआ (१६९९ ई०)। राजाराम ने बदले में बराड खानदेश और नर्मदा पार चढ़ाई करना तय किया। देवगढ़ के गोंड राजा ने मुसलमान हो जाने के बावजूद एक तरफ राजाराम और दूसरी तरफ छत्रसाल को गोंडवाना आने का निमन्त्रण दिया। पर राजाराम ने गोदावरी काँठे और बराड पर चढ़ाई की। उसे कुछ सफलता न मिली, तो भी मराठों ने इस बार नर्मदा पार तक जा कर मांडू और धामुनी को लूट लिया। उस धावे की थकान से बीमार हो राजाराम ने प्राण त्याग दिये (१७०० ई०)।

उसकी मृत्यु से स्वतन्त्रता-युद्ध में तिल भर फरक न पड़ा। उसकी रानी ताराबाई अपने नन्हे बच्चे को गद्दी पर बिठा कर राजकाज चलाने लगी। उसने अपने पति से बढ़ कर पराक्रम और दृढता दिखाई। औरंगजेब एक गढ़ को जा घेरता तो गढ की मराठी सेना अरसे तक उसका मुकाबला करती; बाहर से मराठों के धावे शाही शिविर पर होते रहते; अन्त में गढ़ की सेना बादशाह से भरपूर इनाम पा कर इज़्ज़त और सामान के साथ निकल जाने का वचन ले गढ़ छोड़ देती। तब बादशाह दूसरे गढ़ पर चढ़ाई करता और मराठे दिये हुए गढ़ को फिर ले लेने की ताक में रहते। यों साढ़े पाँच बरस में बारह गढ़ बादशाह ने जीते। किन्तु महाराष्ट्र के मुख्य गढ़ ले लेने पर भी वह मराठों की शक्ति न तोड़ सका। सन् १७०२ में नसरतजंग को मराठा धावे मारने वालों के पीछे ६ हजार मील दौड़ना पड़ा। दूसरे बरस निमाजी शिन्दे नामक स्वतन्त्र मराठा सरदार ने बराड के फौजदार को कैद कर लिया। फिर छत्रसाल का निमन्त्रण पा उसने

नर्मदा पार की और दोनों ने मिल कर सिरोंज और मन्दसोर तक धावा मारा।



औरंगजेब [भा० क० भ०, काशी]

नर्मदा के सब घाट रुक गये और बादशाह के पास हिन्दुस्तान की डांक का आना बन्द हो गया। फीरोज़जंग तब निमाजी के पीछे भेजा गया और निमाजी हार कर बुन्देलखंड के रास्ते वापस भाग आया।

अन्त में औरंगजेब ने दिल्ली लौटने का निश्चय किया (१७०५ ई०)। लौटती फौज को घेरे हुए विजयोन्मत्त मराठा दल भी साथ साथ बढ़ने लगा। कभी कभी तो वे बादशाह की पालकी तक आ पहुँचते ! बड़ी मुश्किलों से वह सवारी अहमदनगर पहुँची, जहाँ अठासी बरस बूढ़े औरंगजेब को अपनी 'यात्रा का अन्त' दिखाई पड़ने लगा। धनाजी ने तभी गुजरात पर चढ़ाई कर नर्मदा पर तीन मुगल फौजों को बारी बारी से तहसनहस किया और दक्खिनी गुजरात से चौथ वसूल की। दूसरे बरस अहमदनगर में अल्लाह का नाम जपते हुए औरंगजेब ने अन्तिम साँस ली (२०-२-१७०७ ई०)।

चौबीस बरस के दक्खिन के युद्ध में उसकी फौज के एक लाख आदमी और तीन लाख जानवर सालाना मरते रहे। साम्राज्य की वार्षिक आमदनी शुरू में ही कम होने लगी थी, इसलिए दिल्ली और आगरे के पुराने खजाने खाली हो गये। अन्त में बंगाल की मालगुजारी का एकमात्र सहारा रह गया और फौज

की तनखाह तीन तीन साल पिछड़ने लगी। जब अन्त में वह दिल्ली लौटने लगा तब दक्खिन के खेतों और मैदानों में मीलों तक सफेद हड्डियों के ढेर बरफ की तरह छाये दिखाई देते थे।

§ १८. **बुन्देलखंड ब्रज मारवाड़ पंजाब में संघर्ष**—महाराष्ट्र का संघर्ष दूसरे प्रान्तों में भी प्रतिरोध की भावनाएँ जगाता रहा। शिवाजी की मृत्यु होने तक छत्रसाल भी बुन्देलखंड के एक अंश में 'स्वराज्य' स्थापित कर चुका और उस आधार से 'मुगलाई' (मुगल साम्राज्य) पर धावे मार कर चौथ वसूलता था।

ब्रजभूमि में भरतपुर के पास सिनसिनी और सोगर गाँव के मुखिया राजाराम और रामचेहरा ने जाट किसानों की सेना संघटित की और गढ़ियाँ बना कर सिर उठाया (१६८५ ई०)। आगरे का सूबेदार उन्हें न दबा सका तब औरंगजेब ने दक्खिन से बहादुरखाँ को, जिसे अब खानेजहाँ का पद मिल चुका था, उनके दमन के लिए भेजा। आगरे में खानेजहाँ के रहते हुए राजाराम ने सिकन्दरा पर चढ़ाई की, और अकबर के मकबरे से सारा कीमती माल लूट लिया (१६८८ ई०)। उसी वर्ष रेवाड़ी के पास मेवात के फौजदार से लड़ता हुआ वह मारा गया। तब उसका भाई भज्जा और भज्जा का बेटा चूड़ामन ब्रज के नेता हुए। औरंगजेब ने रामसिंह कछवाहा के बेटे विशनसिंह को, जिसने सतनामियों को दबाने में भी भाग लिया था, मथुरा का फौजदार बनाया। उसने सिनसिनी और सोगर की गढ़ियाँ छीन लीं (१६९०-९१ ई०)। तब चूड़ामन भाग कर जंगलों में जा छिपा।

मारवाड़ में सन् १६८१ से १६८६ ई० तक शाही सेना और राठोडों की कशमकश चलती रही। जैसलमेर के भाटी भी राठोडों से मिल गये (१६८२ ई०)। "सूर्यास्त के बाद मुगल राज केवल थानों में रह जाता, और मैदान पर अजित का राज होता था।" अकबर को महाराष्ट्र से बिदा कर दुर्गादास मारवाड़ लौटा (१६८७ ई०) तो संघर्ष में तेज़ी आई। उसने मारवाड़ के सब मुगल थाने उठा दिये, और रेवाड़ी रोहतक पर धावा मार दिल्ली के करीब तक जा निकला। वहाँ तभी राजाराम जाट भी बलवा किये हुए था। फिर उसने

अजमेर पर धावा बोला (१६६० ई०)। मुगल सरकार ने राठोडों को राह-चुंगी की चौथ देना स्वीकार कर कुछ शान्त किया और सन्धि की बातें शुरू कीं जो बरसों चलती रहीं। अजित भी ढीला पड़ गया। दुर्गादास ने तब स्वयं ब्रह्मपुरी पहुँच कर सन्धि की (१६६८ ई०)। उसे पाटन की फौजदारी दी गई, मगर अजित को राज नहीं मिला। शाहज़ादा आज़म के सूबेदार बनने पर दुर्गादास को दरबार में बुला धोखे से मारने का यत्न किया गया (१७०१ ई०); पर उसे इसका पता लग गया और वह भाग निकला। इसके बाद फिर विद्रोह छिड़ा, पर अजित के मतभेद से विफल हुआ। गुजरात की चढ़ाई में धनाजी जादव के जीतने की खबर मिलने पर मारवाड़ में भी फिर बलवा हुआ और औरंगजेब के मरते ही अजितसिंह ने जोधपुर ले लिया।

सन् १६८६ से १६६२ ई० तक मुगल साम्राज्य अपने चरम उत्कर्ष में था। खुशालखाँ खटक, सम्भाजी और राजाराम जाट मारे जा चुके थे; छत्रसाल दबा हुआ था। महाराष्ट्र के ६-७ गढ़ों और जिंजी के सिवाय समूचा भारत औरंगज़ेब के पैरों तले था। पर रामचन्द्र बावडेकर ने जब उस दशा में भी महाराष्ट्र से ३० हज़ार सेना खड़ी कर ली और सन्ताजी ने उस सेना से जिंजी पर शाही शक्ति तोड़ दी, तब १६६३ ई० से पासा पलट गया। सन्ताजी के विजयों की प्रतिध्वनि उत्तर भारत में भी हुई। बुन्देलखंड और व्रज के लोग फिर उठ खड़े हुए। पंजाब में सिक्खों ने भी शिवाजी के ढंग पर संघर्ष छेड़ना चाहा। छत्रसाल ने धामुनी और कालंजर गढ़ ले लिये और भिलसा को लूटा। वह सारे मालवे पर भी धावे मारता था। बराड में निमाजी शिन्दे और गोंडवाने का राजा बख्तबुलन्द उसे सहयोग देते थे। व्रज के नये बलवे को दबाने के लिए शाहआलम आगरे का सूबेदार बनाया गया (१६६५ ई०)। चूड़ामन तब फिर जंगलों में भाग गया और नई गढ़ियाँ बनाता रहा। १७०४ ई० में उसने सिनसिनी फिर वापिस ले ली, पर १७०५ और १७०७ में उसपर चढ़ाई कर शाही सेना ने हजारां जाटों का संहार किया। १७०५ ई० में फीरोज़जंग ने औरंगज़ेब से छत्रसाल की सन्धि करवा दी।

सिक्खों के गुरु तेगबहादुर के असम प्रवास [ऊपर § १०] में

पटने में उसका एक पुत्र जन्मा था जिसका नाम गोविन्द रक्खा गया था। अपने पिता के बलिदान के बाद तरुण गुरु गोविन्द ने जमना और सतलज के बीच शिवालक की दूनों में शरण ले वहीं अपनी तैयारी की। पौराणिक इतिहास की वीर गाथाओं से वह बहुत प्रभावित हुआ। उसने सिक्खों को सैनिक सम्प्रदाय बना दिया (१६६५ ई०) और प्रत्येक सिक्ख के लिए पाँच ककार—केश कंघा कृपाण कड़ा और कच्छा—धारण करने तथा सिंह नाम रखने का नियम कर दिया, जात-पाँत का भेद भूल जाने को कहा और अपने पीछे 'ग्रन्थ' को ही गुरु मानने तथा 'खालसा' (सिक्ख जनता) पंचायत के 'गुरमत' के अनुसार चलने का आदेश दिया। इसके बाद उसने शिवाजी के रास्ते पर कदम रक्खा। उन्हीं पहाड़ों में दो तीन गढ़ियाँ बना कर उसने पहाड़ी राजाओं को अपने साथ मिलाना चाहा, परन्तु शिवाजी का मावलियों पर जैसा प्रभाव था, गुरु गोविन्द-सिंह का इन पहाड़ियों पर वैसा कभी न हुआ। सिक्ख अनुयायी सब पंजाब के मैदान के रहने वाले थे। राजाओं ने पहले गुरु की उपेक्षा की, फिर दबाव से साथ मिल कर मुगलों को कर देना छोड़ दिया, और अन्त में मुगलों से हार कर वे गुरु के शत्रु बन गये। तभी शाहआलम व्रज का विद्रोह दबा कर पंजाब को शान्त करने पहुँचा। गोविन्दसिंह बिलासपुर रियासत में आनन्दपुर गढ़ में घिर गया (१७०१ ई०) और अन्त में केवल ४५ साथी रह जाने पर वहाँ से निकल भागा। साथियों में से केवल ५ ही बच कर निकल सके, जो भेस बना कर छिपे रहे। गोविन्दसिंह के दो लड़के फतहसिंह और जोरावरसिंह सरहिन्द के फौजदार वज़ीरखाँ के हाथ पड़ गये, जिसने उन्हें मरवा डाला।

§ १९. औरंगज़ेब के प्रशासन में फिरंगी व्यापारी और चांचिये— स्पेन से अलग होने के बाद पुर्तगाल ने [६,४§§३,१६] इंग्लैंड से मैत्री रक्खी। १६६१ ई० में पुर्तगाल की एक राजकुमारी अंग्रेज़ राजा को ब्याही तो उसके दहेज में पुर्तगाल के 'भारतीय उत्तरी प्रान्त' [६,२§४] का मुम्बई द्वीप दिया गया। राजा ने वह द्वीप पीछे ईस्ट इंडिया कम्पनी को दे दिया। कम्पनी अपना मुख्य दफ्तर सूरत से उठा कर मुम्बई ले आई। मुम्बई में अंग्रेजों का व्यापार-केन्द्र बन जाने से बसई की अवनति होने लगी। औरंगजेब के राज्य-

काल में फ्रांसीसियों ने भी पूरबी तट पर चन्द्रनगर और मसुलीपट्टम में तथा जिंजी नदी के मुहाने पर पुद्दुचेरी ('पांदिचेरी') में ज़मीनें खरीद कर अपनी बस्तियाँ बसा लीं (१६६६–७४ ई०)। अंग्रेज़ों ने हुगली नदी में भी अपने किराये के जहाज चलाना शुरू किया। (१६७६ ई०)।

जब गैर-मुस्लिमों पर जज़िया लगाया गया, तब उसके बदले में फिरंगियों के व्यापार पर १% चुंगी बढ़ाना तय हुआ। अंग्रेज कम्पनी के लन्दन के मुखिया जोशिया चाइल्ड ने यह बढ़ी हुई चुंगी न देना और साथ ही सूरत से सब कारबार हटा कर मुम्बई ले जाना तय किया। उसने समुद्र में भारतीय जहाज पकड़ कर बदला लेना चाहा। बंगाल के अंग्रेजों को भी मुगल सरकार से बहुत सी "शिकायतें" थीं। वहाँ शुजा ने अपनी सूबेदारी में चुंगी के बदले जो एकमुश्त वार्षिक रकम तय कर दी थी, अंग्रेज़ चाहते थे कि बाद के सूबेदार भी वही रकम लेते जायँ, यद्यपि उनका व्यापार १६६८ ई० से १६८० ई० तक ३४ हजार पौंड के बजाय डेढ़ लाख पौंड हो गया था, और यह भी सन्देह था कि वे अंग्रेज़ी झंडे के नीचे दूसरों का माल भी ले जाते हैं।

मुर्शिदाबाद के पास कासिमबाजार की कोठी के मुखिया जोब चारनाक को हिन्दुस्तानी व्यापारियों का रुपया देना था। अदालत ने उसके खिलाफ़ फैसला दिया तो वह हुगली भाग गया और वहाँ की कोठी का मुखिया बनाया गया। उसके नेतृत्व में अंग्रेजों ने हुगली शहर लूट लिया (१६८६ ई०) और वहाँ से अपना सब सामान समेट कर सुतनती गाँव (कलकत्ता) में डेरा डाल दिया। फिर वहाँ से भी हट कर उन्होंने मेदिनीपुर का हिजली द्वीप दखल कर लिया और बालेश्वर का गढ़ छीन लिया। इन दोनों स्थानों से निकाले जाने पर वे मद्रास चले गये। उधर मुम्बई का मुखिया जौन चाइल्ड सूरत से सब कारबार हटा कर मुम्बई ले जा चुका और भारतीय जहाजों को पकड़ने लगा था। इसपर औरंगजेब ने सब अंग्रेज़ों की गिरफ्तारी का हुक्म दिया। तेलंगाना में बहुत से अंग्रेज़ पकड़े गये। जंजीरा के सिद्दी ने मुम्बई द्वीप दखल कर वहाँ के अंग्रेजों को गढ़ में घेर लिया। तब जौन चाइल्ड ने सन्धि-भिक्षा की। औरंगजेब ने हरजाना ले कर अंग्रेज़ों को छोड़ दिया और कलकत्ते की ज़मीन खरीदने की

इजाज़त भी दे दी (१६६० ई०)।

सन्ताजी घोरपडे के विजयों (१६६३-६६ ई०) से जब सारे भारत में खलबली मची, तब बंगाल में दो विद्रोही सरदारों ने बर्दवान हुगली माल्दा और राजमहल दखल कर लिये। उस खलबली में बंगाल के फिरंगियों को अपनी बस्तियों—कलकत्ता चन्द्रनगर चिंचुड़ा ('चिंसुरा')—की किलाबन्दी करने की इजाज़त मिल गई। मुगल साम्राज्य में ये फिरंगियों के पहले गढ़ थे।

भारतीय समुद्र में भी अब फिरंगी चांचियों का उत्पात क्रमशः बढ़ता गया। किसी जहाज में वे मुसाफिर या नौकर बन कर चढ़ जाते और राह में उसे छीन डकैती का साधन बना लेते। इस धन्धे में अंग्रेज़ मुख्य थे। १६८६ ई० में अमरीका से समुद्री डाकुओं ने आ कर हिन्द महासागर को छेंक लिया। कुछ मलबार तट पर घूमने लगे और कुछ ने ईरान की खाड़ी और लाल सागर के मुहाने को अपना केन्द्र बनाया। एक दल मोज़ाम्बिक जलग्रीवा में और एक सुमात्रा पर मँडराने लगा। ब्रिगमैन उर्फ एवोरी नामक अंग्रेज ने एक जहाज छीन कर उसका नाम फ़ैन्सी रक्खा और उससे कई मार्के की डकैतियाँ डालीं। सूरत के बन्दरगाह पर सबसे बड़ा शाही जहाज गंजे-सवाई था, जो हर साल हाजियों को मक्का ले जाता था। दमन और मुम्बई के बीच फ़ैन्सी ने उसका रास्ता रोका, उसकी तोपों को बेदम करके उसे तीन दिन जी खोल लूटा, और मक्के से लौटती हुई सैयद* स्त्रियों पर मनमाना बलात्कार किया (१६६५ ई०)। गंजे-सवाई के सूरत पहुँचने पर सारे साम्राज्य में सनसनी मच गई। बादशाह के हुक्म से सब अंग्रेज़ कैद कर लिये गये। फिरंगियों का व्यापार बन्द कर उनके शस्त्र और झंडे छीन लिये गये, तोपों के चबूतरे ढा दिये गये, कोठियों की दीवारें नीची की गईं और गिरजों में घंटे बजना रोक दिया गया। औरंगजेब चाहता था कि फिरंगी व्यापारी मेहनताना ले कर अपने जंगी जहाजों द्वारा हाजी जहाजों की रखवाली करने का जिम्मा ले लें। सूरत की अंग्रेज़ी कोठी के

* सैयद लोग हजरत मुहम्मद के वंशज माने जाते हैं। मुस्लिम समाज में उनका दर्जा सबसे ऊँचा है।

मुखिया ऐनस्ले ने अन्त में बादशाह को वैसा इकरारनामा लिख दिया, तब सब कैदी छोड़े गये (१६६६ ई०)।

दूसरे वर्ष किड और शिवर्स नामक दो 'महान् बदमाश' हिन्द महासागर में आये। किड अंग्रेज़ था, शिवर्स ओलन्देज़। पहले चांचिये पराये जहाज छीन लेते थे; पर किड जिस जहाज का कप्तान था, उसे अंग्रेज़ लौर्डों (सरदारों) की एक कम्पनी (मंडली) ने इसी धन्धे के लिए तैयार करके भेजा था। किड का आधार मदगस्कर में था। उसके बेड़े पर १२० तोपें थीं। इन डाकुओं की करतूतों के कारण फिरंगी व्यापारियों को फिर कैद होना पड़ा और आगे से ओलन्देज़ों ने लाल सागर की, फ्रांसीसियों ने ईरान की खाड़ी की तथा अंग्रेज़ों ने दक्खिनी समुद्र की रखवाली करने का ज़िम्मा लिया (१६६८ ई०)।

परन्तु इतने पर भी समुद्री डकैती नहीं रुकी और औरंगजेब को अन्त में व्यापारियों का इकरारनामा रद्द करना पड़ा, क्योंकि वह जानता था कि समुद्री डकैतों की पूरी रोक-थाम करना व्यापारी मंडलियों के लिए असम्भव है। भारतीय समुद्र की रक्षा करना भारतवर्ष के सम्राट् का कर्त्तव्य था, न कि विदेशी व्यापारियों का। भारत-सम्राट् ने अपने को उस कर्त्तव्य-पालन में अशक्त मान स्वयं उन व्यापारियों को जंगी बेड़े रखने को उत्साहित किया। औरंगज़ेब ने यह आत्मघाती मूर्खता का काम किया। उन व्यापारियों के वंशजों ने भारत-सम्राट् के वंशजों को न केवल समुद्र की प्रत्युत स्थल की भी रक्षा की चिन्ता से मुक्त कर दिया!

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. शाहजहाँ के बेटों का आपसी युद्ध किस प्रकार हुआ?
२. शिवाजी ने किन दशाओं में आगरे की यात्रा की? वापिस महाराष्ट्र कैसे गया?
३. शाइस्ताखां ने अपनी बंगाल की सूबेदारी में कौन सा उल्लेखनीय काम किया?
४. औरंगज़ेब के प्रशासन में भारत के उत्तरपूरबी और उत्तरपच्छिमी सीमान्त की मुख्य घटनाओं का उल्लेख कीजिए।
५. शिवाजी की शासनव्यवस्था में क्या विशेषताएँ थीं?

६. आगरे से लौटने के बाद शिवाजी के चरित का विवरण दीजिए। उसकी अंतिम राज्यसीमाएं क्या थीं?

७. छत्रसाल का चरित संक्षेप से लिखिए। उसके पिता-माता के बारे में आप क्या जानते हैं?

८. औरंगजेब को राजस्थान में क्यों युद्ध करना पड़ा? कब और कैसे वह युद्ध हुआ?

९. महाराष्ट्र के स्वतन्त्रता-युद्ध का वृत्तान्त लिखिए।

१०. गुरु तेगबहादुर और उसके पुत्र का चरित लिखिए।

११. औरंगज़ेब के काल में भारत के तीन तरफ के समुद्रों और समुद्रतट की क्या दशा थी? उस सम्बन्ध में औरंगज़ेब की नीति क्या थी? वह कहाँ तक ठीक या गलत थी?

१२. निम्नलिखित का परिचय दीजिए (१) ताराबाई (२) अकमल (३) गोकला जाट (४) खुशालखाँ खटक (५) सतनामी (६) सम्भाजी (७) गंजे-सवाई (८) राजाराम जाट (९) किड (१०) रामचन्द्र बावडेकर (११) जसवन्तसिंह (१२) छत्रपति राजाराम।

अध्याय ६

मुगल साम्राज्य की घटती कला

(१७०७—१७२० ई०)

§ १. **बहादुरशाह**—औरंगज़ेब यह वसीअत छोड़ गया था कि उसके तीनों बेटों में साम्राज्य बँट जाय। शाहआलम ने भी इसपर अमल करना चाहा, क्योंकि वह चाहता था कि 'खुदा के बन्दों का खून न बहे।' परन्तु आज़म को कुछ सूबों के राज्य से सन्तोष न था। उसने कहा, मुझे चाहिए "तख्त या तख्ता।" धौलपुर के पास जाजउ पर लड़ाई हुई, जिसमें आज़म मारा गया और शाहआलम बहादुरशाह नाम से हिन्दुस्तान के तख्त पर बैठा।

दक्खिन से इस युद्ध के लिए चलते वक्त आज़म ने शाहू को इस शर्त पर भाग जाने दिया था कि वह बादशाह की अधीनता माने, पर उसकी माँ और भाई को नहीं छोड़ा था। बहादुरशाह ने वह स्थिति स्वीकार की। उसने गुरु गोविन्दसिंह को भी मना कर अपनी सेवा में ले लिया और राजस्थान के

राज्यों को शान्त करने चला। उसने आमेर के नये राजा सवाई जयसिंह की रियासत ज़ब्त की, क्योंकि जयसिंह ने आज़म का साथ दिया था। अजित को महाराजा बनाया, तो भी जोधपुर में काज़ी और मुफ्ती फिर रक्खे। इसी वक्त बीजापुर में कामबख्श बादशाह बन बैठा। अजमेर से शाही सवारी सीधे दक्खिन की ओर बढ़ी और हैदराबाद के पास कामबख्श का अन्त हुआ।

मेवाड़ मारवाड़ और आमेर के राजा पीछे उदयपुर के पास उदयसागर पर मिले (१७१० ई०)। उन्होंने प्रण किया कि अब से वे मुगल सम्राट् की अधीनता न मानेंगे, शाही खानदान में अपनी बेटियाँ न देंगे और बादशाह यदि एक पर हमला करेगा तो दूसरे सब उसकी सहायता करेंगे। इसके आधार पर उन्होंने आमेर और जोधपुर से शाही अधिकारियों को निकाल कर मेवात पर चढ़ाई की। बहादुरशाह दक्खिन से राजस्थान वापस आया तो राजाओं ने फिर उससे समझौता कर लिया। वहीं उसने छत्रसाल और चूड़ामन को भी बुला कर अपनी सेवा में ले लिया। यों औरंगजेब-काल के सभी हिन्दू विद्रोहियों से समझौता हो गया। परन्तु तभी पंजाब से सिक्खों के नये विद्रोह की खबरें आने लगीं।

§२. **बन्दा वैरागी**—शाही फौज के साथ हैदराबाद जाते हुए गोदावरी तट पर गोविन्दसिंह का देहान्त हुआ। मृत्यु से पहले पंजाबी वैरागी माधोदास से उसकी भेंट हुई। गोविंदसिंह ने उसे अपने अधूरे काम को आगे बढ़ाने के लिए अपनी तलवार दे कर पंजाब भेजा। माधोदास गुरु का 'बन्दा' (सेवक) बना। पूरबी पंजाब पहुँच कर उसने कुछ सेना जमा की, सरहिन्द पर धावा बोला और फौजदार वज़ीरखाँ को मार गोविन्दसिंह के पुत्रों की हत्या का जी खोल कर बदला लिया। सरहिन्द से सिक्ख दक्खिन पूरब और पच्छिम बढ़े। जमना और सतलज के बीच उनका पूरा दखल हो गया। तब सहारनपुर लूट कर वे दोआब में बढ़े और सतलज पार कर द्वाबे* में। जीते

*द्वाबा हिन्दी दोआब का पंजाबी रूप है। केवल 'दोआब' कहने से जैसे गंगा-जमना

हुए इलाकों में वे सिक्ख फौजदार नियत करते गये। बहादुरशाह अजमेर से सीधा बन्दा के दमन के लिए बढ़ा। उसके आने पर सिक्खों ने सरमौर के पहाड़ों में शरण ली, जहाँ वे लोहगढ़ नामक गढ़ में घिर गये। गढ़ जीता गया, पर बन्दा भेस बदल कर निकल गया।

तभी लाहौर में बहादुरशाह चल बसा (२७-२-१७१२ ई०) और उसके चार बेटों में वहीं परस्पर लड़ाई हुई। जेठे की जीत हुई और वह जहाँदारशाह नाम से गद्दी पर बैठा। बन्दा ने तब साधौरा (अम्बाला के पू०, नाहन की तराई में) और लोहगढ़ फिर ले लिये।

§ ३. **मराठों का गृह-युद्ध**—शाहू के छुट आने पर ताराबाई ने कहा, वह सम्भाजी का बेटा नहीं, औरंगजेब का पाला हुआ नकली शाहू है! किन्तु ताराबाई का अपना बेटा भी पगला था और महाराष्ट्र को राजा की जरूरत थी। धनाजी जादव का एक विश्वस्त कर्मचारी बालाजी विश्वनाथ भट्ट था। उसने धनाजी को शाहू की असलियत की तसल्ली करा दी तो धनाजी ने शाहू का पक्ष लिया। सातारा का गढ़ शाहू के हाथ आ गया। इन घटनाओं से महाराष्ट्र में घरेलू युद्ध शुरू हुआ। धनाजी १७१० ई० में मर गया, तो भी बालाजी ने धीरे धीरे शाहू का पक्ष दृढ किया। अन्त में उसने ताराबाई को उसकी सौत रजसबाई से कैद करा दिया (१७१२ ई०) और रजसबाई के बेटे सम्भाजी को कोल्हापुर में राजा बना रहने दिया। शाहू ने बालाजी को अपना पेशवा बनाया (१७१३ ई०)।

घरेलू युद्ध के कारण महाराष्ट्र में राजा की शक्ति खंडित होने तथा मुगल बादशाहत की कमजोरी से लाभ उठा कर मराठे जागीरदार या सरंजामदार शक्तिशाली होते गये। बराड़ में कान्होजी भोंसले और दक्खिन गुजरात में धनाजी के कर्मचारी खंडेराव दाभाडे ने पैर जमा लिये। धनाजी के बाद खंडेराव शाहू का सेनापति नियत हुआ। कान्होजी आंग्रे ने कोंकण और समुद्र में अपनी

दोआब समझा जाता है, वैसे ही पंजाब में केवल 'द्वाबा' कहने से सतलज-ब्यासा के बीच के द्वाबे का बोध होता है।

शक्ति बना ली थी। वह शाहू का सरखेल अर्थात् जलसेनापति नियुक्त हुआ।



छत्रपति शाहू शिकार खेलते हुए—दखनी कलम का चित्र। दखनी कलम राजपूत कलम का रूपान्तर है। (भारत-इतिहास-संशोधक मंडल, पूना]

§४. **फर्रुखसियर**—जहाँदारशाह का भतीजा फर्रुखसियर पटने में था। बिहार और इलाहाबाद के सूबेदार अब्दुल्ला और हुसेनअली दो सैयद भाई थे। उनकी मदद से फर्रुखसियर ने आगरे के पास सामूगढ़ में जहाँदारशाह को हरा दिया (१०-१-१७१३ ई०), जो पकड़ा और मारा गया। उसका वज़ीर ज़ुल्फिकारखाँ भी मारा गया।

फर्रुखसियर ने अब्दुल्ला को अपना वज़ीर और हुसेनअली को मीर-बख्शी बनाया। उनकी प्रेरणा से उसने पहला फरमान जजिया हटाने का निकाला। औरंगज़ेब के पिछले काल से हिन्दुस्तानी मुसलमानों और "मुगलों" की स्पर्द्धा चली आती थी। सैयद बन्धु हिन्दुस्तानी मुसलमान थे, वे हिन्दुओं के होली आदि त्यौहारों में भाग लेते थे। 'मुगलों' में ईरानी और तूरानी (तुर्क)

सम्मिलित थे। जुल्फिकार की हत्या से ईरानी दल टूट गया। तूरानियों के अब दो मुख्य नेता थे—एक फीरोजजंग का बेटा गाजिउद्दीन फीरोजजंग (२य), जो बाद में निज़ामुल्मुल्क बना और जिसे हम सुविधा के लिए अभी से निज़ाम कहेंगे, तथा दूसरा निज़ाम का चचा मुहम्मद अमीनखाँ। मुहम्मद अमीन अब दूसरा बख्शी बनाया गया और दक्खिन की सूबेदारी निजाम को दी गई। फर्रुखसियर कृतघ्न और कमजोर था। उसने सैयदों से छुटकारा पाना चाहा; पर उसमें स्वयं दृढ़ता न होने से तूरानी दल ने भी उसे सहयोग न दिया।

§५. फर्रुखसियर के काल में राजस्थान पंजाब और ब्रज— बहादुरशाह के मरते ही अजितसिंह ने शाही हाकिमों को निकाल कर अजमेर ले लिया था। हुसेन-अली ने उसपर चढ़ाई की। अजित ने बिना लड़े ही संधि कर ली, अपने बेटे अभयसिंह को मुगल दरबार में भेजा और अपनी बेटी फर्रुखसियर को ब्याह दी (१७१४ ई०)।

लाहौर और जम्मू का शासन मुहम्मद-अमीन के सम्बन्धी अब्दुस्समद और उसके बेटे जकरिया को सौंप कर उन्हें बन्दा के खिलाफ भेजा गया। साधौरा और लोहगढ़ उन्होंने ले लिये, लेकिन बन्दा फिर भाग गया। बाद में वह गुरदासपुरमढ़ी के गढ़ में घिर गया। लोग समझते थे वह जादूगरी से किसी छोटे जानवर का रूप धारण कर निकल भागता है, इसलिए साम्राज्य की सेना ने तम्बू से तम्बू सटा कर घेरा पूरा किया और चारों तरफ दीवार बना दी जिस तक आती हुई कोई बिल्ली भी दिखाई दे तो उसे वे गोली मार देते। यों घिरी हुई सेना नौ मास तक वीरता से लड़ती रही। रसद चुक जाने पर वे अपने जानवर खाते रहे। फिर घास-पत्ती और हड्डियों का चूरा, और कहते हैं अन्त में अपनी जाँघों का मांस तक खा कर लड़ते रहे! बन्दा के ७३६ साथी पकड़ कर पिंजरों में बन्द किये और दिल्ली लाये गये। वहाँ वे बीभत्स क्रूरता से मारे गये (१७१६ ई०)।

बन्दा ने सिक्ख सम्प्रदाय के दो-एक बाहरी चिह्नों पर ज़ोर न दिया था, इसलिए कट्टर सिक्खों का एक दल जो अपने को 'तत्व खालसा' कहता उससे अलग हो गया। इस फूट से लाभ उठा कर अगले आठ बरस तक अब्दुस्समद

ने सिक्खों का ज़ोरों से दमन किया। सिक्खों को तब जंगलों के सिवाय और कहीं शरण न रही।

सामूगढ़ की लड़ाई में चूड़ामन जाट ने निष्पक्ष हो कर दोनों तरफों को लूटा था। बाद में वह दरबार में हाज़िर हुआ और उसे दिल्ली से चम्बल तक के रास्तों की रक्षा का भार सौंपा गया (१७१३ ई०)। उसने उस प्रदेश पर पूरा अधिकार जमाना और आगे अपना इलाका बढ़ाना शुरू किया, बादशाह को कर देना भी छोड़ दिया तथा होडल के आगे जंगल में थूण नाम का गढ़ बना लिया। उस गढ़ को लेने के लिए सवाई जयसिंह को भेजा गया। पर वज़ीर अब्दुल्ला दिल से चूड़ामन की तरफ था। पौने दो साल के घेरे के बाद गढ़ लिया जाने के पहले ही अब्दुल्ला ने चूड़ामन से सन्धि करा दी (१७१८ ई०)।

§ ६. राजकर्त्ता सैयद बन्धु—फर्रुखसियर और सैयदों का बिगाड़ बढ़ता गया। अन्त में समझौता हुआ, जिससे दक्खिन के सूबों पर पूरा अधिकार हुसेनअली को मिला (१७१५ ई०)। फर्रुखसियर ने मराठा सरदारों को गुप्त पत्र लिखे कि वे हुसेन से लड़ें, लेकिन इस खेल में हुसेन उससे बाज़ी ले गया। रामचन्द्र बावडेकर का सचिव शंकर मल्हार ताराबाई के प्रशासन में संन्यासी हो कर बनारस में रहने लगा था। वह हुसेन का मन्त्री बन कर अब उसके साथ दक्खिन लौटा। शंकर मल्हार के द्वारा हुसेनअली ने मराठा दरबार से सन्धि की और उनकी सब माँगें पूरी कराने का वचन दिया।

उधर फर्रुखसियर ने सैयद अब्दुल्ला को पकड़ने का विफल यत्न किया; फिर उसके विरोध के बावजूद जज़िया लगा दिया (१७१७ ई०)। थूण के मामले से विरोध और बढ़ा। फर्रुखसियर ने अपना पक्ष दृढ करने को अजितसिंह को दिल्ली बुलाया, पर वह भी अब्दुल्ला की तरफ हो गया। फिर समझौता हुआ और गुजरात की सूबेदारी अजित को दी गई।

अपने बेटे आलिमअली और शंकर मल्हार को दक्खिन में छोड़ हुसेन-अली अब बड़ी सेना के साथ दिल्ली चला। पेशवा बालाजी विश्वनाथ और सेनापति खंडेराव दाभाडे मराठा सेना सहित उसके साथ थे। दिल्ली पहुँच

कर सैयद बन्धुओं ने अपने मित्रों की फौजें शहर और किले में रख लीं। मुगल नेता तटस्थ रहे। सैयदों ने तब येसूबाई और मदनसिंह मराठों को सौंप दिये। फर्रुखसियर को कैद कर बहादुरशाह के एक पोते को गद्दी पर बिठाया। जज़िया फिर हटा दिया। अजितसिंह को अजमेर की सूबेदारी दी और उसकी बेटी—फर्रुखसियर की विधवा—को उसके साथ जाने दिया। अजित ने उसे मारवाड़ ले जा कर फिर हिन्दू बना लिया। सवाई जयसिंह को सोरठ (सुराष्ट्र) और निज़ाम को मालवे का सूबा मिला। मराठों का शिवाजी के 'स्वराज्य' पर तथा समूचे दक्खिन की चौथ और सरदेशमुखी पर अधिकार माना गया।

यों बहादुरशाह ने औरंगजेब की नीति को पलट कर मुगल साम्राज्य की पुरानी सहिष्णुता नीति को पुनः स्थापित करने का जो जतन आरम्भ किया था, उसे सैयद बन्धुओं ने खुल कर आगे बढ़ाया। बहादुरशाह ने तो अपने पिता के सभी हिन्दू विरोधियों को मना ही लिया था, पर गुरु गोविन्दसिंह के दिल के ताजे घाव को वह भर न सका, जिससे सिक्खों का नया विद्रोह भड़क उठा था। सैयदों के काल में महाराष्ट्र राजस्थान और व्रज से पूरा समझौता हो गया—महाराष्ट्र और राजस्थान के नेताओं की शक्ति सुप्रतिष्ठित थी और व्रज के नेता सैयदों के पड़ोसी और मित्र थे—,पर नये उठते सिक्खों का दमन ही किया गया, और बुन्देलों की भी उपेक्षा की गई। इसी से छत्रसाल ने फिर युद्ध छेड़ा और उसके बुन्देले आगरा इलाहाबाद और मालवा सूबों की सीमाओं को लूटने लगे।

इसी बीच बादशाह तपेदिक से मर गया था। उसका एक भाई बादशाह बना, पर वह भी उसी रोग का शिकार हुआ। तब सैयदों ने बहादुरशाह के एक और पोते को गद्दी दी, जो मुहम्मदशाह कहलाया।

§७. निज़ाम का दक्खिन भागना और सैयदों का पतन— निज़ाम मालवा जाते हुए दिल्ली से अपना परिवार और सम्पत्ति सब साथ लेता गया। मालवे में उसने बड़ी फौज खड़ी की। उसे मालवे से वापस आने का हुक्म दिया गया तो उसने उलटे दक्खिन की राह ली और असीरगढ़ और बुरहानपुर के गढ़ हथिया लिये। दिल्ली से सैयद दिलावरअली और दोस्त

मुहम्मद रुहेला, जिसने बाद में भोपाल रियासत की स्थापना की, उसके पीछे भेजे गये। औरंगाबाद से खंडेराव दाभाडे के साथ आलिमअली भी उसके विरुद्ध बढ़ा। ताप्ती के उत्तर और दक्खिन खँडवा और बालापुर में दोनों फौजों को निजाम ने बारी बारी से हराया। दिलावर और आलिमअली मारे गये, "बेदोस्त रोहेला" भाग गया और शंकर मल्हार कैद हुआ।

ये समाचार पा कर हुसेनअली बादशाह के साथ दक्खिन बढ़ा। निज़ाम के चचा मुहम्मद-अमीन ने रास्ते में उसका काम तमाम कर दिया। तब शाही सेना वापस लौटी। दिल्ली के पास लड़ाई में अब्दुल्ला भी कैद हुआ।

उधर दिल्ली से लौट कर पेशवा बालाजी विश्वनाथ का भी तभी देहान्त हुआ (१७२० ई०)।

§८. **अंग्रेजों की प्रमुख सामुद्रिक शक्ति**—फ्रांस का राजा लुई चौदहवाँ (१६४३–१७१५ ई०) औरंगजेब का समकालीन था। दोनों का शासन भी बहुत कुछ एक सा था। लुई ने भी अपने पूर्वज की धार्मिक स्वतन्त्रता का फरमान रद्द कर दिया था। १७०० ई० में स्पेन-सम्राट् का देहांत हुआ था। उसके कोई सन्तान न थी। उसकी बहन लुई को ब्याही थी, इस-लिए मृत्यु से पहले उसने वसीयत कर दी थी कि लुई का पोता उसका उत्तरा-धिकारी हो। इस प्रकार फ्रांस के साथ स्पेन भी लुई के कब्जे में चला जाता और अमरीका में स्पेन का विशाल साम्राज्य फ्रांस को मिल जाता। यह देख कर इंग्लैंड ने युरोप के अनेक देशों का गुट्ट बना कर लुई से युद्ध छेड़ा। अन्त में लुई की हार हुई (१७१४ ई०) और स्पेन का बन्दरगाह जिब्राल्तर, जो रोम-सागर के पच्छिमी द्वार पर है, इंग्लैंड को मिला। उसके अलावा, इंग्लैंड को स्पेन की अमरीकी बस्तियों में अफ्रीका से हब्शी गुलाम ले जा कर बेचने का ठेका भी मिला। वह बड़े नफे का ठेका था; पहले वह फ्रांस के हाथ में था, और उससे पहले हौलैंड के। यों अब इंग्लैंड समुद्री शक्ति में सब देशों से आगे बढ़ गया।

बंगाल के योग्य सूबेदार मुर्शिदकुलीखाँ ने अंग्रेजों के व्यापार पर चुंगी

बढ़ा दी थी। तब उनके दूत फर्रुखसियर के पास गये। अजितसिंह की बेटी से विवाह होने के अवसर पर अंग्रेज डाक्टर हैमिल्टन ने फर्रुखसियर की बवासीर की तकलीफ दूर कर दी (१७१५ ई०)। फर्रुखसियर ने उसे इनाम देना चाहा, तब उसने स्वयं कुछ लेने के बजाय यह प्रार्थना की कि बंगाल में अंग्रेज जो विलायती माल लावें उसपर चुंगी न ली जाय।

इसी काल दक्खिन में मुम्बई के अंग्रेजों ने कान्होजी आंग्रे को कुचलना चाहा। विजयदुर्ग और खंडेरी गढ़ों पर उनके बेड़ों ने चढ़ाइयाँ कीं (१७१७–१६ ई०), पर दोनों जगह विफल हुए।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. बहादुरशाह ने औरंगजेब की नीति को किस प्रकार पलटा? और सैयद बन्धुओं ने?

२. बन्दा वैरागी का चरित लिखिए।

३. बालाजी विश्वनाथ भट्ट कौन था? उसकी शक्ति का उदय कैसे हुआ?

४. "औरंगजेब के पिछले काल से हिन्दुस्तानी मुसलमानों और 'मुगलों' की स्पर्धा चली आती थी", इसे स्पष्ट कीजिये।

५. शिवाजी ने अपने राज्य से जागीरदार पद्धति उखाड़ दी थी। उसके बाद वह फिर कैसे स्थापित हुई?

६. निजाम ने दक्खिन में अपनी शक्ति कैसे स्थापित की?

७. अंग्रेज पहलेपहल कब और कैसे संसार की प्रमुख सामुद्रिक शक्ति बन गये?

८. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए—(१) 'तख्त या तख्ता' (२) जाजउ, लाहौर और सामूगढ़ के घरेलू युद्ध (३) चूड़ामन जाट (४) शंकर मल्हार (५) कान्होजी आंग्रे।

अध्याय ७

मराठा साम्राज्य की नींव पड़ना

(१७२०–४० ई०)

§ १. **मराठा राज्य का लक्ष्य**—बालाजी की मृत्यु पर शाहू ने उसके बेटे बाजीराव को पेशवा बनाया। मराठा राज्य की नीति अब क्या हो, इसपर

शाहू की सभा में विचार हुआ। महाराष्ट्र में एक दक्खिनी दल था जिसका कहना था कि हम पहले अपने 'स्वराज्य' को शक्त बना लें और समूचे दक्खिन को जीत लें, तब दिल्ली की तरफ बढ़ने की सोचें। बाजीराव का रुख दूसरा था। वह और उसका भाई चिमाजी अप्पा अपने पिता के साथ दिल्ली हो आये थे। कहते हैं उसने कहा कि "मुगल साम्राज्य समृद्ध और क्षीण है; उसकी जड़ पर चोट करो तो शाखाएँ स्वयं गिर पड़ेंगी। हमें भारत में साम्राज्य स्थापित करना है। मेरी बात मानो तो मैं मराठा झंडा अटक की दीवारों पर गाड़ दूँगा।" और शाहू ने अनुमोदन करते हुए कहा, "उसे किन्नरखंड पर जा गाड़ो।" अगले ७५ साल तक मराठा राज्य की यह नीति रही। परन्तु, जैसा कि हम देखेंगे, १७ साल बाद इस नीति में इतना परिवर्तन हुआ कि मुगल साम्राज्य को तोड़ने का विचार छोड़ उसे अपने हाथ में कर लेना तय किया गया। मुगल साम्राज्य यों बना रहा, किन्तु बड़ी घटनाओं का आरम्भ अब मराठा दरबार से होता और मुगल दरबार को अपने बचाव की चिन्ता करनी पड़ती।

भारत-साम्राज्य का लक्ष्य सामने होने पर बाजीराव के लिए सबसे पहले अपनी सेना को सुसंघटित करना आवश्यक था। मराठे सरदार अब काफी शक्तिशाली थे; अपनी स्वतन्त्र जागीरें होने के कारण वे बहुत उच्छृंखल भी थे। उन्हें जागीरों से वञ्चित कर नियन्त्रित करना बाजीराव को शक्य न प्रतीत हुआ। राजकीय सेनापति स्वयं बड़ा जागीरदार था। १७२१ ई० में खंडेराव दाभाडे की मृत्यु होने पर उस पद पर उसका बेटा त्र्यम्बकराव नियुक्त हुआ। बाजीराव ने अपनी स्वतन्त्र सेना खड़ी की, जिसके बल पर वह दूसरे सरदारों पर नियंत्रण रख सके। उस सेना के नेता रानोजी शिन्दे, मल्हार होळकर, उदाजी पँवार आदि थे। बाद में इनके वंशज भी बड़े बड़े जागीरदार बन गये।

१७२३ ई० में बाजीराव ने मालवे की स्थिति का अन्दाजा लगाने के लिए पहली चढ़ाई की।

§२. बुन्देलखंड ब्रज राजस्थान पंजाब गुजरात में मुगल साम्राज्य के विरुद्ध संघर्ष; सीमांत अरक्षित—सैयद भाइयों का निपटारा

हो जाने पर मुहम्मदशाह ने मुहम्मदअमीन को अपना वजीर बनाया और खानेदौरान शम्सामुद्दौला नामक हिन्दुस्तानी मुसलमान को मीर बख्शी। बुंदेलखंड का दूसरा स्वाधीनता-युद्ध जारी था और छत्रसाल ने कालपी दखल कर ली थी (१७२० ई०)। सैयद भाइयों के निश्चय को पलट कर अजमेर की सूबेदारी अजितसिंह के बजाय दूसरे व्यक्ति को दी गई। उसपर अजित ने विद्रोह किया और अजमेर में नये सूबेदार को न घुसने दिया। चूड़ामन जाट ने अजित और छत्रसाल दोनों को मदद भेजी। छत्रसाल को दबाने के लिए मुहम्मदखाँ बंगश पठान को इलाहाबाद की सूबेदारी सौंपी गई। इसने हाल ही में अपने फिरके को फर्रुखाबाद प्रदेश में बसाया था। बंगश ने कालपी से बुन्देलों को निकाल दिया। १७२१ ई० में मुहम्मदअमीन की मृत्यु हुई। तब निज़ाम को दक्खिन से बुला कर वज़ारत सौंपी गई। मराठों को रोकने के लिए निज़ाम ने गुजरात और मालवे में अपने सगे सूबेदार नियुक्त किये।

चूड़ामन के बेटे आपस में झगड़ते थे, उन्हें वह न मना सका तो उसने आत्मघात कर लिया। उसके भतीजे बदनसिंह ने तब सवाई जयसिंह की सेवा कर ली (१७२२ ई०), पर उसका बेटा मारवाड़ भाग गया। सवाई जयसिंह और बंगश दोनों अजित के खिलाफ भेजे गये। उसने भी तब अधीनता मानी (१७२३ ई०)। दूसरे साल अजित के छोटे बेटे बख्तसिंह ने उसे मार डाला। मारवाड़ से निपट कर बंगश ने जमना पार की (१७२४ ई०) और छह महीने में छत्रसाल को बाँदा के पास तक खदेड़ दिया।

इसी काल में पंजाब में भी सिक्ख जत्थे दिखाई देने लगे। उन्हें दबाने के लिए सूबेदार ज़करियाखाँ ने गश्ती सेना नियुक्त की।

तभी ईरान में सफावी राजवंश का अन्त हुआ था (१७२२ ई०)। सन् १७०८ में कन्दहार के गिलज़ई अफ़गान स्वतन्त्र हो गये थे। अब उन्होंने समूचा ईरान जीत लिया था। इधर अब भारत का सीमान्त अरक्षित रहने लगा था। पठानों को 'सहायता' देने के लिए काबुल के सूबेदार को जो रकम भेजी जाती थी, उसे अब खानेदौरान हजम कर लेता था। काबुल की सेना का वेतन ५-५ बरस तक पिछड़ने लगा था। निजाम इस कुशासन को ठीक न कर सका,

तो छुट्टी ले कर दिल्ली से हट गया (१७२३)।

छुट्टी बीतने पर निजाम फिर दक्खिन को भागा। बादशाह ने मुहम्मद-अमीन के बेटे कमरुद्दीन को वजीर बनाया और हैदराबाद के हाकिम को दक्खिन की सूबेदारी दे कर निजाम का मुकाबला करने को लिखा। छत्रसाल का बेटा कुँवरचन्द निजाम के साथ था। बाजीराव भी उससे जा मिला। मुगल साम्राज्य के विद्रोही का साथ देने में उन दोनों का उद्देश प्रकटतः साम्राज्य को कमजोर करना था। बराड में शकरखेडा नामक स्थान पर हुई लड़ाई में दक्खिन का सूबेदार मारा गया (१७२४ ई०) और निजाम खुदमुख्तार हो गया।† मुहम्मदशाह ने तब उसका दिल्ली आने का रास्ता रोकने को गुजरात की सूबेदारी उसके चचा हमीदखाँ के बजाय सरबुलन्द को तथा मालवे की गिरिधर-बहादुर नागर को सौंपी, और बंगश को बुन्देलखंड से बुला कर ग्वालियर भेजा।

हमीदखाँ ने गुजरात देने से इनकार किया, और दाभाडे के अधीन सरदार कन्ताजी कदम बन्दे तथा पिलाजी गायकवाड से मदद ली। उन्होंने सरबुलन्द के दो नायबों को मार डाला (१७२४-२५ ई०)। हमीदखाँ ने उन्हें गुजरात की चोथ दी। तब सरबुलन्द ने स्वयं दिल्ली से आ कर हमीदखाँ को गुजरात की सूबेदारी से निकाला; पर उसे भी मराठों को चौथ देने की बात माननी पड़ी। पिलाजी ने बड़ोदा और दाभोई दखल कर लिये (१७२७ ई०)।

मालवे में मराठों की गिरिधरबहादुर से बराबर मुठभेड़ें होती रहीं। बंगश के लौट आने से बुन्देलों को फिर छुट्टी मिली। छत्रसाल ने इस बीच बिहार की सीमा तक का प्रदेश जीत लिया। किन्तु १७२७ ई० के शुरू में बंगश और उसके बेटे कायमखाँ ने प्रयाग पर फिर जमना पार की, और दो साल तक बुन्देलों को दबाते हुए पूरबी बुन्देलखंड पूरा ले कर महोबा कुलपहाड़ जैतपुर तक छत्रसाल को धकेल दिया। व्रज से जाटों की मदद आने के बावजूद १७२८ ई० के अन्त में जैतपुर भी छिन गया। तब छत्रसाल ने सन्धि की बातचीत से बंगश को बहकाना शुरू किया।

† शकरखेडा का नाम निज़ाम ने फतह्खेडा रक्खा। वह बुलडाना जिले में है

§३. निज़ाम का दक्खिन में स्थापित होना और बाजीराव के पहले विजय—शकरखेडा की जीत के बाद निजाम और बाजीराव एक दूसरे का रुख देखते रहे। निजाम ने दक्खिन की ओर अपनी शक्ति बढ़ाई और कई छोटे छोटे सरदारों को दबाया। उसने शिवाजी के भतीजे तांजोर के राजा सर्फोजी से तिरुचिरापल्ली छीन ली। 'सर्फोजी ने शाहू से मदद माँगी; तब बाजीराव दक्खिनी दल के नेताओं के साथ गदग बेदनूर और श्रीरंगपट्टम् तक गया (१७२५-२६ ई०)। पर वह चढ़ाई विफल रही।

निजाम ने इसके बाद हैदराबाद को अपनी राजधानी बनाया और शाहू को चौथ देना बन्द कर दिया। बाजीराव झट सेना के साथ औरंगाबाद पर जा चढ़ा और निज़ाम का पीछा करके दौलताबाद के २० मील पच्छिम पालखेड पर उसे घेर लिया। निज़ाम ने तब सन्धि-भिक्षा की और चौथ की सब बाकी रकम दे दी। मुंगी-शेवगाँव में सन्धि हुई (मार्च १७२८ ई०), जिसके अनुसार निजाम राजा शाहू के सामन्त रूप में दक्खिन में स्थापित हुआ।

मालवे के किसानों और जमींदारों ने मुगल सरकार के जुल्म के खिलाफ सवाई जयसिंह से प्रार्थना की थी। जयसिंह ने कहा, बाजीराव को लिखो। मालवे के किसानों ने अपनी सेना खड़ी कर ली और बाजीराव को बुलाया। चिमाजी अप्पा खानदेश हो कर और बाजीराव बराड के रास्ते मालवे को बढ़े। अमझरा पर चिमाजी और उदाजी पँवार ने गिरिधरबहादुर और उसके भाई दयाबहादुर को घेर कर मार डाला (नव० १७२८ ई०)।

तभी बूढ़ा छत्रसाल जैतपुर के पास संकट में पड़ा था। कहते हैं, उसने बाजीराव को लिखा—

जो गति ग्राह-गजेन्द्र की; सो गति भई है आज !
बाजी जात बुन्देल की, राखो बाजी लाज !

गढ़ा-मंडला के रास्ते बाजीराव बुन्देलखंड की ओर बढ़ा। अमझरा की जीत के तीन महीने बाद मराठों ने बंगश को घेर लिया, परन्तु बंगश बहादुरी से लड़ता रहा। चार महीने बाद उसके डेरे में अनाज सौ रुपये सेर भी न मिलता था। छत्रसाल ने तब उसे जाने दिया, पर उससे लिखवा लिया कि वह

फिर जमना पार न करेगा ।

सरबुलन्दखाँ ने राजा शाहू को गुजरात की चौथ देना स्वीकार कर लिया, तो बादशाह ने उसे सूबेदारी से हटा कर अजितसिंह के बड़े बेटे अभयसिंह राठोड को उसकी जगह भेजा (१७३० ई०), तथा गिरिधरबहादुर के मारे जाने पर मालवे की सूबेदारी बंगश को सौंपी। तीन मास के अन्दर बंगश ने अधिकांश मराठों को नर्मदा पार निकाल दिया। मल्हार होळकर जयपुर भाग गया।

§४. बाजीराव द्वारा निज़ाम का षड्यन्त्र कुचला जाना— निज़ाम ने अब गुप्त षड्यन्त्र कर के पेशवा के सब शत्रुओं का गुट्ट बनाया। गुजरात को त्र्यम्बकराव दाभाडे के आदमियों ने जीता था; बाजीराव के नियन्त्रण से वे असन्तुष्ट थे। दाभाडे ने कहा—बाजीराव ने राजा शाहू को कैदी बना रक्खा है, मैं उसे मुक्त करूँगा! उसने अहमदनगर पर निज़ाम से मिल कर दक्खिन की ओर बढ़ना तय किया। उधर राजाराम के बेटे कोल्हापुर के सम्भाजी [६, ६ § ३] को निजाम ने अपनी ओर मिला लिया। तब नर्मदा के घाट पर निज़ाम और बंगश मिले और चौमुखा षड्यन्त्र पूर्ण हुआ। टिकाने की दो चोटों से बाजीराव ने उसे तोड़ दिया।

सम्भाजी के खिलाफ दक्खिनी दल भेजा गया, जिसने उसे पूरी तरह हरा दिया। सम्भाजी ने आगे से शाहू के अधीन रहना माना।

त्र्यम्बकराव के निज़ाम से मिलने पर उतारू हो जाने पर शाहू ने लाचार हो बाजीराव को उसपर आक्रमण करने की आज्ञा दी। साथ ही आदेश दिया कि भरसक उसे मना लो या पकड़ लाओ। इससे पहले कि दाभाडे निज़ाम से मिल पाय, बाजीराव गुजरात पर टूट पड़ा। दाभोई पर दाभाडे बहादुरी से लड़ा। सफेद झंडा दिखा कर बाजीराव ने कहा, 'ऐसी वीरता महाराजा के शत्रुओं के विरुद्ध दिखानी चाहिए।' पर त्र्यम्बकराव ने एक न सुनी और उसे पकड़ने के यत्न विफल हुए। उसी की तरफ से उसके मामा ने उसकी पीठ में गोली मार दी। निज़ाम और बंगश के जुदा होने के चौथे दिन यों निज़ाम का षड्यन्त्र धूल में मिल गया। दाभोई से बाजीराव सीधा निजाम की ओर बढ़ा। निजाम ने तब उससे यह गुप्त सन्धि की (१७३१ ई०) कि वह उत्तर की तरफ बेरोकटोक बढ़े,

निजाम उसे पीछे से न छेड़ेगा।

इस घरेलू युद्ध का धक्का समूचे महाराष्ट्र ने अनुभव किया। त्र्यम्बकराव की माँ उमाबाई ने शाहू के पास आ कर बाजीराव से बदला लेने के लिए कहा। शाहू ने उमाबाई के गाँव में जा कर बाजीराव को उसके पैरों गिराया, और तब उमा के हाथ में तलवार दे उसे बाजीराव का सिर काटने को कहा ! उमा ने बाजीराव को क्षमा कर दिया। तब उसका छोटा बेटा यशवन्तराव सेनापति नियुक्त किया गया। पर वह शराबी था, उसकी शक्ति धीरे धीरे गायकवाडों के हाथ चली गई।

§ ५. मराठों का मध्य मेखला में स्थापित होना—उसी वर्ष (१७३१ ई०) छत्रसाल परलोक सिधारा। बुन्देलखंड का पूर्वार्द्ध तब उसके हाथ आ चुका था। उसने बाजीराव को अपना बेटा बना कर तीन बेटों में अपना राज्य बाँट दिया। यों हृदयशाह को पन्ना, जगतराज को जैतपुर और बाजीराव को सागर-दमोह मिले। बाकी बेटों को जागीरें दी गईं। मराठों और बुन्देलों में पूरे सहयोग की सन्धि हुई।

अभयसिंह राठोड ने पिलाजी गायकवाड से बड़ोदा छीन लिया और सन्धि की बात करने के बहाने पिलाजी को डाकोर तीर्थ में बुला कर धोखे से मार डाला (१७३२ ई०)। तब कोली आदि जातियाँ, जो मराठों के पक्ष में थीं, भड़क उठीं और पिलाजी के बेटे दमाजी ने गुजरात का बड़ा अंश जीत कर अभयसिंह को जोधपुर भगा दिया।

बंगश ने १७३१ ई० में मराठों को मालवे से निकाल दिया था, पर दूसरे वर्ष वे फिर दक्खिन और बुन्देलखंड से मालवा चढ़ आये। सिरोंज पर बंगश चारों तरफ से घिर गया। दिल्ली और निजाम से व्यर्थ मदद माँगने के बाद उसने मराठों से सन्धि कर ली। तब दिल्ली से हुक्म आया कि बंगश के बजाय सवाई जयसिंह मालवे का सूबेदार नियुक्त किया गया। पर अगले वर्ष रानोजी शिन्दे और मल्हार होळकर ने गुजरात में चाँपानेर जीतने के बाद मालवा आ कर जयसिंह को भी घेर लिया। उसने हार मानी और २८ परगने दे कर छुटकारा पाया।

यों बुन्देलखंड गुजरात और मालवे में मराठे स्थापित हो गये।

§६. **उत्तर भारत पर पहली मराठा चढ़ाई**—जयसिंह दोनों पक्षों से मौके मुताबिक अपनी गौं निकलता था। इस उथलपुथल के बीच उसने अपना राज्य बढ़ाने का अवसर देखा और बूँदी के राजा बुधसिंह हाड़ा से उसका राज्य छीन कर अपने एक दामाद को दे दिया था। बुधसिंह की स्त्री ने मल्हार होळकर के पास राखी भेज उससे सहायता माँगी। यों मराठों ने राजस्थान के राजपूत राज्यों के भीतर पहलेपहल हस्तक्षेप किया। बादशाह ने खानेदौरान को उनके खिलाफ भेजा। जयसिंह और अभयसिंह भी उसके साथ बढ़े। मुकुन्दरा घाटी के आगे रामपुरा प्रदेश में उन सबको मराठों ने घेर लिया और जयपुर जोधपुर के अरक्षित इलाकों पर हमले शुरू किये। जयसिंह और खानेदौरान ने तब मराठों को मालवे की चौथ दिला देने का प्रस्ताव कर सन्धि की बात शुरू की जिससे युद्ध रुक गया।

लेकिन बादशाह ने वह प्रस्ताव मंजूर नहीं किया और जयसिंह से आगरा और मालवा के सूबे ले कर वज़ीर कमरुद्दीन को दिये। इसपर जयसिंह ने बाजीराव के पास फिर युद्ध छेड़ने का सन्देश भेजा। चिमाजी अप्पा के नेतृत्व में मराठा सेना की हरावल राजस्थान और बुन्देलखंड के रास्ते एक साथ बढ़ी। खानेदौरान, कमरुद्दीन और बंगश के नेतृत्व में मुकाबले को आई शाही फौजों को ठेलती हुई वह चम्बल तक बढ़ आई और उसकी एक टुकड़ी जमना पार कर इटावा प्रदेश में जा घुसी। पीछे से स्वयं बाजीराव चला आ रहा था। मेवाड़ की सीमा से महाराणा जगतसिंह उसे उदयपुर लिवा ले गया। मेवाड़ ने राजा शाहू को वार्षिक कर देना स्वीकार किया। बाजीराव के किशनगढ़ पहुँचने पर जयसिंह ने उससे भेंट की। इससे पहले खानेदौरान और बंगश भी सन्धि की प्रार्थना कर रहे थे। बाजीराव ने युद्ध रोक दिया और मालवे के रास्ते लौटते हुए सन्धि की बातचीत जारी रक्खी।

§७. **सिक्ख दलों का उदय**—१७३५ ई० तक पंजाब में सिक्खों ने बूढ़ा दल और तरुण दल नाम से अपने दो दल खड़े कर लिये। उनका केन्द्र अमृतसर प्रदेश था।

§८. **बाजीराव की दिल्ली चढ़ाई**—बाजीराव की पहली शर्तें ये थीं—(१) मालवे का सूबा किलों और पुरानी जागीरों के सिवाय उसे सौंप दिया जाय तथा (२) दक्खिन के छह सूबों की मालगुजारी का ५% राजा शाहू को दिया जाय। मुहम्मदशाह ने इनपर "मंजूर" लिख दिया। लेकिन मुगल साम्राज्य को कमज़ोर पा कर बाजीराव ने अपनी शर्तें पीछे बढ़ा दीं। मुहम्मदशाह ने उनमें से कुछ मान लीं, पर सब मानने से इनकार किया। बाजीराव ने जयसिंह का गुप्त सन्देश पा कर फिर चढ़ाई की। जैतपुर के रास्ते वह आगरे के दक्खिन भदावर प्रदेश में जमना पर आ निकला। मल्हार होळकर ने वहाँ से दोआब पर धावा मारा। वह शिकोहाबाद आदि लूटता हुआ जलेसर पर अवध के सूबेदार सआदतखाँ से हार कर ग्वालियर पर बाजीराव से आ मिला। दिल्ली के तीन सेनापति—खानेदौरान, बंगश, सआदतखाँ—मथुरा पर जमा हुए। तभी रेवाड़ी पर मराठा हमले की खबर सुन कर वज़ीर कमरुद्दीन उधर बढ़ा, और उधर से मथुरा की ओर लौटने लगा।

बाजीराज चम्बल पार कर इन दोनों फौजों को दाहिने बाएँ एक एक दिन की राह पर छोड़ता हुआ एकाएक दिल्ली आ पहुँचा (६–४–१७३७ ई०)! दिल्ली के दक्खिन कालिका मन्दिर पर उसने डेरा डाला। सन्धि की बातचीत होने लगी, जिससे बाजीराव ने अपना इरादा बदल दिया। "हम दिल्ली जलाना चाहते थे, परन्तु फिर देखा कि वैसा करने और बादशाह की गद्दी नष्ट करने में लाभ नहीं है, क्योंकि बादशाह और खाने-दौरान हमसे सन्धि करना चाहते हैं, पर मुगल नहीं करने देते। हमारी तरफ से कोई अत्याचार होने से राजनीति का सूत्र टूट जाता, इसलिए जलाने का इरादा छोड़ कर बादशाह और राजा बख्तमल को पत्र भेजे।" इसी बीच दूसरे दिन दिल्ली की फौज बाजीराव के मुकाबले को निकली और रिकाबगंज पर बुरी तरह हारी।

बाजीराव का दिल्ली पहुँचना सुन कर शाही सेनापति 'खीझ की अँगुली शर्म के दाँत पर रक्खे हुए' एकाएक लौटे। बाजीराव ने देखा कि बड़ी बड़ी सेनाएँ चली आ रही हैं तो वह पच्छिम की ओर हट कर अजमेर जा निकला। वहाँ से वह फिर दिल्ली पर चढ़ाई करने या अन्तर्वेद में घुसने

का इरादा कर ग्वालियर लौटा। चिमाजी को उसने लिखा—"इधर किसी का डर नहीं है, उधर निज़ाम की एड़ियों में रस्से डाले रक्खो।" किंतु बाजीराव के दिल्ली पहुँचने के तीन दिन पहले मराठों की बड़ी सेना कोंकण में पुर्तगालियों के विरुद्ध बढ़ चुकी थी, और खानदेश की मराठा टुकड़ी को भगा कर निज़ाम नर्मदा पार निकल आया था, इसलिए बाजीराव को एकाएक लौटना और कोंकण जाना पड़ा।



पेशवा बाजीराव [भा० इ० सं० मं०]

शाही दरबार में अब सब का यह मत था कि निज़ाम ही बाजीराव को रोक सकता है। इसलिए उसे फिर बुला कर बादशाह का वकील-ए-मुतलक अर्थात् राजप्रतिनिधि बनाया गया। वह पद वज़ीर से भी ऊँचा था। आगरा और मालवा के सूबे जयसिंह और बाजीराव के बजाय निज़ाम के बेटे गाज़िउद्दीन को दिये गये। निज़ाम मालवा वापस लेने चला। अपने दूसरे बेटे नासिरजंग को उसने लिखा कि बाजीराव को दक्खिन से न निकलने दे। पर बाजीराव नर्मदा पार कर आया, और भोपाल पर उसने निज़ाम का सामना किया। पालखेड और जैतपुर वाली बात दोहराई गई। निज़ाम पूरी तरह घिर गया, परन्तु तोपों के सहारे कुछ आगे बढ़ा। अन्त में दुराहासराय पर उसने सन्धि की प्रार्थना की। उसने नर्मदा से चम्बल तक के प्रान्त पर मराठा आधिपत्य मनवाने और उन्हें ५० लाख की खंडनी देने का वचन दिया (जनवरी १७३८ ई०)।

§९. आंग्रे और अंग्रेज़; पुर्तगाली युद्ध—अपने ही देश के

चांचियों को दबाने तथा कान्होजी आंग्रे की जलशक्ति तोड़ने में अपने को अशक्त देख ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अपने राजा से मदद माँगी। तब इंग्लैंड से एक जंगी बेड़ा इस प्रयोजन के लिए मुम्बई आया। गोवा और बसई के पुर्तगाली गवर्नरों ने भी उसका साथ दिया। आंग्रे के कोलाबा किले से वे सब हार कर लौटे (१७२२-२३ ई०)। दूसरे वर्ष विजयदुर्ग पर ओलन्देज़ भी वैसे ही हारे। १७२६ ई० में कान्होजी की मृत्यु हुई। तब उसके बेटे आपस में झगड़ने लगे और उन झगड़ों में पुर्तगाली भी दखल देने लगे। बाजीराव ने झगड़ों को सुलझा कर पुर्तगालियों को दस्तन्दाज़ी से रोक दिया। किन्तु उसके बाद पुर्तगाली वाइसराय के अभिमानी भतीजे ने मराठा दूत के सामने बाजीराव को 'नेगर' (काला हब्शी) कह दिया। चिमाजी अप्पा के नेतृत्व में महाराष्ट्र ने तब अपनी सारी शक्ति पुर्तगालियों के विरुद्ध लगा दी। दो वर्ष तक घोर युद्ध होता रहा (१७३७–३६ ई०)। दुराहासराय से लौट कर बाजीराव की सारी सेना कोंकण चली आई और पुर्तगालियों का समूचा 'उत्तरी प्रांत' मराठों के हाथ आया। बहादुरशाह गुजराती और अकबर जो काम करने को तरसते रहे, वह दो शताब्दी बाद पूरा हुआ। पुर्तगालियों से बसई छीनने के लिए मराठों को भारी बलिदान करना पड़ा। चिमाजी का प्रस्ताव बसई के बाद मुंबई लेने का था। पर अंग्रेजों ने शाहू के सामने गिड़गिड़ा कर उसे शांत कर लिया। शाहू ने उनके साथ मैत्री रखना तय किया।

§ १०. **नादिरशाह की चढ़ाई**—गिलज़ई पठानों का ईरान का राज्य दो वर्ष में टुकड़े टुकड़े हो गया। अंतिम सफावी शाह के बेटे तहमास्प ने सिर उठाया। खुरासान में एक तुर्कमान सैनिक नादिरकुली ने उसका सेवक बन कर ईरान को स्वतन्त्र किया और उसे गद्दी पर बिठाया (१७२६ ई०)। किन्तु तहमास्प मूर्ख और दुर्बल था। सेना ने देखा कि वह अपने देश को फिर गँवा देगा तो उसे हटा कर उसके बेटे को बादशाह बनाया। उसके मर जाने पर नादिरकुली नादिरशाह बना। उसने कन्दहार के अफगानों पर चढ़ाई की (१७३७ ई०), और मुहम्मदशाह को लिखा कि भगोड़ों को अपनी सीमा में न घुसने दो। किन्तु अफगान जब कन्दहार से गजनी और काबुल भागने लगे,

तब उस प्रान्त में उन्हें रोकने को कोई सेना न थी । नादिरशाह ने इसका जवाब तलब किया । दिल्ली से उसे साल भर तक कोई जवाब न मिला ! ध्यान रहे कि इस वक्त दिल्ली का शासन निज़ाम के हाथ में था । वह बादशाह का वकीले मुतलक और उसका चचेरा भाई कमरुद्दीन वज़ीर था । ये दोनों साहसिक विदेशी थे, जो भारत में केवल अपना भाग्य आजमाने और लाभ उठाने को आये हुए थे । हिन्दुस्तानी मुसलमान भारत को जैसे अपना देश समझ कर इससे लगाव अनुभव करते थे, वह भावना इनमें न थी । ये दोनों तुर्क थे और नादिरशाह भी तुर्क था । वस्तुतः निज़ाम ही भीतर भीतर नादिरशाह को बुला रहा था ।



नादिरशाह
[श्री शहाबुद्दीन खुदाबख्श के निजी संग्रह में से]

इस दशा में नादिर ने काबुल ले लिया (१७३८ ई०), और पेशावर ले कर पंजाब की ओर बढ़ा । दिल्ली से कमरुद्दीन, निज़ाम और खानेदौरान को बढ़ने का हुक्म हुआ । शाहदरा जा कर वे एक महीना वहीं पड़े रहे ! इस बीच नादिर ने ज़करियाखाँ [६,६§५] से लाहौर भी ले लिया और पंजाब में उसकी सेना ने अकथनीय अत्याचार किये । बादशाह ने राजपूत राजाओं को

मदद के लिए लिखा और बाजीराव से भी प्रार्थना की। जयसिंह आदि ने तो टाल दिया; पर बाजीराव ने लिखा "हमारे राज्य के लिए दिल्ली के बादशाह को ऐसे अवसर पर मदद देना बड़े गौरव की बात होगी। मल्हार होळकर, रानोजी शिन्दे और उदाजी पँवार को भेजता हूँ।" किन्तु वे सब सेनानायक पुर्तगालियों के साथ ऐसे उलझे हुए थे कि किसी तरह कोंकण से न निकल सके। पानीपत पहुँच कर दिल्ली के सेनापतियों ने बादशाह को बुलाया और उसके आने पर करनाल तक आगे बढ़े। वहाँ उन्होंने मोर्चाबन्दी कर अपने को दीवार से घेर लिया। चुस्त और सजग शत्रु ने चारों तरफ से उनके रास्ते काट दिये।

नादिर की सेना मुख्यतः सवारों की थी और वे जिज़ैल नामक लम्बी बन्दूकों से लड़ते थे। भारतीय सवारों के मुख्य शस्त्रास्त्र भाला तलवार और तीर थे। इसके सिवाय नादिर की सेना में अच्छी संख्या ऊँटसवारों की थी जो जम्बुरक अर्थात् हलकी लम्बी तोपों से लड़ते थे। इस 'दस्ती तोपखाने' के मुकाबले में भारतीयों के पास कुछ भी न था; उनका भारी 'जिंसी तोपखाना' एक जगह टिका रहता था। नादिर के शब्दों में हिन्दुस्तानी मरना जानते थे, लड़ना नहीं।

सआदतखाँ पीछे से कुमुक ला रहा था, परन्तु वह ईरानियों के हाथ कैद हुआ। खानेदौरान उसकी मदद को गया और मारा गया। कैदी सआदत के द्वारा सन्धि की बातें शुरू हुईं; ५० लाख खंडनी तय हुई, जैसी एक बरस पहले बाजीराव के लिए हुई थी। तभी मुगल दरबार में यह प्रश्न उठा कि खानेदौरान की जगह मीर-बख्शी कौन बने। इस प्रसंग में सआदत निज़ाम से रूठ बैठा। उसने नादिर से कहा, ५० लाख क्या लेते हो, दिल्ली चलो तो २० करोड़ मिलेंगे! नादिर ने निज़ाम, वज़ीर कमरुद्दीन और मुहम्मदशाह को बातचीत के लिए बुला कर धोखे से पकड़ लिया। उन कैदियों के साथ ईरानी सेना दिल्ली की ओर बढ़ी। बिना नेताओं की हिन्दी सेना तितरबितर हो गई।

नादिरशाह के दिल्ली पहुँचने पर जनता ने विद्रोह किया। तब नादिर ने कत्ले-आम का हुक्म दिया। एक दिन में २० हज़ार जानें ली गईं। उसके बाद वह दो मास तक प्रजा और अमीरों को लांछित करता और निचोड़ता

रहा। उसने अजमेर-यात्रा की इच्छा प्रकट की तो जयसिंह आदि ने अपने परिवार उदयपुर भेज दिये। बाजीराव ने चम्बल के घाटों को अपने काबू में रखना तय किया। उसने लिखा, "पुर्त्तगाली युद्ध कुछ नहीं है; दक्खिन की सब शक्ति, हिन्दू और मुस्लिम, एक करनी होगी। मैं मराठों को नर्मदा से चम्बल तक फैला दूँगा।" पर बरुई के ढहते ही (१४-५-१७३६) जब होळकर और शिन्दे बाजीराव से मिलने बुरहानपुर की तरफ बढ़े, तब नादिरशाह को दिल्ली से लौटे ६ दिन हो चुके थे।

दिल्ली से नादिरशाह कुल १५ करोड़ रुपये नकद और ५० करोड़ के रत्नाभूषण और सामान, जिनमें तख्ते-ताउस भी था, ले गया। मुहम्मदशाह को उसने उसकी जान और बादशाहत बख्शी, किन्तु ठट्टा (दक्खिनी सिन्ध) तथा सिन्ध नदी के पार के प्रान्त ले लिये और पंजाब पर आधिपत्य रख के वहाँ ज़करियाखाँ को अपनी ओर से नियुक्त किया। लौटते हुए नादिर का कुछ माल-असबाब दिल्ली के पास ही जाटों ने लूट लिया। पंजाब में सिक्खों ने रावी पर दुल्लेवाल किला बना लिया था। उन्होंने भी उसका बोझा कुछ हलका किया।

§ ११. बराड के भोंसले—१७३६ ई० में बराड के रघुजी भोंसले ने गोंडवाने में देवगढ़ का राज्य जीत लिया। इसके बाद शाहू की प्रेरणा से उसने तमिळनाड पर चढ़ाई की। तभी बाजीराव और चिमाजी दोनों भाइयों का बीमारी से देहान्त हो गया (१७४० ई०)। खबर पा कर रघुजी, जो पुद्दुचेरी में था, सातारा लौट आया, क्योंकि उसे पेशवा बनने की आशा थी। तभी निज़ाम भी दक्खिन को लौट गया।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. बाजीराव के पेशवा बनने पर मराठा दरबार में अपने लक्ष्य के सम्बन्ध में क्या क्या मुख्य मत थे ? उनमें से कौन सा माना गया ? बाद में उसमें कब कैसे क्या परिवर्त्तन हुआ ?

२. छत्रसाल ने बुन्देलखंड का दूसरा स्वाधीनता-युद्ध कब से कब तक किन दशाओं में कैसे लड़ा ?

३. निज़ामुलमुल्क दक्खिन में कैसे किस हैसियत में स्थापित हुआ ? उसका

१७४० तक का चरित लिखिए।

४. मराठे मालवे में कैसे स्थापित हुए ?

५. बाजीराव की दिल्ली चढ़ाई का वृत्तान्त लिखिए।

६. पुर्तगाली उत्तरी प्रान्त का संक्षिप्त इतिहास दीजिए।

७. नादिरशाह की चढ़ाई में भारत की कमज़ोरी किन किन बातों में प्रकट हुई ?

८. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए (१) कान्होजी आंग्रे (२) त्र्यम्बकराव दाभाडे (३) चूडामन जाट की मृत्यु (४) छत्रसाल के राज्य का बँटवारा (५) दस्ती और जिंसी तोपखाना।

अध्याय ८

मराठों के मुकाबले अंग्रेज़ों का खड़ा होना

(१७४०–१७६१ ई०)

§ १. तमिळनाड के लिए संघर्ष, बंगाल बिहार उड़ीसा पर मराठा आधिपत्य—बाजीराव की मृत्यु पर शाहू ने उसके नौजवान बेटे बालाजी को पेशवा बनाया और रघुजी भोंसले को, जो उसके विरोधी दक्खिनी दल का नेता था, फिर तमिळनाड की चढ़ाई पर भेजा।

राजाराम के जिंजी छोड़ने के बाद से तमिळ देश पर दिल्ली साम्राज्य का बराबर प्रभुत्व था। आरकाट तब तमिळनाड की राजधानी थी। आरकाट का नवाब दक्खिन के सूबेदार के अधीन शासन करता था। पहले जुल्फिकारखाँ ने, फिर फर्रुखसियर ने, सआदतुल्लाखाँ को आरकाट की नवाबी सौंपी थी। शकर-खेडा की जीत के बाद निज़ाम दक्खिन का स्वतन्त्र 'सूबेदार' बना तो उसने भी सआदतुल्ला को बना रहने दिया। लम्बे सुशासन के बाद १७३१ ई० में सआदत की मृत्यु हुई। तब उसका भतीजा दोस्तअली आरकाट का नवाब बना। रघुजी कर्णाटक पठार से तमिळ मैदान में उतरने लगा तो दोस्तअली ने आरकाट के ५० मील पच्छिम आम्बूर के पास दमलचेरी घाट पर उसे रोका। दोस्तअली युद्ध में हारा और मारा गया। रघुजी तमिळ मैदान की ओर बढ़ा। दोस्तअली का दामाद चन्दासाहब तिरुचिरापल्ली में लड़ता हुआ कैद हुआ (१७४१ ई०)।

रघुजी ने उसे सातारा भेज दिया और कृष्णा के दक्खिन गुत्ती में बसे हुए मराठा सरदार मुरारीराव घोरपडे को त्रिची (तिरुचिरापल्ली) में अपना हाकिम नियुक्त किया। चन्दा ने अपना परिवार पुद्दुचेरी के फ्रांसीसी हाकिम द्यूमा (Dumas) के पास भेज दिया था।

रघुजी ने पुद्दुचेरी पहुँच कर द्यूमा से खिराज का बकाया और चन्दा-साहब का परिवार तलब किया। द्यूमा ने इनकार करते हुए कहला भेजा कि फ्रांसीसी राष्ट्र ने कभी किसी को खिराज नहीं दिया। रघुजी ने अपने दूत को यह देखने भेजा कि द्यूमा किस बूते पर ऐसा लिखता है। द्यूमा ने उसे अपनी रसद तोपें और कवायद सीखे हुए सिपाही दिखाये। १२०० फ्रांसीसी सैनिकों के सिवाय वहाँ ५००० भारतीय सिपाही फ्रांसीसी नियन्त्रण में कवायद सीखे हुए तैयार थे। उनसे प्रभावित हो कर रघुजी लौट गया। उसे लौटा देने के लिए निज़ाम ने द्यूमा को भेंट भेजी और मुहम्मदशाह ने उसे नवाब का पद दिया।

अठारहवीं सदी के शुरू में औरंगज़ेब ने मुर्शिदकुलीखाँ को बंगाल और उड़ीसा का नाज़िम और दीवान नियत किया था। उसके बाद उसका पद तथा बिहार की सूबेदारी भी उसके दामाद को मिली। अब अलीवर्दीखाँ ने उसके बेटे को मार कर वह पद छीन लिया और बादशाह से भी उस पद पर अपनी नियुक्ति की स्वीकृति ले ली (१७४० ई०)! दूसरे पक्ष के बुलाने से पहले रघुजी भोंसले के मन्त्री भास्करपन्त कोल्हटकर ने और फिर खुद रघुजी ने रामगढ़ (आधुनिक हज़ारीबाग ज़िले) और बाँकुड़ा के रास्ते बर्दवान पर चढ़ाई की और कटवा में छावनी डाल कर राजमहल से मेदिनीपुर तक बंगाल का पच्छिमी पहाड़ी प्रदेश जीत लिया।

दुराहासराय की सन्धि को पक्का कराने के लिए पेशवा बालाजीराव ग्वालियर तक बढ़ आया था। बादशाह की तरफ से सवाई जयसिंह ने धौलपुर में उससे मिल कर उसे मालवे का सूबा दे दिया। उसके बाद बादशाह ने उससे प्रार्थना की कि बंगाल से रघुजी को निकाल दो। तदनुसार फरवरी १७४३ में बालाजी प्रयाग बनारस गया मुंगेर बीरभूम के रास्ते बङ्गाल की राजधानी मुर्शिदाबाद की तरफ बढ़ा। कटवा के उत्तर पलाशी गाँव पर अलीवर्दी

ने उससे मिल कर बंगाल की चौथ देना स्वीकार किया। रघुजी बीरभूम की तरफ़ हट गया था; बालाजी ने पीछा कर उसे भगा दिया।

तभी तमिळनाड में भी रघुजी के किये कराये पर पानी फिर गया। निज़ाम ने वह प्रान्त फिर से जीत कर अनवरुद्दीन को नवाब नियत किया और मुरारीराव घोरपडे को भेंट-पूजा से खुश कर लौटा दिया। इस दशा में राजा शाहू ने बालाजी और रघुजी के बीच समझौता करा दिया (३१-८-१७४३)। मालवा आगरा इलाहाबाद के सूबे बालाजी के अधिकार-क्षेत्र माने गये तथा बिहार बंगाल उड़ीसा और अवध रघुजी के। मुगल साम्राज्य की जड़ हिल चुकी थी। उसकी शाखाएँ बटोरने का काम यों शाहू ने दो नेताओं को बाँट दिया।

इसके बाद तुरन्त ही रघुजी ने नागपुर के गोंड राज्य को जीत लिया। फिर सन् १७४४ के शुरू में भास्करपन्त ने बंगाल पर दोबारा चढ़ाई की। इस बार अलीवर्दीखाँ ने उसे सन्धि की बातचीत के बहाने बुला कर उसके २१ नायकों सहित कत्ल कर डाला (३१-३-१७४४)। अगले वर्ष अलीवर्दी के अफ़गान सैनिकों ने, जो दरभंगे में बसे हुए थे, विद्रोह किया। उनके बुलाने से रघुजी भोंसले ने फिर चढ़ाई की, उड़ीसा दखल कर लिया और पच्छिमी बंगाल में छावनियाँ डाल कर बिहार में अफ़गानों को मदद दी। बादशाह ने पेशवा से सन्धि करके बिहार की १० लाख चौथ पेशवा के लिए तथा बंगाल की २५ लाख बराड के भोंसले के लिए नियत कर दी। लेकिन बूढ़े अलीवर्दी ने भोंसले को चौथ देना स्वीकार न किया और आगे पाँच वर्ष तक लड़ता रहा। अन्त में सन् १७५१ में उसने भी सन्धि की, जिसके अनुसार मेदिनीपुर ज़िले के सिवाय समूचा उड़ीसा प्रान्त रघुजी को "जागीर के रूप में" दे दिया, और बंगाल की चौथ १२ लाख रुपया वार्षिक देना स्वीकार किया।

§२. **"भारतीय सिपाही का आविष्कार"**—रघुजी की तमिळ चढ़ाई से मराठा नेताओं को पहलेपहल फ्रांसीसियों की सिखाई हुई नये नमूने की सेना का पता मिला। तब तो वह घटना छोटी प्रतीत हुई, पर इतिहास में उसका बड़ा महत्त्व था।

१८वीं सदी में युरोप ने स्थल-युद्ध-कला में भी बड़ी उन्नति कर ली

थी। बन्दूक का प्रयोग बढ़ जाने से वहाँ पैदल बन्दूकचियों की पाँतें तैयार हो कर युद्ध का मुख्य साधन बन गई थीं। ये पाँतें एक साथ एक आदेश पर गोली दागतीं और इनकी सारी गति नेताओं के आदेशों से नियमित रहती। इनके सामने ढीले नियन्त्रण पर चलने वाले रिसाले निकम्मे हो गये। इन सुनियन्त्रित पैदल सेनाओं से राजाओं ने अपने उच्छृङ्खल सरदारों के कोटले ढहा कर उन्हें वश में कर लिया। यों सेनाओं और युद्ध-शैली में केन्द्रीय नियन्त्रण बढ़ जाने से युरोप की शासनसंस्था में भी राजाओं का केन्द्रीय नियन्त्रण बढ़ गया। भारत में जो युरोपी थे वे सोचने लगे कि हम यदि भारत में अपनी सेनाएँ ला सकें तो यहाँ के समुद्रतट के प्रान्तों को आसानी से जीत लें। युरोप के मध्य भाग अर्थात् जर्मनी और उसके पड़ोसी प्रदेशों का राजा तब सम्राट् कहलाता था। भारत में रहने वाले कुछ अंग्रेज़ों ने जर्मन सम्राट् को यहाँ सेना लाने के लिए लिखा भी। पर इतनी दूर बड़ी सेना लाना तब सम्भव न था। इस दशा में पुद्दुचेरी के हाकिम द्यूमा ने भारतीय सिपाहियों को कवायद सिखा कर उन्हें नई युद्धकला में दीक्षित किया। उसने यह पहचाना कि भारतवर्ष के लोगों में पुरानी सभ्यता के वारिस होने के कारण इतनी समझ और भौतिक वीरता है कि वे अच्छे सैनिक बन सकते हैं। अफरीका आदि की दूसरी जिन जातियों से युरोपियों को वास्ता पड़ा था, वे ऐसी न थीं। साथ ही उसने देखा कि भारतीयों की महात्त्वाकांक्षा और जिज्ञासा ऐसी सोई हुई हैं कि जितनी बातें उन्हें सिखा दी जायँ उतनी सीख लेते हैं, उससे आगे बढ़ कर समूचे ज्ञान को अपनाने की उत्कंठा उनमें नहीं जागती। उनमें राष्ट्रीयता की अनुभूति भी इतनी मन्द है कि उन्हें किसी के भी भाड़े के सैनिक बन कर अपने भाइयों पर गोली दागने में कोई हिचक नहीं होती। इसलिए जहाँ वे दूसरों के अच्छे हथियार बन सकते हैं वहाँ इस बात का खटका नहीं है कि वे स्वयं युरोपी ढंग की सेनाएँ संघटित कर लें। प्रत्युत उन्हीं के द्वारा युरोप वाले भारत को जीत सकेंगे। द्यूमा को जो यह नई बात सूझी, इसे युरोप वालों ने "भारतीय सिपाही का आविष्कार" कहा। १८वीं सदी का यह सबसे बड़ा सामरिक आविष्कार था। युरोपियों के हाथ में इससे ऐसा साधन आ गया जिससे उन्होंने पृथ्वी का नक्शा पलट दिया।

§ ३. राजस्थान और महाराष्ट्र के भीतरी झगड़े—सन् १७४३ में सवाई जयसिंह की मृत्यु हुई। उसी वर्ष राजा शाहू को असाध्य रोग हुआ और छह बरस बीमार रह कर वह परलोक सिधारा (१४-१२-१७४६)। ६-६-१७४७ को नादिरशाह कत्ल किया गया तथा १५-४-१७४८ को मुहम्मदशाह और २१-५-१७४८ को निज़ाम चल बसा। १७४६ ई० में मारवाड़ का राजा अभयसिंह मरा। इन सब मृत्युओं से उत्तराधिकार के अनेक झगड़े खड़े हुए।

जयसिंह का बड़ा बेटा ईश्वरीसिंह जयपुर की गद्दी पर बैठा तो उसके छोटे भाई माधोसिंह ने राज्य का बड़ा भाग माँगा। माधोसिंह के मामा उदयपुर के महाराणा जगतसिंह ने अपने भानजे का पक्ष लिया। राजपूतों के इन तुच्छ झगड़ों में उलझ कर मराठा सरकार भी पथभ्रष्ट हो गई। पहले वह ईश्वरीसिंह के पक्ष में थी, तो भी महाराणा ने मल्हार होळकर को अपने पक्ष में खींच लिया। बाद में मराठा सरकार ने भी माधोसिंह का पक्ष ले लिया। ईश्वरीसिंह ने पेशवा को याद दिलाई कि उसके पिता और बाजीराव की कैसी दाँतकाटी रोटी थी, लेकिन बालाजीराव ने एक न सुनी और १७४८ ई० में जयपुर राज्य पर चढ़ाई कर दी। ईश्वरीसिंह को झुकना पड़ा। दो बरस बाद वह हरजाने की रकम न चुका सका और मराठों ने फिर चढ़ाई की तो उसने और उसकी रानियों ने आत्महत्या कर ली। इन घटनाओं से राजपूत मराठों के शत्रु बन गये। माधोसिंह जयपुर का राजा बना, पर अब उसका रुख बदल गया, और समूचे राज्य में मराठों के विरुद्ध विद्रोह हुआ जो कठिनाई से दबाया गया।

अभयसिंह के मरने पर उसका भाई बख्तसिंह तथा उसका बेटा रामसिंह आपस में लड़ने लगे। बख्तसिंह ने १७५१ ई० में राज छीन लिया, पर अगले वर्ष वह मर गया और उसका बेटा विजयसिंह उत्तराधिकारी हुआ।

राजा शाहू के कोई सन्तान थी। उसकी बीमारी के छह वर्षों में उत्तराधिकार के अनेक प्रस्ताव पेश हो कर रद्द होते रहे। ताराबाई ने कहला भेजा कि उसका एक पोता मौजूद है जिसे उसने रजसबाई से बचाने को छिपा दिया था। बड़ी जाँच-पड़ताल के बाद यह बात ठीक मानी गई। शाहू की मृत्यु के

बाद बालाजी और अन्य प्रधानों ने शाहू की इच्छानुसार ताराबाई के पोते रामराजा को सातारा की गद्दी दी। रघुजी भोंसले ने भी इस बात में बालाजी का साथ दिया। किन्तु ताराबाई की आकांक्षा अपने पोते के नाम पर स्वयं शासन करने की थी। उसने उमाबाई दाभाडे [६, ७§४] से मिल कर षड्यन्त्र रचा और अपने पोते को भी षड्यन्त्र में मिलाना चाहा, पर उसके न मानने पर सातारा का गढ़ छीन कर उसे कैद कर लिया। यशवन्तराव दाभाडे और दमाजी गायकवाड ने महाराष्ट्र पर चढ़ाई कर दी। बालाजी तब हैदराबाद के इलाके में गया हुआ था। उसे एकाएक लौटना पड़ा (अप्रैल १७५१)। विद्रोह को कुचल कर उसने दाभाड़े और गायकवाड को कैद कर लिया और सातारा गढ़ और रामराजा ताराबाई के हाथ में रहने दिये। दमाजी गायकवाड ने गुजरात के कर का पिछला सब बकाया और आगे से वार्षिक कर और सब विजयों का आधा हिस्सा देना तथा राजकीय सेवा में अपनी सेना भेजना स्वीकार किया। ताराबाई ने भी पेशवा से समझौता किया, उसका गढ़ और कैदी उसके हाथ में रहने दिये गये।



बालाजीराव पेशवा, दाहिने उसका पुत्र विश्वासराव, सामने नरो शंकर दानी (तीनों बैठे हुए) [भा० इ० सं० मं०]

गुजरात के दो अंशों—अहमदाबाद और खम्भात—में अब तक दिल्ली की बादशाहत बनी हुई थी। इस समझौते के बाद बालाजी के भाई रघुनाथराव (राघोबा) के नेतृत्व में सम्मिलित मराठा सेना ने समूचा गुजरात जीत लिया (१७५२-५३ ई०)।

§४. उत्तर भारत में पठान और मराठे—१७वीं शताब्दी के

उत्तरार्ध और १८वीं के शुरू में प्राचीन पंचाल देश में अनेक पठान आ बसे थे। फ़रुखाबाद और शाहजहाँपुर में तथा बरेली ज़िले के आँवला और बानगढ़ कस्बों में [नक्शा ७] उनकी खास बस्तियाँ थीं। अफ़गानिस्तान में पहाड़ को रोह कहते हैं, इससे ये लोग रुहेले कहलाये। पुराने ज़मीदारों से छीन खसोट कर रुहेलों ने बहुत सी जागीरें बना लीं। १७४१ ई० में उनके नेता अलीमुहम्मद ने कटहर के फौजदार को मार डाला। कमज़ोर मुगल दरबार ने अलीमुहम्मद को ही फौजदार बना दिया। कटहर या सम्भल का इलाका (उत्तर पंचाल) अब रुहेलखंड कहलाने लगा। रुहेलों की छीनाखसोटी तब और भी बढ़ गई। १७४४ में खुद बादशाह ने बानगढ़ पर चढ़ाई की और अलीमुहम्मद को रुहेलखंड से हटा कर सरहिन्द का फौजदार बना दिया। हमने देखा है कि इसी काल—१७४५ ई० में ही—दरभंगे के पठानों ने भी बंगाल के सूबेदार के विरुद्ध विद्रोह कर रघुजी भोंसले को बुलाया था।

उसी वर्ष पंजाब के ज़बरदस्त सूबेदार ज़करियाखाँ की मृत्यु हुई और उसके बेटे आपस में लड़ने लगे।

नादिरशाह के अधीन अहमद अब्दाली नामक पठान उसका सबसे योग्य सेनापति था। नादिर के मारे जाने पर उसने मुकुट धारण किया और कन्दहार आ कर अफ़गानों का शाह बन गया। उसी साल जाड़े में उसने भारत पर चढ़ाई की। ज़करिया के बेटे से लाहौर छीन कर वह आगे बढ़ा। दिल्ली से वज़ीर कमरुद्दीन और शाहज़ादा अहमद उसके मुकाबले को चले। सरहिन्द के पास मानुपुर पर लड़ाई हुई जिसमें कमरुद्दीन तो मारा गया, पर उसके बेटे मुइनुल्मुल्क तथा सआदतखाँ के भतीजे अवध के सूबेदार सफदरजंग ने अब्दाली को हरा कर लौटा दिया (११-३-१७४८ ई०)। पठानों ने मुगल साम्राज्य से कभी समझौता न किया था। अब्दाली की इस चढ़ाई के अवसर पर उत्तर भारत के पठान फिर से मुगल साम्राज्य के अन्त और पठान साम्राज्य की स्थापना के सपने देखने लगे। अलीमुहम्मद सरहिन्द से भाग आया और उसके रुहेलों ने पूरा रुहेलखंड दखल कर लिया।

मानुपुर की लड़ाई के एक मास बाद मुहम्मदशाह की मृत्यु हुई।

उसका बेटा अहमदशाह दिल्ली की गद्दी पर बैठा। उसने मुइनुल्मुल्क को पंजाब की सूबेदारी तथा सफदरजंग को वज़ीर का पद दिया। तभी अलीमुहम्मद



अहमदशाह दरबार में
बादशाह के बायें सब से आगे मुइनुल्मुल्क, दाहिने दूसरे गाज़िउद्दीन
[दिल्ली संग्रहालय, भा० पु० वि०]

भी मर गया। उसके पीछे चार रुहेले सरदार मिल कर रुहेलखंड का शासन चलाने लगे। सफदरजंग ने अपने इन लड़ाकू पड़ोसियों से छुटकारा पाने को उन्हें परस्पर लड़ाने की युक्ति सोची। इसीलिए उसने फर्रुखाबाद के कायमखाँ बंगश [६, ७ § २] को रुहेलखंड का सूबेदार बना कर भेजा। कायमखाँ

मारा गया, तब सफदर ने उसकी जागीर ज़ब्त कर ली !

सन् १७४६ के अन्त में अब्दाली ने फिर पंजाब पर चढ़ाई की। मुइन ने चनाब पर उसका सामना किया, पर उसे दिल्ली से कोई मदद न मिली और लाचार उसने अब्दाली को वार्षिक कर का वचन दे कर लौटाया।

कायमखाँ के भाई अहमद बंगश के नेतृत्व में फर्रुखाबाद के पटानों ने विद्रोह किया। उनसे लड़ता हुआ सफदरजंग बुरी तरह हारा (१३-६-१७५०)। तब उसने मराठों तथा ब्रज के जाटों की सहायता ली। मल्हार होळकर और रानोजी शिन्दे (मृत्यु १७५० ई०) का बेटा जयप्पा जयपुर में थे। वहाँ से वे पेशवा की आज्ञा से दोआब आये। ब्रज का नेता अब चूड़ामन के भतीजे बदनसिंह [६,७§२] का दत्तक पुत्र सूरजमल था। बदनसिंह ने जयपुर के सामन्त रूप में अपनी शक्ति बना ली थी। सिनसिनी थूण आदि पुराने गढ़ों की जगह उसने भरतपुर दीग कुम्भेर आदि गढ़ बना लिये थे।

मराठों और ब्रज की सेना ने पठानों को हरा कर फर्रुखाबाद का किला फतहगढ़ ले लिया (१६-४-१७५१)। अहमद बंगश ने आँवले में शरण ली। तब मराठों ने रुहेलखंड पर चढ़ाई की और रुहेलों को कुमाऊँ की तराई तक धकेल दिया। मार्च १७५२ में सन्धि हुई जिससे दक्खिन पंचाल में इटावा आदि इलाके मराठों को मिले।

इधर दिसम्बर १७५१ में अब्दाली ने पंजाब पर फिर चढ़ाई की, क्योंकि मुइन ने उसके पास कर न भेजा था। मुइन का दीवान राजा कौड़ामल लड़ता हुआ मारा गया (५-३-१७५२); तब मुइन को अब्दाली का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा। बादशाह सफदरजंग को बुलाता रहा कि रुहेलों से सन्धि करके शीघ्र लौटे, पर सफदर मुइन का नाश चाहता था इससे वह ढीलढाल करता रहा। अब्दाली के लाहौर ले लेने पर सम्राट् ने उसे लिखा कि अब्दाली के खिलाफ मराठों की मदद लाओ। इसलिए सफदर ने मराठों से सन्धि की जिसकी मुख्य शर्तें ये थीं कि पेशवा को दिल्ली साम्राज्य की सब भीतरी विद्रोहियों और बाहरी शत्रुओं से रक्षा का भार सौंपा गया, जिसके बदले में उसे अजमेर और आगरे की सूबेदारी, पंजाब और सिन्ध की चौथ, हिसार सम्भल मुरादाबाद

बदाऊँ ज़िलों की जागीर तथा पंजाब के चार महालों की मालगुज़ारी दी गई। दक्खिन, मालवा और बिहार-बंगाल का आधिपत्य उसे पहले ही सौंपा जा चुका था। इस सन्धि से अब अवध और इलाहाबाद के सिवाय समूचे भारत का आधिपत्य पेशवा को सौंप दिया गया। सफदर मराठों की सहायता से काबुल भी वापस लेने की बातें करने लगा।

लेकिन वह जब ढीलढाल कर रहा था, तभी अब्दाली ने लाहौर से अपना दूत दिल्ली भेज कर पंजाब का मुतालबा किया था, और कमज़ोर बादशाह ने उसे पंजाब दे दिया था। सफदर ने दिल्ली पहुँच कर यह सुना तो मराठों के साथ फौरन पंजाब पर चढ़ाई करने को तैयार हो गया। लेकिन पेशवा मराठों को तभी दक्खिन आने को पुकार रहा था। घरेलू विद्रोह को तो वह दबा चुका था, पर एक और भयंकर शत्रु से उसे वास्ता पड़ा था।

§५. **पंजाब में सिक्ख शक्ति का उदय**—ज़करियाखाँ की मृत्यु के बाद से सिक्ख पंजाब में प्रबल होते गये। अब्दाली की पिछली लड़ाई के बीच उन्होंने अमृतसर से पहाड़ों तक कब्ज़ा कर लिया था। मुइन ने अब्दाली के लौटने पर अदीना वेग को उन्हें दबाने भेजा। अदीना ने उन्हें हरा कर उनसे यह समझौता किया कि उनसे मालगुज़ारी नाम को ली जायगी और वे दूसरी प्रजा से चुंगी वसूल कर सकेंगे। यों पंजाब में एक स्थानीय शक्ति भी उठ खड़ी हुई। उस वर्ष के अन्त में मुइन की मृत्यु हुई। उसकी विधवा मुगलानी बेगम पंजाब का शासन चलाने लगी।

§६. **दक्खिन में फ्रांसीसी और अंग्रेज़ शक्ति का उदय**—सन् १७४४ में इंग्लिस्तान और फ्रांस में युद्ध छिड़ा, तब द्यूमा के उत्तराधिकारी द्यूप्ले ने चोळमंडल की मद्रास आदि सब अंग्रेज़ी बस्तियाँ छीन लीं। केवल एक देवनपटम् (फोर्ट सेंट डैविड) अंग्रेज़ों के पास बचा।

द्यूप्ले ने नवाब अनवरुद्दीन से मदद ली थी और बदले में उसे मद्रास देने को कहा था। अब वह उस वचन को भूल गया। अनवरुद्दीन ने अपने बेटे को १० हज़ार फौज के साथ मद्रास पर भेजा। २३० फ्रांसीसियों और ७०० भारतीय सिपाहियों की सेना ने अडयार नदी पर उस फौज को हरा कर

उसकी तोपें छीन लीं (१७४६ ई०)। इस लड़ाई से सारे भारत में उस नई शक्ति की चर्चा पहुँच गई जिसे रघुजी भोंसले ने पाँच बरस पहले देखा था, और यह प्रकट हो गया कि युरोपी तरीके पर तैयार की हुई सेना के सामने भारतीय सेना किसी काम की न थी। इंग्लिस्तान और फ्रांस ने १७४८ ई० में सन्धि करके एक दूसरे की बस्तियाँ लौटा दीं।

द्यूप्ले ने अब द्यूमा के इस नये हथियार द्वारा भारतीय राजनीति में हाथ डाल कर फ्रांसीसी साम्राज्य खड़ा करने का जतन किया। चन्दासाहब का परिवार पुद्दुचेरी में ही था। द्यूप्ले ने सोचा यदि वह चन्दा को कैद से छुड़ा कर तमिळ देश का नवाब बना सके तो वह स्वयं वहाँ का सर्वसर्वा हो जाय। उसने राजा शाहू को सात लाख रुपया दे कर चन्दासाहब को छुड़ा लिया (१७४८ ई०)।

तभी निज़ामुल्मुल्क भी चल बसा और उसके दूसरे बेटे नासिरजंग तथा उसके दोहते मुज़फ्फरजंग में युद्ध छिड़ा। नासिर ने मराठों से मदद पाई। चन्दासाहब मुज़फ्फरजंग से जा मिला तथा दोनों पहले तमिळनाड गये। सीमा पर पहुँचते ही फ्रांसीसी सेना उनसे आ मिली। नवाब अनवरुद्दीन ने दमलचेरी घाट पर उनका सामना किया। अनवरुद्दीन मारा गया और उसका बेटा मुहम्मद-अली बचो-खुची सेना के साथ कावेरी पार त्रिची (तिरुच्चिराप्पल्ली) भाग गया।

द्यूप्ले ने कहा, फौरन त्रिची पर चढ़ाई की जाय; लेकिन मुज़फ्फर और चन्दासाहब ने महीनों जश्न-जुलूसों में बिता दिये, और वे तांजोर तक ही पहुँचे थे कि नासिरजंग बड़ी फौज ले कर उनपर आ पड़ा (दिस० १७४६ ई०)। फ्रांसीसी सेना के अनेक अफसर इस्तीफे दे कर चले गये थे। मुजफ्फर ने अपने को मामा के हाथ सौंप दिया। चन्दासाहब पुद्दुचेरी भागा। द्यूप्ले ने भी सन्धि का सन्देश भेजा, पर साथ ही नासिरजंग के पठान सरदारों से षड्यन्त्र शुरू किया। नासिर आरकाट जा कर ऐश में डूब गया।

तब द्यूप्ले अपनी ताकत परखने लगा। थोड़ी सी सेना समुद्र के रास्ते भेज उसने मसुलीपटम ले लिया। फिर तमिळनाड के सबसे मजबूत गढ़ जिंजी पर एक टुकड़ी भेज कर एक रात में उसे छीन लिया! नासिर ने तब द्यूप्ले

से सन्धि कर ली। लेकिन तब तक पठान सरदारों वाला षड्यन्त्र भी पक चुका था और एक सरदार की गोली से नासिरजंग का काम तमाम हो गया (५-१२-१७५०)।

मुजफ्फर कैद से छूट कर पुद्दुचेरी गया। उसने द्यूप्ले को कृष्णा से कन्याकुमारी तक का नाजिम तथा चन्दासाहब को उसका नायब बनाया। मुहम्मद-अली फिर त्रिची भागा, और अंग्रेज़ों मराठों तथा मैसूर के राजा से मदद माँगने लगा। फ्रांसीसी सेनापति दि-बुसी मुज़फ्फरज़ंग को दक्खिन के सूबेदार की गद्दी पर बैठाने गोलकुंडा ले चला। रास्ते में एक बलवा दबाते हुए मुज़फ्फर मारा गया। उसके तीन मामा वहीं मौजूद थे। दि-बुसी ने उनमें से बड़े सलाबतजंग को सूबेदार बना कर प्रयाण जारी रक्खा।

नासिरजंग की मृत्यु पर बादशाह ने पेशवा की प्रेरणा से उसके बड़े भाई गाज़िउद्दीन को, जो दिल्ली में ही था, दक्खिन की सूबेदारी दी। गाज़िउद्दीन ने पेशवा को अपना नायब नियत किया। सलाबतजंग कृष्णा पर पहुँचा तो पेशवा उसका रास्ता रोके खड़ा था। लेकिन तभी पेशवा को महाराष्ट्र के घरेलू विद्रोह की खबर मिली और अपनी कठिनाई का पता लगने दिये बिना वह सलाबत से बड़ी रकम लेना ठीक कर के लौट गया। दि-बुसी ने सलाबत-जंग को औरंगाबाद पहुँचा कर सूबेदार घोषित किया (२०-६-१७५१)।

उधर चन्दासाहब ने त्रिची को घेर लिया था। अंग्रेज़ों ने भी अब भार-तीय सिपाहियों की सेना तैयार कर ली थी और यह समझ कर कि मुहम्मदअली को बचाने में ही उनका बचाव है, उसकी मदद करने लगे थे। इस प्रसंग में क्लाइव नामक अंग्रेज़ ने यह प्रस्ताव किया कि आरकाट पर हमला किया जाय तो चन्दा उसे बचाने के लिए त्रिची का घेरा खुद ढीला कर देगा। तदनुसार क्लाइव ने आरकाट ले लिया (११-६-१७५१)। परिणाम वही हुआ। चन्दासाहब ने अपने बेटे राजूसाहेब के साथ अपनी आधी सेना आरकाट भेजी। उधर मुहम्मदअली की मदद में मैसूरी सेनापति नन्दिराज तथा मुरारीराव घोरपडे भी आ गये थे। राजूसाहेब ने आरकाट को आ घेरा। उस फूटे कोटले में मुट्ठी भर सेना के साथ क्लाइव बहादुरी से डटा रहा। मुरारीराव उसकी मदद

को आया; तब राजूसाहेब को घेरा उठाना पड़ा (२५-११-१७५१)। क्लाइव तब मैदान में निकल कर लड़ता रहा।

घर का विद्रोह दबा कर बालाजी ने फिर औरंगाबाद पर चढ़ाई की। इसपर दि-बुसी गोलकुंडा से बढ़ा और मराठों को हराता हुआ पूने से १६ मील कोरेगाँव तक आ पहुँचा (२८-११-१७५१)। इस युद्ध में युरोपी शैली की चुस्त और नियमित गोलाबारी को पहली बार देख कर मराठे दंग रह गये। तो भी उन्होंने जी-जान से मुकाबला किया और चारों तरफ छापे मार कर शत्रु को सताते रहे। रघुजी भोंसले ने पेनगंगा और गोदावरी के बीच निज़ाम का पूरबी प्रदेश दबा लिया। सलाबतजंग ने तब अहमदनगर लौट कर लड़ाई बन्द कर दी। पेशवा के बुलाने से उत्तर भारत की मराठा सेना गाज़िउद्दीन को साथ ले कर दिल्ली से रवाना हुई (४-५-१७५२)। बुरहानपुर और औरंगाबाद के मुसलमान गाज़िउद्दीन के पक्ष में थे। उनकी मदद से उसने औरंगाबाद ले लिया।

इस बीच त्रिची के मोर्चे पर मुहम्मदअली का पलड़ा भारी होते देख तांजोर के राजा ने भी उसकी मदद की। चन्दासाहब योग्य शासक था; वह सफल होता तो मैसूर तांजोर आदि दक्खिन के सब छोटे राज्यों को जीतने की कोशिश करता; इसी से वे उसके विरोधी थे। अन्त में चन्दासाहब और फ्रांसीसी सेना को श्रीरंगम् द्वीप में हटना पड़ा, जहाँ वे खुद घिर गये। तांजोरी सेनापति ने चन्दासाहब को धोखे से पकड़ कर मार डाला (जून १७५२)।

मुहम्मदअली ने मैसूरियों को तिरुच्चिराप्पल्ली देने का वचन दिया था। अब उसने धोखा दिया और गढ़ में अंग्रेज़ी सेना डाल ली। इसपर नन्दिराज और मुरारीराव फिर घेरा डाल कर पड़े रहे और फ्रांसीसियों का पक्ष लेने लगे।

गाज़िउद्दीन की एक सौतेली माँ ने उसे ज़हर दे दिया (१६-१०-१७५२)। तब सलाबतजंग के राज्य में झगड़ा खतम हुआ और उसने फ्रांसीसियों को बड़े पुरस्कार दिये। द्यूप्ले ने राजूसाहब को तमिळनाड का नवाब घोषित किया। गाज़िउद्दीन ने मराठों को बुरहानपुर औरंगाबाद के इलाके देने को कहा था, पेशवा ने उनका मुतालबा न छोड़ा। अन्त में सलाबतजंग ने भालकी पर पेशवा से सन्धि की (२५-११-१७५२), और बराड के पच्छिम के ताप्ती-

गोदावरी के बीच के प्रदेश दे दिये ।

यों पाँच बरस के युद्ध का परिणाम यह निकला कि हैदराबाद में, जिसे मराठे अपने मुँह का कौर समझे हुए थे, फ्रांसीसी शक्ति स्थापित हो गई, पर उसकी थोड़ी-बहुत रोकथाम पेशवा कर पाया । तमिळनाड में जिंजी फ्रांसीसियों के हाथ और आरकाट और त्रिची अंग्रेजों के हाथ चले गये, तथा मैदान में दोनों का युद्ध चलता रहा जिसमें मैसूरी और मुरारीराव अब फ्रांसीसियों का साथ दे रहे थे ।

§ ७. **बालाजीराव की दिशामूढ़ राजनीति**—१७५२ तक महाराष्ट्र में भीतरी शान्ति हो कर नई व्यवस्था स्थापित हो चुकी, दिल्ली में सफदरजंग द्वारा तथा बंगाल में अलीवर्दीखाँ के साथ हुई सन्धि से प्रायः समूचे भारत का आधिपत्य मराठों को प्राप्त हो चुका तथा भालकी की सन्धि से दक्खिन में भी तमिळनाड के सिवाय सर्वत्र शान्ति हो चुकी थी । बाजीराव की मृत्यु के बाद से घटनाओं की जो नई परंपरा शुरू हुई थी वह यों १७५२ में आ कर पूरी हुई । महाराष्ट्र के नेताओं के लिए अब परिस्थिति को देखने-सोचने का अवसर था । इन बारह बरसों में परिस्थिति बहुत बदल गई थी ।

महाराष्ट्र के भीतरी नेतृत्व में शिवाजी के वंशज अब आँख से ओझल हो गये थे । यों तो राजा शाहू ने भी घटनाओं में कभी कोई सचेष्ट भाग नहीं लिया था; तो भी शाहू का प्रभाव काफी था और कठिन स्थितियों को वह सरल ढंग से सुलझा दिया करता था । बालाजीराव पेशवा ने कोई षड्यन्त्र या अनुचित कार्य करके शिवाजी के वंशजों के हाथ से शक्ति नहीं छीनी, प्रत्युत ताराबाई के अपने गलत बर्त्ताव से तथा बालाजी के अपना कर्त्तव्य निभाते जाने से राज्य की सब शक्ति आपसे आप उसके हाथ आ गई थी ।

उत्तर भारत में अब नाम का मुगल साम्राज्य मराठों की भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करने की आकांक्षा का विरोधी नहीं, प्रत्युत साधन बन गया था । साथ ही वहाँ पठान मराठों के मुख्य प्रतिद्वन्द्वी रूप में प्रकट हुए । पठान मुगल साम्राज्य के विरुद्ध बराबर संघर्ष करते रहे थे, इसी से मुगल शासक पठानों को घृणा की दृष्टि से देखते रहे । पीछे, अंग्रेज़ी ज़माने में भी पठानों ने अपनी

स्वतन्त्रता पूरी तरह कभी न गँवाई और जितनी गँवाई उसे भी वापिस लेने के लिए बराबर लड़ते रहे। इस कारण तथा भारत के लोगों में पारस्परिक विद्वेष बनाये रखने के लिए अंग्रेज पठानों को दूसरे भारतीयों के सामने सदा विदेशी और सरहद्दी लुटेरा बना कर दिखाते रहे। वास्तव में पठान भारत के सबसे पुराने लोगों में से हैं, जो वैदिक काल से यहाँ रहते आये हैं [२,१§५; ३,१§५; ४,१§४]। हाल की शताब्दियों में उनमें बहलोल लोदी और शेरशाह जैसे महापुरुष पैदा हुए थे। बालाजीराव के काल की घटनाओं पर विचार हमें पठानों विषयक अंग्रेज़ी प्रचार के प्रभाव से मुक्त हो कर करना चाहिए।

दक्खिन में जो समुद्र पार के फ्रांसीसियों और अंग्रेज़ों की शक्ति उठ खड़ी हुई थी, वह बाजीराव के बाद की बिलकुल नई समस्या थी। उस काल के भारत के लोग यदि अपनी ऐतिहासिक परिस्थिति को ठीक पहचानते तो वे यह देखते कि पिछले १२ बरस की घटनाओं में यही सबसे बड़ी समस्या खड़ी हुई थी, और यह उसी समस्या का बढ़ाव थी जो १५०६ ई० से भारतीय समुद्र में उनके सामने उपस्थित थी। इस समस्या के विषय में यदि वे स्पष्टता से सोचते तो उन्हें यह दिखाई देता कि युरोपियों की अजेय जान पड़ने वाली जल और स्थल सेनाओं की जड़ में केवल दो बातें थीं—एक तो नई युद्धकला जिसपर भारतीय ध्यान देते तो उसे १०-१५ बरस में पूरी तरह सीख सकते थे, और दूसरी यह कि फ्रांसीसियों और अंग्रेज़ों की नई स्थल-सेनाएँ भारतीय सैनिकों की ही बनी थीं, जिन्हें अपनी ओर मिला लेना भारतीयों के लिए बहुत सुकर था। पर पहली बात को किसी भारतीय ने सन् १५०६ से नहीं देखा था और दूसरी को भी १७४० से लग० १८५५ तक प्रायः नहीं देखा।

परन्तु इन बातों को न देखते हुए भी इतना तो उस काल के महाराष्ट्र नेताओं को दिखाई देना ही चाहिए था कि यदि दक्खिन से वे समुद्र पार के विदेशियों को निकाल सकते और उत्तर भारत में पठान समस्या को सुलझा कर शान्ति और व्यवस्था स्थापित कर सकते तो भारत का साम्राज्य तो उनके हाथ आया ही हुआ था। यह भी उन्हें दिखाई देना चाहिए था कि युरोपियों को भारत से निकालने का कार्य इतने महत्त्व का था कि उसे देखते हुए पठानों से

समझौते का कोई भी अच्छा अवसर हाथ से खोना न चाहिए था। और यदि फ्रांसीसियों और अंग्रेज़ों की सैनिक शक्ति की जड़ पर चोट करने की वे न सोच सकते थे तो भी इतना तो उन्हें सोचना ही चाहिए था कि दक्खिन से युरोपियों को निकालने के लिए मैसूर आदि सब छोटे राज्यों का सहयोग लेना चाहिए। इसी प्रकार यदि उत्तर भारत में रुहेलों को रुहेलखंड से आगे न बढ़ने देना तथा अफगानिस्तान के पठानों को सिन्ध पार रखना उन्हें आवश्यक लगता था, तो इतना तो उन्हें देखना ही चाहिए था कि इसके लिए राजस्थान व्रज अवध और पंजाब के लोगों का सहयोग लेना तथा दिल्ली साम्राज्य की बची-खुची शक्ति का उपयोग करना चाहिए था।

पर बालाजीराव पेशवा ने अपनी परिस्थिति को इस दृष्टि से बिलकुल न देखा। उसकी दृष्टि में दिल्ली साम्राज्य की जड़ पर चोटें लग चुकी थीं, और उसे गिरा कर केवल उसकी शाखाएँ बटोरने का काम बाकी था जिसे बल या छल से कर लेना था। अब मराठा दरबार और सेना में यह मुख्य चर्चा थी कि सबसे पहले समूचा दक्खिन मराठा साम्राज्य में आ जाना चाहिए। और चूँकि फ्रांसीसी इस काम में आड़े आ गये थे, इसलिए उन्हें उखाड़ फेंकना बालाजी ने अपना मुख्य ध्येय मान लिया। और तो और उसने यह भी सोचा कि उन्हें निकालने के लिए अंग्रेज़ों का उपयोग किया जा सकता है! वह स्वयं दक्खिन में उलझा रहा और उत्तर भारत में अपने भाई रघुनाथराव (राघोबा) या अपने सेनापतियों को भेजता रहा।

§८. **बालाजी की दक्खिन-दिग्विजय-चेष्टा**—सबसे पहले समूचे दक्खिन को जीतना था, और दक्खिन जीतने में मुख्य रुकावट हैदराबाद का फ्रांसीसी सेनापति था, इसलिए पेशवा ने सलाबतजंग के भाइयों और दीवान से षड्यन्त्र करके बुसी की शक्ति तोड़ने का यत्न किया। सब वेकार। उलटा सन् १७५३ के अन्त में सलाबत ने आन्ध्र तट के चार उत्तरी सरकार (ज़िले)—कोंडपल्ली एलोर राजमहेन्द्री शिकाकोल—फ्रांसीसी कम्पनी को जागीर रूप में दे दिये। किन्तु दक्खिन भारत में फ्रांसिसयों की शक्ति को अपने घर से धक्का लगा। फ्रांसीसी और अंग्रेज दोनों अब युद्ध से ऊब गये थे। फ्रांसीसी

कम्पनी की आर्थिक दशा अंग्रेज़ी कम्पनी से बहुत कमज़ोर थी; उसमें जनता का उत्साहपूर्ण सहयोग न था, वह बहुत कुछ सरकारी सहायता से चलती थी और उस काल की फ्रांसीसी सरकार की तरह कुव्यवस्था का नमूना थी। उसके संचालकों ने अब डूप्ले को पदच्युत कर उसके स्थान में दूसरे व्यक्ति को भेजा (अगस्त १७५४), जिसने युद्ध रुकवा कर मुहम्मदअली को तमिळनाड का नवाब मान लिया। दोनों पक्षों ने एक आरज़ी सन्धि का मसविदा तैयार कर स्वीकृति के लिए विलायत भेजा। पर मैसूरियों ने मुहम्मदअली से युद्ध बन्द नहीं किया और हैदराबाद में दि-बुसी बना ही रहा।

ठीक इसी वक्त बालाजीराव दक्खिन भारत के दिग्विजय को निकला। उसने सलाबतजंग के दीवान को अपने साथ मिला कर यह मनवा लिया कि मराठे और निज़ाम मिल कर मैसूर और अन्य छोटे दक्खिनी राज्यों को जीत लें। मैसूर की सेना तिरुचिराप्पल्ली में अंग्रेज़ों को घेरे हुए थी, तो भी दि-बुसी को उनके देश पर चढ़ाई करनी पड़ी। पेशवा और सलाबत की सेना के श्रीरंग-पट्टम् पहुँचने पर मैसूरी सेना को त्रिची से लौटना पड़ा, जिससे मुहम्मदअली और अंग्रेज़ों को चैन पड़ा। मैसूर के साथ ही बेदनूर पर भी चढ़ाई की गई। तुंगभद्रा के दक्खिन, मैसूर और तमिळनाड की उत्तरी सीमा पर सावनूर कर्नूल और कडप के पठान सरदारों के तथा गुत्ती के सरदार मुरारीराव घोरपडे के इलाके थे। नासिरजंग की मृत्यु के बाद से ये बहुत कुछ स्वतन्त्र हो गये थे। इनके इलाकों का बड़ा अंश ले कर इन्हें अधीन किया गया (मई १७५६)। निज़ाम की सेना इसके बाद लौट गई, पर मराठों की यह बेमौसम दक्खिनी चढ़ाई अगले साल भर जारी रही।

§९. दिल्ली के शासन में मराठों का पहला हस्तक्षेप—उधर दिल्ली में सन् १७५३ में बादशाह और वज़ीर सफदरजंग के बीच घरेलू युद्ध छिड़ गया था। बादशाह ने सफदर की जगह कमरुद्दीन [६,७§२; ऊपर §४] के बेटे इन्तिज़ामुद्दौला को वजीर बनाया। पिछले साल जब गाजिउद्दीन की हत्या की खबर आई थी तब उसके बेटे शिहाब ने सफदर के पास फूट फूट कर रो कर कहा था कि मुझ अनाथ के तुम्हीं बाप हो! सफदर का दिल पिघल गया

और उस १५ साल के लड़के को उसने इमादुल्मुल्क का पद दे कर साम्राज्य का मीर बख्शी बनवा दिया था। वही इमाद अब सफदर का जानी दुश्मन हो गया। मराठे भी उस सफदरजंग का साथ देने के बजाय, जिसकी पिछले साल करवाई सन्धि से उन्हें उत्तर भारत पर आधिपत्य मिल गया था, १६ बरस के छोकरे इमाद की तरफ हो गये। लेकिन सूरजमल ने सफदर का साथ दिया। नजीबखाँ रुहेला अपनी सेना के साथ बादशाह के पक्ष में आ मिला। सफदर की सेना धीरे धीरे दिल्ली से धकेली गई। पीछे बादशाह और इन्तिज़ाम भी इमाद से स्पर्धा और सफदर से समझौते की बात करने लगे। समझौता होने पर सफदर अवध चला गया। इस घरेलू युद्ध में दिल्ली सरकार दिवालिया हो गई और उसकी रही सही सैनिक शक्ति भी चूर हो गई।

पेशवा ने मुख्य मराठा सेना को तब तक रोके रक्खा जब तक दोनों पक्ष क्षीण न हो जायँ। जब रघुनाथदादा के नेतृत्व में मराठा सेना उत्तर भारत पहुँची तब बादशाह और इमाद के बीच उसे अपनी अपनी तरफ मिलाने की होड़ लग गई। मराठों ने फिर इमाद का ही साथ दिया, क्योंकि एक तो उन्हें उसके द्वारा दक्खिन में सुविधाएँ पाने की आशा थी, दूसरे वे और इमाद दोनों ब्रज के राजा को दबाना चाहते थे। परन्तु बादशाह और वजीर इस ख्याल से सूरजमल का पक्ष करते थे कि इमाद प्रबल न होने पाय। राजस्थान से राघोबा ने सीधे ब्रज पर चढ़ाई की (जनवरी १७५४ ई०)। सूरजमल ने कुम्भेरगढ़ की शरण ली। कुम्भेर के मुहासरे में मल्हार होळकर का बेटा खंडे-राव मारा गया। मई में सूरजमल ने समझौता किया और अधीनता मानी।

इस बीच बादशाह और इमाद में खुला झगड़ा हो गया था। वजीर इन्तिजाम ने मराठों और इमाद के खिलाफ सफदरजंग सूरजमल और राजपूत राजाओं से मदद लेना तय किया। इस उद्देश से वह बादशाह को ले कर दिल्ली से सिकन्दराबाद तक आया, जहाँ सफदर और सूरजमल को भी बुलाया गया था। परन्तु तभी सूरजमल से सन्धि कर के मराठे वहाँ आ पहुँचे। अहमदशाह के डेरे में भगदड़ मच गई। २६ मई को प्रातः दो बजे गहरे अँधेरे में सब लोग दिल्ली भागने लगे। शाही बेगमों में से अधिकांश मराठों के हाथ पड़ीं,

जिन्हें मल्हार ने इज़्ज़त के साथ पहरे में रख दिया।

मल्हार ने जो कुछ कहा, अहमदशाह को मानना पड़ा। २-६-१७५४ को बादशाह ने इमाद को वजीर बनाया। इमाद ने कुरान हाथ में ले कर शपथ ली कि वह सदा उसका वफादार रहेगा। दरबार से बाहर आ कर उसने बहादुरशाह के एक पोते को शाही महल की कैद से मँगवाया, उसे आलमगीर के नाम से गद्दी पर बिठाया, और अहमदशाह को कैद में डलवा दिया! तैमूरी वंश की बची-खुची इज्जत तो यों धूल में मिली ही, साथ ही जो बात राजस्थान के झगड़ों में लोगों ने देखी थी वही इन दिल्ली के झगड़ों में भी देख ली कि मराठा सरकार भी केवल अपने क्षणिक लाभ को देखती हुई कैसे टुच्चे लोगों का साथ देती है। ब्रज के लोग भी मराठों से चिढ़ गये; और सफदरजंग के तजरबे से लोगों को मालूम हो गया कि मराठा सरकार की मैत्री में कितना पानी है!

दिल्ली से राघोबा ने जयप्पा शिन्दे [ऊपर §४] को मारवाड़ भेजा, जहाँ रामसिंह विजयसिंह [ऊपर §३] के विरुद्ध सहायता माँग रहा था। जयप्पा से हार कर विजयसिंह ने नागोरगढ़ में शरण ली। जयप्पा ने घेरा डाल दिया। पेशवा का आदेश था कि विजयसिंह को बहुत न दबाया जाय। पर जयप्पा अड़ गया। इस बीच सफदरगंज की मृत्यु हुई। पेशवा ने जयप्पा को फिर लिखा कि मारवाड़ का मामला निपटा कर अवध जाओ और प्रयाग-बनारस पाने का जतन करो। लेकिन हठी जयप्पा मरुभूमि में अटका रहा। उसके अभिमानी बर्ताव से चिढ़ कर राजपूतों ने उसे कत्ल कर दिया (२४-७-१७५५)। तब उसका भाई दत्ताजी उसकी जगह डट गया और उसने विजयसिंह को पूरी तरह हरा कर बीकानेर भगा दिया। फरवरी १७५६ में सन्धि हुई जिससे अजमेर मराठों को मिला।

मुख्य मराठा सेना साल भर पहले दक्खिन चली गई थी। इस बार पेशवा ने मल्हार को भी दक्खिन की चढ़ाई के लिए बुला लिया।

पंजाब में मुगलानी बेगम के शासन [ऊपर §५] की अव्यवस्था हटाने के लिए अब्दाली ने अपना प्रतिनिधि भेज दिया था। इमाद ने अदीना बेग

[ऊपर §५] को भेज कर उसे भगा दिया (जनवरी १७५६)। पीछे उसने मुगलानी को भी पकड़ मँगाया और अपना सूबेदार लाहौर में रख दिया।

§१०. **मराठा जंगी बेड़े का ध्वंस**—इसी बीच महाराष्ट्र के भीतरी शासन में भी पेशवा ने एक आत्मघाती भूल की। कोंकण के आंग्रे भाइयों में से तुलाजी ने विद्रोह कर अनेक अत्याचार किये थे। बालाजी ने अपने उस प्रजाजन के खिलाफ विदेशी अंग्रेज़ों से सहायता ली! तुलाजी का सुवर्णदुर्ग छिन गया (अप्रैल १७५५) और वह विजयदुर्ग भाग गया। अंग्रेजी बेड़ा लौट गया, पर मराठा सेना ने तुलाजी को घेर कर सन्धि की बातचीत के लिए विवश किया।

फ्रांसीसियों और अंग्रेजों की सुलह बहुत दिन न टिकी। मध्य और दक्खिनी अमरीका में स्पेनियों का साम्राज्य स्थापित होने [९,२§४] के बाद उत्तरी अमरीका में ओलन्देजों फ्रांसीसियों और अंग्रेज़ों ने अपने उपनिवेश बसा लिये थे। सन् १७५५ में अमरीका के उन अंग्रेजी और फ्रांसीसी उपनिवेशों में युद्ध छिड़ गया। भारत में भी इससे उनका फिर युद्ध छिड़ेगा यह देखते हुए इंग्लिस्तान के प्रधान मंत्री पिट ने वाटसन और क्लाइव को फ्रांसीसियों से लड़ने के लिए मुंबई भेजा। उनका यह प्रस्ताव था कि अंग्रेज मराठों के साथ मिल कर हैदराबाद पर चढ़ाई करें और बुसी को वहाँ से निकाल दें। ऐसा न हुआ तो क्लाइव और वाटसन ने विजयदुर्ग पर चढ़ाई की और जब कि घिरा हुआ तुलाजी मराठा सरकार से सन्धि की बातचीत कर रहा था तब उसका सब बेड़ा डुबा कर विजयदुर्ग पर अंग्रेजी झंडा फहरा दिया (१२-४-१७५६)। तीस वर्ष पहले जिस आंग्रे से अंग्रेज़ सदा हारते रहे, उसके मराठा बेड़े को यों स्वयं मराठा सरकार ने उनसे डुबवा दिया! क्लाइव और वाटसन वहाँ से मद्रास गये और क्लाइव मद्रास का गवर्नर नियुक्त हुआ।

§११. **अब्दाली की दिल्ली-मथुरा चढाई और अंग्रेज़ों का बंगाल-बिहार जीतना**—दक्खिन भारत की राजनीति में विदेशी युरोपी अपनी सेनाओं और जंगी बेड़ों से जिस प्रकार दखल दे रहे थे, उसे बंगाल-बिहार का बूढ़ा नवाब अलीवर्दीखाँ बहुत आशंकित हो कर देख रहा था। उसने

अपने दोहते और उत्तराधिकारी सिराजुद्दौला को इस खतरे से सावधान किया। विजयदुर्ग पर अंग्रेज़ी झंडा फहराने के दो दिन पहले अलीवर्दी का देहान्त हुआ और सिराजुद्दौला नवाब बना। अंग्रेज़ अपना कलकत्ते वाला किला बढ़ाने लगे। वे पहले से ही नवाब के विरुद्ध षड्यन्त्र कर रहे थे। सिराज ने हुक्म दिया कि बंगाल में कोई विदेशी युद्ध की तैयारी न करे। अंग्रेजों के न मानने पर सिराज ने चढ़ाई कर कलकत्ता ले लिया, और बंगाल भर में अंग्रेजों की कोठियाँ दखल कर लीं। अंग्रेज कलकत्ते के दक्खिन फल्ता भाग गये। सिराज ने उन्हें वहाँ बना रहने दिया, क्योंकि वह उन्हें तुच्छ समझता था। उसके ख्याल से युरोप कोई छोटा सा टापू था, जिसके कुल बाशिन्दे १०-१२ हजार थे, जिनमें से चौथाई अंग्रेज थे! चन्द्रनगर के फ्रांसीसी सिराज की सहायता को तैयार थे। बालाजी ने देखा कि बंगाल में भी फ्रांसीसी हैदराबाद की तरह सर्वेसर्वा हो जायँगे, इसलिए उसने वहाँ के अंग्रेजों के मुखिया ड्रेक को सन्देश भेजा कि नवाब से न दबो, मराठा सेना मदद को आ सकती है। ड्रेक ने वह मदद न ली, तो भी बालाजी ने अपनी सारी शक्ति इस ओर लगा दी कि बुसी बंगाल न पहुँचने पाय। उसने आन्ध्र तट की फ्रांसीसी जागीर में बलवा करा दिया, जिसे दबाने में बुसी को तीन मास लग गये। इस बीच वाटसन और क्लाइव ने मद्रास से जा कर कलकत्ता ले लिया (२-१-१७५७)।

इसी बीच पंजाब में भी भयंकर स्थिति पैदा हो गई थी। इमाद का पंजाब लेना केवल अब्दाली को चिढ़ाना था। १७५६ के जाड़े में अब्दाली ने पंजाब पर चढ़ाई की। जनवरी में वह दिल्ली की तरफ बढ़ा। इमाद को कुछ न सूझा कि क्या करूँ। गृह-युद्ध के बाद दिवालियापन में दिल्ली की सेना तितरबितर हो चुकी थी। मराठे दक्खिन चले गये थे। इमाद ने नजीबखाँ, सूरजमल और सफदर के बेटे शुजाउद्दौला से मदद माँगी; पर बेकार। ग्वालियर से अन्ताजी माणकेश्वर अपनी ३ हजार की टुकड़ी के साथ उसकी सहायता को आया कि जो कुछ भी प्रतिरोध हो सके किया जाय।

अब्दाली के नजदीक आने पर रुहेले उससे जा मिले। कायर इमाद चुपके से दिल्ली से निकला और अब्दाली की छावनी में जा कर आत्म-समर्पण

कर दिया (१६-१-१७५७)। रुहेलों के बीच से मुश्किल से रास्ता काटते हुए अन्ताजी दिल्ली के दक्खिन फरीदाबाद तक हट गया। अब्दाली ने दिल्ली में प्रवेश किया और नादिरशाह की तरह शहर के धन और इज्जत की मुहल्लेवार लूट शुरू की। बड़े बड़े अमीर-उमरावों को साधारण चोरों की तरह यातनाएँ दी गईं।

२० हजार अफगान सवारों ने फरीदाबाद में अन्ताजी को एकाएक घेर लिया। दिन भर लड़ने और अपनी तिहाई सेना कटाने के बाद वह घेरा तोड़ कर मथुरा जा निकला। वहाँ उसने सूरजमल से कहा, आओ मिल कर मुकाबला करें। पर सूरज तैयार न हुआ, और जब २२ फरवरी को अब्दाली दिल्ली से दक्खिन बढ़ा तब उसने कुम्भेरगढ़ में शरण ली। व्रज में घुसते ही अब्दाली ने अपनी सेना को खुली लूट की इजाज़त दे दी। "सूरजमल व्रज की यह बरबादी कुम्भेर से देखता रहा।" किन्तु उसके बेटे जवाहरसिंह ने कहा कि जाटों की लाशों के ऊपर से अफगान भले ही व्रज में घुसें, ऐसे ही न घुस पायेंगे। १० हज़ार जवानों के साथ जवाहर ने मथुरा का रास्ता रोका। उस टुकड़ी के काटे जाने पर वह थोड़े से साथियों के साथ बच कर निकल गया और अफगानों ने मथुरा में प्रवेश किया। २१ मार्च को अफगान हरावल आगरे में घुसी। वहाँ किले की तोपों ने मुकाबला किया। इस बीच सड़ती हुई लाशों के कारण अफगान सेना में हैजा फैला और अब्दाली ने एकाएक वापसी का हुक्म दिया। नजीबखाँ रुहेले को दिल्ली में अपना प्रतिनिधि नियत कर तथा पंजाब का शासन अपने बेटे तैमूर और अपने मुख्य सेनापति जहानखाँ को सौंप कर कई करोड़ की लूट लिये वह वापस चला गया। वापसी में पटियाले के सिक्ख जाट आलासिंह तथा दूसरे सिक्खों ने उसकी लूट का बोझा कुछ हलका किया।

क्लाइव के कलकत्ता वापस लेने पर सिराज ने बुसी को सहायता के लिए लिखा। लेकिन बुसी को तुरन्त न आते देख तथा अब्दाली के हमले का आतंक बंगाल तक पहुँच जाने से उसने क्लाइव से समझौते की बात की। उसे समझौते की बातों में रखते हुए क्लाइव ने चन्द्रनगर भी ले लिया (२३-३-१७५७)। उधर आन्ध्र जिलों का पूरा बन्दोबस्त कर बुसी गंजाम पहुँचा और समाचारों की

राह देखने लगा कि इतने में उसे चन्द्रनगर के पतन की खबर मिली। तब बंगाल जाना व्यर्थ समझ वह दक्खिन लौटा और आन्ध्र तट की अंग्रेजी बस्तियों की एक एक कर सफाई करता गया।

तभी क्लाइव ने सिराज पर चढ़ाई कर दी। अलीवर्दी का बहनोई मीर-जाफर सिराज का सेनापति था। क्लाइव ने उसके साथ षड्यन्त्र रचा। सिराज मुर्शिदाबाद से बढ़ा। हुगली और मोर के संगम पर पलाशी गाँव में लड़ाई हुई (२३-६-१७५७)। लड़ाई के बीच में मीरजाफर शत्रु से जा मिला। सिराज हारा और मारा गया। क्लाइव ने मीरजाफर को मुर्शिदाबाद ले जा कर नवाब बनाया। मीरजाफर ने अंग्रेज़ कम्पनी और उसके कर्मचारियों को प्रकट और गुप्त सन्धियों से करीब पौने तीन करोड़ रुपया हरजाने भेंट और रिश्वत के रूप में तथा चौबीस-परगना जिला जागीर के रूप में देना स्वीकार किया था। मुर्शिदाबाद के खजाने में कुल डेढ़ करोड़ रुपया था। इसलिए जवाहरों और सामान को नीलाम कर और नकद मिला कर आधी रकम नावों में कलकत्ते भेजी गई और बाकी को तीन सालाना किस्तों में देना तय हुआ।

उत्तर और पूरब भारत में जब ये घटनाएँ घट रही थीं तब मुगल-मराठा साम्राज्य की रक्षा का अन्तिम दायित्व जिसे सौंपा गया था, वह भारत का पेशवा (प्रमुख नेता) बालाजी दिशा भूल कर अपनी दक्खिन चढ़ाई में ही उलझा था! अब्दाली का पंजाब लेना सुन उसने मल्हार और राघोबा को उत्तर भेजा, पर स्वयं कर्णाटक की तीसरी चढ़ाई जारी रक्खी। उस प्रसंग में मैसूर राज्य के १४ जिले उसके हाथ आये। बलवन्तराय मेहन्देले को वहाँ छोड़ कर १६ जून को बालाजी पूना लौटा और उसके बाद सलाबतजंग के राज्य में षड्यन्त्र करके बुसी को निकालने की कोशिश में अपनी सारी शक्ति लगा दी। लेकिन बुसी ने भी उसकी सब कोशिशें बेकार कर दीं (जनवरी १७५८)।

बलवन्तराव ने मैसूर के इलाके काबू कर तथा कडप कर्णूल सावनूर के नवाबों के गुट्ट को कुचल कर तमिळ सीमा के घाटों तक अधिकार कर लिया और तब आरकाट के नवाब मुहम्मदअली से बकाया चौथ तलब की। हम देख चुके हैं कि १७५५ ई० से अंग्रेजों का कठपुतली मुहम्मदअली वहाँ निर्विवाद

स्थापित हो चुका था। बलवन्तराव अब भी तमिलनाड में नहीं उतरा; उसने केवल चौथ माँगी, जो अंग्रेजों ने दे दी। लेकिन अब वहाँ फ्रांसीसियों ने भी फिर युद्ध छेड़ कर त्रिची को घेर लिया और पुद्दुचेरी और आरकाट के बीच विन्दवास ('वान्दिवाश') तथा नौ और गढ़ ले लिये। यों सन् १७५७ में जहाँ बंगाल-बिहार पर अंग्रेजों और आन्ध्र तट पर फ्रांसीसियों का पूरा अधिकार हो गया, वहाँ तमिळनाड में फिर युद्ध जारी हो गया।

§ १२. **मराठों का पंजाब जीतना**—रघुनाथ १४ फरवरी को इन्दौर पहुँचा। उसे सामान जुटाते दो मास लग गये। मई में मराठा हरावल ने आगरा पहुँच सूरजमल से समझौता किया। रुहेलों से दोआब वापिस ले कर उन्होंने दिल्ली को घेर लिया। नजीब ने सन्धि करके दिल्ली छोड़ दी (६-९-१७५७) और यह भी कहा कि कहो तो मैं अब्दाली के पास जाऊँ और सीमाएँ निश्चित कर स्थायी संधि करा दूँ। यों मराठों के लिए अब भी मौका था कि अब्दाली और रुहेलों से समझौता करके और उन्हें साथ ले कर बिहार-बंगाल पर चढ़ाई करते और वहाँ अंग्रेजों के पैर जमने न देते। उत्तर भारत में रुहेलों से समझौता हो जाता तो वे निज़ाम के राज्य और तमिळनाड में दखल दे कर वहाँ से भी विदेशियों के पैर उखाड़ने पर पूरा ध्यान लगा पाते। किन्तु रघुनाथ ने नजीब की बात पर कान न दिया और पूरब की चिन्ता करने के बजाय उत्तर—पंजाब—का रास्ता पकड़ा! मराठों के



रघुनाथराव [भा० इ० सं० मं०]

उभाड़ने से पंजाब में सिक्ख भी विद्रोह करने लगे। अन्त में २१ मार्च १७५८ को रघुनाथ ने सरहिन्द जीत लिया, तथा एक मास बाद लाहौर में प्रवेश किया। तैमूर और जहानखाँ अटक पार भाग गये; मुलतान में भी मराठा छावनी पड़ गई। इसके बाद पंजाब का शासन अदीना बेग को सौंप कर रघुनाथ दक्खिन लौट गया।

§ १३. **फ्रांसीसी शक्ति का अन्त**—सन् १७५६ में इंग्लिस्तान से फिर युद्ध छिड़ने पर फ्रांसीसी सरकार ने लाली नामक सेनापति को भारत भेजा। अप्रैल १७५८ में चोळमंडल पहुँच कर उसने देवनपटम को घेर लिया और महीने बाद ले लिया। तब उसने बुसी को लिखा, "अब मद्रास लेते ही मेरा इरादा स्थल या समुद्र के रास्ते फौरन गंगा पर पहुँचने का है।" लाली के आने से पहले बुसी आन्ध्र तट के ज़िलों का पक्का बन्दोबस्त कर हैदराबाद में पूरा प्रभुत्व स्थापित कर चुका था। लाली से वह बड़ी आशाएँ लगाये हुए था।

देवनपटम के बाद मद्रास की बारी थी। लेकिन पुद्दुचेरी का खजाना खाली था। रुपये के लिए लाली ने तांजोर पर चढ़ाई की, पर उसमें उसे सफलता न हुई। वह वीर और कुशल सेनापति था, लेकिन उतावला और किसी की न सुनने वाला। अब मद्रास पर हमला करने के लिए उसने त्रिची और मसुलीपटम वाली टुकड़ियों तथा बुसी को भी बुला लिया। बुसी ने उसे समझाना चाहा कि उसे हैदराबाद में रहने दिया जाय। लेकिन लाली ने कहा, "मुझे बादशाह और कम्पनी ने हिन्दुस्तान भेजा है अंग्रेज़ों को मार भगाने के लिए।... मुझे इससे क्या मतलब कि अमुक अमुक राजा अमुक नवाबों के लिए लड़ रहे हैं।"

बुसी के चले आने पर आन्ध्र तट के एक पालयगार (जमींदार) ने विशाखापट्टन ले कर अंग्रेज़ कम्पनी को अपनी फौज भेजने को लिखा। क्लाइव ने बंगाल से कर्नल फोर्ड को वहाँ भेज दिया। फोर्ड ने बचे-खुचे फ्रांसीसियों के साथ सलाबतजंग को भी मसुलीपटम पर हरा दिया। सलाबत ने आन्ध्र तट का ८० × २० वर्ग मील प्रदेश अंग्रेज़ों को दे दिया और आगे से फ्रांसीसियों से सम्बन्ध त्याग दिया। यों जिस ज़मीन से लाली को युद्ध का सारा खर्चा मिल सकता था, वह उसकी अपनी बेसमझी और जल्दबाजी से अंग्रेजों के हाथ

चली गई।

इस बीच राजूसाहब [ऊपर § ६] ने आरकाट ले लिया और लाली ने मद्रास को आ घेरा था। लेकिन ठीक संकट-काल में अंग्रेजी बेड़े के आ जाने से लाली को मद्रास से हटना पड़ा (१७-२-१७५६)।

सलाबत मसुलीपटम आया तो पीछे उसके भाई निज़ामअली ने हैदराबाद ले लिया। लौटने पर सलाबत को उसे अपना दीवान बनाना पड़ा और वह स्वयं नाम का सूबेदार रह गया।

सन् १७५६ के शुरू में पेशवा ने मैसूर में गोपालराव पटवर्धन को भेजा। उसे पहले तो बराबर सफलता हुई, पर जब वह बेंगलूर को घेरे हुए था, तब हैदरअली नामक मैसूरी सेनापति ने बहादुरी से मुकाबला करके घेरा उठवा दिया। गोपालराव वहाँ से तमिळनाड गया, पर वहाँ उसे कुछ न सूझा कि क्या करूँ। हैदरअली इसके बाद श्रीरंगपट्टम् जा कर उस राज्य का सर्वेसर्वा बन गया।

बालाजी अब अंग्रेजों से आशंकित हो उठा था। सन् १७५८ में उसने उनसे जंजीरा के सिद्दी के विरुद्ध सहायता माँगी, जो उन्होंने नहीं दी। उन्हें डर था कि जंजीरा के बाद वह मुम्बई लेने की कोशिश न करे। फिर १७५६ में अंग्रेजों ने धोखे से सूरत का कोटला छीन लिया। बालाजी तब फ्रांसीसियों से मिल कर जंजीरा और मुम्बई पर चढ़ाई की सोचने लगा। लेकिन अक्तूबर १७५६ में अब्दाली के फिर चढ़ाई करने पर मराठे उधर फँस गये, और ठीक तभी आयरकूट इंग्लिस्तान से ताजी सेना के साथ मद्रास आ पहुँचा। उसने आते ही विन्दवास ले लिया। उस गढ़ को वापस लेने की चेष्टा में लाली की हार हुई और बुसी कैद हुआ (२२-१२-१७५६)। इसके बाद मुरारीराव घोरपडे, जो फ्रांसीसियों की मदद कर रहा था, अपने दल के साथ तमिळनाड से चलता बना और कूट ने आरकाट भी ले लिया।

निज़ामअली ने पेशवा के रोकने पर भी अंग्रेजों से साँठगाँठ की। इसलिए १७५६ के अन्त में पेशवा ने चिमाजी अप्पा के पुत्र सदाशिवराव तथा अपने बेटे विश्वासराव को उसपर चढ़ाई के लिए भेजा। इब्राहीमखाँ गार्दी*

* 'गार्दी' शब्द का मूल फ्रांसीसी गार्द ही है।

नामक बुसी का सिखाया हुआ एक पदातिनायक उनकी सेवा में था। मांजरा नदी के काँठे में उद्गीर पर हार कर निज़ामअली अउसा के कोटले में घिर गया। चार दिन बाद उसने सन्धि की और असीरगढ़ बुरहानपुर दौलताबाद अहमदनगर बीजापुर के किले तथा ६२ लाख आय का प्रदेश मराठों को दे दिया (जन० १७६०)। यों निज़ामअली की शक्ति चूर हुई और मराठे दो तीन वर्ष में समूचा दक्खिन जीत लेने के सपने देखने लगे।

सितम्बर १७६० में कूट ने पुद्दुचेरी को जा घेरा। लाली ने तब बालाजी-राव से सहायता माँगी। जिंजी का गढ़ तब तक फ्रांसीसियों के हाथ में था, और पेशवा की सहायता के बदले में लाली उसे देने को तैयार था। पेशवा के लिए तमिळनाड में दखल दे कर युरोपी शक्ति को तोड़ देने का यह फिर सुनहरा अवसर था। पर वह मोलभाव करता रह गया—इस कारण कि पठानों से समझौता न करके उसने अपनी सारी शक्ति तब उत्तर भारत में लगा रक्खी थी—और जनवरी १७६१ में कूट ने पुद्दुचेरी ले ली। बाद में जिंजी भी ली गई। १७६३ ई० में पैरिस की सन्धि में फ्रांस को उसकी पुरानी बस्तियाँ लौटा दी गईं।

§ १४. मराठा अफगान युद्ध—सन् १७५८ के अन्त में पेशवा ने मल्हार होळकर के बजाय दत्ताजी शिन्दे को आगरे का सूबेदार बना कर भेजा। पंजाब पर अधिकार दृढ करना और बिहार को जीतना ये दो कार्य उसे सौंपे गये थे। अदीनाबेग मर चुका था; उसकी जगह दत्ताजी का छोटा भाई साबाजी लाहौर का सूबेदार नियत किया गया। पेशवा ने आखिर अब यह समझ लिया था कि इमाद लबार और निकम्मा आदमी है। उसकी जगह शुजाउद्दौला [ऊपर § ११] को वज़ीर बनाने का प्रस्ताव था। इसके बदले में शुजा से प्रयाग और बनारस इस तरह ले लेना था कि दत्ताजी बादशाह और वजीर के साथ बिहार पर चढ़ाई करे और तभी रघुनाथदादा बुन्देलखंड के रास्ते प्रयाग पर उससे आ मिले।

बिहार की चढ़ाई के लिए नजीब से हो सके तो समझौता करना, अन्यथा उसे उखाड़ देना था, क्योंकि उत्तर भारत में मराठा नीति के मार्ग में वह एकमात्र काँटा था। दत्ताजी कोरा सैनिक था। इमाद तो उसके आगे झुक कर

वज़ीर बना रहा, पर नजीब से समझौता न हो पाया। बालाजी को बिहार-बंगाल अंग्रेज़ों से वापिस लेना था तो पठानों से समझौता करना ही चाहिए था। पठानों को उखाड़ना ऐसा आसान काम न था जो रास्ते चलते हो जाता। दूसरी तरफ़, उनसे समझौता हो जाता तो बिहार-बंगाल फिर से जीतने में वे बहादुरी से साथ देते। मल्हार होळकर जो उत्तर भारत का सबसे अनुभवी मराठा सेनापति था, नजीब को अपना बेटा मानता था। पेशवा को नजीब से समझौता करना था तो यह काम उसे सौंपना था। मल्हार और नजीब के इस ताल्लुक से यह भी प्रकट है कि पठानों को उस युग के भारतीय उस दृष्टि से न देखते थे जिस दृष्टि से अंग्रेजों ने उन्हें बाद में देखने की आदत डाल दी।

जून १७५६ में दत्ताजी और नजीब में युद्ध छिड़ गया। हरद्वार के ३२ मील दक्खिन गंगा के खादर में शुक्रताल नामक स्थान है [नक्शा ७]। नजीब ने उसकी मोर्चाबन्दी कर गंगा पर पुल बाँध वहाँ शरण ली। दत्ताजी ने उसका घेरा डाल दिया। किन्तु शुक्रताल दूसरा नागोर बन गया और उसमें फँस कर दत्ताजी न तो बिहार पर चढ़ाई कर सका और न पंजाब को बचा सका। उसने गोविन्दपन्त बुन्देले* को हरद्वार के रास्ते नजीबाबाद पर धावा मारने भेजा। वह धावा सफल न हुआ। गोविन्द तब शुक्रताल के पूरब तरफ़ पहुँचा। किन्तु वहाँ अवध की सेना खुद शुजा के नेतृत्व में रुहेलों की मदद को आ गई थी, इससे वह कुछ न कर सका। अवध का नवाब शुजा, अपने पिता सफदरजंग के तजरबे [ऊपर § १०] से बालाजी की मैत्री का मूल्य जान चुका था, इसलिए वह नजीब को सहायता दे रहा था।

इस बीच अब्दाली ने पंजाब पर चढ़ाई कर दी थी। दत्ताजी की सहायता न आती देख साबाजी को लाहौर छोड़ना पड़ा, और वह शुक्रताल पहुँचा (८-११-१७५६); परन्तु दत्ताजी इसके बाद भी वहीं अड़ा रहा।

नवम्बर बीतते बीतते अब्दाली ने सरहिन्द ले लिया। इमाद ने यह सोच कर कि कहीं अब्दाली बादशाह का उपयोग न करे, आलमगीर २य† को

---

* गोविन्दपन्त का असल उपनाम खेर था, पर वह अपने को बुन्देला कहता था।
† आलमगीर प्रथम औरंगजेब था।

कत्ल कर दिया और कामबख्श के एक पोते को शाहजहाँ २य नाम से गद्दी दी। एक साल पहले इमाद ने आलमगीर २य के शाहजादे अली-गौहर को मारने की कोशिश की थी। अली-गौहर बच कर अवध भाग गया था और बिहार को फिर जीतने की कोशिशें कर रहा था। उसने भी अब अपने को शाहआलम नाम से बादशाह घोषित किया।

८ दिसम्बर को दत्ताजी ने शुक्रताल का घेरा उठाया और जमना पार कर अब्दाली के मुकाबले को बढ़ा। तरावड़ी पर अफगान हरावल से उसकी मुठभेड़ हुई; पर अब्दाली जमना पार कर नजीब से जा मिला और दोआब के रास्ते दिल्ली की ओर बढ़ा। दत्ताजी यह देख फौरन दिल्ली आ गया और जमना के घाटों पर सेना तैनात कर प्रतीक्षा करने लगा। ९ जनवरी १७६० को दिल्ली के सामने जमना के बीच टापू में अफगानों से लड़ता हुआ वह मारा गया। अब्दाली ने दिल्ली ले ली; इमाद भरतपुर भागा; जयप्पा शिन्दे का बेटा जनकोजी बची-खुची मराठा सेना के साथ नारनौल की तरफ हट गया।

इसी बीच मल्हार ने तेजी से राजस्थान से आ कर नारनौल के पास मराठा सेना का नेतृत्व ले लिया। अब्दाली ने दिल्ली से दीग पर, जहाँ सूरजमल था, चढ़ाई की; पर मल्हार उसके पीछे दिल्ली की ओर बढ़ा। अब्दाली को पीछे हटना पड़ा और मल्हार इसी तरह उसे दिल्ली से दोआब वापस ले गया। सिकन्दराबाद के पास नजीब का खजाना लूटने के लिए मल्हार दो-चार दिन रुक गया। वहाँ जहानखाँ उसपर अचानक आ टूटा (४ मार्च)। मल्हार हार कर भरतपुर भागा। लेकिन उसकी दाँवपेंच की लड़ाई से इस बार व्रजभूमि युद्ध से साफ बच गई।

दत्ताजी की मृत्यु के एक दिन पहले तक की खबरें पेशवा को उद्गीर की संधि से पहले मिल चुकी थीं। वह दक्खिन से बड़ी सेना भेज रहा था। इसलिए नजीब ने अब्दाली से प्रार्थना की कि आप गर्मियों में न लौटें। अब्दाली ने गंगा पर अनूपशहर में छावनी डाल दी। पेशवा ने भी अपनी सेना शीघ्र भेजी। सदाशिवराव भाऊ, जिसने दक्खिन के युद्धों में योग्यता दिखाई थी, इस सेना का नेता था। ३० मई को वह ग्वालियर आ पहुँचा। उत्तर भारत की मराठा

सेना व्रज में थी, उसका कुछ अंश गोविन्द बुंदेले के अधीन इटावे में था। भाऊ ने मल्हार और गोविन्द को लिखा था कि राजस्थान बुंदेलखंड में मित्र ढूँढें और शुजा को अपनी तरफ मिलायें। उसने गोविंद बुन्देले को इटावे पर नावें तैयार रखने को भी लिखा था, जिससे वह आते ही जमना पार कर अवध और रुहेलखंड के बीच अपनी सेना का पच्चर घुसेड़ दे। पर उस साल बरसात जल्दी शुरू हुई और जमना में भारी बाढ़ आ गई थी।



सदाशिवराव [भा० इ० सं० म०]

सदाशिव ने राजपूत राजाओं को मनाने की बड़ी कोशिशें कीं, पर उन लोगों ने तटस्थ रहना ही तय किया* और जुलाई में शुजा भी अब्दाली से

* यह प्रचलित विश्वास है कि भाऊ के अभिमानी बर्त्ताव से खीझ कर राजस्थान

जा मिला। शुजा ने सोचा कि अब्दाली जीत गया तो वापस चला जायगा, पर मराठे जीत गये तो मुझे अधीन करेंगे। यदि १७४३ में जयपुर के उत्तराधिकार का प्रश्न आने के वक्त से और उससे भी बढ़ कर सफदरजंग की १७५२ वाली सन्धि के बाद से मराठा सरकार किसी टिकाऊ और दूरदर्शितापूर्ण नीति पर चली होती तो इस वक्त मराठों की ऐसी असहाय दशा न होती।

१४ जुलाई को भाऊ आगरा आया। तब भी जमना की बाढ़ उतरी न थी जिससे उसे दोआब में घुसने का इरादा छोड़ना पड़ा। मल्हार और सूरजमल उत्तर भारत के अनुभवी योद्धा थे। उन्होंने सलाह दी कि भरतपुर को आधार बना कर तोपखाने पैदल सेना स्त्रियों और भारी समान को वहाँ छोड़ दिया जाय और हलके सवारों के साथ शत्रु से मुठभेड़ की जाय। इस ढंग से मराठे पंजाब की तरफ बढ़ कर अब्दाली का अफगानिस्तान से सम्बन्ध भी काट सकते थे। पर सदाशिव फ्रांसीसी शैली से लड़ने वाले अपने गार्दियों का अचूक प्रभाव देख चुका था, उसने वह सलाह न मानी। इससे सूरजमल का जी ऊब गया।

२ अगस्त को भाऊ ने दिल्ली ले ली। इससे उसे कोई वास्तविक लाभ न था, तो भी शत्रु पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा, और सन्धि की चर्चा जारी हो गई। सन्धि की बात शुरू होते ही सूरजमल रूठ कर चला गया। उसे अलग होने को कोई बहाना चाहिए था। मराठों और अफगानों दोनों पर उसे भरोसा न था; वे दोनों लड़ मरें तो अच्छा, इसी से उसे अब सन्धि होना पसन्द न था। मराठे यदि पंजाब पर दावा छोड़ दें और रुहेलों को न सताने का वचन दें तो अब्दाली अब भी लौटने को उत्सुक था। परन्तु पेशवा की पंजाब के लिए अड़ थी और भाऊ को भी दिल्ली लेने के बाद अपनी शक्ति का मिथ्याभिमान हो गया था। यों सन्धि की बातें विफल हुईं।

अक्तूबर में शाहआलम को बादशाह तथा शुजाउद्दौला को वजीर घोषित कर सदाशिव पंजाब की तरफ बढ़ा। उसका उद्देश सरहिन्द ले कर अब्दाली का

और व्रज के राजा अलग हो गये। समकालीन कागजों की नई खोज से यह बिलकुल गलत सिद्ध हुआ है। उन राजाओं को रुठाने में बालाजीराव की १७४३ के बाद की नीति का चाहे जितना दोष रहा हो, भाऊ का कोई दोष नहीं था।

आधार काट देना था। उसने जमना के पच्छिम तट पर कुंजपुरा ले लिया, जहाँ अफगानों की १६ लाख की नकदी और माल उसके हाथ लगा और सरहिन्द का फौजदार मारा गया। इससे सिक्खों के भी हौसले बढ़े और उन्होंने लाहौर और स्यालकोट घेर लिये। सदाशिव की यह योजना बहुत अच्छी होती यदि वह अगस्त में ही पंजाब की ओर बढ़ता, जब कि जमना में बाढ़ थी, और यदि वह पुरानी मराठा शैली से लड़ता होता। लेकिन भारी सामान तोपखाने और पैदल सेना को लिये हुए अपने आधार से अटूट सम्बन्ध रक्खे बिना आगे नहीं बढ़ा जा सकता, नई युरोपी युद्ध-शैली के इस सिद्धान्त को उसने बिलकुल न समझा था। उसने अपना आधार भरतपुर क्या दिल्ली में भी न रक्खा था। वह सब कुछ साथ लिये फिरता था, मानो उसका आधार हवा में हो! जब वह कुंजपुरा से आगे कुरुक्षेत्र जा रहा था, तभी खबर मिली कि नीचे बागपत पर जमना पार कर अब्दाली उसके और दिल्ली के बीच आ गया! सदाशिव तब पीछे लौटा। १ नवम्बर को पानीपत पर दोनों सेनाएँ आमने-सामने हुई और मोर्चाबन्दी कर जम गई।

दो मास तक चपावलें (झपटा-झपटी) होती रहीं। शुरू में मराठों ने मैदान काबू रखा। लेकिन ७ दिसम्बर रात की एक चपावल में बलवन्तराव मेहन्देले, जो भाऊ का मानो दाहिना हाथ था, मारा गया। तब से मराठा पक्ष दबने लगा। अफगान सवारों ने चौगिर्द इलाके काबू कर पटियाले के आलासिंह से मराठों का सम्बन्ध तोड़ दिया। भाऊ ने गोविन्द बुन्देले को रुहेलों और अवध के इलाकों पर छापे मारने का काम सौंपरक्खा था। अब्दाली द्वारा भाऊ का दिल्ली और दक्खिन का रास्ता काट दिया जाने के बाद उसने गोविन्द को इटावे से दोआब के बीचोंबीच हो कर मुजफ्फरनगर तक पहुँचने का आदेश दिया। यदि गोविन्द मुजफ्फरनगर तक पहुँच जाता तो दिल्ली के बजाय दक्खिन का दूसरा रास्ता भाऊ के लिए खुल जाता। वह इटावे से गाजियाबाद तक बढ़ा, और वहाँ मारा गया (१७ दिसम्बर)। इसके बाद मराठा सेना पूरी तरह घिर गई। अन्त में १४ जनवरी को सवेरे वह निराश हो कर लड़ने को निकली।

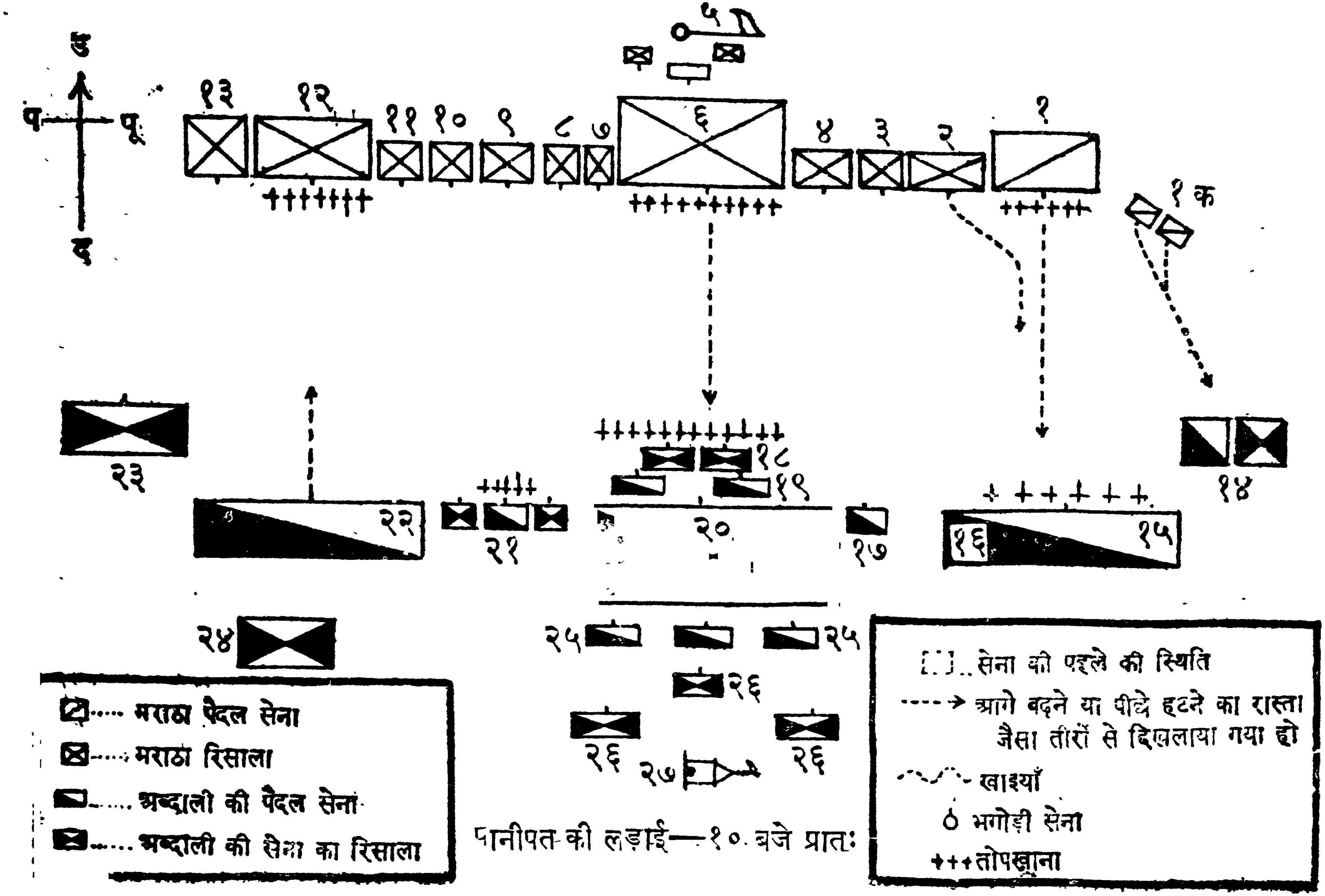
अब्दाली की ६२ हज़ार सेना के मुक़ाबले में भाऊ की ४५ हज़ार थी।

पानीपत की तीसरी लड़ाई

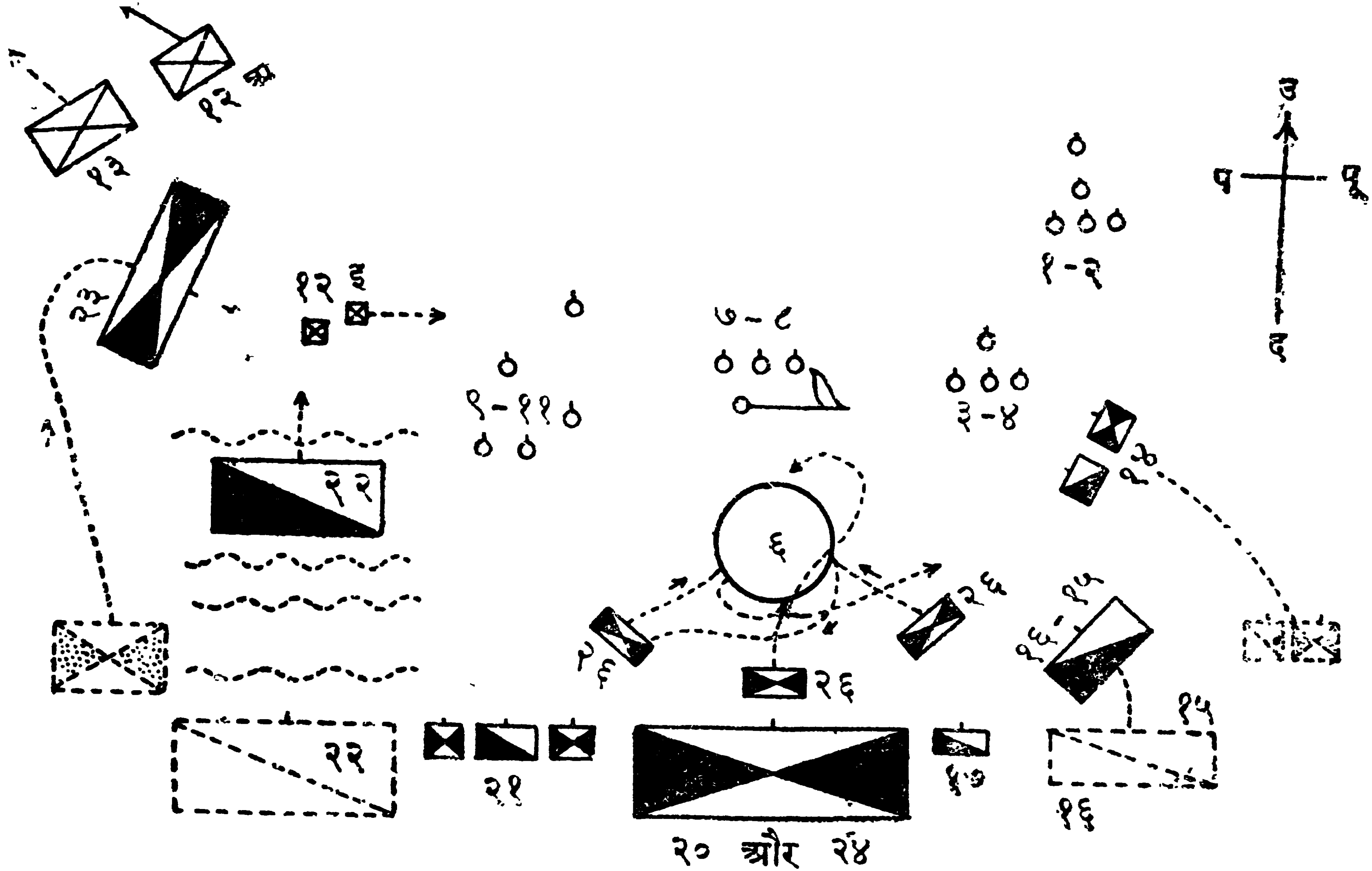
(१७६१ ई०)

व्याख्या

मराठा सेना		अब्दाली की सेना	
१—इब्राहीम गार्दी	(८०००)	१४—बरखुरदार और अमीर वेग	(३०००)
२—दमाजी गायकवाड	(२५००)	१५-१६—रुहेले सरदार	(१४०००)
३—विट्ठल शिवदेव	(१५००)	१७—अहमद बंगश	(१०००)
४—छोटे सरदार	(२०००)	१८—ऊँटसवार ज़म्बुरक लिये हुए	(१००० × २)
५—भाऊ का झंडा		१९—काबुली पैदल सेना	(१०००)
६—केन्द्र	(१३५००)	२०—केन्द्र, शाह वली	(१५०००)
७—अन्ताजी माणकेश्वर	(१०००)	२१—शुजाउद्दौला	(३०००)
८—पिलाजी जादव के बेटे	(१५००)	२२—नजीब	(१५०००)
९—छोटे सरदार	(२०००)	२३—शाहपसन्द	(५०००)
१०—जसवन्त पँवार	(१५००)	२४—रक्षित सेना (नसरुल्ला)	
११—शमशेरबहादुर	(१५००)	२५—मुल्की हाकिम आदि	
१२—जनकोजी शिन्दे	(७०००)	२६—अंगरक्षक गुलामों का दल	(३०००)
१३—मल्हार होळकर	(३०००)	२७—अब्दाली का खेमा	



पानीपत की लड़ाई—१० बजे प्रातः



पानीपत की लड़ाई—ढाई बजे मध्याह्न

[सर यदुनाथ सरकार के 'फ़ाल् आव दि मुगल एम्पायर' (मुगल साम्राज्य का पतन) जि० २ (१९३४) से]

उसका बायाँ पहलू इब्राहीम गार्दी के तिलंगे बन्दूकचियों का था; मध्य में स्वयं भाऊ और सबसे पच्छिम तरफ मल्हार था। व्यूह-रचना में भी भाऊ ने युरोपी शैली को ठीक न समझा था। पैदल बन्दूकचियों की पाँत के पीछे पीछे सवारों को रखना ज़रूरी था, जिससे बन्दूकची जब एक बार शत्रु को पछाड़ें तभी सवार हमला करके उसे कुचल दें। लेकिन भाऊ के पदाति एक तरफ थे और सवार दूसरी तरफ! पदातियों की बन्दूकों के सिवाय दोनों सेनाओं की शस्त्र-सज्जा में भी वही अन्तर था जो नादिरशाह की लड़ाई के वक्त। अफगान रिसाला जिज़ैलों से लड़ता था, मराठे सवार भालों तलवारों से। अफगानों की ऊँटों पर लदी दस्ती जम्बुरकों के मुकाबले में मराठों का भारी और अचल तोपखाना था।

इब्राहीम गार्दी के तिलंगों ने रुहेलों को पछाड़ दिया, पर उनके पीछे से कोई दत्ताजी शिन्दे जैसा रिसाले का नेता नहीं बढ़ा। भाऊ ने अफगान मध्य को पीछे धकेल दिया, लेकिन अब्दाली ने अपने भगोड़ों को घेर वापस लौटाया। मराठा दाहिना पहलू लड़ा ही नहीं। मल्हार के सामने नजीब था जिसे मल्हार अपना बेटा कहा करता था; उन्होंने आपस में समझौता कर लिया। दो बजे के बाद विश्वासराव के माथे में गोली लगी; उसे दो घाव पहले लग चुके थे। भाऊ का वह प्रिय भतीजा अपने दादा की तरह सुन्दर और होनहार था। उसके शव को हाथी पर लेटवा कर भाऊ ने एक बार निहारा, और फिर सेनापति का कर्त्तव्य भूल वह घमासान में कूद पड़ा। बिना नेता की मराठा सेना में अब हर किसी ने अपनी समझ से काम लिया। मल्हार अपने दल को पच्छिम भगा कर शत्रु की पाँत के किनारे से घूम कर भाग निकला। बाकी सैनिक और असैनिक प्रायः सब उलटी तरफ—उत्तर ओर—दौड़े, अतः बहुत थोड़े बच कर निकल पाये। शुजा ने कुछ को बचाने में मदद की। सूरज-मल के यहाँ उन सबको शरण मिली। लड़ाई के अन्त में विश्वासराव का शव अब्दाली के डेरे पर पहुँचा तो अफगान भी उसके भव्य चेहरे को निहार कर चोख उठे।

बालाजी मालवे तक आ गया था, जहाँ उसे ये खबरें मिलीं। पछार (सिरोंज से प्रायः ३५ मील उत्तर) पर उसे पानीपत से बचे हुए लोग मिले।

इस चोट ने उसे असाध्य रोगी बना दिया।

अब्दाली की सेना का भी भारी संहार हुआ। उसने दिल्ली में प्रवेश कर राजपूत राजाओं से कर तलब किया। तब जयपुर के माधोसिंह ने बालाजी से, जो मालवे में था, बूँदी आने की मिन्नत की और लिखा कि सब राजपूत राजा सेना सहित वहाँ आ मिलेंगे। पेशवा ने उसे डाँट कर लिखा—"पहले आप विजयसिंह के साथ अजमेर आइये। भाऊ ने सब अपराधों को माफ कर पिछली बातें भूलने को कहा था ... राजपूतों को कुछ होश आना चाहिए। हम हार गये तो नर्मदा पार चले जायेंगे। मुझे अब अब्दाली का डर नहीं है।" लेकिन अब्दाली की सेना भी बकाया बेतन के लिए विद्रोही हो रही थी और उसमें अब शिया सुन्नी (मुसलमानों के दो मूल पन्थ) आपस में लड़ रहे थे। दिल्ली को नजीब के हाथ सौंप वह २० मार्च को बिदा हुआ। बालाजी भी तब मालवे से पूने को रवाना हुआ। रास्ते में अब्दाली ने बालाजी को मनाने तथा उसके पुत्र और भाऊ की मृत्यु के लिए समवेदना प्रकट करने को अपना दूत भेजा। वह दूत मथुरा में सूरजमल इमाद तथा मराठा प्रतिनिधियों से मिला। उन लोगों ने उसे वहीं रोक लिया, क्योंकि बालाजी अब मौत के मुँह में था। लाहौर में आबिदखाँ को सूबेदार नियत कर अब्दाली वापिस चला गया।

मथुरा की शान्ति-सभा में रुहेलों बंगश और शुजा के प्रतिनिधि भी सम्मिलित हुए कि सब मिल कर कोई समझौते का मार्ग निकालें और आगे की व्यवस्था नियत करें। पर फल कुछ न निकला। कारण यह था कि सूरजमल को अब शान्ति पसन्द न थी; मराठे और अफगान दोनों पस्त हो गये थे; अब उसके लिए मौका था कि अपना राज बढ़ा ले। शान्ति-सभा के उठते ही उसने आगरे का किला हथिया लिया (१२-७-१७६१)।

शाहआलम को सबने बादशाह माना था; पर वह नजीब के डर से दिल्ली न आया और अवध में ही रहा। २३-६-१७६१ को बालाजीराव की मृत्यु हुई।

§ १५. **बालाजीराव का चरित**—बालाजीराव सच्चरित्र परिश्रमी कर्त्तव्यपरायण और निष्ठावान् पुरुष था। उसका पिता महान् राजनेता (स्टेट्समैन)

और सेनानायक होते हुए भी शासन-प्रबन्ध में बहुत कच्चा था; बालाजीराव उस अंश में बहुत योग्य था। उसने महाराष्ट्र की कर-प्रणाली और न्याय-प्रणाली को बहुत नियमित कर दिया, सेना की खुराक और साज-सामान में बड़ी उन्नति की। किन्तु बाजीराव का सा ऊँचा दिल बालाजी को नहीं मिला था; बाजीराव में जो महापुरुषता और दूरदर्शिता थी वह बालाजी को छू न गई थी। बाजीराव विशाल क्षेत्र तैयार कर उसमें सुन्दर और बलिष्ठ साम्राज्य की पौद लगा कर तथा उस क्षेत्र को सींचने और पौद को पनपाने के सब साधन जुटा कर दे गया था। बालाजी ने उन साधनों को मरुभूमि में बरबाद कर अपने साम्राज्य की पौद को सूखने और क्षेत्र को उजड़ने दिया तथा वहीं गुलामी के विषवृक्षों की कलमें रोपवा कर उन्हें सींचा!

बुन्देलखंड और राजस्थान के लोगों में कैसी ऊँची भावनाएँ शिवाजी और बाजीराव ने जगाई थीं, और उनसे कैसे मैत्री के सम्बन्ध स्थापित किये थे! बालाजी ने सन् १७४३ से ले कर आठ बरसों में जयपुर के उत्तराधिकार के मामले में कमीनी नीति पर चल कर उन मैत्री-भावनाओं को कैसे नष्ट कर दिया और कैसी द्वेष की भावनाएँ जगा दीं!

सन् १७५१ में रुहेलखंड को पार कर पहली बार मराठा सेनाएँ हिमालय के चरणों तक पहुँचीं। १७५२ में बादशाह अहमदशाह ने वजीर सफ़दरजंग की प्रेरणा से मराठों से जो सन्धि की उसके द्वारा मराठा आधिपत्य सारे भारत पर माना गया। ये सफलताएँ बाजीराव के छोड़े हुए साधनों और प्रभाव से ही प्राप्त हुई थीं। इसके बाद मराठा सरकार यदि इस सन्धि के दायित्व को ही निभाती चलती तो भारत का साम्राज्य तो उसे मिल ही चुका था। दूसरी तरफ़, १७४१ से ५२ तक तमिळनाड और आन्ध्र में युरोपी खतरा पूरी तरह खड़ा हो चुका था। उस खतरे को दूर करना भारत-साम्राज्य की जिम्मेदारी निभाने में सबसे पहला काम था।

अगले ही बरस बादशाह और सफ़दरजंग में झगड़ा होता है, तो पेशवा उसे शान्त करने का यत्न नहीं करता, प्रत्युत खुश हो कर तमाशा देखता है! और फिर बादशाह, सफ़दरजंग, नये वजीर और व्रज के नेताओं सबके विरोध

में वह इमाद जैसे पतित छोकरे का साथ देता है ! प्रकट है कि आँखों की शर्म और शालीनता नाम की भी कोई वस्तु है इसका बालाजीराव को अनुभव न था। उसकी इस करनी का फल मराठों को १७६० में भोगना पड़ता है, जब सदाशिवराव राजस्थान ब्रज और अवध के नेताओं को मनाना चाहता है, पर कोई नहीं मानता। जिस सफदरजंग के साथ ऐसा कृतघ्नता का बर्त्ताव बालाजी ने किया अन्त में सदाशिव को उसी के बेटे शुजाउद्दौला को वजीर घोषित करना पड़ता है, पर शुजा फिर भी मराठों की तरफ नहीं आता।

उत्तर भारत में यों तुच्छता और द्वेष के बीज बिखेरने के बाद और इमाद जैसे कमीने लड़के के हाथ में दिल्ली साम्राज्य की बागडोर सौंप कर बालाजी, जिसपर पंजाब तक की रक्षा का दायित्व था, १७५४ में वहाँ से अपनी सब सेना दक्खिन-दिग्विजय के लिए समेट लेता है ! इमाद फिर भी अब्दाली को दाँत दिखाता है। अब्दाली की १७५७ की चढ़ाई उसका जवाब थी। यों उस चढ़ाई में जो जनसंहार लूटमार और बलात्कार हुआ उसके लिए पहला दोषी बालाजी पेशवा था।

उधर तभी अंग्रेज बंगाल में षड्यन्त्र कर रहे थे। अलीवर्दीखाँ ने अपने दोहते को बहुत ठीक सावधान किया था और सिराजुद्दौला ने उसके अनुसार बहुत ठीक आदेश दिया था कि मेरे इलाके में कोई विदेशी युद्ध की तैयारी न करे। पर जब सिराज उन्हें दबा नहीं सकता, तब आगे उन्हें रोकने की जिम्मेदारी किसकी थी ? बिहार-बंगाल की चौथ मराठों को मिल रही थी, उन प्रान्तों में विदेशी फसाद न मचायँ यह देखना मराठा सरकार का कर्तव्य था। बालाजी उलटा ड्रेक को उभाड़ता और मदद देना चाहता है। ड्रेक उसकी मदद लेने के खतरे में नहीं पड़ता। पर कोई पक्ष चाहे या न चाहे, बालाजी को अपनी सेना भेज बंगाल में दखल देना ही चाहिए था और सिराज को अपनी रक्षा में ले कर विदेशियों की युद्ध-तैयारी को जड़ में ही कुचल देना चाहिए था। यों बंगाल-बिहार में अंग्रेजी राज खड़ा होने की जिम्मेदारी भी बालाजी पर है।

ब्रज और बंगाल की जब यों बरबादी हो रही थी, तब पेशवा अपनी जिस सेना से उन्हें बचा सकता था, उसी को वह उलटा दक्खिन के उन छोटे राज्यों

से टकरा रहा था जिन्हें साथ ले कर वह आन्ध्र तमिळनाड को भी बचा सकता था !

इससे पहले अंग्रेजों के हाथों वह जो अपने बेड़े को डुबवा चुका था सो तो निरा वज्रमूर्खता का काम था ।

इसके बाद भी पेशवा को सँभलने का मौका मिलता है । पलाशी के अढ़ाई मास बाद नजीब अब्दाली से समझौता और सन्धि करा देने का प्रस्ताव रखता है । पर दिशा भूले हुए मराठा नेता बिहार-बंगाल का उद्धार करने के बजाय पंजाब जीतने दौड़ते हैं ! और उसे जीत कर वे उसकी रक्षा का पूरा उपाय नहीं करते, अदीनाबेग को सूबेदारी सौंप कर रघुनाथ लौट आता है ।

अन्त में १७५८ में आ कर बालाजी को समझ आती है कि इमाद झूठा और निकम्मा आदमी है । उसके बजाय शुजाउद्दौला को वजीर बनाने की, नजीब के साथ समझौता करने की और बिहार जीतने की भी वह सोचता है । पर ये काम वह एक ऐसे जवान सैनिक को सौंपता है जो इनमें से किसी को भी न कर सके ! तब तक बालाजी अंग्रेजों को भी पहचान चुका था । १७५६ में आन्ध्र तमिळनाड में फ्रांसीसियों को उखाड़ कर अंग्रेज पैर जमा रहे थे । जनवरी १७६० की उदगीर की जीत के बाद अंग्रेजों के सिवाय दक्खिन में मराठा साम्राज्य का और कोई शत्रु नहीं बचा था । अगस्त १७६० में भाऊ के दिल्ली ले लेने के बाद अब्दाली और नजीब भी सन्धि के लिए मिन्नत कर रहे थे । ठीक उसी वक्त पुद्दुचेरी में घिरा हुआ लाली सहायता को पुकार रहा था और बदले में फ्रांस के पास भारत में जो कुछ बचा था सब देने को तैयार था । अब्दाली ने पानीपत के बाद भी पेशवा के प्रति जैसी शालीनता दिखाई और मथुरा की शान्तिसभा में सबके समझौते से भारत की राज्य-व्यवस्था का कोई मार्ग निकालने का जतन किया, उससे प्रकट है कि पंजाब पर आधिपत्य और रुहेलों को न सताने के वचन से अधिक वह कुछ न चाहता था, और भारत की राज्यव्यवस्था में मराठा दरबार का मुख्य स्थान वह भी मानता था । यों सितम्बर १७६० तक भी स्थायी रूप से कुछ न बिगड़ा था । तब भी पेशवा बालाजी अपनी परिस्थिति को देखता तो अब्दाली से समझौता कर तमिळनाड और बंगाल में एकदम दखल दे कर भारत को बरबादी और गुलामी से बचा

सकता था। पर उसने अपना अन्तिम निश्चय भी "स्थिति के तईं निपट अन्धेपन" के साथ किया! फारसी शब्द पेशवा का अर्थ ही नेता है। बालाजीराव से पहले किसी ने भारत का नेतृत्व ऐसे दिशामूढ हो कर नहीं किया था।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. बराड के भोंसलों ने उड़ीसा किन दशाओं में जीता?

२. "भारतीय सिपाही के आविष्कार" का क्या अर्थ है? वह आविष्कार किसने किन दशाओं में किया? इतिहास में उसका क्या प्रभाव हुआ?

३. शिवाजी वंश के हाथ से पेशवा वंश के हाथ में सब राजशक्ति कब कैसे चली गई?

४. सफदरजंग ने १७५२ ई० में मराठों से जो सन्धि की, वह क्या थी? उस सन्धि से प्राप्त दायित्व को मराठा सरकार ने अगले आठ बरसों में कैसे निबाहा?

५. द्यूप्ले ने किन दशाओं में कैसे भारत में फ्रांसीसी साम्राज्य खड़ा करने का जतन किया? अन्त में वह प्रयत्न कैसे विफल हुआ?

६. बाजीराव की मृत्यु के बाद के बारह बरसों में भारत की राजनीतिक स्थिति में कौन से बड़े परिवर्त्तन हुए? १७५२ ई० की स्थिति में कौन सी मुख्य समस्याएँ थीं और उन्हें सुलझाने के क्या मार्ग हो सकते थे?

७. सन् १७५७ में अफगानों ने व्रजभूमि लूटी और अंग्रेज़ों ने बंगाल-बिहार जीता। इन प्रान्तों को लूट और गुलामी से बचाने का मुख्य दायित्व तब भारत में किसका था? वह इन प्रान्तों को कैसे बचा सकता था, पर क्यों न बचा सका?

८. तमिळनाड अंग्रेज़ों के हाथ में कैसे गया? उसे महाराष्ट्र का पेशवा कैसे बचा सकता था? क्यों न बचा सका?

९. सन् १७५२–६१ के मराठा-अफगान-युद्ध का वृत्तान्त लिखिए।

१०. बालाजीराव के काल में मराठों और पठानों का बिगाड़ कैसे हुआ? उन्हें समझौता करने के कौन कौन से अवसर मिले? उन अवसरों पर समझौता क्यों न हुआ? उस काल के मराठा-पठान-द्वन्द्व का स्थायी फल क्या हुआ?

११. मराठों ने पंजाब कब कैसे जीता? वहाँ उनका राज कितने काल तक रहा? पंजाब जीत कर उन्होंने अच्छा किया या बुरा? क्यों?

१२. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए—(१) नजीबखाँ रुहेला (२) दि-बुसी (३) इमाद (४) मल्हार होळकर (५) आरकाट का घेरा (६) गोविन्दपन्त बुन्देला (७) विश्वासराव (८) सदाशिवराव भाऊ (९) इब्राहीम गार्दी (१०) चन्दासाहब (११) सूरजमल।

१३. "किन्तु शुकताल दूसरा नागोर बन गया" इसकी व्याख्या कीजिए।

१४. पानीपत की लड़ाई में मराठों का मुँह किस ओर था, पठानों का किस ओर ? कैसे वे उस स्थिति में आये ? अब्दाली पानीपत से पहले कहाँ था ?

१५. सामरिक दृष्टि से पानीपत में मराठों की हार के क्या कारण हुए ?

१६. बालाजीराव के चरित पर छोटा सा लेख लिखिए।

अध्याय ६

भारतीय साम्राज्य की पुनःप्रतिष्ठा का प्रयत्न

(१७६१—१७७२ ई०)

§ १. **पेशवा माधवराव**—बालाजीराव की मृत्यु पर उसका दूसरा बेटा माधवराव १६ वर्ष की आयु में पेशवा बना और राघोबा उसके नाम पर शासन चलाने लगा। सब तरफ मराठा साम्राज्य के सामन्त और पड़ोसी महाराष्ट्र की विपत्ति से लाभ उठाने की कोशिश कर रहे थे। जयपुर के माधोसिंह ने अब्दाली के हटते ही विद्रोह किया। मल्हार होळकर ने इन्दौर से उसपर चढ़ाई कर कोटा के उत्तर पार्वती नदी के किनारे माँगरोल पर जयपुर की सेना को हराया (२६-११-१७६१)। उसके तुरन्त बाद शुजा ने बुन्देलखंड पर चढ़ाई कर कालपी और झाँसी जीत ली। तभी निज़ामअली अपने भाई को कैद में डाल पूने की ओर बढ़ा। उसे तो राघोबा ने मार भगाया, पर हैदरअली ने उसके बाद शिरा हरपनहल्ली चितलदुर्ग गुत्ति आदि प्रदेश जिन्हें बालाजी ने अपनी दक्खिन चढ़ाई में जीता था, दखल कर लिये।

सन् १७६२ में माधवराव ने शासन अपने हाथ में ले लिया। इसपर राघोबा बिगड़ कर निज़ामअली से जा मिला और पूने पर चढ़ाई की। घरेलू युद्ध से शत्रु का लाभ होता देख माधवराव ने अपने को राघोबा के हाथ सौंप दिया। राघोबा फिर पेशवा के नाम से शासन करने लगा, परन्तु उसने अपने अन्यायपूर्ण शासन से अनेक सरदारों और नेताओं को विरोधी बना लिया और वे अब उसके देशद्रोह के दृष्टान्त का अनुसरण करने लगे। निज़ामअली ने फिर युद्ध छेड़ा। गोदावरी के किनारे पैठन के पास राक्षसभुवन पर राघोबा को

शत्रु ने घेर लिया और उसकी सेना भाग खड़ी हुई। माधवराव ने, जो मराठा सेना की चन्दावल में कैद था, भागती सेना को लौटा कर उस हार को जीत में परिणत कर दिया और राघोबा को बचा लिया (१०–८–१७६३)। तब राघोबा को उसे शासन में भाग देना पड़ा। माधवराव के सुशासन से महाराष्ट्र में शीघ्र शान्ति स्थापित हो गई।

माधवराव ने जिन व्यक्तियों को अपना सहायक चुना उनमें से उसके मन्त्री बालाजी जनार्दन भानु उर्फ नाना फडनीस और बल्लाल फडके तथा न्यायाधीश रामशास्त्री प्रभुणे आगे चल कर बहुत प्रसिद्ध हुए।

§२. मीर कासिम और अंग्रेज़ कम्पनी—अंग्रेज़ों के खड़े किये बंगाल के नवाब मीर जाफर को शासन चलाने की कतई तमीज़ न थी और न वह अंग्रेज़ों की रकमें चुका पाया। इसलिए सन् १७६० में कलकत्ता कौंसिल ने उसे हटा कर उसके दामाद मीर कासिम को नवाब बनाया था। कौंसिल ने उससे कम्पनी के लिए बर्दवान मेदिनीपुर चटगाँव जिलों की मालगुजारी और ५ लाख रुपया तथा अपने लिए २० लाख रुपये की रिश्वतें लीं। मीर कासिम ने अपने दरबार का खर्च घटा कर अंग्रेज़ों की बाकी रकमें और अपनी सेना की बकाया तनखाहें शीघ्र चुका दीं। वह अपनी राजधानी मुंगेर ले गया जहाँ उसने बन्दूकों का कारखाना खोला और सैनिकों को कवायद सिखा कर नये ढंग की सेना तैयार की। शासन को हर पहलू से उसने व्यवस्थित करना चाहा, पर अंग्रेज़ों ने उसे वैसा करने न दिया।

बंगाल बिहार में ईस्ट इंडिया कम्पनी के आयात निर्यात व्यापार पर फर्रुखसियर ने चुंगी माफ कर दी थी। कम्पनी के नौकर निजी रूप से भीतरी व्यापार भी करने लगे थे और पलाशी के विजय के बाद से वे उसपर भी नवाब के अधिकारियों को चुंगी न देते। आयात निर्यात वाले माल को प्रमाणित करने के लिए कम्पनी के मुखिया 'दस्तक' दिया करते थे। वैसे 'दस्तक' लिये हुए और नावों पर अंग्रेजी झंडे उड़ाते हुए अंग्रेज़ों के गुमाश्ते अब जनता के नित्य बरतने की हर चीज़ का व्यापार करते फिरते और नवाब के अधिकारी यदि उन्हें कहीं टोकते तो उन्हें मुश्कें बँधवा कर पिटवाते थे। यही नहीं, वे जनता

से मनमाने दामों पर खरीदने के नाम से माल छीन लेते, और उसी प्रकार मुँह-माँगे दामों पर ज़बरदस्ती उसे 'बेचते'। जो लोग लेने देने से इनकार करते, उन्हें वे कोड़ों से पिटवाते और कैद की सजा देते। हर गुमाश्ता जहाँ कहीं



नबाब मीर कासिम—पिछली मुगल शैली का पटना कलम का चित्र
[खुदाबख्श ग्रन्थागार पटना]

अपनी 'कचहरी' लगा लेता, छोटे बड़े सब पर हुक्म चलाता और चौकी बैठा कर लोगों के मकानों की तलाशियाँ ले कर जुरमाने वसूल करता। यह तो निजी 'व्यापार' था।

कम्पनी के निर्यात 'व्यापार' का ढंग यह था कि गुमाश्ता किसी भी औरंग (कारीगरों की बस्ती) में जा कर 'कचहरी' लगा देता। हरकारों को भेज कर वह दलालों और जुलाहों को वहाँ बुलवाता, और कुछ पेशगी दे कर उनसे यह मुचलका लिखवा लेता कि अमुक दाम पर अमुक दिन इतना माल देना होगा। जुलाहों की स्वीकृति का कोई प्रश्न न था। वे पेशगी लेने से इनकार करते तो कोड़ों से मरम्मत की जाती। जिन जुलाहों के नाम गुमाश्ते की बही में चढ़ जाते, वे किसी दूसरे का काम न कर पाते। इन जुल्मों से बचने के लिए अनेक नागोड (रेशम के कारीगर) अपने अँगूठे काट लेते।

मीर कासिम ने देखा कि वह इन गुंडों से प्रजा के व्यापार-व्यवसाय को बचा नहीं सकता तो उसने अपनी आमदनी की परवाह न कर कुल व्यापार से चुंगी उठा दी। इसपर कलकत्ता कौंसिल ने युद्ध छेड़ दिया और मीरजाफर से ५० लाख घूँस ले कर उसे फिर नवाब बनाया (दिसम्बर १७६३)। कासिम ने नागपुर के जनोजी भोंसले से सहायता माँगी। जनोजी के कटक के हाकिम ने १७६०-६१ में बंगाल की चौथ के लिए चढ़ाई की थी और उसके निष्फल होने पर नागपुर का दूत कलकत्ते आ कर चौथ माँग रहा था। अंग्रेजों ने अब उससे कहा कि हम चौथ देंगे, पर कासिम को मदद न देना। घेरिया पर तथा राजमहल के दक्खिन उधुआ नाला पर मीर कासिम की सेना वीरता से लड़ी, पर अन्त में हारी। कासिम और उसका स्विस सेनापति समरू अवध की ओर भागे।

§ ३. पठानों का पंजाब और ब्रज से संघर्ष—अब्दाली के जाते ही पंजाब में चारों तरफ सिक्ख गढ़ियाँ बनने लगीं। पंजाब में उसके प्रतिनिधि आबिदखाँ [९, ८ §१४] ने गुजराँवाले पर, जहाँ चड़तसिंह नामक नेता ने गढ़ी बना ली थी, चढ़ाई की। सिक्खों ने आबिद को हरा कर भगा दिया। तब उन्होंने जलन्धर द्वाबे पर हमला किया और सरहिन्द से पेशावर का रास्ता काट दिया। अब्दाली फिर लौट कर आया। सिक्ख सतलज पार भाग गये। अढ़ाई दिन में लाहौर से लुधियाने पहुँच वह एकाएक उनपर टूट पड़ा और उनका संहार किया (५-२-१७६२)। वह लड़ाई 'घुल्लू घेरा' नाम से

प्रसिद्ध हुई। अब्दाली ने उस साल लाहौर में ही ठहर कर दिल्ली से पेशवा के वकील तथा नजीबखाँ को बुलाया और अपना दूत पेशवा को मनाने के लिए पूने भेजा। इस बार उसने जम्मू के राजा रणजीतदेव की सहायता से कश्मीर भी जीत लिया। वहाँ अब तक दिल्ली की ओर से दीवान सुखजीवनराम शासन कर रहा था। दिसम्बर में अब्दाली लौट गया।

सूरजमल ने आगरे के बाद मेवात भी जीत लिया और फिर हरियाने (गुड़गाँव-रोहतक) की तरफ बढ़ने लगा। इसपर उसकी नजीब से लग गई और वह गाजियाबाद के पास लड़ता हुआ मारा गया (२५-११-१७६३ ई०)।

नवम्बर १७६३ में सिक्खों ने फिर विद्रोह किया, कसूर और मालेरकोटला की पठान बस्तियों को उजाड़ डाला, और सरहिन्द को जीत कर वह प्रदेश आपस में बाँट लिया। अब्दाली के सेनापति जहानखाँ [६, ८ § ११] ने अटक पार से उनपर चढ़ाई की; लेकिन चनाब पर सिक्खों के दूसरे दल ने उसे हरा दिया, और फिर लाहौर पर हमला कर आबिदखाँ को भी मार डाला। नजीब ब्रजराज्य की विपत्ति से लाभ उठाता, पर सिक्खों ने जमना पार कर सहारनपुर जिले में उसके नानौता† और शामली कसबे लूट लिये। इस दशा में अब्दाली स्वयं आया (मार्च १७६४)। सिक्ख मैदान से हट गये और वह काबुलीमल नामक अफगान ब्राह्मण को लाहौर का शासन सौंप कर वापिस चला गया। उसके पीठ फेरते ही लहनासिंह गुज्जरसिंह और शोभासिंह ने काबुलीमल से लाहौर का किला छीन कर गुरु नानक और गुरु गोविन्दसिंह के नाम का सिक्का चलाया। दूसरे सिक्ख दलों ने जेहलम तक जीत लिया। लहनासिंह अपने सुशासन के लिए शीघ्र प्रसिद्ध हो गया। जमना से जेहलम तक सिक्ख दलों के छोटे छोटे राज्य स्थापित हो गये।

नवम्बर १७६४ में ब्रज के नये राजा जवाहरसिंह ने दिल्ली को आ घेरा। उसने मराठों और सिक्खों से भी सहायता ली। पेशवा की आज्ञा से मल्हार उसकी सहायता को गया। तीन महीने तक दिल्ली घिरी रही; किन्तु मल्हार ने

† नानौता तब से फूटा शहर कहलाता है। शहादरा सहारनपुर छोटी रेलवे पर वह सहारनपुर से १७-१८ मील पर है।

नजीब से भीतर भीतर समझौता कर लिया, और जवाहर के सरदार, जो उसके छोटे भाई को गद्दी देना चाहते थे, विश्वासघात करते रहे। जयपुर का राजा माधोसिंह भी नजीब को मदद देता रहा, क्योंकि जयपुर और व्रज के राजाओं की सदा से लगती थी। अन्त में घेरा उठ गया। उसके बाद से जवाहर ने मराठों, माधोसिंह तथा अपने भाई और सरदारों से बदला लेना ही अपना कार्य मान लिया।

सन् १७६७ के शुरू में अब्दाली अन्तिम बार भारत आया। सिक्ख एक हार के बाद मैदान से हट गये। अब्दाली ने आलासिंह [६, ८ § १४] के पोते अमरसिंह को सरहिन्द का फौजदार बनाया, पर दूसरे सिक्ख दलों का पीछा करता रहा। किन्तु अब उसके सैनिक खुल्लमखुल्ला बलवा करके अफगानिस्तान चल दिये। उनके हटते ही सिक्खों के एक दल ने रोहतासगढ़ ले कर सिक्ख राज्य को अटक तक पहुँचा दिया।

§४. गंगा काँठे आन्ध्रतट और तमिळनाड में अंग्रेज़ी राज की स्थापना—मीर कासिम ने अवध से शुजा और शाहआलम को साथ ले कर बिहार पर चढ़ाई की। मेजर मुनरो ने बक्सर पर उन्हें हरा दिया (२३-१०-१७६४)। शाहआलम तब अंग्रेजों की शरण में आ गया। कर्मनाशा पार कर अंग्रेज़ अवध के सूबे में घुसे। उन्होंने चुनार का गढ़ घेरा, पर उसे ले न सके, तो भी बनारस और इलाहाबाद ले लिये। शुजा ने रुहेलों और मराठों की सहायता ली। वह मराठों से बुन्देलखंड छीन चुका था, तो भी मल्हार उसकी मदद को आया। कोड़ा* की लड़ाई में अंग्रेजी तोपों के सामने उसे भागना पड़ा (३-५-१७६५)। शुजा ने तब आत्म-समर्पण कर दिया। उसी वर्ष क्लाइव फिर बंगाल में कम्पनी का मुखिया बन कर आया। उसने बनारस पहुँच कर शुजाउद्दौला से और इलाहाबाद में शाहआलम से अलग अलग सन्धियाँ कीं।

शुजा ने अंग्रेजों को ५० लाख रुपया हर्जाना दिया, काशी के राजा को एक तरह से उनकी रक्षा में सौंप दिया, अंग्रेज़ों के शत्रुओं को अपना शत्रु माना तथा अपने राज्य की रक्षा के लिए उनपर निर्भर रहना मंजूर किया।

* फतहपुर जिले का कस्बा कोड़ा-जहानाबाद। उन दिनों जिले का नाम इसी से पड़ता था।

शाहआलम ने ईस्ट इंडिया कम्पनी को बंगाल बिहार और उड़ीसा की दीवानी दे दी। उड़ीसा का केवल मेदिनीपुर जिला अंग्रेज़ों के हाथ में था। इसके अतिरिक्त आन्ध्र-तट के जिलों पर भी बादशाह ने अंग्रेज़ों का सीधा अधिकार मान लिया तथा आरकाट की नवाबी मुहम्मदअली को दे कर उसे निज़ामअली से स्वतन्त्र कर दिया। बंगाल की आमदनी में से वार्षिक २६ लाख रुपया कम्पनी ने बादशाह को देना स्वीकार किया तथा कोड़ा और कड़ा† जिले बादशाह के खर्च के लिए अवध से दिला दिये। शाहआलम इलाहाबाद में अंग्रेज़ों की रक्षा में रहने लगा। इस बीच मीरजाफ़र मर चुका था। कलकत्ता कौंसिल ने फिर २३ लाख रुपया घूँस ले कर उसके बेटे को गद्दी पर बिठाया, पर उसे केवल नाम का नवाब रहने दिया।

कोड़ा से लौट कर मल्हार ने झाँसी वापिस ले ली, परन्तु कुछ काल बाद वह चल बसा (२०-५-१७६६)। इस बीच राघोबा फिर उत्तर भारत आया था। मराठों को फिर आया देख क्लाइव ने छपरे में एक 'काँग्रेस' बुलाई (जुलाई १७६६), जिसमें शुजा स्वयं तथा ब्रज और रुहेलखंड के दूत आये और सबने मराठों के विरुद्ध गुट्ट बनाने की कोशिश की।

बंगाल बिहार की आमदनी से खर्चा निकाल कर सवा करोड़ रुपया वार्षिक कम्पनी को बचने लगा, जो अब हर साल भारत से इंग्लैंड को जाने लगा। कम्पनी के नौकरों की निजी लूट इससे अलग थी। डाइरेक्टरों ने क्लाइव को तीसरी बार इसीलिए भेजा था कि वह 'भेंट' और निजी 'व्यापार' के नाम से होने वाली इस लूट को बन्द कर दे। पलाशी युद्ध के बाद से नौ साल में बंगाल बिहार से कम्पनी के नौकरों ने प्रायः ६ करोड़ रुपया निजी तौर से भेंट या हरजाने के नाम से लिया था। 'भेंट' लेने की अब सख्त मनाही की गई। निजी व्यापार को बन्द करने के बजाय क्लाइव ने उसे शृंखलाबद्ध कर दिया। सब अंग्रेज़ अफसरों की, पद के अनुसार, पत्ती डाल कर एक साझेदारी बना दी गई जिसके हाथ में बङ्गाल बिहार के नमक सुपारी और अफीम के व्यापार

---

† इलाहाबाद जिले का नाम पहले कड़ा-मानिकपुर कस्बे के नाम से पड़ता था।

का एकाधिकार दे दिया गया। ये परिवर्त्तन करके सन् १७६७ के शुरू में क्लाइव लौट गया। डाइरेक्टरों ने इस नये निजी व्यापार को भी रोक दिया, परन्तु नमक और अफीम का एकाधिकार स्वयं ले लिया।

मुहम्मदअली तमिळनाड का नवाब बना तो अंग्रेज़ों ने बीस बरस के युद्ध का सारा खर्चा उसके मत्थे मढ़ दिया। आगे के लिए भी देश की रक्षा उसने कम्पनी को सौंप दी और उसके लिए कई जिलों की मालगुज़ारी उन्हें दे दी। युद्ध का खर्च वह चुका न सका और उसपर वह कर्ज लद गया। कम्पनी के उस कर्ज़ या उसके सूद को चुकाने के लिए वह कम्पनी के नौकरों से उधार लेने लगा! धीरे धीरे तमिळ देश के तमाम खेतों की खड़ी फसलें तक उन सूदखोरों के हाथ गिरवी रक्खी जाने लगीं!

§५. **हैदरअली**—हैदर सन् १७६३ में बेदनूर सावनूर और धारवाड ले कर मलप्रभा (कृष्णा की दक्खिनी शाखा) तक आ पहुँचा। घरेलू झगड़ों से छुट्टी पा कर मई १७६४ में माधवराव ने कृष्णा पार की। साल भर युद्ध चलता रहा जिसके अन्त में हैदर ने सावनूर गुत्ति अनन्तपुर आदि इलाके छोड़ दिये और बड़ा हरजाना दिया।

सन् १७६६ में हैदर ने मलबार पर चढ़ाई कर उसे पूरा दखल कर लिया। १७६७ के शुरू में माधवराव ने हैदरअली पर फिर चढ़ाई की और शिरा का प्रदेश ले लिया। तभी निज़ामअली और अंग्रेजों ने भी उसपर चढ़ाई कर दी थी और अंग्रेज़ बारामहाल (सेलम कृष्णगिरि) में घुस आये थे। हैदर ने माधवराव से शरण माँगी, वे सब प्रदेश लौटा दिये जिन्हें बालाजी ले चुका था, और आगे से नियम से कर देना स्वीकार किया।

माधवराव से यों समझौता होने के बाद हैदर ने अंग्रेज़ों के उस बेड़े को नष्ट कर दिया जो मुम्बई से कन्नड तट पर चढ़ाई करने आया था। वह पूरब बढ़ा तो निज़ामअली अंग्रेज़ों का साथ छोड़ उससे मिल गया और अंग्रेज़ सेनापति ने तिरुवण्णामलै गढ़ की शरण ली। छह मास के युद्ध के बाद निज़ाम-अली ने अंग्रेज़ों से सन्धि कर ली। अंग्रेज़ नवाब मुहम्मदअली को साथ ले फिर मैसूर की तरफ बढ़े। जवाब में हैदर ने सारे तमिळनाड पर छापे मारना

शुरू किया, और एकाएक मद्रास पर पहुँच कर वहाँ अंग्रेजों से सन्धि लिखवाई (४-४-१७६९)। उस सन्धि की शर्तें ये थीं कि दोनों एक दूसरे के इलाके लौटा देंगे तथा आगे से यदि एक पर शत्रु आक्रमण करे तो दूसरा सहायता देगा।

§ ६. **बंगाल बिहार में दुराज और दुर्भिक्ष**—बंगाल बिहार की सेना और कोष अब अंग्रेज़ों के हाथ चले गये थे, पर शासन और न्याय का काम अभी तक नवाब के हाकिम चलाते, जिन्हें अंग्रेज़ों के कारिन्दे आसानी से अपनी कठपुतली बना लेते थे। मालगुज़ारी की वसूली भी पुराने हाकिमों द्वारा होती, पर उनके ऊपर हर जिले में अंग्रेज़ हाकिमों की कौंसिल बना दी गई थी। यह एक तरह का दुराज था।

सन् १७५७ और १७६० में जो जिले कम्पनी के हाथ आये थे, उनमें अंग्रेज़ों ने मालगुज़ारी नीलाम करके कड़ाई से वसूली शुरू की थी। दीवानी पाने के बाद वे सारे बंगाल बिहार और आन्ध्र-तट में वैसा ही करने लगे। हर ज़िले में अंग्रेज़ मुखिया और कौंसिलें नियुक्त कर दी गईं। वे ऊँची से ऊँची बोली देने वाले को मालगुजारी की वसूली सौंप देतीं। इस प्रकार पुराने जागीरदारों की जगह, जिन्हें सैनिक सेवा के बदले में मालगुज़ारी सौंपी जाती थी और जो परम्परा से बँधी दरों से कर वसूलते थे, अब कलकत्ते के दलाल और अंग्रेज़ों के तुच्छ गुमाश्ते और पिछलग्गू मालगुज़ारी का ठेका ले कर किसानों पर अकथनीय ज़ुल्म करने लगे।

व्यापारी कम्पनी को तो केवल अपने नफे से मतलब था। सन् १७६५ से १७७१ तक छह बरस में कम्पनी को बंगाल और बिहार की मालगुज़ारी में से साढ़े चालीस लाख पौंड (लगभग ३ करोड़ रुपये) की बचत हुई, जिसे उसने अपना मुनाफा माना। कम्पनी के नौकर भीतरी व्यापार से जो निजी लाभ उठाते, या तनखाहें आदि पाते थे, सो अलग था। सन् १७६६ से ले कर तीन बरसों में इन प्रान्तों में इंग्लैंड से जो माल आया, उससे लगभग ४३३ लाख रु० का अधिक माल वहाँ गया। यह वास्तव में खिराज था जो अब भारत से बाहर जाने लगा था।

इंग्लिस्तान से डाइरेक्टरों ने हुक्म भेजा कि बंगाल बिहार में रेशम के

कपड़े न बनें, केवल कच्चा रेशम तैयार हो, और रेशम अटेरने वाले केवल कम्पनी की कोठियों में ही उसे अटेरें। इस हुक्म के कारण पर हम आगे [६, ११ § ८] विचार करेंगे। इस तरह उद्योग-धन्धों का नाश होने लगा। उद्योग-धन्धों के नाश, धन की सालाना निकासी और दुराज से उन प्रान्तों की बड़ी दुर्गति हो गई। १७७० ई० में बंगाल बिहार में भीषण दुर्भिक्ष पड़ा। कम्पनी के नौकरों ने तब अन्न के व्यापार पर एकाधिकार कर जनता का कष्ट और बढ़ा दिया। तीन करोड़ आबादी में से एक करोड़ उस दुर्भिक्ष में मिट गई।

§ ७. **नेपाल में गोरखाली राज्य की स्थापना**—कश्मीर से सिकिम तक हिमाचल के प्रदेशों में सौ के लगभग छोटे छोटे राज्य इस काल में चले आते थे। नेपाल दून को चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में तिरहुत के हरसिंहदेव ने जीता था [८, ४ § ६]। उसके वंशजों के तीन अलग अलग राज्य अब पाटन काठमांडू तथा भातगाँव में थे, जिनमें नेपाल दून के पच्छिम त्रिशूलीगंडक तक और पूरब दूधकोसी तक की भूमि भी अन्तर्गत थी। उस दून के पच्छिम सप्तगण्डकी प्रदेश [१, १ § ५] में चौबीस छोटे छोटे राज्य थे, जिससे वह चौबीसी कहलाता था। इनमें से एक गोरखा राज्य था, जिसकी स्थापना १५५९ ई० में गोरखा बस्ती को जीत कर द्रव्यशाह ने की थी। द्रव्यशाह के पोते रामशाह ने उस राज्य की सीमाएँ और समृद्धि बढ़ाई तथा उसमें विधान-व्यवस्था स्थापित कर प्रसिद्धि पाई (१६०६–१६३३ ई०)। रामशाह के पोते का पोता पृथ्वीनारायणशाह १७४२ ई० में गोरखा राज्य की गद्दी पर बैठा।

हिमाचल के इस भाग में आग्नेय अस्त्रों का प्रयोग तब तक न चला था। पृथ्वीनारायण ने काशी की यात्रा की और वहाँ से बन्दूक बारूद बनाने वाले कुछ कारीगरों को अपने साथ लेता गया। तब उसने नेपाल दून को जीतने का उद्योग आरम्भ किया। सवा चार सौ वर्गमील की नेपाल दून सारे पूर्वी हिमाचल भूटान और मध्य तिब्बत के भी आर्थिक जीवन की धुरी है। उस समूचे क्षेत्र में नेपाल का ही सिक्का चलता रहा है। पृथ्वीनारायण ने पहले उस दून के चौगिर्द पहाड़ों को जीतते हुए उनपर अपनी गढ़ियाँ स्थापित कीं; फिर दून का घेरा डाल दिया। नेपाल का व्यापार तब मुस्लिम कश्मीरियों और

एक विशिष्ट पन्थ के गुसाइयों के, जो साधु वेश में रहते हुए व्यापार और सैनिक सेवा करते थे, हाथ में था। १६२८ ई० से नेपाल में कापुचिन पन्थ के ईसाई युरोपी प्रचारक भी रहते थे। नेपाल का घेरा पड़ने पर इन विदेशी व्यापारियों और प्रचारकों ने बाहर जा कर भारत और तिब्बत के शासकों को पृथ्वीनारायण पर आक्रमण करने के लिए उकसाया। तभी नवाब मीरकासिम ईस्ट इंडिया कम्पनी के चंगुल से निकलने के लिए अपनी स्वतन्त्र शक्ति बनाने के प्रयत्न में लगा था। अपने अरमिनी सेनानायक गुर्गीनखाँ के साथ सन् १७६२ में उसने चम्पारन के उत्तर मकवानपुर दून पर चढ़ाई की। पृथ्वीनारायण की सेना ने उसे हरा कर भगा दिया।

१७६५ ई० से पृथ्वीनारायण ने नेपाल दून के भीतर युद्ध छेड़ा। वहाँ के एक पराजित राजा, कश्मीरी और गुसाईं व्यापारियों तथा कापुचिन पादरियों ने इस बार ईस्ट इंडिया कम्पनी से सहायता माँगी। अक्तूबर १७६७ में कम्पनी ने मेजर किनलोक को, जो तभी त्रिपुरा पर चढ़ाई करके लौटा था, पृथ्वीनारायण के विरुद्ध भेजा। किनलोक ने दरभंगे की कमला नदी के साथ बढ़ते हुए जनकपुर की तराई पार कर सिंधूली गढ़ी ले ली। पृथ्वीनारायण भी चौकन्ना था। उसकी सेना पाटन को लगभग जीत चुकी थी कि उसने उसे समेट कर दक्खिन भेजा। किनलोक गोरखालियों* से मार खा कर भाग आया (दिसम्बर १७६७)। बाहरी हस्तक्षेप की दो चेष्टाओं को यों विफल कर १७६९ ई० तक पृथ्वीनारायण ने नेपाल दून के राज्यों को पूरा जीत लिया। वह अपनी राजधानी गोरखा से काठमांडू ले आया। १७७० से १७७४ ई० तक उसने दूधकोसी से पूरब का सप्तकौशिकी [१,१ § ५] का बाकी अंश भी जीत लिया। यों विद्यमान नेपाल राज्य का पूर्वी आधा भाग उसके राज्य में आ गया।

अपनी कृषक प्रजा की खुशहाली और समृद्धि की ओर पृथ्वीनारायण का विशेष ध्यान था। उसने यह नीति निर्धारित की कि नेपाल का देशी विदेशी व्यापार नेपालियों के ही हाथ आ जाय, देश के लिए आवश्यक कपड़ा देश

* गोरखा राज्य के लोगों को हिमाचल में गोरखाली कहते हैं। अंग्रेज़ी में उन्हें गोरखा ही कहा जाता है, पर गोरखाली ठीक शब्द है।

में ही बने और विलास-सामग्री देश में बाहर से न मँगाई जाय जिससे देश का धन बाहर न जाय। इस लक्ष्य को सामने रखते हुए उसने जुआ खेलने पर रोक लगाई, विदेशी नर्तकियों का आना रोका तथा मुद्रा का सुधार किया। नेपाल का सिक्का भूटान और तिब्बत में भी चलता था। पृथ्वीनारायण ने जब सिक्के का सुधार किया, तब तिब्बत के शासकों से भी पुराने मिलावटी सिक्के का चलन बन्द करने को सहयोग माँगा। पर उन्होंने सहयोग नहीं दिया। खोटा सिक्का खरे सिक्के को निकाल न दे इस उद्देश से पृथ्वीनारायण ने तब तिब्बत के व्यापार पर रोक लगा दी जिससे दोनों देशों में तनातनी पैदा हुई।

पृथ्वीनारायण ने कापुचिन पादरियों को, जिन्होंने अंग्रेजों को नेपाल के भीतर की जानकारी दे कर नेपाल पर चढ़ाई के लिए उकसाया था, देश से निर्वासित कर दिया। वे लोग तब बेतिया (जि० चम्पारन) में आ कर बस गये। भारत में अंग्रेजों की उठती हुई शक्ति के प्रति पृथ्वीनारायण बहुत सशंक था। उसका कहना था कि "दक्षिण के समुद्र के बादशाह (अंग्रेज) के साथ मेल तो रखना चाहिए, किन्तु वह महाचतुर है" अतः उसे दूर ही रखना चाहिए।

§ ८. **सिक्ख मिसलें**—अब्दाली की सेना पंजाब से खदेड़ दी जाने पर सारा पंजाब सिक्ख दलों के छोटे छोटे बारह राज्यों में बँट गया। वे राज्य मिसल कहलाते थे। ये मिसलें वास्तव में सैनिक और पान्थिक (सिक्ख पन्थ की) पंचायतें थीं, जिनके मुखिया सिक्ख सैनिकों के दलों द्वारा चुने जाते थे। प्रायः प्रत्येक सिक्ख सैनिक था और उन सैनिकों में से अधिकांश कृषक थे। जिन सैनिकों में युद्ध में नेतृत्व करने की योग्यता थी, वे दलों के नेता बनते गये और अब उन दलों के छोटे छोटे राज्य बन गये। नेताओं को चुनने की रस्म ज़रूर की जाती थी, भले ही बाप के बाद बेटा चुना जाता।

साधारण सैनिक मिसल की ज़मीन में या तो मुखिया के 'पत्तीदार' होते थे या 'मिसलदार' (सैनिक सेवा की शर्त पर ज़मीन पाने वाले); किन्तु ये मिसलदार चाहे जब एक मिसल को छोड़ कर दूसरी की सेवा में जा सकते थे। उनके अतिरिक्त दूसरे लोग 'ताबेदार' या 'जागीरदार' के रूप में भी ज़मीन पाते

थे, पर उनपर मिसल के सरदार का पूरा निजी अधिकार रहता था।

जो इलाके सिक्खों के संरक्षण में, पर उनके सीधे नियन्त्रण में न होते, उनसे 'राखी' कर लिया जाता था, और अपने इलाकों से 'मालिया' (मालगुज़ारी)।

कृषक जनता कहीं इतनी सुखी न थी जितनी इन कृषक-सैनिकों के राज में। सिक्खों ने यह शीघ्र समझ लिया कि व्यापार पर भारी चुंगी होने से उन्हें हानि होती है, इसलिए चुंगी बहुत कम कर दी। उनका दंड-विधान भी कठोर न था।

आपस की छीनझपट से मिसलों को सीमाएँ प्रायः बदलती रहती थीं, तो भी सामूहिक विपत्ति आने पर सब सरदार मिल जाते थे। हर साल दशहरे पर अमृतसर में सब सरदारों की संगत लगती थी, जहाँ सामूहिक कार्यों का निश्चय किया जाता था। अमृतसर का मन्दिर अकाली लोगों के हाथ में रहा जो किसी मिसल में शामिल न थे और सिक्ख पंथ की परम्परा के विशेष रक्षक थे। विशेष धार्मिक प्रवृत्ति वाले लोग अकाली बन जाते थे। अमृतसर नगरी में कई मिसलों के सरदारों ने अपनी अलग अलग गढ़ियाँ बना लीं। वह नगरी इन्हीं मिसलों के शासन के बीच समृद्ध व्यापारी बस्ती बन गई।

§९. भारतीय साम्राज्य की पुनःप्रतिष्ठा का प्रयत्न—उत्तर भारत से लौट कर राघोबा ने फिर षड्यन्त्र शुरू किये। माधवराव ने उसे बड़ी जागीर देनी चाही, पर वह आधा राज्य माँगता था। तभी मुम्बई के अंग्रेज़ों ने अपना एक कारिन्दा उसके पास षड्यन्त्र करने भेजा। माधवराव ने तब राघोबा को एकाएक नासिक के पास कैद करके पूना ला कर महल में नज़रबन्द कर दिया (१७६८ ई०)।

हैदरअली ने अंग्रेज़ों की नई सन्धि के भरोसे पेशवा को सालाना कर न भेजा और सावनूर पर आक्रमण किया। तब माधवराव ने उसके राज्य पर तीसरी चढ़ाई की (१७६६) और जीते हुए जिलों का पूरा दखल और बन्दोबस्त करते हुए बेंगलूर तक जा पहुँचा। हैदर ने तब बेंगलूर तक का सब प्रदेश दे कर सन्धि की (जून १७७२)। इस प्रकार मैसूर राज्य पहले से भी

छोटा रह कर पूरी तरह मराठों का सामन्त बन गया।

१७६६ ई० में पेशवा ने एक सेना रामचन्द्र गणेश के नेतृत्व में उत्तर भारत भी भेजी। रामचन्द्र के साथ विसाजी कृष्ण पंडित, रानोजी शिन्दे का छोटा बेटा महादजी और मल्हार होळकर की उत्तराधिकारिणी—उसके कुम्भेर-गढ़ पर मारे गये बेटे खंडेराव की पत्नी—अहल्याबाई का दत्तक पुत्र तुकोजी होळकर भी गये। मराठों के आने से एक बरस पहले ब्रज का राजा जवाहरसिंह अपने एक सैनिक के हाथों मारा जा चुका और नजीब अपने बेटे जाबिता को दिल्ली छोड़ नजीबाबाद चला गया था। जवाहर की हत्या से ब्रज की शक्ति टूट गई थी। नजीब मराठों से मिलने आया और जाबिता का हाथ तुकोजी के हाथ में देते हुए बोला कि इसपर वैसी ही दयादृष्टि रखना जैसी मल्हारराव ने मुझपर रक्खी थी। इसके शीघ्र बाद वह चल बसा।

उत्तर भारत में मराठों की पहले सी स्थिति हो जाने पर शाहआलम ने अंग्रेजों के बजाय उनकी शरण ली और मराठा सेना के साथ दिल्ली में प्रवेश किया (६-१-१७७२)। मराठों ने बादशाह की तरफ से रुहेलखंड को अधीन किया। शुजा ने घबरा कर अंग्रेज़ों से सहायता माँगी और अंग्रेज़ी सेना के साथ रुहेलखंड की सीमा पर पहरा देता रहा। मराठों ने कोड़ा और इलाहाबाद भी लेने चाहे। वे कहीं झाड़खंड (रामगढ़ राज्य) के रास्ते बंगाल पर चढ़ाई न करें इसलिए अंग्रेजों ने झाड़खंड के सब राज्यों को अपने अधीन कर लेने को कप्तान कैमक को बड़ी सेना के साथ भेजा।

अब मराठों और अंग्रेज़ों का सीधा टाकरा होता। १७६१ ई० के बाद ११ वर्षों में उत्तर भारत में मराठों की पठानों के मुकाबले में स्थिति न केवल ज्यों की त्यों हो गई थी, प्रत्युत पठान पंजाब से भी हट चुके थे। पर इस बीच अंग्रेज़ों को भारत में पैर जमाना मिल गया था। पानीपत की लड़ाई इसी दृष्टि से निर्णायक हुई। अब अंग्रेज़ों को निकालना ही भारत की स्पष्ट पहली समस्या थी। माधवराव ने हैदरअली से सन्धि करते हुए उसके साथ मिल कर मद्रास पर चढ़ाई करने का गुप्त प्रस्ताव किया। वह एक साथ उत्तर और दक्खिन में अंग्रेज़ों पर चोट करना चाहता था। हैदर का हित मराठों के साथ रहने

में था; किन्तु उसने भोलेपन में, इस आशा से कि अंग्रेज़ उसे मराठों के विरुद्ध मदद देंगे, वह प्रस्ताव अंग्रेज़ों के आगे खोल दिया। अंग्रेज़ों ने तब अपने दूत मोस्टिन को पूने भेजा। पर इसी बीच महाराष्ट्र का सबसे योग्य पेशवा मृत्यु-शय्या पर पड़ गया था।

पेशवा माधवराव को युद्धों से जो फ़ुरसत मिली, वह उसने राष्ट्र का शासन-प्रबन्ध ठीक करने में लगा दी। उसने योग्य पुरुषों को पहचान कर उनके अनुरूप पदों पर बिठाया। उसमें अपने पिता की सी प्रबन्ध-योग्यता और अपने दादा की सी समर-नायकता और महापुरुषता थी। उसकी अकाल मृत्यु (१८-११-१७७२) से भारत को जो धक्का लगा वह पानीपत के धक्के से अधिक गहरा था।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. पंजाब में सिक्ख राज्य कैसे स्थापित हुआ?

२. सिक्ख मिसलें क्या थीं? उनकी राजनीतिक आर्थिक सामाजिक रचना को स्पष्ट कीजिए।

३. सन् १७६१ के बाद व्रज के राजा सूरजमल और उसके उत्तराधिकारी का चरित लिखिए।

४. पलाशी युद्ध के बाद के दस बरसों में बंगाल बिहार में अंग्रेज़ों के वाणिज्य-व्यापार की पद्धति क्या थी?

५. शुजाउद्दौला और शाहआलम के साथ क्लाइव ने किन दशाओं में संधियाँ कीं? उन संधियों की मुख्य बातें क्या थीं?

६. सन् १७६१ की मथुरा की शान्तिसभा और १७६६ की छपरा की 'कांग्रेस' किन दशाओं में किस किस के प्रयत्न से हुई? मथुरा की सभा के बाद छपरा की 'कांग्रेस' होने की नौबत क्यों और कैसे आई? दोनों में मुख्य समस्या क्या थी और दोनों में क्या अन्तर था?

७. नेपाल में गोरखाली राज्य कब कैसे स्थापित हुआ? उसके संस्थापक की शासन-नीति पर प्रकाश डालिए।

८. बंगाल बिहार की दीवानी पाने के बाद अंग्रेज़ों ने वहाँ मालगुज़ारी का कैसा बन्दोबस्त किया?

९. पेशवा माधवराव ने किस प्रकार मराठा साम्राज्य की पुनःप्रतिष्ठा का प्रयत्न किया?

१०. निम्नलिखित लड़ाइयों के क्रम पर ध्यान रखते हुए बताइये कि वे किन किन के बीच किन दशाओं में हुईं तथा इतिहास की धारा को उन्होंने कैसे प्रभावित किया ?

(१) मांगरोल, नवम्बर १७६१ (२) घुल्लू घेरा, फरवरी १७६२ (३) राक्षसभुवन, अगस्त १७६३ (४) गाजियाबाद, नवम्बर १७६३ (५) उधुआ नाला, १७६४ (६) बक्सर, अक्टूबर १७६४ (७) दिल्ली का घेरा, नवम्बर १७६४–जनवरी १७६५ (८) कोड़ा, मई १७६५ (९) सिन्धूली गढ़ी, अक्टूबर–दिसम्बर १७६७।

११. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए—

(१) काबुलीमल (२) आरकाट का नवाब मुहम्मदअली (३) नजीबखाँ की तुकोजी होळकर से भेंट (४) कैमक की झाड़खंड पर चढ़ाई (५) माधवराव पेशवा और हैदरअली।

अध्याय १०

नाना फडनीस और वारन हेस्टिंग्स

(१७७३–१७९९ ई०)

§१. भारत में अंग्रेज़ी शासनपद्धति की नींव पड़ना—इंग्लिस्तान के लोगों के सामने यह प्रश्न आया कि उनके देश के कुछ व्यापारियों ने जो एक नया देश जीत लिया, वह किसका है—उन व्यापारियों का या अंग्रेजी राष्ट्र का ? अंग्रेज लोग जहाँ कहीं भी चले जायँ, अंग्रेजी कानून उनपर लागू होता था, और इन व्यापारियों को भारत में व्यापार करने का एकाधिकार भी तो ब्रितानवी राष्ट्र से ही मिला था। इसलिए स्वभावतः इंग्लिस्तान के लोगों ने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि उनके राष्ट्र का कोई व्यक्ति जो भूमि जीतता है, वह राष्ट्र के लिए जीतता है। तदनुसार सन् १७६७ में अंग्रेजी पार्लिमेंट (विधानसभा) ने एक कानून द्वारा कम्पनी के मुनाफे की दर नियत कर दी और यह तय किया कि कम्पनी ब्रितानवी सरकार के कोष में ४ लाख पौंड वार्षिक दिया करे। कुछ बरस बाद जब कम्पनी यह रकम न दे सकी तब उसके कार्य को नियमित करने के लिए पार्लिमेंट ने एक 'रेग्युलेटिंग ऐक्ट' (नियामक कानून) बना दिया (१७७३ ई०)। इन कार्रवाइयों को समझने के लिए इंग्लिस्तान की राज्यसंस्था के विषय में जानना आवश्यक है।

अंग्रेज़ लोगों के पुरखा मुख्यतः आंग्ल और सैक्सन "जनों"* के थे जो प्राचीन जर्मनी से इंग्लैंड में जा बसे थे। वे आर्य वंश की जर्मन या त्यूतन शाखा के थे। प्राचीन आर्य 'जनों' में यह रिवाज़ था कि राजा सरदारों की सलाह से शासन करता था। उत्तर भारत में जब तुर्क आये, तभी इंग्लैंड को नोर्मान लोगों ने जीता। नोर्मान राजाओं ने जब प्रजा के पुराने अधिकार कुचलने चाहे, तब प्रजा ने उन्हें बाधित किया कि वे सरदारों की सभा या 'पार्लिमेंट' की सलाह से ही शासन करें। धीरे धीरे पार्लिमेंट में सरदारों के अतिरिक्त नगरों के नेता भी शामिल होने लगे। यह रिवाज बराबर जारी रहा। इंग्लिस्तान के राजा जो कर लगाते वह पार्लिमेंट की स्वीकृति ले कर ही लगाते। जहाँगीर और शाहजहाँ के समकालीन इंग्लिस्तान के राजा जेम्स प्रथम और चार्ल्स प्रथम थे। उन्होंने निरंकुश होना चाहा। तब प्रजा ने कर देना बन्द कर विद्रोह किया और चार्ल्स को कैद कर फाँसी दे दी (१६४६ ई०—शिवाजी के उत्थान का वर्ष)। कुछ वर्ष प्रजा के मुखिया क्रौमवेल के शासन के बाद चार्ल्स के बेटे फिर बुलाये गये। किन्तु प्रजा ने उन्हें फिर निकाल कर हौलैंड के एक राजकुमार को, जिसने स्पेन के विरुद्ध विद्रोह में प्रमुख भाग लिया था, इस शर्त्त के साथ अपने देश की गद्दी दी कि वह प्रजा के अधिकार स्वीकृत करे (१६८८-८६ ई०—सम्भाजी के पतन का वर्ष)।

---

* परिवार के नमूने पर बने अपने को सजात मानने वाले मनुष्यों के समूह वैदिक भारत में 'जन' कहलाते थे [२, २ § २]। 'जन' प्राचीन आर्यों का शब्द है जो आर्य नृवंश की अनेक शाखाओं में चलता था। भारत गणराज्य-संविधान के हिन्दी संस्करण में विज्ञ अनुवाद-समिति ने इस अर्थ के लिए जनजाति शब्द गढ़ा जो कि आधुनिक हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के लिए उपयुक्त होता। किन्तु संविधान की छपाई होते वक्त उसके बदले 'आदिम जाति' कर दिया गया। इस अखबारी शब्द से यह सुझाव होता है कि भारत में अब भी जो लोग जनजातीय (ट्राइबल) दशा में हैं, अर्थात् जिनका समाज अपने को सजात मानने वाले समूहों से बना है, वे भारत के आदिम लोग हैं। यह गलत कल्पना है। असम सीमान्त और बरमा के बहुत से सजात समूह वहाँ १८वीं शताब्दी तक में आये हैं [८,२५२]।

इस क्रान्ति से प्रजा के अनेक बुनियादी अधिकार स्थापित हो गये। पार्लिमेंट की स्वीकृति बिना राजा कोई भी कर न लगा सकता और न कहीं से रुपया उधार ले सकता था। करों की स्वीकृति पहले राजा की आयु भर के लिए दी जाती थी, अब वार्षिक आय-व्यय की स्वीकृति दी जाने लगी। इससे राज-कर्मचारियों के वेतन पर नियन्त्रण हुआ। व्यय की स्वीकृति देने से पहले पार्लिमेंट उनके कार्यों की पूरी जाँच करती। सेना की संख्या भी पार्लिमेंट प्रतिवर्ष नियत करने लगी। कानून बनाना और राजा का उत्तराधिकारी नियत करना भी पार्लिमेंट के ही हाथ आ गया। पार्लिमेंट के सदस्यों को भाषण और विचार-विवाद की पूरी स्वतन्त्रता दी गई। किसी व्यक्ति को अकारण और बेकायदा कैद करने का अधिकार राजा को न रहा। पार्लिमेंट में सरदारों के बजाय क्रमशः प्रजा के प्रतिनिधियों का पद बढ़ता गया। पार्लिमेंट के हाथों में सब शक्ति आ जाने से राजा के लिए यह आवश्यक हो गया कि पार्लिमेंट में जो बहुपक्ष हो, उसी के नेताओं को अपना मन्त्री चुने। निश्चित अवधि पर पार्लिमेंट का नया चुनाव होने से प्रजा के रुझान के अनुसार उसका बहुपक्ष बनने लगा। यों समूचा शासन प्रजा के हाथों में आ गया। अठारहवीं सदी के मध्य तक ब्रितानिया की यह राज्य-संस्था पूरी तरह स्थापित हो गई। तब से राजा केवल नाम और प्रभाव के लिए रह गया। शासन-सम्बन्धी और गोपनीय कार्य मन्त्रिमंडल द्वारा होते हैं; किन्तु पार्लिमेंट बाद में उनकी सफाई माँग सकती है। इस राज्यसंस्था के कारण तथा ब्रितानिया के लोगों को अपना हिताहित पहचानने का जो अभ्यास हो चुका है उसके कारण प्रजा का योग्यतम आदमी सुगमता से राष्ट्र का नेता बन जाता है और आन्तरिक उलझनों में राष्ट्र की शक्ति कम से कम घिसती है।

अठारहवीं सदी में भारत और अमरीका में फ्रांस जो अपने लोगों को सहारा न दे सका या योग्य आदमी न भेज सका, उसका कारण यही था कि तब फ्रांस का आन्तरिक शासन खराब था। फ्रांस की प्रजा ने इंग्लिस्तान से १०० वर्ष पीछे अपना घर सँभाला। तब तक अंग्रेज़ी साम्राज्य की नींव पड़ चुकी थी।

भारत की प्रजा अपने घर का जो प्रबन्ध स्वयं न कर सकी, सो इंग्लिस्तान की प्रजा अब इतनी दूर से करने लगी। रेग्यूलेटिंग ऐक्ट के अनुसार बंगाल

बिहार के मुल्की और फौजी शासन के लिए कलकत्ते में एक गवर्नर-जनरल चार सदस्यों की कौंसिल के साथ, तथा न्याय के लिए एक सुप्रीम कोर्ट (सर्वोच्च न्यायालय) नियत किया गया। सुप्रीम कोर्ट की नियुक्ति ई० इं० कम्पनी द्वारा नहीं, प्रत्युत ब्रितानवी सरकार द्वारा होती। पहले पाँच वर्ष के लिए गवर्नर-जनरल और कौंसिल की नियुक्ति भी ब्रितानवी सरकार ने की। बंगाल के अतिरिक्त मद्रास और मुम्बई की भी दो 'प्रेसिडेंसियाँ' कहलाती थीं, क्योंकि कम्पनी की स्थानीय कौंसिल के प्रेसिडेंट या सभापति उनके शासन के मुखिया थे। उन दोनों प्रेसिडेंसियों पर भी गवर्नर-जनरल का निरीक्षण और नियन्त्रण रक्खा गया। गवर्नर-जनरल और कौंसिल को रेग्युलेशन (नियम) बनाने का अधिकार दिया गया। वे रेग्युलेशन सुप्रीम कोर्ट में प्रकाशित होने से कानून बन जाते थे; किन्तु ब्रितानवी सरकार उन्हें रद्द कर सकती थी। अपने कार्यों के लिए गवर्नर-जनरल और कौंसिल अंग्रेजी पार्लिमेंट के सामने जवाबदेह बनाये गये। कंपनी के डाइरेक्टरों के लिए भारत की मालगुजारी तथा मुल्की और फौजी शासन सम्बन्धी सब कागद-पत्र ब्रितानवी सरकार के सामने पेश करना आवश्यक कर दिया गया।

§२. **वारन हेस्टिंग्स**—सन् १७७२ से बंगाल का गवर्नर वारन हेस्टिंग्स था। रेग्युलेटिंग ऐक्ट के अनुसार वही पहला गवर्नर-जनरल नियुक्त किया गया। उसने बंगाल-बिहार में दुराज का अन्त कर सीधे अंग्रेज़ी शासन की स्थापना की। कलकत्ते में बोर्ड आव रेवेन्यू स्थापित कर उसके अधीन हर ज़िले में अंग्रेज़ कलक्टर नियत कर दिया। कलकत्ते में सदर दीवानी और सदर निज़ामत अदालत बैठा कर उनकी देखरेख में कलक्टरों को ज़िलों में दीवानी मामले और पुराने देशी अधिकारियों को फौजदारी मामले सुनना सौंप दिया। ये अदालतें किस कानून के अनुसार चलें, यह प्रश्न आया। हेस्टिंग्स ने हिन्दू और मुस्लिम विद्वानों द्वारा उनके कानून का संकलन करा के एक 'कोड' या स्मृति बनवाई। भारतवर्ष और पूरबी देशों के विषय में जानकारी प्राप्त करने और ज्ञान का संग्रह और खोज करने के लिए सर विलियम जोन्स ने वारन हेस्टिंग्स के प्रोत्साहन से 'एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल' की स्थापना की (१७८४ ई०)।

मालगुज़ारी का बन्दोबस्त नीलामी द्वारा ही होता रहा जिससे पुरानी जागीरें कलकत्ते के दलालों और गुमाश्तों के हाथ बिकती गईं। इनके जुल्मों से प्रजा में त्राहि त्राहि की पुकार मच गई। कहीं कहीं पुराने ज़मींदारों ने प्रजा को बचाने की कोशिश की—रानी भवानी नाम की राजशाही की ज़मीदारिन का नाम इस प्रसंग में प्रसिद्ध हुआ। किन्तु इन्हें सफलता न हुई। कई जगह किसान खेत छोड़ कर भागे; तब उन्हें अंग्रेज़ों की फौज ने घेर कर वापिस धकेल दिया।

तमिळनाड के नवाब मुहम्मदअली से ऋण चुकाते न बना तो उसने अपने उत्तमर्णों से कहा कि तांजोर के राजा को लूट कर वसूल लो। इस प्रकार १७७१ ई० में अंग्रेज़ों की फौज ने तांजोर पर चढ़ाई कर ४० लाख रुपया वसूल किया था। १७७३ में फिर चढ़ाई करके उन्होंने राजा को कैद किया और उसका इलाका मुहम्मदअली ने उन सूदखोरों के हाथ रहन रख दिया। दक्खिन भारत का वह बाग तब वीरान हो गया।

सन् १७७५ में लार्ड पिगोट मद्रास का गवर्नर बना कर इस उद्देश से भेजा गया कि वह नौकरों के निजी कर्ज़ों से पहले कम्पनी का कर्ज़ वसूलने का उपाय करे। पिगोट ने तांजोर के राजा को छोड़ दिया, लेकिन मद्रास के कौंसिलरों ने पिगोट को ही कैद कर लिया! वारन हेस्टिंग्स ने उसकी सुध न ली और वह कैद में ही मरा। मुहम्मदअली के क़र्ज़ बढ़ते ही गये; उनका कोई लिखित हिसाब भी न था! उसे भी क्या परवा थी? क़र्ज़ चुकाने वाले तो तमिळ किसान थे। १७८३ ई० में उस प्रान्त में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा।

वारन हेस्टिंग्स को अपनी कौंसिल के कारण सदा कठिनाई रही। बहुमत के अनुसार कानून और बजट बनाना आदि ठीक होता है, किन्तु नित्य का शासन कभी बहुमत से नहीं चल सकता। ५ में से ३ सदस्यों के मत से यदि युद्ध शुरू कर दिया जाता, तो कुमुक भेजने का अवसर आने पर एक सदस्य अपना मत बदल लेता। इससे यह तजरबा हुआ कि शासन-समितियों का काम केवल सलाह देना होना चाहिए, और शासन का अन्तिम दायित्व सदा एक व्यक्ति पर रहना चाहिए। यदि वह अपने दायित्व का दुरुपयोग करे तो पीछे

उससे पार्लिमेंट सफाई माँग सकती है।

§ ३. पेशवा नारायणराव और "बारा भाई"—माधवराव के बाद उसका छोटा भाई नारायणराव पेशवा बना। माधव ने मृत्यु से पहले राघोबा से समझौता करके उसे छोड़ दिया था। नारायणराव ने उसे फिर कैद कर लिया। अंग्रेज दूत मोस्टिन से राघोबा की साँठगाँठ थी। राघोबा ने नारायण को कैद कर स्वयं छूटने का षड्यन्त्र किया, जिसका फल यह हुआ कि महल के रक्षक 'गार्दियों' ने नारायणराव की हत्या कर डाली (३०-८-१७७३)। राघोबा ने अपने को निर्दोष कह कर राजकाज अपने हाथ में कर लिया। किन्तु नारायण की तिलाञ्जलि के दिन नाना फडनीस, हरि बल्लाल फडके आदि बारह नेताओं ने शपथ ली कि वे उस हत्यारे को देश का शासन न करने देंगे।

वारन हेस्टिंग्स, जान पड़ता है, नारायणराव की हत्या पर घात लगाये बैठा था। मोस्टिन से खबर पाते ही वह बनारस दौड़ा आया और शुजाउद्दौला से सन्धि कर अवध-रुहेलखंड को अपने शिकंजे में कस लिया। निज़ामअली और हैदरअली ने भी महाराष्ट्र की विपत्ति से लाभ उठा कर अपने छिने हुए इलाके वापिस लेने की कोशिश की। राघोबा उनकी तरफ बढ़ा। पीछे उन बारह नेताओं या "बारा भाई" ने नारायण की विधवा गंगाबाई और उसके गर्भस्थ बालक के नाम पर शासन अपने हाथ में ले लिया। राघोबा हैदरअली की सीमा से लौटा; किन्तु उसे पूने में घुसने की हिम्मत न हुई। उसने मुम्बई के अंग्रेज़ों से बातचीत शुरू की और नर्मदा पार कर गुजरात जा पहुँचा। तभी गंगाबाई के पुत्र हुआ (१८-४-१७७४)। चालीसवें दिन उस सवाई माधवराव को पेशवाई के वस्त्र पहनाये गये। हरि फडके, महादजी शिन्दे और तुकोजी होळकर ने राघोबा का पीछा किया। तब वह परेशान हो कर अंग्रेज़ों की शरण में सूरत पहुँचा।

पलाशी और बक्सर के विजयों से अंग्रेज़ों के दिलों में भारत में साम्राज्य बनाने की जो आकांक्षा जग गई थी, पेशवा माधवराव के चरित ने उसे बहुत कुछ ठंडा कर दिया था। माधवराव की मृत्यु से वह आकांक्षा फिर भड़क उठी, और नारायणराव की हत्या से उसका रास्ता साफ हो गया। सूरत पहुँच कर

राघोबा ने अंग्रेज़ों से सन्धि की जिससे उसने मराठा साम्राज्य में मीरजाफर का काम करना मान लिया। उसी वर्ष नेल्सन, जो बाद में इंग्लिस्तान का प्रसिद्ध नाविक हुआ, मुम्बई आया।

§ ४. **अवध-रुहेलखंड अंग्रेज़ी शिकंजे में**—बनारस की नई सन्धि के अनुसार शुजाउद्दौला ने कोड़ा और कड़ा अर्थात् फतहपुर और इलाहाबाद ज़िले अंग्रेज़ों से ५० लाख रुपये में खरीद लिये तथा उनकी सेना के खर्च का एक अंश देते रहना स्वीकार किया। अंग्रेज़ों ने और ४० लाख रुपया ले कर उसे रुहेलखंड जीतने को सैनिक सहायता देना स्वीकार किया। अब से उन्होंने बादशाह को २६ लाख वार्षिक देना भी बन्द कर दिया।

अंग्रेज़ी सेना ने शुजा के साथ रुहेलखंड पर चढ़ाई की। मीरनपुरकटरा के पास बबूल नाले में रुहेले वीरता से लड़े, पर हार गये। विजेताओं ने रुहेलखंड को बुरी तरह लूटा और रुहेलों का संहार किया। अन्त में एक रुहेले सरदार की बेटी ने शुजा को मार डाला। उसके बेटे आसफुद्दौला को हेस्टिंग्स ने अपने राज्य में अधिक अंग्रेज़ी फौज रखने को बाधित किया, और उस फौज के खर्चे के लिए गोरखपुर बहराइच ज़िलों की मालगुजारी ले ली। यों अवध पूरी तरह अंग्रेज़ों का रक्षित राज्य बन गया। इसके अतिरिक्त अवध के नवाब ने अब बनारस राज्य पूरी तरह अंग्रेज़ों को दे दिया। गोरखपुर-बहराइच में बंगाल-बिहार की तरह मालगुजारी की नीलामी के साथ प्रजा पर घोर ज़ुल्म होने लगे। लगान न दे सकने वाले किसानों को पिंजरे में बन्द कर धूप में छोड़ देना अंग्रेज़ी कारिन्दों का एक साधारण तरीका था। इन जिलों में बंगाल-बिहार की तरह विद्रोह हुआ जो कुचला गया।

§ ५. **पहला अंग्रेज़-मराठा युद्ध**—कलकत्ते की अंग्रेज़ कौंसिल ने मीरजाफर के साथ किये षड्यन्त्र द्वारा जैसे दो बड़े प्रान्त जीत लिये थे, मुम्बई की अंग्रेज़ कौंसिल भी राघोबा के साथ किये षड्यन्त्र द्वारा वैसे ही बड़ा प्रान्त जीत लेने के सपने देखने लगी। यों पहले अंग्रेज़-मराठा युद्ध का सूत्रपात हुआ।

राघोबा और मोस्टिन की प्रेरणा से गुजरात के फतेसिंह गायकवाड ने

भरुच अंग्रेजों को दे दिया। मुम्बई से कर्नल कीटिंग को राघोबा के साथ पूने पर चढ़ाई के लिए खम्भात भेजा गया। पर वे नर्मदा पार न कर सके।

मुम्बई के अंग्रेजों की यह विफलता उनकी छोटी कल्पना और जल्दी कुछ कर दिखाने के लिए उतावलेपन के अनुरूप थी। वारन हेस्टिंग्स देख रहा था कि भारत की प्रमुख शक्ति से युद्ध दूसरे ढंग से बड़े क्षेत्र में और बड़ी तैयारी से चलाना होगा, और वह उस तैयारी में लगा था। पर उसके लिए यह आवश्यक था कि मुम्बई कौंसिल ने जो युद्ध शुरू कर दिया था पहले उसे रोका जाय। इसलिए कलकत्ते की बड़ी कौंसिल ने इस युद्ध को रोक कर अपने प्रतिनिधि उप्टन को "बारा भाइयों" से सन्धि करने पुरन्दर भेजा। १-३-१७७६ को सन्धि हुई जिसकी शर्तें ये थीं कि (१) साष्टी और भरुच अंग्रेजों के पास ही रहेंगे, और (२) राघोबा पेंशन ले कर महाराष्ट्र में रहेगा। परन्तु सन्धि के बावजूद भी मुम्बई सरकार ने राघोबा को मराठों के हाथ न सौंपा।

इसी काल ब्रितानिया की साम्राज्याकांक्षा को भारी धक्का लगा। अमरीका के अंग्रेज़ी उपनिवेशों पर ब्रितानवी पार्लिमेंट ने कुछ कर लगाने चाहे; परंतु वहाँ के लोगों ने कहा कि हमारे अपने प्रतिनिधि ही हमपर कर लगा सकते हैं, और विद्रोह कर अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी (१७७६ ई०)। आठ बरस तक अपने उन उपनिवेशों के साथ इंग्लिस्तान ने विफल युद्ध किया। ठीक इसी अवधि में भारत में पहला अंग्रेज़-मराठा युद्ध चलता रहा। साम्राज्य पर संकट आने से भारत में भी अंग्रेज़ बड़े सतर्क रहे।

वारन हेस्टिंग्स ने अपनी युद्ध-योजना के अनुसार नागपुर के राजा मुधोजी भोंसले को मराठा संघ में से फोड़ लेने की कोशिश की और कर्नल लेस्ली को प्रयाग की तरफ से मराठा साम्राज्य में घुसने को भेजा। सागर के हाकिम बालाजी गोविन्द बुन्देला ने लेस्ली को रोके रक्खा, जो वहीं बीमार हो कर मर गया। मुम्बई से भी राघोबा के साथ पूने पर चढ़ाई को फिर सेना भेजी गई (नव० १७७८)। वह अंग्रेज़ी सेना बड़ी परेशानी के बाद पूने से १८ मील तक पहुँच गई। तब एक मराठा टुकड़ी ने कोंकण उतर कर उसका मुम्बई से सम्बन्ध काट दिया। अपनी तोपें तळेगाँव के तालाब में फेंक कर

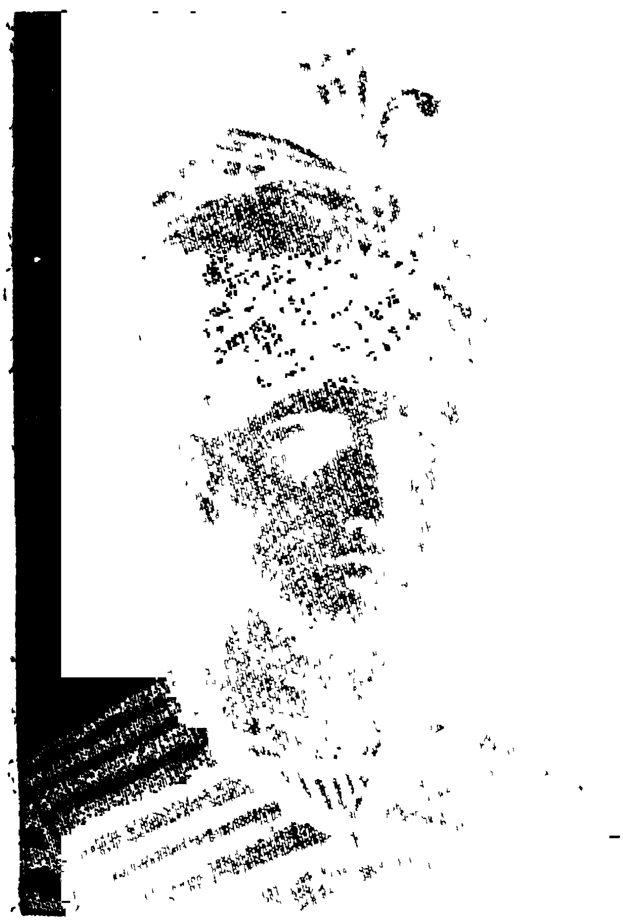
अंग्रेज़ी सेना वहीं से लौटने लगी। दो दिन बाद वडगाँव में चारों तरफ से घिर कर उसने सन्धि की प्रार्थना की। राघोबा ने महादजी शिन्दे के आगे आत्म-समर्पण कर दिया और अंग्रेज़ों ने यह ठहराव किया कि १७७३ ई० के बाद उन्होंने कोंकण में जो कुछ जीता है सब लौटा देंगे, भरुच महादजी को देंगे और बंगाल से आती हुई कुमुक को रोक देंगे।

सन्धि की शर्तें पूरी कराये बिना मराठों ने उस कैदी सेना को जाने दिया। उसके मुम्बई पहुँचते ही अंग्रेज़ों ने सन्धि तोड़ दी। मराठा सरकार ने उस काल के भारतीय राज्यों के पारस्परिक बर्त्ताव में माने हुए राजनीतिक सदाचार पर चल कर वडगाँव की सन्धि पर भरोसा किया और अंग्रेज़ कैदियों को छोड़ दिया था। उसे जानना चाहिए था कि वह अंग्रेज़ों से बरत रही है। डेढ़ मास बाद लेस्ली का उत्तराधिकारी जनरल गौडर्ड मुधोजी भोंसले की चश्मपोशी और भोपाल के नवाब के सहयोग से "मराठा साम्राज्य को सूखे बाँस की तरह बीचोंबीच चीरता हुआ" सूरत जा पहुँचा। इधर राघोबा को झाँसी में नज़रबन्द रखने भेजा जा रहा था कि वह नर्मदा के घाट से भाग कर भरुच जा पहुँचा।

गौडर्ड ने गुजरात में युद्ध छेड़ना तय किया (१७८० ई०) क्योंकि वहाँ फतेसिंह गायकवाड की सहायता मिल रही थी। उन दोनों ने गुजरात में पेशवा के इलाकों पर चढ़ाई की और दाभोई और अहमदाबाद ले लिये। महादजी शिन्दे और तुकोजी होळकर गौडर्ड के विरुद्ध भेजे गये। वे उसे लुभा कर आगे आगे बढ़ाने लगे। पीछे से एक मराठा टुकड़ी ने कोंकण से आ कर उसे सूरत के आधार से काटना चाहा। कोंकण में एक अंग्रेज़ टुकड़ी काट डाली गई।

नाना फडनीस ने माधवराव की योजना को पुनरुज्जीवित कर अंग्रेज़ों की तीनों प्रेसिडेंसियों पर एक साथ आक्रमण करना तय किया। मुधोजी भोंसले को सीधा करके उसने हैदर और निजामअली को साथ लिया। निज़ामअली से कुछ न बन पड़ा। मुधोजी को ३० हजार सेना से बंगाल पर चढ़ाई करने का आदेश दिया गया, परन्तु वह टालता रहा और उलटा हेस्टिंग्स को पता दे दिया कि

मुझे चढ़ाई करनी पड़ेगी। हैदरअली के मराठों से मिल जाने की सूचना अंग्रेज़ों को मद्रास के पास के जलते हुए गाँव देख कर मिली। उसने मद्रास पर घेरा डाल दिया और तमिळनाड में जहाँ तहाँ अंग्रेज़ी फौज को खोज खोज कर कैद किया।



हैदरअली
[विक्टोरिया स्मारक कलकत्ता; श्री सुन्दरलालजी के सौजन्य से]

उत्तरी रणांगण में अंग्रेज़ों ने गोहद के जमींदार (धौलपुर राजा के पूर्वज) को फोड़ लिया और उसकी सहायता से कप्तान पौफम ने ग्वालियर ले लिया। शिन्दे को तब गौडर्ड का पीछा छोड़ कर उधर लौटना पड़ा और गौडर्ड कोंकण में हारती अपनी सेना को बचा पाया। हैदरअली के विरुद्ध गुण्टूर से बेली और मद्रास से मुनरो दो फौजें ले कर चले। उन्हें मिलने न दे कर हैदर ने बेली की सारी फौज कैद कर ली या काट डाली। और मुनरो—बक्सर का विजेता मुनरो—अपनी तोपें काञ्ची के तालाब में फेंक लस्टमपस्टम मद्रास भागा।

उधर गौडर्ड ने बसई ले ली। हेस्टिंग्स ने तब सन्धि का प्रस्ताव किया, परन्तु नाना और हरि फडके ने कोई उत्तर न दिया। गौडर्ड ने अरनाला द्वीप ले कर फिर सन्धि का प्रस्ताव भेजा। जवाब में नाना ने परशुरामभाऊ पटवर्धन और हरि फडके को सेना के साथ भेजा। उन्होंने गौडर्ड को पूरी तरह हरा कर कोंकण को अंग्रेज़ी फौज से साफ कर दिया।

जिस कप्तान कैमक को सन् १७७२ में झाड़खंड जीतने को नियुक्त किया गया था, उसने १७८० तक उस प्रान्त को पूरी तरह अधीन कर लिया। अब

उसे भी शिन्दे के राज पर उत्तर से चढ़ाई करने भेजा गया। सिपरी ले कर वह मालवे में सिरोंज तक बढ़ आया।



सवाई माधवराव पेशवा
सामने हरिपन्त फड़के (उजले कपड़े पहने) और महादजी शिन्दे
[भा० इ० सं० मं०]

इस युद्ध का खर्चा जुटाने के लिए वारन हेस्टिंग्स ने सब तरह के उपाय किये। काशी के राजा चेतसिंह पर दबाव डाल कर वह सन् १७७८ से उससे कर तथा सेना के खर्च के अलावा ५ लाख रुपये वार्षिक ले रहा था। १७८१ में उसने और रकम माँगी। चेतसिंह ने इनकार किया और मराठों से बात की। तब हेस्टिंग्स ने बनारस पहुँच कर उसे कैद कर लिया। इसपर प्रजा भड़क उठी और हेस्टिंग्स को घेर लिया। मुधोजी भोंसले के दूत उसके साथ थे। उन्होंने उसे बचा कर गंगा पार उसकी छावनी में पहुँचा दिया। अवध के आसफुद्दौला पर दबाव डाल कर हेस्टिंग्स ने उसकी माँ और दादी से अत्यन्त निर्घृण तरीकों से एक करोड़ रुपया ऐंठ लिया। बनारस का राज्य उसने चेतसिंह के भानजे को दे कर उसके अधिकार बहुत परिमित कर दिये।

सन् १७७८ में फ्रांस ने और उसके बाद स्पेन और हौलैंड ने भी अमरीकी उपनिवेशों का पक्ष ले कर ब्रितानिया से युद्ध-घोषणा कर दी थी। फ्रांसीसी जबरदस्त जंगी बेड़ा भारत भेजने को तैयार कर रहे थे। इस दशा

में हेस्टिंग्स ने बूढ़े आयरकूट को मद्रास भेजा। इसके साथ ही उसने मुधोजी भोंसले को पचास लाख रुपया रिश्वत दे कर न केवल बंगाल पर चढ़ाई करने से रोक दिया; प्रत्युत बंगाल से उसके इलाके द्वारा एक सेना मद्रास को कूट की कुमुक में भेजी। स्थल द्वारा बंगाल से मद्रास जाने वाली अंग्रेज़ों की यह पहली सेना थी। कूट ने हैदर की रोकथाम की और जगह जगह घिरी हुई अंग्रेज़ी फौजों को छुड़ाया (जुलाई–सितम्बर १७८१), तो भी वह हैदर को तमिळनाड से निकाल न सका। फ्रांसीसी बेड़ा भी तब भारतीय समुद्र में पहुँचने वाला था। नाना ने निश्चय किया कि उस साल जाड़े में बंगाल के साथ साथ मुम्बई पर भी चढ़ाई की जाय। लेकिन बरसात में कैमक ने महादजी के इलाके बुरी तरह उजाड़े; इससे महादजी ने अब हिम्मत हार दी और नाना से भी समझौता करा देना मान लिया (१३-१०-१७८१)।

§६. सालबई और मंगलूर की सन्धियाँ—महादजी की मध्यस्थता से ग्वालियर के पास सालबई में सन्धि हुई (१७-५-१७८२)। उसके अनुसार अंग्रेज़ों ने राघोबा को मराठों के हाथ सौंप दिया और पुरन्दर की सन्धि के बाद जो इलाका जीता था सब लौटा दिया। भरुच शिन्दे को और अहमदाबाद आदि गायकवाड को इस शर्त पर दिये गये कि नियम से पूना कर भेजते रहेंगे। पेशवा ने हैदरअली से तमिळ प्रदेश लौटवाने का ज़िम्मा लिया। अंग्रेज़ों ने राघोबा द्वारा मराठा साम्राज्य में जो खेल खेलना चाहा था उसमें वे विफल हुए। इसी तरह गायकवाड और भोंसले को उन्होंने मराठा संघ से तोड़ना चाहा था, उसमें भी उन्होंने हार मानी। राघोबा गोदावरी के तट पर कोपरगाँव में आ रहा और दो बरस बाद मर गया।

पेशवा नारायणराव की हत्या के बाद से महाराष्ट्र में भी कलकत्ते और मुम्बई की कौंसिलों की तरह 'बारा भाइयों' की समिति शासन चला रही थी। किन्तु इस युद्ध के बीच धीरे धीरे उसके स्थान में एक ही अधिनायक नाना फडनीस का शासन स्थापित हो गया।

हैदर ने युद्ध बन्द न किया था। सिंहल द्वीप का विशाल बन्दरगाह त्रिंकोमलै अंग्रेज़ों ने ओलन्देजों से [६,४§§३,१६] छीन लिया (१७८२);

पर तभी हैदर के बेटे ठीपू ने ताञ्जोर पर एक अंग्रेजी टुकड़ी की पूरी सफाई कर दी और फ्रांस के श्रेष्ठ नाविक सूफ्राँ ने २००० फ्रांसीसी सेना तट पर उतार दी। उनकी सहायता से हैदर ने कुड्डलूर जीत लिया और सूफ्राँ ने त्रिंकोमलै भी अंग्रेजों से छीन लिया। किन्तु युद्ध के बीच ही हैदरअली की मृत्यु हुई (७-१२-१७८२)। वह पहला स्वतन्त्र हिन्दुस्तानी प्रशासक था जिसने युरोप की नई युद्ध-शैली को ठीक ठीक समझ लिया था। उसने अपना जंगी बेड़ा बनाने का भी यत्न किया। उसका शासन दृढ और निष्पक्ष था। मजहबी तअस्सुब उसे छू न गया था।

हैदर के बेटे टीपू ने युद्ध जारी रक्खा। फ्रांस से दि-बुसी फिर भारत आया, पर उसके आने के बाद शीघ्र ही फ्रांस इंग्लिस्तान के बीच सन्धि हो गई। टीपू तब अकेला लड़ता रहा। अंग्रेजों ने पच्छिम तट से उसके राज्य पर आक्रमण किया, इसलिए उसे उधर जाना पड़ा। मार्च १७८४ में उसने मंगलूर में अंग्रेजों से लाभ की सन्धि की।

पहले अंग्रेज़-मराठा युद्ध से जहाँ यह प्रकट हुआ कि मराठा साम्राज्य को अंग्रेज बंगाल की सल्तनत की तरह एक ही झटके में नहीं ले सकते, वहाँ उस साम्राज्य की कमज़ोरी भी प्रकट हुई। शत्रु की सेना उसके दो किनारों को चीरती हुई बनारस से सूरत और कलकत्ते से मद्रास तक निकल गई। तमिळनाड पर हैदरअली की चढ़ाई के सिवाय और सब जगह मराठों ने रक्षा-परक युद्ध ही किया।

§ ७. दिल्ली-राजस्थान में अंग्रेज़ी गुरगे तथा महादजी शिन्दे— पेशवा माधवराव ने अपने अन्तिम काल में जिस सेना को उत्तर भारत में रहने के लिए भेजा था, उसे नारायणराव ने १७७३ ई० में ही वापिस बुला लिया था। नारायणराव ने भी बालाजीराव की तरह यह सोचा था कि पहले सारी शक्ति लगा कर तमिळनाड को जीता जाय!

१७७३ में ही अहमदशाह अब्दाली की मृत्यु हुई। उसके बेटे तैमूरशाह ने सिक्खों से मुलतान वापिस ले लिया (१७७६ ई०)। सिन्ध पर अब्दालियों का अधिकार बना ही था।

दिल्ली और राजस्थान में १७७३ से दस वर्ष तक मराठों की अनुपस्थिति में अंग्रेज़ों ने अपने अनेक गुरगे बिठा दिये थे। सालबई की सन्धि के बाद १७८२ में महादजी शिन्दे फिर दिल्ली पहुँचा तो बादशाह ने खैर मनाई। उसने महादजी के हाथ में राज्य की सब शक्ति दे दी और पेशवा को अपना वकीले-मुतलक अर्थात् एकमात्र प्रतिनिधि बना दिया। महादजी ने अंग्रेज़ों के शिकंजे से अवध को छुड़ाने के लिए सिक्खों के साथ सन्धि की। किन्तु वह जैसा योग्य सेनापति था, शासन-प्रबन्ध में वैसा ही कोरा था। अंग्रेज़ी गुरगों से वह पार न पा सका और उसे दिल्ली से हटना पड़ा (१७८५ ई०)।

अंग्रेजों के कारिन्दे मुहम्मदबेग हमदानी आदि ने राजस्थान के राजाओं को भी मराठों के विरुद्ध भड़काया। बंगाल में अकबर के ज़माने में मानसिंह के साथ जा कर बसे हुए राजस्थानी ("मारवाड़ी") व्यापारियों के कुछ वंशजों ने भी, जिनका कारबार ईस्ट इंडिया कम्पनी के साथ था, राजस्थान के राजाओं और शासक वर्ग को अंग्रेज़ों के साथ मिल कर मराठों का विरोध करने को उभाड़ा। जुलाई १७८७ में जयपुर राज्य में लालसोत-चाटसू के पास महादजी की सेना राजस्थान के विद्रोहियों के मुकाबले में बुरी तरह हारी। अजमेर मराठों के हाथ से निकल गया, हमदानी और उसके साथियों ने मथुरा आगरा पर भी अधिकार कर लिया। नजीबखाँ रुहेले के पोते गुलाम कादिर ने, जो इन लुटेरों के साथ मिल कर लूटमार करता फिरता था, दिल्ली पर अधिकार कर लिया। उसने शाह-आलम की आँखें अपने हाथ से निकालीं, उसे बेंतों से मारा, और शाही परिवार पर घृणित अत्याचार किये (१७८८ ई०)!

§८. पिट का भारत-शासन विधान और कार्नवालिस का स्थायी बन्दोबस्त—वारन हेटिंग्स के शासन-काल के तजरबे से ब्रितानवी भारत के शासन-विधान को बदलने की आवश्यकता प्रतीत हुई; इससे प्रधान मन्त्री (छोटे) पिट ने पार्लिमेंट से नया विधान पास कराया (१७८४ ई०)। इस विधान का सार यह था कि अंग्रेज़ी सरकार छह व्यक्तियों की नियन्त्रण-समिति (बोर्ड आव कंट्रोल) नियत करे, तथा कम्पनी के डायरेक्टर भारत के शासन और मालगुज़ारी विषयक तमाम कागज-पत्र उसके पास भेजा करें, और समिति

उनपर जो आज्ञा दे उसे वे भारत में अपने कर्मचारियों के पास पहुँचा दिया करें। डायरेक्टर कोई सीधी आज्ञा भारत में अपने कर्मचारियों को न दें। समिति के जो आदेश युद्ध आदि गोपनीय विषयों के बारे में हों वे डायरेक्टरों की सभा के बजाय उस समिति की गुप्त समिति द्वारा भेजे जायँ। गवर्नरों और प्रधान सेनापतियों के सिवाय बाकी सब कर्मचारियों की नियुक्ति कम्पनी करे; कलकत्ता कौंसिल में तीन सदस्य हों; भारत के गवर्नर कोई युद्ध या युद्धपरक सन्धि गुप्त समिति की आज्ञा बिना न करें। इस कानून से कम्पनी का शासन-सम्बन्धी सब कार्य ब्रितानवी सरकार के पूरे नियन्त्रण में चला गया। कम्पनी का काम केवल बोर्ड के आगे प्रस्ताव रखना, उसकी आज्ञाओं को भारत में पहुँचाना और छोटे पदों पर नियुक्तयाँ करना रह गया। ब्रितानवी भारत के शासन-विधान में बाद में चाहे जो परिवर्तन होते रहे, उस विधान का ढाँचा बराबर वही रहा जो छोटे पिट ने खड़ा किया था। १७८६ ई० के एक संशोधन से गवर्नर-जनरल को अपनी कौंसिल के बहुमत को भी न मानने का अधिकार दिया गया।

इस शासन-विधान के साथ साथ नवाब मुहम्मदअली के ऋणों का प्रश्न भी पार्लिमेंट के सामने आया। उस ज़माने में ब्रितानिया के निर्वाचकमंडल बड़े भ्रष्ट थे। मुहम्मदअली के अंग्रेज़ उत्तमर्णों ने लूट के रुपये से उनके मत खरीद कर अपने प्रनिधिधि पार्लिमेंट में भी भर लिये थे। मन्त्रिमंडल को उन प्रतिनिधियों के मतों की आवश्यकता थी, इसलिए पार्लिमेंट ने उनके सब असली और फर्जी कर्जों को स्वीकार कर लिया—अर्थात् तमिळ किसानों की लूट पर अपनी मुहर लगा दी। तब गोरे सूदखोरों का नया दल गिद्धों के झुंड की तरह तमिळ भूमि पर आ मँडराने लगा और मुहम्मदअली के कर्ज़ और बढ़ते ही गये।

वारन हेस्टिंग्स के उत्तराधिकारी कार्नवालिस (१७८६–९३ ई०) ने अपना ध्यान मुख्यतः शासन को व्यवस्थित करने पर लगाया। उसने पुलिस का संघटन किया, कलक्टरों के पास केवल वसूली का काम रहने दिया, और न्याय-कार्य के लिए अलग जज नियत किये। बंगाल बिहार बनारस में उसने जमीन

का "स्थायी बन्दोबन्त" किया (१७६३ ई०), पर आन्ध्र-तट के जिलों में पहले की सी नीलामी चलती रहने दी। पुराने जमींदारों को सैनिक सेवा तथा स्थानीय शासन के कार्य के बदले में मालगुजारी सौंपी जाती थी। अंग्रेजी शासन के पिछले २८ बरसों (१७६५-६३ ई०) में उन जमींदारों का स्थान प्रायः नये ठेकेदारों ने ले लिया था जिनके हाथ में पुराने ज़मीदारों वाला सैनिक और शासन-सम्बन्धी कार्य कुछ नहीं बचा था। कार्नवालिस ने नये ठेकेदारों को कर-उगाही का काम स्थायी वंशागत रूप में दे दिया और उस काल की मालगुजारी का ६० फी सदी अंश जितना होता था उतना स्थायी रूप से राज्य का अंश नियत कर दिया। बाद में इन ठेकेदारों का अंश बढ़ता गया और धीरे धीरे वे ज़मीन के मालिक बन बैठे।

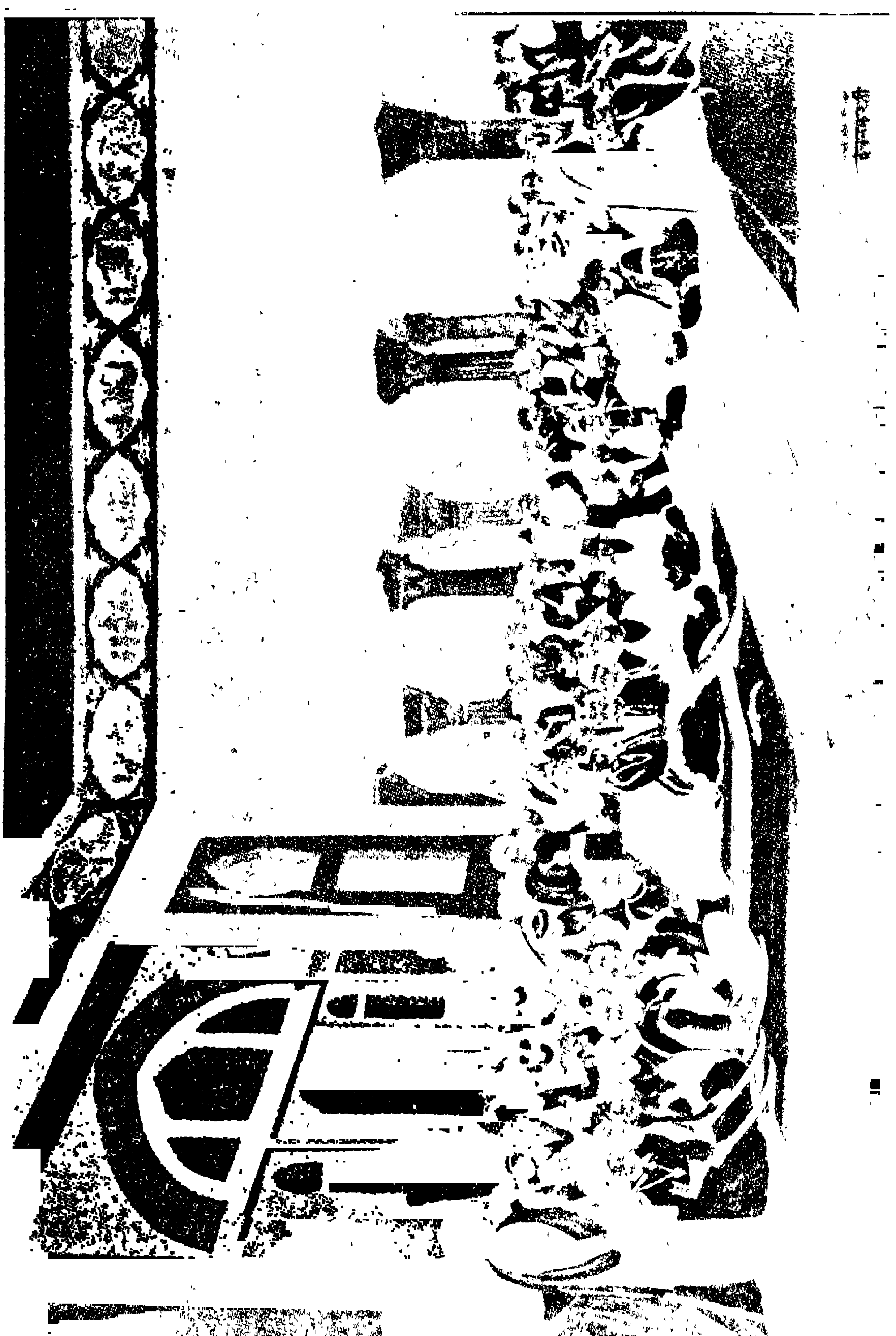
कार्नवालिस के बाद सर जौन शोर १७६३ से १७६८ ई० तक ब्रितानवी भारत का गवर्नर रहा। उसने कोई नया प्रदेश नहीं जीता, पर रुहेलखंड अवध और आरकाट की रियासतों पर अपना शिकंजा और कसा।

§९. टीपू—टीपू कई बातों में अपने पिता से उलटा था। नाना ने हैदर का सहयोग लेने के लिए उसे जो इलाके सौंपे थे, उन्हीं में अब टीपू के अत्याचारों से ऊब कर दो हजार हिन्दुओं ने आत्मघात कर लिया। मराठों और निज़ामअली ने मिल कर तब उसपर चढ़ाई की (१७८६ ई०)। एक वर्ष बाद टीपू ने उनसे सन्धि की। १७८६-६० में उसने त्रावंकोर पर चढ़ाई की। तब नाना फडनीस, निज़ामअली और लार्ड कार्नवालिस तीनों ने उसके विरुद्ध सन्धि कर एक साथ चढ़ाई की। परशुरामभाऊ पटवर्धन और हरिपन्त फडके धारवाड और शिरा से दक्खिन की ओर बढ़े। अंग्रेजों ने मलबार से मैसूरी सेना को निकाल दिया। मद्रास की तरफ से जनरल मीडोज़ आगे बढ़ा, पर उसे टीपू ने हरा दिया। तब स्वयं कार्नवालिस ने उधर आ कर बेंगलूर लेते हुए श्रीरंगपट्टम् आ घेरा। टीपू ने उसका सम्बन्ध चारों तरफ से काट कर उसे लौटने को बाधित किया। उस दशा में उसे एक सेना दिखाई दी जिसे शत्रु जान वह मरने को तैयार हुआ। किन्तु वह सेना मराठों की निकली। तीनों सेनाओं ने मिल कर फिर से श्रीरंगपट्टम् घेर लिया। टीपू ने सन्धि-भिक्षा की।

कार्नवालिस टीपू के राज्य का अन्त करना, पर नाना उसे बनाये रखना चाहता था। इसलिए विजेताओं ने तीन करोड़ रुपया और आधा राज्य ले कर टीपू से सन्धि की (१७९३ ई०)। उत्तरपच्छिमी और उत्तरपूरबी ज़िले क्रमशः मराठों और निजामअली को तथा कोडगु (कुर्ग) मलबार दिन्दिगुल और बारामहाल (सेलम कृष्णागिरि) अंग्रेजों को मिले।

§ १०. **महादजी शिन्दे का दिल्ली वापिस आना**—मराठों की अनुपस्थिति में गुलाम कादिर ने बादशाह की आँखें जो निकालीं, उससे महाराष्ट्र के नेताओं की आँखें खुलीं। नाना फडनीस ने महादजी शिन्दे को सहायता दे कर दिल्ली वापिस भेजा और महादजी ने बादशाह की रक्षा कर गुलाम कादिर को उचित दण्ड दिया। पिछले युद्ध के तजरबे से महादजी ने यह समझ लिया था कि युरोपी युद्धशैली अपनाये बिना मराठों का काम न चलेगा। इसी लिए उसने फ्रांसीसी अफसर अपने यहाँ रख कर पैदल बन्दूकची सेना तैयार कर ली थी। उन अफसरों में द-ब्वाञ और पेरों मुख्य थे। मारवाड़ जयपुर में अंग्रेज़ी गुरगों के खड़े किये विद्रोह को दबाने के लिए महादजी ने अब द-ब्वाञ को भेजा (१७९० ई०)। जयपुर के उत्तर तँवरों-की-पाटण और मेड़ताँ में दो गहरी लड़ाइयाँ हुईं। तँवरों-की-पाटण में ५० हज़ार राजस्थानी सवार जिनके साथ बड़ा तोपखाना भी था, द-ब्वाञ के नेतृत्व में दस हज़ार मराठा सैनिकों के सामने तीन घंटा मैदान में न ठहर सके। इस लड़ाई से राजस्थान की हवा में भी नई युरोपी युद्धशैली की चर्चा पहलेपहल फैली। सारे राजस्थान ने फिर मराठों की अधीनता मानी। बादशाह ने पेशवा के वंश में वकीले-मुतलक पद स्थायी कर महादजी को अपना "फरज़न्द जिगरबन्द" कहा और सारे साम्राज्य में गोहत्या बन्द करने का फरमान निकाला। पेशवा को वह पद सौंपने के लिए महादजी ने पूने की यात्रा की (१७९२ ई०)।

शाही खिलअत और फरमान ले कर महादजी के पूना आने पर बड़ा समारोह किया गया। वह बादशाह की तरफ से यह सन्देश भी लाया था कि टीपू से युद्ध करना बड़ी भूल थी, इस वक्त अंग्रेज़ों के खिलाफ उसे भी अपने साथ मिलाना चाहिए। दिल्ली में भी इस बात की चर्चा थी। मुगल बादशाह का



[सवाई माधवराव पेशवा के दरबार में कार्नवालिस का दूत मैलेट, टीपू के खिलाफ सन्धि करते हुए। पेशवा की बाईं तरफ नाना फड़नीस।
गणेशखिंड महल पूना में लगा चित्र; श्री पिंपलखरे द्वारा प्रतिलिपि; भा० इ० सं० मं० पूना के सौजन्य से]

महाराष्ट्र के पेशवा के पास यों सन्देश भेजना और दिल्ली और पूने के बीच एकप्राणता प्रकट करना चालीस बरस से होती आती घटनाओं के अनुसार था। १७५२ की सफदरजंग वाली सन्धि, १७६१ की मराठों की हार के बाद बादशाह का भटकते फिरना और अब्दाली का मराठों के सहयोग से भारत की राजव्यवस्था खड़ी करने का यत्न, १७७२ में मराठों की रक्षा में बादशाह का दिल्ली वापिस आना तथा १७८२ में महादजी के दिल्ली वापिस आने पर उसका स्वागत करना और पेशवा को अपना एकमात्र प्रतिनिधि बनाना, इन घटनाओं की परम्परा में ही १७६२ का यह खिलअत सौंपना था। और इन सब घटनाओं की तह में मुगल साम्राज्य के नेताओं और उस काल के भारत के प्रमुख लोगों की यह धारणा थी कि मुगल साम्राज्य ज्यों का त्यों महाराष्ट्र के नेताओं को सौंप दिया जाय और वे नेता उस साम्राज्य की जिम्मेदारी अर्थात् भारत की विदेशियों और भीतरी विद्रोहियों से रक्षा का दायित्व उठा लें। यह धारणा बाजीराव के अन्तिम काल से ही जाग चुकी थी। उस काल से ही भारत के विचारशील लोग यह अनुभव करने लगे थे कि मराठों की शक्ति ही ऐसी है जो भारत की स्वाधीनता और एकता को बचाये रख सकती है। मुगल साम्राज्य के नेता उसके बाद से मराठों को यह दायित्व सौंपने को उत्सुक रहे। भारत की उस काल की स्थिति में उनका वह रुख ही सबसे ठीक मार्ग का सूचक था। पर बाजीराव के उत्तराधिकारी ने स्थिति को न समझ कर जो उलटा रास्ता पकड़ा उसके कारण तथा पेशवा माधवराव ने भारत की सब शक्ति को एकमुख करके अंग्रेज़ों के विरुद्ध लगाने का जो फिर से प्रयत्न किया उसके अधूरा रह जाने के कारण और उसके बाद अंग्रेज़ों को बीस बरस का अवसर और मिल जाने के कारण विदेशी अंग्रेज़ों के पैर भारत में ऐसे जम गये थे कि अब दिल्ली और पूने के नेताओं ने एक हो कर उनके विरुद्ध जो यत्न करना चाहा, उसकी काट भी वे आसानी से कर सके। उन्होंने अब अपने दूत मराठा और अन्य राज्यों में भेज कर बड़ी सतर्कता से जतन किया कि उनके विरुद्ध कोई गुट्ट न बन पाय।

डेढ़ वर्ष बाद पूने में ही महादजी का देहान्त हुआ। तभी अहल्याबाई

और हरिपन्त फडके भी चल बसे।

§ ११. **मराठों की अन्तिम सफलता**—निजामअली कई बरस से चौथ न दे रहा था। उसने भी रेमों नामक फ्रांसीसी को अपनी सेना को कवायद सिखाने के लिए रख लिया था, और उसके भरोसे उसका दीवान पूना जलाने की डींगें मारने लगा था। नाना फडनीस ने युद्ध की तैयारी की। निजामअली ने अंग्रेज गवर्नजनरल सर जौन शोर से मदद माँगी। शोर ने मराठों से लड़ना उचित न समझा। निज़ामअली तब अकेला बिदर से आगे बढ़ा। पशुरामभाऊ के नेतृत्व में मराठे पूने से बढ़े। एक लड़ाई के बाद निज़ामअलो एकाएक भाग निकला और खर्डा के कोटले में लुक बैठा। दौलताबाद का किला, तासी से परिन्दागढ़ तक का प्रदेश और ३ करोड़ रुपया उसने पेशवा को तथा उसी हिसाब से भूमि और रुपया मुधोजी भोंसले के बेटे रघुजी को दिया, और अपने दीवान को पेशवा के हाथ सौंप कर मराठों से सन्धि की (१७६५ ई०)।

इस विजय से मराठा संघ की धाक बँध गई। नाना फडनीस तब सारे भारत में प्रमुख पुरुष गिना जाने लगा। किन्तु उसी वर्ष पेशवा सवाई माधवराव की एकाएक मृत्यु हुई। उसके कोई सन्तान न थी। उसके वंश में जेठा पुरुष तब राघोबा का बेटा बाजीराव २य था। इसलिए वह उसे अपना उत्तराधिकारी बनाने को कह गया।

§ १२. **गोरखाली राज्य का गंगा तक फैलना**—पृथ्वीनारायण की मृत्यु (१०-१-१७७५) पर नेपाल की गद्दी पर उसका जेठा बेटा सिंहप्रताप बैठा। उसके भाई बहादुर ने उसके विरुद्ध षड्यन्त्र किया, जिसपर बहादुर को निर्वासित किया गया और वह अंग्रेज़ी राज में बेतिया में जा रहा। सिंहप्रताप ने केवल पौने तीन बरस राज किया। उस अवधि में सप्तगंडकी का एक प्रदेश जीत कर नेपाल राज्य में मिलाया गया।

सिंहप्रताप की मृत्यु पर उसके २½ बरस के बेटे रणबहादुर को राजगद्दी मिली (अक्टूबर १७७७)। बहादुर ने तब बेतिया से लौट कर अपने भतीजे के नायब रूप में शासन हाथ में ले लिया। राजकाज चलाने

में उसकी अपनी भावज—रणबहादुर की माँ—राजेन्द्रलक्ष्मी से नहीं पटी। बहादुर ने राजेन्द्रलक्ष्मी को कैद कर लिया, पर कुछ काल पीछे उसे लोकमत से बाधित हो उसे छोड़ना पड़ा। फिर अपने को अल्पपक्ष में देख वह बेतिया चला आया, और राजेन्द्रलक्ष्मी अपने बेटे के नाम पर शासन चलाने लगी। देवर भौजाई के २½ बरस (१७७७–८०) के झगड़े में गोरखाली राज्य की प्रगति रुकी रही थी, अब वह फिर जारी हुई। राजेन्द्रलक्ष्मी अपने श्वसुर की तरह तेजस्विनी थी। उसके छह बरस (१७८०–८६) के शासन में गोरखालियों ने सप्तगण्डकी प्रदेश, पालपा राज्य को छोड़ कर, सारा जीत लिया, और उसके आगे घाघरा के प्रस्रवणक्षेत्र में भी बढ़ने लगे। उसमें तब बाइस राज्य थे, इसलिए उसे वे बैसी कहते थे। पच्छिम के इन विजयों में गोरखाली सेनानायकों में एक अमरसिंह थापा भी था, जिसके पिता ने पृथ्वीनारायण के काल में वीर गति पाई थी।

तिब्बत से नेपाल राज्य की तनातनी पृथ्वीनारायण के काल से कैसे आरम्भ हुई थी सो हमने देखा है। १७८१ में ब्रह्मपुत्र दून में शिगर्चे के बड़े मठ टशी-ल्हुन्पो के लामाओं में उत्तराधिकार का झगड़ा छिड़ा तो एक पक्ष के बुलाने पर गोरखालियों ने उसमें हस्तक्षेप किया।

१७८६ में राजेन्द्रलक्ष्मी की मृत्यु होने पर बहादुर ने फिर बेतिया से आ कर अपने भतीजे के नाम पर शासन हाथ में ले लिया, जो आगे नौ बरस तक उसी के हाथ में रहा। इस बीच पालपा राज्य के साथ सन्धि कर उसके सहयोग से गोरखाली पच्छिम तरफ अपना राज्य बढ़ाते गये। १७८९ में आधुनिक नेपाल राज्य के दक्खिनपच्छिमी छोर के डोटी राज्य को जीत कर वे काली या महाकाली नदी पर पहुँच गये। फिर काली पार कर मार्च १७९० में उन्होंने अलमोड़े को, जहाँ चन्द वंश का राज्य था, जीत लिया। १७९१ में वे गढ़वाल में अलखनन्दा† तक पहुँच गये। उसी वर्ष टशी-ल्हुन्पो वाले झगड़े

† गंगा की मुख्य धारा अलखनन्दा ही है जिसके संगमों पर नन्दप्रयाग कर्णप्रयाग और रुद्रप्रयाग तीर्थ हैं। गंगोतरी से निकलनेवाली भागीरथी जो देवप्रयाग में अलखनन्दा से मिलती है, उसकी छोटी धारा है।

के कारण उन्होंने तिब्बत पर भी फिर चढ़ाई की। टशी-ल्हुन्पो के टशी-लामा चीन-सम्राटों के गुरु होते थे। नेपालियों के उनके मठ को लूटने पर चीन ने नेपाल पर चढ़ाई का निश्चय किया। गोरखाली सेना गढ़वाल के लंगूरगढ़ को घेरे हुए थी, जब कि नेपाल दरबार से उसे वापिस आने का आदेश मिला। किन्तु गढ़वाल का राजा प्रद्युम्नशाह इतना डर चुका था कि उसने नेपाल राज्य को वार्षिक कर देने की सन्धि कर ली (१७६१)।

चीन से युद्ध की आशंका होने पर नेपाल राज्य ने बनारस में अंग्रेज़ों से सहायता माँगते हुए व्यापारी सन्धि कर ली (मार्च १७६२)। किन्तु चीनी सेना काठमांडू के १५ मील उत्तर नुवाकोट तक आ ही पहुँची, और तब नेपाल ने चीन का आधिपत्य मानते हुए चीन से सन्धि कर ली। कार्नवालिस का दूत किर्कपैट्रिक मार्च १७६३ में नेपाल पहुँचा तो उसे शीघ्र लौटना पड़ा, क्योंकि नेपाल दरबार अब व्यापार के बहाने अंग्रेज़ों को अपने देश में घुसने का अवसर देने को तैयार न हुआ। नेपाल दरबार का बहुपक्ष पृथ्वीनारायण वाली नीति पर ही चल रहा था। किन्तु नेपाल के मुख्य शासक बहादुर ने, जो पहले आठ बरस अंग्रेजी राज में रह चुका था, अंग्रेज़ दूत से मेलजोल बढ़ाया। उसने अंग्रेज़ों का सहारा ले कर अपने भतीजे रणबहादुर को, जो अब जवान हो चुका था, कैद कर स्वयं राजा बनने का षड्यन्त्र किया। नेपाल के प्रमुख लोग तब बहादुर के विरुद्ध हो गये। उनकी सहायता से रणबहादुर ने उसे कैद कर राजकाज अपने हाथ में ले लिया (१७६५)।

रणबहादुर रँगीला जवान था। अपनी दो रानियों में से छोटी से उसे एक बेटा हुआ था। किन्तु तिरहुत की एक विधवा ब्राह्मणी से भी उसका प्रेम था, और उस प्रेमिका से हुए बेटे गीर्वाणयुद्धविक्रम शाह को ही अपना उत्तराधिकारी बनाने के इरादे से उसने दो बरस की आयु में उसका राजतिलक कर और जेठी रानी को उसकी संरक्षिका और राजप्रतिनिधि बना कर स्वयं संन्यास ले लिया (१७६७ ई०)! यों रणबहादुर ने दो बरस ही राज किया। उस अवधि में १७६६ ई० में बैसी के राज्यों में से प्रमुख जुमला राज्य जो तब तक गोरखाली राज्य में सम्मिलित न हुआ था, जीता गया।

रणबहादुर के संन्यास लेने पर उसकी प्रेमिका भी संन्यासिनी हो गई। दो बरस बाद चेचक से ग्रस्त होने पर उसने बीमारी से ऊब कर आत्महत्या कर ली। तब रणबहादुर का चित्त विक्षिप्त हो गया और वह राजकाज में उलट-पुलट दखल देने लगा। प्रेमिका की चेचक शान्त करने को जिस तुलजा-माई की पूजा व्यर्थ की गई थी उसकी मूर्ति की अरथी निकलवा उसने उसे जलवा दिया और उसके मन्दिर को मल डलवा कर भ्रष्ट करवा दिया, इत्यादि। प्रधान मन्त्री दामोदर पांडे ने निवृत्त राजा की इन करतूतों पर अंकुश लगाया, जिसपर दोनों में बरस भर रस्साकशी चलती रही (१८०० ई०)। अन्त में रणबहादुर ने बनारस की राह ली। जेठी रानी राजराजेश्वरी उसके साथ चली, इसलिए छोटी रानी सुवर्णप्रभा राजा गीर्वाणयुद्धविक्रम की संरक्षिका और "नायब" नियत हुई।

§ १३. **मराठा साम्राज्य में अन्धेरगर्दी**—बाजीराव २य सुन्दर और मधुरभाषी, किन्तु क्रूर कायर और मूर्ख था। नाना फडनीस ने चाहा सवाई माधव-राव की विधवा किसी को गोद ले ले, पर महादजी के उत्तरधिकारी—उसके भाई के पोते—दौलतराव शिन्दे और उसके मन्त्री बालोबा ने इसका विरोध किया। तब नाना को बाजीराव को कैद से छोड़ पेशवाई देनी पड़ी। बाजीराव ने नाना को अपना प्रधान मन्त्री बनाया। इसपर दौलतराव और बालोबा ने पूना पर चढ़ाई की। उन्होंने बाजीराव को कैद कर उसके भाई चिमाजी को जबरदस्ती पेशवा बनाया। नाना इस बीच भाग गया था। कुछ मास बाद उसने दौलत-राव को समझा कर बाजीराव को छुड़ा लिया।

मराठा संघ की इस अव्यवस्था को अंग्रेज सतर्कता से देख रहे थे। सन् १७९६ में उनके एक नेता टामस मुनरो ने लिखा—"अपने शासन की एकसूत्रता और अपनी महान् सामरिक शक्ति के कारण हम देसी राज्यों से आसानी से बाजी ले जा सकते हैं, और यदि हम केवल मौकों की ताक में ही रहें तो भी निकट भविष्य में बिना विशेष खटके और खर्चे के अपना राज्य सारे भारत पर फैला सकते हैं।"

१५-८-१७९७ को तुकोजी होळकर की मृत्यु हुई। उसका बड़ा बेटा

काशीराव कमज़ोर दिमाग का था और उसका अपने भाइयों से झगड़ा था। उसके बुलाने से दौलतराव शिन्दे ने इस गृहकलह में दखल दे कर उसके एक भाई को मार डाला; दो छोटे भाइयों—यशवन्तराव और विठोजी—को भगा दिया। उसके बाद बाजीराव ने दौलतराव द्वारा नाना को कैद करा लिया। पूना दरबार में यों दौलतराव सर्वेसर्वा हो गया। उसकी कृपा के बदले में बाजीराव को दो करोड़ रुपया देना था। जब वह दे न सका तो उसने उसे पूना लूटने की छुट्टी दे दी! बाजीराव अब दौलतराव के विरुद्ध तैयारी करने लगा तो दौलत ने नाना को छोड़ दिया और नाना फिर मन्त्री बना (१५-१०-१७९८)। पर इस बीच साम्राज्य में अराजकता मच चुकी थी।

इसी बीच अंग्रेज़ों ने दो बाजियाँ मार लीं। उन्होंने निज़ामअली से सन्धि करके हैदराबाद में अंग्रेज़ी "आश्रित" सेना रख दी (१७९८ ई०)। खर्डा के विजय के बाद मराठे निज़ामअली को अपना सामन्त माने हुए थे; अब वह अंग्रेज़ों का रक्षित हो गया। इसके बाद उन्होंने टीपू के राज्य पर चढ़ाई की। श्रीरंगपट्टम् के घेरे में टीपू लड़ता हुआ मारा गया (४-५-१७९९ ई०)। उसके राज्य का बड़ा अंश अंग्रेज़ों और निज़ामअली ने बाँट लिया, तथा बाकी मैसूर के उस राजा के पोते को दे दिया जिसे हैदर ने पदच्युत किया था। वह राजा भी अंग्रेज़ों का रक्षित बना। ये खबरें मराठा दरबार पर गाज सी गिरीं। हैदराबाद और मैसूर में ब्रितानवी आधिपत्य स्थापित हो जाने से अंग्रेज़ों का पलड़ा एकाएक भारी हो गया। वे महाराष्ट्र की ठीक सीमा पर पहुँच गये। अगले वर्ष नाना फडनीस चल बसा (१३–३–१८००)। "उसके साथ मराठा राज्य का सब सयानापन विदा हो गया।"

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. रेग्युलेटिंग ऐक्ट क्या था? उसके अनुसार वारन हेस्टिंग्स ने बंगाल में जो शासनपद्धति चलाई उसकी मुख्य बातें क्या थीं?

२. पेशवा नारायणराव की हत्या कैसे हुई? उस हत्या के पीछे किसका हाथ था? भारत के इतिहास पर उस हत्या का क्या प्रभाव पड़ा?

३. भारत की मुख्य शक्तियों के संघर्ष के फल-स्वरूप अवध और रुहेलखंड को

१७४१ से १७८१ तक जिन उतार-चढ़ावों में से गुजरना पड़ा उनका विवरण दीजिए।

४. पहले अंग्रेज-मराठा युद्ध का घटनाक्रम स्पष्ट कीजिए।

५. निम्नलिखित सन्धियाँ किस किस के बीच किन दशाओं में हुईं ? इन सन्धियों का फल क्या हुआ ? (१) पुरन्दर १७७६ (२) वडगाँव १७७८ (३) सालबई १७८२ (४) मंगलूर १७८४।

६. सन् १७८४ के पिट के भारत शासन-विधान का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

७. पलाशी युद्ध के बाद से १७९३ ई० तक बंगाल-बिहार में अंग्रेजों ने जमीन बन्दोबस्त क्रमशः किस किस पद्धति से किया ? उन बन्दोबस्तों का उन प्रान्तों के आर्थिक सामाजिक ढाँचे पर क्या प्रभाव हुआ ?

८. आरकाट के नवाब मुहम्मदअली पर कर्ज कैसे चढ़े ? वे कैसे चुकाये गये ?

९. पहले अंग्रेज-मराठा युद्ध के काल में तथा उसके बाद के आठ वर्षों में दिल्ली-राजस्थान में घटनाओं की प्रवृत्ति कैसी तथा किन दशाओं से प्रभावित थी ?

१०. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए—(१) सर विलियम जोन्स (२) मोस्टिन (३) बारा भाई।

११. सन् १७९२ में शाहआलम का पेशवा को खिलअत भेजना पहले की उस जैसी किन घटनाओं की परम्परा में था ? उन घटनाओं के पीछे क्या विचार था ?

१२. पेशवा माधवराव की मृत्यु तथा नाना फडनीस की मृत्यु के बीच की कालावधि में नेपाल राज्य का विस्तार कब कब किधर किधर हुआ ? उस बीच वहाँ और मुख्य घटनाएँ क्या किस क्रम से हुईं ?

अध्याय ११

मुगल-मराठा युग का भारतीय समाज

§१. चौदहवीं-सत्रहवीं शताब्दियों का पुनरुत्थान—मुगल युग के वैभव की चर्चा के प्रसंग [६, ४§§१,२,४–६,१९] में उस काल के सामाजिक सांस्कृतिक जीवन की कुछ झाँकी हमें मिल चुकी है। यहाँ हमें उस युग के जीवन का दूसरा पहलू देखना है। १३वीं-१४वीं शताब्दी में पुराने भारतीय राज्य दीमक के खाये हुए ठूँठ से हो गये थे। १४वीं शताब्दी उत्तरार्ध तथा १५वीं-१६वीं शताब्दियों में शाहमेर-वंशजों के नेतृत्व में

कश्मीरियों ने, विजयनगर के नेतृत्व में कन्नडों ने, मेवाड़ के नेतृत्व में राजस्थानियों ने, कपिलेन्द्र के नेतृत्व में उड़ियों ने और लोदियों-सूरों के नेतृत्व में पठानों ने जो शक्ति का नमूना दिखाया वह नये जीवन का सूचक था। उन शताब्दियों में धार्मिक संशोधन भी चल रहा था।

राजपूतों पठानों की अपेक्षा बाबर अकबर की महत्त्वाकांक्षा उच्चतर, दृष्टि विशालतर और शस्त्रास्त्र नये और बेहतर थे। पर अकबर के एक शताब्दी पीछे उसके वंशजों में भी वह महत्त्वाकांक्षा छीज गई। और तब महाराष्ट्र बुन्देलखंड व्रज पंजाब और नेपाल में नया जीवन प्रकट हुआ। वह पुनरुत्थान स्पष्ट ही १५वीं-१६वीं शताब्दियों के संशोधन का फल था। गंगा के काँठे सिन्ध गुजरात आन्ध्र और तमिळ मैदानों में—अर्थात् भारतवर्ष के सबसे उपजाऊ प्रान्तों में—यह पुनरुत्थान प्रकट नहीं हुआ और वहाँ दिल्ली साम्राज्य के टुकड़े कुछ काल पीछे तक बचे रहे। फिर इन्हीं प्रान्तों में अंग्रेजों को पहलेपहल पैर जमाने का अवसर मिला। यदि फ्रांसीसी और अंग्रेज़ बीच में न आ पड़ते, तो ये प्रान्त भी मराठों या सिक्खों के हाथ में आने को ही थे।

§ २. **मराठी और हिन्दी की सीमाएँ मिलना**—महाराष्ट्र छत्तीसगढ़ उड़ीसा और आन्ध्र की सीमा पर गोंडवाना में तथा महाराष्ट्र गुजरात और मालवे के बीच खानदेश में जो जन-जातियाँ थीं, उनके प्रदेश के आरपार आर्य भाषाएँ इसी युग में जा निकलीं। दक्खिनी गोंडवाना—नागपुर चाँदा और भांडारा—में मराठी फैल गई और उत्तरी गोंडवाना—जबलपुर तथा मंडला—बुन्देली के क्षेत्र में आ गया।

§ ३. **जनता का आर्थिक सामाजिक जीवन**—न केवल मुगल युग में प्रत्युत अठारहवीं शताब्दी के राजविप्लवों के बीच भी कृषक कारीगर और व्यापारी जनता प्रायः खुशहाल और सुखी रही। परिवर्तन-काल में कुछ कष्ट अवश्य होता था। पंजाब की सिक्ख मिसलें राज्यसंस्था का बड़ा अस्थिर नमूना थीं, तो भी उनमें कृषक शिल्पी और व्यापारी खुशहाल थे। अमृतसर जैसे व्यापार-केन्द्र का विकास उन्हीं के शासन में हुआ।

पठान और मराठा शासन के विषय में बहुत झूठ फैलाया गया है।

पठानों को पहले तो उनके प्रतिद्वंद्वी 'मुगल' बदनाम करते रहे, फिर अंग्रेज़ हिन्दू-मुस्लिम झगड़ा उभाड़ने के लिए पठान हौआ खड़ा करते रहे। पर शेरशाह पठान था और रुहेलों की अपनी हिन्दू प्रजा उनके शासन में सुखी सुरक्षित और समृद्ध थी। युद्ध में अपने शत्रुओं के तईं रुहेले जैसी खूँख्वारी दिखाते, अपनी प्रजा की खुशहाली के लिए वैसी ही चिन्ता भी करते थे। पर कश्मीर के पठान शासकों के विषय में यही बात नहीं कही जा सकती। कश्मीर को अब्दाली ने १७६२ ई० में जीता था [६,६ § ३], और रणजीतसिंह द्वारा उसके जीते जाने तक वहाँ पठान राज रहा। उस आधी शताब्दी के पठान शासन में कश्मीर की प्रजा सुखी नहीं रही।

मराठों को लुटेरा प्रसिद्ध करने में अंग्रेज़ों का विशेष स्वार्थ रहा। सच बात यह है कि १८वीं शताब्दी के अन्तिम भाग और १९वीं शताब्दी के शुरू में मराठा साम्राज्य में जो अनेक लुटेरे मँडराते रहे वे प्रायः अंग्रेज़ों के ही खरीदे या खड़े किये हुए भड़काऊ कारिन्दे थे। मराठा शासन के विषय में अपना कोई मत हमें उनकी करतूतों को देख कर नहीं प्रत्युत जिन प्रदेशों में मराठा शासन कुछ अरसा टिका उनकी दशा को देख कर बनाना चाहिए। उन्नीसवीं शताब्दी के शुरू में जिन अंग्रेज़ों ने मराठों को हरा कर दक्खिन और मध्यमेखला में अंग्रेज़ी शासन खड़ा किया, उनमें सर जौन मालकम का ऊँचा स्थान था। मालकम के जीवन का मुख्य भाग महाराष्ट्र और मालवे में बीता। उसका कहना था कि "मैंने सन् १८०३ में दक्खिनी मराठा जिलों को जैसा पाया उनसे अधिक धन-धान्य-पूरित प्रदेश कभी कहीं नहीं देखे।" "पेशवा की राजधानी पूना बड़ी धनी और फूलती-फलती नगरी थी।" "मालवे में ... मैंने आश्चर्य से देखा कि उज्जैन में व्यापारियों के बड़ी रकमों के लेन-देन बराबर चलते थे; ऊँचो हैसियत और साख वाले साहूकार बड़ी समृद्ध दशा में थे; न केवल बड़ी राशि में माल का आना जाना बराबर जारी था, प्रत्युत वहाँ के बीमे के दफ्तरों ने, जो उस सारे प्रदेश में फैले हैं, ... कभी अपना कार-बार बन्द नहीं किया था।" "कृष्णातट के जिलों के समान कृषि और व्यापार की समृद्धि भारत के किसी और प्रान्त में न थी। मेरे विचार में इसके कारण

थे—(एक तो) उनकी शासन-पद्धति जो कभी कभी ज्यादतियाँ करने के बावजूद भी नरम है ···, (दूसरे) भारतीयों की कृषि के विषय में पूरी जानकारी और लगन, (तीसरे) हमारी अपेक्षा उनका शासन के कई पहलुओं को, खास कर गाँवों और नगरों को समृद्ध बनाने के उपायों को, अच्छा समझना,··· और सबसे बढ़ कर जागीरदारों का अपनी जागीरों पर रहना तथा उन प्रान्तों का ऊँचे दर्जे के ऐसे आदमियों द्वारा शासित होना जिनका जीना और मरना उसी जमीन के साथ है। ··· किन्तु इन सबसे भी बढ़ कर समृद्धि का कारण यह था कि गाँवों की पंचायतों और अन्य स्थानीय संस्थाओं को सदा बढ़ावा दिया जाता था।"

भारतीय कारीगरों ने अपनी पुरानी योग्यता इस युग में भी बनाये रक्खी और यदि किसी नई बात पर उनका ध्यान चला जाता तो वे उसे शीघ्र अपना लेते, बल्कि उससे भी अच्छा नमूना तैयार कर देते थे। सूरत के बन्दरगाह में जहाज बनते थे। उन्हें युरोपी लोग खरीद ले जाते थे। उधुआ नाला की लड़ाई में मीरकासिम ने अपने कारखाने की जो बन्दूकें बरती थीं, वे अंग्रेजी बन्दूकों से अच्छी पाई गई थीं। पर इस युग के भारतीय कारीगरों में प्रगति का भाव न था, और वह जागरूकता न थी कि वे स्वयं दुनिया की प्रगति का पता रखते रहें। अधिकांश कारीगर महाजनों के काबू में थे। वे महाजनों से अगाऊ रकम ले कर उसका हिसाब चुकाने को अपना तैयार माल देते रहते थे। पीछे महाजनी के इसी मार्ग से अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारतीय कारीगरों को अपने कब्जे में करके तबाह कर दिया। हमने देखा है कि सातवाहन और गुप्त युगों में कारीगरों की श्रेणियों की इतनी हैसियत थी कि राजा लोग अपनी स्थायी धरोहर उनके पास जमा करते थे [५, ५ § ४; ६, ५ § २]। किन्तु मध्य काल में उनकी शक्ति टूट गई, और उनकी श्रेणियाँ पथरा कर जातें बन गईं, जिनका काम केवल अपने सदस्यों पर तुच्छ और व्यर्थ के सामाजिक बन्धन लगाना रह गया। जैसे किसानों पर जागीरदारों ने अपना प्रभुत्व जमा लिया, वैसे ही कारीगरों को महाजनों ने काबू कर लिया। वह परिवर्तन ठीक ठीक कब और कैसे हुआ, इसकी खोज अभी तक नहीं हुई।

मराठों के उत्तर भारत जीतने से उत्तर और दक्खिन के बीच आदान-प्रदान खूब बढ़ा। उत्तर भारत के अनेक रस्मरिवाज और आराम-आसाइश के सामान दक्खिन पहुँचे। संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थ बड़ी संख्या में उत्तर से दक्खिन जाते रहे।

महाराष्ट्र और बुन्देलखंड ने इस युग में अनेक महान् स्त्रियाँ भी पैदा कीं। इस युग की मराठा और बुन्देला युवतियों को घुड़सवारी का अच्छा अभ्यास रहता था। किन्तु दूसरे प्रान्तों में स्त्रियों की हैसियत गिरी हुई थी। अधिक स्त्रियाँ रखना बड़प्पन का चिह्न समझा जाता था।

मुगल युग में मुगल साम्राज्य के विरुद्ध खड़े होने वाले प्रत्येक बुन्देले के साथ उसकी पत्नी के भी रण में लड़ने का उल्लेख है। जुझारसिंह के साथ पार्वती [६, ४ § १३] और चम्पतराय के साथ कालीकुमारी [६, ५ § २] ने वीर गति प्राप्त की; छत्रसाल के संघर्ष में कमलावती ने शुरू से ही हाथ बँटाया [६, ५ § १३]। मध्य युग में राजस्थान की अनेक स्त्रियों ने अपने पतियों को वीरोचित आचरण के लिए प्रोत्साहित किया और उनके वीर गति पाने पर सती हो गई थीं; इस युग में बुन्देलखंड की स्त्रियाँ युद्ध में पुरुषों के साथ जाती रहीं। छत्रसाल ने बाजीराव को मस्तानी नाम की सुन्दरी गायिका सौंपी थी, जो मुस्लिम माँ की बेटी थी। बाजीराव की प्रत्येक युद्धयात्रा में वह घोड़े पर चढ़ साथ जाती और प्रत्येक लड़ाई में साथ रहती। उसकी मृत्यु पर वह सती हो गई। बाजीराव मस्तानी को रखैल की तरह नहीं, पत्नी की तरह रखना चाहता और उससे हुए अपने बेटे को हिन्दू की तरह पालना चाहता था। किन्तु उसके परिवार और बिरादरी के लोगों ने उसे वैसा करने नहीं दिया। बाजीराव और मस्तानी के बेटे शमशेरबहादुर ने पानीपत की लड़ाई में वीरगति पाई। उसके वंशज जो बाँदे के नवाब बने प्रत्येक राष्ट्रीय युद्ध में मराठों की तरफ से लड़ते रहे। अन्त में १८५७ के स्वाधीनता-युद्ध में भाग लेने के कारण अंग्रेज़ों ने उनका चिह्न मिटा दिया।

इस उदाहरण से यह प्रकट होगा कि १५वीं-१६वीं शताब्दियों के धार्मिक संशोधन और राजनीतिक पुनरुत्थान से हिन्दुओं की सामाजिक संकीर्णता कुछ

घटी अवश्य, तो भी बहुत कुछ बनी रही। इसी का यह फल हुआ कि भारतीय हिन्दू और मुस्लिम के रोज़मर्रा के जीवन में अस्वाभाविक अन्तर बराबर बना रहा, जिसे अंग्रेज़ों ने अपने मतलब के लिए उभाड़ा और जिसका उन्होंने दुरुपयोग किया। इस युग का धार्मिक संशोधन इतना गहरा नहीं था कि उस अन्तर को मिटा देता।

§४. **ज्ञान-जागृति का अभाव**—भारतवर्ष का यह पुनरुत्थान अन्त में सफल न हुआ। मराठे और सिक्ख अंग्रेज़ों के मुकाबले में न ठहर सके। इसके दो कारण हमने देखे हैं। एक तो यह कि जल और स्थल के शस्त्रास्त्रों और समरकला में भारतीय युरोपियों से पिछड़ गये थे। दूसरे, हमारा राष्ट्रीय संघटन अंग्रेज़ों के मुकाबले में अत्यन्त शिथिल और अशक्त था। राष्ट्रीयता की भावना महाराष्ट्र में काफी थी। तो भी वह इतनी गहरी और उत्कट न थी कि उसकी प्रेरणा से मराठे अपने समूचे राष्ट्र-संघटन को विचारपूर्वक ऐसा ढाल लेने को प्रेरित होते कि जिससे राष्ट्र का अधिकतम हित हो सकता। अंग्रेज़ों में एक योग्य नेता के हटने पर दूसरा उसका स्थान झट ले लेता था। इधर यह दशा रही कि बालाजीराव जैसे दिशा भूले व्यक्ति के हाथ में अत्यन्त नाजुक काल में राष्ट्र की पतवार केवल इस कारण थमा दी गई कि वह बाजीराव का बेटा था, और बाजीराव २य सा पतित व्यक्ति भी केवल इसलिए राष्ट्र का मुखिया बन गया कि वह बाजीराव १म का पोता था। अच्छा राष्ट्र-संघटन वह है जहाँ राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता का अधिकतम विकास करने का अवसर मिले और उसकी योग्यता से राष्ट्र को अधिकतम लाभ पहुँच सके।

किन्तु हमारे पुरखों ने अपनी इन त्रुटियों को पहचान कर सुधार क्यों नहीं लिया? अकबर शाहजहाँ औरंगज़ेब शिवाजी बाजीराव जैसे हमारे योग्य शासक बराबर यह देखते रहे कि पच्छिमी लोग जहाजरानी में, तोपों बन्दूकों को बनाने और बरतने में तथा समरकला में हमसे आगे निकलते जाते हैं; तो भी उनमें से किसी को यह न सूझा कि पच्छिम के उस ज्ञान को प्राप्त कर लें। गोवा में पुर्तगाली १६वीं सदी से भारतीयों की आँखों के सामने पुस्तकें छापने लगे थे। यदि भारतीयों का ध्यान उनकी मुद्रणकला को अपनाने की ओर

चला जाता तो भारत में भी कैसी जाग्रति हो सकती! बसई जीत लेने पर पुर्तगालियों के जहाजी कारखाने और गोदियाँ (डौकयार्ड) मराठों के हाथ आ गये थे, किन्तु उनका कुछ भी उपयोग उन्होंने नहीं किया। औरंगज़ेब को युरोपी समुद्री डाकुओं की समस्या से कितना परेशान होना पड़ा! उस जैसा योग्य और शक्त सम्राट् अपना ध्यान उस समस्या को जड़ से सुलझाने में लगा देता तो भारत की वह कमजोरी उसके शासन-काल में ही दूर हो सकती थी।

महाराष्ट्र के स्वतन्त्रता-युद्ध के अधिनायक रामचन्द्र बावडेकर ने बाद में कोल्हापुर का अमात्य रहते हुए "आज्ञापत्र" नामक राजनीति का ग्रन्थ लिखा। उसमें उसने लिखा कि युरोपी लोग जहाजरानी में और तोप-बन्दूक गोलाबारूद बनाने में दक्ष हैं, इस कारण वे खतरनाक हैं और उन्हें भारत में बसने न देना चाहिए। पर न तो रामचन्द्र ने यह सोचा कि वे क्यों इन बातों में बढ़े हुए हैं और न उसे यह सूझा कि उनसे ये शिल्प हमें ले लेने चाहिएँ। नेपाल के पृथ्वीनारायण ने अंग्रेज़ों के बारे में अपनी जो नीति कही, वह रामचन्द्र बावडेकर की शिक्षा का शब्दानुवाद था। नेपाल उन्नीसवीं शताब्दी तक उसी नीति पर चलता रहा। रामचन्द्र और पृथ्वीनारायण की वह नीति उन अन्य भारतीय शासकों की नीति से कहीं अच्छी थी जिन्होंने युरोपी खतरे को देखा पहचाना ही नहीं और अंग्रेज़ों को सब तरह की सुविधाएँ दे दी थीं। चीन की भी युरोपियों के प्रति बराबर वही नीति रही। किन्तु युरोपियों को दूर रखने की वह नीति भी अन्त तक सफल न हो सकती थी। युरोपियों का मुकाबला केवल उनके ज्ञान को अपना कर ही किया जा सकता था।

अन्तिम संकट आ जाने पर हैदरअली ने पच्छिमी युद्धशैली को समझा और अपने देश की कमजोरी को दूर करने का यत्न किया तो उसका कार्य उसकी मृत्यु के साथ ही रुक गया। हैदर ने जब अपना जंगी बेड़ा तैयार करना चाहा तब यह पाया गया कि भारत में योग्य यन्त्रदेशक (इंजीनियर) आसानी से उपलभ्य नहीं थे।

मीर कासिम और महादजी शिन्दे ने पाश्चात्य युद्ध-शैली अपनाई तो केवल कामचलाऊ ढंग से। उन्होंने युरोपी अफ़सर रख लिये, परन्तु यह न सोचा

कि कभी ये अफसर धोखा दें तो क्या होगा और ऐसा उपाय नहीं किया कि उस दशा में अपने आदमी ज्ञानपूर्वक उनका स्थान ले सकें।

नाना फडनीस अंग्रेजों की मुम्बई और कलकत्ता कौंसिलों की गुप्ततम कार्रवाइयों का पता तुरत निकाल लेता था। पर अंग्रेजी सेना के भीतर पैठने की उसे कभी न सूझी—यह नहीं सूझा कि अंग्रेज़ों की जिस सेना से भारत को इतना खतरा था वह भारतीयों की ही थी, उसे अपनी ओर मिला लेना चाहिए। फिर अंग्रेज़ों की कौंसिलों की पूरी कार्यप्रणाली नाना की आँखों के सामने रहती थी; तो भी नाना को यह कभी न सूझा कि महाराष्ट्र में भी उसी नमूने पर जो बाराभाई-समिति खड़ी हो गई थी, वैसी कोई राष्ट्र के श्रेष्ठ व्यक्तियों की स्थायी संस्था बनी रहे।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि मुगल-मराठा युग में हमारे पुरखों में जागरूकता और जिज्ञासा न थी; उनके ज्ञान-नेत्र बन्द थे; वे मानो मोह-निद्रा में थे। वे अपने बँधे हुए मार्ग पर ही चले जा रहे थे; किन्तु अपने चारों ओर की दुनिया की प्रगति के विषय में कुछ भी सतर्क न रहते थे। और तो और, हमारे अपने देश के विषय में भी पच्छिमी लोगों की जिज्ञासा हमारे इस युग के पुरखों से अधिक थी। हिन्दुस्तानी (उर्दू) का सबसे पहला व्याकरण किसी भारतीय ने नहीं, प्रत्युत काटलर नामक ओलन्देज ने लिखा। वह हौलैंड के दूतों के साथ बहादुरशाह के दरबार में लाहौर आया था (१७१२ ई०)। पेशवाई ज़माने का दक्खिन भारत का मराठा नक्शा मौजूद है; उसी ज़माने का रेनल नामक अंग्रेज का ई० इं० कम्पनी की प्रेरणा से तैयार किया भारत का नक्शा भी है [नक्शा ३०, ३१]। इन दोनों की तुलना से साफ दिखाई देगा कि भारतवर्ष के विषय में भारतीयों का ज्ञान कैसा था और अंग्रेजों का कैसा।

अपने देश की स्थिति को ही यदि इस युग के भारतीय ठीक देखते समझते होते तो मराठे अब्दाली से उलझने की सोचते भी नहीं। पानीपत की जीत के बाद अब्दाली के पीठ फेरते ही सिक्खों ने उसके विरुद्ध संघर्ष शुरू किया, जिसके फलस्वरूप पानीपत के छह वर्ष बाद ही अटक तक से पठानों को हटना पड़ा। पंजाब की इस नई उठती शक्ति को मराठे यदि देख सकते तो

अब्दाली के बारे में चिन्ता करने की उन्हें आवश्यकता ही न होती। पेशवा बालाजीराव की करनी में जो आत्मघाती सूझ रही वह तो निरा अन्धापन था जिसने उस युग की मोहनिद्रा को भी मात कर दिया।

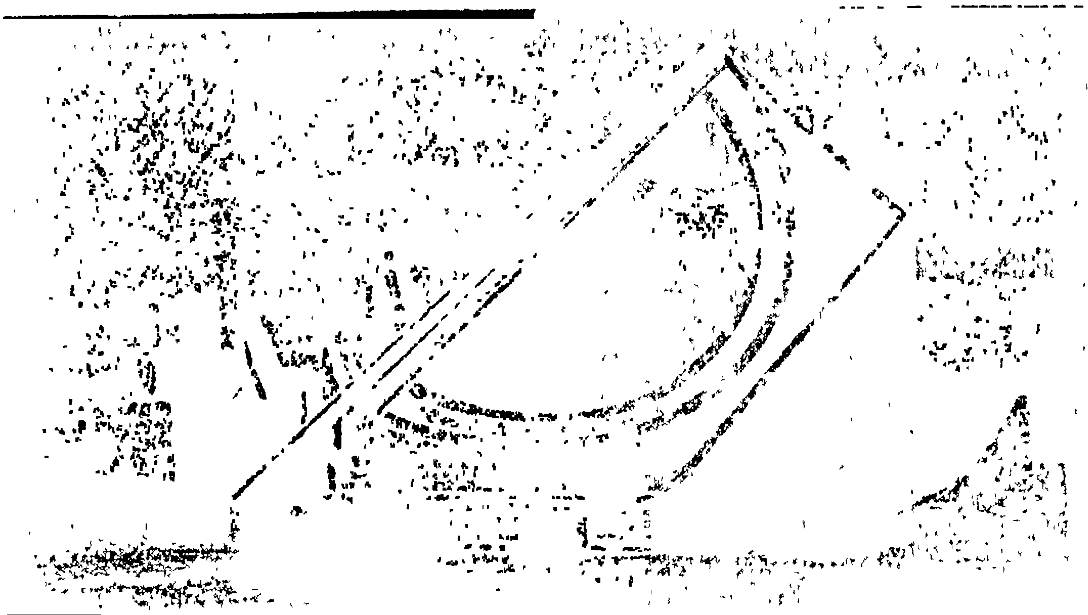
अपने इतिहास के इस पहलू को देख कर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि १७वीं-१८वीं शताब्दियों के राजनीतिक पुनरुत्थान में भारतीयों की कर्म-चेष्टा ही पुनर्जीवित हुई; ज्ञान और जिज्ञासा पुनर्जीवित नहीं हुई। नानक ने पंजाबियों को पाखंड से उबार कर शुद्ध भक्ति सिखाई थी; अर्जुन गोविन्दसिंह और बन्दा ने भक्ति से सरल बने हृदयों में कर्मवीरता जगा दी; पर ज्ञान की ज्योति ने उन सच्चे और सचेष्ट सिक्खों को जागरूक न बनाया। १४वीं-१५वीं-१६वीं शताब्दियों के धार्मिक संशोधन ने मध्य काल की हिन्दुओं की शिथिलता और निष्क्रियता बहुत कुछ दूर की, ढोंग-ढकोसले को कुछ हटा कर सामाजिक अन्यायों को दूर किया, किन्तु वह संशोधन इतना गहरा न था कि ज्ञान पाने के लिए बेचैनी पैदा करता और प्रत्येक वस्तु को विचारपूर्वक समझने और सुधारने की प्रवृत्ति भी जगा देता। वह संशोधन की लहर प्राचीन भारत के ज्ञान और जीवन का पुनरुद्धार नहीं कर सकी।

हम अचरज करते हैं कि अकबर औरंगजेब शिवाजी और बाजीराव जैसे महापुरुषों ने भी साधारण जागरूकता क्यों न दिखाई। हमारा यह अचरज अपनी आज की स्थिति पर विचार करने से दूर हो सकता है। क्या आज डेढ़ सौ बरस तक अंग्रेजों द्वारा पददलित होने के बाद भी हमारे राष्ट्र के ज्ञानचक्षु खुल गये हैं? आज भी हमारे देश का शिक्षित वर्ग अपने देश के विभिन्न प्रान्तों या अपने पड़ोस के देशों के बारे में अंग्रेजों की पढ़ाई बातों से अतिरिक्त क्या कुछ भी जानता है? आज (१९५६ में) भी स्वतन्त्र भारत की स्थल जल और नभ सेना और हमारे देश के सब महत्त्व के कल-कारखाने क्या अंग्रेजों पर आश्रित और निर्भर नहीं हैं? अंग्रेजों ने हमें अपना उपकरण बनाने के लिए अंग्रेजी भाषा सिखाई और हम जीविका की दृष्टि से या अपने समाज में ऊँचा पद पाने के लिए उसे सीख लेते रहे, पर क्या संसार के उस ज्ञान को हमने आज तक भी अपनाने का ठीक ठीक यत्न किया है जो सारी

शक्ति का स्रोत है ?

§ ५. **जागृति के अग्रदूत**—यों भारतीयों की ज्ञान और विचार की प्रवृत्ति इस युग में सोई हुई थी। पर उस मोहनिद्रा के कुछ अपवाद भी हुए। दिल्ली में अठारहवीं सदी में शाह वलीउल्लाह नामक सूफी हुआ (१७०२—१७६२ ई०)। उसने समाज में आर्थिक समानता की आवश्यकता बताई, कहा कि शासक वर्ग ने अपनी आरामतलबी के लिए कारीगर वर्ग पर इतना बोझ डाल रक्खा है कि वे "लोग गधों और बैलों की तरह सिर्फ रोटी कमाने को काम करते हैं"। वलीउल्लाह ने अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए संघटन खड़ा किया (१७३१ ई०)। उससे शिष्यों की परम्परा चलती रही।

उज्जैन जयपुर बनारस और दिल्ली में सवाई जयसिंह की बनवाई वेधशालाएँ, जिनकी अब इमारतें भर बची हैं, यन्त्र सब गायब हो चुके हैं, सूचित करती हैं कि भारतीयों में नये ज्ञान को अपनाने की शक्ति सर्वथा लुप्त न



सवाई जयसिंह के बनवाये जन्तरमन्तर (= यन्त्रमन्दिर) दिल्ली का एक अंश

हो गई थी। जयसिंह स्वयं बड़ा ज्योतिषी था; उसने ज्योतिष की अनेक नई तालिकाएँ तैयार की थीं। जब उसे मालूम हुआ कि युरोप में ज्योतिष की नई खोजें हुई हैं तब उसने बड़ा खर्च कर जर्मन ज्योतिषियों को बुलाया और उनकी

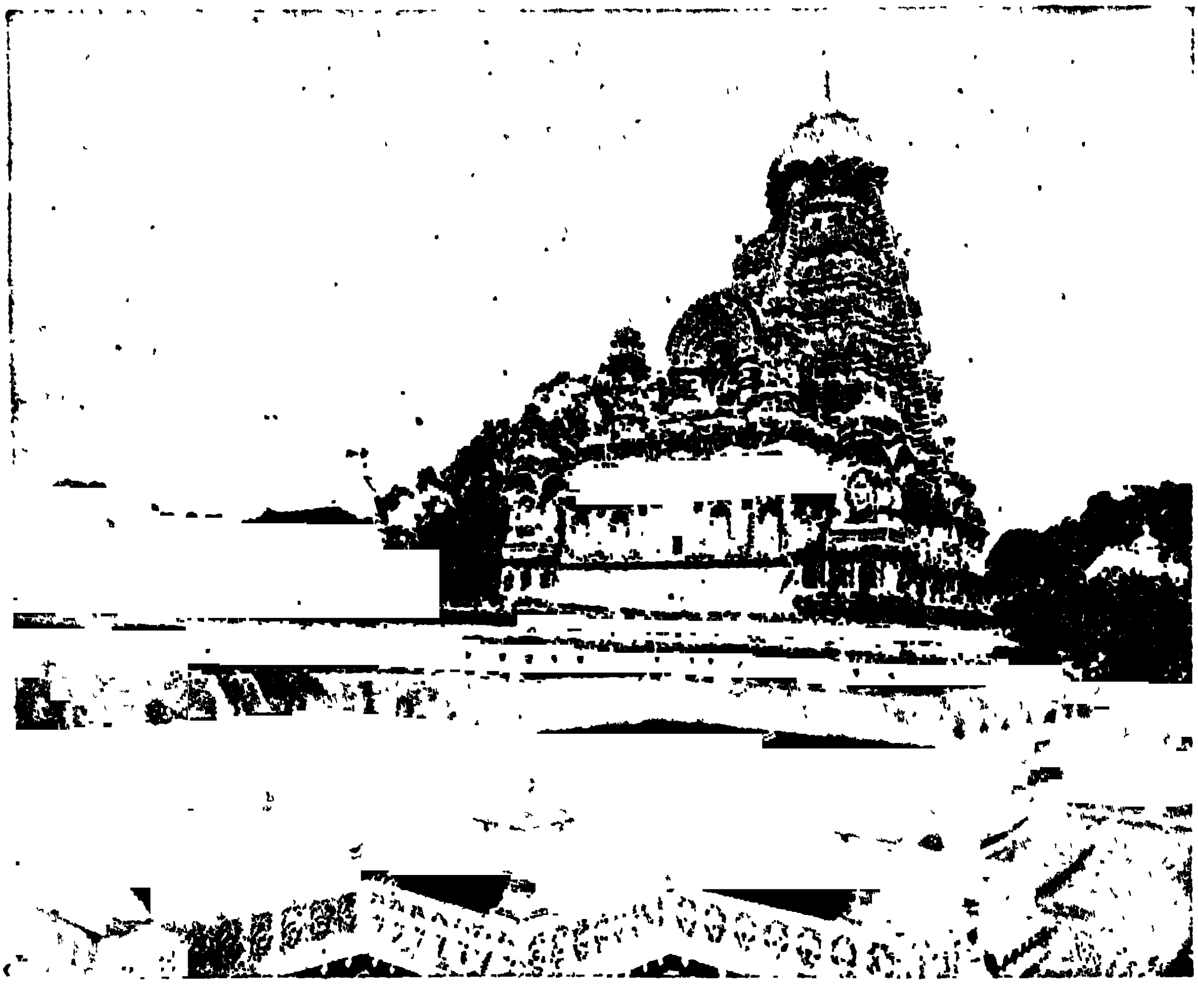
तालिकाओं को भी जाँचा समझा।

सन् १७५६ में अंग्रेज़ों के विजयदुर्ग छीनने के अवसर पर हरि दामोदर नवलकर नामक व्यक्ति वहाँ उपस्थित था। उसी वर्ष वह झाँसी का सूबेदार नियत हो कर आया और १७६५ ई० में अपनी मृत्यु तक उस पद पर रहा। उसका बेटा रघुनाथ बराबर उसके साथ था। पानीपत के बाद मल्हार होळकर के नेतृत्व में उत्तर भारत में मराठा साम्राज्य को पुनःस्थापित करने में इन पिता-पुत्र ने विशेष भाग लिया। १७६५ से १७९६ ई० तक रघुनाथ हरि झाँसी का सूबेदार रहा। इलाहाबाद के अंग्रेज़ों से उसे प्रायः वास्ता पड़ता था। रघुनाथ ने यह अच्छी तरह समझ लिया था कि पच्छिम के नये ज्ञान को अपनाये बिना भारतीयों का बचाव नहीं है। इस विचार से उसने अंग्रेज़ी सीखी और अंग्रेज़ी विश्वकोष (इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका) का दूसरा संस्करण, जो तब प्रचलित था, मँगाया। उसके द्वारा उसने भौतिकी (फ़िज़िक्स) रसायन (केमिस्ट्री) आदि विज्ञान पढ़े। उसने झाँसी में एक विशाल पुस्तकालय परीक्षणालय (लैबोरेटरी) और वेधशाला स्थापित कीं। काश कि उस युग में रघुनाथ हरि की छूत समूचे भारत में फैल गई होती!

§६. सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में साहित्य और कला—दिल्ली साम्राज्य के विस्तार और पतन का तथा अधूरे पुनरुत्थान का प्रभाव इस युग के साहित्य पर भी हुआ। पंचाल (रुहेलखंड और कन्नौज) और शूरसेन (व्रज) की बोलियों में से कोई एक सदा भारत की राष्ट्रभाषा बनती रही है, क्योंकि वे बोलियाँ सब आर्यावर्त्ती भाषाओं की केन्द्रवर्त्ती हैं। इस बार दिल्ली साम्राज्य के सहारे उत्तर पंचाल की 'खड़ी बोली' भारत भर में चल गई। साम्राज्य के अन्तिम विस्तार के साथ उसमें एक नई शैली प्रकट हुई जिसे हम उर्दू कहते हैं। फारसी लिपि में लिखी खड़ी बोली का ही नाम उर्दू है। सब से पहले उर्दू कवियों में औरंगाबाद का वली (१६६८–१७४४ ई०) था।

भूषण और लाल कवि ने शिवाजी और छत्रसाल के विषय में हिन्दी में जो कविताएँ कीं, उन्हें पुनरुत्थान से प्रेरणा मिली थी, तो भी भूषण की कविता परम्परागत कृत्रिम "रीति" की ही है। मराठी पोवाडे अर्थात् कथागीत

जो मराठा इतिहास की घटनाओं पर निर्भर हैं, काफी जानदार हैं। पंजाबी कवि वारिसशाह के महाकाव्य हीर-रांझा में ग्राम्य जीवन का सुन्दर चित्र है। उसे इस युग के काव्यों में श्रेष्ठ कहना चाहिए। पश्तो कवि अकमल की रचनाएँ भी सुन्दर हैं। पिछले मुगलों और उनके प्रान्तीय दरबारों का साहित्य कृत्रिम अतिरंजित और विपर्यैषणापूर्ण है। मराठी और असमिया के सिवाय भारत



घृसणेश्वर, वेरूल [हैदराबाद पु० वि०]

की विद्यमान भाषाओं में तब गद्य नहीं के बराबर था। महाराष्ट्र में शिवाजी के अभिषेक के बाद से राज्य-कार्य के लिए गद्य का विकास हुआ। वहाँ अनेक 'बखर' अर्थात् ऐतिहासिक वृत्तान्त भी लिखे गये; किन्तु वे कहानियों से भरे और अप्रामाणिक हैं। इतिहास और साहित्य की दृष्टि से उनसे कहीं अधिक महत्त्व के वे सैकड़ों फुटकर पत्र हैं जिनमें समकालीन घटनाओं का वर्णन है। उनकी भाषा नपी-तुली और अर्थपूर्ण तथा शैली विशद और सजीव

है। उनमें ऊँची प्रतिभा झलकती है।

जहाँ जहाँ मराठों का राज्य पहुँचा, उन्होंने मन्दिरों और तीर्थों का पुनरुद्धार किया और सार्वजनिक उपयोगिता के घाट बगीचे धर्मशालाएँ आदि बनाने की ओर विशेष ध्यान दिया। उज्जैन का महाकाल और काशी का विश्वनाथ मन्दिर तथा अजमेर का दौलतबाग आदि इसके नमूने हैं। इस सम्बन्ध में अहल्याबाई होळकर का नाम उल्लेखनीय है। वेरूल ('इलोरा') के पास उसका घृसणेश्वर मन्दिर, पन्ना में छत्रसाल और कमलावती की समाधि, अमृतसर का 'दरबार-साहब', कन्दहार में अहमदशाह अब्दाली का मकबरा, पूने में



अहमदशाह अब्दाली का मकबरा [फादर हेरस के सौजन्य से]

नाना फडनीस का बेलबाग आदि इस युग की स्थापत्य कला के सुन्दर नमूने हैं। सवाई जयसिंह का बसाया जयपुर उत्तम नगर-कल्पना का नमूना है। बनारस में ज़मीन के नीचे मैला बहाने का जो नाला है वह अवध के नवाबों के काल में बना। उससे सिद्ध होता है कि भारतीय स्थपति केवल मन्दिर मस्जिद और महल ही नहीं, प्रत्युत सार्वजनिक उपयोगिता की भी अच्छी

रचनाएँ रच सकते थे।

§७. **चित्रकला की पहाड़ी कलम**—पन्द्रहवीं शताब्दी में चित्रकला की जिस राजपूत कलम का उदय हुआ था [८,८§८], वह मुगल कलम [६,४ § ५] के साथ साथ चलती रही, और उससे १७वीं-१८वीं शताब्दियों में दखनी और बुन्देलखंडी कलमें निकलीं, जिनके बहुत कम चित्र जानदार बने। राजपूत कलम की एक शाखा हिमालय में चम्बे के पास रावी के दाहिने तट पर बसौली नामक टिकाने में भी जा लगी। कला के प्रति औरंगजेब की उपेक्षा और पिछले मुगलों के काल की अव्यवस्था के कारण १७वीं-१८वीं शताब्दियों में अनेक बादशाही चित्रकार नये आश्रयों को खोजते कश्मीर और गढ़वाल के बीच रावी सतलज और जमना दूनों के छोटे छोटे ठिकानों चम्बा नूरपुर गुलेर कांगड़ा कुल्लू मंडी सुकेत नाहन आदि में जा बसे। वहाँ के शान्त एकान्त वातावरण से भारत में होती बड़ी घटनाओं को निहारते हुए उनकी मुगल कलम में कश्मीर कलम [७,८ § ६] का नया पुट मिला, जिससे पहाड़ी कलम नाम की नई जानदार शैली का उदय हुआ। राजपूत कलम मुख्यतः आलंकारिक थी, पहाड़ी भावप्रदान है। "ऐसा कोई रस या भाव नहीं है जिसका पूर्ण सफल अंकन ... (इस शैली के) कलाकार न कर सके हों। ... उनकी प्रत्येक रेखा में प्राण स्पन्दन और प्रवाह रहता है।" अजिंठा युग के बाद पहाड़ी कलम में ही भारतीय चित्रकला की सबसे ऊँची उड़ान दिखाई दी। सिक्खों के उत्कर्ष काल में पंजाब में भी इसके केन्द्र स्थापित हुए, और पंजाब की स्वाधीनता जब तक रही तभी तक इस कलम का भी जीवन रहा।†

§८. **व्यावसायिक क्रान्ति**—भारत के लोग जब मोहनिद्रा में पड़े थे तभी युरोप वाले एक और मैदान मारते जा रहे थे। वे अपनी शिल्प-व्यवसाय की प्रक्रियाओं में विचारपूर्वक सुधार और उन्नति करने लगे थे जिससे वहाँ—सबसे पहले इंग्लिस्तान में और फिर अन्य देशों में—"व्यावसायिक क्रान्ति" हो गई।

---

† पहाड़ी कलम के नमूने के लिए अगले पर्व में महाराजा रणजीतसिंह के दरबार का चित्र देखिए।

युरोप में बहुत से शिल्प मध्य काल में भारत चीन आदि पूरवी देशों से ही गये थे। चर्खा वहाँ मध्य काल में पहुँच चुका था। इतालिया वाले चीन से रेशम का कीड़ा चुरा ले गये थे। इंग्लिस्तान में तो सत्रहवीं सदी में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने ही सूती कपड़ा पहनने का प्रचार किया। तब तक वहाँ ऊनी कपड़ा ही बनता और पहना जाता था। सूती कपड़े के व्यवसाय का दुनिया भर का केन्द्र ५वीं शताब्दी ई० पू० से १८वीं शताब्दी ई० तक भारतवर्ष ही था।

किन्तु इंग्लिस्तान की प्रजा और राष्ट्र के नेताओं को अपने देश की कारीगरी को आगे बढ़ाने का बराबर ध्यान था। भारतवर्ष की छींट इंग्लिस्तान में बहुत पसन्द की जाती थी। पर ब्रितानवी पार्लिमेंट ने अपने देश के ऊनी कपड़े के कारबार को बचाने के लिए १७०० ई० में भारतीय छींट का ब्रितानिया में लाना और फिर १७२१ मे पहनना या बरतना भी रोक दिया। ई० इं० कम्पनी तब वह कपड़ा युरोप के दूसरे देशों में ले जाती थी। एक जर्मन अर्थ-शास्त्री के शब्दों में "भारत के नफीस सस्ते कपड़े इंग्लिस्तान खुद नहीं लेता, वह अपने मोटे महँगे से सन्तोष कर लेता है। पर युरोपी राष्ट्रों को वह खुशी से सस्ता नफीस माल देता है।"

१६वीं सदी में ही युरोप में पैर से चलने वाला चरखा चल पड़ा था। सन् १६०७ में इतालिया में रेशम का डोरा बटने और अटेरने के लिए पनचक्की का प्रयोग होने लगा था। सन् १७३३ में जौन के नामक अंग्रेज़ ने उड़ती ढरकी (फ्लाई शटल) की ईजाद की, जिससे ताने में बाना जल्दी डाला जाने लगा और कपड़े की उपज दूनी होने लगी। सन् १७६७ में हार्ग्रीव्स ने ऐसा चरखा निकाला जिसमें आठ तकुए एक ही पहिये से चलते थे और चिमटियों से पूनियाँ पकड़ी जाती थीं जिन्हें एक ही आदमी सँभाल सकता था। इस चरखे को उसने अपनी स्त्री के नाम से जेनी कहा। बाद में उसने ऐसी जेनी बनाई जो १०० धागे एक साथ निकाल सकती थी। १७६६ में आर्कराइट नामक नाई ने कातने का नया यन्त्र बनवाया जिसमें बेलनों के बीच से रेशे निकलते और घूमते तकुओं द्वारा काते जाते थे। यह बेलन-ढाँचा (रोलिंग फ्रेम) पनचक्की से चलता था, इसलिए इसे पनचरखा (वाटरफ्रेम) कहा गया।

१७७९ ई० में क्रौम्पटन ने जेनी और पनचरखे को मिला कर नया यन्त्र बनाया जिसे उसने मिश्रित होने के कारण खच्चर (म्यूल) कहा। इन ईजादों से इंग्लैड में इतना सूत कतने लगा कि उसे हाथ के करघे पूरा बुन न पाते थे। उस दशा में १७८५ ई० में कार्टराइट ने शक्ति-करघा (पावर-लूम) निकाला जो पहले घोड़ों से चलाया जाता था, पर १७८९ ई० से भाप की शक्ति से चलने लगा। इसी अरसे में बेलने धुनने रँगने छापने आदि के भी नये यन्त्र और तरीके निकल रहे थे। इनके कारण १८वीं सदी के अन्त तक इंग्लिस्तान में कपड़े का नया व्यवसाय उठ खड़ा हुआ। पलाशी के बाद से भारत की लूट की जो पूँजी ब्रितानिया पहुँच रही थी, उससे इन ईजादों के उपयोग के लिए कारखाने खड़े करने में बड़ी सहायता मिली। जिन लोगों को आसानी से या मुफ्त का धन मिला होता है प्रायः वही उसे नये तजरबों के लिए खुले हाथ खर्च करने को तैयार होते हैं।

किन्तु इन ईजादों और इस सहायता के बावजूद इंग्लिस्तान का यह व्यवसाय भारत के अढ़ाई हजार वर्ष पुराने व्यवसाय का मुकाबला न कर सकता था। इस दशा में इंग्लिस्तान ने अपनी नई राजनीतिक शक्ति से लाभ उठाया। हम देख चुके हैं कि पलाशी के बाद बंगाल-बिहार के जुलाहों पर कैसे जुल्म ढाये गये तथा रेशमी कपड़ा बुनने का काम कैसे जबरदस्ती रोका गया [९, ६§६]। सन् १७९३ में मांचेस्टर और ग्लास्गो के नये व्यवसायियों ने पार्लिमेंट द्वारा यह कोशिश की कि भारत से कुल कपड़े का आयात बन्द किया जाय तथा कातने बुनने के नये यन्त्र भारत में न जाने पायँ। किन्तु भारत में इन यन्त्रों का अनुकरण करने का होश ही किसे था? और यदि होता तो क्या भारत के बड़े भाग में, जो तब तक मराठों और सिक्खों के अधीन था, अंग्रेज उन यन्त्रों का खड़ा होना रोक सकते थे?

कपड़े के शिल्प के साथ साथ धातु-शिल्प में तथा प्रकृति की शक्तियों से काम लेने के तरीकों में युरोप वाले जो उन्नति कर रहे थे, वह भी उल्लेखनीय है।

भाप की शक्ति से काम लेने का विचार बहुत पुराना था। सन् १६०१ में पोर्ता नामक इतालवी ने एक भद्दा सा भाप-एंजिन बना डाला था। १६२०

ई० में एक और इतालवी ब्रांका ने उसमें उन्नति की। सत्रहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में कई अंग्रेजों ने उसमें और उन्नति की। अन्त में १७१२ ई० में न्यूकोमन नामक अंग्रेज़ ने ऐसा भाप-एंजिन बना दिखाया जो खानों के भीतर से पानी उठाने वाले पिचकारों (पम्पों) को बखूबी चला सकता था।

लोहे की धातु से लोहा निकालने की भट्टियों में पनचक्की द्वारा हथौड़े और धौंकनियाँ चलाने का तरीका जर्मनी में १७वीं सदी में ही जारी हो गया था। इंग्लिस्तान में तब खानों से पत्थर-कोयला भी निकाला जाता था। १७०९ ई० में डार्बी नामक अंग्रेज़ और उसके बेटे ने जले हुए पत्थर-कोयले के 'कोक' के साथ जला कर लोहा साफ कर दिखाया। छोटे डार्बी ने अपनी भट्ठी में न्यूकोमन एंजिन का प्रयोग किया। इसके बाद १७६० ई० में स्मीटन नामक अंग्रेज ने चमड़े की धौंकनी के बजाय चार बेलनों वाला हवा का पिचकारा ईजाद किया, और १७६९ ई० में जेम्स वाट ने नया भाप-एंजिन बना दिखाया।

प्रायः इसी काल में गाल्वानी और वोल्ता नामक इतालवी बिजली की शक्ति पर परीक्षण कर रहे थे।

आवाजाही के साधनों में भी उन्नति की जा रही थी। खानों से बन्दरगाहों तक कोयला-गाड़ियों को खींचने के लिए तख्तों से मढ़ी सड़कें इंग्लिस्तान में १७वीं शताब्दी में ही बन चुकी थीं। सन् १७७६ में उनके किनारे पर लोहे की पटरी (रेल) गाड़ देने का तरीका निकला। तब से एंजिनों से गाड़ी खींचने की बात लोग सोचने लगे। १७८१ ई० में जेम्स वाट ने ऐसा तरीका निकाला जिससे एंजिन के नल के भीतर चकिया (पिस्टन) की गति, जो ऊपर नीचे ही होती थी, चक्करदार भी हो सके। इससे अनेक यन्त्रों का एंजिन से चलना सम्भव हो गया।

१७८४ ई० में कोर्ट ने लोहा कमाने की नई प्रक्रियाएँ निकालीं, और दस बरस बाद मौडस्ले ने नई खराद निकाली जिससे यन्त्रों के औज़ार ठिकाई से बनने लगे। १८०० ई० में अकेले इंग्लिस्तान की लोहे और कोयले की उपज दुनिया के और सब देशों के बराबर थी। भारत में भी ईस्ट इंडिया कम्पनी लोहे का माल काफी लाती थी; यहाँ तक कि मराठी कागजों में लोहे की कील के

लिए 'इंग्रज' शब्द मिलता है।

यह व्यावसायिक क्रान्ति उन्नीसवीं शताब्दी में भी जारी रही। १८३० ई० तक बहुत सी बड़ी बड़ी ईजादें पूरी हो गईं। सन् १८०० तक कपड़े और धातु-शिल्प की नई ईजादों में सम्बन्ध जुड़ गया, और चरखे और करघे सब लोहे के बनने और भाप से चलने लगे।

युरोपी लोग जब यों शिल्प-व्यवसाय के नये तरीके निकाल रहे थे, तब भारतीय अपने पुराने रास्ते पर ही चले जा रहे थे!

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. सत्रहवीं शताब्दी में भारत में राजनीतिक पुनरुत्थान हुआ, यह किन बातों से सूचित होता है? उस पुनरुत्थान का प्रभाव किन प्रान्तों में दिखाई दिया, किनमें नहीं?

२. मराठों का शासन लूटमार का था यह विचार कैसे फैला? मराठों के शासन में देश की आर्थिक दशा कैसी थी, प्रमाण-सहित बताइए।

३. मुगल-मराठा युग में भारतीय कारीगर किस प्रकार महाजनों के नियन्त्रण में थे? सातवाहन-गुप्त युगों में उनकी दशा से इस युग की दशा में क्या भेद था?

४. मस्तानी कौन थी? उसके चरित्र से क्या सूचित होता है?

५. मुगल-मराठा युग के इतिहास में प्रसिद्ध महाराष्ट्र और बुन्देलखंड की कुछ स्त्रियों का परिचय दीजिए।

६. सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक के पुनरुत्थान में भारतीयों के ज्ञान-चक्षु मुँदे रहे यह कैसे सूचित होता है?

७. रामचन्द्र बावडेकर और पृथ्वीनारायण की अंग्रेज़ों के प्रति नीति क्या थी? उसके गुण-दोष बताइए।

८. महादजी शिन्दे ने जिस प्रकार युरोपी युद्धशैली अपनाने का यत्न किया उसमें क्या त्रुटि थी?

९. रघुनाथ हरि नवलकर कौन था? भारतीय इतिहास में उसके चरित्र का क्या महत्त्व है?

१०. व्यावसायिक क्रान्ति का क्या अर्थ है? वह पहलेपहल कब कैसे कहाँ हुई?

११. अठारहवीं शताब्दी में अंग्रेज़ों ने भारत के वस्त्र-व्यवसाय के मुकाबले से अपने देश के वस्त्र-व्यवसाय को किन राजनीतिक उपायों से बचाया?

१०. अंग्रेज़ी राज पर्व

(१७९९—१९४७ ई०)

अध्याय १

अंग्रेज़ों का मुगल-मराठा साम्राज्य जीतना

(१७९९—१८२६ ई०)

§१. भारतीय राज्यों का परस्पर सहयोग और नई सेनाएँ— हमने देखा है कि हैदराबाद और मैसूर सन् १७९८-९९ में अंग्रेज़ी आधिपत्य में आ गये थे। वह किन दशाओं में हुआ सो देखना है।

अहमदशाह अब्दाली की मृत्यु १७७३ में हुई थी। उसके बेटे तैमूरशाह ने २० वर्ष राज किया। तैमूर ने सिक्खों से मुलतान वापिस ले लिया था; सिन्ध और कश्मीर अब्दालियों के अधीन थे ही [९,१०§७; ९,९§३]। सन् १७९३ में तैमूरशाह की मृत्यु हुई और उसका बेटा ज़मानशाह गद्दी पर बैठा। हमने देखा है कि उसके पहले वर्ष महादजी शिन्दे दिल्ली से विशेष सन्देश ले कर पूना गया था। भारत की सब मुख्य शक्तियों के सहयोग से अंग्रेज़ों को भारत से निकालने का माधवराव पेशवा का विचार उस वक्त पुनर्जीवित हो कर भारत के प्रमुख राजनेताओं को प्रेरित कर रहा था [९,९§९; ९,१०§१०]। शिन्दे और ज़मानशाह ने प्रकटतः इसी विचार से इस वक्त एक दूसरे के पास दूत भेजे। यों अब मराठे और पठान परस्पर सहयोग की बात सोच रहे थे। रुहेलखंड के सरदार गुलाम मुहम्मद ने स्वयं काबुल जा कर और अवध के नवाब आसफुद्दौला ने सन्देश भेज कर ज़मानशाह से प्रार्थना की कि भारत पर चढ़ाई कर उन्हें अंग्रेज़ों से छुटकारा दिलावें। टीपू ने भी अपने दूत या सन्देशहर

ज़मान के पास भेजें† । इस प्रकार ज़मानशाह की चढ़ाई की अफवाह फैल गई जिससे उत्तर भारत में हलचल मच गई । उस दशा में अंग्रेज़ गवर्नर-जनरल सर जान शोर ने अवध राज्य का कुछ अंश अपने सीधे शासन में ले कर उसकी सीमा पर अनूपशहर में छावनी डाल दी (१७९८ ई०) ।

टीपू उधर फ्रांस से भी सहयोग और सहायता माँग रहा था । हम देख चुके हैं कि भारत में फ्रांसीसियों की विफलता का कारण था उनके अपने देश का शासन सुशृंखल न होना । सन् १७९३ में फ्रांस में राज्यक्रान्ति हुई और फ्रांस के लोगों ने अपने स्वेच्छाचारी राजा को फाँसी दे कर सब फ्रांसीसियों की स्वाधीनता और समानता की घोषणा की । युरोप के कई राज्यों ने मिल कर तब फ्रांस के उस शिशु गणराज्य को कुचलना चाहा । अकेले फ्रांस ने उन सब को हरा दिया । समुद्र पार अपना साम्राज्य बनाने में फ्रांस जो पिछड़ गया था, फ्रांसीसी गणराज्य ने अब अपनी शक्ति देख कर उस कमी को पूरा करना चाहा । फ्रांसीसी राष्ट्र-समिति ने अपने युवक सेनापति नैपोलियन बोनापार्त को मिस्र पर चढ़ाई करने भेजा (मई १७९८ ई०) । मोरक्को से मिस्र तक समूचा उत्तरी अफरीका तब कुस्तुन्तुनिया के तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत था । नैपोलियन ने उसकी सेना को आसानी से हरा दिया । मिस्र से नैपोलियन की सेना भारतीय समुद्र की तरफ बढ़ सकती और भारतीय राज्यों में जो अनेक फ्रांसीसी सेनानायक थे उनका सहयोग पा सकती थी । नेल्सन नामक अंग्रेज़ नाविक ने नील नदी के मुहाने में फ्रांसीसी बेड़े को जला दिया । तो भी जब तक फ्रांसीसी सेना मिस्र में बनी थी तब तक अंग्रेज़ों को चैन न था ।

जिन भारतीय राजाओं ने फ्रांसीसी अफसर रख कर नये ढंग की सेना खड़ी की थी, उनमें शिन्दे प्रमुख था । होळकर और निज़ाम ने भी उसका अनुसरण किया था । इन सेनाओं से साधारण दशा में अंग्रेज़ों को कोई डर

---

† शिन्दे और अन्य भारतीय राज्यों के ज़मानशाह से यों संपर्क करने की बात जोसफ डेवी कनिंघम ने अपने "सिक्खों का इतिहास" (लंडन, १८४९, पृ० २८०) में बहावलपुर राज्य के कागज़ों के आधार पर दी है । टीपू की बात एल्फिस्टन ने लिखी है । आसफुद्दौला भी अंग्रेज़ों के विरुद्ध था इसकी तब अंग्रेज़ों ने कल्पना भी न की थी ।

न होता। प्रत्युत जब महादजी शिन्दे ने पहलेपहल युरोपी ढंग की सेना तैयार करनी शुरू की तब वारन हेस्टिंग्स ने कहा था कि वही मराठों के पतन का कारण होगी। बात स्पष्ट थी। इन सेनाओं को नये ढंग की कवायद तो सिखाई जाती थी, पर इनका संघटन पुराना जागीरदार प्रणाली वाला ही था। सैनिकों की भरती सेनापतियों के हाथों में सौंप दी जाती और उनके खर्च के लिए उन्हें बड़ी बड़ी जागीरें दे दी जातीं थीं। दूसरे, इस नई युद्ध-कला को भारतीयों ने स्वयं हृदयंगत नहीं किया कि वे स्वयं अपनी सेना का संचालन कर सकें। इस काम में वे युरोपी अफसरों पर ही निर्भर रहते, जो उनकी डामर-शासन-प्रणाली के अनुसार अब राज्य के बड़े बड़े इलाकों के शासक भी हो गये थे। ये विदेशी जागीरदार यदि कभी विश्वासघात करें तो भारतीय राज्यों का सेना-यन्त्र और शासन-यन्त्र ठप्प हो सकता था। इसी से सर टामस मुनरो ने उन सेनाओं के विषय में कहा था कि उन्हें एक सी वर्दी पहना कर कवायद क्या कराई जाती है, मानो सजा कर कुर्बानी के लिए ले जाया जाता है! तो भी जब नैपोलियन मिस्र में था, तब भारत में फ्रांसीसी अफसरों के अधीन बड़ी बड़ी सेनाओं का होना अंग्रेजों के लिए खतरनाक था।

§ २. **हैदराबाद मैसूर पर अंग्रेज़ी आधिपत्य**—इस अवसर पर मौर्निंगटन ब्रितानवी भारत का मुख्य शासक बना कर भेजा गया। पीछे उसे लौर्ड वेल्ज़ली नाम मिला। हम सुविधा के लिए उसे पहले से ही वेल्ज़ली कहेंगे। भारत में फ्रांसीसी सेनाओं को तोड़ देना उसका मुख्य ध्येय था। उसने पहला लक्ष्य निज़ामअली को बनाया। हैदराबाद में किर्कपैट्रिक और मालकम नामक अंग्रेज़ दूतों ने बड़ी दक्षता से निज़ामअली के वज़ीर से रेमों की सेना की छोटी छोटी टुकड़ियाँ विसर्जित करवा दीं। उधर मद्रास से अंग्रेज़ी सेना चुपचाप हैदराबाद की सीमा पर आ गई। तब निज़ामअली से एकाएक कहा गया कि बची-खुची फ्रांसीसी सेना को तोड़ दो और उसके बदले अवध के नवाब की तरह अंग्रेज़ों की "आश्रित" सेना अपने राज्य में अपने खर्च पर रख लो। निज़ामअली और उसका वज़ीर यह सुन कर हक्के-बक्के रह गये, पर उन्हें मानना पड़ा (१-६-१७६८)।

हैदराबाद के काबू आते ही वेल्ज़ली ने टीपू के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी। उसके भाई आर्थर वेल्ज़ली और जनरल हैरिस ने पूरबी घाटों से तथा मुम्बई की सेना ने पच्छिमी घाटों से मैसूर राज्य में प्रवेश किया। मलवल्ली पर हैरिस ने टीपू को हराया और फिर उसे श्रीरंगपट्टम् में घेर लिया। आगे क्या हुआ सो कहा जा चुका है।

मैसूर युद्ध के अवसर पर वेल्ज़ली को बराबर डर बना हुआ था कि कहीं शिन्दे टीपू की सहायता न करे। महादजी शिन्दे के पूना आने के काल से ही अंग्रेज़ सशंक थे, क्योंकि वे जानते थे कि किस उद्देश्य और योजना को ले कर वह दिल्ली से पूना गया था। तब से शिन्दे का पूने में रहना ही उन्हें अखरता था। यद्यपि महादजी और सवाई माधवराव पेशवा की मृत्यु के बाद दौलतराव शिन्दे और बाजीराव २य ने जैसी करतूतें शुरू कर दी थीं उनसे महादजी का उद्देश्य और योजना सब नष्ट हो गई थी, तो भी वेल्ज़ली ने कोलब्रुक नामक दूत को नागपुर भेजा कि वह बराड के राजा को टीपू और शिन्दे के विरुद्ध भड़का कर निज़ामअली और अंग्रेज़ों के गुट्ट में मिला दे। वास्तव में यदि महाराष्ट्र के अब कोई योग्य नेता होते और महादजी वाली योजना उनके सामने होती तो हैदराबाद और मैसूर पर अंग्रेज़ों की चढ़ाई होते ही उन्हें तुरन्त दखल देना और टीपू की सहायता को जाना चाहिए था।

उधर नैपोलियन सन् १७९९ तक मिस्र से फ्रांस पहुँच कर फ्रांस का अधिनायक बन गया था। सन् १८०० में अंग्रेजों ने एक भारतीय सेना मिस्र भेजी। लाल सागर से उतर कर वह भूमध्य सागर तक पहुँची, पर उससे पहले फ्रांसीसी सेना आत्म-समर्पण कर लौट चुकी थी।

§ ३. ज़मानशाह की चढ़ाई—ज़मानशाह १७९६ ई० के अन्त में लाहौर तक आया था; किन्तु पीछे अपने भाई महमूद की करतूतों के कारण उसे शीघ्र लौटना पड़ा था। उसकी रोकथाम के लिए वेल्ज़ली ने अब ईरान को अफगानिस्तान के विरुद्ध उभाड़ने की नीति पकड़ी। मुम्बई से अंग्रेजों का एक भारतीय मुस्लिम कारिन्दा बुशहर भेजा गया। उसने यह कह कर ईरान के शाह को उकसाया कि सुन्नी अफगानों ने लाहौर में शियों पर बड़े ज़ुल्म किये हैं।

सन् १७९८ के अन्त में ज़मान फिर लाहौर आया। इस बार महमूद को ईरान से मदद मिल गई। जिस चड़तसिंह ने गुजराँवाले में पहलेपहल आबिदखाँ का मुकाबला किया था [९,९§३] उसके पोते रणजीतसिंह को लाहौर का राजा नियुक्त कर ज़मानशाह लौट गया। इसके बाद वेल्ज़ली ने मालकम को ईरान भेजा। उसे यह आदेश था कि ज़मानशाह की शक्ति की ठीक टोह लगाओ और उसके निर्वासित भाइयों से मेलजोल पैदा करो।

भारतवर्ष में जो लोग ज़मानशाह की चढ़ाई से आशाएँ लगाये या घबड़ाये हुए थे, उनमें से कोई भी सिक्खों की शक्ति को पहचान न पाया था। यदि ज़मान को पीछे की चिन्ता न भी होती तो भी अब वह पंजाब को लाँघ कर ठेठ हिन्दुस्तान तक न पहुँच सकता था। उसके लौट जाने पर वेल्ज़ली का ध्यान सिक्खों की तरफ गया और शिन्दे के दरबार के अंग्रेज़ कारबारी (एजंट) ने एक गुप्त कारिन्दा सिक्ख सरदारों के पास भेजा।

§४. तमिळनाड और पंचाल दखल—यों अढ़ाई साल के भीतर लौर्ड वेल्ज़ली ने अफगानों और फ्रांसीसियों के आतंक को दूर कर अंग्रेज़ों को भारत की प्रमुख शक्ति बना दिया। इसके बाद उसने जीर्ण राज्यों को मिटा कर अंग्रेज़ी इलाके को बढ़ाना शुरू किया। सन् १७९९ में तांजोर के राजा को पेंशन दे कर उसका इलाका ले लिया। सूरत का गढ़ एक नवाब के हाथ में था जो अंग्रेज़ों का रक्षित था। उसे भी अब पेंशन दे कर अलग किया। निज़ाम ने दो मैसूर युद्धों में तुंगभद्रा के दक्खिन के जो जिले पाये थे, वे उसने अंग्रेजी सेना के खर्चे की रकम के बदले में दे दिये। आरकाट का बूढ़ा नवाब मुहम्मद-अली १७९५ ई० में मर चुका था। सन् १८०१ में उसका राज्य वेल्ज़ली ने दखल कर लिया। मुहम्मदअली के गोरे उत्तमर्णों ने तब २० करोड़ रुपये के नये कर्जों का दावा पेश किया। इन दावों की जाँच की गई, और १ करोड़ ३४ लाख के सिवाय सब फर्जी निकले। इसी साल लौर्ड वेल्ज़ली ने अवध के नवाब की अंग्रेज़ी सेना की "सहायता" की रकम बढ़ा दी और उससे रुहेलखंड और फरुखाबाद अर्थात् उत्तर और दक्खिन पंचाल तथा इलाहाबाद प्रदेश ले कर उनका शासन अपने भाई हैन्री वेल्ज़ली को सौंप दिया।

§५. गायकवाड और पेशवा का अंग्रेज़ों का आश्रित बनना—वेल्ज़ली ने मराठा संघ के भीतर भेद-नीति का जो बीज बोया था, वह भी अब फल लाने लगा। सन् १८०० में गोविन्दराव गायकवाड के मरने पर उसका बेटा आनन्दराव बड़ोदे की गद्दी पर बैठा। वह कमज़ोर दिमाग का था। अपने राज्य में अपनी रक्षा के लिए उसने अंग्रेज़ी सेना बुला कर रख ली (मार्च १८०२)।

पेशवा शिन्दे और भोंसले के दरबारों के अंग्रेज़ दूत भी उन्हें एक दूसरे का डर दिखा कर अंग्रेज़ी सेना रख लेने को बराबर उकसा रहे थे। नागपुर में जो अंग्रेज़ दूत कोलब्रुक भेजा गया था वह भोंसले राजा को तो न फोड़ सका, पर नागपुर में शरणागत यशवन्तराव होळकर को उभाड़ने में सफल हुआ।

इधर स्वयं पेशवा बाजीराव २य भी अंग्रेज़ों की "आश्रित" सेना रखने पर राज़ी हो गया, किन्तु इस शर्त पर कि वह कम्पनी के ही इलाके में रहेगी और पेशवा जब चाहे उसे बुला सकेगा। "वह आसन्न विनाश को देखे बिना इससे अधिक मानने वाला न था"। वह विनाश भी शीघ्र उपस्थित कर दिया गया! यशवन्तराव होळकर के भाई बिठोजी ने कोल्हापुर में शरण ले कर उपद्रव किया। उसने यशवन्तराव के कहने पर पेशवा से अनुरोध किया कि शिन्दे और होळकर वंशों में होते झगड़े में बीचबिचाव करा दें। पर पेशवा ने बिठोजी को पकड़वा कर क्रूरतापूर्वक मरवा दिया। यशवन्तराव होळकर ने तब पूने पर चढ़ाई की। दौलतराव शिन्दे उत्तर भारत जा चुका था। यशवन्तराव ने उसकी बची-खुची सेना और पेशवा की सेना को हरा दिया। पेशवा तब पूना छोड़ कर भागा—शिन्दे की नहीं, अंग्रेजों की शरण में! बसई पहुँच कर उसने अपने इलाके में "आश्रित" सेना रखने की सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये (३१-१२-१८०२)।

अपनी पराधीनता का वह पट्टा लिख देने के बाद पेशवा पछताने लगा, और फिर अपने सरदारों से सुलह की सोचने लगा। उसके, होळकर के और शिन्दे के दूत नागपुर के बूढ़े राजा रघुजी २य के पास इस अभिप्राय से पहुँचे

कि वह सब के बीच तसफिया करा दे। शिन्दे और होळकर का नागपुर के भोंसले राजा से मिलना तय हुआ। इससे पहले कि वे मिल पायँ, आर्थर वेल्ज़ली सेना के साथ मैसूर से बढ़ा। यशवन्तराव पूने से भाग गया और २० अप्रैल १८०३ को वेल्ज़ली वहाँ पहुँच गया। दूसरे दिन उसने लिखा, "मराठा संघ के सरदारों ने ... हमें यहाँ आराम से आने दिया और छावनी डालने दी है। अब हमारी सेना यहाँ ऐसी जम कर बैठी है कि कोई हमें उखाड़ नहीं सकता। उधर अभी वे आपस में सुलह नहीं कर सके, हमपर आक्रमण की सम्मिलित योजना की बात दूर!"

§ ६. **दूसरा अंग्रेज़-मराठा युद्ध**—होळकर से पिट कर बाजीराव अंग्रेज़ों की शरण गया था। उसने चाहा कि अंग्रेज अब होळकर को सजा दें। किन्तु होळकर अंग्रेज़ों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ था। उसे अब भी वे मीठी बातों से बहलाते रहे, जिससे वह अगले युद्ध से अलग रहे।

पेशवा ने शिन्दे और भोंसले को परामर्श के लिए पूना आने को कहा। लेकिन अंग्रेज़ों ने उन्हें हुक्म दिया कि पेशवा के इलाके में मत घुसो। वे दोनों तब अजिंठा घाट पर रुक गये। पर अंग्रेज़ों को उनसे युद्ध करना ही था। उनका विशेष लक्ष्य था शिन्दे का तोपखाना और युद्ध का सामान छीन लेना या नष्ट कर देना, उसकी पैदल सेनाओं को तोड़ देना, और दिल्ली-आगरा की पेरों की उस "फ्रांसीसी रियासत" को दखल कर लेना जो जमना से सतलज की तरफ बढ़ रही थी और सिन्ध के रास्ते समुद्र तक पहुँच सकती थी। मराठा राजाओं को उन्होंने फिर आदेश दिया कि अजिंठा घाट से भी पीछे हट जाओ और एक दूसरे से अलग हो जाओ। राजाओं के इससे इनकार करने पर सब तरफ से उनके राज्यों पर चढ़ाई की गई।

पूने से आर्थर वेल्ज़ली और हैदराबाद से स्टीवन्सन बराड की ओर बढ़ा। कानपुर से सेनापति लेक ने तीसरी सेना के साथ ब्रज पर चढ़ाई की। चौथी सेना गंजाम से उड़ीसा में घुसी, जिसकी मदद को एक टुकड़ी कलकत्ते से समुद्र के रास्ते भी आई। पाँचवीं सेना गायकवाड के प्रदेश से शिन्दे के गुजराती गढ़ों और इलाकों को लेने बढ़ी। छठी सेना मैसूर की सीमा पर तैनात

रक्खी गई जिससे पेशवा और दक्खिनी महाराष्ट्र के सरदार सिर न उठा पायँ। लेक के दूत शिन्दे के जागीरदारों राजपूत राजाओं गूजर और सिक्ख सरदारों तथा युरोपी अफसरों को भी फोड़ रहे थे।

अहमदनगर का गढ़ दक्खिन में शिन्दे का वतन था। उसे ले कर वेल्ज़ली औरंगाबाद की ओर बढ़ा। उधर लेक ने अलीगढ़ के पास कोयल का गढ़ ले लिया (२९-८-१८०३)। शिन्दे के कई युरोपी अफसर तब अंग्रेज़ों से जा मिले। उसी दिन गुजरात में भरुच का गढ़ लिया गया था। एक हफ्ते बाद शिन्दे के एक अंग्रेज़ नौकर के विश्वासघात से अलीगढ़ भी लिया गया। तब पेरों ने शिन्दे की सेवा छोड़ दी। अंग्रेज़ों के इलाके पर चढ़ाई करना तो दूर, वह इन दोनों लड़ाइयों में स्वयं उपस्थित भी न रहा था। शिन्दे के युरोपी अफसरों ने सभी जगह धोखा दिया।



लौर्ड लेक
दिल्ली में अंकित समकालीन चित्र
[दिल्ली संग्र०, भा० पु० वि०]

अलीगढ़ के बाद लेक ने दिल्ली पर चढ़ाई की, और जमना के इस

पार एक फ्रांसीसी अफसर को हरा कर दिल्ली का लाल किला ले लिया। वहाँ मुगल सम्राट् शाह आलम को रक्षा में ले कर और औक्टरलोनी को रेज़िडेंट नियुक्त कर वह आगरे की ओर बढ़ा।

उधर वेल्ज़ली के मुकाबले को एक पैदल सेना और तोपखाना रख कर शिन्दे और भोंसले रिसाले के साथ हैदराबाद या पूने के इलाकों पर छापा मारने की घात में रहे। बराड की सीमा पर असई गाँव में मराठा पैदल सेना और अंग्रेज़ी सेना का सामना हुआ (२३-९-१८०३)। राजा लोग वहाँ नहीं थे। मराठा सेना के अफसरों ने फिर धोखा दिया। इस हार से मराठा पदाति-सेना और तोपखाने की रीढ़ टूट गई।

अगले मास में आगरे के किले ने समर्पण किया। इधर दो महीने में उड़ीसा का तट-प्रदेश—पुरी कटक आदि—जीत लिया गया था। उड़िया जनता तमाशबीन बनी रही; भोंसले की सेना ने वहाँ ढीला सा मुकाबला किया।

पेशवा ने एक नई सन्धि द्वारा बुन्देलखंड का प्रदेश अंग्रेज़ों को दे दिया था। पर वहाँ के शासक शमशेरबहादुर और कुछ सरदारों से अंग्रेज़ों को लड़ना पड़ा। अक्तूबर तक कर्नल पावेल ने बुन्देलखंड ले लिया।

असई की हार के बाद शिन्दे ने पैदल सेना उत्तर भारत भेज दी, और दोनों राजा फिर छापे मारने की ताक में रहे। असई और दिल्ली की बची-खुची नेतृहीन सेना तोपखाने के साथ निरुद्देश घूमती थी कि लेक ने उसका पीछा किया। मथुरा और अलवर के बीच लासवाड़ी पर १ नवम्बर को लड़ाई हुई जिसमें शिन्दे के सैनिक "दैत्यों की तरह, या सच कहें तो वीरों की तरह लड़े। यदि फ्रांसीसी अफसर उनका संचालन करते होते तो न जाने क्या परिणाम होता?" अलीगढ़ दिल्ली असई और लासवाड़ी की हारों से शिन्दे की पैदल सेना और तोपखाना कुचले गये।

उधर असई के बाद स्टीवन्सन ने बुरहानपुर और असीरगढ़ का घेरा डाला और वेल्ज़ली राजाओं की रोकथाम करता रहा। असीरगढ़ में शिन्दे के १६ युरोपी अफसर गढ़ सौंप कर शत्रु से जा मिले। वेल्ज़ली को मराठा रिसाले का पीछा करना असम्भव और खतरनाक दीखा। इसलिए उसने शिन्दे से युद्ध-

विराम की सन्धि कर ली, और उसे सन्धि के धोखे में रख कर इलिचपुर के पास उसपर एकाएक हमला कर दिया। आरगाँव की इस लड़ाई में शिन्दे की फिर हार हुई (२६-११-१८०३)। तब अंग्रेज़ों ने गवीलगढ़ ले लिया, जिसके बाद राजाओं ने अलग अलग सन्धियाँ कीं (दिसम्बर १८०३)। अंग्रेज़ों ने जो प्रदेश जीत लिये थे, वे उन्हीं के पास रहे। भोंसले ने बराड भी निज़ाम को सौंपा। दोनों राजाओं ने माना कि अंग्रेज़ों के सिवाय और किसी युरोपी को अपनी सेवा में न रक्खेंगे। फ़रवरी १८०४ में शिन्दे ने होळकर के डर से अंग्रेज़ों से "आश्रित" सन्धि भी कर ली। उसके बाद लौर्ड वेल्ज़ली ने उससे ग्वालियर और गोहद के जिले भी ले लिये।

§७. **यशवन्तराव होळकर**—यशवन्तराव होळकर को जो आशाएँ दिलाई गई थीं उनके आधार पर उसने बुन्देलखंड दोआब और हरियाना (कुरुक्षेत्र बांगर) के अनेक जिले, जो पहले होळकर वंश के रह चुके थे, लौर्ड लेक से माँगे। तब उसकी आशाओं पर पानी फिरा और उसने अंग्रेजों का असल रूप पहचान लिया। उसने यह भी देखा कि उसने अपनी सेना में जो अंग्रेज़ अफसर रक्खे थे वे कम्पनी से षड्यन्त्र कर रहे हैं। इसपर उसने तीन षड्यन्त्रकारी अंग्रेज़ नौकरों को पकड़ कर फाँसी चढ़वा दिया।

यशवन्तराव ने मराठा राजपूत जाट रुहेले सिक्ख अफ़गान आदि भारत के सभी लोगों के नेताओं को अपने द्वेष भूल कर और एक दूसरे को क्षमा कर भारत की स्वाधीनता के लिए लड़ने को पुकारा। उसने मराठा शैली से लड़ने का निश्चय कर पूरबी राजस्थान में मोर्चा लिया जहाँ से वह दोआब दक्खिन और गुजरात—अंग्रेजी शक्ति के तीनों केन्द्रों—पर चौकसी रख सके।

लौर्ड वेल्ज़ली ने आर्थर वेल्ज़ली को दक्खिन से और लेक को दोआब से उसके विरुद्ध बढ़ने को कहा। पर वे दोनों हिचकिचाने लगे। वेल्ज़ली ने कहा मेरी सेना ताप्ती के उत्तर निकल जाय तो महाराष्ट्र में ५० होळकर उठ खड़े होंगे। लेक ने कहा, "मैं इस लुटेरे की तरफ़ बढ़ूँ तो यह खिसक कर दोआब आ निकलेगा जहाँ रुहेले इसका साथ देने को आतुर हो रहे हैं।" वास्तव में रुहेले अंग्रेज़ों द्वारा अपनी स्वतन्त्रता हर लिये जाने और बार बार लाञ्छित

किये जाने के कारण अब बहुत बेचैन थे। मल्हार होळकर के काल से होळकर वंश के साथ उनके नेताओं का जैसा सम्बन्ध रहा था [६,८§१४; ६,६§६] उसकी याद से तथा यशवन्तराव के युद्ध का निश्चय करने से उनपर उसकी पुकार का गहरा असर पड़ा था और वे उत्कण्ठित हो उसके आने की राह देख रहे थे।

युरोप की नई युद्धशैली का मैदान में मुकाबला मराठा शैली न कर सकती थी, पर जमे हुए शत्रु के पैर उखाड़ने के लिए, जहाँ जनता का सहयोग मिल सके वहाँ मराठा शैली अब भी अत्यन्त प्रभावकारी थी।

सन् १८०४ के वसन्त में लेक ने मौनसन के नेतृत्व में अपनी श्रेष्ठ सेना जयपुर की तरफ से रवाना की और आर्थर वेल्ज़ली ने कर्नल मरे को गुजरात से बढ़ाया। वे दोनों सेनाएँ मालवे में शिन्दे की सेना के साथ मिल कर यशवन्तराव को कुचलने को थीं। कर्नल वालेस के नेतृत्व में एक और सेना पूने से मालवे की दक्खिनी सीमा पर चौकसी को आ गई।

यशवन्त जयपुर में था। वह अपने को डरा दिखा कर मालवे के उत्तरी छोर तक जहाँ की जनता का पूरा सहयोग उसे प्राप्त था, हट आया। मौनसन उसके फन्दे में फँस आगे बढ़ता आया। जयपुर के राजा को उसने अपनी तरफ मिला लिया और जयपुर और बूँदी के बीच टोंक-रामपुरा का गढ़ ले कर होळकर के पीछे पीछे बढ़ा। उधर से मरे मही काँठे से बाँसवाड़ा प्रतापगढ़ राज्यों की सहायता से इन्दौर की तरफ बढ़ रहा था। मालवे में शिन्दे के सेनापति बापू शिन्दे और जीन फिलोस ने होळकर के सिहोर भेलसा आदि शहर छीन लिये।

तभी बुन्देलखंड में छापेमार सवारों के एक दल ने जालौन से झाँसी के रास्ते पर कोंच की अंग्रेज़ी छावनी को एक रात आ घेरा, और कुल अफसरों और सैनिकों का सफाया कर उनकी सब तोपें छीन लीं (२१-५-१८०४)। गवर्नर-जनरल ने इस प्रकार के युद्ध में अपनी सेना के उलझने का खतरा देख मौनसन और मरे को लौटाने और युद्ध बन्द करने का आदेश दिया, पर वे दोनों सेनानायक काफी आगे बढ़ चुके थे इसलिए युद्ध बन्द न हुआ।

मौनसन कोटा के दक्खिन मुकुन्दरा का दर्रा पार कर मालवे में घुसा।

मरे भी मालवे की पच्छिमी सीमा पर आ गया था। तब यशवन्त लड़ने के लिए उठा। उसके उठते ही मौनसन और मरे दोनों उलटे पाँव भागे। यशवन्त ने मौनसन का पीछा किया। अपनी तोपों को कीलते और फेंकते, गोला-बारूद को नष्ट करते, स्त्रियों बच्चों और घायलों को उनकी किस्मत पर छोड़ते और अनेक जगह पिटते हुए जुलाई १८०४ के अन्त में वह टोंक-रामपुरा वापिस पहुँचा, जहाँ उसे लेक की भेजी कुमुक मिली। इधर बापू शिन्दे कोटा में यशवन्तराव की तरफ जा मिला। यशवन्त को मौनसन से उलझा देख मरे फिर लौटा और उसने इन्दौर बिना किसी लड़ाई के दखल कर लिया। यशवन्तराव ने उसकी चिन्ता न की।

यशवन्त को नजदीक आया देख मौनसन को नई कुमुक आ जाने पर भी टोंक-रामपुरा में मोर्चा लेने की हिम्मत न हुई। वह फिर पीछे भागा और बनास नदी के घाट पर फिर मार खा कर जयपुर राज्य में कुशलगढ़ पहुँचा, जहाँ दौलतराव शिन्दे की कुछ सेना सदाशिव भास्कर के नेतृत्व में थी। यह वह सेनापति था जिसे यशवन्तराव ने दो बरस पहले पूने में हराया था। पर सदाशिव अब अपना पुराना झगड़ा भूल यशवन्तराव से जा मिला। मौनसन की भारतीय सेना का एक अंश भी यशवन्तराव की पुकार पर उससे जा मिला। यह पहला अवसर था जब कि अंग्रेजों की भाड़ैत भारतीय सेना को अपनी ओर मिलाने का यत्न किसी भारतीय ने किया, और यशवन्त इसमें अंशतः सफल हुआ।

कुशलगढ़ में भी कुशल न देख मौनसन वहाँ से भी भागा और अगस्त के अन्त में आगरा पहुँच गया। लेक का कहना था कि उसने अपने सर्वोत्तम सेना-दल मौनसन के हाथ सौंपे थे, जो सब नष्ट हो गये।

अन्तर्वेद या ठेठ हिन्दुस्तान में इस काल अंग्रेजों के नये नये राज के विरुद्ध असन्तोष की लहर उमड़ी हुई थी। अनेक असन्तुष्ट लोग भरतपुर के राजा रणजीतसिंह के पास पहुँच रहे थे। पिछले साल के युद्ध में लेक ने उस राजा को मराठों से "स्वतन्त्र" कर दिया था। यशवन्तराव ने अब उसे अपनी ओर मिला कर मथुरा पर चढ़ाई की। अंग्रेज़ी सेना मथुरा से हट गई। दौलतराव शिन्दे तब बुरहानपुर में था। वह भी यशवन्तराव से मिलने के विचार से

युद्ध-क्षेत्र की तरफ बढ़ा।

इस दशा में लेक कानपुर से दिल्ली आया। यशवन्त ने मथुरा छोड़ दिल्ली को जा घेरा। दिल्ली को वह ओक्टरलोनी से ले न सका और दोआब में घुसा। लेक ने उसका पीछा किया और १८ दिन २३ मील रोज की चाल से दौड़ते हुए फर्रुखाबाद में उसके रिसाले को जा पकड़ा। यशवन्तराव तब जमना पार कर डीघ वापिस लौट आया और अन्त में भरतपुर गढ़ में शरण ली। लेक ने तब भरतपुर को आ घेरा (३-१-१८०५)। तीन बार उसने गढ़ पर हल्ला बोला, तीनों बार विफल।

यशवन्तराव ने जिस बहादुरी से अंग्रेज़ों का मुकाबला किया उसे देख दूसरे मराठों के भी हौसले बढ़े और वे सोचने लगे कि व्यर्थ में ही हिम्मत हार कर हमने अपना राज खो दिया। यशवन्त की पुकार पर वे अपनी खोई स्वतंत्रता को वापिस लेने की सोचने लगे। अंग्रेज़ों ने देखा भारतीय नेताओं का कोई बड़ा संघ बनने से पहले ही उनसे अलग अलग सन्धि कर लेनी चाहिए। इसलिए मार्च के अन्त में उन्होंने यशवन्तराव को गढ़ से जाने दे कर रणजीतसिंह से सन्धि कर ली।

दौलतराव शिन्दे चम्बल तक पहुँचा था कि भरतपुर का घेरा उठ गया। रणजीतसिंह के अंग्रेज़ों से सन्धि कर लेने से यशवन्तराव को व्रजभूमि छोड़नी पड़ी। चम्बल के दक्खिन व्रज और बुन्देलखंड की सीमा पर सबलगढ़ में उसकी और दौलतराव की भेंट हुई। वहाँ पेशवा और भोंसले के दूत भी आये थे। शिन्दे का दोगला अंग्रेज़ सेनापति फिलोस बराबर ऐसी ढील करता रहा था जिससे वह समय पर भरतपुर न पहुँच सके। होळकर के कहने से उसे कैद किया गया। लेक ने दोनों राजाओं पर आक्रमण करना चाहा, पर वे अजमेर की तरफ हट गये। उधर बढ़ने की लेक को हिम्मत न हुई।

मराठे अब अपनी शैली से युद्ध कर रहे थे और युद्ध की पहल उनके हाथ में आ गई थी। उसे वे चाहे जितना लम्बा कर सकते थे। उस शैली में उनसे कैसे और कब पार पाया जा सकेगा, और उस बीच भारत में नये खड़े अंग्रेजी राज पर क्या कुछ खतरे आ सकते हैं, और कितना खर्च का बोझ

लद सकता है सो अंग्रेज़ देख न पा रहे थे। इस दशा में ब्रितानवी सरकार ने लौर्ड वेल्ज़ली को वापिस बुला कर बूढ़े कौर्नवालिस को शान्ति-स्थापना के लिए फिर भारत भेजा। जुलाई १८०५ के अन्त में वह कलकत्ते पहुँचा, और नाव द्वारा उत्तर भारत के लिए रवाना हुआ। शिन्दे के दीवान मुंशी कमलनयन को जौन मालकम इससे पहले ही गद्दार बना चुका था और उसके द्वारा मराठा संघ को फोड़ने की कोशिश कर रहा था। कौर्नवालिस ने प्रस्ताव किया कि यदि शिन्दे और होळकर अलग हो जायँ तो शिन्दे को गोहद और ग्वालियर प्रदेश तथा जयपुर का आधिपत्य लौटा दिया जाय। इसपर दौलतराव शिन्दे ने यशवन्तराव का साथ छोड़ दिया। यशवन्तराव ने अजमेर से यह कह कर पंजाब की राह ली कि सिक्ख सरदारों और काबुल के शाह को साथ ले कर अंग्रेजों से लड़ूँगा।

गाज़ीपुर पहुँच कर कौर्नवालिस चल बसा (५-१०-१८०५)। तब सर जौर्ज बार्लो स्थानापन्न गवर्नर-जनरल नियुक्त हुआ। शिन्दे के साथ सन्धि हो गई, और उसे आश्रित सेना की सन्धि से भी मुक्त किया गया।

यशवन्तराव अब अमृतसर पहुँचा। लेक भी उसके पीछे पीछे ब्यासा तक चढ़ आया। अमृतसर में सिक्ख सरदारों की संगत जुटी; उनमें से कुछ मराठों से मिलना चाहते थे तो कुछ अंग्रेजों से। यशवन्तराव काबुल के शाह को बुलाने की भी बात करता था। सरदार रणजीतसिंह को पंजाब में अपना राज्य स्थापित करना था, इसलिए वह नहीं चाहता था कि पंजाब में मराठा अफ़गान और अंग्रेज सेनाएँ आयँ। उसके प्रभाव से यशवन्तराव को पंजाब में कुछ सहायता न मिली। तब वह पेशावर जाने लगा। लेकिन लेक ने उसे सन्देश भेजा कि वह शान्ति से लौट जाय तो उसके सब इलाके लौटा दिये जायँगे। इस आधार पर उसने सन्धि कर ली (दिसम्बर १८०५ ई०)।

§८. गोरखाली राज्य का कांगड़े तक पहुँचना—नेपाल के राजा-रानी के बनारस पहुँचने (२१-४-१८०१) पर [६, १० § १२] गवर्नर-जनरल वेल्ज़ली ने देखा उस पहाड़ी राज्य में अंग्रेज़ों के लिए घुसने का अच्छा अवसर हाथ आया। दामोदर पांडे ने यह इच्छा प्रकट की कि रणबहादुर को

अंग्रेज़ी सरकार नजरबन्द रक्खे। इस उपकार के बदले वह ई० इं० कम्पनी से व्यापारी सन्धि करने को तैयार था। अक्टूबर १८०१ में व्यापार और मैत्री की सन्धि लिखी गई। अप्रैल १८०२ में कप्तान नौक्स उसके अनुसार रेज़िडेंट बन काठमांडू पहुँचा। पर नेपाल के पुराने सरदार सन्धि के विरोधी थे, इस कारण १७६२ की सन्धि की तरह इस सन्धि पर भी हस्ताक्षर न हो पाये। विरोधी नेताओं में प्रमुख अमरसिंह थापा था। नेपाल सरकार ने अंग्रेज़ों का विरोध दबाने के लिए उसे कैद में डाल दिया। नौक्स ने दामोदर पांडे और उसके साथियों को घूस दे कर अपना काम कराने का जतन भी किया, पर उन लोगों ने उसकी बात अनसुनी कर दी। उन्होंने अपने जानते नेपाल के हित में सन्धि करनी चाही थी, अपने देश को निजी लाभ के लिए बेचने वाले वे नहीं थे।

बनारस रहते हुए रणबहादुर का मानसिक रोग दूर हो गया। वहाँ भीमसेन थापा नामक युवक उसका मुख्य परामर्शदाता बन गया। स्वयं भीमसेन बनारस रहते हुए कुछ मनस्वी मराठों के सम्पर्क में आया और उनसे प्रभावित हुआ था। नेपाल सरकार की अंग्रेज़ों से सन्धि करने की नीति के कारण नेपालियों में अपनी सरकार के विरुद्ध जो लोकमत खड़ा हो गया था उसका बल देखते हुए नवम्बर १८०२ में रणबहादुर या उसके मन्त्रदाताओं की प्रेरणा से रानी राजराजेश्वरी बनारस छोड़ नेपाल में घुसी। पहाड़ों के दक्खिनी छोर पर मकवानपुर* तक ही उसके पहुँचने पर नेपाल दरबार ने इस डर से कि आने वाले गृहकलह में अंग्रेज़ी सरकार का सहारा लिये बिना काम न चलेगा, सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर कर दिये, और राजराजेश्वरी को कैद करने को सेना भेजी। वह सेना राजराजेश्वरी से जा मिली। फ़रवरी १८०३ में राजराजेश्वरी ने नेपाल का शासन अपने हाथ में ले लिया। दामोदर पांडे को उसने प्रधानमन्त्री पद पर रहने दिया, पर अमरसिंह थापा को कैद से छुड़ा मन्त्रिमण्डल में ले लिया और फिर शीघ्र गढ़वाल का विजय पूरा करने को रवाना कर दिया। राजराजेश्वरी की नीति नेपाल में अंग्रेज़ों के घुसने के स्पष्ट विरुद्ध थी। मार्च

* आधुनिक नेपाल रेलवे के उत्तरी छोर आमलेखगंज के पास।

१८०३ में नौक्स को नेपाल से लौटना पड़ा।

उधर अमरसिंह थापा के नेतृत्व में नेपाली सेना ने अलमोड़े से गढ़वाल पर चढ़ाई की। अमरसिंह ने अपनी एक टुकड़ी को अलमोड़े से तिब्बत भेज उत्तर से भी गढ़वाल पर आक्रमण किया। गढ़वाल की राजधानी श्रीनगर के लिये जाने पर वहाँ का राजा प्रद्युम्नशाह नीचे सहारनपुर भाग गया। अमरसिंह ने ठेठ गढ़वाल जीतने के बाद अक्तूबर १८०३ में उसके नीचे की देहरादून वाली दून भी ले ली। इसके कुछ ही सप्ताह पहले दिल्ली जीतने वाली अंग्रेज़ी सेना की एक टुकड़ी ने उस दून के नीचे का सहारनपुर प्रदेश दखल किया था। प्रद्युम्नशाह सहारनपुर से १२ हज़ार सेना ले कर फिर देहरादून में घुसा। जनवरी १८०४ में देहरादून के पास खुरबुड़े की लड़ाई में उसके मारे जाने पर जमना और टौंस† तक गोरखाली राज्य की सीमा पहुँच गई।

जनवरी १८०४ में वेल्ज़ली ने नेपाल की सन्धि को रद्द कर रणबहादुर को छोड़ दिया। रणबहादुर के नेपाल दून के किनारे *थानकोट तक पहुँच जाने पर दामोदर पांडे ने मुकाबला करना चाहा। पर सेना रणबहादुर से जा मिली, दामोदर पकड़ा और मारा गया। रणबहादुर ने भीमसेन थापा को प्रधान मन्त्री तथा अमरसिंह के बेटे रणध्वज को उसका सहायक नियत किया।

बनारस रहते हुए भीमसेन थापा ने अंग्रेज़ों का मराठा साम्राज्य का मुख्य अंश हड़प लेना बड़ी आशंका से देखा था। अंग्रेज़ों की शक्ति देख उसकी हिम्मत पस्त नहीं हुई, प्रतिरोध की भावना ही जगी। यशवन्तराव के युद्ध से उसे विशेष प्रोत्साहन मिला था। अंग्रेज़ों या फ्रांसीसियों का नये ढंग का सेना-संघटन भी उसने देखा और काठमांडू आ कर वहाँ एक कोट बनाया

---

† जमना में उत्तरपच्छिम से मिलने वाली नदी। एक दूसरी टौंस प्रयाग और मिर्जापुर के बीच गंगा में दक्खिन से मिलती है, तथा एक तीसरी अयोध्या से दक्खिन-पूरब आजमगढ़ के बीच से बहती हुई बलिया के पास गंगा में मिलती है। तीनों का संस्कृत नाम भी एक ही है—तमसा।

* रक्सौल आमलेखगंज की तरफ से नेपाल दून में घुसने पर थानकोट नेपाल मैदान के किनारे पर पड़ता है।

जिसे उसने 'कम्पू' (कैम्प) नाम दिया। वहाँ सेना के इकट्ठी हो कर कवायद करने और वहीं उसकी बन्दूकें रखने की पद्धति उसने चलाई। गोरखालियों ने यह नये ढंग की कवायद बहुत जल्द सीख ली।

गोरखालियों के जमना तक पहुँच जाने पर जमना के उस पार का सरमौर राज्य जिसकी राजधानी नाहन थी, उनका पड़ोसी बन गया। जमना से सतलज तक हिमाचल प्रदेश में 'बारह ठकुराई' अर्थात् १२ मुख्य राज्यों के ठिकाने तथा अनेक छोटे छोटे ठिकाने थे। सरमौर की प्रजा ने अपने राजा से सताये जाने पर अमरसिंह को जमना पार बुलाया। जमना तक पहुँचने के साल भर के भीतर अमर उक्त सब दुर्गम ठिकानों को जीतता हुआ सतलज तक पहुँच गया। उसने कुमाऊँ गढ़वाल की सुरक्षा के लिए नेपाल सरकार की ओर से योग्य अधिकारी नियत करवा दिये।

सतलज से रावी तक के पहाड़ी राज्यों पर तब कटोच† के राजा संसारचन्द का आतंक छाया था, जो उन सब को एक एक कर जीत रहा था। संसारचन्द ने १८०३-४ में सतलज-ब्यास द्वाबे पर भी दो चढ़ाइयाँ की थीं, पर रणजीतसिंह तथा एक और सिक्ख सरदार के हाथों हार कर भाग आया था। सन् १८०५ में सतलज पार के सुकेत कुल्लू चम्बा नूरपुर बसौली आदि ११ राज्यों के अनुरोध पर अमरसिंह ने सतलज लाँघी। तभी यशवन्तराव होळकर भी पंजाब पहुँचा था और उसने कटोच के राजा संसारचन्द से भी भारत की स्वतन्त्रता के लिए लड़ने वाले संघ में सम्मिलित होने का अनुरोध किया था। संसार ने तब उससे गोरखालियों के विरुद्ध सहायता माँगी, जो यशवन्त ने देने का वचन दिया। पर संसारचन्द के यहाँ अंग्रेज़ों का संवाददाता भी था और संसार का झुकाव अंग्रेज़ों की तरफ ही अधिक था। यशवन्तराव से होती बातचीत का पता वह अंग्रेज़ों को देता रहा। यशवन्त ने नहीं जाना कि संसारचन्द के बजाय उस काल के नेपालियों का सहयोग उसके लिए कितना कीमती होता।

---

† कांगड़ा ज़िले में एक बस्ती जो संसारचन्द की राजधानी थी।

सतलज के किनारे महलमोरी और ब्यास के किनारे सुजानपुर-टीःरा पर हार कर संसार ने कांगड़ा गढ़ की शरण ली। अमरसिंह ने ज्वालामुखी तीर्थ पर डेरा लगा चारों तरफ के प्रदेश पर अधिकार कर लिया। चम्बा बसौली तक के राजाओं ने ज्वालामुखी आ कर नेपाल की अधीनता मानी। अमर तब काँगड़े को घेर कर बैठ गया।

अमरसिंह थापा वीर और कुशल सेनानायक होने के साथ साथ जागरूक राजनेता योग्य शासक और चरित्रवान् पुरुष भी था। उसका ध्येय कश्मीर की सीमा तक हिमालय के समूचे पहाड़ी-भाषी क्षेत्र* को एक शासन में ले आना था, जिस तक वह लगभग पहुँच ही गया था।

§९. मराठा राज्यों की अवनति—दूसरे अंग्रेज़-मराठा युद्ध और उसके पहले पीछे की घटनाओं के फल-स्वरूप गायकवाड और पेशवा के इलाके अर्थात् गुजरात ठेठ महाराष्ट्र और उत्तरपूरवी बुन्देलखंड अंग्रेज़ों के रक्षित बन गये, भोंसले का बराड प्रदेश भी निज़ाम की मार्फत उनकी रक्षा में और उड़ीसा उनके सीधे शासन में चला गया, तथा शिन्दे का आगरा-दिल्ली प्रदेश उनके हाथ आ गया था। इसके अतिरिक्त दिल्ली के पड़ोस के अनेक सरदारों—धौलपुर जींद नाभा पटियाला आदि—को उन्होंने उनकी गद्दारी के पुरस्कार में मराठों से "स्वतन्त्र" कर राजा बना कर खड़ा कर दिया था। होळकर शिन्दे और भोंसले के अधीन इसके बाद भी सतलज से महानदी तक का अर्थात् राजस्थान से छत्तीसगढ़ बस्तर तक का भारत के बीचोंबीच का भूभाग बचा रहा। इन राज्यों में कहीं भी अंग्रेजी सेना की छावनियाँ नहीं पड़ीं, पर अंग्रेज़ों ने अपने गुप्त कारिन्दों द्वारा इनमें फूट फैलाने के अतिरिक्त अब ऐसी लूटमार और उपद्रव जारी किये जिससे लोग मराठा शासन से ऊब कर अंग्रेजी

---

* हिमालय में चनाब जहाँ दक्खिनपच्छिम घूमती है वहाँ उसकी दून के कष्टवार और भद्रवा प्रदेशों तक में कश्मीरी भाषा की पूरबी बोलियाँ बोली जाती हैं। उसके पूरब रावी दून के चम्बा प्रदेश से ले कर आधुनिक नेपाल राज्य के पूरबी छोर तक एक ही पहाड़ी भाषा का क्षेत्र है, जिसमें रावी से टोंस-जमना तक पच्छिमी पहाड़ी, टोंस से काली तक मध्य पहाड़ी और उसके पूरब पूर्बी पहाड़ी बोली जाती है।

शासन के लिए तैयार हो जायँ।

शिन्दे के विषय में सन् १८०४ में ही आर्थर वेल्ज़ली ने लिखा था, "उसके दरबार में हमारा पैर ऐसा जमा है कि वह कम्पनी से लड़े तो उसकी आधी सेना और सरदार हमारी तरफ होंगे।" उसका दीवान मुंशी कमलनयन अंग्रेज़ों के हाथ बिका था सो कहा जा चुका है। शिन्दे दरबार के रेजिडेंट के अधीन काम करने वाले जेम्स टौड नामक व्यक्ति को राजस्थान का नक्शा तैयार करने तथा राजपूत राज्यों को मराठों के विरुद्ध उभाड़ने को भेजा गया।

यशवन्तराव होळकर जब पहलेपहल नागपुर भागा और वहाँ अंग्रेज़ों की बातों में बहका था, तभी से अमीरखाँ नामक पठान सरदार को उन्होंने उसके साथ कर दिया था। यह अमीरखाँ शुरू से ही अंग्रेज़ों के हाथ बिका हुआ उनका भड़काऊ कारिन्दा था जो बराबर यशवन्तराव के साथ रहा। यशवन्त सन् १८०८ से विक्षिप्त रहने लगा और १८११ में चल बसा। उसके बच्चे के नाम पर राज्य की बागडोर अमीरखाँ ने सँभाल ली। सन् १८०६ में उसने प्रकटतः निजाम† के उभाड़ने से नागपुर राज्य पर चढ़ाई की। वह राज्य अंग्रेज़ों का आश्रित न था, तो भी नये गवर्नर-जनरल मिंटो ने अंग्रेज़ी सेना भेज कर उसे अमीरखाँ से बचाया, और इस सेवा के बदले में भोंसले राजा से कुछ भी न माँगा। यह नाटक इसलिए रचा गया जिससे नागपुर का राजा यह समझ ले कि होळकर से उसे अंग्रेज़ों की आश्रित सेना ही बचा सकती है।

इसके बाद अमीरखाँ और उसके साथियों ने राजस्थान में चारों तरफ लूटमार और अन्धेरगर्दी मचाये रक्खी। तुच्छ झगड़े उभाड़ कर, उन झगड़ों में सदा अन्याय पक्ष को बढ़ावा दे कर, भले आदमियों की खुली हत्याएँ करा कर उन्होंने राजस्थान की जनता और सरदारों को ऐसा लाञ्छित और अपमानित किया कि उन्हें आत्मग्लानि से दम घुटता लगने लगा। उदयपुर के राणा की लड़की कृष्णाकुमारी के विवाह के मामले में दखल दे कर अमीरखाँ

---

† निज़ामुलमुल्क [६,६§४] और निज़ामअली [६,८§१२; ६,६§१ के उत्तराधिकारी बाद में सभी निज़ाम कहलाने लगे।

ने ऐसा बनाव बना दिया कि असहाय राणा को अपनी उस बेटी की हत्या करा देने के सिवाय कोई चारा न दिखाई दिया। कृष्णाकुमारी को यह पता लगा तो उसने विष पी कर आत्महत्या कर ली और उसकी माँ ने भी अनशन से प्राण त्याग दिये। जोधपुर राजा के गुरु देवनाथ नामक साधु ने जोधपुर जयपुर और बीकानेर के आपसी झगड़े में समझौता करवा दिया था। अमीरखाँ ने उसे और जोधपुर के दीवान इन्द्रराज को जोधपुर के महल में ही मरवा डाला (१८१५)। बीकानेर के मन्त्री अमरचंद सुराणा तथा जयपुर के दो प्रधानों की भी, जो अंग्रेज़ों के विरोधी थे, तभी हत्या की गई।

मराठा राज्यों के नेता अंग्रेज़ों के अनेक गुप्त कारिन्दों को पहचान भी न सके और उनके इस गहरे खेल का कोई प्रतिकार न कर सके।

§१०. **अंग्रेज़ों की पहली उत्तरपच्छिम सन्धियाँ**—नैपोलियन सन् १८०० में फ्रांस का अधिनायक और १८०४ में सम्राट् बन गया था। भारत पर उसकी नज़र बराबर लगी थी, और मिंटो के शासनकाल (१८०७–१३ ई०) में उसकी चढ़ाई का वास्तविक भय उपस्थित हो गया।

ईरान में नादिरशाह के पतन के बाद काजार वंश का राज्य शुरू हुआ था। उस वंश के राज्यकाल में रूस सन् १८०६ से ईरान को उत्तरपच्छिमी सीमा पर दबाने लगा। ईरानियों ने वेल्ज़ली वाली सन्धि के अनुसार अंग्रेज़ों से सहायता माँगी, पर अंग्रेज़ों को तब रूस से मैत्री रखनी थी। ईरानी दूत तब नैपोलियन के दरबार में पहुँचे। इसी बीच जून १८०७ में नैपोलियन और रूस-सम्राट् के बीच भी सन्धि हो गई। तब रूस तुर्की और ईरान के सहयोग से नैपोलियन ने कन्दहार गज़नी गोमल डेरा-इस्माइलखाँ के रास्ते भारत पर चढ़ाई करने की योजना बनाई। अंग्रेज़ों ने भी तब ईरान अफगानिस्तान सिंध और पंजाब में अपने दूत भेजे।

ईरान में जौन मालकम को भेजा गया। वह नैपोलियन के विरुद्ध ईरानियों को अपने पक्ष में न मिला सका। किन्तु नैपोलियन के फिर युरोप के झगड़ों में फँस जाने पर इंग्लैंड और ईरान के बीच यह सन्धि हो गई कि यदि कोई युरोपी शक्ति ईरान पर चढ़ाई करे तो अंग्रेज़ ईरान को धन और सेना की

सहायता देंगे।

अफगानिस्तान में ज़मानशाह के विरुद्ध उसके भाइयों को अंग्रेज़ों ने वेल्जली के काल से ही उभाड़ना आरम्भ किया था [ऊपर § ३]। सन् १८०१ में ज़मान को उसके सौतेले भाई महमूद ने गद्दी से उतार कर अन्धा कर दिया था। ज़मान के सगे भाई शुजा ने १८०३ में महमूद से गद्दी छीन ली, तो भी उसे बराबर महमूद का डर बना था। पेशावर कश्मीर अटक डेराजात (सिंध नदी के पच्छिम का डेरा-इस्माइलखाँ डेरा-गाज़ीखाँ का खादर) मुलतान और सिन्ध तब तक अब्दाली साम्राज्य में थे।

सन् १८०८ में कम्पनी का दूत एल्फिन्स्टन बीकानेर-मुलतान के रास्ते पेशावर पहुँच कर शाह शुजा से मिला। एल्फिन्स्टन ने शाह से फ्रांस के विरुद्ध सहायता माँगी तो शाह शुजा ने बदले में महमूद के विरुद्ध रुपये की मदद चाही। इसके लिए वह सिंध प्रांत कम्पनी के पास रहन रखने को अथवा उसकी दीवानी सौंपने को तैयार था। उसने कहा, महमूद ईरानियों की मदद से गद्दी लेना चाहता है, यदि वह सफल हुआ तो ईरानियों और फ्रांसीसियों के पैर सिंध में जमे समझो। अंत में यह संधि हुई कि ईरानियों या फ्रांसीसियों की चढ़ाई होने पर शाह शुजा उन्हें रास्ता न देगा और कम्पनी शाह की रुपये से सहायता करेगी।

सिंध के स्थानीय शासक जो 'अमीर' कहलाते, तालपुर वंश के बलोच थे। वे हैदराबाद मीरपुर तथा खैरपुर में रहते थे। वे शाह शुजा से छुटकारा पाने को उत्सुक थे। जब कम्पनी का दूत उनके यहाँ पहुँचा तब ईरानी दूत वहाँ पहले से उपस्थित थे, और ईरान और फ्रांस दोनों की तरफ से बात कर रहे थे। उन्होंने सिन्धी अमीरों को शाह शुजा से स्वतन्त्र करने और कन्दहार दिलाने का प्रलोभन दिया था। अंग्रेज़ों की सहायता का वचन मिलने पर सिन्धियों ने उसे तरजीह दी और अंग्रेज रेजिडेंट अपने यहाँ रख लिया।

§ ११. **रणजीतसिंह का उदय और उसकी रोकथाम**—मिंटो की सन्धियों में से सबसे मुख्य वह थी जो रणजीतसिंह के साथ की गई। वह सन्धि वस्तुतः दूसरे अंग्रेज़-मराठा युद्ध का परिणाम थी।

सन् १७६६ में ज़मानशाह के लौटने के बाद से रणजीतसिंह पंजाब में अपना राज्य बढ़ाता गया। ठेठ पंजाब में सिक्ख मिसलें जीर्ण हो रही थीं; उन्हें वह एक एक कर अधीन करता गया। अफ़गानिस्तान में घरेलू लड़ाई होने पर उसने पच्छिमी पंजाब पर भी धीरे धीरे अधिकार कर लिया। सतलज और जमना के बीच सरहिन्द प्रदेश भी मुख्यतः सिक्ख मिसलों के अन्तर्गत था। वहाँ के सरदार पहले मराठों को कर देते थे, जिससे अंग्रेज़ों ने उन्हें मुक्त कर दिया था। रणजीतसिंह ने सन् १८०६-७ में दो बार उस प्रदेश पर चढ़ाई कर उसका बहुत सा अंश अधीन किया। वहाँ के कुछ सरदार तब अंग्रेज़ों के पास पहुँचे।

इस दशा में अंग्रेज़ दूत मेटकाफ़ को रणजीतसिंह के पास भेजा गया। मेटकाफ़ ने उससे नैपोलियन के खतरे की बात कही, तब रणजीत ने पूछा कि अंग्रेज़ी सरकार सरहिन्द प्रदेश पर उसका आधिपत्य मानती है कि नहीं। मेटकाफ ने कुछ उत्तर न दिया। तब रणजीत ने उसकी उपस्थिति में तीसरी बार सतलज पार की और अम्बाला आदि प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। इस बीच नैपोलियन का खतरा मिट गया था। तब रणजीतसिंह से कहा गया कि सरहिन्द के राज्य अंग्रेज़ों के रक्षित हैं। जनवरी १८०६ में औक्टरलोनी दिल्ली से फौज ले कर लुधियाना आ डटा। रणजीतसिंह ने पहले युद्ध की ठानी, दौलतराव शिन्दे के पास दूत भेजे, और सरहिन्द के सिक्खों को उभाड़ने की कोशिश की। चार बरस पहले जब यशवन्तराव ने अंग्रेज़ों के विरुद्ध सम्मिलित मोर्चा बनाने का अनुरोध किया था, तब इसी रणजीतसिंह ने सिक्खों को उसमें शामिल होने से रोका था। अब उसे मराठों के सहयोग की याद आई! वह सहयोग नहीं मिला तो अपने को विवश मान उसने अंग्रेज़ों की प्रस्तावित सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये (२५-४-१८०६), तीसरी चढ़ाई में जीते प्रदेश लौटा दिये और यह माना कि आगे से सतलज पार न करूँगा।

हमने देखा है कि सन् १८०५-६ में अमरसिंह थापा के नेतृत्व में गोरखालियों ने सतलज से रावी तक के हिमालय प्रदेश को अधीन कर संसार-चन्द को कोट-कांगड़े में घेर लिया था। रणजीत भी उसी वर्ष ज्वालामुखी के

दर्शन को गया और वहाँ संसार और अमर दोनों से मोलभाव करता रहा। अमर उसके बाद कोट-कांगड़े का शायद निपटारा कर देता, जिससे रणजीत के लिए उसमें हाथ डालने का मौक़ा न रह जाता, पर उसे पीछे से अभीष्ट कुमुक नहीं मिली। अप्रैल १८०६ में नेपाल के राजा रणबहादुर को उसके सौतेले भाई शेरबहादुर ने दरबार में ही मार डाला। शेर भी वहीं मारा गया। रानी राजराजेश्वरी सती हो गई। भीमसेन थापा ने रणबहादुर की तीसरी रानी ललितत्रिपुरसुन्दरी को नायब बना और सभी षड्यन्त्रकारियों का निपटारा कर स्थिति को दृढ़ता से सँभाला। पालपा के राजा के भी षड्यन्त्र में लिप्त रहने से पालपा को भी जीत कर नेपाल राज्य में मिलाया गया। परन्तु नेपाल के उस घरेलू झगड़े के कारण अमरसिंह के पास अभीष्ट सहायता नहीं पहुँची। सन् १८०९ तक कोट-कांगड़े का घेरा पड़ा ही हुआ था, जब अंग्रेज़ों के साथ अमृतसर में सन्धि कर रणजीत सीधा वहाँ पहुँचा (मई १८०९)। उसने फिर दोनों पक्षों से मोलतोल शुरू किया और तीन मास बाद चालाकी से अपनी सेना गढ़ में डाल ली (२४-८-१८०९)। अमरसिंह को वह समूचा प्रदेश छोड़ सतलज पार चले जाना पड़ा।

अंग्रेज़ों के प्रति रणजीत के मन में खीझ इसके बाद भी बनी रही। अपने पड़ोसी नेपालियों से तो उसने बिगाड़ ली, पर होळकर और शिन्दे से अंग्रेज़ों का एक साथ मुकाबला करने के लिए वह बातचीत चलाता रहा। अन्त में सन् १८११ से उसने अंग्रेज़ों से लड़ने का विचार त्याग दिया। अंग्रेज़ों ने भी उसे नेपालियों के विरुद्ध उभाड़ा और उनसे लड़ने के लिए पहाड़ या मैदान में सतलज लाँघ कर जाने की इजाज़त दे दी।

इधर एल्फिन्स्टन और मेटकाफ काबुल और पंजाब से लौट कर आये और उधर शाह शुजा को महमूद ने अफगानिस्तान से निकाल दिया। तब वह रणजीतसिंह की शरण में आया (१८१३ ई०)। दोनों ने भाईचारा करते हुए पगड़ियाँ बदलीं, जिससे प्रसिद्ध कोहेनूर हीरा रणजीत को मिला। उसी बरस अटक के किलेदार ने वह किला रणजीतसिंह को सौंप दिया। शाह महमूद के वज़ीर फतहखाँ ने अपने भाई दोस्तमुहम्मद के साथ अटक वापिस लेने के लिए

चढ़ाई की। रणजीत के सेनापति मोहकमचन्द ने उन दोनों को हरा दिया।

§१२. **भारतीय समुद्र पर एकाधिपत्य**—मारिशस और उसके पड़ोस के द्वीप फ्रांस के अधीन थे। नैपोलियन के ज़माने में फ्रांसीसी जहाज वहाँ से अंग्रेज़ी जहाजों पर छापे मारते थे। युरोप के प्रायः सभी देश एक एक करके नैपोलियन के अधीन हो गये। तब उसने युरोप के सब बन्दरगाह अंग्रेज़ी जहाजों के लिए बन्द कर दिये। बदले में अंग्रेज़ों ने पुर्तगाल हौलैंड और फ्रांस के भारतीय समुद्र वाले सभी उपनिवेशों पर भारतवर्ष से चढ़ाइयाँ कर दखल कर लिया। मारिशस आदि टापू फ्रांस से छिन गये। हौलैंड के आशा अन्तरीप के उपनिवेश (केप कालोनी) में एक फ्रांसीसी सेनापति की हार हुई। नैपोलियन ने उसे वहाँ से जावा भेजा। तब जावा पर स्वयं मिंटो ने चढ़ाई की। वहाँ कर्नल जिलेस्पी ने उस सेनापति को फिर हराया।

आर्थर वेल्ज़ली ने भारत में मराठा युद्धशैली का जो तजरबा पाया था वह उसके बड़े काम आया। यहाँ से लौट कर स्पेन में उसने उसी छापामार शैली से नैपोलियन का सफल सामना किया, जिसके बाद उसे ड्यूक आव वैलिंगटन पद मिला। सन् १८१५ में जर्मन सेनापति ब्ल्यूखर ने वैलिंगटन के सहयोग से वाटर्लू नामक स्थान पर नैपोलियन को हरा दिया। नैपोलियन पकड़ा गया और ईस्ट इंडिया कम्पनी के सेंट हेलिना टापू में कैद किया गया। तब केप-कालोनी और मारिशस के सिवाय अन्य सब बस्तियाँ उनके पहले स्वामियों को लौटा दी गईं।

§१३. **भारत को उपनिवेश बनाने का प्रयत्न**—उक्त घटनाओं से प्रकट है कि नैपोलियन के युद्धों के काल में भारत का साम्राज्य ब्रितानिया के लिए कितने काम का सिद्ध हुआ। नैपोलियन ने जब युरोप के बन्दरगाह अंग्रेज़ी माल के लिए रोक दिये तब इंग्लैंड के नये नये कारखानों का माल भारत के बाजारों में बिना चुंगी भेजा जाने लगा। इस विषय पर हम आगे और विचार करेंगे। यहाँ इतना कहना बस है कि इसी काल से भारत ब्रितानिया का औपनिवेशिक बाजार अर्थात् राजनीतिक शक्ति से बाधित हो कर कच्चा माल देने और कारखानों का तैयार माल खरीदने वाला बाजार बनता चला गया। वह

बाजार सन् १८१३ ई० से सब अंग्रेज़ों के लिए खोल दिया गया; ईस्ट इंडिया कम्पनी का एकाधिकार केवल चीन के व्यापार में रह गया।

इसके अतिरिक्त सन् १८१३ में कम्पनी को नया पट्टा (चार्टर) देते हुए पार्लिमेंट में यह भी कहा गया कि भारत में अंग्रेज़ बस्तियाँ बसाई जायँ। भारत के पहाड़ी प्रान्तों का जलवायु इसके लिए उपयुक्त होने के कारण उन प्रान्तों को नेपाल से छीन लेना यों तय हो गया।

§ १४. अंग्रेज़-नेपाल युद्ध—ज्वालामुखी से हटने के बाद अमरसिंह ने आजकल के शिमले से (पच्छी की उड़ान से) प्रायः १३ मील पच्छिम अर्की या राजगढ़ को अपना अधिष्ठान बनाया। जमना के पच्छिम सरमौर राज्य की राजधानी नाहन में नेपालियों की दूसरी बड़ी छावनी रही। अर्की से कुमाऊँ तक उसने सड़क बनवाई तथा सब महत्त्व के नाकों और चौकसी के स्थानों पर गढ़ियाँ और पहरा-चौकियाँ स्थापित कीं। उन चौकियों के स्थानों पर ध्यान देने से आज भी दिखाई देता है कि पहाड़ की रणनीति में उस काल के नेपाली कितने कुशल तथा अपने देश की रक्षा के लिए कितने जागरूक थे।

कौर्नवालिस के काल से अंग्रेज़ों और नेपालियों के बीच दोनों राज्यों की सीमा के बारे में अनेक विवाद उठते और सुलझते रहते थे। अवध के नवाब ने गोरखपुर बहराइच जिले वारन हेस्टिंग्स के काल में अंग्रेज़ों को दिये थे [६, १० § ४]। उनकी सीमा पर के बुटवल और शिवराज थानों के बारे में १८०५ से विवाद चल रहा था। अक्तूबर १८१३ में जब हेस्टिंग्स गवर्नर-जनरल बन कर आया तब उसे निपटाने के लिए दोनों तरफ के प्रतिनिधि नियत हो चुके थे। मार्च १८१४ में अंग्रेज़ प्रतिनिधि ने नेपाली प्रतिनिधियों का जान बूझ कर अपमान किया; फिर हेस्टिंग्स ने लिखा कि २५ दिन में नेपाली उन थानों को खाली कर दें। वह अवधि बीतते ही गोरखपुर के कलक्टर ने उन्हें दखल कर अपने थाने बिठा दिये।

हेस्टिंग्स की २५ दिन में बुटवल और शिवराज को खाली करने की धमकी काठमांडू पहुँची तो नेपाल के नेताओं ने जाना कि अंग्रेज़ों ने युद्ध की ठान ली है। तो भी प्रायः सब नेता उन स्थानों को दे देने के पक्ष में थे। पर भीमसेन

थापा के प्रभाव और प्रोत्साहन से सब युद्ध के लिए तैयार हो गये। मई के अन्त में नेपालियों ने शिवराज और बुटवल के थाने घेर कर वापस ले लिये। इस बीच नेपाल दरबार ने अपने पच्छिम के अधिकारियों—कुमाऊँ के चतुर शासक ब्रह्मशाह चौतरिया, देहरादून के शासक हस्तिदल साही और जमना पार के अमरसिंह थापा—से भी सम्मति माँगी। इन तीनों ने एकमत हो उत्तर दिया कि पच्छिम में हमारा राज अभी नया है, मराठों और रणजीतसिंह से अंग्रेज़ों की सन्धि हो जाने के कारण काल उनके अनुकूल है, इसलिए अब भी थाने लौटा कर सन्धि कर ली जाय। नेपाल सरकार ने यह मान कर अमरसिंह को सन्धि की बातचीत की इजाजत दी। अमरसिंह ने लुधियाने में औक्टरलोनी के पास यह सन्देश भी भेजा कि नेपाल बुटवल की लूट का दण्ड भरने को तैयार है, पर उत्तर मिला कि सन्धि की कोई आशा नहीं। सितम्बर में नेपाल सरकार ने काठमांडू से एक दूत गवर्नर-जनरल के नाम पत्र के साथ रवाना किया। हेस्टिंग्स ने उसे चम्पारन में रुकवा दिया। और उधर औक्टरलोनी को लिखा कि अमरसिंह थापा यदि आत्मसमर्पण की बातचीत करे तो उससे बात की जाय और उसे बड़ी जागीर दी जाय!

अक्टूबर में अंग्रेज़ों की पाँच सेनाएँ हिमालय पर चढ़ाई को चलीं। लुधियाने से औक्टरलोनी ने सतलज के साथ साथ ऊपर बढ़ते हुए उसकी कोहनी में शिवालक की पेंदी में पलासिया गाँव पर छावनी डाली। मेरठ से जिलेस्पी शिवालक की केरी घाटी पार कर देहरादून की दून में घुसा। उसे जीत कर उसकी सेना का एक अंश गढ़वाल में घुसता, दूसरा नाहन पर औक्टरलोनी से जा मिलता। बनारस-गोरखपुर से एक सेना बुटवल के रास्ते पालपा-गोरखा पर चढ़ाई को भेजी गई। पटना-मुर्शिदाबाद से एक और सेना काठमांडू की ओर रवाना हुई। और एक छोटी सेना पुर्णिया सीमा की रक्षा को तथा सिक्किम के राजा को उभाड़ने को रक्खी गई।

मेरठ वाली साढ़े तीन हज़ार सेना २४ अक्टूबर को देहरादून जा पहुँची। देहरादून के गोरखाली रक्षक बलभद्र के पास कुल २५० से ५०० तक सैनिक थे। उसने उनके साथ नगर छोड़ कर चार मील दूर नालापानी के पहाड़

पर शरण ली, जहाँ वह तब तक एक अड्डा अधूरा बना पाया था।

नेपालियाँ के ये झटपट बन जाने वाले अड्डे अर्थात् बल्लियों के खटोलों से बनी बाड़ें ही उनके गढ़ थे और इस युद्ध में इनका विशेष प्रभाव रहा। किसी ऊँचे पठार पर नेपाली सैनिकों का एक दल खुखरियों से बल्लियाँ काटने लगता और दूसरा दल कुदालों से ज़मीन साफ करता। उन बल्लियों को दो समान्तर पाँतों में पास पास गाड़ कर उनमें पत्थर भर दिये जाते। इस प्रकार की रचनाएँ हरद्वार देहरादून प्रदेश में खटोले कहलाती हैं, और बाँध बनाने में अब भी काम आती हैं। ऐसे खटोलों से घिरी बाड़ों की आड़ से नेपाली सैनिक पत्थरकलों (muskets)† से या 'जिंजलों' से लड़ते। 'जिंजल' नादिरशाह के काल की जिज़ैल' [९,७§१०] का नेपाली रूपान्तर था। ये लम्बी बन्दूकें थीं जिनमें डेढ़ दो छटाँक का गोला पड़ता था। इस युद्ध में नेपालियों ने उनका बड़ी दक्षता से प्रयोग किया।

बलभद्र का देहरादून वाला अड्डा जिसे अंग्रेज़ों ने गढ़ या किला माना, वास्तव में सालों की पाँत से घिरी पत्थरों की बाड़ थी। नेपाली उसके पीछे ऐसे सजग डटे थे कि अंग्रेज़ी सैनिक उनकी आँख बचा कर आगे नहीं जा सकते थे। अंग्रेज़ सेनापति ने पहाड़ के सामने तोपें लगा दीं। तोपों की मार जहाँ "गढ़" में छेद करती वहाँ उस मार के बीच नेपाली उसकी मरम्मत कर लेते।

नैपोलियन के साथी को जावा में हराने वाले जिलेस्पी से यह सहा न गया कि मुट्ठी भर हिन्दुस्तानी उसका यों सामना करें। ३ दिन में पहाड़ का पूरा घेरा डाल कर उसने "गढ़" पर हल्ला बोला (३१-१०-१८१४)। तोप की मार से गढ़ में जहाँ छेद हो गया था वहीं अपने सैनिकों को ले जाने के लिए वह उनके आगे आगे तलवार घुमाता उन्हें बढ़ावा देता चल रहा था। किन्तु उस छेद में अपने जीते जी शत्रु को न घुसने देने का प्रण करके नेपाली वीरांगनाएँ आ डटी थीं। उनमें से किसी की चलाई गोली कलेजे में खा कर

† चकमक पत्थर की रगड़ से जिन बन्दूकों का पलीता सुलगता था वे पत्थरकला कहलाती थीं।

जिलेस्पी ने वहीं वीर गति पाई। उसके अगले दिन १ नवम्बर १८१४ को गवर्नर-जनरल हेस्टिंग्स ने नेपाल से युद्ध की घोषणा की।

जिलेस्पी का उत्तराधिकारी महीना भर घेरा डाले पड़ा रहा। नई कुमुक आने पर २७ नवम्बर को अंग्रेज़ों ने फिर "किले" पर हल्ला बोला और फिर उसी तरह धकेले गये। इसके बाद उन्होंने नेपालियों की पानी लेने की जगह स्थानीय लोगों से मालूम की। उस पहाड़ के नीचे नालापानी के सुन्दर झरने से नेपाली पानी ले जाते थे। अंग्रेज़ों ने उस झरने पर तोपों का मुँह ७२ घंटे लगातार खोले रक्खा। ३० नवम्बर को तोपें चुप हुईं, तब गढ़ से बन्दूकें चलना भी बन्द हुआ, और ७० आदमी हाथ में कृपाण और कन्धे पर पत्थरकला लिये, कमर में खुखरी और सिर पर चक्र बाँधे, और स्त्रियाँ बच्चों को पीठ पर लपेटे, नालापानी के मीठे झरने पर उतरे, और वहाँ अपनी प्यास बुझा कर अंग्रेज़ी पाँतों के बीच से राह काटते चले गये! स्तब्ध अंग्रेज़ी सेना ने उन्हें साफ़ निकल जाने दिया और तब तीसरी बार खाली गढ़ पर हल्ला बोल उसे ज़मींदोज़ कर दिया।

न केवल नालापानी में प्रत्युत इस सारे युद्ध में नेपालियों के सजगपन और जोरदार आक्रमण शैली का आतंक अंग्रेज़ी सेना पर छा गया। उनके गौरवपूर्ण बर्त्ताव से भी उनके शत्रु प्रभावित हुए—शत्रुओं को अपने साथियों के शव उठा लेने का अवसर वे बराबर देते तथा उन शवों की जेबें स्वयं कभी न टटोलते।

गोरखपुर से जो सेना पालपा चढ़ने को थी वह तराई के आगे न बढ़ सकी और उसका अंग्रेज़ सेनापति उसे छोड़ कर भाग गया। पटने वाली सेना भी तराई में ही बुरी तरह पिटी। अवध से रंगपुर तक कहीं भी अंग्रेज़ी सेना तराई के जंगलों के भीतर न घुस सकी। पर पूर्वी सीमा पर जो छोटी सेना रक्खी गई थी, उसने सिकिम के राजा से मिल पूर्णियाँ के उत्तर नेपाल के मोरंग प्रदेश पर कब्ज़ा कर लिया। पच्छिमी सीमा पर औक्टरलोनी भी ठंडे दिमाग से डटा रहा। अमरसिंह ने भी बड़ी सजगता से उसका सामना किया।

सतलज के साथ साथ ऊपर तक जा कर शत्रु अमरसिंह के पीठ पीछे

से भी आक्रमण कर सकता था, यह देखते हुए अमर ने सतलज किनारे की ऊपर तक की चौकियों पर अपने सैनिक तैनात रक्खे। बिलासपुर से नाहन तक शिवालक के पहाड़ों में उसकी दक्खिनी दुर्गपंक्ति थी। नाहन का बड़ा मोर्चा उसके बेटे रणजोरसिंह के सिपुर्द था। शिवालक पाँत के पीछे अर्की के पास मलौन के गढ़ से स्वयं अमर युद्ध को चलाता था। नेपालियों की थोड़ी सी सेना इन सब चौकियों की रक्षा करने, इनका सम्बन्ध बनाये रखने और बाहर निकल कर शत्रु पर आक्रमण करने को काफी न थी, तो भी उनका प्रत्येक सैनिक अपने अपने स्थान पर डट गया। मलौन और उसके आसपास की चौकियों में अमरसिंह के पास कुल ३८०० सैनिक थे। औक्टरलोनी के पास शुरू में ही इससे दूनी, बाद में तिगुनी सेना थी। अमरसिंह के शब्दों में उसका उसी सेना के भरोसे अंग्रेज़ों से लड़ना "जुआ खेलने के समान था।"



डेविड औक्टरलोनी
दिल्ली में अंकित समकालीन चित्र
[दिल्ली संग्र०, भा० पु० वि०]

अंग्रेज़ों की छोटी तोपें नेपालियों के पहाड़ी अड्डों को तोड़ न पातीं और बड़ी तोपें पहाड़ों पर चढ़ाई न जा सकतीं। पर औक्टरलोनी ने रास्ते बना कर बड़ी तोपें ऊपर चढ़ाना तय किया। शिवालक में नालागढ़ उर्फ हिंडूर के राजा को फोड़ कर उसने उसकी सहायता से नालागढ़ के सामने की चोटी पर तोप चढ़ा ली। नेपालियों ने अपने उस गढ़ में पत्थरों के ढेर जमा कर रक्खे थे जिन्हें वे ऊपर चढ़ते शत्रु पर लुढ़काते। पर औक्टरलोनी की तोप के ६-६ सेर के गोले उन पत्थरों पर पड़े तो वे छटक छटक कर गढ़ के रक्षकों को लगने लगे। इस दशा में नालागढ़-तारागढ़ के ५०० रक्षकों ने औक्टरलोनी की ७००० सेना के सामने हथियार रक्खे (५-११-१८१४) और शिवालक दुर्गपंक्ति में पहला छेद हुआ।

अमरसिंह द्वारा सन्धि की बातचीत इस बीच भी चल रही थी। उस प्रसंग में हेस्टिंग्स ने यह प्रस्ताव किया (२१-११-१८१४) कि यदि अमरसिंह या रणजोरसिंह आत्मसमर्पण कर दें तो उन्हें जमना से सतलज तक पहाड़ का राज्य दे दिया जाय। अमरसिंह ने सन्धि की बात नेपाल दरबार की ओर से चलाई थी, न कि अपने लिए। उसने इस घूस के प्रस्ताव को अनसुना कर उत्तर दिया—"यदि गवर्नर-जनरल की इच्छा झगड़ा मिटाने की हो तो मैं एक विश्वस्त पुरुष को भेजूँ।··· यदि उनकी राय पहाड़ में युद्ध करने की ही हो तो भगवान् की जो इच्छा होगी उसके अनुसार किया जायगा।" इसके बाद भी अमर की प्रत्येक हार के बाद उसे डिगाने के प्रस्ताव किये जाते रहे, सतलज की उपरली दून में रामपुर-बशहर का राज्य उसे देने का प्रलोभन दिया गया, पर वह प्रत्येक प्रस्ताव को ठुकराता रहा।

नालापानी के गढ़ को उजाड़ने के बाद मेरठ वाली अंग्रेज़ी सेना ने नाहन पहुँच कर वहाँ के राजा को अपनी तरफ मिला लिया। अमरसिंह ने रणजोर को नाहन से हट कर उसके उत्तर जैथक में डटने का आदेश दिया। जैथक का पानी काटने की अंग्रेजों की सब कोशिशें वेकार करते हुए रणजोर वहाँ अन्त तक डटा रहा। मेरठ वाली सेना जैथक पहुँचने में एक तिहाई कट गई।

उधर दिसम्बर में नई कुमुक और तोपें आ जाने पर औक्टरलोनी ने शिवालक के छेद में से नोरी खड्ड के साथ पहाड़ों के भीतर बढ़ते हुए उस खड्ड के स्रोत पर पहुँच अर्की का पूर्वी रास्ता रोक लिया। गम्बर खड्ड अर्की को पच्छिम तरफ बिलासपुर से मिलाती थी। उस खड्ड से बिलासपुर पर चढ़ाई कर उसने पच्छिमी रास्ता भी बन्द कर दिया। अमरसिंह ने शिवालक के बाकी गढ़ों से अपनी सेना मलौन बुला ली, जहाँ वह तीन ओर से घिर चुका था (फरवरी १८१५)।

नालापानी और मोरंग के पतन के बाद नेपाल दरबार ने अमरसिंह को लिखा कि देहरादून से सतलज तक का प्रदेश अंग्रेज़ों को दे कर सन्धि कर ली जाय। इसपर अमर ने लिखा (२-३-१८१५) कि यह काल सन्धि की चर्चा का नहीं है, यदि शत्रु ने "हम लोगों की शर्तें मान भी ली तो वह हमारे साथ

वैसा ही बर्ताव करेगा जैसा टीपू सुलतान के साथ ···। वह फिर कोई बहाना ढूँढ निकालेगा और हमारे अन्य इलाके भी छीन लेगा।··· जैथक में हमने शत्रु को जीता है। यदि मैं औक्टरलोनी पर विजय पा सका ··· तो रणजीतसिंह शत्रु के विरुद्ध शस्त्र उठायेंगे।··· जमना पार कर हम फिर दून (देहरादून) लौटा लेंगे। आशा है कि हमारे हरद्वार पहुँचने पर लखनऊ के नवाब हमसे आ मिलेंगे।··· दो वर्षों तक तराई का इलाका शत्रु के हाथ रह जाय तो रहने दीजिए।··· सिक्ख हमसे नहीं मिले तो भी पहाड़ में ··· डरने का कोई कारण नहीं है।··· जब तक हमारी जीत न हो तब तक सन्धि की चर्चा नहीं करनी चाहिए।··· रणजीतसिंह को अपनी ओर मिला लेने ··· के लिए मुझे दो-तीन लड़ाइयाँ जीतनी पड़ेंगी।··· सिक्खों और गोरखालियों के जमना की ओर बढ़ने पर दक्खिन के राजा भी हमारे दल में आ मिलेंगे ऐसी मुझे आशा है।··· यदि हमारी जीत हुई तो हम मतभेद के अन्य सब प्रश्नों का निपटारा कर सकेंगे। यदि हार हुई तो अपमानजनक शर्त मानने की अपेक्षा प्राण त्याग करना अच्छा होगा।" इसके अतिरिक्त अमरसिंह ने सलाह दी कि नेपाल दरबार अपने अधिपति चीन-सम्राट् से सहायता माँगे और उसे लिखे कि वह तिब्बत के रास्ते २-३ लाख सेना बंगाल पर भेजे। सम्राट् को यह भी लिखा जाय कि "नेपाल जीतने के बाद अंग्रेज़ ··· ल्हासा पर आक्रमण करने को बढ़ेंगे"। अमरसिंह का यह पत्र नेपाल नहीं पहुँचा, अंग्रेज़ों के हाथ लग गया।

रणजीतसिंह को अपनी तरफ मिलाने का यत्न अमरसिंह १८१३ से बराबर कर रहा था। नेपाल से कुछ सेना की कुमुक अर्की के लिए रवाना हो कर प्यूठाना तक पहुँच चुकी थी। अमर और रणजोर उसकी राह देख रहे थे। उस कुमुक के आने पर रणजोर मैदान में उतर कर औक्टरलोनी के पीछे से चोट करना चाहता था। इसी अवसर पर नेपाल दरबार ने भी रणजीतसिंह को लिखा कि "अंग्रेज़ों के साथ मित्रता ··· के धोखे में न पड़िए। हमारे साथ भी उनकी मित्रता थी ···। आप अपनी सेना ले कर पलासिया आ जायँ तो हम मलौन का गढ़ आपको दे देगें। उसके बाद हरद्वार पर चढ़ाई ···। लखनऊ के नवाब, मराठे और ··· रुहेले ··· आपके आने का समाचार पाते ही हम

लोगों से आ मिलेंगे। ज्यों ही हम सब मिल जायेंगे त्यों ही हिन्दुस्तान को जीत लेना और शत्रु को निकाल भगाना अत्यन्त आसान हो जायगा।"

रणजीतसिंह पर न केवल इन अनुरोधों का कोई असर नहीं हुआ, प्रत्युत वह नेपालियों के प्रत्येक प्रस्ताव की सूचना अंग्रेज़ों को देता रहा। इस बीच अंग्रेज़ों ने मुरादाबाद से कुमाऊँ पर भी चढ़ाई कर दी। वहाँ नेपाली सेना बहुत ही कम थी। ब्रह्मशाह चौतरिया ने प्यूठाना से आती कुमुक वहाँ रोक ली, पर फिर भी अलमोड़े को बचा न सका और २७-४-१८१५ को उसे सौंप कर काली नदी के पूरब हट गया। इधर मलौन के पास दो चोटियाँ अंग्रेज़ों ने ले लीं।

मई १८१५ में औक्टरलोनी ने मलौन पर गोलाबारी शुरू की। १५-५-१८१५ को उसकी अमरसिंह के साथ यह सन्धि हुई कि सतलज से काली तक के सब नेपाली अधिकारी और सैनिक अपने परिवारों सामान शस्त्रास्त्र और झंडों के साथ काली के पूरब चले जायँगे। मलौन में तब २५० सैनिक बचे थे। अमरसिंह जब मलौनगढ़ से निकला तब उसके शत्रु यह देख कर दंग रह गये कि उसका निजी सामान कितना थोड़ा है!

रणजीतसिंह अमरसिंह के अनुरोधों पर सदा टालमटोल करता रहा था, पर अब उसने यह सुना कि नेपाली मलौन और जैथक छोड़ कर चले गये तो वह चिन्ता में पड़ गया। अपने सरदारों से उसने कहा, अंग्रेज़ों की हमसे मैत्री तो सिर्फ रस्मी है, मैं सोचता था अंग्रेज़ कभी गड़बड़ करेंगे तो मैं गोरखालियों से मैत्री कर लूँगा, आवश्यकता होगी तो उन्हें कांगड़ा दे दूँगा, पर अब तो वे चले ही गये! अब हाथ मलने से क्या होता था?

ब्रह्मशाह चौतरिया ने अलमोड़ा छोड़ा तो उसे इसकी आशंका थी कि नेपाल के लोग उसके समर्पण पर क्या कहेंगे और वहाँ उसपर कैसी बीतेगी। इसपर हेस्टिंग्स ने उसे उभाड़ा कि वह अंग्रेज़ों की सहायता से डोटी (काली के पूरब लगे प्रदेश) का राजा बन बैठे; पर ब्रह्मशाह ने उस प्रलोभन पर कान नहीं दिया। मई १८१५ के अन्त में मुजफ्फरपुर के उत्तर सुगौली गाँव में नेपाली दूतों से सन्धि की बात शुरू हुई। अंग्रेज़ों की मुख्य शर्तें ये थीं कि काली के पच्छिम के प्रदेश और तराई के मुख्य भाग नेपाल के अधीन न रहेंगे, सिकिम

पर नेपाल का आधिपत्य न रहेगा तथा काठमांडू में अंग्रेज़ रेज़िडेंट रहेगा। लम्बी चर्चा के बाद नेपाल दरबार ने इन शर्तों को प्रायः मान ही लिया था कि दिसम्बर १८१५ में अमरसिंह थापा ने नेपाल पहुँच कर एक छोटी शर्त के विरुद्ध उमरावों को उभाड़ दिया। जिस तराई को अंग्रेज़ ले रहे थे उसमें कुछ जागीरें नेपालियों की थीं; अंग्रेज़ों ने उन जागीरदारों को दो लाख रु० वार्षिक देना तय किया था। अमरसिंह ने कहा इस ढंग से अंग्रेज़ हमारे देश के भीतर अपने खरीदे आदमी रख लेंगे, इसलिए रुपये के बदले वे तराई का वह अंश नेपाल को दें। सन्धि पर हस्ताक्षर न हो कर फिर युद्ध की तैयारी हुई।

इस बार अंग्रेज़ों ने सीधे नेपाल दून पर चढ़ने का यत्न किया (फरवरी १८१६)। औक्टरलोनी रक्सौल वाले मुख्य रास्ते से मकवानपुर की ओर बढ़ा। उसके दाहिने तरफ एक सेना-दल बागमती की दून में तथा बायें तरफ एक दल बेतिया रामनगर से चला। भिछाखोरी (आमलेखगंज) के आगे हिमालय की बाहरी शृंखला के चुरे पहाड़ (चूड़ियाचौकी) पर चढ़ने के सब रास्ते नेपालियों ने रोक रक्खे थे। पर एकमात्र सबसे दुर्गम रास्ते पर उन्होंने ध्यान न दिया था। औक्टरलोनी किसी स्थानीय आदमी से उसका पता पा कर रातोंरात चुरे घाटी पर चढ़ गया। "यदि उस घाटी के निकट पहाड़ पर २० आदमी भी होते तो वे बिना अपनी जान संकट में डाले (उसकी) समूची ब्रिगेड को नष्ट कर सकते थे।" यों धीरे धीरे औक्टरलोनी मकवानपुर गढ़ी तक पहुँच गया। दूसरी तरफ बागमती से बढ़ने वाले दल ने हरिहरपुर गढ़ी ले ली। ३ मार्च १८१६ को सन्धिपत्र पर नेपाल दरबार ने अपनी मुहर लगा दी। पर नेपालियों की प्रतिरोध-भावना के बल पर भीमसेन थापा ने अंग्रेज़ों से सन्धि की वह शर्त्त बदलवा ली जिसपर अमरसिंह ने आपत्ति की थी।

इस सन्धि के कुछ दिन बाद ही अमरसिंह थापा ने प्राण त्याग दिये। उसी वर्ष राजा गीर्वाणयुद्धविक्रम की चेचक से मृत्यु हुई और उसका तीन बरस का बच्चा राजेन्द्रविक्रम गद्दी पर बैठा। महारानी ललितत्रिपुरसुन्दरी अपने पोते की संरक्षिका और "नायब" तथा भीमसेन थापा "मन्त्रिनायक" रहा।

§ १५. पिंढारी तथा तीसरा अंग्रेज़-मराठा युद्ध—दक्खिन की

रियासतों में सेना के साथ अनियमित सवार रखने की प्रथा चली आती थी, जो शान्ति-काल में खेती-बारी करते, परन्तु जिन्हें युद्ध-काल में शत्रु के देश में पहुँचने पर वेतन के बजाय लूटने की इजाज़त मिल जाती थी। इन्हें पेंढारी कहते थे। शिन्दे और होळकर वंशों की सेवा में रहने के अनुसार ये शिन्देशाही या होळकरशाही कहलाते थे। मालवा इनका केन्द्र था।

सन् १८०३ की अपनी हारों के विषय में मराठों की यह धारणा थी कि युरोपी शैली की नकल करने से वे हारे। इसी से मराठा राज्य पेंढारियों की बढ़ती से सन्तुष्ट थे। शायद वे उन्हें आगे चल कर अपनी सेवा में लेने की सोचते थे। सन् १८१४-१५ ई० में नेपालियों ने अपने दूत मराठा राज्यों में और बरमा तक में भी भेजे। नेपालियों की वीरता देख मराठों के भी हौसले बढ़े। १८१५ के शुरू में पूने से बालाजी कुंजर नामक दूत सब मराठा दरबारों में और नर्मदा के किनारे निमावर पर चीतू पेंढारी की छावनी में भी गया। पेंढारी नेताओं ने निश्चय किया कि वे अंग्रेजों और उनके मित्र निज़ाम के राज्य पर छापे मारेंगे। सभी भारतीय राज्य अंग्रेज़ों से कुढ़ते थे। हेस्टिंग्स ने यह सम्भावना देखी कि यदि रणजीतसिंह सतलज पार कर आये और बरमा का राजा चटगाँव पर चढ़ाई कर दे तो मराठे राज्य भी उठ खड़े होंगे। पर भारतीय राजा ढिलमिल-यकीन और पस्तहिम्मत थे। नेपालियों की तरह डट कर लड़ने को कोई तैयार न था।

दूसरी तरफ अंग्रेजों की तैयारी थी पेंढारियों के साथ साथ मराठा राज्यों की बची-खुची शक्ति को भी कुचल देने की। एक तो, गायकवाड और पेशवा के राज्यों में अर्थात् गुजरात महाराष्ट्र और बुन्देलखण्ड में सन् १८०३ से उनकी छावनियाँ पड़ी थीं। दूसरे, जेम्स टौड को राजस्थान में जो काम करने भेजा गया था [ऊपर § ८], वह उसने १८१५ तक पूरा कर लिया था। उसका नक्शा तैयार हो गया और उसके षड्यन्त्र भी सफल हुए थे। टौड से पहले युरोपियों की राजस्थान के भू-अंकन की जानकारी बड़ी धुँधली थी। जैसा कि वारेन हेस्टिंग्स युग के रेनल के नक्शे [६,११§४, नक्शा २०] को देखने से प्रकट होता है वे तब तक राजस्थान की नदियों को दक्खिनवाहिनी और

नर्मदा में मिलती समझते थे। तीसरे, युद्ध का आधार वह नक्शा जहाँ तैयार हुआ, वहाँ अंग्रेज़ों के कारिन्दों द्वारा मचाई लूटमार से त्रस्त तथा टौड की लल्लोचप्पो से पुचकारे हुए अभिमानी राजपूत राजाओं के दूत विदेशी बनियों की कंपनी के पास शरण-भिक्षा माँगने भी आ पहुँचे। चौथे, अंग्रेज़ों के शत्रु पेंढारियों के भी अनेक नेता अंग्रेज़ों के खरीदे हुए थे जिनका कार्य था पेंढारी दलों को एकमत न होने देना तथा उन्हें उभाड़ कर उनसे ऐसे काम कराना जिनसे उनकी बदनामी और हानि हो। अमीरखाँ [ऊपर§८] पेंढारी ही था।

सन् १८१५ के अन्त में निजाम की आश्रित सेना के अंग्रेज़ अफसर ने शिन्देशाही पेंढारियों पर आक्रमण किया। जवाब में पेंढारी निजाम राज्य पर टूट पड़े और कृष्णा नदी के किनारे बढ़ते हुए "उत्तरी सरकारों" अर्थात् आन्ध्र तट के जिलों [६, ८ § ८] को लूटने लगे।

इधर इसी बीच रघुजी (२य) भोंसले की मृत्यु हुई। उसके उत्तराधिकारी अप्पासाहेब भोंसले ने अंग्रेजों से आश्रित सन्धि कर ली (१८१६ ई०)। नागपुर राज्य में अंग्रेजी छावनियाँ पड़ जाने से शिन्दे और होळकर के राज्य दक्खिन तरफ से भी घिर गये। शिन्दे पेशवा को फिर से उठाने की सोचता था, पर अब उन दोनों के बीच अंग्रेजों ने यह लोहे की दीवार खड़ी कर दी। पेशवा और भोंसले के एक बार काबू आने के बाद से अंग्रेजों की नीति यह रही कि उन्हें और अधिक दबाया जाय, यहाँ तक कि वे खीझ कर मुकाबले को उठें, और तब उन्हें कुचल दिया जाय।

गायकवाड को पेशवा की बड़ी रकम देनी थी। उनके बारे में समझौता कराने को अंग्रेजों के पिछलग्गू गंगाधर शास्त्री को पूना भेजा गया। इस आदमी का बर्ताव बड़ा गुस्ताखी का और चिढ़ाने वाला था जैसा कि विदेशियों के सहारे इतराने वाले आदमियों का प्रायः हुआ करता है। अपने उद्धत बर्त्ताव की बदौलत वह पंढरपुर में मारा गया। इसपर रेजिडेंट एल्फिन्स्टन ने पेशवा को नई सन्धि करने को बाधित किया (१३-६-१८१७), जिससे पेशवा ने बहुत से गढ़ और प्रदेश दिये तथा गुजरात पर सब अधिकार छोड़ दिये। इसके बाद उससे कहा गया कि एक सेना खड़ी करके पेंढारियों के दमन के लिए

अंग्रेज़ों को दो। तब उसने जाना कि यों उसकी सेना भी उससे ले लेने के बाद उससे फिर किसी "सन्धि" पर हस्ताक्षर कराये जायेंगे।

पेशवा के बाद शिन्दे की बारी आई। अंग्रेज़ी सरकार ने उसे आन्ध्र तट को लूटने वाले पेंढारियों की रोकथाम करने को न कहा, प्रत्युत स्वयं उसके राज्य में घुस कर उनके दमन का निश्चय किया। ३० हजार पेंढारियों को दबाने के बहाने १ लाख १४ हज़ार अंग्रेज़ी सेना मैदान में उतारी गई। उत्तरी सेना ने स्वयं हेस्टिंग्स के नेतृत्व में राजस्थान-बुन्देलखंड के उत्तरी छोर पर रेवाड़ी आगरा कालपी और कालंजर पर मोर्चे लिये। दक्खिनी सेना दाहोद (गुजरात) से खानदेश होते हुए बराड तक तैनात थी। उसकी दुहरी पाँत थी, एक उत्तर मुँह किये आगे बढ़ती और दूसरी दक्खिन मुँह किये पेशवा या भोंसले को शिन्दे-होळकर की सेनाओं से मिलने से रोकती।

अंग्रेज़ों की इस योजना और मराठों की मनोवृत्ति को देखते हुए कहना पड़ता है कि यह युद्ध नहीं, बड़ा शिकार था। डेढ़ मास के भीतर शिन्दे होळकर पेशवा और भोंसले चारों की शक्ति कुचल दी गई।

हेस्टिंग्स के शब्दों में दौलतराव "शिन्दे देशी राजाओं में सबसे अधिक शक्त था। उसकी सेना पुराने प्रशिक्षित सिपाहियों की थी, तोपें बहुत अच्छी और तोपची होशियार थे।" यह होते हुए भी १८१४-१५ में जब नेपाली स्वयं युद्ध में डटे हुए उसे सहयोग के लिए पुकार रहे थे और उसके लिए भी अपने को १८०३ वाले बन्धनों से मुक्त कर लेने का दूसरा अवसर था, तब वह बैठा तमाशा देखता रहा। पर अब जब अंग्रेज़ों का नया फन्दा उसे अपनी गर्दन के पास आता दिखाई दिया तब १८१७ के मध्य में उसने नेपाल को भारत के स्वतन्त्र राजाओं के साथ मिल कर लड़ने को प्रोत्साहित करते हुए पत्र लिखा! वह पत्र अंग्रेज़ों के हाथ पड़ गया।

ग्वालियर के २० मील दक्खिन चम्बल से उसके पूरब की छोटी नदी सिंध तक एक पहाड़ी डांडा है। हेस्टिंग्स ने कालपी से बढ़ कर उसके दोनों किनारों के तंग घाटों को एकाएक रोक लिया। शिन्दे घिर गया। अब या तो वह डट कर लड़ने को तैयार होता और या यदि भागता तो सेना तोपखाने और

खजाने को छोड़ किसी पगडंडी से ही भाग सकता था। इस दशा में हेस्टिंग्स ने उससे नई सन्धि पर हस्ताक्षर कराये (५-११-१८१७)। शिन्दे ने अजमेर दे दिया और बाकी राजस्थान पर अपना आधिपत्य छोड़ दिया। १९ राजपूत राज्य कम्पनी की रक्षा में ले लिये गये। इससे अधिक हेस्टिंग्स उसे नहीं दबा सका। पहले युद्ध में उसने आगरा-दिल्ली प्रदेश दिया था, इसमें राजस्थान दे दिया, पर अपने बाकी राज्य में वह स्वतन्त्र रहा। उसकी स्वतन्त्र सेना भी बनी रही। न तो उसने अंग्रेज़ों की आश्रित सेना अपने यहाँ रक्खी और न विदेशों से सम्बन्ध रखने की अपनी स्वतन्त्रता उन्हें सौंपी।

उधर एल्फिन्स्टन ने अपनी टुकड़ी को पूने से ४ मील खडकी हटा लिया, और मुम्बई तथा सिरूर छावनी (भीमा में मिलने वाली घोड नदी पर, पूने से अहमदनगर की राह में) से फौज मँगाई। पेशवा के सेनापति बापू गोखले ने उसपर चढ़ाई की। ठीक जिस दिन शिन्दे ने सन्धि पर हस्ताक्षर किये उसी दिन खडकी पर मराठों की हार हुई, और पेशवा पूना छोड़ सेना के साथ भाग निकला। अंग्रेजों के साथ उसकी कई जगह मुठभेड़ें हुईं, जिनमें कोरेगाँव और आष्टी की लड़ाइयाँ मुख्य थीं। महाराष्ट्र की जनता के भी उभड़ने का डर था, इसलिए एल्फिन्स्टन ने बालाजी नातू नामक गद्दार द्वारा शिवाजी के वंशज सातारा के राजा को हाथ में किया, और उससे मराठों के नाम घोषणा निकलवाई कि पेशवा का साथ न दिया जाय।

नागपुर में भी तभी वैसी ही घटनाएँ हुईं। अप्पासाहब आश्रित सन्धि के शिकंजे में परेशान था; उसने उसकी शर्तों को कुछ नरम करने को प्रार्थना की। इसपर रेज़िडेंट ने पड़ोस की छावनियों से सेना बुला ली, और शहर से सटी हुई सीताबल्डी की टेकरी पर मोर्चा लिया। राजा की सेना यह देख कर भड़की और अंग्रेजी फौज पर कुछ गोलियाँ चल गईं। अंग्रेज़ों ने इसपर राजा को हुक्म दिया कि अपनी सब युद्ध-सामग्री सौंप और सेना तोड़ कर हमारी छावनी में चले आओ। अप्पासाहब यह मान कर कैदी बन गया। ३०-१२-१८१७ तक सेना ने भी समर्पण कर दिया। तब राज़ा से कहा गया कि अपने सब गढ़ तथा सागर और नर्मदा के प्रदेश (विद्यमान सागर दमोह जिले तथा

जबलपुर से निमाड़ तक नर्मदा काँठे के ज़िले) सौंप दो, तथा गवीलगढ़ सरगुजा आदि पर आधिपत्य छोड़ दो। राजा ने वह भी मान लिया; पर अब भीतर भीतर मुकाबले की तैयारी करने लगा। तब १५ मार्च को उसे कैद कर प्रयाग को रवाना किया गया। परन्तु वह रास्ते से भाग गया।

होळकर के राज्य में अंग्रेज़ों ने अब अमीरखाँ को खुल्लमखुल्ला मिला कर उसे टोंक की नवाबी दे दी। तब उस राज्य की नायक-हीन सेना पर चढ़ाई की। उज्जैन के उत्तर शिप्रा के तट पर महीदपुर पर युद्ध हुआ (२०-१२-१८१७)। तोपची दल के नेता रोशनबेग ने वीरता से मुकाबला किया, पर अमीरखाँ का दामाद अब्दुलगफ़ूर तभी शत्रु से जा मिला। यों अंग्रेज़ों की जीत हुई। अब्दुल-गफ़ूर को जावरा की रियासत दी गई। मन्दसोर की सन्धि से होळकर राज्य अंग्रेज़ों का रक्षित बन गया और उसने भी राजस्थान पर सब दावे छोड़ दिये।

इस बीच पेंढारी लब्बरों (जत्थों) से भी युद्ध जारी था। उन्होंने पहले अंग्रेज़ी घेरा चीर कर उत्तर की ओर निकलना चाहा, पर ग्वालियर से पीछे धकेले गये, और फिर दक्खिन और पूरब से घेर लिये गये। इस दशा में भी उनकी शक्ति तोड़ना सुगम न जान पड़ा, क्योंकि वे फुर्तीले सवार थे और छापे मारना ही उनका काम था। अंग्रेज़ों ने तब उनमें से बहुतों को मालवे में जागीरें दे कर फोड़ लिया। बाकी पेंढारी भी चाहते तो चुपचाप किसानों में मिल सकते थे। तो भी वे मुसीबतों खतरों भूख और मौत की परवा न करते हुए अन्त तक लड़ते रहे। जनता की सहानुभूति उनके साथ थी और उनके बारे में कोई सूचना अंग्रेज़ों को मुश्किल से मिल पाती थी।

अप्पासाहब ने भाग कर महादेव पहाड़ियों में शरण ली। उसने चौरागढ़ अंग्रेज़ों से वापिस छीन लिया, नागपुर और छत्तीसगढ़ में अपना संघटन फैलाया, और शिन्दे की चश्मपोशी से बुरहानपुर में फौज भरती करना शुरू किया। असीरगढ़ यशवन्तराव लाड नामक सरदार के हाथ में था जो समूचे महाराष्ट्र को स्वतन्त्रता-युद्ध के लिए उभाड़ना चाहता और स्वयं शहीद होने को उत्सुक था। उसने पेशवा को निमन्त्रण दिया। पेशवा के पास अभी ११ हजार सेना बाकी थी। अंग्रेज़ों ने देखा उसका असीरगढ़ पहुँचना खतरनाक होगा, और

यदि वह युद्ध में मारा जाय या कैद हो जाय तो भी समूचा महाराष्ट्र भड़क उठेगा। इस दशा में उसे खरीद लेना ही उचित समझा गया। ८ लाख रुपया वार्षिक पेंशन पाने की शर्त पर उसने अपने को सौंप दिया (१८-६-१८१८)। तब उसे बिठूर (कानपुर के पास) भेज दिया गया। उसके राज्य का कुछ अंश सातारा के राजा को दे कर बाकी अंग्रेज़ों ने ले लिया।

अक्तूबर में एक अंग्रेज़ी सेना महादेव पहाड़ियों में घुसी। अप्पासाहब तब चीतू पेंढारी की सहायता से असीरगढ़ पहुँच गया। स्वयं चीतू गढ़ तक न पहुँच कर जंगल में भागा जहाँ वह एक बाघ के मुँह में पड़ गया। ७ अप्रैल. १८१९ को असीरगढ़ भी लिया गया, किन्तु अप्पासाहब निकल भागा था। वह इसके बाद क्रमशः लाहौर मंडी (हिमाचल में ब्यास के तट पर) और जोधपुर में शरणागत रहा।

उक्त घटनाओं से प्रकट है कि मराठे अंग्रेज़ों की गुलामी से असन्तुष्ट होते हुए भी कितने किंकर्त्तव्यविमूढ और पस्त-हिम्मत थे। इस युद्ध में भाग लेने वाले एक अंग्रेज़ अफसर ने लिखा—"अपने शत्रुओं में भी इतनी क्षुद्र-हृदयता देख कर निराशता नहीं रोकी जाती। ऐसे तीस गढ़ कुछ सप्ताहों में लिये गये, जिनमें से प्रत्येक शिवाजी जैसे स्वामी के रहते भारत की समूची अंग्रेज़ी सेना को रोके रख सकता था, जिन्हें अभेद्य बनाने के लिए दृढसंकल्प रक्षकों के सिवाय किसी चीज की जरूरत न थी।··· यह समूचा देश, जो प्राकृतिक नाकेबन्दी की दृष्टि से शायद संसार में सबसे विकट है, जिसे प्रकृति ने मानो स्वाधीनता के सफल युद्ध लड़े जाने के लिए ही बनाया है,··· जिसमें अप्रशिक्षित अर्धसज्जित सिपाही अत्यन्त चतुर अनुभवी सैनिकों को रोक सकते थे,··· कुछ सप्ताहों में ही ··· हमारे हाथ आ गया।"

सन् १८१६ में कच्छ का राजा भी अंग्रेज़ों की रक्षा में आ गया।

§ १६. अब्दाली साम्राज्य का अन्त, सिक्ख राज्य की बढ़ती— सन् १८०५ में पंजाब का रणजीतसिंह केवल सरदार था, १८०६ तक वह राजा बन चुका था। सतलज के पच्छिम की सब मिसलें तब तक उसके राज्य में मिल चुकी थीं। राजा बन जाने पर भी वह अपने को सिक्ख जनता का

अधिनायक मानता और प्रत्येक राजकीय काम 'खालसा' (सिक्ख जनता) के नाम पर ही करता रहा। उसकी प्रजा सुशासित और खुशहाल थी। पंजाब के किसान और व्यापारी मिसलों के शासन में भी खुशहाल थे। मिसलों के सरदारों की पारस्परिक छीनाझपटी के कारण जो अव्यवस्था रहती थी, उसे भी अब रणजीतसिंह ने हटा दिया।

सन् १८०६ तक सब सिक्ख सेना सवारों की ही थी। अठारहवीं सदी में सिक्ख सवारों ने धनुष वाण और भाले के बजाय बन्दूक अपना ली थी, और घोड़े पर चढ़े चढ़े पथरकला चलाने में वे बड़े होशियार गिने जाते थे। सन् १८०५ में लेक के पंजाब आने पर रणजीत भेस बदल कर उसकी छावनी में यह देखने गया था कि शिन्दे और होळकर को हरा देने वाले अंग्रेज़ों की व्यूह-रचना कैसी है। १८०६ में उसने मेटकाफ के अंगरक्षकों की सुशृंखल गति-विधि देख कर प्रशंसा की। तब से उसने पंजाब में भी वैसी पंक्तिबद्ध पदाति सेना खड़ी करने का निश्चय किया। नेपाल के नेताओं का ध्यान उससे भी पहले इस ओर जा चुका था, और १८१४-१५ ई० के युद्ध में रणजीत ने नेपालियों को अंग्रेज़ों का सफल मुकाबला करते देखा तो उसका पंक्तिबद्ध पदाति सेना में विश्वास और भी दृढ हो गया। अंग्रेज़-नेपाल युद्ध के बाद अमरसिंह थापा का बेटा भूपाल रणजीत की सेवा में आ गया और उसकी मार्फत नेपाली बड़ी संख्या में पंजाब की सेना में भरती होने लगे। रणजीत ने उनकी अलग पलटन बना ली। साथ ही उसने अंग्रेज़ों की सेना से सीख कर निकले हुए लोगों को सेवा में ले कर पंजाबियों की भी नियमित सेना तैयार करनी शुरू की।

राजपूत मराठे और पठान योद्धाओं को पाँत में खड़े हो कर आदेश के अनुसार लड़ने में हेठी मालूम होती थी। सिक्खों में वह भाव बहुत कम था, और जो था भी, उसे रणजीत के प्रोत्साहन ने निकाल दिया। वह पैदल सेना को अच्छा वेतन देता, उसकी कवायद और साज-सामान पर पूरा ध्यान रखता और बीच बीच में स्वयं वर्दी पहन कर कवायद में शामिल होता। तोप का काम सिक्खों ने और भी उत्सुकता से सीखा। पंजाबी सेना इस प्रकार प्रायः तैयार हो चुकी थी, जब सन् १८२२ में फ्रांसीसी सेनापति वेंतुरा और अलार ईरान के रास्ते लाहौर

आये और सेवा में लिये गये। उन्होंने उस सेना का नियन्त्रण और पूर्ण कर दिया।

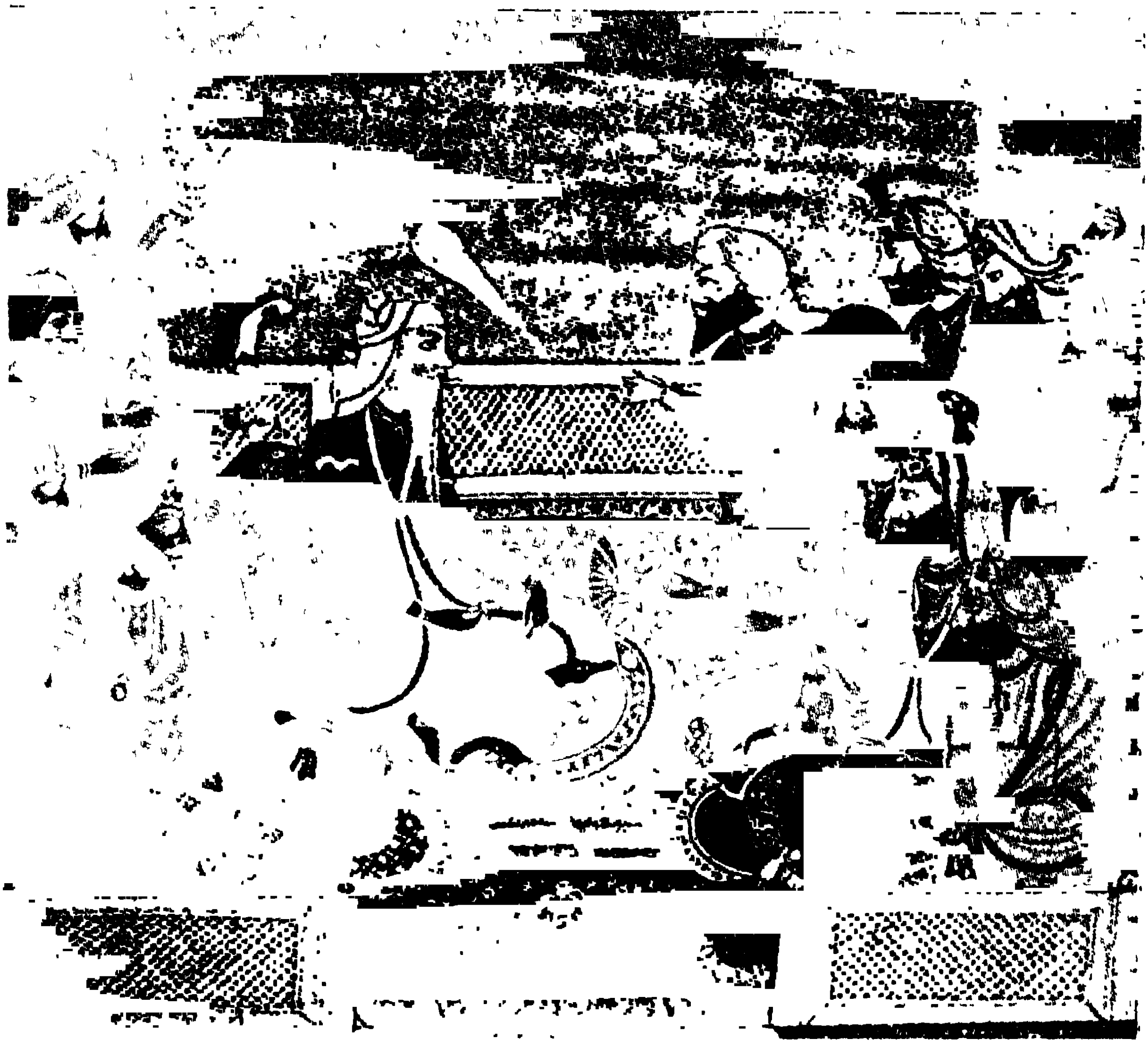
इस बीच रणजीत पच्छिमी पंजाब की तरफ क्रमशः बढ़ रहा था। सन् १८१६ में शाह शुजा उसकी शरण से अंग्रेज़ों की शरण में लुधियाना भाग आया, और वे उसे ५० हज़ार रुपया वार्षिक वृत्ति देने लगे। सन् १८१८ में शाह महमूद के बेटे ने उसके वजीर फतहखाँ को मार डाला। फतहखाँ का भाई मुहम्मद-अजीम कश्मीर का नाजिम था। उसने काबुल पर चढ़ाई की। शाह महमूद भाग कर हरात चला गया। तब से अब्दाली वंश के पास केवल हरात बचा रहा, और कश्मीर पेशावर काबुल गज़नी तथा कन्दहार पर मुहम्मद-अजीम अपने भाइयों की सहायता से राज करने लगा। यों १८१८ ई० में मराठा और अब्दाली साम्राज्य साथ साथ समाप्त हुए।

इस बीच रणजीतसिंह के सेनापति दीवानचन्द ने मुलतान जीत लिया था, और रणजीत ने अटक पार कर पेशावर के पास खैराबाद में छावनी डाल दी थी। अगले तीन बरस में कश्मीर डेरा-गाजीखाँ और डेरा-इस्माइलखाँ भी जीते गये। सन् १८२३ में मुहम्मद-अज़ीम ने पेशावर पर चढ़ाई की। नौशेरा पर काबुल नदी के दक्खिन रणजीतसिंह ने उसका सामना किया। नदी के उत्तर तरफ के पठान भी जिहाद की घोषणा कर पहाड़ों पर आ जुटे। रणजीत ने अपनी सेना का एक अंश मुहम्मद-अज़ीम के मुकाबले को छोड़ स्वयं काबुल नदी पार की। पंजाबी रिसाले का पठानों पर हमला विफल हुआ। तब पठानों ने हमला कर पंजाबी पैदल पाँतों को भी गड़बड़ा दिया। किन्तु नेपाली सैनिकों की पाँतें उस हमले के बीच चट्टान की तरह डटी रहीं। नदी पार से तोपों की मार ने भी पठानों की बाढ़ को रोका। इस बीच पिछली पंजाबी पाँतें आगे बढ़ आईं और रिसाले ने फिर हमला किया। रणजीत की पूरी जीत हुई (१४-३-१८२३ ई०)। दूसरे दिन पठान फिर इकट्ठे हुए, लेकिन मुहम्मद-अज़ीम मैदान से भाग गया था। तब खैबर दर्रे तक रणजीतसिंह ने अधिकार कर लिया। पेशावर में उसने मुहम्मद-अज़ीम के एक भाई को अपना सामन्त नियत किया।

इसके बाद मुहम्मद-अज़ीम चल बसा और उसका भाई दोस्त-मुहम्मद काबुल पर राज करने लगा। कन्दहार में भी उसके भाइयों का राज था। काबुल

और कन्दहार ये दो ही प्रदेश अब इन भाइयों के स्वतन्त्र राज्य में रहे।

सन् १८१८ में फतहखाँ के मारे जाने पर अंग्रेज़ों ने शाह शुजा



महाराजा रणजीतसिंह दरबार में
महाराजा के दाहिने बैठे (१) खड्गसिंह (२) नौनिहालसिंह; सामने बैठे (१) हीरासिंह (२) शेरसिंह (३) गुलाबसिंह (४) प्रतापसिंह; सामने खड़े (१) ध्यानसिंह (३) सुचेतसिंह।
समकालीन पंजाबी चित्र, पहाड़ी कलम।
[प्रिंस आव वेल्स संग्र० मुम्बई के न्यासपालों के सौजन्य से]

को भी अफगानिस्तान पर चढ़ाई करने जाने दिया था। लुधियाने से बहावलपुर सक्खर के रास्ते वह शिकारपुर तक बढ़ा और वहाँ से हार कर लौटा था।

§१७. पहला आंग्ल-बरमा युद्ध—हेस्टिंग्स ने १८२३ ई० तक

भारत का शासन किया। १८२३ से २८ ई० तक ऐम्हर्स्ट गवर्नर-जनरल रहा। उसके शासन-काल में अंग्रेज़ों ने भारत की भाड़ैत सेना से बरमा पर पहली चढ़ाई की तथा भरतपुर लिया।

बरमी लोगों का केन्द्र मध्य इरावती काँठे में है। वे पहले पगू के तलाईं राज्य के अधीन थे। तलाईं उस आग्नेय नृवंश [१,२§४] में से हैं जो बरमियों और स्यामियों के आने से पहले समूचे परले हिन्द में फैला हुआ था [५,४§२; ८,३§२]। अठारहवीं शताब्दी के मध्य में बरमी उठे और उन्होंने पगू, स्याम का तनेतइ (तनेसरीम) प्रान्त, अराकान राज्य तथा उत्तरी बरमा जीत लिये। कुछ विद्रोही अराकानी भाग कर चटगाँव में आ बसे। इन विद्रोहियों को साथ ले कर युरोपी लुटेरे मिंटो और हेस्टिंग्स के शासनकाल में चटगाँव से अराकान पर बराबर छापे मारते। ये लुटेरे अंग्रेज़ों के पैंढारी थे। सन् १८२२ तक मणिपुर और असम जीत कर बरमी लोग सिलहट के पूरब के कछार राज्य को जीतने लगे। तब १८२४ में अंग्रेज़ी सेना कछार और असम में घुसी। साथ ही कलकत्ते और मद्रास से एक अंग्रेज़ी फौज ने रंगून पर भी चढ़ाई की। बरमियों ने शहर खाली कर दिया था। अंग्रेज़ों ने उसे ले लिया, पर रसद और वाहन न मिलने से तथा बरमियों के छापों के कारण आगे न बढ़ सके।

इधर बरमी सेनापति महाबन्धुल चटगाँव ज़िले में घुसा और वहाँ अंग्रेज़ी सेना को कुचल कर आगे बढ़ने लगा। ढाके और कलकत्ते में तब आतंक छा गया। किन्तु रंगून का लिया जाना सुन बन्धुल उधर लौट पड़ा। "ऐसे सेनापति से विशेष डरने की ज़रूरत न थी जिसने (शत्रु की) ऐसी कठिन स्थिति से लाभ उठाने की न सोची।"

कछार की तरफ से अंग्रेज बरमा में न घुस सके, किन्तु उन्होंने समुद्र-तट का अरक्षित तनेतइ (तनेसरीम) प्रान्त दखल कर लिया, जहाँ उन्हें रसद-सामान काफी मिल गया। १ अप्रैल १८२५ को दोनाबू की लड़ाई में महाबन्धुल मारा गया। उसके बाद अंग्रेज़ प्रोम तक जा पहुँचे। जाड़े में अंग्रेज़ सेनापति के राजधानी आवा से चोथे पड़ाव यांडबो पहुँच जाने पर सन्धि हुई (२-३-१८२६)। बरमियों ने असम कछार अराकान और तनेसरीम प्रान्त

सौंप दिये।

§ १८. **बारकपुर का कत्ले-आम**—बंगाल में अंग्रेज़ों के भाड़ैत भारतीय सिपाहियों को उन दिनों बारकें न मिलती थीं, अपने खर्च से झोंपड़े बनाने पड़ते थे। युद्ध-भूमि तक अपना सामान ले जाने का प्रबन्ध भी स्वयं करना पड़ता था। वेतन ५॥) मासिक था। जब तक अंग्रेजी राज्य कर्मनाशा नदी (बिहार की पच्छिमी सीमा) तक था, वे इसमें कठिनाई न मानते थे। अब बारकपुर (कलकत्ते के पास) की रेजिमेंट को बरमा-युद्ध के प्रसंग में रंगून जाने का आदेश हुआ तो सैनिकों ने पहले तो समुद्र पार जाने से इनकार किया, पीछे कहा कि दूना भत्ता मिलना चाहिए। अंग्रेज़ प्रधान सेनापति ("जंगी लाट") ने परेड में देशी रेजिमेंट को गोरी फौज से घिरवा कर हुक्म दिया कि कूच को तैयार हो जाओ या शस्त्र रख दो। उनसे यह भी नहीं कहा कि तोपों में अंगूरी छर्रा भरा है और वे छुटने को तैयार हैं। एक बार इनकार करते ही उन्हें तोपों से उड़ा दिया गया (१-११-१८२४ ई०)।

§ १९. **भरतपुर का पतन**—भरतपुर के गढ़ को अंग्रेज़ सारी शक्ति लगा कर भी न ले सके थे, इससे न केवल भारत भर के प्रत्युत पड़ोसी देशों के भी लोगों का ढारस बढ़ा था। १८१४ में जब हेस्टिंग्स की धमकी से नेपाल के उमराव दब रहे थे तब भीमसेन थापा ने उन्हें यह कह कर प्रोत्साहित किया था कि मनुष्य का बनाया छोटा सा भरतपुर गढ़ था, अंग्रेज़ उसे भी न जीत सके,... हमारे पहाड़ों को तो भगवान् ने अपने हाथों बनाया है ...। अमरसिंह ने नेपाल दरबार को जो पत्र लिखा उसमें भी भरतपुर की चर्चा थी। अंग्रेज़ों को अपनी धाक बनाये रखने के लिए भरतपुर को जीतना आवश्यक लगता था। १८२५ में वहाँ का राजा रणजीतसिंह मरा और उसके उत्तराधिकार के दो दावेदार आपस में झगड़ने लगे। उनमें से किसी ने अंग्रेज़ों को बुलाया नहीं, फिर भी अंग्रेज़ों ने भरतपुर को जा घेरा और डेढ़ मास के कड़े घेरे के बाद गढ़ को ले लिया (१८-१-१८२६)। इस घटना का प्रभाव बरमा युद्ध पर भी हुआ। आवा के राजा ने भरतपुर के पतन का समाचार सुना तो सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये। अंग्रेज़ों के भरतपुर ले लेने से भारत के मुख्य भाग पर

उनका निर्विवाद आधिपत्य स्थापित हो गया।

§ २०. **नेपाल भीमसेन थापा के नेतृत्व में**—१८१६ की हार के बाद नेपालियों को अपना आधा राज्य अंग्रेज़ों को देना तथा उनका रेज़िडेंट राजधानी में रखना पड़ा था। अंग्रेज़ों को आशा थी कि दूसरे भारतीय राज्यों की तरह नेपाल को भी रेज़िडेंट द्वारा षड्यन्त्रों का जाल फैला कर क्रमशः अपने चंगुल में कर लेंगे। किन्तु प्रधान मन्त्री भीमसेन थापा ने उनकी दाल न गलने दी। युद्ध में नेपालियों की जो नैतिक जीत हुई थी उसके बल पर भीमसेन का अंग्रेज़ों के तईं बर्ताव बराबर अभिमान-युक्त रहा। राज्य आधा रह जाने पर भी उसने उसकी आर्थिक और सैनिक शक्ति पहले से अधिक बढ़ा ली। युद्ध-काल में ही उसने मन्दिरों और ब्राह्मणों से अपनी आवश्यकता से अधिक जागीरें और माफी जमीनों को वापिस देने का अनुरोध किया था। कुछ ने देशभक्ति की प्रेरणा से कुछ ने दब कर उस अनुरोध को माना था। युद्ध के बाद भी वह प्रक्रिया जारी रही। विदेशी व्यापार की चुङ्गी और अन्य आय-साधनों को भी बढ़ाया गया। उस आय के सहारे भीमसेन ने नेपाल की सेना और शस्त्रभण्डारों की संख्या और क्षमता बढ़ाई। १८१६ में १० हज़ार



भीमसेन थापा
(समकालिक चित्र)

खड़ी सेना थी, १८१६ में १२ और पीछे १५ हज़ार हो गई। इसके अतिरिक्त प्रतिवर्ष पुरानी सेना के एक अंश को विसर्जित कर नई सेना भरती की जाती थी। ऐसे निवृत्त सैनिकों की संख्या जो किसी काल भी बुलाने से फिर आ और शस्त्र-सज्जित किये जा सकते, खड़ी सेना से तिगुनी थी। सैनिक गुणों में ये सैनिक अंग्रेज़ों के भाड़ैत भारतीय सैनिकों से कहीं बढ़ चढ़ कर थे। १८२५ ई० में भारत के अंग्रेज़ प्रधान सेनापति ने प्रस्ताव किया कि गोरखालियों को ई० इं० कम्पनी की भाड़ैत सेना में भरती किया जाय। वह प्रस्ताव यह देख कर नहीं माना गया कि गोरखालियों में देशभक्ति की ऐसी भावना है कि नेपाल से युद्ध छिड़ने पर वे अंग्रेज़ों की सेवा छोड़ अपने देशवासियों से जा मिलेंगे।

भीमसेन ने नेपाली सेना में बराबर यह भावना बनाये रक्खी कि हमें अपनी खोई हुई भूमि वापस लेनी है। भारत के दूसरे राज्यों को भी अपनी स्वतंत्रता के लिए उठने को वह बराबर उकसाता रहा। १८१६ में ही उसने अंग्रेज़ों से भारत को मुक्त कराने के लिए चीन-सम्राट् से अनुरोध किया, १८१७ में मराठा राज्यों को उभाड़ा, फिर १८२४ में रणजीतसिंह को उकसाने का प्रयत्न किया, और अगले वर्ष उसके पास कुछ निश्चित प्रस्ताव भेजे।

परिशिष्ट ८

बलभद्र की समाधि

नेपाली लोग छावनी को खलंगा कहते हैं। नालापानी के पहाड़ पर उनका खलंगा था जिसे अंग्रेज़ों ने उस पहाड़ का नाम समझा। वह शब्द अंग्रेज़ी से हो कर हिन्दी में आते आते कलुंगर बन गया। देहरादून में उस पहाड़ के सामने रिस्पना रौ† के बीच एक एकान्त टापू पर जिलेस्पी और

† रौ = बरसाती नदी। यह हरद्वार देहरादून प्रदेश का खड़ी बोली का शब्द है।

बलभद्र की स्मारक दो सीधी-साधी समाधें अंग्रेज़ों ने साथ साथ खड़ी कीं।



देहरादून में बलभद्र और जिलेस्पी की समाधें; पीछे नालापानी का पहाड़।
ग्रन्थकार द्वारा फ़ोटो।

दक्खिन तरफ की समाध के पूरब ओर यह लेख खुदा है—

THIS IS INSCRIBED
AS A TRIBUTE OF RESPECT
FOR OUR GALLANT ADVERSARY
BULBUDDER
COMMANDER OF THE FORT
AND HIS BRAVE GOORKHAS
WHO WERE AFTERWARDS
WHILE IN THE SERVICE
OF RUNJEET SINGH
SHOT DOWN IN THEIR RANKS
TO THE LAST MAN
BY AFGHAN ARTILLERY

अर्थात्—यह लेख हमारे वीर प्रतिद्वन्द्वी गढ़ के नायक बलभद्र और उसके उन बहादुर गोरखों के प्रति आदर का भाव प्रकट करने के लिए खोदा गया जो बाद में रणजीतसिंह की सेवा में रहते हुए अफगान तोपखाने के मुकाबले में सबके सब अपनी पाँतों में जूझते वीरगति को प्राप्त हुए।

जैसा कि ऊपर [§१५ में] दिये विवरण से प्रकट है, नौशेरा की लड़ाई में, जिसमें बलभद्र और उसके साथियों ने वीरगति पाई, अफ़गानों का कोई तोपखाना नहीं था, रिसाला ही था। इस अंश में इस अभिलेख में थोड़ी चूक हुई है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. मैसूर पर अंग्रेजों का अधिकार कब कैसे स्थापित हुआ? उसका मराठा साम्राज्य पर क्या प्रभाव पड़ा?

२. वेल्जली की 'आश्रित सन्धि' का स्वरूप क्या था? हैदराबाद के निजाम ने वैसी सन्धि किन दशाओं में की? और बाजीराव २य ने किन दशाओं में? गायकवाड और भोंसले ने कब किन दशाओं में? होळकर ने? शिन्दे ने कब कैसे की और कैसे उससे मुक्ति पाई?

३. दूसरा अंग्रेज-मराठा युद्ध किन दशाओं में हुआ? उसका विवरण दीजिए। उस युद्ध से भारत की राजनीतिक स्थिति में क्या परिवर्त्तन हुए?

४. यशवन्तराव होळकर अंग्रेजों से किन दशाओं में लड़ा? उसके युद्ध का विवरण लिखिए। भारत की राजनीतिक स्थिति पर यशवन्तराव के युद्ध का क्या प्रभाव हुआ?

५. नेपालियों ने अलमोड़े से चम्बे तक के प्रदेश कब कैसे जीते?

६. नेपाल और अंग्रेजों के बीच १८०१ में व्यापारिक सन्धि का प्रस्ताव किन दशाओं में हुआ? वह प्रस्ताव सफल हुआ या विफल? क्यों और कैसे?

७. दूसरे और तीसरे अंग्रेज-मराठा युद्ध के बीच मराठा साम्राज्य की भीतरी दशा कैसी रही? कारण सहित स्पष्ट कीजिए।

८. रणजीतसिंह और अंग्रेजों के बीच अप्रैल १८०६ में अमृतसर में जो सन्धि हुई उसका मुख्य अभिप्राय क्या था? किन दशाओं में कैसे वह सन्धि हुई?

९. रणजीतसिंह ने (अ) कोट-कांगड़ा (इ) कोहेनूर हीरा (उ) अटक का किला और (ऋ) पेशावर कैसे पाया?

१०. नैपोलियन की भारत पर चढ़ाई की आशंका कब कैसे उपस्थित हुई? और

कैसे दूर हुई ? अंग्रेज़ों ने नैपोलियन के मुकाबले के लिए भारतीय सेना का कब कहाँ उपयोग किया ?

११. नेपाल और अंग्रेज़ों के बीच युद्ध क्यों हुआ ? दोनों में विवाद किस बात पर था ? उस विवाद का शान्ति से निपटारा क्यों न हो सका ?

१२. नालापानी की लड़ाई का विवरण लिखिए।

१३. अंग्रेज़-नेपाल युद्ध की मुख्य घटनाओं का विवरण दीजिए।

१४. अमरसिंह थापा ने (अ) मार्च १८१५ में नेपाल दरबार को अंग्रेज़ों से सन्धि-प्रार्थना न करने की सलाह क्यों दी ? (इ) दिसम्बर १८१५ में प्रस्तावित अंग्रेज़-नेपाल सन्धि के किस अंश पर क्या आपत्ति की ?

१५. सन् १८०१ से १८१५ तक अंग्रेज़ों ने नेपाल के किस किस राज्याधिकारी को किस किस दशा में घूस दे कर खरीदने का यत्न किया ? फल क्या हुआ ? इसे देखते आप उन्नीसवीं शताब्दी आरम्भ के नेपाली चरित्र के बारे में क्या परिणाम निकालते हैं ? और अंग्रेज़ी राज्यव्यवहार (डिप्लोमेसी) के बारे में ?

१६. "अंग्रेज़ों की इस योजना और मराठों की मनोवृत्ति को देखते हुए कहना पड़ता है कि यह युद्ध नहीं, बड़ा शिकार था" तीसरे अंग्रेज़-मराठा युद्ध के विषय में यह बात क्यों कही गई है ? विवरण दे कर स्पष्ट कीजिए।

१७. महादजी शिन्दे सन् १७६२ में दिल्ली से पूना क्या सन्देश ले कर आया था ? १७६५ से १८१८ ई० की घटनाओं का क्रमिक निदर्शन कर बताइए कि उस सन्देश के आदर्श के अनुसार मराठे कब कब अपना कर्त्तव्य करने से चूक गये ? और कब कब उन्होंने कर्त्तव्य से ठीक उलटा आचरण किया ?

१८. बारकपुर के कत्लेआम (१८२४) से अंग्रेज़ों की भाड़ैत भारतीय सेना की आर्थिक मानसिक स्थिति पर क्या प्रकाश पड़ता है ?

१९. ऐतिहासिक यदुनाथ सरकार ने लिखा है कि अमरसिंह थापा का इतिहास में वही स्थान है जो मेवाड़ के महाराणा प्रतापसिंह का। किन बातों में दोनों की समानता है ? और किन बातों में अमरसिंह की तुलना महाराणा साँगा और महाराणा कुम्भा से की जा सकती है ?

२०. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए (१) जमानशाह (२) राजराजेश्वरी (३) अमीरखाँ (४) मौनसन (५) कृष्णाकुमारी (६) १८१४-१६ के युद्ध में नेपालियों के गढ़ और शस्त्रास्त्र (७) जेम्स टौड (८) रणजीतसिंह की सेना (९) महाबन्धुल (१०) नौशेरा की लड़ाई, मार्च १८२३ (११) भरतपुर गढ़ १८०५, १८२५-२६ (१२) रणजीतसिंह और नेपाली।

अध्याय २

भारत में अंग्रेज़ी भूमि-बन्दोबस्त शिक्षा और कानून

(१७६६-१८३६ ई०)

§१. भारत में अंग्रेज़ी भूमि-बन्दोबस्त और स्थानीय शासन की बुनियाद—क्लाइव और वारन हेस्टिंग्स के पहले विजयों के बाद उनके सामने देश के प्रबन्ध और ज़मीन के बन्दोबस्त के प्रश्न आये तो उन्हें कोई पद्धति न सूझ पड़ी, और वे साल-ब-साल मालगुजारी को नीलाम करते रहे। कौर्नवालिस ने बंगाल बिहार और बनारस में जमीन का स्थायी बन्दोबस्त किया और शासन का ढाँचा खड़ा किया। आन्ध्र देश के "उत्तरी सरकारों" (तट के जिलों) में तब भी पुराने तरीके से मालगुजारी नीलाम होती रही।

सन् १७६२ ई० में कौर्नवालिस को टीपू से मलबार और बारामहाल (सेलम कृष्णागिरि ज़िले) मिले। बारामहाल का बन्दोबस्त एक फौजी अफ़सर को सौंपा गया। टौमस मुनरो उसका सहायक था। वेल्ज़ली के शासनकाल में टीपू के राज्य में से कन्नड तट कोयम्बतूर और नीलगिरि कंपनी ने ले लिये; निज़ाम को तुंगभद्रा के दक्खिन के वेल्लारि अनन्तपुर कडप जिले मिले, जो उसने अंग्रेज़ों को दे दिये। फिर तांजोर और आरकाट राज्य दखल किये गये। इन प्रदेशों में से अधिकांश का बंदोबस्त टौमस मुनरो ने ही किया। बाद में मद्रास अहाते के शासन का संघटन उसी को सौंपा गया, और सन् १८२० से १८२७ तक वह मद्रास का गवर्नर रहा।

वेल्ज़ली के अधीन काम सीखने वाले नवयुवकों में मौंटस्टुअर्ट एल्फिन्स्टन, जौन मालकम और चार्ल्स मेटकाफ थे। इनके कार्यक्षेत्र क्रमशः महाराष्ट्र मालवा और दिल्ली रहे।

एल्फिन्स्टन सन् १८१६ से १८२७ तक मुम्बई का गवर्नर रहा; उसके बाद उसी पद पर मालकम ने काम किया। वेल्ज़ली ने अवध के नवाब से इलाहाबाद फर्रुखाबाद और रुहेलखंड के इलाके लिये, तथा इटावे से पच्छिम

के जमना तट के जिले शिन्दे से जीते। पहले इनका शासन बंगाल के अधीन रहा। १८३४ ई० से आगरे का अलग प्रान्त बना तो मेटकाफ उसका पहला गवर्नर नियत किया गया।

विलियम बेंटिंक सन् १८०३ से १८०७ तक मद्रास का गवर्नर था। वेल्लूर में सिपाहियों का एक बलवा होने पर उसे पदच्युत किया गया। सन् १८२८ में उसे भारत का गवर्नर-जनरल बना कर भेजा गया। उसके बाद एक बरस (१८३५-३६ ई०) मेटकाफ उस पद पर रहा। टौमस मुनरो ने मद्रास में जिस शासन-योजना का विकास किया, प्रायः उसी का अनुसरण एल्फिन्स्टन ने मुम्बई में किया, और फिर उन दोनों की नीति का बेंटिंक ने समूचे भारत पर प्रयोग किया।

§ २. **दक्खिन और पूर्वी भारत में रैयतवार और ज़मींदारी बन्दोबस्त**—बारामहाल का मालगुजारी-बन्दोबस्त करते हुए मुनरो ने यह देखा कि वहाँ ज़मींदार नहीं हैं। उसने वहाँ सीधा किसानों से बन्दोबस्त किया। तब से उसका झुकाव रैयतवार अर्थात् किसानों से सीधा बन्दोबस्त करने की तरफ हो गया।

कम्पनी हर इलाके को अधिक से अधिक दुहना चाहती थी। मालगुजारी जितनी बढ़ सके बढ़ाई जाती और उसे सख्ती से वसूल किया जाता। मलबार में अंग्रेज़ अफसरों द्वारा ऐसा किये जाने पर वहाँ के 'राजाओं' और नायर सरदारों ने विद्रोह किया। उस विद्रोह को कड़ाई से कुचला गया। यों धीरे धीरे मलबार से ज़मींदार प्रायः लुप्त हो गये।

तांजोर के किसान अपने मुखियों द्वारा राजा को मालगुजारी दिया करते थे। ये मुखिया पट्टकदार कहलाते और धीरे धीरे जमींदार बनते जाते थे। अंग्रेजों ने सीधे किसानों से बन्दोबस्त किया जिससे पट्टकदारों की सफाई हो गई।

आरकाट के इलाकों में अनेक छोटे सरदार थे। उनकी जागीरें पालयम और वे पालयगार कहलाते थे। ये पुराने कालों के गाँवों के मुखिया या राज्याधिकारियों के वंशज थे जो नवाब के अनिच्छुक सामन्त बन गये थे। अनेक राजविप्लवों के बीच यही देश के वास्तविक शासक रहे थे। इनकी सामरिक

शक्ति भी काफी थी। नवाब मुहम्मदअली ने इनके दमन के लिए अनेक बार अंग्रेजों से मदद ली। अंग्रेज़ों को भी इन्हें कुचल देना अभीष्ट था। सन् १७९९-१८०० ई० में इनकी अपने अपने गाँवों से बाहर की ज़मीनें जब्त करके बाकी ज़मीनों पर एकाएक ११७ फी सदी मालगुजारी बढ़ा दी गई। इसपर इन्होंने विद्रोह किया तो इनकी जागीरें जब्त की गईं और बहुतों को फाँसी चढ़ा दिया गया। मुनरो ने लिखा—"कोई आवारा राजा सिर उठायेगा तो मैं उसे ठीक कर दूँगा।" सन् १८०२-३ में बचे-खुचे पालयगारों के साथ स्थायी ज़मीदारी बन्दोबस्त और बाकी इलाकों में रैयतवार बन्दोबस्त किया गया।

"उत्तरी सरकारों" अर्थात् आन्ध्रतट के जिलों में सन् १८०२ से १८०५ तक लौर्ड वेल्जली ने जमींदारों से स्थायी बन्दोबस्त करा दिया। वहाँ बहुत सी "हवेली" अर्थात् राजकीय ज़मीनें भी थीं। उनकी चकबन्दी करके उन चकों की ज़मीदारियाँ नीलाम कर दी गईं। पुराने ज़मींदार तो पुराने स्थानीय शासक थे और पुरानी परम्परा से चलते थे। पर इन नये ज़मींदारी खरीदने वालों ने केवल नफे के ख्याल से पूँजी लगाई थी, इसलिए ये किसानों से अधिक से अधिक लगान लेने लगे।

मद्रास के अधिक भागों में किसानों से सीधा बन्दोबस्त करने का उद्देश यह नहीं था कि किसानों के पास उनकी पूरी कमाई बनी रहे, प्रत्युत यह कि उपज का जो हिस्सा ज़मींदार ले जाते, वह भी कम्पनी को मिले। रैयतवार बन्दोबस्त में भी किसान को ज़मीन का मालिक न माना गया था। ईस्ट इंडिया कम्पनी खुद मालिक बन बैठी थी, और मालिक अपनी पूँजी से जिस नफे की आशा करता है, भारत के खेतों से वह नफा वह स्वयं लेना चाहती थी। किसान उसकी दृष्टि में उसकी "रैयत" थे, जिन्हें मज़दूरी भर मिलनी चाहिए थी। इस प्रकार इस पद्धति में हाकिम किसी रैयत को जो खेत सौंप दे, उसका जिम्मा उस रैयत को लेना ही पड़ता था। बाद में नफा न होने से यदि वह खेत को छोड़ कर भागे भी, तो उसका पीछा करके उसे पकड़ा जाता। एक एक कलक्टर के लिए डेढ़ डेढ़ लाख किसानों के साथ बन्दोबस्त करना सम्भव न था। इसलिए छोटे अमले किसानों पर मनमानी करने लगे।

किसानों की दृष्टि से ज़मींदारी और रैयतवार दोनों बन्दोबस्त एक समान थे। एक में ज़मींदार ज़मीन के मालिक बन बैठे थे और दूसरे में कम्पनी; किसान दोनों दशाओं में मालिक के बजाय "रैयत" बन गये थे। पुराने जागीरदार वास्तव में स्थानीय शासक थे, और जिन किसानों से वे वसूली करते थे, ज़मीन के मालिक वही थे। जागीरदारों की शासन-शक्ति अंग्रेज़ों ने तोड़ दी। किन्तु इसके बावजूद बंगाल-बिहार में जब कौर्नवालिस ने उन जागीरदारों के साथ ज़मीन का बन्दोबस्त किया तब उसका अर्थ केवल यह था कि स्थानीय शासन के कार्य में से वसूली का काम उन्हें सौंपा गया जिसके बदले में उन्हें १० प्रतिशत कमीशन दिया गया। जिन लोगों के साथ बन्दोबस्त किया गया, वे प्रायः मालगुजारी-वसूली को नीलामी में खरीदने वाले ठेकेदार थे। किन्तु धीरे धीरे उनका वह वसूली का ठेका ज़मीन की मिलकियत बनता गया और "नीलाम खरीदने वालों ने जो शक्तियाँ हथिया लीं, उनके कारण किसानों के पास किसी अधिकार की परछाँही भी नहीं बची, और खुशहाल और समृद्ध कृषक जनता दरिद्रता की सबसे निचली सतह पर जा गिरी।"

उस काल मद्रास के मालगुज़ारी दफ्तर (बोर्ड आव रेवेन्यू) ने ऐसा प्रस्ताव किया जिससे वहाँ के किसानों को उस गड्ढे में गिरने से बचाया जा सकता था। भारतवर्ष में तब तक सब जगह गाँवों की पुरानी पंचायतें बनी हुई थीं। मद्रास बोर्ड का प्रस्ताव था कि सरकार प्रत्येक गाँव की पंचायत से मालगुज़ारी का स्थायी बन्दोबस्त कर दे, और गाँव के भीतर उसका बँटवारा तथा उसकी वसूली सब पंचायत पर छोड़ दे। इससे किसानों की मिलकियत भी नष्ट न होती और स्थानीय स्वशासन भी उनके हाथों में बना रहता। किन्तु मुनरो के प्रभाव से यह प्रस्ताव स्वीकृत न हो पाया, और मद्रास प्रान्त में जहाँ जहाँ ज़मींदारों से स्थायी बन्दोबस्त न हो चुका था, सन् १८२० में वहाँ अस्थायी रैयतवार बन्दोबस्त कर दिया गया, और उपज की ४५, ५०, ५५ फी सदी तक मालगुजारी तय की गई। पीछे मुनरो ने इस दर को घटा कर उपज का तिहाई कर दिया।

मुम्बई का विशाल प्रान्त तीसरे अंग्रेज़-मराठा युद्ध के बाद बना। वहाँ

भी अनेक जगह कृषक ही ज़मीन के मालिक थे, जो मिराशी या मिराशदार कहलाते थे। जहाँ जागीरदार थे, उनकी शक्ति तोड़ने की भरसक चेष्टा की गई। गाँवों की पंचायतें सब जगह थीं, जो "आत्म-परिपूर्ण छोटे छोटे राज्य जैसी थीं।" एल्फिन्स्टन ने मालगुजारी का बन्दोबस्त तो सीधा कृषकों से कराया (१८२४–२८ ई०), पर वसूली का काम गाँव के मुखियों को सौंप दिया। इससे वे मुखिया सरकारी नौकर बन गये। पंचायतों के हाथ में कोई सामूहिक कार्य न रह जाने से वे धीरे धीरे लुप्त होती गईं।

मुम्बई प्रान्त के इस बन्दोबस्त में बहुत गलत माप और पैदावार के बढ़ाये हुए अन्दाज़ के आधार पर उपज की ५५ प्रतिशत मालगुज़ारी नियत की गई। कृषकों को भयंकर यातनाएँ दी गईं; वे घर छोड़ भागने लगे। सन् १८३५ में विंगेट ने फिर ३० बरस के लिए बन्दोबस्त किया, जिसमें माप तो ठीक किया गया, पर कर की दर ऊँची ही रही। किसान अपनी ज़मीनें बचाने के लिए सूदखोर महाजनों के पंजों में फँसते गये।

§३. उत्तर भारत और उड़ीसे का महालवार बन्दोबस्त— अवध के नवाब के सौंपे हुए इलाके सन् १८०१ में सात जिलों में बाँटे गये, और उनकी मालगुजारी एकदम २०-३० लाख रुपया वार्षिक बढ़ा दी गई। यह घोषणा की गई कि १० बरस बाद स्थायी बन्दोबस्त किया जायगा। सन् १८०३ में शिन्दे से जीते हुए इलाके के ५ जिले बनाये गये और वहाँ भी वैसी ही घोषणा की गई। उस युद्ध और मालगुजारी बढ़ाने का परिणाम सन् १८०४ का दुर्भिक्ष हुआ।

मिंटो और हेस्टिंग्स दोनों ने अपने अपने शासन-काल में इन इलाकों में स्थायी बन्दोबस्त कर डालने का अनुरोध किया। किन्तु कम्पनी के डाइरेक्टरों ने फैसला किया कि वैसा न होगा।

यह फैसला हो जाने पर सन् १८२२ में उत्तर भारत के तथा भोंसले से जीते गये कटक प्रदेश के मालगुजारी-बन्दोबस्त के लिए यह योजना बनाई गई कि कुल जमीन-मिलकियत की जाँच की जाय, और एक एक "महाल" पर अर्थात् जायदाद की एक एक इकाई पर सरकारी "जुम्मा" तय कर दिया जाय। जहाँ

जमींदार हों वहाँ जमींदारों से, और जहाँ किसानों की जमीनें हों वहाँ गाँव के मुखियों से बन्दोबस्त किया जाय। इन मुखियों का कलक्टर के रजिस्टर में नम्बर रहता, इससे ये नम्बरदार कहलाये।



सर चार्ल्स मेटकाफ
दिल्ली में अंकित समकालीन चित्र
[दिल्ली संग्र०, भा० पु० वि०]

यह योजना भी एक अरसे तक सफल न हुई। सरकार की माँग इतनी अधिक थी कि किसान और जमींदार दे न पाते थे। मिलकियत की जाँच में लोग सहयोग न देते थे। सन् १८३० में मेटकाफ ने प्रस्ताव किया कि पंचायतों को बनाये रक्खा जाय और व्यक्तिशः किसानों से बन्दोबस्त न किया जाय। सरकार ने यह स्वीकार नहीं किया। सन् १८३३ में बेंटिक ने मालगुजारी की दर घटा दी। उसके अनुसार रौबर्ट बर्ड ने सन् १८३३ से १८४९ तक इन इलाकों का ३० साल के लिए बन्दोबस्त किया।

§४. हिमाचल में कुली-उतार और बेगार—नेपालियों से लिये गये पहाड़ी प्रदेशों के मालगुजारी बन्दोबस्त में बेगार और "कुली-उतार" को भी मालगुजारी का अंश बना दिया गया। पहाड़ी प्रदेशों में दौरा करने जब कोई सरकारी अधिकारी आय, तब प्रत्येक मालगुजारी देने वाले पर स्वयं कुली बन कर अथवा अपने आश्रित मजदूरों द्वारा उसका बोझा ढोने ढुवाने की जिम्मेदारी डाली गई, जो उन्हें बारी बारी निभानी पड़ती। जिस गाँव में से अधिकारी गुजरें या जहाँ डेरा डालें वहाँ के लोगों को बेगार में सब तरह का रसद-सामान भी उनके लिए मोहय्या करना पड़ता। न केवल अधिकारी प्रत्युत गोरे यात्री भी इस प्रथा का लाभ उठाते, और जब कोई 'साहब' पहाड़ में जाता, पचासों मजदूर एक पड़ाव से दूसरे पड़ाव तक उसका सामान—कमोड तक—सिर पर ढो कर ले जाते। यों यह एक तरह की गुलामी प्रथा

मालगुजारी-बन्दोबस्त में शामिल कर दी गई।

§५. दक्खिनी बुन्देलखंड का मालगुज़ारी बन्दोबस्त—"सागर और नर्मदा प्रदेश" अर्थात् सागर दमोह ज़िलों सहित नर्मदा का बुन्देली-भाषी काँठा सन् १८१८ में अंग्रेज़ी शासन में आया। सन् १८६१ तक उसका शासन कभी सीधा भारत-सरकार के और कभी उत्तरपच्छिमी प्रान्त (आधुनिक उत्तर प्रदेश) के अधीन रहा। शुरू में वहाँ त्रिवार्षिक और पंचवार्षिक बन्दोबस्त होता रहा। मराठा सरकार जितनी मालगुजारी लेती थी, अंग्रेज़ों ने एकदम उससे सातगुनी कर दी। सन् १८३५-३६ में २०-वार्षिक बन्दोबस्त किया गया, पर मालगुजारी की दर तब भी मराठा दर से तिगुनी रही। फल यह हुआ कि "परगने मानो मुर्दा हो गये। ऐसी बरबादी हुई कि मानव जीवन के चिह्न न दिखाई देते थे।"

§६. राजस्थान में अंग्रेज़ों के खड़े किये जागीरदार—१८१८ के बाद राजस्थान में अजमेर को अंग्रेज़ी शासन का केन्द्र बना कर औक्टरलोनी को वहाँ का मुख्य कामदार (एजंट-जनरल) तथा टौड और मालकम को उसके अधीन 'राजपूताने' और मालवे का राजनीतिक कामदार (पोलिटिकल एजंट) नियत किया गया। शिन्दे का स्वतन्त्र राज्य इनके पड़ोस में अभी बना था। यह देखते हुए अंग्रेज़ों ने अपना पक्ष दृढ करने की खातिर उन सब लोगों का अपने कब्जे की जायदादों पर अधिकार मान लिया जो पिछली अव्यवस्था का लाभ उठा कर जहाँ तहाँ ज़मीनों या गाँवों के मालिक बन बैठे थे। इस प्रदेश में अपने अनेक पिट्ठुओं को अंग्रेज़ों ने दूसरे अंग्रेज़-मराठा युद्ध के बाद जागीरें और रियासतें दिलाईं थीं और अब भी वैसा ही किया। हाड़ौती (कोटा-बूँदी) की जनता ने पहले यशवन्तराव होळकर का फिर पेंढारियों का साथ दिया था। वहाँ के लोगों का मराठा राज्यों से सम्बन्ध काट देने की दृष्टि से हाड़ौती के दक्खिनी छोर का राज्य टौड ने अंग्रेज़ों के पिट्ठू जालिमसिंह झाला को दिला कर उस प्रदेश का नाम झालावाड़ रख दिया। इसी प्रकार टोंक के नवाब अमीरखाँ को सिरोंज जैसे नाकेबन्दी के प्रदेश सौंपे।

§७. अंग्रेज़ी शासन-ढाँचा और गाँव-पंचायतों का टूटना—

कौर्नवालिस का चलाया शासन-ढाँचा सफल न हुआ था। मिंटो और हेस्टिंग्स के शासनकाल में बंगाल-बिहार के जिलों के जिलों पर डाकुओं का स्वच्छन्द राज बना रहता था। अंग्रेज राजकर्मचारी देश से अपरिचित होने के कारण शासन और न्याय का काम न चला सकते थे।

मद्रास में अब शासन के पुनःसंघटन का काम भी टौमस मुनरो को सौंपा गया। मुनरो ने ये प्रस्ताव किये कि (१) गाँव-पंचायतें फिर से संघटित कर गाँवों में पुलिस का प्रबन्ध उन्हीं को सौंप दिया जाय (२) न्याय-विभाग में भरसक देशी जज नियुक्त किये जायँ और (३) कलक्टर को मजिस्ट्रेट के अधिकार भी दिये जायँ।

उसकी पहली बात न मानी गई। दूसरी बात अंशतः मानी गई और छोटे पदों पर देसियों की नियुक्ति होने लगी। तीसरी बात को कम्पनी के डाइरेक्टरों ने उत्सुकता से स्वीकार किया। उन्हें अपनी आमदनी से मतलब था, इसलिए मालगुजारी वसूल करने वाले हाकिमों के हाथ में अधिक से अधिक शक्ति देना उन्हें पसन्द था। बाद में बेंटिंक ने यह योजना समूचे भारत के लिए जारी कर दी।

बम्बई का शासन-संघटन एल्फिन्स्टन ने किया। उसने अंग्रेजों के चलाये हुए कुल नियम-कायदों को स्मृतिबद्ध कर दिया। मुनरो की तरह उसने भी छोटे पदों पर भारतीयों को नियुक्त करने की नीति पकड़ी। उसने शिक्षा फैलाने की भी कोशिश की। उस काल की अनेक ग्राम-पंचायतें पाठशालाएँ भी चलाती थीं। उसने उन शालाओं को पुस्तकें छपवा कर देने का प्रबन्ध किया। किन्तु वे पंचायतें स्वयं लुप्त होने जा रही थीं।

बेंटिंक ने अपनी गवर्नर-जनरली में मुनरो और एल्फिन्स्टन का अनुसरण करते हुए भारतीयों के लिए छोटे पद खोल दिये। मालगुज़ारी की दर बेंटिंक ने सब जगह कम की। तब तक देश के भीतरी व्यापार पर जगह जगह चुंगी लगती थी। बेंटिंक ने बंगाल से कुल चुंगी-चौकियाँ उठा दीं। समूचे भारत के रास्तों पर तब ठग लोग यात्रियों को लूटते मारते थे। बेंटिंक ने कर्नल स्लीमन को उनके उन्मूलन का काम दिया। तब तक फारसी अदालती भाषा

थी। बैंटिंक ने अंग्रेज़ी और प्रान्तीय भाषाओं को वह स्थान दे दिया।

पिछले युगों के स्थानीय शासन में जागीरदारों के साथ साथ गाँव-पंचायतों का भी हाथ रहता था। गाँव के भीतर मालगुजारी का बँटवारा और उगाहना, अपराधियों को पकड़ना आदि सभी सामूहिक कार्य वही करती थीं। अंग्रेज़ी शासन में उनके हाथ में कोई अधिकार और दायित्व न रह गया, जिससे वे धीरे धीरे मिटती गईं।

§८. नमक और अफ़ीम का एकाधिकार—कम्पनी ने जो भी नया प्रदेश पाया वहाँ क्लाइव की नीति का अनुसरण करते हुए नमक और अफीम के कारोबार पर अपना एकाधिकार रक्खा। बैंटिंक ने अपनी गवर्नर-जनरली में नमक पर कम्पनी का एकाधिकार मानते हुए राजस्थान की साँभर झील और साँभर जिले पर भी कब्जा किया, पर उससे मारवाड़ और जयपुर में व्यापक विद्रोह हुआ और एक अंग्रेज मारा गया। तब वह कब्जा छोड़ना पड़ा।

§९. भारत में अंग्रेज़ी शिक्षा की बुनियाद—भारत के राज्य-कर्त्ता देश में विद्या की उन्नति करना और विद्यालयों को चलाना अपना कर्त्तव्य मानते थे। जब ई० इं० कम्पनी के हाथ भारत के अनेक प्रान्तों का शासन आ गया तब उसपर भी यह ज़िम्मेदारी पड़ी। तदनुसार कलकत्ते में एक 'मदरसे' की स्थापना सन् १७८१ में और बनारस में 'पाठशाला' (संस्कृत कालेज) की स्थापना १७९१ में ही की गई थी। भारत म ऊँची शिक्षा तब तक प्राचीन भाषाओं अर्थात् संस्कृत फ़ारसी अरबी के वाङ्मयों द्वारा होती थी। सो उस मदरसे और पाठशाला में इन्हीं की शिक्षा का प्रबन्ध किया गया।

भारत की गाँव-पंचायतें भी पाठशालाएँ चलातीं जिनमें स्थानीय भाषा से आरंभिक शिक्षा दी जाती थी। कोई कोई गाँव ऊँची शिक्षा देने वाली पाठशालाएँ भी चलाते थे। सन् १८३५ में देखा गया कि बंगाल में एक लाख से अधिक गाँव-पाठशालाएँ हैं। हमने देखा है [ऊपर §७] कि एल्फिंस्टन ने मुम्बई में पुरानी गाँव-पाठशालाओं को ही छपी पुस्तकों के रूप में सहायता देना आरम्भ किया था। उसी काल बंगाल में भी कई संस्थाओं और व्यक्तियों ने गाँव-पाठशालाओं के लिए बँगला पुस्तकें छपवाना आरम्भ किया।

हमने यह भी देखा है [६, ११ § ५] कि रघुनाथ हरि नवलकर ने अठारहवीं शताब्दी में ही यह पहचान लिया था कि युरोप के नये ज्ञान को भारतीय जनता तक पहुँचाये बिना भारत की गति नहीं है। बंगाल में उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में राममोहन राय नामक सुधारक हुआ (१७७४-१८३३ ई०)। उसने भी रघुनाथ हरि की बात दोहराते हुए भारतीयों के उद्बोधन का यह मार्ग बताया कि उन्हें नये युरोपी विज्ञान की शिक्षा अपनी देसी भाषाओं द्वारा दी जाय। राममोहन का पिछला समकालिक बालशास्त्री जांभेकर था (१८१२-१८४६ ई०)। उसने तेरह बरस की आयु में ही संस्कृत शास्त्रों का अच्छा अभ्यास कर लिया था। उसके बाद एल्फिन्स्टन के प्रोत्साहन से अंग्रेजी फ्रांसीसी और लातीनी सीख कर युरोप के नये गणित और ज्योतिष का गहरा अध्ययन कर इन विषयों पर मराठी में पहले ग्रन्थ लिखे, एल्फिन्स्टन के चलाये शिक्षा-विभाग में सेवा कर जी-जान से अपने प्रांत में शिक्षा-प्रसार का यत्न किया, अपने देश के इतिहास-पुरातत्त्व की ओर भी ध्यान दिया, तथा बँगला फारसी गुजराती और कन्नड भी सीख कर मराठी में पहला साप्ताहिक और मासिक पत्र निकाला।

भारतीयों की शिक्षा का सच्चा मार्ग यही था। यदि इस प्रकार की शिक्षा बढ़ती चलती तो कुछ ही काल में भारतीयों की मोहनिद्रा टूट जाती और वे आँखें खोल कर यह भी देखने लगते कि हमें मुट्ठी भर विदेशियों ने हमारे ही भाइयों की सेना और हमारे ही साधनों से बाँध रक्खा है। वे अपनी पिछली हारों के कारण को पहचान कर नई युद्ध-विद्या को भी सीखने का प्रयत्न कर सकते थे। उस दशा में अंग्रेजी साम्राज्य भारत में अधिक काल न टिक सकता। ऐसी बात थी तो एल्फिन्स्टन जैसे अंग्रेजी साम्राज्य के स्थापक [१०, १ §§ १०, १५; ऊपर §§ १, २, ७] ने क्यों इस प्रकार की शिक्षा को बढ़ावा दिया ? इसका उत्तर यह है कि एल्फिन्स्टन और उस जैसे अन्य अंग्रेज़ राजनेता जो भारत की देसी भाषाओं में नया ज्ञान लाने के और देसी भाषाओं द्वारा शिक्षा के पक्षपाती थे, इस बात को भली भाँति समझते थे कि इससे भारतीयों की आँखें खुल जायँगी, और उनका यह अन्दाज़ था कि वैसा होने में

कम से कम चालीस पचास बरस लगेंगे; पर साथ ही उनका यह विश्वास भी था कि ४०-५० बरस में अंग्रेज़ों की भाड़ैत भारतीय सेना वैसे भी यह पहचान लेगी कि अंग्रेज़ी साम्राज्य हमारे ही आसरे खड़ा है और वह स्वतन्त्र होने तथा अपने देश को स्वतन्त्र करने का जतन करेगी। मुनरो और एल्फिंस्टन दोनों ने लिखा था कि हमारे साम्राज्य का आधार भारतीय सेना है, और जिस दिन वह सेना हमारी आज्ञा मानने में आनाकानी करने लगेगी, विद्रोह करने की बात दूर, उसी दिन हमें भारत से विदा होना होगा। उनका अन्दाज़ था कि ४०-५० बरस में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जायगी। इस दशा में जो बात अवश्यम्भावी है उसे करने का श्रेय अंग्रेज़ शासक क्यों न ले लें?

परन्तु इस बीच "विजेताओं की भाषा देसी अमलों को सिखाने की आवश्यकता से (कुछ) नये ढर्रे के स्कूल पैदा हो गये थे।" सन् १८१७ में डैविड हेयर नामक घड़ीसाज ने कलकत्ते में पहलेपहल एक अंग्रेज़ी स्कूल खोला था। सन् १८२३ में कम्पनी की सरकार ने शिक्षा के लिए कुछ खर्च मंजूर किया। तब दिल्ली और आगरे में भी कालेज खोले गये। इन स्कूलों कालेजों के तजरबे से देखा गया कि उच्च वर्ग के भारतीय अपने मालिकों की बोली और रंगढंग सीख कर अपने समाज में जो अधिकार के पद पा जाते हैं उससे वे बहुत खुश हैं, उन्हें अंग्रेज़ों का नया ज्ञान पाने की वैसी परवाह नहीं जैसी अंग्रेज़ों की बोली बोलते हुए अपने देशवासियों के बीच अंग्रेज़ों का समकक्ष बन खड़े होने की। यदि उनकी इस प्रवृत्ति का लाभ उठा कर भारत में अंग्रेज़ी साम्राज्य की जड़ को और टिकाऊ बनाया जा सके तो क्यों न बनाया जाय?

सन् १८३३ में कम्पनी को नया पट्टा (चार्टर) मिलने पर शिक्षा के सम्बन्ध में एक कमिटी बिठाई गई। मैकाले उसका सभापति था। भारतवासियों को कैसी शिक्षा दी जाय इस प्रश्न का निपटारा उस कमिटी को करना था। कमिटी में कुछ ऐसे अंग्रेज़ थे जो संस्कृत फारसी आदि "प्राच्य" भाषाओं का अध्ययन और प्राच्य पुरातत्त्व की खोज करते थे। इनका मत था कि इन्हीं भाषाओं और इनके पुराने वाङ्मयों द्वारा भारतीय युवकों को शिक्षा दी जाय। दूसरा पक्ष अंग्रेज़ी शिक्षा वालों का था।

मैकाले ने "प्राच्य" शिक्षा का मज़ाक उड़ाया और अंग्रेज़ी पक्ष का साथ दिया। पच्छिमी विज्ञान के बजाय उसने अंग्रेज़ी भाषा साहित्य और कानून की शिक्षा पर ही जोर दिया, और इस बात की उपेक्षा की कि देशी भाषाओं द्वारा भी शिक्षा दी जा सकती थी। मैकाले का उद्देश अंग्रेज़ी शासन के लिए भारतीय क्लर्क वकील और कारिन्दे तैयार करना था। साथ ही उसके ध्यान में यह बात भी थी कि "जहाँ हमारी भाषा जायगी वहाँ हमारा व्यापार भी पहुँचेगा।" अन्त में अंग्रेज़ी पक्ष की जीत हुई। तब से अंग्रेज़ी स्कूलों कालेजों की स्थापना होने लगी। इसके साथ ही गाँव-पंचायतें अब आपसे आप लुप्त हो रही थीं। उनके साथ ही उनकी पुरानी पाठशालाएँ भी लुप्त होती गईं।

§ १०. भारत में अंग्रेज़ी कानून की बुनियाद—सन् १८३३ तक बंगाल मद्रास मुम्बई के गवर्नर अलग अलग कायदे (रेगुलेशन) बनाते थे। अब अंग्रेज़ी पार्लिमेंट ने यह तय किया कि समूचे भारत के लिए गवर्नर-जनरल कानून बनाया करे। कानूनों के मसविदे तैयार करने को गवर्नर-जनरल की कौंसिल में एक अतिरिक्त सदस्य नियत किया गया। पहलेपहल यह पद मैकाले को ही मिला। मैकाले ने इस पद पर रहते हुए भारतीय दण्ड-विधान (इंडियन पिनल कोड) का मसविदा तैयार किया।

राममोहन राय ने सती प्रथा के विरुद्ध पुकार उठाई थी। बेंटिंक ने एक कायदे द्वारा उस प्रथा को रोक दिया।

११. भारत में अंग्रेज़ों को बसाने के प्रयत्न—सन् १८३३ के नये पट्टे के अनुसार कम्पनी का व्यापार उठा दिया गया। तब से उसका काम केवल शासन रह गया। भारत में व्यापार करने तथा बसने के लिए सब अंग्रेज़ों को छूट और प्रोत्साहना दी गई। भारत की मुल्की सेवा (सिविल सर्विस) में भाग लेने वाले युवकों की शिक्षा के लिए इंग्लैंड में प्रबन्ध किया गया।

मैसूर के जिस शिशु राजा को वेल्ज़ली ने स्थापित किया था, बेंटिंक ने उसे पेंशन दे कर अलग कर दिया (सन् १८३१)। अगले ५० वर्ष मैसूर का शासन अंग्रेज़ों के हाथ में रहा। कछार और कोडुगु ('कुर्ग') राज्यों की भीतरी अव्यवस्था से लाभ उठा कर बेंटिक ने उन्हें ज़ब्त कर लिया। कोडुगु की पहाड़ी

भूमि अंग्रेज़ों के बसने के लिए उपयुक्त समझी गई। वहाँ बहुत से अंग्रेज़ों को काफी (कहवे) की काश्त के लिए मुफ्त ज़मीनें दी गईं जिनपर वे बस गये।

दौलतराव शिन्दे सन् १८२७ में मर गया। उसकी विधवा बायजाबाई बालक राजा जनकोजी के नाम पर शासन चलाने लगी। बेंटिंक ने चाहा कि राजा पेंशन ले कर राज्य छोड़ दे। किन्तु ग्वालियर का रेजिडेंट कैवेंडिश इस षड्यन्त्र से सहमत न हुआ और उसने "आगरे को मुम्बई से जोड़ देने का सुयोग खो दिया।"

जयपुर और जोधपुर राज्यों के मामलों में भी बेंटिंक ने दखल दिया। १८३० से अंग्रेज़ सतलज से आगे बढ़ने की जोड़तोड़ भी करने लगे।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. कौर्नवालिस के शासनकाल में भारत में अंग्रेज़ों का सीधा शासन किस किस प्रदेश में था? उन प्रदेशों में से स्थायी बन्दोबस्त कहाँ कहाँ किया गया? बाकी प्रदेशों में मालगुजारी की कौन सी पद्धति रही?

२. कौर्नवालिस के स्थायी बन्दोबस्त का अर्थ क्या था? जिन लोगों के साथ वह बन्दोबस्त किया गया था उनका ज़मीनों से सम्बन्ध तब क्या था? और बाद में कैसा हो गया?

३. मलबार कर्णाटक तमिळनाड और आन्ध्रदेश के किन भागों में अंग्रेज़ी शासन के शुरू में ज़मींदार नहीं थे? जहाँ थे वहाँ उनकी अंग्रेज़ी शासन में क्या गति हुई? नये ज़मींदार कहाँ कैसे खड़े हुए?

४. "किसानों की दृष्टि से ज़मींदारी और रैयतवार दोनों बन्दोबस्त एक समान थे।" क्यों?

५. नीलाम खरीदने वालों ने जो शक्तियाँ हथिया लीं, उनके कारण किसानों के पास किसी अधिकार की परछाँईं भी नहीं बची।" कैसे?

६. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए (१) मिराशदार (२) महालवार बन्दोबस्त (३) कुली-उतार (४) "जहाँ हमारी भाषा जायगी वहाँ हमारा व्यापार भी पहुँचेगा।"

७. भारत की गाँव-पंचायतें अंग्रेज़ी जमाने में क्यों और कैसे लुप्त हो गईं?

८. भारत युरोप से ज्ञान में पिछड़ गया था इसे देखते हुए उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के लिए शिक्षा की उचित पद्धति क्या होती? जो पद्धति अपनाई गई वह किन अंशों में उससे भिन्न थी? क्यों वैसी पद्धति अपनाई गई?

अध्याय ३

अंग्रेज़ों का सिक्ख राज जीतना

(१८३०–१८४६ ई०)

§ १. **मध्य एशिया में रूसी और अंग्रेज़ अग्रदूत**—हम देख चुके हैं [८,८§६] कि १५वीं १६वीं शताब्दियों में रूसियों ने अपने देश के पूरबी भाग से मंगोलों को निकाल दिया था। उसी प्रसंग में वे ऊराल से पूरब बढ़ते गये। सन् १५८० में उन्होंने इर्तिश नदी के निचले काँठे में सिबिर नामक कसबा दखल कर लिया। वहाँ से पूरब तरफ निर्जन बर्फीले प्रदेशों पर अधिकार जमाते हुए सन् १६३६ में वे ओखोत्स्क समुद्र तक जा पहुँचे। सिबिर के नाम से इस विशाल प्रदेश का नाम उन्होंने सिबिरिया रक्खा। १७वीं शताब्दी के मध्य तक उनका साम्राज्य दक्खिन तरफ बैकाल झील तक पहुँच गया। १९वीं शताब्दी के शुरू से वे कौकासुस ('काकेशस') पर्वत के रास्ते ईरान को दबाने लगे और उनके अग्रदूत मध्य एशिया में पहुँचने लगे। सन् १८१५ में एक रूसी व्यापारी लदाख के राजा तथा रणजीतसिंह के नाम रूसी अमात्य की चिट्ठियाँ ले कर आया।

इधर अंग्रेज़ अग्रदूत भी अब भारत से मध्य एशिया को जाने लगे। सन् १८१९ में मूरक्रौफ्ट नामक अंग्रेज़ पञ्जाब लदाख के रास्ते यारकन्द और बोखारा की यात्रा के लिए रवाना हुआ। उसके बाद कई अंग्रेजों ने मध्य एशिया की यात्रा की।

नैपोलियन के पतन के बाद फ्रांस और इंग्लैंड की पुरानी स्पर्द्धा समाप्त हुई, और रूस तथा इंग्लैंड में यह नई स्पर्द्धा शुरू हो गई।

§ २. **सिन्धु नौचालन-योजना**—सिन्ध प्रान्त उत्तरपच्छिमी देशों की कुंजी है। कन्दहार ईरान के सीधे रास्ते उसमें से जाते हैं और वह समुद्र से लगा है। मुलतान-डेराजात जीतने के बाद से रणजीतसिंह उसे ले लेने का मौका देख रहा था। शिकारपुर पर तो उसका खास दावा था। इधर

अंग्रेज़ भी सिन्ध पर घात लगाये हुए थे। सिन्ध नदी की पैमाइश का उन्होंने अब अच्छा बहाना बनाया। इंग्लैंड के राजा की तरफ से रणजीतसिंह को भेंट करने को एक गाड़ी और घोड़े मुम्बई मँगाये, और उन्हें सिन्ध और रावी नदियों द्वारा लाहौर भेजना तय किया। जब लेफ्टिनेंट बर्न्स इस बेड़े को ले कर सिन्ध नदी में घुसा (१८३१ ई०) तब नदी के किनारे एक सैयद ने हाथ उठा कर कहा, "सिन्ध अब गया! अंग्रेजों ने हमारी नदी को देख लिया!"

रणजीत भी अंग्रेज़ों की इस चाल से बेचैन हो सिन्ध की सीमा पर अपना अधिकार दृढ करने लगा। उसकी रोकथाम करने को बेंटिंक रोपड़ में उससे मिला (अक्टूबर १८३१)। रोपड़ आने से पहले वह कर्नल पौटिंजर को सेना के साथ हैदराबाद (सिन्ध) भेज चुका था। सिन्ध के अमीरों को उसने यह सन्धि करने को बाधित किया कि वे अंग्रेज़ी जहाजों के लिए सिन्ध नदी को खुला रक्खें और उसमें गोदियाँ (डौक-याड) स्थापित करें। परन्तु इसके साथ यह शर्त भी थी कि कोई जंगी सामान या बेड़ा सिन्ध में से न गुजरेगा। यह हो जाने पर रणजीतसिंह से लाहौर में कहा गया कि वह भी सिन्ध-सतलज-संगम के ऊपर सतलज में अंग्रेज़ी नावों के लिए वैसी ही सुविधा कर दे। उससे यह भी कहा गया कि ब्रितानवी सरकार उसे शिकारपुर जीतने की इजाज़त नहीं दे सकती। रणजीत इसपर बहुत झुँझलाया, तो भी उसने सतलज का रास्ता खोल दिया। सिन्ध के मुहाने से रोपड़ तक तब अंग्रेज़ी आग-बोटें चलने लगीं। मिट्ठनकोट (सिन्ध-सतलज-संगम के नीचे) तथा हरि-के-पत्तन (व्यास-सतलज-संगम पर) के सामने अंग्रेज कारिन्दे इस व्यापार की देखभाल के लिए रहने लगे।

§ ३. बर्न्स की मध्य एशिया यात्रा—सन् १८३२ के शुरू में बर्न्स तीन साथियों के साथ दिल्ली से मध्य एशिया की यात्रा के लिए निकला। पंजाब अफगानिस्तान हो कर वह बोखारा तक गया और सन् १८३३ में वापिस आ कर इंग्लैंड चला गया। वहाँ उसका बड़ा स्वागत हुआ। इंग्लैंड का राजा विलियम चतुर्थ भी उससे मिला और उसकी कहानी बड़ी रुचि से सुनने के बाद बोला, "तुम्हारा जीवन बना रहे, हमारे पूरवी साम्राज्य का लाभ हो!" सन्

१८३५ में बर्न्स भारत लौट आया।

§ ४. सिक्ख राज को दक्खिन और पच्छिम से घेरने का प्रयत्न तथा सिक्खों का लद्दाख जीतना—(अ) शाह शुजा की अफगान चढ़ाई—इस प्रसंग में अंग्रेज़ी सरकार ने शाह शुजा को फिर [१०,१§१६] अफगानिस्तान पर चढ़ाई करने को उकसाया और उसके लिए रुपये की मदद दी। उस उथलपुथल में कोई न कोई पक्ष अंग्रेज़ों की शरण माँगेगा सो निश्चित ही था।



बर्न्स मध्य एशिया वेश में
[विक्टोरिया स्मारक, कलकत्ता]

रणजीतसिंह के तटस्थ रहे बिना शाह शुजा चढ़ाई न कर सकता था, इसलिए उसने उससे सन्धि की और सिन्ध पार के रणजीत के जीते सब इलाके उसे विधिवत् दे दिये। शाह लुधियाने से बहावलपुर के रास्ते सिन्ध में घुसा (१८३३ ई०) और शिकारपुर के पास सिन्धियों को हरा कर कन्दहार की ओर बढ़ा। रणजीतसिंह ने सोचा कि काबुल में सफल होने पर शाह का रुख शायद बदल जाय, इसलिए उसने सेनापति हरिसिंह नलवा को भेज कर पेशावर को अपने सीधे शासन में ले लिया।

कन्दहार पर शाह शुजा और खैबर पर हरिसिंह को देख दोस्त-मुहम्मद ने अंग्रेज़ों से शरण माँगी। किन्तु १-७-१८३४ को उसने कन्दहार के पास शाह को हरा दिया, और तब अंग्रेज़ों को भूल गया। शाह शुजा लुधियाना

लौट आया। उसे भगाने के बाद दोस्त-मुहम्मद ने सिक्खों के खिलाफ युद्ध-घोषणा की। वह खैबर पार तक आया। ११ मई १८३५ को रणजीत ने उसे प्रायः घेर लिया; तब वह लड़े बिना भाग निकला।

इधर इसी वर्ष (१८३५) फीरोजपुर के जागीरदार के निःसंतान मरने पर अंग्रेज़ी सरकार ने उस शहर को ले कर वहाँ भारी छावनी डाल दी।

(इ) सिक्खों का लदाख जीतना—हमने देखा है किस प्रकार नेपालियों ने १८१५ में रणजीतसिंह से अनुरोध किया था कि मिल कर भारत की स्वतन्त्रता की रक्षा करें तथा भीमसेन थापा बाद में भी वही अनुरोध करता रहा था [१०,१§§१४,२०]। रणजीत ने उनकी बात पर तब कान नहीं दिया था। पर जब अंग्रेज़ों ने रणजीत को सिन्ध की ओर बढ़ने से भी रोका, तथा अपने पिट्ठू शाह शुजा द्वारा उसे पच्छिम तरफ भी घेरने का यत्न किया, तब से रणजीत का रुख बदल गया और वह अंग्रेज़ों के मुकाबले के लिए भारत के दूसरे राज्यों का सहयोग चाहने लगा। १८३३ के अन्त में उसका एक अत्यन्त गोपनीय पत्र नेपाल दरबार में पहुँचा। जान पड़ता है उसमें भीमसेन के १८२५ वाले प्रस्तावों की स्वीकृति थी। १८३४ में नेपाली दूत अमृतसर आये।

गुलाबसिंह डोगरा * साधारण सैनिक के रूप में रणजीतसिंह की सेना में भरती हुआ था। अपनी योग्यता के बल पर उसने धीरे धीरे जम्मू की जागीर प्राप्त की थी। उसके छोटे भाई ध्यानसिंह और सुचेतसिंह भी ऊँचे पदों पर पहुँचे थे। तीनों को राजा का पद मिला था। बाद में रावी से जेहलम तक सारे पहाड़ी प्रदेश का शासन उन्हें सौंपा गया। १८३५ में गुलाबसिंह के अधीन कष्टवार† के सेनापति जोरावरसिंह ने तिब्बत के सबसे पच्छिमी प्रान्त लदाख या मरयुल पर चढ़ाई कर उसे जीत लिया।

प्रतीत होता है भीमसेन का प्रस्ताव यह था कि सिक्ख राज्य कश्मीर

---

* रावी और चनाब के बीच हिमालय की तराई जिसका मुख्य नगर जम्मू है, डुग्गर कहलाती है, और उसके निवासी डोगरे।

† चम्बा के उ० प० तथा जम्मू के उ० पू०, चनाब नदी के कोहनी जैसे मोड़ की दून, जो कश्मीर दून के ठीक पूरब लगी है। संस्कृत नाम—काष्ठवाट।

के पूरब लदाख से मानसरोवर तक तिब्बती प्रदेशों को जीत कर नेपाल के साथ अपनी सीमा लगा ले, फिर उसके सहयोग से नेपाल काली से सतलज तक के हिमाचल प्रदेशों को, जिन्हें १८१५-१६ में अंग्रेज़ों ने उससे छीना था, उत्तर और पूरब से चढ़ाई कर वापिस ले ले, तथा तब भारत के अन्य राज्यों को भी उठने को उभाड़ा जाय। लदाख को जीतना इसमें पहला कदम था।

(उ) **सिन्ध के लिए होड़, खैबर पर संघर्ष**—शाह शुजा के लौट आने पर आगे से उसकी वैसी किसी चढ़ाई से बचने की दृष्टि से शिकारपुर के शासक ने अपने को रणजीतसिंह की रक्षा में सौंपना चाहा। रणजीत के पोते नौनिहालसिंह की अधीनता में पंजाबी सेना सिन्ध की सीमा पर आ जुटी। तब (१८३६ अन्त) अंग्रेज़ों ने हस्तक्षेप कर कहा कि हैदराबाद में अब से अंग्रेज़ रेज़िडेंट रहेगा और वहाँ सिन्धियों के बाहरी मामलों का नियन्त्रण करेगा। रणजीत के सरदारों ने उससे आग्रह किया कि अंग्रेज़ों की न सुनें, लेकिन उसने सिर हिलाया और कहा "मराठों के दो लाख भाले (अंग्रेज़ों के मुकाबले में) कहाँ गये ?" और फिर उस मामले को भूल जाने के लिए उसने उसी नौनिहाल के ब्याह पर, जो सिन्ध का विजेता होता, गवर्नर-जनरल को निमन्त्रित किया। गवर्नर-जनरल के बजाय प्रधान सेनापति सर हेन्री फेन विवाह में सम्मिलित हुआ (मार्च १८३७)। उस अवसर पर उसने पंजाब की शक्ति का अन्दाज़ लगा लिया और लाहौर प्रदेश का पूरा नक्शा बनवा लिया जो अगले युद्ध में बहुत काम आया।

हरिसिंह ने खैबर से आगे बढ़ने को जमरूद की किलाबन्दी की। दोस्त-मुहम्मद के बेटे अकबरखाँ ने तब जमरूद पर हमला किया। ३०-४-१८३७ की लड़ाई में हरिसिंह मारा गया और सिक्खों की हार हुई। लेकिन अफगान जमरूद को ले न सके और पीछे हट गये। रणजीत ने शीघ्र बड़ी कुमुक भेजी और स्वयं रोहतास तक आ गया। वह दोस्तमुहम्मद को अंग्रेज़ों के हाथ न जाने देना चाहता था, इसलिए उसे मना कर सन्धि की।

§ ५. **काबुल में अंग्रेज़ वाणिज्य-दूत**—मार्च १८३६ में औकलैंड भारत का गवर्नर-जनरल बन कर आ गया था। उसने बर्न्स को अंग्रेज़ी 'वाणिज्य-

दूत' बना कर काबुल भेजा। दोस्तमुहम्मद ने चाहा कि अंग्रेज़ उसे पेशावर प्रदेश रणजीतसिंह से वापिस दिला दें। बर्न्स ने उसे अंग्रेज़ों की मदद मिलने की आशा दिलाई। रणजीत ने देखा अंग्रेज़ अब उसे पच्छिम तरफ भी रोकना और घेरना चाहते हैं।

तभी (नवम्बर १८३७) ईरानियों ने रूसियों की सहायता से हरात को घेर लिया और रूसी दूत विकोविच भी काबुल पहुँचा। कर्नल पौटिंजर मुस्लिम फकीर का वेश धारण कर हरात के किले में जा घुसा और किले के रक्षकों का नेता बन बहादुरी से ईरानियों का मुकाबला करता रहा।

बर्न्स ने दोस्तमुहम्मद को आशाएँ तो बहुत दिलाईं पर उन्हें पूरा न कर सका। कारण कि उसकी सरकार का रुख तब और ही था। वह एक भारी षड्यन्त्र पका रही थी और उसने बर्न्स को काबुल से वापिस बुला लिया।

§६. **भीमसेन थापा की पदच्युति**—हमने देखा है कि १८१६ में नेपाल का राजा बच्चा था और उसकी दादी त्रिपुरसुन्दरी राजस्थानीय† ('नायब') नियत हुई थी [१०,१§१४]। वह ऊँची प्रकृति की शालीन और समझदार स्त्री थी। उसने भीमसेन थापा को शासन-संचालन में लगातार सहारा दिया और उसपर सौम्य ढंग से नियन्त्रण भी रक्खा। १८३२ में उसकी मृत्यु हुई। राजा राजेन्द्रविक्रम तब नौजवान हो चुका था। वह मन्दबुद्धि और दुर्बलचित्त था; उसकी जेठी रानी उसे राजकाज अपने हाथ ले लेने को उभाड़ती थी। १८०३ में दामोदर पांडे के मारे जाने और फिर रणबहादुर की हत्या होने पर [१०,१§§८,१०] भीमसेन ने पांडे वंश को भरसक दबा कर जागीरों और राजपदों से वञ्चित कर दिया था। भीम का वह कार्य अनुचित और अन्यायपूर्ण था। १८३४ में पांडे लोगों ने अपनी जागीरें वापिस पाने की दरखास्त दी। वे भी अब राजा को उभाड़ने लगे।

यह सब होने पर भी जून १८३७ तक भीमसेन थापा का नेपाल के

---

† राजा के प्रतिनिधि (वाइसराय) के अर्थ में राजस्थानीय शब्द गुप्त युग के लेखों में है।

शासन पर पूरा नियन्त्रण रहा। मई १८३७ में ही उसके भेजे दूत अमृतसर पहुँचे जहाँ उनका बड़ा स्वागत किया गया। अमरसिंह थापा का बेटा भूपाल १८१६ से ही रणजीत की सेवा में था। आगे से उसके द्वारा दोनों राज्यों की बातचीत जारी रहना तय हुआ।

जुलाई १८३७ में राजा ने दामोदर पांडे के बेटे रणजंग को पिता की जागीर वापिस दे दी। २४-७-१८३७ को राजा के एक बरस के कनिष्ठ बेटे की बीमारी में मृत्यु हुई। तब एकाएक भीमसेन पर यह दोष लगा कर कि उसने बच्चे को विष दिलाया, उसे पदच्युत कर गिरफ्तार किया गया। उसके भतीजे मातबरसिंह को भी, जो कुछ बरस से नेपाल के क्षितिज में चमकने लगा था, पकड़ा गया। रणजंग पांडे मन्त्रिनायक नियत हुआ। चौतरियों अर्थात् राजवंश के लोगों तथा दूसरे प्रमुख लोगों ने इस प्रकार एकाएक भीमसेन की गिरफ्तारी और रणजंग की नियुक्ति का प्रतिवाद किया। तब भीम और मातबर को छोड़ा गया। राजधानी में उपस्थित सैनिकों और जनता ने उन्हें स्वागतपूर्वक उनके घर पहुँचाया। रणजंग की जगह रघुनाथ पंडित को मन्त्रिनायक नियुक्त किया गया।

रघुनाथ ने भीमसेन की नीति पर चलने का यत्न किया और लाहौर तेहरान तथा भारत के देसी राज्यों में अपने दूत उन्हें अंग्रेज़ी गुलामी के विरुद्ध उभाड़ने को भेजे। उसने मातबर को सम्मानित निर्वासन में पंजाब रवाना किया, इस दृष्टि से कि वहाँ वह पांडे पक्ष की प्रतिहिंसा से बच कर दोनों राज्यों का सहयोग बनाये रक्खे। मई १८३८ में मातबर को लुधियाने के पास सतलज पार करते हुए अंग्रेज़ों ने पकड़ लिया। रघुनाथ ने जो दूत देसी राज्यों को भेजे थे उन्हें भी अंग्रेज़ों ने निकाल दिया। जेठी रानी की प्रेरणा से सन् १८३८ के आरम्भ में रणजंग पांडे प्रधान सेनापति नियुक्त हुआ। नेपाली सेना में यह भावना बनी हुई थी कि हमें अपनी खोई भूमि अंग्रेज़ों से वापिस लेनी है। रणजंग सेना का प्रिय बनने के लिए उस भावना को उभाड़ता रहा।

§७. **त्रिपक्ष षड्यन्त्र**—उत्तरपच्छिमी भारत के प्रश्न पर अंग्रेज़ राजनीतिचिन्तकों में इस काल तीन विचार-धाराएँ प्रचलित थीं। एक यह

कि सतलज और थर अंग्रेज़ी राज की बहुत अच्छी सीमाएँ हैं, और यदि रूस का प्रभाव अफगानिस्तान तक पहुँच भी जाय तो भी सिक्खों की मैत्री पर भरोसा रखना चाहिए। दूसरा विचार बर्न्स का था। वह यह कि अंग्रेज़ों को अफगानिस्तान में प्रभाव जमा कर रूस की दाल वहाँ न गलने देनी चाहिए। "वेल्ज़ली ने अफगानों पर ईरान द्वारा दबाव डलवाया था, अब हम सिक्खों द्वारा डाल रहे हैं; क्यों न हम अफगानों से सीधा सम्बन्ध रक्खें ?" किन्तु लन्दन और शिमले के राजनेताओं को न सिक्खों से प्रेम था, न अफगानों से; उन्होंने एक हिम्मत की कल्पना की थी। वह यह थी कि शाह शुजा को मीरजाफर बना कर काबुल की गद्दी पर बिठाया जाय, जिससे एक ही मार में अफगानिस्तान अंग्रेज़ों के हाथ की कठपुतली बन जाय, सिन्ध शाह के नाम पर उनके काबू में आ जाय और पंजाब तीन तरफ से घिर जाय !

परन्तु रणजीतसिंह की सहमति के बिना यह कल्पना सफल न हो सकती थी। इसलिए गवर्नर-जनरल का कौंसिलर मैकनाटन, जो इस षड्यन्त्र का दिमाग था, १८३८ की गरमी में रणजीत के पास गया। शाह शुजा कई बार पहले भी अपनी गद्दी वापिस लेने को रणजीत से मदद माँग चुका था, और दोनों के बीच सन्धि का मसविदा भी लिखा गया था। पर वह बात इस आशंका से टल गई थी कि अंग्रेज़ इस मामले में न जाने क्या रुख लें। रणजीत ने पहले समझा अंग्रेज़ अब उस योजना के लिए सहमति दे रहे हैं। किन्तु जब उसे मालूम हुआ कि वे इसमें सचेष्ट भाग लेंगे, और पंजाबी सेना के बजाय अंग्रेज़ी सेना ही शाह शुजा को काबुल ले जायगी, तब वह बातचीत अधूरी छोड़ चल दिया। मैकनाटन ने जब उसे सन्देश भेजा कि वह भाग ले या न ले, काबुल पर चढ़ाई होगी ही, तब वह बड़ी अनिच्छा से षड्यन्त्र में शामिल हुआ। अंग्रेज़ों का यह आग्रह था कि चढ़ाई दो तरफ से हो—पंजाब से और सिन्ध से, और साथ ही यह कि अंग्रेज़ी सेना शाह शुजा के साथ सिन्ध के रास्ते जाय। इसमें उनके दो मतलब थे, एक तो वे शाह को रणजीत के हाथ नहीं देना चाहते थे, और दूसरे, इस बहाने सिन्ध को पूरी तरह वश में कर लेना चाहते थे। सिन्ध और पंजाब को पूरा अधीन किये बिना अफगा-

निस्तान पर यों चढ़ाई करने में भारी खतरा था। न केवल इन दो प्रान्तों में से किसी का विरोध अंग्रेज़ी सेना को संकट में डाल सकता, प्रत्युत दो और स्वतन्त्र राज्य—नेपाल और ग्वालियर [१०,१§१५]—भी, जिनके पास शक्त सेनाएँ थीं, अंग्रेज़ी सेना के रास्ते को पीछे से कितनी ही जगह काट सकते थे। भीमसेन थापा की पदच्युति से अंग्रेज़ों ने अपने को दूसरे खतरे से मुक्त मान लिया था।

जुलाई १८३८ तक शाह शुजा, अंग्रेज़ों और रणजीत का यह षड्यन्त्र पक गया। तब सितम्बर में अंग्रेज़ी बेड़े ने फारिस खाड़ी में घुस कर ईरानियों को हरात का घेरा उठाने को बाधित किया। लन्दन से रूस सरकार पर दबाव डाल काबुल से विकोविच को लौटाया गया। दिसम्बर में अंग्रेज़ी सेना फीरोज़पुर में जुटी। तब मातबर को कैद से छोड़ रणजीत के पास जाने दिया गया।

§८. **अंग्रेज़ों की अफगानिस्तान चढ़ाई**—फीरोज़पुर से अंग्रेज़ी सेना शाह शुजा को साथ लिये नये "जंगी लाट" (प्रधान सेनापति) सर जौन कीन की नायकता में सतलज के बायें बायें सिन्ध में घुसी। मैकनाटन और बर्न्स उसके साथ थे। सिंध में उस फौज के दाखिल हो जाने पर सिन्ध के अमीरों से बड़ी रकम ली गई तथा उनसे इकरार कराया गया कि आगे से वे सिन्ध में अंग्रेज़ों की 'आश्रित' सेना रक्खेंगे। खैरपुर के अमीर ने सक्खर के सामने सिन्ध नदी के बीच पथरीले टापू पर बसा बक्खर का किला अंग्रेज़ों को "उधार" दिया।

उधर शाह शुजा का बेटा तैमूर लुधियाने के अंग्रेज़ एजंट के साथ सिक्खों की रक्षा में पंजाब के रास्ते बढ़ा। नौनिहालसिंह इस सेना-टुकड़ी का नेता था। पेशावर पहुँच कर जब अंग्रेज़ एजंट अफगानों के साथ षड्यन्त्र करने लगा तब नौनिहाल उसके प्रत्येक षड्यन्त्र में दखल देता और उलटा अफगानों को उकसाता कि अंग्रेज़ी सेना से दबो नहीं। सिक्खों और अंग्रेज़ों का यह भीतरी संघर्ष बराबर चलता रहा।

दर्रा बोलान को पार कर अंग्रेज़ी सेना ने कन्दहार को जा घेरा। कन्दहार के किले ने काफी अरसा मुकाबला किया और रणजीतसिंह ने इससे खुशी प्रकट की। रणजीत मातबर का नेपाल दरबार से समझौता कराके नेपाल-पंजाब-

सहयोग को भी सचेष्ट करना चाहता था। उसका दूत ध्यानसिंह तब काठमांडू में था, जहाँ ग्वालियर बड़ोदा सातारा जोधपुर जयपुर कोटा बूँदी पन्ना और रीवाँ के दूत भी थे। पीछे बीकानेर के दूत भी लाहौर आये। अफगानिस्तान में अंग्रेज़ी सेना के उलझ जाने से सब सोचते थे कि भारत के लिए स्वतन्त्र होने का अच्छा अवसर है। पर नेपाल का मन्त्रिनायक अब रणजंग पांडे था, और वह चाहे इस उद्देश्य का बढ़ बढ़ कर समर्थन करता तो भी उसका ध्यान भीमसेन थापा से बदला चुकाने की ओर लगा था!

अप्रैल में कन्दहार का पतन हुआ। अंग्रेज़ों को अब अफगानिस्तान की कठिनाई दिखाई देने लगी। औकलैंड रणजीतसिंह के पास आया और उसे इस बात के लिए राजी किया कि अफगानिस्तान से अंग्रेज़ी सेना पंजाब के रास्ते लौट सके। तभी रणजीतसिंह की मृत्यु हुई (२७-६-१८३९ ई०)। उसके बाद गजनी भी जीती गई। दोस्तमुहम्मद काबुल से भाग गया। अगस्त १८३९ में अंग्रेज़ी सेना ने शाह शुजा को काबुल की गद्दी पर बैठा दिया। तभी रूसियों ने मध्य एशिया में खीवा के राज्य पर चढ़ाई की, किन्तु वे उसमें पूरी तरह विफल हुए (नवम्बर १८३९)।

§९. **नेपाल में आतंक-राज्य**—नेपाल दरबार एक तरफ़ अपनी सेना और शस्त्रागारों में अंग्रेज़ों से युद्ध की तैयारी कर रहा था तो दूसरी तरफ़ अपनी शासन-नीति से अपने उन्हीं सरदारों को आतंकित कर रहा था जिनके सहयोग से ही कोई युद्ध लड़ा जा सकता था! मई १८३९ में भीमसेन पर दो बरस पुराना अभियोग फिर लगा कर राजवैद्यों को यातनाएँ दी गईं। हर कोई जानता था कि उस अभियोग में कोई तत्त्व नहीं है, तो भी राजा ने भीम को कैद में डाल दिया। उधर अंग्रेज़ रेज़िडेंट के दबाने से राजा इतना झुक गया कि अंग्रेज़ों की सहायता के लिए सिन्ध पार अपनी सेना भेजने की स्वयं पेशकश की! अंग्रेज़ों से यों छुट्टी पा कर दरबार ने भीमसेन को अपमान और यातनाओं की धमकी दी, जिसपर उस बूढ़े महापुरुष ने अपने गले में खुखरी मार ली जिससे नौ दिन बाद उसकी मृत्यु हुई (२९-७-१८३९)। इस पशुता के प्रदर्शन के बाद दरबार अंग्रेज़ों के आगे और झुका और अन्त

में उसने यह ठहराव किया कि गंगा पार के भारतीय राज्यों से कोई सम्पर्क न रक्खेगा (६-११-१८३६)। पर अंग्रेज़ों को उसपर भरोसा न था। वे मानते थे कि नेपाल दरबार को तब किसी वचन पर टिकाना असम्भव था और कि कोई अवसर मिलते ही दरबार ठहराव से खिसक जायगा।

§ १०. कुमार नौनिहालसिंह—पंजाब-अफगान-नेपाल-सहयोग का प्रयत्न—पंजाब में रणजीतसिंह की मृत्यु पर उसका बेटा खड़गसिंह महाराजा तथा ध्यानसिंह वज़ीर बना। खड़गसिंह जितना ढीला था, उसका उन्नीस बरस का बेटा नौनिहालसिंह उतना ही तेजस्वी था। राज्य की सब बागडोर नौनिहाल के हाथ चली आई। नौनिहाल को अपने दादा का अंग्रेज़ों के दबाव में आ कर झुक जाना भी अखरता था। जैसा कि हम देख चुके हैं, पठानों और सिक्खों को अंग्रेज़ एक दूसरे से लड़ावें यह उसे असह्य था।

लौर्ड कीन की सेना तब पंजाब हो कर लौटी और नौनिहाल को उसे रास्ता देना पड़ा, किन्तु अंग्रेज़ी और पंजाबी सेनाएँ एक दूसरे को शत्रु की तरह घूरती रहीं। दोस्तमुहम्मद और उसके पठान अंग्रेज़ों के विरुद्ध उठने की तैयारी कर रहे थे। नौनिहाल उन्हें मदद देने लगा। दूसरी तरफ नेपाल-पंजाब सहयोग वाली पुरानी योजना पर भी उसका ध्यान था। मातबरसिंह तब पंजाब में ही था, और लाहौर दरबार और पंजाब की सेना में उसका काफ़ी प्रभाव था। नेपाल की दशा, जैसा कि हमने देखा है, अब बिलकुल दूसरी थी। पर मातबर और नौनिहाल शायद सोचते थे कि वह शीघ्र सुधर जायगी। १८४० की गर्मियों में लदाख के पंजाबी शासक जोरावरसिंह ने पहले लदाख से सिन्ध की दून में नीचे बढ़ कर बाल्ती या बोलौर प्रदेश (राजधानी स्कर्दू) [७,३§§ ४,८] को जीत लिया। फिर लदाख से सिन्ध दून के साथ ऊपर बढ़ते हुए तिब्बती इलाकों को लेता हुआ वह नेपाल की तरफ बढ़ने लगा।

उधर नेपाल दरबार ने भी अपनी जनता और सेना तथा भारत के अन्य राज्यों की भावनाएँ देखते हुए अंग्रेज़ी राज के तईं अपना रुख बदल लिया था। पर वह "निकम्मी बौखलाहट और निरर्थक साजिशों से अपने को उपहासास्पद बनाने" से अधिक कुछ न कर सका। चम्पारन ज़िले में अपनी

सीमा से लगते ६१ गाँवों पर उसने कब्ज़ा कर लिया तथा अपने सैनिकों को उपद्रव कर रेज़िडेंसी पर आक्रमण करने के लिए उभाड़ा (२१-६-१८४०)। किन्तु जब सैनिकों ने इसके लिए लिखित आदेश माँगा तब दरबार को हिम्मत न हुई। अंग्रेज़ी सरकार को दिखाई दिया कि नेपाल से युद्ध अनिवार्य होगा और उसने लाहौर में मातबरसिंह से बातचीत की। किन्तु मातबर शाह शुजा बन कर अंग्रेज़ी सेना को अपने देश ले जाने को तैयार न था, और अंग्रेज़ों के पास नेपाल पंजाब और अफगानिस्तान तथा संभवतः ग्वालियर से भी एक साथ लड़ने तथा अन्य भारतीय राज्यों को दबा कर रखने की शक्ति न थी। उनका तब चीन से भी युद्ध चल रहा था। उस दशा में रेज़िडेंट हौगसन ने केवल अपने रोबदाब से नेपाल के राजा को दबा कर रणजंग पांडे को पदच्युत करा अपने अनुकूल मन्त्रिमण्डल बनवा लिया (१-११-१८४०)।

इस बीच नौनिहाल शाह शुजा शासन के भगोड़ों को शरण देता तथा दोस्तमुहम्मद को जो उठने की तैयारी में था, सहायता का भरोसा दिला रहा था। उसकी और दोस्त की चिट्ठीपत्री अंग्रेज़ों के हाथ लगी।

५ नवम्बर १८४० को महाराजा खड़गसिंह की मृत्यु हुई। नौनिहाल पिता की अन्त्येष्टि करके लौटता था कि रास्ते के एक दालान की छत गिरने से उसकी भी जान जाती रही। वह छत का गिरना "प्रायः पूर्वविचारित समझा जाता था, पर आज तक पता नहीं चला कि कैसे हुआ"।† नौनिहाल की मृत्यु से अंग्रेज़ों के रास्ते का बड़ा काँटा निकल गया और पंजाब विना नेता के रह गया।

तभी दोस्तमुहम्मद ने भी आत्मसमर्पण कर दिया और उसे कैद कर कलकत्ते पहुँचाया गया।

§ ११. सिक्ख सेना की शक्ति का उदय—नौनिहालसिंह की मृत्यु पर उसकी माँ चन्दकौर राज करने लगी। रणजीत का दत्तक पुत्र शेरसिंह उसका नायब तथा ध्यानसिंह वज़ीर रहा। चन्दकौर पर अतरसिंह और अजीत-

---

† लेफ्टिनेंट-कर्नल स्टाइनबाख (१८४५)—दि पंजाब,... पृ० २५।

सिंह संधांवाला नामक दो भाइयों का प्रभाव था जिनसे शेर और ध्यान की बनती न थी। इसलिए शेर और ध्यान लाहौर से हट गये और बहुत सी सेना को मिला कर उन्होंने जनवरी १८४१ में लाहौर को आ घेरा। चार दिन बाद समझौता हुआ। चन्दकौर को जागीर दी गई, शेरसिंह महाराजा बना, तथा सेना का वेतन एक रुपया मासिक बढ़ गया। संधांवाले भाग कर अंग्रेजों की शरण में पहुँचे।

किन्तु सेना अब शेरसिंह के वश में न रही। वह जहाँ तहाँ जिन अफसरों और दूसरे लोगों से नाराज़ थी, उनसे बदला चुकाने लगी। लोग डरने लगे कि सारे पंजाब में लूट मचेगी; अमृतसर के व्यापारी अंग्रेज़ों की रक्षा की पुकार मचाने लगे। अंग्रेज़ों ने भी अवसर से लाभ उठाना चाहा। मैकनाटन ने शाह शुजा के नाम पर पेशावर और डेराजात को लेने का जतन किया। लुधियाने का अंग्रेज़ राजनीतिक कारबारी (पोलिटिकल एजंट) महाराजा शेरसिंह की "सहायता" के लिए लाहौर पर चढ़ाई करने को तैयार हो गया। जब रणजीतसिंह का विश्वस्त सेवक फकीर अज़ीजुद्दीन यह प्रस्ताव ले कर आया तब शेरसिंह ने उसके मुँह पर हाथ रख अपनी गर्दन पर अँगुली फेरते हुए संकेत किया कि चुप रहो, ऐसी बात मुँह से निकालोगे तो सेना मेरी गर्दन उतार लेगी!

किन्तु सेना शीघ्र शान्त हो गई और उसने कोई लूटमार न की। सिक्ख सेना भाड़े की टट्टू न थी; उसके अन्दर ऊँची भावना थी। उसकी विभिन्न टुकड़ियों की पंचायतें बन गई थीं जो अपने को "खालसा" या सिक्ख जनता का प्रतिनिधि और उसके हितों का रक्षक समझती थीं। अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए वे सजग थीं और अपनी जत्थाबन्द एकता और अपने नियमानुवर्त्तन का उन्हें अभिमान था। साधारण बातों में वे नियुक्त अफसरों के आदेश मानती रहीं, पर देश के शासन में अपनी समझ के अनुसार हस्तक्षेप करने लगीं। पंजाब की यह सेना अधिकतर सिक्खों की थी, पर उसमें हिन्दू और मुसलिम सैनिक और अफसर भी काफी थे। अंग्रेज़ और उनके कारिंदे पंजाब की स्वतन्त्रता हरना चाहते हैं, यह विचार सेना में फैल गया था, इस

कारण उनके प्रति वह बड़ी सशंक थी।

कश्मीर में सेना ने अपने अफसर को मार डाला था। वहाँ शान्ति-स्थापना के लिए गुलाबसिंह को भेजा गया। तब से कश्मीर के शासन को भी उसने अपने हाथ में कर लिया। नौनिहाल की नीति पर चलते हुए उसने पठानों से मेल रक्खा और नेपाल को भी अपने साथ रखने का प्रयत्न किया। मई जून १८४१ में जोरावरसिंह ने सिन्ध और सतलज के स्रोतों की दूनें जीत कर मानसरोवर के पास छावनी डाल दी और हिमालय के उस पार पंजाब और नेपाल की सीमाएँ मिला दीं! मैकनाटन पेशावर लेना चाहता था; पंजाब सरकार ने गुलाबसिंह को पेशावर सौंपना तय किया।

उस काल भारत में अंग्रेज़ी राज की दशा बड़ी नाजुक थी। अफ़-गानिस्तान को अंग्रेज़ दबा न पाये थे, वहाँ उन्हें किसी किस्म का सहयोग न मिला था और वे देख रहे थे कि हम ज्वालामुखी पर बैठे हैं जो फूटने हो वाला है। उस चूहेदानी में से निकल आने का भी कोई रास्ता न था। पंजाब में नौनिहाल की मृत्यु के बाद भी उसी की नीति चल रही थी और पंजाब नेपाल की सीमाएँ मिलाने का स्वप्न सफल हो गया था। चीन का युद्ध जारी ही था। नेपाल में नवम्बर १८४० में जो अंग्रेज़ों के अनुकूल मन्त्री नियुक्त हुए थे, पाँच मास बाद उन्हें जेठी रानी के पांडे पक्ष को बढ़ावा देने से जान के लाले पड़ गये थे। जेठी रानी का पक्ष अंग्रेज़ों का जो विरोध करता वह लड़कपन का ही होता, तो भी उस अवसर पर यदि रेज़िडेंट की हत्या जैसी कोई घटना हो जाती तो उससे नेपाल से अफ़गानिस्तान तक आग भड़क सकती थी।

इस दशा में सबसे पहले रेज़िडेंट हौगसन ने बड़े धैर्य हिम्मत और कुशलता से राजा पर दबाव डाल अगस्त १८४१ तक फिर अपने अनुकूल संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनवा लिया। जेठी रानी रूठ कर बनारस चली, रास्ते में उसकी मृत्यु हुई (६-१०-१८४१) —उसे विष दिये जाने का संदेह किया गया था। यों नेपाल के पहलू से अंग्रेज़ी सरकार निश्चिन्त हुई। तब उसने महाराजा शेरसिंह पर दबाव डाल कर उसे मना लिया कि गुलाबसिंह

को पेशावर न दिया जाय, जोरावरसिंह तिब्बतियों को गारतोक† वापिस दे दे, तथा मातबरसिंह को अंग्रेजों के हाथ सौंप दिया जाय। इससे पहले कि महाराजा का हुक्म जोरावर के पास पहुँचता, ल्हासा की चीनी सेना ने पूस के जाड़े में उसे आ घेरा। बर्फ में ठिठुरते हुए पंजाबी और नेपाली सैनिक अपनी बन्दूकों के कुन्दे जला कर हाथ गरमाने लगे। जोरावर उस लड़ाई में मारा गया और नेपाल की सीमा वाली सेना तहसनहस हो गई। मानसरोवर के रास्ते में तकलाकोट से तीन मील पर तोयो गाँव में जोरावर की समाध है जिसे तिब्बती अब भी पूजते हैं।



जोरावरसिंह की समाध
[स्वामी प्रणवानन्द जी के सौजन्य से]

भारत का मुख्य भाग अंग्रेजों के अधीन होने और विदेशों में भी भारतीयों के अंग्रेजों के भाड़ैत बन कर जाने से विदेशों के लोग सभी भारतीयों को अंग्रेज़ों के सेवक समझने लगे थे। इसी काल चीन से भी अंग्रेज़ों ने

† मानसरोवर के पच्छिम के तिब्बती प्रदेश का मुख्य स्थान, सिन्ध की उपरली दून में।

भारतीय सेना के बल पर युद्ध छेड़ रक्खा था। तिब्बत में पंजाबी-नेपाली सेना घुसी तो चीनियों ने जाना था कि उसे भी अंग्रेज़ों ने भेजा है !

§ १२. अफगानों का उठना—अंग्रेज़ों ने अफगानिस्तान के मुख्य मुख्य शहरों में छावनियाँ डाल दी थीं तो भी देश को वश में न कर सके। वे यह आस लगा कर गये थे कि भारत की तरह वहाँ भी स्थानीय भाड़ैत सेना खड़ी कर लेंगे, पर एक भी अफगान विदेशी की सेना में भरती नहीं हुआ। दो बरस में न तो अंग्रेज़ देश का बन्दोबस्त कर सके, और न कोई कर उगाह सके। शिया-सुन्नियों के बीच "निफाक" फैलाने और अफगानों की भाड़े की सेना खड़ी करने की मैकनाटन की सब कोशिशें बेकार हुईं। इसके अलावा, अफगान अंग्रेजों की बड़ी फौज का तो मुकाबला न करते, पर उनकी छोटी टुकड़ियों और रसद-सामान पर बराबर छापे मारते। फलतः अफगानिस्तान को वश में रखने को बराबर भारत से सेना लानी पड़ती और भारत के खर्च पर शासन चलाना पड़ता। जब पंजाब और सिन्ध भी अंग्रेज़ों के भारतीय साम्राज्य में न थे, तथा नेपाल और ग्वालियर के स्वतन्त्र राज्य अपनी शक्त सेनाओं द्वारा उस साम्राज्य पर दो पहलुओं से चोट कर सकते थे, तब स्वतन्त्रता-हठी अफगानिस्तान पर यों चढ़ाई कर बैठना निरी मूर्खता सिद्ध हुआ।

निष्फलता की खीझ से अंग्रेज़ों की ऐंठ बढ़ने लगी। मैकनाटन हरात और पेशावर जीतने की धुन में था। काबुल के अंग्रेज़ अफसरों ने अनेक अफगान परिवारों की इज्ज़त खराब की। इस बात को अफगान भूलने वाले न थे। २ नवम्बर १८४१ को उन्होंने बर्न्स का मकान घेर लिया और उसे सड़क पर खींच कर मार डाला। काबुल से मैकनाटन ने सहायता के लिए कन्दहार और गन्दमक सन्देश भेजे; पर गन्दमक में जो अंग्रेज़ सेनापति था वह उलटा (३० मील पीछे) जलालाबाद हट आया, और कन्दहार से जनरल नौट ने सन्देश भेजा कि बरफ के मौसम में आना असम्भव है। इस बीच काबुल के अंग्रेज़ों की रसद भी अफगानों ने छीन ली। तब ११ दिसम्बर को मैकनाटन ने दोस्तमुहम्मद के बेटे अकबरखाँ से यह सन्धि की कि अंग्रेज़ों को अफगानिस्तान से लौटने दिया जाय तो वे दोस्तमुहम्मद को छोड़ देंगे। अकबरखाँ ने ओल

माँगे। अभी यह बातचीत चलती थी कि मैकनाटन ने फिर अफगान सरदारों को अकबरखाँ के खिलाफ भड़काने की कोशिश की। मैकनाटन और अकबरखाँ का मिलना तय हुआ। अकबर ने इन तुच्छ षड्यन्त्रों के बारे में उससे सफाई तलब की, तब दोनों गर्म हो उठे। मैकनाटन वहीं मारा गया।

अन्त में जनवरी १८४२ में अफगानों से फिर सन्धि कर अपनी तोपें और रसद उन्हें सौंप कर, तथा १२० कैदी, जिनमें दो अफसर और अनेक स्त्रियाँ थीं, अकबरखाँ को ओल दे कर, अंग्रेज़ी सेना और उसके हाली-मुवाली कुल १६ हज़ार आदमी वापिस चले। एक हफ्ते में जगदलक दर्रे तक पहुँचते पहुँचते सब खतम हो गये! एक घायल डाक्टर ब्राइडन बच कर उस संहार की कहानी सुनाने जलालाबाद पहुँचा।



अमीर दोस्तमुहम्मद

जलालाबाद वाली सेना भी घिर गई थी। फीरोजपुर से चार रेजिमेंटें पंजाब के रास्ते उसकी मदद को पेशावर भेजी गईं। पेशावर में अंग्रेज़ों ने सिक्ख अधिकारियों से अनुरोध किया कि हमारी सहायता करो या खुद जलालाबाद तक बढ़ो। सिक्ख नाज़िम ने अपनी रेजिमेंट के पंचों से पूछा। उन्होंने घृणा से इनकार कर दिया। सिक्खों की देखादेखी भाड़ैत भारतीय सेना भी अंग्रेज़ों के लिए लड़ने में आगा-पीछा करने लगी। औकलैंड ने जनरल पोलक को नई कुमुक के साथ पेशावर रवाना किया और कन्दहार के जनरल नौट को अफगान युद्ध का अधिनायक बना दिया।

तभी औकलैंड के स्थान में एलिनबरो गवर्नर-जनरल हो कर आया (२८-२-१८४२)। वह अफ़गान युद्ध को समाप्त कर ग्वालियर सिन्ध पंजाब

और नेपाल को जीतने का लक्ष्य सामने रख कर आया था। इसके लिए वह ड्यूक ऑफ़ वेलिंगटन (आर्थर वेल्ज़ली) से लगातार परामर्श करता रहा। उसके आने के शीघ्र बाद अंग्रेज़ी सेना को गजनी भी छोड़नी पड़ी और शाह शुजा एक अफगान की गोली से मारा गया।

अप्रैल में पोलक ने खैबर पार किया और दस दिन बाद जलालाबाद पहुँच गया, जहाँ अंग्रेज़ी सेना अब डट कर लड़ रही थी। एलिनबरो ने नई हारों से घबरा कर पोलक को पेशावर वापिस आने और नौट को कन्दहार से लौटने का आदेश भेजा, परन्तु उन दोनों ने वे आदेश नहीं माने, कहा कि लौटने को वाहन नहीं हैं।

§ १३. पहला अफीम युद्ध—इस बीच अंग्रेज़ों का चीन से भी युद्ध चल रहा था।

चीन में पहलेपहल सोलहवीं शताब्दी में पुर्तगाली व्यापारी पहुँचे थे और उन्होंने मकाओ बन्दरगाह ले लिया था। उनकी लुटेरी प्रवृत्ति देख कर चीन-सम्राट् ने और किसी बन्दर में उन्हें घुसने न दिया। ओलन्देज़ और अंग्रेज़ १७वीं सदी में वहाँ पहुँचे। १७५७ से युरोपी व्यापार के लिए चीन का केवल एक सबसे दक्खिनी बन्दरगाह क्वाङतुङ (कैंटन) नियत कर दिया गया था। परन्तु वहाँ भी वे लोग बसने न पाते थे। वे मकाओ से खास मोसम में बिना परिवारों के क्वाङतुङ आने पाते और व्यापारिक लेनदेन कर लौट जाते थे। शुरू में यह व्यापार एकतरफा था। चीन से ये लोग रेशम चाय आदि ले जाते और बदले में कोई चीज़ इनके पास लाने की न होती इसलिए सोना-चाँदी ही लाते थे। धीरे धीरे ये भी कई चीजें लाने लगे जिनमें अफीम मुख्य थी। पीछे अफीम का आयात इतना बढ़ता गया कि १८३० ई० से चीन के निर्यात का पलड़ा हलका रहने लगा। भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी का अफीम के व्यापार पर एकाधिकार होने से अंग्रेज़ों को इस व्यापार में दुहरा नफा था।

चीन सम्राट् ने सन् १८३८ में अफीम के व्यापार को बन्द करने की कोशिश की। अंग्रेज़ व्यापारियों की सब अफीम जब्त कर ली गई और उनसे जमानत माँगी गई कि आगे से अफीम न लायँगे। इसपर अंग्रेज़ क्वाङतुङ से

हाङ्काङ हट गये और युद्ध छेड़ दिया (१८४० ई०)। उन्होंने काङतुङ की रास्ता-बन्दी कर दी, उत्तर की तरफ बढ़ कर तट को उजाड़ा, और पाँच बंदरगाह छीन लिये। उसके बाद काङतुङ दखल कर लिया, और भाप-जहाजों से याङ्चे नदी में घुस कर चीनी साम्राज्य के सूखे बाँस की तरह दो टुकड़े करने लगे।

अफगानिस्तान में मार खा कर अंग्रेज़ों ने चीन से शीघ्र सन्धि कर ली (अगस्त १८४२)। हाङ्काङ उन्हें मिला; जब्त अफीम के दाम के अलावा बड़ा हरजाना भी उन्होंने पाया। काङतुङ से शांघाई तक पाँच बन्दरगाह व्यापार के लिए खोल दिये गये तथा उनमें रहने और खुला व्यापार करने का अधिकार भी मिल गया। सबसे बढ़ कर यह हुआ कि चीन ने चुंगी नियत करने का अपना अधिकार छोड़ दिया और आगे से विदेशी व्यापारियों की सलाह से हलकी चुंगी लगाना तय किया।

§ १४. पहले अंग्रेज़-अफगान युद्ध का अन्त—एलिनबरो ने अब नौट को ग़ज़नी काबुल खैबर हो कर "लौटने" की तथा पोलक को उससे सहयोग करने की इजाज़त दे दी। पोलक जलालाबाद से चला और राह में अफगानों को हराते हुए उसने फिर काबुल पर अंग्रेज़ी झंडा जा गाड़ा (१६-६-१८४२)। एक दिन बाद नौट भी वहाँ आ पहुँचा। एलिनबरो के आदेश से वह ग़ज़नी से महमूद के मकबरे के वे किवाड़ उखाड़ लाया जो सोमनाथ के मन्दिर से ले जाये गये कहे जाते थे। अंग्रेज़ कैदियों को छुड़ाने के बाद उन्होंने काबुल का बाजार मस्जिदों सहित लूट कर जला दिया, और तब भारत वापिस लौटे। उनके अटक पार करने पर दोस्तमुहम्मद को भी कैद से छोड़ दिया गया। फीरोजपुर में एलिनबरो ने लौटती सेना का स्वागत करने के लिए सेना का बड़ा जमाव किया था। जनवरी १८४३ में वह एकत्रित सेना विसर्जित हुई। "सोमनाथ के दरवाजों" का एलिनबरो ने बड़ा प्रदर्शन कराया, और भारत की हिन्दू प्रजा को यह दिखाना चाहा कि मानो उन किवाड़ों को वापिस लाने को ही अंग्रेजी सेना अफगानिस्तान गई थी और वहाँ से सफल लौटी है! पर वे किवाड़ सोमनाथ के पुराने मन्दिर के न थे। आगरे तक पहुँचने के

बाद वे वहाँ किले में डाल दिये गये।

§ १५. **सिन्ध दखल किया जाना**—सिन्धियों ने अपने देश में अंग्रेज़ी सेना को घुसने दिया और उसे अपने पड़ोसियों के विरुद्ध युद्ध का आधार बनने दिया था। इसका फल उन्हें अब पाना था।

एलिनबरो ने काबुल में अंग्रेज़ी सेना की सफलता होते ही सिन्ध के खिलाफ कार्य आरम्भ कर दिया। अफगान-युद्ध-काल में जेम्स आउटराम सिन्ध में रेज़िडेंट था। एलिनबरो अब जिस धींगाधाँगी से काम लेना चाहता था आउटराम उसमें साथ न देता, इसलिए चार्ल्स नेपियर को उसके ऊपर नियुक्त कर भेजा (सितम्बर १८४२)। नेपियर ने सिन्ध के अमीरों पर नई सन्धि मढ़ी, जिसका सार यह था कि आश्रित सेना के लिए जो रुपया वे देते हैं उसके बदले ज़मीन देनी होगी, और सिंध में अंग्रेजी सिक्का चलेगा। इससे पहले कि अमीर उसपर हस्ताक्षर करें, वह इलाके दखल करने और इस तरह हुक्म चलाने लगा मानो वही देश का शासक हो। अमीरों ने इस बीच हस्ताक्षर कर दिये, पर जनता ने उभड़ कर रेजिडेंसी को घेर लिया। अमीरों की ३० हजार सेना का नेपियर ने मियानी पर ३ हजार से सामना किया (१७-२-१८४३)। उनके तोपची दल और रिसाले के नेता को वह पहले ही खरीद चुका था। उसकी जीत निश्चित थी।

इसके बाद उसने हैदराबाद को घेर कर सर किया। अंग्रेज़ी सेना ने उस धनी शहर को खुल कर लूटा; अकेले नेपियर को उस लूट में से सात लाख रुपये मिले। अंग्रेज़ सारजेंटों और सैनिकों की स्त्रियाँ अमीरों के जनानों में भेजी गईं, और उन्होंने उन अभागिनियों की नाकों और कानों से कीमती जेवर नोच नोच कर विनोद किया और अपनी जेबें भरीं। सर जेम्स आउटराम ने इस लूट का एक रुपया भी छूने से इनकार किया। लेकिन नेपियर सीधा सिपाही था; उसे मक्कारी पसन्द न थी। इस धींगाधाँगी पर कुछ लोगों ने अँगुली उठाई तो उसने सीधा जवाब दिया, "हमारा भारत जीतने का ... एकमात्र उद्देश रुपया था। पिछले साठ बरस में भारत से एक अरब पौंड से अधिक निचोड़ा जा चुका कहा जाता है। इसमें से एक एक शिलिंग लहू में से बीना

गया, पोंछा गया और कातिल की जेब में भरा गया है। पर चाहे कितना ही पोंछो और धोओ, निगोड़ा दाग तो छुटता नहीं।"

हैदराबाद लेने के एक महीना बाद नेपियर ने खैरपुर (उत्तरी सिन्ध) के अमीर को डब्बो पर हराया, और यों समूचा सिन्ध दखल कर लिया।

§ १६. **ग्वालियर का अधीन होना**—सिन्ध के बाद पंजाब की बारी आती। लेकिन अंग्रेज पंजाब की तरफ बढ़ते तो उन्हें बायीं ओर से ग्वालियर की सेना का खतरा रहता। महादजी शिन्दे ने जिस सेना की नींव रक्खी थी, वह अभी तक विद्यमान थी, और सतलज के दक्खिन वही एकमात्र प्रशिक्षित सुसज्जित भारतीय सेना थी। अंग्रेज़ों की दृष्टि में "ऐसी बड़ी सेना का यहाँ रहना सतलज से आने वाले शत्रु के मुकाबले को बढ़ने वाली हमारी सेना के लिए खतरनाक" था। इसलिए वे मनाते थे कि "ग्वालियर दरबार और उसकी सेना को भूकम्प निगल जाय तो अच्छा हो।" अफगान युद्ध के वक्त ग्वालियर की सेना में काफी बेचैनी थी, वह अंग्रेज़ों से अपनी पुरानी हारों का बदला चुकाने को उत्सुक थी, पर इस कार्य में उसका नेतृत्व करने वाला कोई न था। इस निश्चेष्टता का फल अब ग्वालियर राज्य को पाना था।

फीरोज़पुर से अपनी सेना को विसर्जित करते ही एलिनबरो ने ग्वालियर पर ध्यान दिया। राजा जनकोजीराव शिन्दे [१०, २ § ११] की एकाएक विष दिये जाने से मृत्यु हुई (७-२-१८४३)। एलिनबरो, जो घात लगाये बैठा था, समाचार पाते ही आगरा रवाना हुआ। जनकोजीराव की ११ वर्ष की विधवा ८ बरस के बच्चे जयाजीराव को गोद ले कर राज करने लगी। असल राजकाज दरबार के हाथ में रहा। एलिनबरो ने दरबार पर दबाव डाल अपने एक पिट्ठू दिनकरराव राजवाडे को प्रधान नियत कराया। परन्तु दो मास बाद रानी और दरबार ने उसे हटा कर सर्वसम्मति से दादा खासगीवाला को प्रधान नियत किया। दादा योग्य शासक था। उसने सेना का सब बकाया वेतन दे डाला, युरोपी और दोगले अफसरों को हटा दिया तथा अनेक अंग्रेज़-विरोधियों को जिन्हें गत महाराजा ने रेज़िडेंट के दबाव में आ कर हटा दिया था, फिर से पद दिये।

एलिनबरो ने ग्वालियर के उत्तर और पूरब सेना जमा कर दरबार से मुतालबा किया कि दादा को हमारे हाथ सौंप दो। दरबार ने दब कर ऐसा कर दिया तो एलिनबरो ने उसे और दबाया। उसका उद्देश था ग्वालियर सेना को तोड़ देना और उसे विश्वास था कि ग्वालियर के "सरदार खुशी से इसमें साथ देंगे, पर हमारी सेना की सहायता या ... सान्निध्य के बिना नहीं।" अंग्रेज़ी सेना दोनों तरफ से बढ़ी। इधर लड़ाई की कोई तैयारी न थी, इसी से चम्बल के घाटों पर भी उसे किसी ने न रोका। मुसीबत सिर पर आ जाने पर ग्वालियर की सेना लड़ी। एक ही दिन (१६-१२-१८४३) ग्वालियर के उत्तर महाराजपुर तथा दक्खिन पनियार पर लड़ाइयाँ हुईं, जिनमें ग्वालियर की नेतृहीन सेना बहादुरी से लड़ कर हारी। महाराजपुर की जीत अंग्रेज़ों को काफी मँहगी पड़ी।

सिन्ध दखल करने के कुछ मास बाद यदि ग्वालियर को भी अंग्रेज़ दखल कर लेते तो देशी राज्य भड़क उठते। इसलिए एलिनबरो ने संयम से काम लिया और ग्वालियर को अधीन राज्य बना कर सन्तोष किया।

§ १७. **नेपाल में मातबरसिंह**—जेठी रानी की मृत्यु के बाद १८४१ के अन्त में नेपाल के राजा ने फिर अपनी सेना अफगानिस्तान में भेजने की पेशकश गवर्नर-जनरल से की। उसके बाद नौजवान युवराज भी नेपाल की राजनीति में हाथ डालने लगा। पांडे पक्ष ने, जो उस काल के वातावरण को देखते हुए भारत में अंग्रेजी राज के पतन की आशाएँ लगाये हुए था, उसे अपना अगुआ बनाया। राजा दुर्बलचित्त था तो युवराज पूरा पगला। जन्तुओं और मनुष्यों पर क्रूरता करके उसकी वासना की तृप्ति होती थी। मार्च १८४२ में राजा ने कहा कि मैं युवराज को गद्दी दे स्वयं निवृत्त हो जाऊँगा। अफगानिस्तान में अंग्रेज़ी राज के लिए खतरा मिट जाने के बाद अब यदि नेपाल दरबार की ओर से कोई गलत कार्य किया जाता तो अंग्रेज़ों को यह लाभ ही होता कि नेपाल में दखल देने का अवसर मिलता। सो एलिनबरो ने अपने रेज़िडेंट को लिखा कि नेपाल में मन्त्रिमण्डल को सहारा देने की नीति अब छोड़ दी जाय और आवश्यकता होगी तो फौज भेजी जायगी। रेज़िडेंट के

सहारा खींच लेने पर राजा ने अपने को असहाय माना और युवराज निरंकुश हो अत्याचार करने लगा। उस दशा से ऊब कर नेपाल की प्रजा ने पुकार उठाई। १२ दिन अपनी बड़ी बड़ी सभाओं में शान्तिपूर्वक विचार करने के बाद उसने राजा के सामने नियमित शासन की माँगें रक्खीं जिन्हें राजा ने स्वीकार किया (७-१२-१८४२)। जनवरी १८४३ में राजा ने छोटी रानी को शासनाधिकार सौंप दिया। परन्तु नेपाल को अपना शासन चलाने के लिए योग्य और दृढ़ नेता की आवश्यकता थी। सो सारे देश की पुकार के अनुसार रानी ने मातबरसिंह को नेपाल वापिस आने का सन्देश भेजा। मातबर तब शिमले में अंग्रेज़ों की नजरबन्दी में था, जहाँ से उन्होंने उसे वापिस आने दिया। उसके गोरखपुर पहुँचने पर सारे नेपाल में सहानुभूति के प्रदर्शन हुए और दरबार ने उसे लिवा लाने को शिष्टमण्डली भेजी।

१७-४-१८४३ को काठमांडू पहुँचने के बाद उसने सबसे पहले यह माँग की कि उसके ताऊ पर जिन्होंने झूठा अभियोग लगाया था उनका विचार किया जाय। सो ६ सरदारों पर अभियोग लगाने के बाद उन्हें फाँसी दी गई (मई १८४३)। मातबर ने मन्त्री पद नहीं लिया, पर पंजाब और अन्य भारतीय राज्यों के सहयोग से अंग्रेज़ों का मुकाबला करने की अपनी नीति प्रकट की तथा नेपाली सेना की अंग्रेज़ों से लड़ने की भावना को पुष्ट किया। वह शीघ्र ही सेना का बहुत प्रिय बन गया।

एलिनबरो ने नेपाल पर चढ़ाई की योजना बनवा कर ड्यूक ऑफ वेलिंगटन के पास भेजी थी। वेलिंगटन ने उसे अव्यावहारिक बताया था। इसलिए अंग्रेज़ी सरकार ने नेपाल को भीतरी षड्यंत्रों द्वारा वश में करना आवश्यक माना। रेजिडेंट हौगसन, जिसने अफ़गान-युद्ध-काल में अद्वितीय धैर्य और कुशलता से नेपाल में शान्ति बनाये रक्खी थी, विद्वान् और ऊँची प्रकृति का पुरुष था, जो वैसे षड्यंत्रों के लिए उपयुक्त न होता। सो एलिन-बरो ने उसे पदच्युत कर हेन्री लारेंस को, जो उसी युद्ध में पेशावर में अपनी षड्यंत्रदक्षता दिखा चुका तथा मातबर को भी वहीं से जानता था, रेज़िडेंट बना कर भेजा (सित० १८४३)। मातबर का सगा भानजा जंगबहादुर

१८३६-४० से अंग्रेजों के सम्पर्क में आ चुका था। लारेंस उसे बढ़ावा देने और उसके द्वारा अपना खेल खेलने लगा।

दिसम्बर १८४३ में मातबर ने प्रधान मन्त्री बनना स्वीकार किया। १६ फरवरी १८४४ को अपनी चिट्ठी में एलिनबरो ने यह "आशा" प्रकट की कि नवनियुक्त मन्त्री मातबरसिंह और राजा-युवराज के बीच कोई छलपूर्ण हिंसा का कार्य होगा। "सेना मन्त्री के पक्ष में है, परन्तु ... कहीं मन्त्री स्वयं नष्ट न हो जाय।" एलिनबरो उस वर्ष चला गया, पर चलते वक्त उसने लारेंस को लिखा कि मेरा उत्तराधिकारी मेरी नीति जारी रक्खेगा। सो १६-२-१८४४ के सवा बरस एक दिन बाद एलिनबरो की "आशा" पूरी हुई। उस रात राजा-रानी ने प्रधानमन्त्री मातबर को महल में बुलाया, और उसके भीतर पहुँचने पर जनाने से आई गोलियाँ उसके सिर और देह में लगीं जिससे वह गिर पड़ा (१७-५-१८४५)। वे गोलियाँ जंगबहादुर ने चलाई थीं।

§१८. पंजाब में सेना का राज और उसके विरुद्ध तैयारी— सन् १८४३ में सिक्खों ने कश्मीर के उत्तरपच्छिम गिल्गित जीत लिया। वह उनका अन्तिम विजय था। १८३५ में फीरोज़पुर में अंग्रेज़ी छावनी डाली गई थी [ऊपर ४ (अ)]; एलिनबरो ने अम्बाला कसौली और जुतोग (शिमला) में भी नई छावनियाँ डालीं। ग्वालियर में दिनकरराव को प्रधान नियुक्त कराने के बाद उसने कोशिश करके संधांवाला सरदारों को सिक्ख दरबार में फिर ऊँचा स्थान दिला दिया। अजीतसिंह संधांवाला महाराजा शेरसिंह का घनिष्ठ मित्र बन गया। इसके बाद एक दिन (१५-६-१८४३) उसने एका-एक शेरसिंह, कुमार प्रतापसिंह, और वज़ीर ध्यानसिंह की हत्या कर डाली। ध्यान के बेटे हीरासिंह की प्रेरणा से सेना ने लाहौर का किला घेर लिया। अजीतसिंह लड़ाई में मारा गया। तब रणजीतसिंह की छोटी रानी जिन्दाँ का पाँच बरस का बच्चा दिलीपसिंह महाराजा तथा हीरासिंह उसका वज़ीर बनाया गया।

एलिनबरो पंजाब पर घात लगाये बैठा ही था। वह सतलज में लाने को मुम्बई में लोहे की ऐसी नावें तैयार करवा रहा था जो पीपों (पोण्टून) की तरह भी बर्ती जा सकें। अप्रैल १८४४ में उसने लिखा, "मेरी अभिलाषा है

कि नवम्बर १८४५ तक हमें सतलज पार न करनी पड़े।"

अगले महीने अतरसिंह संधांवाले ने जो थानेसर में अंग्रेज़ों की शरण में था, अपने दल के साथ फ़ीरोज़पुर पर सतलंज पार की और एक सिक्ख सन्त को तथा रणजीतसिंह के एक दत्तक बेटे को अपने साथ मिला कर लाहौर की तरफ़ बढ़ने लगा। वज़ीर हीरासिंह ने इस संकट के अवसर पर खालसा पंचायत के सामने खड़े हो विनती की और उन्हें याद दिलाया कि संधांवाले अंग्रेज़ों के हथियार हैं। एक सेना तब उनके विरुद्ध बढ़ी। लड़ाई में अतरसिंह और उसके साथी मारे गये।

हीरासिंह राजकाज में अपने शिक्षक पंडित जल्ला की सलाह से चलता था। जल्ला विचारशील पुरुष था। पंजाब के लोकमत को जागृत करने के लिए वह प्रेस की स्थापना की बात भी सोचता था। उसका विचार था कि पंजाब की मालगुज़ारी का बड़ा अंश गुलाबसिंह के हाथ चला जाने से राज्य की क्षति होती है। इसलिए उसने सेना में धीरे धीरे यह विचार फैला दिया कि गुलाबसिंह से उसकी जागीरें वापिस लेनी चाहिएँ। वह दूसरे जागीरदारों की जागीरें भी जब्त करने लगा। लेकिन इस काम में उसने कुछ जल्दी की। जिन जागीरदारों की जागीरें जब्त की गईं, वे सिक्ख थे और सिक्ख सेना को उकसाने लगे। इस बीच जल्ला के मुँह से रानी जिन्दाँ के विषय में कुछ अनुचित शब्द निकल गये। रानी के भाई जवाहरसिंह ने तब सेना को एकाएक भड़का दिया। जल्ला और हीरासिंह पकड़े और मारे गये (२१-१२-१८४४)।

कुछ अव्यवस्था के बाद जवाहरसिंह तथा एक लालसिंह ने नया शासन बनाया। उन्होंने गुलाबसिंह से समझौता कर लिया। किन्तु सेना के पंचों ने समझौते की शर्तें न मानीं और जम्मू पर चढ़ाई की। चतुर गुलाब ने दान और विनय द्वारा सेना को खुश किया और अपनी जागीरों का बड़ा अंश राज्य को सौंप दिया। उसके कुछ सैनिक लाहौर की सेना से झगड़ पड़े, तब उसने अपने को सेना के हाथ सौंप दिया और कैदी हो कर वह उनके साथ लाहौर तक गया। वह कैदी चाहता तो आसानी से वजीर बन सकता था क्योंकि सेना उसकी योग्यता और विनय की कायल थी। किन्तु गैर-सिक्ख होने के कारण

उसे उनपर भरोसा न था। उसकी उपस्थिति में जवाहरसिंह बाकायदा वजीर बनाया गया (१४-५-१८४५)।

जवाहर तुच्छ आदमी था। सेना के प्रभाव से घबरा कर उसने दो बार सतलज पार भागने की कोशिश की, पर सेना चौकन्नी थी। रणजीतसिंह के एक और दत्तक बेटे ने अटक में विद्रोह किया। वह पकड़ कर लाहौर लाया गया। जवाहर ने उसे मरवा डाला। इस बात से सेना ऊब उठी। पंचों ने कहा कि ऐसी बातें राज्य में होने पायँगी तो हम सब खतरे में पड़ जायेंगे। पंचायतों की संगत जुटी और उसमें तय हुआ कि जवाहर को मृत्यु-दंड दिया जाय। २१-६-१८४५ को उसे खालसा संगत के सामने बुलाया गया। बहुत सा सोना और रत्न ले कर हाथी पर बैठे हुए, महाराजा दिलीप को साथ लिये वह वहाँ पहुँचा और भेंट-पूजा से पंचों को फुसलाना चाहा। तब उसे कड़ाई से कहा गया कि चुप रहो और महाराजा को एक तम्बू में बिठा दिया गया। तब पंचों की आज्ञा से सैनिकों ने आगे बढ़ कर जवाहर को गोली मार दी। इसके बाद राज्य में किसी किस्म की लूटमार या अव्यवस्था न हुई।

अब गुलाबसिंह को वजीर बनने के लिए बुलाया गया, पर वह त्रास के मारे न आया। इसपर नवम्बर १८४५ में लालसिंह को वजीर तथा तेजसिंह को प्रधान सेनापति चुना गया।

उधर एलिनबरो की जगह हार्डिंज गवर्नर-जनरल हो कर आ गया था (१-८-१८४४) और पंजाब के पड़ोस की छावनियों में सेना और सामान बराबर बढ़ाया जा रहा था। सितम्बर १८४५ में मुम्बई वाले नाव-पीपे फीरोजपुर आ पहुँचे। सिक्ख जागीरदारों के साथ अंग्रेज़ी सरकार के षड्यन्त्र चल ही रहे थे। सिक्खों के अनेक स्वार्थी जागीरदार सदा से चाहते थे कि पंजाब में अंग्रेज़ दखल दें जिससे उनकी जायदादें स्थिर हो जायँ। सतलज के पूरव के जागीरदारों ने इसी प्रेरणा से अपने को अंग्रेज़ों की रक्षा में सौंपा था। सतलज के पच्छिम के जागीरदार पहले रणजीतसिंह की प्रतिभा से और अब शस्त्र-बद्ध जनता के तेज से पराभूत रहे। वे अब सोचने लगे कि सेना के नाश से ही हमारा बचाव होगा। जिन लालसिंह और तेजसिंह को सिक्खों ने अपना नेता

चुना, वे न केवल उसी प्रकार के जागीरदारों में से थे, प्रत्युत अंग्रेजों के षड्यन्त्र में गहरे शामिल हो कर भड़काऊ कारिन्दों का काम कर रहे थे।

§ १९. **सतलज की लड़ाइयाँ**—अक्तूबर में हार्डिंज पंजाब की तरफ रवाना हुआ। लालसिंह और तेजसिंह ने सेना को अंग्रेज़ों की तैयारी दिखा कर ताना देते हुए पूछा—क्या तुम देखते रहोगे जब कि पंजाब को विदेशी पददलित करेंगे ? वीर सिक्खों ने उत्तर दिया—हम जान पर खेल कर अपनी भूमि को बचायेंगे। वे न केवल इन नीच देशद्रोहियों के बहकाने में आ गये, प्रत्युत युद्ध-काल में नेता की आवश्यकता देखते हुए उन्होंने पंचायतें बन्द कर इन्हीं के हाथ सेना की सब बागडोर सौंप दी ! यों नवम्बर १८४५ में, ठीक उस वक्त जब कि अंग्रेज़ चाहते थे, सिक्खों ने युद्ध का निश्चय किया, और उनकी सेना सतलज की ओर बढ़ी।

शुरू दिसम्बर में हार्डिंज अम्बाले पर प्रधान सेनापति गफ से आ मिला। अम्बाले से अंग्रेजी सेना फीरोजपुर की तरफ बढ़ी। सिक्खों ने फीरोजपुर के ऊपर सतलज पार की। फीरोजपुर में तब केवल ७ हजार अंग्रेजी सेना थी। सिक्खों के लिए स्पष्ट रास्ता यह था कि सबसे पहले उस छावनी को छीन लेते। लेकिन लालसिंह और तेजसिंह को तो अपनी सेना को घिरवा देना अभीष्ट था। उन्होंने अंग्रेज़ अफसरों को सन्देश भेजा कि डरें नहीं, और अपने सिक्खों से कहा कि इस तुच्छ सेना से क्या लड़ना, आगे बढ़ कर गवर्नर-जनरल को मारो या कैद करो ! यों अपनी सेना को आगे ले जा कर फीरोजपुर से २० मील, मुदकी गाँव पर, लालसिंह ने उसके एक अंश को अंग्रेज़ों की बड़ी फौज के साथ टकरा दिया (१८ दिसम्बर १८४५)। गफ ने उसे धकेल दिया और तय किया कि शत्रु से लड़ने से पहले फीरोजपुर वाली टुकड़ी से मिला जाय।

सिक्ख सेना की हरावल मुदकी और फीरोजपुर के बीच फेरूशहर* गाँव के गिर्द घोड़े के सुम की शकल में पड़ी थी। २१ दिसम्बर को अम्बाला और फीरोजपुर की सेनाओं के मिल जाने पर हार्डिंज और गफ ने उसपर सन्ध्या से

* 'फेरूशहर' का अंग्रेज़ी में 'फीरोज़शाह' बना दिया गया है।

एक घंटा पहले हमला किया। अंग्रेज़ी सेना भरोसे से बढ़ी, उनकी तोपें गोले उगलने लगीं। लेकिन सिक्ख तोपों ने तेज़ी से और ठीक निशाने से जवाब दिया; तोपों के बीच से सिक्ख पदाति दृढता से बन्दूकें दागते रहे। इस मुकाबले को देख कर अंग्रेज़ दंग रह गये। उनकी तोपें उखड़ गईं, बढ़ते हुए दस्ते धक्के खा कर लौटे, पाँतें टूट गईं और अँधेरे में नायकों को पता न चलता कि उनके सैनिक कहाँ गये। ढेर हुई सेना जहाँ जाड़े से बचने को आग जलाती वहीं सिक्ख तोपों के गोले आ कर पड़ते। अंग्रेज़ उस दिन जिस धरती पर खड़े थे, उसपर उन्हें भरोसा न था। कोई रक्षित सेना उनके नजदीक न थी; सिक्खों के पास दूसरी ताजी सेना तैयार थी।

गफ और हार्डिंज ने तब भी हिम्मत कर के हमला किया और दूसरे दिन सुबह सिक्खों को उस शिविर से धकेल दिया। किन्तु तभी सिक्ख सेना का दूसरा अंश तेजसिंह की नायकता में आ गया। गद्दार तेजसिंह जान बूझ कर देर करता रहा, जिससे लालसिंह वाली सेना पूरी पस्त हो जाय और अंग्रेज़ फिर अपनी पाँतें बाँध लें। उसके बाद भी उसने दृढता से हमला न किया, और छोटी-मोटी मुठभेड़ें करके ठीक उस वक्त भाग निकला जब कि अंग्रेज़ी तोपों का गोला खतम हो चुका था और उनकी सेना का एक अंश फीरोजपुर लौट रहा था। उस वक्त यदि सिक्ख दृढता से बढ़ते तो अंग्रेज़ों की बाकी सेना की पूरी सफाई हो जाती।

इस लड़ाई से पता चला कि सिक्ख तोपों की मार अंग्रेज़ी तोपों से लम्बी, गोला ज्यादा भारी, पछाड़ कम तथा चलाने वाले अंग्रेज़ी चालकों से अधिक होशियार थे। सिक्ख नेताओं की गद्दारी से अंग्रेज़ों की जीत तो हुई, पर उनकी शक्ति को लकवा मार गया। उन्होंने सिक्खों को आराम से सतलज पार कर नई तैयारी करने दी, तथा स्वयं दूर दूर से नई सेनाएँ और एक एक दो दो अफसर भी बुलाये। उन्हें अब दिल्ली और जमना के घाटों की चिन्ता लगी थी!

अंग्रेज़ों की कुमुक आने पर उन्होंने फीरोजपुर से हरि-के-पत्तन तक मोर्चे बनाये। सिक्ख सामने सतलज के उस पार थे। सरहिन्द प्रदेश में रसद-सामान जुटाने और लाने में भी अंग्रेज़ों को दिक्कत होने लगी। तभी दस हजार सिक्ख

सेना ने रणजोरसिंह के नेतृत्व में लुधियाने के सामने सतलज पार की। मेजर-जनरल हैरी स्मिथ को लुधियाना बचाने भेजा गया। रणजोर लुधियाने के सात मील पच्छिम बद्दोवाल पर था। स्मिथ ने दाहिने घूम कर, उससे बच कर, निकलने की कोशिश की (२१-१-१८४६)। लेकिन सिक्ख उसका रास्ता काटने बढ़े। मुख्य सेना के आने पर स्मिथ सामना करने को पाँतें बनाने लगा। तब उसने देखा कि चुस्त सिक्खों ने उसके पिछली तरफ़, रेत के टिब्बों के पीछे पीछे से, चुपके चुपके अपनी तोपें ला कर उसका बाँया पासा घेर लिया है। "ये तोपें बड़ी फुर्ती और ठिकाने से गोलों की धारा बहाने लगीं। उनके गोलों की लगातार साँय-साँय में झुंड के झुंड गिरते सैनिकों की कराहें न सुन पड़ती थीं।" स्मिथ ने सेना को फिर कूच का हुक्म दिया। सिक्खों ने पीछा न किया, "क्योंकि उनका कोई नेता न था, या जो था वह अंग्रेज़ों की हार न चाहता था।" यह मुठभेड़ फेरूशहर की मुठभेड़ की तरह सैनिकों ने अपनी सूझ से की थी। उन्होंने स्मिथ की टुकड़ी का तमाम असबाब लूट लिया और अनेक अंग्रेज़ कैद किये।

सिक्खों के हौसले अब बढ़ने लगे। समूची सेना ने स्वाभाविक प्रेरणा से गुलाबसिंह को बुला कर वजीर बनाया। गद्दार लालसिंह और तेजसिंह भीतर भीतर काँपने लगे। २७ जनवरी को गुलाबसिंह लाहौर पहुँचा। किन्तु वह बहुत देर से पहुँचा! रणजोरसिंह बद्दोवाल से सतलज के किनारे १५ मील नीचे हट गया था। लुधियाना पहुँच कर नई कुमुक के साथ हैरी स्मिथ उसके मुकाबले को निकला। अलीवाल और बुँदरी गाँवों पर २८ जनवरी को फिर उनकी लड़ाई हुई। रणजोरसिंह अपने डोगरों के साथ भाग निकला; सिक्ख तोपची और पदाति वीरता से लड़े, पर उनकी पूरी हार हुई। इस हार ने अवसरदर्शी गुलाबसिंह का रुख बदल दिया। अब वह भी अंग्रेज़ों से बातचीत करने लगा। हार्डिंज ने भी देखा सिक्खों के समान वीर सुसज्जित बहुसंख्यक सैनिकों का वैसे योग्य नेता के संचालन में चले जाना खतरनाक है और उसे खरीद लेने का निश्चय किया।

हार्डिंज ने कहा कि सिक्ख सरकार को स्वीकार किया जा सकता है बशर्ते

कि वह अपनी सेना को तोड़ दे। गुलाबसिंह ने कहा सेना पर उसका वश नहीं चलता। तब यह तय हुआ कि सिक्ख सेना पर अंग्रेज आक्रमण करें और जब वह पिट जाय तब सिक्ख सरकार खुल्लमखुल्ला उसका साथ छोड़ दे तथा अंग्रेज़ों को बेरोकटोक लाहौर आने दे। "सयानी नीति और बेहया गद्दारी की ऐसी अवस्थाओं के बीच सभरावाँ की लड़ाई लड़ी गई।"

शुरू फरवरी में दिल्ली से अंग्रेज़ों की गढ़तोड़ तोपें आ गईं, जिन्हें सिक्खों के विरुद्ध मैदान में बर्तना तय किया गया था। सिक्ख सरकार के देश-द्रोह के कारण सिक्ख सेना को रसद-बारूद भी ठीक न मिल रहा था। उनकी मुख्य सेना सतलज के पूरब सभरावाँ के मोर्चे पर जमा हुई। मोर्चाबन्दी किसी योजना या आदेश पर न हुई थी। "सैनिकों ने सब कुछ किया, पर नेताओं ने कुछ नहीं किया था। हिम्मती दल और मेहनती हाथ बहुत थे, पर चलाने वाला दिमाग कोई न था।" मध्य और बायें पासे में प्रशिक्षित सैनिक और अच्छी मोर्चाबन्दी थी; दाहिना पासा नदी की रेत में था, जहाँ मोर्चे बनाना कठिन था, और वहीं अनियमित सेना तेजसिंह के नेतृत्व में "रहने दी गई या जान बूझ कर रक्खी गई थी।" अंग्रेज़ों ने उसी पासे पर सबसे जोर की चोट लगाना तय किया।

१० फरवरी को प्रातःकाल के अँधेरे और गहरी धुन्ध में अंग्रेज़ी सेना चुपचाप बढ़ी। सिक्ख झटपट तैयार हुए। सूर्योदय के साथ ही अंग्रेज़ी तोप-खाने ने मुँह खोला और तीन घंटे बौछार करता रहा। सब बेकार। सिक्ख "दमक के बदले दमक और आग के बदले आग लौटाते हुए" निडर डटे रहे।

दूर की गोलाबारी से कुछ न बनता देख अंग्रेज़ी सेना का बायाँ पासा हमले के लिए बढ़ा और शत्रु के बढ़े हुए मोर्चों और खन्दकों में जा घुसा। गद्दार तेजसिंह पहला हमला होते ही भागा और सतलज पार करते हुए पुल के बीच की एक नाव डुबाता गया। तब अंग्रेज़ों का दाहिना पासा भी बढ़ा, और बार बार धकेला जा कर भी बढ़ता ही रहा। सख्त मुकाबले के बावजूद उन्होंने खाई कूद कर धुसबन्दी पर चढ़ कर शत्रु की तोपों को छीन लिया। तो भी लड़ाई खतम न हुई। सिक्ख पाँतों में सब जगह छेद हो जाने पर भी उनकी

अकेली दुकेली तोपें जहाँ तहाँ चलती रहीं, और उनकी पाँत के मध्य में वीर पुरुष डटे रहे जो चप्पा चप्पा ज़मीन के लिए जूझते। गोलों की मार के बीच धुसबन्दी पर बेधड़क खड़े अनेक सिक्ख तलवार घुमा कर अपने तोपचियों को दिखाते कि किधर गोरों के झुण्ड जमा हैं। धीरे धीरे सब मोर्चे ले लिये गये और सिक्ख सेना नदी की तरफ धकेली गई। पर अन्त तक "एक भी सिक्ख ने समर्पण न किया या शरण न माँगी। वे भौंहें ताने और बेरुखी दिखाते धीरे धीरे टहलते हुए हट जाते या अकेले अकेले शत्रु-दल से लड़ते हुए निश्चित मौत पाते। पराजितों के अदम्य तेज को देख विजेता चकित रह जाते; उनके शस्त्र उनपर वार करते रुक जाते। परन्तु (अंग्रेज़) नेताओं की प्रतिहिंसा तृप्त न हुई थी, या कूटनीति अपना हिसाब न चुका पाई थी। लाशों के ढेरों के बीच खड़े हो उन्होंने तोपखाने को और आगे—करीब सतलज के अन्दर तक—बढ़े चलने का आदेश दिया, जिससे कि वह सेना जो इतने दिन तक उनकी शक्ति की अवहेलना करती रही थी, पूरी तरह नष्ट हो जाय।"

अंग्रेजी सेना सतलज पार कर पंजाब में घुसी। अमृतसर की तरफ अभी २० हज़ार सिक्ख सेना और थी; पर उसकी पंचायती शक्ति टूट चुकी थी और दरबार ने अंग्रेज़ों से सुलह कर ली। सेना ने दरबार की यह बात मान ली कि वज़ीर गुलाबसिंह लाहौर में सिक्ख राज रखते हुए जैसी चाहे सुलह करे। पंजाब सरकार ने अंग्रेज़ों को सतलज-ब्यास का द्वाबा तथा डेढ़ करोड़ रुपया हरजाना देना मान लिया।

गुलाबसिंह की आकांक्षा पंजाब का वजीर बनने की थी। हार्डिंज ने देखा कि वह वज़ीर बन जाय तो बची-खुची सिक्ख सेना के सहारे अब भी पंजाब में दृढ राज्य खड़ा कर लेगा। इसलिए उसने उसे सिक्खों से अलग करना तय किया। लाहौर दरबार डेढ़ करोड़ में से पचास लाख की रकम ही दे पाया था। बाकी एक करोड़ के बजाय अंग्रेज़ों ने व्यास से सिन्ध तक का पहाड़ी प्रदेश ले कर उसमें से काँगड़ा और हज़ारा ज़िले अपने पास रख कर बाकी ७५ लाख में गुलाबसिंह को बेच दिया, और उसे महाराजा का पद दिया।

देशद्रोही लालसिंह वजीर बनाया गया। वह और उसके साथी बची-

खुची सिक्ख सेना के मुकाबले में भी न टिक पाते इसलिए उन्होंने दिलीपसिंह के बालिग होने तक अंग्रेज़ी सेना को पंजाब में रख लिया और अंग्रेज़ रेजिडेंट को दरबार का मुखिया बना कर पूरा शासन सौंप दिया।

§२०. नेपाल में राणाशाही का उदय—मातबरसिंह की हत्या के बाद नेपाल में फिर फतहजंग चौंतरिया के प्रधान-मन्त्रित्व में संयुक्त मन्त्रिमंडल बना। अभिमानसिंह राणा, गगनसिंह खवास और दलभंजन पांडे अन्य मन्त्री थे। सेना का कार्य जंगबहादुर को सौंपा गया, पर उसे बाजाब्ता मन्त्री पद नहीं मिला। गगनसिंह पर रानी की विशेष कृपा थी।

जिस निर्घृणता से जंगबहादुर ने अपने मामा की हत्या की उसे देख अंग्रेज़ों का उसपर भरोसा बढ़ गया। उसे उन्होंने शस्त्रास्त्र दिये और उसके द्वारा अपनी नीति को चरितार्थ करने के लिए उसका मार्गदर्शन किया। १४ सितम्बर १८४६ को रात १० बजे गगनसिंह अपने घर में पूजा करता था कि खिड़की में से एक गोली ने आ कर उसका काम तमाम कर दिया। यह भी जंग का काम था। पर झुँझलाई हुई रानी ने दूसरों पर सन्देह किया और उलटा जंग से ही सलाह ली कि क्या किया जाय। उसकी सलाह से उसने उसी रात राजा और सब सरदारों को काटमांडू के कोट में बुलाया। किसी को पता न था कि हम क्यों बुलाये गये हैं इसलिए सब निहत्थे आये, पर जंग ने अपनी सेना बाहर तैयार रक्खी। इसके बाद उसने रानी को उभाड़ा और ऐसा वातावरण पैदा किया जिससे वह अपनी सेना का उपयोग कर सके। वीरकिशोर पांडे नामक युवक को गगनसिंह की हत्या के सन्देह में अभियुक्त बना कर रानी की आज्ञा से हथकड़ी बेड़ी पहना कर वहाँ लाया गया था।

राजा ने रानी को समझाने का यत्न किया कि अभियुक्त को सफाई का अवसर देना चाहिए, पर वह न मानी। विवाद बढ़ा तो राजा वहाँ से चुपचाप चला गया। जंगबहादुर ने तब रानी को और उभाड़ा और रानी ने अभियुक्त को वहीं मारने का हुक्म दिया। फतहजंग चौंतरिया तथा अभिमान राणा ने कहा इसका परिणाम बहुत बुरा होगा। जंगबहादुर ने दोनों मन्त्रियों से आग्रह किया कि रानी की बात मानें, पर उन्होंने कहा कि अभियोग का ठीक ठीक

विचार होना चाहिए और अभियोग सिद्ध हो तभी दण्ड मिलना चाहिए। रानी तब उनपर भी बिगड़ी और वीरकिशोर पर स्वयं तलवार चलाने को तैयार हुई। दोनों मन्त्रियों और जंग ने उसे रोका। तब वह ऊपर की मंजिल को चढ़ी; वे उसके पीछे पीछे जाने लगे। उसके ऊपर जाते ही जंगबहादुर के सैनिकों ने गोलियाँ चलाईं और फतहजंग को वहीं गिरा दिया। उसके बाद वहाँ उपस्थित ३० और सरदारों तथा उनके १०३ अनुचरों का उन्होंने वहीं संहार कर दिया, जिनमें जैथक पर अंग्रेज़ों को हराने वाला रणजोरसिंह थापा [१०, १ § १४] और उसके दो भाई भी थे। जंगबहादुर प्रधान मन्त्री और प्रधान सेनापति बन बैठा।

डेढ़ मास बाद उसने १३ और सरदारों का, जो मुख्यतः बसनैत वंश के थे, वध किया। दिसम्बर में राजा बनारस भाग गया। जंगबहादुर ने तब रानी को भी भगा दिया। राजा ने नेपाल तराई पर चढ़ाई की, जो विफल हुई। अगले वर्ष जंगबहादुर ने राजा को पदच्युत कर पगले युवराज सुरेन्द्रविक्रम को गद्दी दे दी (१२-५-१८४७)। राजा ने फिर चढ़ाई की और कैद हुआ। सुरेन्द्रविक्रम से जंग ने कुछ काल बाद सनद लिखवा ली कि जंग के वंश में प्रधान मन्त्री पद स्थिर कर दिया गया। जंग ने यह नियम बाँधा कि उसके बाद उसके भाई क्रम से शासन करेंगे और फिर सब भाइयों के बेटे आयुक्रम से। उसने अपने को महाराजा और राणा कहना भी शुरू किया। इसलिए उसकी चलाई पद्धति राणाशाही कहलाई।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. सिक्ख राज्य अंग्रेज़ों द्वारा पूरब दक्खिन और पच्छिम से कैसे किस क्रम से घेरा गया?

२. भीमसेन थापा की पंजाब-नेपाल-सहयोग योजना क्या थी? वह कब कैसे कहाँ तक चरितार्थ हुई?

३. अफगानिस्तान पर १८३८ में अंग्रेज़ों ने जो चढ़ाई की उसके लिए पड़ोस के किस किस शासक से क्या क्या षड्यन्त्र किया? उस चढ़ाई से वे क्या कुछ सिद्ध कर लेना चाहते थे?

कुमार नौनिहालसिंह कौन था ? उसके विचारों और आदर्शों के बारे में आप क्या जानते हैं ?

५. अफगानों के स्वतन्त्रता-युद्ध १८३८-१८४१ ई० का विवरण लिखिए और उसकी भीतरी प्रेरणाओं को स्पष्ट कीजिए।

६. बाजीराव २य ने १८०३ में पूने में अंग्रेजी सेना बुलाई, शाह शुजा ने १८३८ में काबुल में। अंग्रेजी सेना के महाराष्ट्र में और अफगानिस्तान में जाने के बाद जो घटनाएँ हुई उनकी तुलना कीजिए। उस तुलना से उन्नीसवीं शताब्दी के मराठों और अफगानों की मनोवृत्ति में क्या अन्तर प्रकट होता है ?

७. पंजाब में सिक्ख सेना की शक्ति का उदय कैसे हुआ ? कब से कब तक वह शक्ति बनी रही और कैसे टूटी ? उस बीच सिक्ख सेना ने अपनी शक्ति का उपयोग कैसे किया सो मुख्य घटनाओं का विवरण दे कर स्पष्ट कीजिए।

८. सन् १८४५-४६ की सतलज की लड़ाइयों का विवेचनात्मक विवरण दीजिए।

९. "सयानी नीति और बेहया गद्दारी की ऐसी अवस्थाओं के बीच सभरावाँ की लड़ाई लड़ी गई ?" कौन सी वे अवस्थाएँ थीं, स्पष्ट कीजिए।

१०. कोट का कत्ले-आम किन दशाओं में कैसे हुआ ? उस कत्ले-आम के पीछे क्या योजना थी ? उसका नेपाल और भारत के इतिहास पर क्या प्रभाव हुआ ?

११. निम्नलिखित के बारे में आप क्या जानते हैं—(१) सिन्धु-नौचालन योजना १८३१ ई० (२) बर्न्स (३) जोरावरसिंह (४) अफ़ीम युद्ध १८४०-४२ ई० (५) हैदराबाद (सिन्ध) की लूट १८४३ ई० (६) कश्मीर की बिक्री-खरीद १८४६ ई० (७) मातबरसिंह।

१२. 'सिक्ख जागीरदार तथा पंजाब में अंग्रेजी राज की स्थापना' इस विषय पर छोटा लेख लिखिए।

१३. सिक्खों ने लदाख, बोलौर, गिलिगत कब किन दशाओं में जीते ?

१४. अंग्रेजों ने ग्वालियर पर १८४३ ई० में चढ़ाई क्यों और किन दशाओं में की ? उसका परिणाम क्या हुआ ?

१५. निम्नलिखित हत्याओं या मृत्युओं का भारत में अंग्रेजी साम्राज्य के विस्तार पर किस प्रकार क्या प्रभाव हुआ ?—

(१) नारायणराव पेशवा ३०-८-१७७३ ई०।

(२) कृष्णाकुमारी, उदयपुर; साधु देवनाथ, दीवान इन्द्रराज, जोधपुर; अमरचन्द सुराणा, बीकानेर; १८१५ ई०।

(३) नौनिहालसिंह ५-११-१८४० ई०।

(४) नेपाल की जेठी रानी ६-१०-१८४१ ई०।

(५) जनकोजीराव शिन्दे ७-२-१८४३ ई० ।
(६) महाराजा शेरसिंह, कुमार प्रतापसिंह, वज़ीर ध्यानसिंह, १५-६-१८४३ ई० ।
(७) मातबरसिंह, १७-५-१८४५ ई० ।
(८) गगनसिंह, १४-६-१८४६ ई० ।
(६) कोट का हत्याकांड, १४-१५ सित० १८४६ ई० ।

अध्याय ४
खँडहरों की सफाई

§१. **खँडहरों की सफाई**—भारतीय राज्य चोटें खा खा कर खँडहर बन चुके थे; उन खँडहरों की सफाई करना बाकी था। अंग्रेज अब भारत की ज़मीन और साधनों से नफा कमाने को अधीर हो रहे थे। सिन्ध जीतने पर कपास का एक अच्छा क्षेत्र उनके हाथ आ गया था। किन्तु पंजाब बराड और नागपुर की कपास भी उन्हें ललचा रही थी। नीलगिरि और कोडुगु ('कुर्ग') में काफी की तथा बिहार-बंगाल में नील और पाट (जूट) की खेतियाँ करा के अंग्रेज पूँजीपति नफा कर रहे थे। अवध की ज़मीन भी वैसे व्यवसाय के लिए उन्हें लुभाती थी। कुमाऊँ और शिमले में उन्होंने नई बस्तियाँ बसाईं और बगीचे लगाये थे। नेपाल और कश्मीर को देख कर भी उनके मुँह में पानी भर आता था।

अंग्रेजों के हाथ में अब नये यन्त्र और साधन भी आ गये थे जिनके द्वारा वे समूचे भारत को शीघ्र पूरा दखल कर लेने की सोचते थे। सन् १८१३-१४ में स्टिफन्सन ने लोहे की पटरी पर दौड़ने वाला एंजिन बना दिखाया था और १८२५-३० में इंग्लैंड में पहली रेलगाड़ी चल पड़ी थी। तभी आम्पीयर नामक फ्रांसीसी ने बताया कि बिजली से चुम्बक शक्ति का काम लिया जा सकता है, और इस आधार पर १८३६ ई० में मौर्स नामक अमरीकी ने दूरलेखन (टेलीग्राफी) की ईजाद की। भाप से चलने वाले जहाज (स्टीमर) फ्रांस और अमरीका में उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ से ही जारी थे, और

हम देख चुके हैं कि सिन्ध और पंजाब के युद्धों में उनका प्रयोग हुआ था। लोहे के तारों और पटरियों से अब सारे भारत को कसा जा सकता था।

इस दशा में सन् १८४७ के आरम्भ में डलहौजी को हार्डिंज का उत्तराधिकारी बना कर भेजा गया। उसने कहा, मैं हिन्दुस्तान की ज़मीन को समथर कर दूँगा, और आते ही खँडहरों की सफाई में लग गया।

§ २. **दूसरा अंग्रेज़-सिक्ख युद्ध**—सिक्ख राज्य के एक बार काबू आते ही अंग्रेज़ उसपर अपना शिकंजा कसने और मुसलमानों को सिक्खों के विरुद्ध उभाड़ने लगे। रणजीतसिंह के विश्वस्त मन्त्री फकीर अज़ीजुद्दीन का भाई नूरुद्दीन दरबारियों में से एक था। उसके द्वारा रेजिडेंट ने दरबार में अपना पक्ष दृढ करके रानी जिन्दाँ को लाहौर से शेखूपुरा हटा दिया। वे अंग्रेज़ अफसर, जो पंजाबी हाकिमों की "सहायता" के लिए सीमान्त के जिलों में भेजे गये थे, पच्छिमी पंजाब की लड़ाकू मुस्लिम जातियों से षड्यन्त्र करने लगे। इस प्रकार एडवर्ड्स ने सिन्ध काँठे के टिवाणों को तथा ऐबट और निकल्सन ने हज़ारा जिले के हज़ारियों को उभाड़ना शुरू किया।

रणजीतसिंह के काल का मुलतान का शासक दीवान सावनमल और उसका बेटा मूलराज सिक्ख राज्य के योग्यतम शासकों में से थे। मूलराज के शासन में प्रजा बहुत सुखी थी। अब उससे शासन ले लेने के लिए एक काहनसिंह और दो अंग्रेज़ों को भेजा गया। इसपर मुलतान में बलवा हो गया (१६-४-१८४८); अंग्रेजों के साथ गये हुए रक्षक सैनिक मुलतानियों से जा मिले। उस इलाके के हिन्दू सिक्ख मुस्लिम सभी मूलराज के झंडे के नीचे जमा होने लगे। महारानी जिन्दाँ ने भी उसे पत्र भेज कर उत्साहित किया। रेजिडेंट करी ने नूरुद्दीन की सहायता से महारानी को कैद कर बनारस भेज दिया। सिक्ख सैनिक इसपर क्षुब्ध हो उठे। लेकिन उन्हें सूझता न था कि क्या करें। वे कहते, "हमारी महारानी निर्वासित हो गई, दिलीपसिंह अंग्रेजों के हाथ में है, लड़ें तो किसके लिए ? किन्तु यदि मूलराज चढ़ाई करे तो हम सरदारों और अफसरों को पकड़ कर उससे जा मिलेंगे।" इससे प्रकट है कि वीर और स्वाधीनताप्रेमी सिक्ख अपना कोई नेता न होने से किंकर्त्तव्यविमूढ थे।

मुलतान के बलवे को दबाने के बजाय करी उसके बहाने लाहौर दरबार को दबाने लगा। उसने दरबार से कहा, बलवे को दबाओ, नहीं तो पंजाब को दखल किया जायगा। उधर एडवर्ड्स सिन्धसागर दोआब के कबीलों को ले कर मूलराज से लड़ने लगा। दरबार की तरफ से सरदार शेरसिंह को मूलराज के विरुद्ध भेजा गया, पर उसकी सेना मूलराज से जा मिली (१४-६-१८४८)।

शेरसिंह का पिता चतरसिंह हरिपुर-हजारा में हाकिम था। इसी काल ऐबट ने हजारियों को भड़का कर उसे घिरवा दिया था। इस दशा में शेरसिंह उत्तर की तरफ गया और उसने सिक्खों की ओर से अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध-घोषणा की। काबुल के अमीर दोस्तमुहम्मद ने सिक्खों को सहायता देने की सन्धि की। किन्तु लाहौर दरबार अब भी रेज़िडेंट के काबू में रहा, और उसकी सेना अन्त तक अंग्रेजों के हाथ में रही।

अंग्रेज प्रधान सेनापति गफ लाहौर से शेरसिंह के विरुद्ध बढ़ा। शेरसिंह के पास उससे कम सेना थी। चनाब के घाट रामनगर पर पहली मुठभेड़ हुई जिसमें किसी पक्ष की जीत न हुई। डेढ़ मास बाद जेहलम के काँठे में चिलियाँवाला पर शेरसिंह ने गफ को बुरी तरह हराया (१३-१-१८४६)। तब वह अंग्रेजी सेना के गिर्द घूम कर लाहौर की तरफ बढ़ने लगा, जहाँ गुलाबसिंह भी उससे आ मिलने को उद्यत था। उधर दोस्तमुहम्मद के पठान भी युद्ध की गति-विधि को देख रहे थे। गफ ने सिक्ख सेना का पीछा किया और गुजरात पर उन्हें आ पकड़ा। यदि सिक्ख वहाँ शेरसिंह की योजना पर लड़ते तो गफ की शायद फिर हार होती और वह पठानों और सिक्खों के बीच घिर जाता। किन्तु अपने साथी सरदारों का बहुमत शेरसिंह को मानना पड़ा और गुजरात पर सिक्खों की हार हुई (२२-२-१८४६)। तब वे फिर पीछे मुड़े। अंग्रेज़ी सेना ने उनका पीछा किया। मणिकिआला (जि० रावलपिंडी) पहुँच कर सिक्खों ने आत्म-समर्पण कर दिया (१२-३-१८४६)।

उधर नौ मास तक बहादुरी से लड़ने के बाद मूलराज भी जनवरी में समर्पण कर चुका था। महारानी जिन्दाँ ने बनारस से भाग कर नेपाल में शरण ली।

डलहौजी ने पंजाब दखल कर लिया (२६-३-१८४६), और तीन अफसरों का एक बोर्ड पंजाब के शासन के लिए नियत किया। बाद में बोर्ड के बजाय अकेले जौन लारेन्स को चीफ कमिशनर बनाया गया। इन लोगों ने पंजाब को बहुत शीघ्र निःशस्त्र करके शान्त कर दिया, और सबसे अद्भुत बात यह की कि कुछ ही बरसों में स्वाधीनवृत्ति सिक्खों को भाड़ैत सिपाही बना लिया।

§३. दूसरा अंग्रेज़-बरमा युद्ध—बरमा तट के अराकान और तनेतई (तनेसरीम) प्रदेश सन् १८२५-२६ से अंग्रेजों के अधीन हो चुके थे। उनके बीच का पगू प्रान्त ले लेने से बंगाल की खाड़ी का समूचा तट उनके हाथ आ जाता। यह भी ख्याल था कि पगू में सोने की खानें हैं। इसलिए डलहौज़ी ने सन् १८५२ में उसे छीन लिया। वह घटना जो कि उस काल के एक अमरीकी राजनेता के शब्दों में "छीनाखसोटी की कहानी" है, संक्षेप में इस प्रकार है।

दो अंग्रेज़ी नावों के कप्तानों ने बरमा के समुद्र में तीन बंगाली माँझियों को मार डाला। रंगून के बरमी न्यायालय ने इसपर उन्हें १७१ पौंड जुरमाने की सजाएँ दीं। भारत सरकार ने इसपर बरमा राज्य से ६२० पौंड हरजाना तलब किया, और उसे वसूल करने के लिए दो जंगी जहाज भेज दिये। बरमा के राजा ने हरजाना देना मान लिया। तब अंग्रेज़ी जहाज के नायक ने कहा कि मेरे आदमियों का रंगून के शासक ने अपमान किया है और बरमा के राजा का बड़ा जहाज छीन लिया। वह बात खतम हुई तो डलहौजी ने इस चढ़ाई के खर्चे का एक लाख पौंड तलब किया, और उसके न मिलने पर पगू प्रान्त दखल कर लिया।

§४. कलात पर आधिपत्य—सिन्ध प्रान्त की पच्छिमी सीमा पर लगा कलात का पठार है जहाँ ब्रहुई लोग रहते हैं। १८५४ ई० में भारत की अंग्रेज़ी सरकार ने कलात के खान से सन्धि की जिसके अनुसार खान ने अंग्रेज़ों से पूछे बिना किसी विदेशी राज्य से सम्बन्ध न रखना और अपने राज्य में अंग्रेज़ी सेना रखना मान लिया। फारिस-खाड़ी पर अंग्रेज़ों का नियन्त्रण १८वीं शताब्दी से चला आता था। १८५३ से उन्हें उस खाड़ी को

सब राष्ट्रों के व्यापार के लिए खोलना पड़ा। किन्तु अब पंजाब सिन्ध और कलात अंग्रेजों के अधीन होने से दूसरा कोई राष्ट्र उस खाड़ी पर उनसे अधिक प्रभाव न जमा सकता था।

§५. **जब्तियाँ और दखल**—भारतवर्ष को "समथर" बनाने की नीति कम्पनी के डायरेक्टर सन् १८३४ में ही निश्चित कर चुके थे और उसके अनुसार कई छोटी छोटी रियासतें राजाओं के निःसन्तान मरने पर जब्त कर ली गई थीं। महाराष्ट्र में एक "इनाम कमीशन" जाँच कर रहा था, जिसने ३५ हजार "इनामों" (जागीरों) में से प्रायः २१ हजार को जब्त करवाया। अब उसी तरह महाराष्ट्र में सातारा, बुन्देलखंड में जैतपुर तथा उड़ीसा में सम्भलपुर रियासतें जब्त की गईं। १८५१ ई० में बिठूर में बाजीराव (२य) चल बसा; उसने नानासाहब धोंधोपन्त को गोद ले रक्खा था। डलहौज़ी ने उसे बाजीराव वाली पेंशन देना स्वीकार न किया।

सन् १८५३ में निज़ाम से बराड ले लिया गया। नज़र तो उसके समूचे राज्य पर थी, पर वह इस वक्त बच गया। उसी बरस झाँसी के राजा के मरने पर उसकी विधवा लक्ष्मीबाई के गोद लिये बेटे को गद्दी नहीं दी गई। उसके बीस दिन बाद नागपुर में भी वही बात हुई। वहाँ के राजा के रत्न-आभूषण भी नीलामी के लिए कलकत्ते भेजे गये और हाथी-घोड़े सब मांस के मूल्य पर नीलाम कर दिये गये। अवध का नवाब वाजिदअली शाह १८४७ ई० में गद्दी पर बैठा था। वह अपनी सेना की कवायद पर बहुत ध्यान देने लगा। १३ फरवरी १८५६ को उससे राज ले कर उसे कलकत्ते में नजरबन्द किया गया। इसके बाद डलहौजी भारत की बागडोर कैनिंग को दे कर इंग्लैंड चला गया।

सातारा के राजा और नानासाहब ने अपने एलची लन्दन भेजे। नानासाहब ने इस विषय में कुछ और भी सोच लिया था। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने कहा, "मेरा झाँसी देंगा नहिं।" लक्ष्मीबाई बनारस में एक मराठा परिवार में पैदा हुई और बचपन में नाना की बहन की तरह बिठूर में पली थी। वह भारतीय जागृति के अग्रदूत और भारत की युरोपियों से हार के कारण पर सबसे पहले विचार करने वाले रघुनाथ हरि [६,११§५] के भतीजे की पत्नी थी।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. "हिन्दुस्तान की जमीन को समथर कर" देने के लिए डलहौज़ी ने क्या क्या कार्य किये ?

२. दूसरा अंग्रेज-सिक्ख युद्ध किन दशाओं में कैसे हुआ ?

३. अंग्रेजों ने बरमा का पगू प्रान्त कैसे लिया ?

अध्याय ५

पहला स्वाधीनता-युद्ध

§ १. **स्वाधीनता-युद्ध का विचार और आयोजन**—भारतीय राज्यों के नेता सौ बरस से अंग्रेज़ों की सामरिक शक्ति को देख देख काँपते और उससे हार पर हार खाते रहे थे। पर अंग्रेज़ों की वह शक्ति भारतीयों की ही भाड़ैत सेना पर खड़ी थी [६, ८ §§ २, ६, ७]। इस सरल सीधे सत्य को जो बराबर उनकी आँखों के सामने था [६, ११ § ४], भारत के नेता कभी न देखते थे। अन्त में सौ बरस बाद उनमें से कुछ की आँखें खुलीं और उन्होंने इसे देखा पहचाना। यों उनकी आँखें खुल रही थीं कि ऊपर से डलहौज़ी की मार पड़ी, जिससे देश के बहुतेरे नेताओं को अपने साथ लेने का अवसर उन्हें मिला। जो भी हो, इस सत्य को पहचान लेना ही भारत के पहले स्वाधीनता युद्ध की बुनियाद थी।

इस पहचान से प्रेरणा पा कर स्वाधीनता-युद्ध को चलाने का संकल्प पहलेपहल शायद बिठूर में नानासाहब और उसके मन्त्री अजीमुल्ला के बीच पैदा हुआ। लन्दन में अजीमुल्ला और सातारा के एलची रंगो बापूजी ने इस विषय पर परामर्श किया था। अजीमुल्ला अंग्रेजी और फ्रांसीसी दोनों भाषाएँ बोल सकता था। लन्दन से यूरोप घूमता हुआ वह भारत लौटा। अंग्रेज़ों का तब रूसियों से क्रीमिया में युद्ध चल रहा था (१८५४–५६ ई०); इसलिए अजीमुल्ला ने समझा भारत के उठने का यह अच्छा अवसर है। उसके भारत पहुँचने के बाद सन् १८५५ में उसने और नाना ने तथा रंगो बापूजी ने भारत

के तमाम राज्यों को स्वाधीनता-युद्ध में शामिल होने के लिए निमन्त्रण भेजे। दिल्ली में बादशाह बहादुरशाह और बेगम जीनतमहल, कलकत्ते में नवाब वाजिदअली शाह तथा उसका वजीर अलीनकीखाँ आदि उनकी योजना में सम्मिलित हो गये।

प्रस्तावित युद्ध के नेताओं ने देशभाइयों को सम्बोधित कर लिखा "भाइयो, हम खुद ही विदेशी की तलवार अपने बदन में घोंपते हैं।" इसलिए उन्होंने अंग्रेज़ों की तमाम भारतीय सेना को अपनी तरफ मिलाने की कोशिश की और दूर दूर तक गुप्त रूप से प्रचारक भेजे। इन प्रचारकों में से फैजाबाद का मौलवी अहमदशाह आगे चल कर मुख्य नेताओं में से हुआ। अंग्रेज़ी सरकार के बहुतेरे मुलाजिम, पुलिस तथा अंग्रेज़ों के बावर्ची भिश्ती आदि भी संघटन में मिलाये गये।

सन् १८५५-५६ में अंग्रेज़ों का ईरान से भी युद्ध चलता था। ईरानियों ने हरात को घेरा, जिसके जवाब में अंग्रेजों ने बुशहर बन्दर ले कर उन्हें घेरा उठाने को बाधित किया। मई १८५६ में ईरान ने सन्धि की और तब अंग्रेज़ी सेना वहाँ से सीधे चीन की चढ़ाई के लिए जाने लगी। काबुल के अमीर दोस्त-मुहम्मद से भी आंग्ल-सिक्ख युद्ध के बाद १८५५ और १८५७ ई० में सन्धियाँ की गईं।

सन् १८५३ से कम्पनी की भारतीय सेना में नये किस्म के कारतूस चले थे जिनकी टोपी दाँत से काटनी पड़ती थी। जनवरी १८५७ में कलकत्ते के पास बारकपुर छावनी के सिपाहियों को दमदम के कारखाने के एक मेहतर से मालूम हुआ कि उन्हें गाय और सुअर की चर्बी से चिकना किया जाता है। इस खबर ने देश भर में फैले अङ्गारों को एकाएक सुलगा दिया।

३१ मई १८५७ ई० सारे भारत में एक साथ उठने का दिन नियत किया गया था। यह बात केवल छावनियों के नेताओं को मालूम थी; बाकी लोगों ने उनकी आज्ञा पालने का प्रण किया था। मार्च में नाना और अज़ीमुल्ला "तीर्थयात्रा" के लिए निकले और दिल्ली अम्बाला लखनऊ कालपी में अपने संघटन को देखते तथा प्रकट रूप से अंग्रेज़ अफसरों से दिल खोल कर मिलते

हुए बिठूर लौट आये।

§ २. **मंगल पांडे और मेरठ का बलवा**—छावनियों के अन्दर विप्लव के नेताओं ने बड़ी कोशिश की कि कारतूसों के मामले से सिपाही भड़कें नहीं और ३१ मई तक शान्त रहें। लेकिन धर्मान्धता ने सिपाहियों को बेकाबू कर दिया। फरवरी में बारकपुर की एक पलटन ने उन कारतूसों को बर्त्तने से इनकार किया। उसी पलटन के मंगल पांडे नामक सिपाही ने २६ मार्च को पाँत के आगे कूद कर अपने साथियों को धर्म-युद्ध के लिए ललकारा, और तीन अफसरों को वहीं ढेर कर दिया। मंगल पांडे को फाँसी दी गई और बारकपुर की दो पलटनें तोड़ दी गईं। अलीनकीखाँ ने बड़ी होशियारी से बंगाल की छावनियों में अपना संघटन फैलाया था, और ये दोनों पलटनें उस संघटन में शामिल थीं। इनके अब निहत्थे हो बैठने से बंगाल के संघठन की कमर टूट गई। मंगल पांडे के नाम से आगामी युद्ध में अंग्रेज़ सभी क्रान्तिकारी सिपाहियों को पांडे कहने लगे।

मेरठ के रिसाले में ८५ सिपाहियों को चर्बी वाले कारतूस न छूने के अपराध में दस दस साल की सजाएँ दी गईं। उनके साथियों ने पहले तो निश्चित तिथि तक शान्त रहना तय किया, लेकिन जब वे शहर में से जाते थे तब शहर की स्त्रियों ने उन्हें ताने दिये कि तुम्हारे भाई तो कैद में गये और तुम मक्खियाँ मार रहे हो! उन्होंने उसी रात (६ मई) दिल्ली में नेताओं को खबर भेजी और दूसरे दिन बलवा करके दिल्ली को चल दिये। गोरी फौज के अफसरों को भी यह न सूझा कि तोपखाने से उनका पीछा करें।

दूसरे दिन वे दिल्ली पहुँचे। वहाँ कोई गोरी फौज न थी। अंग्रेज़ अफसर एक देसी सेना को ले कर उनके मुकाबले को आये तो वह सेना भी विद्रोहियों से जा मिली। वे अफसर मारे गये और तार-बाबू पंजाब के कुछ स्थानों को ही खबर दे पाया था कि काट दिया गया। लाल किले में पहुँच कर विद्रोहियों ने सम्राट् बहादुरशाह से कहा कि हमारा नेतृत्व कीजिए। बहादुरशाह और बेगम जीनतमहल ने देखा कि अब ३१ मई तक रुके रहना असम्भव है, इसलिए उन्होंने स्वाधीनता की घोषणा कर दी। किले के पास बड़ा शस्त्रागार

था; उसके भीतर नौ अंग्रेज़ थे। उन्होंने उसे सौंपने के बजाय बारूदखाने में आग लगा कर अपने साथ २५ विद्रोहियों और अनेक शहरियों को भी उड़ा दिया। उसके बाद भी शस्त्रागार में बहुत बन्दूकें थीं जो विद्रोहियों के हाथ आईं। शस्त्रागार पर अधिकार हो जाने के बाद बाकी सभी देसी पलटनें विद्रोहियों से मिल गईं। १६ मई तक दिल्ली से अंग्रेज़ी राज के सब चिह्न मिट गये।

§ ३. **दबाने की पहली चेष्टाएँ**—मेरठ पलटन के इस उतावले कार्य से युद्ध की योजना गड़बड़ा गई, और अंग्रेज़ों को सँभलने का मौका मिल गया। उत्तर भारत की देसी पलटनें प्रायः सब "पुरबियों"* अर्थात् अवध वालों की थीं। ये सब विप्लव के संघटन में आ गई थीं। विप्लव शुरू होते ही ये सब से पहले गोरी पलटनों पर हमला करतीं। इस दृष्टि से युद्ध की योजना में पंजाब सबसे नाजुक कड़ी था, क्योंकि एक तो वह पुरबियों के अपने घर से दूर था और दूसरे उत्तर भारत की प्रायः सब गोरी सेना पञ्जाब में जमा थी। अंग्रेज़ों को पहले खबर मिल जाने से पञ्जाब की पुरबिया पलटनें खतरे में पड़ गईं।

१३ मई को मियाँमीर (लाहौर) की देसी सेना को परेड के वक्त तोपखाने और गोरे रिसाले से घेर कर शस्त्र रखवा लिये गये। उसी दिन फीरोजपुर की पलटन ने बलवा कर दिया, और फीरोजपुर के महत्त्वपूर्ण नाके को शत्रु के हाथ छोड़ वह दिल्ली को चल दी!

२१ मई को पेशावर की पलटन से शस्त्र रखवाये गये, और उसके बाद पेशावर के उत्तर होती-मर्दान की पलटन पर चढ़ाई की गई। इस पलटन के लोगों ने भागना चाहा, तब उन्हें पकड़ पकड़ कर तोपों के मुँह पर बाँध उड़ा दिया गया या सिन्ध नदी में बहा दिया गया।

उधर गवर्नर-जनरल कैनिंग ने दिल्ली की खबर पाते ही जंगी लाट को, जो शिमले में था, फौरन दिल्ली पर चढ़ने का हुक्म दिया। जंगी लाट अम्बाला

* हमारे देश में दिशाओं की गिनती मध्यदेश से है [१,२§१; ४,२§५]। ठेठ हिन्दी प्रदेश के पूरब सबसे पहले अवध पड़ता है, इसी से वहाँ के निवासी पुरबिये कहलाते हैं



'उन्हें ... तोपों के मुँह पर बाँध उड़ा दिया गया।' (पृ० ७५७)

एक रूसी चित्रकार द्वारा अंकित समकालिक चित्र

पहुँचा, पर जनता द्वारा पूरा बहिष्कार होने से रसद न जुटा सका। इस दशा में पटियाला नाभा और जींद के राजाओं ने उसकी सहायता की। वे तीनों सिक्ख राजा जिनके इलाके जमना और सतलज के बीच पड़ते थे, अंग्रेज़ों के कारण ही अपनी हस्ती को कायम समझते थे। पहले वे रणजीतसिंह से बचने को अंग्रेज़ों की शरण गये थे, फिर आंग्ल-सिक्ख युद्धों में अपने भाइयों के विरुद्ध लड़े थे। अब उनकी सहायता से अंग्रेज़ी सेना रास्ते की ग्रामीण जनता को बीभत्स यातनाओं से मारती हुई दिल्ली की तरफ बढ़ी।

मेरठ वाली गोरी फौज भी उससे मिलने को बढ़ी। इससे पहले कि वे मिल पायँ, ३० मई को दिल्ली के क्रान्तिकारियों ने मेरठ वाली फौज पर हमला किया। क्रान्तिकारियों का बाँयाँ पासा तोपें छोड़ कर पीछे हटने को बाधित हुआ। लेकिन जब गोरे तोपों पर कब्जा करने बढ़े तब तोपों के बीच छिपे एक क्रान्तिकारी ने पलीता लगा कर अपने साथ बहुत से गोरों को भी उड़ा दिया।

ईरान का युद्ध तभी समाप्त हुआ और अंग्रेज़ों ने चीन से झगड़ा छेड़ लिया था। कैनिंग ने अब चीन जाती फौज को लौटा लिया। लखनऊ के चीफ कमिशनर हैन्री लौरेंस ने 'रेज़िडेंसी' की किलाबन्दी शुरू की। उसी प्रकार कानपुर के सेनापति ह्वीलर ने एक किला बनाया। ह्वीलर ने उसके अलावा नानासाहब से मदद माँगी। नाना कानपुर आया और ह्वीलर ने खजाने की रक्षा का काम उसे सौंप दिया!

§४. विप्लव का फूटना—(१) दोआब-रुहेलखंड और अवध— ३१ मई से १० जून तक रुहेलखंड दोआब और अवध के हर जिले में सेना और प्रजा ने स्वाधीनता की घोषणा कर बहादुरशाह का हरा झंडा फहराया और अंग्रेज़ी राज के चिह्न मिटा दिये। रुहेलखंड में बहादुरखाँ ने नये शासन का संघटन किया, इलाके की रक्षा के लिए स्वयंसेवक भरती किये और बरेली की पलटन को बख्तखाँ के नेतृत्व में दिल्ली भेज दिया।

कानपुर में अंग्रेज़ों ने नये किले में शरण ली, और नाना ने ६ जून से उसका मोहासरा शुरू किया। इलाहाबाद किले में कुछ सिक्ख सेना थी। क्रान्तिकारियों की उसे समझाने की सब कोशिशें बेकार हुईं और उस

किले पर अंग्रेज़ी झंडा फहराता रहा। बनारस के आसपास विद्रोह होने पर ४ जून को बनारस की देसी सेना से शस्त्र रखवाने की कोशिश की गई। लेकिन उन्होंने मुकाबला किया और इलाके में फैल गये। बनारस के राजा तथा सिक्ख सैनिकों की सहायता से शहर पर अंग्रेजों का अधिकार बना रहा।

अवध में केवल लखनऊ शहर हेन्री लौरेंस के हाथ में बना रहा। स्वाधीनता के प्रचारक अहमदशाह को फाँसी की सजा सुना कर फैजाबाद जेल में रक्खा गया था। उसे क्रान्तिकारियों ने फाँसी की कोठरी से निकाल कर अपना नेता बनाया। दोआब-रुहेलखंड में अनेक जगह और अवध में प्रायः सब जगह युद्ध के नेताओं ने अंग्रेजों को कैद कर रखने के बजाय व्यक्तिगत रूप से अपने घरों में शरण दी और लखनऊ या बनारस पहुँचा दिया। ये अंग्रेज इलाकों के जानकार थे और इन्होंने गोरी सेना के साथ शीघ्र लौट कर क्रान्ति के दबाने में बड़ी मदद की।

(२) **बिहार-बंगाल**—बिहार-बंगाल में उत्तेजना काफी थी। तो भी बिहार का संघटन उतना मजबूत न था, इसी से ठीक समय पर वहाँ कुछ न हुआ। कलकत्ते में १४ जून को बारकपुर की एक और पलटन से शस्त्र रखवा लिये गये और १५ जून को वाजिदअलीशाह और अलीनकीखाँ को किले में कैद कर दिया गया।

(३) **राजस्थान-बुन्देलखंड**—नसीराबाद (अजमेर) की पलटन २८ मई को ही विद्रोह कर दिल्ली की तरफ चल दी। झाँसी की रानी और बाँदे का नवाब ठीक समय पर उठे। ग्वालियर में कम्पनी की सेना ने १४ जून को विद्रोह कर जयाजीराव शिन्दे से कहा कि हमारा नेतृत्व करो और आगरा दिल्ली कानपुर पर चढ़ाई करो। "शिन्दे के लिए बदला लेने का बहुत ही बढ़िया मौका था। यदि वह इस सेना के साथ अपनी मराठा सेना को भी ले कर निकलता तो आगरा और लखनऊ एकदम ले लिये जाते ... इलाहाबाद किले का घेरा पड़ जाता और ... विद्रोही बनारस के रास्ते कलकत्ते पर जा पहुँचते।" लेकिन शिन्दे अपने गद्दार दीवान दिनकरराव राजवाडे से प्रभावित हो विद्रोहियों को टालता रहा और वह सेना वहीं खाली बैठी रही।

मऊ की पलटन ने विद्रोह कर इन्दौर की रेज़िडेंसी पर हमला किया। होळकर की अपनी सेना भी उनसे मिलना चाहती थी, पर होळकर भी उसी तरह टालता रहा। प्रजा ने इन राजाओं को उभाड़ने की कोशिश की, पर ये लोग न उठे।

नसीराबाद और नीमच की पलटनें ५ जुलाई को आगरे पर आ टूटीं। अंग्रेज़ों ने क़िले में शरण ली। भरतपुर राजा की सेना क्रान्तिकारियों के मुकाबले को भेजी गई। उन लोगों ने कहा—हम स्वयं विद्रोह न करेंगे, क्योंकि हमारे राजा का हुक्म नहीं है, पर अपने इन भाइयों पर गोली न चलायेंगे। ऐसा ही बर्त्ताव जयपुर जोधपुर की सेनाओं ने भी किया। स्पष्ट है कि राजस्थान में प्रजा और सेना सब जगह स्वतन्त्र होने को तत्पर थी, पर जिनसे वह नेतृत्व और संचालन की आशा करती थी उन्होंने धोखा दिया।

(४) **पंजाब और नेपाल**—जालंधर और फिलौर की पुरबिया पलटनों पर अंग्रेज़ों को सन्देह न हुआ था। ६ जून को ये विद्रोह कर लुधियाने की तरफ बढ़ीं। लुधियाने के अंग्रेज़ों ने सतलज का पुल तोड़ दिया और नाभे की सिक्ख सेना के साथ घाट पर सामना किया। तो भी क्रान्तिकारियों ने नदी पार कर ली, गोरों और सिक्खों को भगा दिया और लुधियाने पर कब्जा कर लिया। इसके बाद वहाँ उनका कोई नेता न होने से वे दिल्ली चले गये। यदि वे लुधियाने पर कब्जा बनाये रखते तो पञ्जाब से दिल्ली जाने वाली कुमुक का रास्ता काट सकते, तथा पटियाला नाभा और जींद के देशद्रोहियों पर पीछे से चोट कर सकते।

सिक्खों को अपनी स्वतन्त्रता गँवाये आठ ही बरस बीते थे, पर उनके देश को काबू रखने वाली अंग्रेज़ों की सेना का बड़ा अंश जब विद्रोह कर चला गया तब भी उन्होंने सिर न उठाया। वे पिछली हार से पस्तहिम्मत हो गये थे, और अब उनके सामने अंग्रेज़ों ने क्रान्तिकारियों को जैसे कुचला उससे उनपर अंग्रेज़ों की संघटित शक्ति का आतंक और भी जम गया। उनके सरदार पहले से ही विश्वासघाती थे। अंग्रेज़ों ने १८४८ ई० में पंजाबी मुसलमानों को सिक्खों के विरुद्ध उभाड़ा था; अब चूँकि युद्ध का नेता बहादुरशाह था इसलिए

सिक्खों को मुसलमानों के विरुद्ध उभाड़ा ! सरहद्दी मुस्लिम कबीले इस वक्त चढ़ाई न करें इसलिए मुल्लों को घूस दे कर उनमें प्रचार करने भेजा। यों पंजाब के वीर लोग लज्जास्पद रूप से बेवकूफ बनते रहे। इसके अलावा जौन लौरेंस ने पंजाब के जिलों से ६ प्रतिशत सूद पर कम्पनी के लिए ऋण उठाया। लोगों ने काफी दबाव पड़ने पर अपना रुपया दिया, लेकिन जब एक बार दे दिया तब उनका स्वार्थ अंग्रेज़ों के साथ बँध गया।

नेपालियों के बारे में अंग्रेज़ों ने सोचा कि वे इस अवसर से न चूकेंगे। जंगबहादुर को भी डर लगा कि उसकी सेना विद्रोह करेगी। वैसा ही होता प्रतीत हुआ। नेपाल के अनेक सरदारों ने सोचा कि अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता को वापिस लेने का अच्छा अवसर है। वे सेना में भरती हो गये और जंग जब सेना ले कर अंग्रेज़ों की मदद को जा रहा था, तभी उन्होंने उसका काम तमाम करने की तैयारी की। किन्तु उनका भेद खुल गया और वे फाँसी चढ़ाये गये।

(५) **दक्खिन**—दक्खिन में विप्लव संघटित रूप से नहीं हुआ। अंग्रेज़ों ने पहलेपहल भारतीय सेना मद्रास में ही भरती की थी और वह प्रायः तिलंगों अर्थात् आन्ध्रों की थी। क्रान्ति के नेता तिलंगों तक नहीं पहुँच सके। हैदराबाद की प्रजा और सेना में जून-जुलाई में बड़ी उत्तेजना रही; लेकिन निज़ाम के वज़ीर सालारजंग ने उसे दबा कर बराबर अंग्रेज़ों का साथ दिया। नागपुर की पलटन १३ जून को उठना चाहती थी, पर उससे पहले ही मद्रासी सेना ने वहाँ पहुँच कर उसे दबा दिया। इसी तरह मुम्बई की पलटन की दशा हुई। कोल्हापुर बेलगाँव और जबलपुर में जुलाई अगस्त सितम्बर में विद्रोह हुए जो दबा दिये गये। रंगो बापूजी को भागना पड़ा, उसके लड़के को फाँसी दी गई। दक्खिनी महाराष्ट्र में सन् १८५८ तक कुछ विफल चेष्टाएँ होती रहीं।

§५. **इलाहाबाद और कानपुर का पतन**—अम्बाले और मेरठ वाली अंग्रेज़ी सेनाएँ ७ जून को दिल्ली के पास आ मिलीं। एक गोरखा पलटन भी उनसे आ मिली थी। दिल्ली के पास बुन्देल-की-सराय पर क्रान्तिकारियों से उनकी गहरी लड़ाई हुई। उसके बाद सेनापति बर्नार्ड ने दिल्ली के पच्छिम की

टेकरी पर डेरा लगा दिया।

पंजाब और बंगाल में क्रान्तिकारी संघटन टूट जाने और बिहार के फिलहाल चुप रहने से अंग्रेज़ दिल्ली और बनारस से अपनी कार्रवाई शुरू कर सके। बनारस से सेनापति नील इलाहाबाद की तरफ बढ़ने लगा। रास्ते के गाँवों में आम रास्तों पर टिकटिकियाँ खड़ी कर उसके सैनिक निहत्थे आदमियों को फाँसी चढ़ाते जाते। इसके बाद उन्होंने आम और नीम के पेड़ों से टिकटिकियों का काम लिया। फाँसी चढ़ने वालों के अंगों से अंग्रेज़ी ८ और ९ अंकों की शकलें बना कर वे विनोद करते। यातना देने की कला के कई नये तरीके उन्होंने ईजाद किये। आदमी की गर्दन में लकड़ियाँ बाँध कर जला देना, युवतियों के केशों और कपड़ों में आग लगा कर तमाशा देखना और समूचे गाँवों को घेर कर आग लगा कर तमाम प्राणियों सहित भून देना, ये उस अंग्रेज़ी सेना के विनोद के कुछ तरीके थे।

११ जून को नील इलाहाबाद पहुँचा और किले पर अंग्रेज़ी झंडा देख चकित हुआ। ४०० सिक्खों ने उस झंडे की रक्षा की थी। पर नील को उन सिक्खों पर क्या भरोसा था? उसने फौरन गोरों को किले के भीतर रख कर सिक्खों को गाँव जलाने भेज दिया। एक हफ्ते की लड़ाई के बाद उसने इलाहाबाद शहर पर अधिकार करके उसी तरह के कार्य किये। कानपुर में घिरे हुए अंग्रेज तब उसे मदद के लिए पुकार रहे थे। किन्तु उसके सब पैशाचिक कृत्यों के बावजूद देहाती जनता दबी न थी और इसीलिए वह समय पर कानपुर न पहुँच सका।

कानपुर के अंग्रेज़ों ने निराश हो २५ जून को शस्त्र रख दिये। नानासाहब ने उन्हें प्रयाग पहुँचाने के लिए नावों का प्रबन्ध कर दिया। सतीचौरा घाट पर उन्हें विदा करने को अज़ीमुल्ला तथा नाना के भाई बालासाहब उपस्थित थे। तभी नील के जुल्मों से पीडित लोग, जो कानपुर में जमा हो रहे थे, बदले की पुकार मचाने लगे। ज्योंही नावें चलीं कि वे लोग उनपर टूट पड़े। नाना के पास यह खबर पहुँची तो उसने आज्ञा दी कि स्त्रियों और बच्चों को बचाया जाय। १२५ स्त्रियाँ-बच्चे जो वहाँ थे, बचा कर नज़रबन्द रक्खे गये

और पुरुष सब पंक्ति में खड़े कर मार डाले गये।

कानपुर की लड़ाई खतम होते ही लखनऊ पर क्रान्तिकारियों का दबाव बढ़ा और २६ जून को हेत्री लौरेंस ने चिनहट गाँव पर उनसे हार कर रेज़िडेंसी में शरण ली। क्रान्तिकारियों ने वाजिदअली शाह के नाबालिग बेटे को अवध का नवाब घोषित किया। उसकी माँ हज़रतमहल उसके नाम पर शासन चलाने लगी।

तभी सेनापति हैवलौक जो ईरान से लौटा था, मुख्य अफसर नियत हो इलाहाबाद पहुँचा, और गाँवों को घेर कर जलाता हुआ कानपुर की तरफ बढ़ा। नाना की सेना को हरा कर उसने फतहपुर में प्रवेश किया और उस शहर को लूटने के बाद जिंदा भून दिया। खबर पा कर नाना खुद मुकाबले के लिए बढ़ा। तभी अंग्रेज़ों के कुछ जासूस पकड़े गये जिनसे यह भेद खुला कि बीबीगढ़ की कोठी में नज़रबन्द अंग्रेज़ स्त्रियाँ चोरी से इलाहाबाद खबरें भेजती रही हैं। इस बात से तथा फतहपुर की घटना से उत्तेजित कुछ सैनिकों ने नाना की इजाज़त बिना उन सब को मार कर पड़ोस के कुएँ में फेंक दिया*। एक सख्त लड़ाई में नाना को हराने के बाद १७ जुलाई को हैवलौक ने कानपुर में प्रवेश किया। नाना फतहगढ़ (फर्रुखाबाद) की तरफ हट गया।

§ ६. **दिल्ली का पतन**—इस बीच दिल्ली के बाहर भी कड़ी लड़ाई जारी थी। पंजाब से जौन लौरेंस अंग्रेज़ों को बराबर नई कुमुक भेज रहा था। शहर के भीतर शस्त्रों के कारखाने खुले थे जिनमें तत्परता से काम हो रहा था। बादशाह ने एक ऐलान निकाल कर स्वाधीन भारत में गोहत्या की मुमानियत कर दी।

१२ जून से क्रान्तिकारियों ने बाहर निकल कर अंग्रेज़ी फौज पर हमले शुरू किये। लेकिन उनमें योग्य नेता की कमी थी। शुरू में शाहजादे सेनाओं के नेता बनाये गये। वे नेतृत्व तो क्या करते, उलटा उनकी उच्छृंखलता से शहर में अव्यवस्था मची रहती। इस दशा में बरेली के सेनापति बख्तखाँ की ओर सब की निगाहें लगी थीं। २ जुलाई को वह दिल्ली पहुँचा और बादशाह

* इन स्त्रियों की बेइज्जती और अंगच्छेद किये जाने की अनेक कहानियाँ बना ली गई थीं जो जाँच से सब निर्मूल सिद्ध हुईं।

द्वारा प्रधान सेनापति नियत किया गया। बख्तखाँ ने तमाम जनता को शस्त्रबद्ध होने का आदेश दिया। ३ जुलाई की परेड में २० हजार सेना दिल्ली में मौजूद थी। अगले रोज़ खुद बख्तखाँ ने टेकरी पर हमला किया। ६ से १४ जुलाई तक वहाँ सख्त लड़ाई होती रही।

बख्तखाँ योग्य और वीर सेनापति था, परन्तु साधारण कुल का। उस युग के भारतीय नेतृत्व को ऊँचे कुल की पैदाइश से अलग करके न देख सकते थे। इसी से बख्तखाँ के आदेश पूरी तरह न माने जाते। जो लोग भाड़े के सिपाही होने की दशा में किसी भी गोरे के हुक्म पर जान देने को भी दौड़ पड़ते थे वही स्वाधीन होने पर अपने नेता के आदेश मानने में ननु-नच करते! यदि जयाजीराव शिन्दे जैसा कोई नेता क्रान्तिकारियों को मिल जाता तो युद्ध की गति कुछ और ही हो जाती। इस दशा में उदारचेता बहादुरशाह ने अनेक भारतीय राजाओं के पास इस आशय का पत्र अपने हाथ से लिख कर भेजा—"मेरी यह ख्वाहिश है कि तमाम हिन्दोस्तान आज़ाद हो जाय। इसके लिए जो क्रांतिकारी युद्ध शुरू किया गया है वह तब तक कामयाब नहीं हो सकता जब तक कोई ऐसा शख्स जो कौम की मुख्तलिफ ताकतों को संघटित कर एक ओर लगा सके और जो अपने को तमाम कौम का नुमाइन्दा कह सके, मैदान में आ कर इस क्रान्ति का नेतृत्व अपने हाथों में न ले ले। अंग्रेज़ों को निकाल दिये जाने के बाद अपने निजी फायदे के लिए हिन्दोस्तान पर हुकूमत करने की मुझमें ज़रा भी ख्वाहिश नहीं है। अगर आप राजा लोग आगे आने को तैयार हों तो मैं तमाम शाही अख्तियार आपके किसी ऐसे संघ के हाथ सौंप दूँगा जिसे इस काम के लिए चुन लिया जाय।"

इस बीच पंजाब से नई सेना और तोपखाना ले कर निकल्सन दिल्ली आ रहा था। बख्तखाँ ने उसका रास्ता काट कर तोपें छीनने का निश्चय किया और नजफगढ़ की ओर बढ़ा (२५ अगस्त)। वहाँ पहुँचने पर नीमच वाली पलटन ने बरेली वाली पलटन के पास डेरा डालना स्वीकार न किया और बख्तखाँ की आज्ञा न मान कर एक पड़ोसी गाँव में डेरा डाला! निकल्सन ने उन्हें अलग पड़ा देख हमला किया। नीमच वाली पलटन वीरता से लड़ती



बहादुरशाह और ज़ीनतमहल
दिल्ली में हाथीदाँत पर बना हुआ समकालिक चित्र

हुई समूची काटी गई । वह वीरता किस काम की थी ?

इसके बाद अंग्रेज़ी सेना ने बढ़ कर आक्रमण करना शुरू किया । १४

सितम्बर को उन्होंने दिल्ली के परकोटे पर हल्ला बोला। गोले-गोलियों की बौछार के बीच कश्मीरी दरवाजे का एक हिस्सा उड़ा कर निकल्सन के नेतृत्व में उनके तीन दस्ते भीतर घुस गये। भीतर भी चप्पा चप्पा ज़मीन के लिए लड़ाई जारी रही। एक तंग गली में अक्षरशः खून की धारा बह गई और निकल्सन सहित अंग्रेज़ों के तीन नेता गिर गये। सेनापति विल्सन ने लौटना तय किया। "लौटना!" घायल पड़े निकल्सन ने चीख कर कहा—"लौटने की बात की तो मुझमें अब भी इतना दम है कि विल्सन की जान ले लूँगा!" क्रान्तिकारियों का एक दल दिल्ली छोड़ कर प्रान्त में फैल गया; दूसरा दल दस दिन तक उसी तरह डट कर लड़ता रहा। जब तीन-चौथाई शहर लिया जा चुका तब बख्तखाँ ने सम्राट् से कहा कि आप मेरे साथ निकल चलें, हम इलाके में युद्ध जारी रक्खेंगे। लेकिन बादशाह के एक सम्बन्धी ने बादशाह को धोखा दे कर पकड़वा दिया। वही आदमी हडसन नामक अंग्रेज़ के हाथ अनेक शाहज़ादों को पकड़वाता रहा। बादशाह और बेगम जीनतमहल रंगून भेजे गये, शाहज़ादे मार डाले गये।

इसके बाद कत्ले-आम और बलात्कार की बारी आई। एल्फिन्स्टन के शब्दों में अंग्रेज़ों ने "नादिरशाह को निश्चय से मात कर दिया।" पुरुष स्त्री बच्चे की कोई तमीज न थी। "सब ओर मुर्दों का बिछौना बिछा हुआ था। हमारे घोड़े इन्हें देख कर डर से बिदकते थे।" अपनी इज़्ज़त बचाने को कुओं में कूदने वाली स्त्रियों के कारण अनेक कुएँ पट गये। यातना देने के कई नये तरीके बरते गये—जैसे ज़िंदा आदमी को संगीनों से दबा कर धीमी आँच पर भूनना या ताँबे के जलते टुकड़ों से दाग कर मारना आदि। और शर्म के साथ यह दर्ज करना पड़ता है कि इन कामों में सिक्ख गोरों का साथ दे रहे थे। गुरु नानक के अनुयायियों का इतना पतन आश्चर्यजनक प्रतीत होता है। लेकिन एक बार जब मनुष्य गुलामी स्वीकार कर ले और भाड़े का सिपाही बन जाय तब उसे किसी भी सीमा तक गिराया जा सकता है।*

*१८५७ की क्रान्ति को दबाने में अंग्रेजों का साथ देने वाले सिक्ख किस अंश तक

तीन दिन की खुली लूट के बाद बाकायदा एक "लूट-दफ्तर" (प्राइज़ एजेंसी) कायम किया गया जिसने दिल्ली को पूरी तरह उजाड़ डाला।

इधर अवध में भी गहरा युद्ध जारी था। २० जुलाई को लखनऊ रेज़िडेंसी पर क्रान्तिकारियों ने पहला हमला किया। हेन्री लौरेंस गोली का शिकार हुआ। नील को कानपुर में छोड़ हैवलौक गंगा पार कर लखनऊ रवाना हुआ। लेकिन उस प्रदेश की समूची प्रजा अंग्रेज़ों के खिलाफ खड़ी थी और तीन बार कोशिश करने पर भी हैवलौक गंगा से आगे न बढ़ सका। इसके अलावा, उसने गंगा पार की तो नाना बिठूर को वापिस ले कर कानपुर की तरफ बढ़ा, और तभी खबर आई कि बिहार में भी विद्रोह भड़क उठा है। २५ जुलाई को पटने में पीरअली नामक नेता को फाँसी दी गई, जिसपर दानापुर की पलटन विद्रोह कर शाहाबाद जिले में जगदीशपुर के राजा कुँवरसिंह के यहाँ चली गई, और उस अस्सी बरस के बूढ़े राजा ने आरा शहर पर हमला किया था। १२ अगस्त को हैवलौक कानपुर वापिस आ गया; १७ को उसने नाना के सेनापति तात्या टोपे को हराया। तब उसने कुमुक के लिए कलकत्ते सन्देश भेजा। इस बीच कुँवरसिंह को अंग्रेज़ों ने जंगलों में भगा दिया था और नेपाल का जंगबहादुर पूरबी अवध पर चढ़ाई करने पर क्रान्तिकारियों द्वारा पीछे धकेल दिया गया था।

लखनऊ के भीतर भी क्रान्तिकारियों की वही दशा रही जो दिल्ली में। बहादुरी थी, किन्तु नियमानुवर्त्तन का तथा सञ्चालन की एकसूत्रता का अभाव था। क्रान्तिकारियों की तोपों ने एक बार रेज़िडेंसी की दीवार में इतना बड़ा छेद कर दिया कि समूची सेना भीतर घुस सकती थी; पर किसी ने उससे लाभ न उठाया। केवल तीन सैनिकों ने भीतर घुसने की कोशिश की; और उन तीन ने चाहे निकल्सन से बढ़ कर वीरता दिखाई, तो भी सामूहिक चेष्टा के बिना वह वीरता किस काम की थी?

सतलज के पूरब या पच्छिम के थे, यह महत्व का प्रश्न है जिसपर ध्यान नहीं दिया गया। सतलज पूरब के सिक्ख दूसरे आंग्ल-मराठा युद्ध के काल से अंग्रेज़ों का साथ दे रहे थे। आंग्ल-सिक्ख युद्धों में भी वे अंग्रेज़ों की तरफ थे। छः दशाब्दियों की भाड़ैत वृत्ति के बाद उनका ऐसा पतन स्वाभाविक था।

नई कुमुक के साथ १५ सितम्बर को आउटराम कानपुर पहुँचा। अब हैवलौक के बजाय उसे मुख्य अफसर नियत किया गया था। हैवलौक जब मुख्य अफसर नियत हो कर आया था तब नील ने उसके प्रति कुछ गुस्ताखी की थी। हैवलौक ने उसे लिखा, "यदि सार्वजनिक हित में बाधा पड़ने का डर न होता तो मैं तुम्हें कैद कर लेता।" उसके बाद नील रूठ नहीं गया, प्रत्युत सच्चे दिल से सहयोग देता रहा। आउटराम ने आ कर देखा कि हैवलौक यदि लखनऊ की तरफ नहीं बढ़ सका तो इसमें उसका कुछ दोष न था। इसलिए उसने पहला आदेश यही दिया कि "मैं वीर हैवलौक को अपने पद का अधिकार सौंपता हूँ; लखनऊ का मोहासरा उठने तक मैं स्वयंसेवक की तरह उसके अधीन काम करूँगा।" अंग्रेज अपने सार्वजनिक बर्ताव में व्यक्तिगत भावों को किस प्रकार नियन्त्रित कर लेते हैं!

अब हैवलौक, आउटराम और नील तीनों गंगा पार कर २३ सितम्बर को लखनऊ के पास आ निकले। दो दिन बाद वे शत्रु की पाँतों में से रास्ता काटते हुए रेज़िडेंसी में जा पहुँचे। लेकिन वे खुद अपने साथियों की तरह मोहासरे में फँस गये। नील उस लड़ाई में मारा गया।

§ ७. **लखनऊ और झाँसी का पतन**—भारत में क्रान्ति शुरू होते ही इंग्लैंड से गोरी सेनाओं और अनुभवी सेनापतियों की कुमुक रवाना की गई थी। ऐसे दो सेनापति कौलिन कैम्बल और ह्यू रोज़ अब कलकत्ता और मुम्बई पहुँच गये थे। कैम्बल कलकत्ते से जंगी बेड़े के साथ चल कर ३ नवम्बर को कानपुर पहुँचा। उधर दिल्ली से एक अंग्रेज सेनापति दोआब में नील से बढ़ कर ज़ुल्म करता हुआ कानपुर आया। कानपुर से कैम्बल लखनऊ गया और १४ नवम्बर को रेज़िडेंसी की तरफ बढ़ने लगा। १० दिन की सख्त कशमकश के बाद, जिसमें मकानों के एक एक कमरे और एक एक सीढ़ी के लिए लड़ाई होती रही, वह रेज़िडेंसी का उद्धार कर सका। शहर तब भी क्रान्तिकारियों के हाथ रहा।

कैम्बल जिस दिन लखनऊ पहुँचा, उसी दिन तात्या टोपे ने कालपी का गढ़ ले लिया और उसके बाद कानपुर के अंग्रेज नायक को घेर कर "अंग्रेज़ी

सेना से उसकी छावनी उसका सामान और मैदान सब कुछ छीन कर" शहर ले लिया। कैम्बल को लखनऊ से लौटना पड़ा। कानपुर वापिस ले कर उसने तात्या को कालपी भगा दिया।

अब अवध रुहेलखंड दोआब और बुन्देलखंड क्रान्ति के मुख्य क्षेत्र थे। इसलिए कैम्बल ने एक सेनापति को कानपुर से इटावे के रास्ते दोआब में भेजा; दो अंग्रेज़ सेनापति और तीसरा जंगबहादुर पूरब से लखनऊ की ओर बढ़े; और ह्यू रोज़ मुम्बई से मऊ (इन्दौर के पास) आ कर बुन्देलखंड की तरफ चला।

लखनऊ में मौलवी अहमदशाह ने कोशिश की कि अंग्रेजी सेना के अवध तक पहुँचने से पहले आउटराम की टुकड़ी का सफाया कर दे। "अहमदशाह महान जनान्दोलन और बड़ी सेना दोनों का नेतृत्व करने के योग्य था!" लेकिन वह भी बख्तखाँ की तरह साधारण कुल का था, और उसके आदेश पूरी तरह माने न जाते। एक बार तो उसके प्रतिस्पर्धियों ने बेगम हज़रतमहल को बहका कर उसे कैद तक करा दिया। बाद में छुटने पर उसके साथ बेगम खुद भी मैदान में आई, लेकिन उसी असंघटित रूप से काम होता रहा।

कैम्बल दोआब से फिर लखनऊ घूमा। पूरब से आने वाली तीनों सेनाएँ मार्च १८५८ में उससे आ मिलीं। ६ से १५ मार्च तक लखनऊ शहर में वैसी ही लड़ाइयाँ हुई जैसी सितम्बर में दिल्ली में हुई थीं; और बाद में वैसे ही अत्याचार। हज़रतमहल और अहमदशाह ने मोहासरे में से निकल कर युद्ध जारी रक्खा।

अंग्रेज़ी सेनाएँ जब अवध पर चढ़ाई कर रही थीं, तब कुँवरसिंह आज़मगढ़ ले कर बनारस की तरफ बढ़ा। शत्रु का आधार काटने की उसकी इस कोशिश से कैनिंग को, जो इलाहाबाद में था, चिन्ता हुई। लेकिन कुँवरसिंह इसे छोड़ कर जगदीशपुर चला गया, जहाँ रास्ते के एक घाव से उसकी मृत्यु हुई।

मऊ से चल कर, चन्देरी और सागर लेते हुए ह्यू रोज़ झाँसी की तरफ बढ़ा। एक अंग्रेज़ सेनापति ने तभी जबलपुर से सागर के रास्ते बाँदा पर चढ़ाई की। लक्ष्मीबाई ने झाँसी के चौगिर्द इलाके को वीरान कर दिया था, लेकिन

ग्वालियर और ओरछा राज्यों की सहायता के कारण रोज़ को रसद की तकलीफ न हुई। २० मार्च को वह झाँसी के सामने पहुँचा; २४ को रानी ने लड़ाई शुरू की। तात्या टोपे रानी की मदद के लिए बढ़ा; लेकिन रोज़ ने उसे हरा कर भगा दिया। सख्त लड़ाई के बाद ३ अप्रैल को अंग्रेज़ी सेना एक भारतीय गद्दार की मदद से झाँसी के गढ़ में जा घुसी। लक्ष्मीबाई १०-१५ साथियों के साथ निकल भागी, और पीछा करने वालों को काटते गिराते कालपी जा पहुँची। बाँदा और महोबा के सर हो जाने पर बाँदे का नवाब अलीबहादुर भी वहीं आ पहुँचा। झाँसी लेने के बाद अंग्रेज़ों ने उसे भी न केवल पूरी तरह लूटा, प्रत्युत रघुनाथ हरि के काल से चले आते पुस्तकालय आदि [६,११§५] को जला कर राख कर दिया।

लखनऊ और झाँसी के पतन के बाद क्रान्तिकारी दो क्षेत्रों में बँट गये, एक तो कानपुर के उत्तर का अवध-रुहेलखंड का क्षेत्र जहाँ नानासाहब और अहमदशाह नेतृत्व कर रहे थे, और दूसरा उसके दक्खिन का बुन्देलखंड के उत्तरी छोर पर कालपी का क्षेत्र जहाँ लक्ष्मीबाई, तात्या टोपे और बाँदा का नवाब इकट्ठे हुए थे।

§ ८. **अवध रुहेलखंड की पिछली कशमकश**—लखनऊ के पतन के बाद क्रान्ति के नेताओं ने अपने साथियों के नाम आदेश निकाला, "खुले मैदान में दुश्मन का सामना मत करो, नदियों के घाटों पर पहरा रक्खो, दुश्मन की डाक काटो, रसद रोको और चौकियाँ तोड़ दो। फिरंगी को चैन न लेने दो।" यह एक दो हारों से खत्म होने वाला युद्ध नहीं था। नानासाहब, हजरत-महल और अहमदशाह मैदान में थे। दिल्ली का एक शाहजादा फीरोज भी वहीं आ पहुँचा था। कैम्बल ने उन्हें उत्तरपच्छिम धकेलने की कोशिश की। इस कोशिश में उसका एक साथी सेनापति मारा गया। शाहजहाँपुर को ले कर कैम्बल रुहेलखंड की तरफ बढ़ा जो बहादुरखाँ के नेतृत्व में अब तक स्वाधीन था। ५ मई को बहादुरखाँ सहित सब नेता बरेली में घिर गये, लेकिन शहर सर होने तक सभी निकल गये। अहमदशाह ने फिर शाहजहाँपुर ले लिया, और कैम्बल ने उसे वहाँ घेरा तो नाना, हजरतमहल ओह फीरोज मदद को पहुँच

उसे बचा लाये। ५ जून को अवध के एक गद्दार जमींदार ने अहमदशाह की छल से हत्या करके उसका सिर अंग्रेज़ी डेरे में पहुँचा दिया। एक अंग्रेज़ ऐतिहासिक के शब्दों में "मौलवी अहमदशाह सच्चा देशभक्त था। उसने किसी निहत्थे की हत्या से अपनी तलवार पर धब्बा न लगाया था। संसार के वीर और सच्चे लोगों में उसका नाम आदर के साथ याद किया जाना चाहिए।"

मौलवी अहमदशाह की घृणित हत्या से अवध में युद्ध की आग और भड़क उठी। क्रान्तिकारी दल घाघरा के उत्तर अयोध्या के सामने नवाबगंज पर इकट्ठे हुए और फिर लखनऊ पर चढ़ाई करने की सोचने लगे। एक अंग्रेज़ सेनापति ने उनपर हमला किया। अवध की समथर भूमि छापामार युद्ध के लिए उपयुक्त नहीं है, तो भी वह युद्ध साल भर जारी रहा।

१ नवम्बर १८५८ को इंग्लैंड की महारानी विक्टोरिया ने अपने ऐलान से ईस्ट इंडिया कम्पनी का अंत कर भारत का शासन सीधा अपने हाथों में ले लिया। बेगम हजरतमहल ने उसके उत्तर में ऐलान निकाला, "हमारी प्रजा को इसपर एतबार नहीं करना चाहिए, क्योंकि कम्पनी के कानून, कम्पनी के अंग्रेज़ मुलाजिम, कम्पनी का गवर्नर-जनरल और कम्पनी की अदालतें ··· सब ज्यों की त्यों बनी रहेंगी।" अवध के क्रान्तिकारी और छह महीने तक उसी तरह लड़ते रहे। "वे बिना रसद के जहाँ चाहें जा सकते थे, क्योंकि लोग सब जगह उन्हें भोजन पहुँचा देते थे। वे बिना पहरे के अपना असबाब जहाँ चाहें छोड़ सकते थे। उन्हें सदा अपनी और अंग्रेज़ों की स्थिति का ठीक पता रहता था, क्योंकि लोग उन्हें घंटे घंटे पर सूचना देते रहते थे।" अप्रैल १८५६ तक यों युद्ध चलता रहा। अंत में अवध के ६० हजार स्त्री-पुरुष-बच्चे नेपाल-तराई में धकेल दिये गये। जंगबहादुर ने वहाँ अंग्रेज़ी सेना को भी घुसने दिया। अनेक लोग शस्त्र फेंक कर वेश बदल कर लौट आये; अनेकों ने "हार मानने की अपेक्षा नेपाल के जंगलों में भूखों मर जाना पसन्द किया।" हज़रतमहल को नेपाल में शरण मिली। नाना अन्तर्धान हो गया।

§९. **लक्ष्मीबाई और तात्या टोपे**—कालपी में तात्या टोपे, लक्ष्मीबाई और अलीबहादुर के अतिरिक्त नानासाहब का भतीजा रावसाहब तथा

बुन्देलखंड के अनेक सरदार जमा हुए थे। डेढ़ मास के अवकाश में वे अपना एक नेता न चुन सके। तात्या टोपे, जिसमें अंग्रेज़ों की दृष्टि से "सच्चे सेनापति के स्वाभाविक गुण मौजूद थे", बहुत ही साधारण कुल में पैदा हुआ था—वह बाजीराव के दानाध्यक्ष का बेटा था। लक्ष्मीबाई स्त्री थी, और सो भी सिर्फ २२ बरस की लड़की! ये लोग इसी पसोपेश में रहे कि ह्यू रोज़ कालपी की तरफ़ बढ़ आया। लक्ष्मीबाई ने तब दक्खिन बढ़ कर कोंच पर उसका मुकाबला किया, लेकिन उसे रोक न सकी और रोज़ ने कालपी भी ले ली (२४ मई १८५८)। क्रान्तिकारी नेता बच कर निकल गये।



महारानी लक्ष्मीबाई
[महारानी के भतीजे स्व० श्री गोविन्द चिन्तामण ताम्बे के सौजन्य से]

इसके बाद एक नई योजना के अनुसार ग्वालियर की सेना और प्रजा को अपनी ओर मिलाने के लिए तात्या गुप्त रूप से ग्वालियर गया। उसके लौटने पर २८ मई को सबने जयाजीराव शिन्दे के पास पत्र भेजा, "हमारे और अपने पुराने सम्बन्ध को याद कीजिये। हमें आपसे सहायता की आशा है, जिससे हम दक्खिन की ओर बढ़ सकें।" सहायता देने के बजाय शिन्दे सामना करने निकला; पर उसकी सेना क्रान्तिकारियों से आ मिली, और वह

आगरे की ओर भाग गया। यों ग्वालियर का नया आधार दक्खिनी क्रान्तिकारियों के हाथ आ गया।

ग्वालियर में दरबार करके रावसाहब को पेशवा तथा तात्या को उसका सेनापति नियत किया गया। उन्होंने पेशवा के सब पुराने सामन्तों से अनुरोध किया कि उसके झंडे तले इकट्ठे हो अपनी गुलामी के बन्धन काट लें। लक्ष्मीबाई ने चाहा कि सेना को तुरन्त तैयार कर मैदान में लाया जाय। पर रावसाहब को अभी पेशवाई पाने की दावतों और उत्सवों से छुट्टी न थी! इतने में ह्यू रोज़ १७ जून को ग्वालियर पर आ पहुँचा। ग्वालियर राज्य की सेना कम्पनी की सेना के सामने न ठहर सकी। तो भी लक्ष्मीबाई ने बिखरी सेना को इकट्ठा किया और मुकाबले के लिए डट गई। दो दिन तक वह "अलौकिक वीरता" से लड़ती रही। दूसरे दिन शत्रु भीतर घुस आये और रानी उनके बीच घिर गई। शत्रु की पाँतों को चीर कर रानी ने दूसरे क्रान्तिकारियों से मिलने की कोशिश की। गोरे सवारों ने उसका पीछा किया। उनमें से अनेक को काट गिराने के बाद उसने स्वयं वीर गति पाई।

रावसाहब और अलीबहादुर के साथ तात्या टोपे ग्वालियर से निकल दक्खिन जाने की कोशिश करने लगा। उसका लक्ष्य मराठा राजधानियाँ—इन्दौर नागपुर बड़ोदा—और ठेठ महाराष्ट्र था। अंग्रेज़ी सेनाएँ उसे आगे पीछे से घेरने को दौड़ती रहीं। पहले वह राजस्थान को मुड़ा। टोंक का नवाब उसके मुकाबले को आया; पर नवाब की सेना तोपों सहित तात्या से आ मिली, और वह मेवाड़ आ निकला। वहाँ उसकी तोपें छिन गईं, और तीन सेनाओं से बच कर चम्बल पार कर वह झालरापाटन पहुँचा। झालावाड़ का राजा मुकाबले को आया, लेकिन उसकी सेना भी तात्या की चुम्बक शक्ति से खिंच गई, और राजा को ३२ तोपें तथा १५ लाख रुपया देना पड़ा। वहाँ से तात्या सीधे इन्दौर को बढ़ा, पर इन्दौर के प्रायः ११० मील उ० पू० राजगढ़ से उसे मुड़ना पड़ा। छह सेनापति उसे घेरने को दौड़ते रहे। कहीं वह सब कुछ गँवा देता, तो कहीं फिर नई सेना नया खज़ाना और नया तोपखाना पा लेता। अन्त में ललितपुर में वह पाँच तरफ से घिरता मालूम हुआ, लेकिन उस घेरे को

तोड़ कर, तीन सेनाओं के पीछा करने के बावजूद होशंगाबाद पर नर्मदा पार कर अक्तूबर में नागपुर आ निकला! यदि एक साल पहले महाराष्ट्र में पेशवा का सेनापति आ गया होता तो शायद दशा और ही होती। लेकिन अब उसे नागपुर से कोई मदद न मिली। वह बड़ोदे की ओर बढ़ा; फिर राजस्थान को लौटा और छह महीने उसी तरह लड़ता रहा। अन्त में अलवर के पास एक विश्वासघाती ने उसे धोखे से पकड़वा दिया (७-४-१८५९)।

§ १०. **विफलता का कारण**—भारत के पहले स्वाधीनता-युद्ध को अंग्रेज़ों ने सिपाही-विद्रोह नाम दिया और यह दिखाने का जतन किया कि यह धार्मिक अन्धविश्वास पर चोट लगने से उभड़े हुए सैनिकों का प्रयत्न था। पर घटनाओं से प्रकट है कि अम्बाला-दिल्ली से बनारस तक भारत के 'मध्य-देश' की समूची जनता उठ खड़ी हो कर इस युद्ध में भाग ले रही थी, तथा बिहार बुन्देलखंड राजस्थान और दक्खिन की जनता भी भाग लेने को बेचैन थी। दिल्ली और लखनऊ में जिस तरह एक एक मकान की एक एक कोठरी के लिए लड़ाई हुई, बनारस से कानपुर तक और कानपुर से लखनऊ तक जनता ने जिस तरह अंग्रेज़ी सेनाओं का रास्ता रोका, अम्बाले से दिल्ली चढ़ने वाली अंग्रेज़ी फौज का जिस तरह बहिष्कार किया, तथा अंग्रेज़ों ने जिन पाशविक तरीकों से बदला ले कर अपने दिल की कसक निकाली और जनता को दबाने की चेष्टा की, उस सब से प्रकट है कि यह समूची जनता का स्वाधीन होने के लिए संघर्ष था।

राज्यों की जब्तियों से उभड़े हुए कुछ राजा नवाब लोग इस युद्ध में भाग ले रहे थे इससे भी इसके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता। यदि जनता अपनी स्वतन्त्रता के लिए बेचैन हो कर न उठी होती तो उन लोगों को चूँ करने की हिम्मत न हुई होती और वे पुकारते भी तो उनकी पुकार बहरे कानों पर पड़ती। ग्वालियर इन्दौर भरतपुर टोंक झालावाड़ आदि राज्यों की घटनाओं से उलटा यह प्रकट है कि जनता तो वहाँ भी उठने को तैयार बैठी थी, पर राजाओं नवाबों ने धोखा दिया। और जिन राजाओं ने साथ दिया, उन्होंने स्वाधीनता की सच्ची प्यास से दिया और इसीलिए वे अन्त तक—सफलता की

कोई आशा न रह जाने पर भी—लड़ते रहे। बहादुरशाह को कोई नया अपमान सहना नहीं पड़ा था। लक्ष्मीबाई जिस वातावरण में पली थी उसमें उसे बचपन से ही ऊँची भावनाएँ मिली थीं, और जिस कुल में उसका विवाह हुआ उसमें भारत की सर्वप्रथम जाग्रति की परम्परा चली आती थी।

अन्धविश्वास से थोड़े ही सैनिक उभड़े और उभड़ कर उन्होंने क्रान्ति-युद्ध को हानि ही पहुँचाई। अधिकांश सैनिक चर्बी वाले कारतूसों की बात जानते हुए भी न केवल निश्चित तिथि तक चुप रहे, प्रत्युत उसके बाद अंग्रेज़ी शस्त्रभंडारों से छीने हुए उन कारतूसों का युद्ध में बराबर उपयोग करते रहे। और यह तो निश्चित ही है कि इस युद्ध की तैयारी कम से कम १८५५ से हो रही थी, जब कि कारतूसों की बात जनवरी १८५७ में ही सामने आई।

तब भारतीय जनता का यह पहला स्वाधीनता-युद्ध विफल क्यों हुआ? जिन्होंने इसे सिपाही-विद्रोह मान रक्खा है, उनका उत्तर है कि सिक्ख गोरखाली और तिलंगे इसमें शामिल नहीं हुए। बेशक, यदि अंग्रेज़ी फौज के सिक्ख और तिलंगे तथा नेपाल के गोरखाली सिपाहियों को भी क्रान्तिकारी मिला सके होते तो अंग्रेज़ों के लिए इस क्रान्ति को दबाना असम्भव हो गया होता। किन्तु दिल्ली से बनारस तक का प्रदेश फ्रांस या जर्मनी के बराबर है। उसकी सारी जनता जब उठी थी, और राजस्थान बुन्देलखंड बिहार और महाराष्ट्र की जनता भी उसके साथ उठने को तैयार थी, तब उस प्रदेश को बाहर की किसी भी शक्ति का सामना कर सकना चाहिए था, यदि उसके भीतर कोई त्रुटि न रही होती।

वह भीतर की त्रुटि भी घटनाओं के विवरण से प्रकट है। इस समूचे स्वाधीनता-युद्ध में संचालन की एकसूत्रता नहीं थी, युद्ध की सुविचारित योजना नहीं थी, प्रत्येक सेना-दल और जनता को कालानुसार उसके निश्चित कार्य का आदेश देने वाली कोई अधिकारी शक्ति नहीं थी, यथेष्ट नेतृत्व नहीं था। अंग्रेज़ों के हाथ बिकी हुई भारतीय सेना के बड़े भाग को क्रान्तिकारियों ने अपनी तरफ मिला लिया था, किन्तु उस सेना के ठीक ठीक संचालन का उपाय नहीं किया था।

तो क्या भारतीयों में सेना-संचालन की योग्यता नहीं थी? यह प्रश्न आने पर हमारा ध्यान बख्तखाँ, मौलवी अहमदशाह, लक्ष्मीबाई और तात्या

टोपे की ओर जाता है। उनके चरितों से सूचित है कि उनमें ऊँचे दर्जे की सामरिक प्रतिभा सहज ही विद्यमान थी। पर उस प्रतिभा को ठीक प्रशिक्षण और विकास का अवसर न मिला था, तथा उन प्रतिभाशाली व्यक्तियों को यथेष्ट अधिकार सौंप कर उनसे पूरे युद्ध का संचालन शुरू से नहीं कराया गया था। इस युद्ध का आयोजन करने वालों ने भारत में अंग्रेजों की सामरिक शक्ति के इस एक तत्त्व को ठीक पहचान लिया था कि वह शक्ति भारतीय सैनिकों से ही बनी है, पर दूसरे इस तत्त्व [६,८§७] की ओर उनका ध्यान नहीं गया था कि युरोपी सेना-संचालन नये किस्म का है, वह बड़ा नियमित और सुशृंखल है, वैसा सञ्चालन करने के लिए उपयुक्त प्रतिभा वाले व्यक्तियों को उचित शिक्षण और अभ्यास का अवसर मिलना चाहिए, तथा उस प्रकार के अभ्यस्त व्यक्तियों द्वारा ही सेना का संचालन होना चाहिए। इस तत्त्व को न पहचानना और इसके अनुकूल आचरण न होना भारत के पहले स्वाधीनता-युद्ध की विफलता का असल कारण था।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. भारत के पहले स्वाधीनता-युद्ध की तह में क्या विचार था? उस युद्ध का संकल्प विचार और आयोजन किन लोगों ने कब कैसे किया?

२. पहला स्वाधीनता-युद्ध निश्चित तिथि से पहले क्यों छिड़ गया? वैसा होने से युद्ध की सफलता पर क्या प्रभाव पड़ा?

३. भारत के विभिन्न प्रान्तों में पहला स्वाधीनता-युद्ध आरम्भ करने के लिए विप्लव किस प्रकार किस क्रम से फूटा? उससे क्रान्ति की शक्ति कहाँ कितनी प्रकट हुई।

४. भारत के पहले स्वाधीनता-युद्ध को अंग्रेजों ने कैसे किस क्रम से दबाया?

५. क्रान्तिकारियों द्वारा कानपुर में १८५७ में नज़रबन्द की गई अंग्रेज स्त्रियों का चोरी चोरी शत्रु को समाचार भेजना पकड़े जाने पर क्या कार्रवाई की गई? क्या कार्रवाई उचित होती?

६. लखनऊ और झाँसी के पतन के बाद सन् १८५८ में भारतीय क्रान्तिकारी किस स्थिति में थे? उसके बाद उन्होंने युद्ध का संचालन किस योजना पर किस प्रकार किया?

७. भारत का पहला स्वाधीनता-युद्ध विफल क्यों हुआ? विवेचनापूर्वक लिखिए।

अध्याय ६

कम्पनी-राज में भारत की आर्थिक सामाजिक दशा

§ १. **कम्पनी के शासन में भारतीय किसान**—एक व्यापारी मंडली ने हमारे देश को जीत लिया और किसानों से उनकी जमीन की मिलकियत भी छीन ली। व्यापारी अपना धन्धा नफे की खातिर ही करते हैं। उन व्यापारियों ने भारतवर्ष की भूमि और जनता को अपने कारोबार का साधन बना डाला। "हर हिन्दुस्तानी के बारे में यही समझा जाता (था) कि वह ईस्ट इंडिया कम्पनी की कमाई करने को पैदा हुआ प्राणी है।"

हमने देखा है कि रैयतवारी पद्धति में खेती का नफा जमीन के मालिक की हैसियत से कम्पनी ले लेती थी; किसानों को खाली मजदूरी मिलती थी। लेकिन बहुत बार उनकी मजदूरी भी खेती से न निकलती; तब वे खेत छोड़ना चाहते, पर उन्हें छोड़ने न दिया जाता, जिसका यह अर्थ था कि वे बँधे हुए गुलाम बन गये थे। इस दशा में या तो कर्ज ले कर या यातनाओं से बाधित हो कर ही वे लगान दे पाते थे। मद्रास प्रान्त में लगान की वसूली के लिए जो यातनाएँ तब प्रचलित थीं, उनका ब्यौरा एक सरकारी रिपोर्ट में यों दिया गया है—

"धूप में खड़ा रखना; भोजन या हाजत के लिए न जाने देना; किसानों के मवेशियों को चरने न जाने देना; ··· मुर्गा बनाना; अँगुलियों के बीच डंडियाँ डाल कर दबाना; चमौटी, चाबुक की मार, ··· दो नादिहन्दों के सिर टकराना या दोनों को पीठ की ओर से केशों से बाँध देना; शिकंजे में कसना, गधे या भैंस की पूँछ से केश बाँध देना, इत्यादि।"

ऐसी यातनाएँ कब तक सही जातीं? धीरे धीरे उनका स्थान ऋण ने ले लिया। "वे रैयत जो पहले समृद्ध थे, जमीन पर पूँजी लगा सकते थे, ··· अपनी उपज को जब तक अच्छे दाम न मिलें रोक रखते थे, अब भारी सूद वाले ऋण में डूब" गये।

पहले, किसान न केवल अपनी जमीनों के मालिक थे, प्रत्युत गाँव के भीतर सरकारी मालगुजारी का बँटवारा और वसूली उनकी पंचायतें ही करती थीं।

अब ये काम तुच्छ सरकारी कारिन्दे करने लगे, और किसान का काम केवल हुक्म बजाना रह गया। इस पद्धति का परिणाम यह हुआ कि "हर आदमी अपनी नजरों में गिर गया और सदा के लिए ताबेदारी में फँस गया। आत्म-निर्भर ईमानदार व्यक्ति वाली मर्दानी चाल उसकी न रही। अपने से बड़े की कृपा या त्यौरी की परवा न कर सम्मान से सीधा खड़ा होना उसके लिए असंभव हो गया।"

इस दशा में भी यदि खेती जारी रही तो इस कारण कि "भूख से लाचार हो कर किसान खेती करने को बाधित होता था।"

§ २. कारीगरों की दशा—कम्पनी का पुराना "व्यापार" [६,६§२] भी सन् १८३३ तक जारी रहा। उस "व्यापार" के लिए अब मालगुजारी में से ही पूँजी बचा ली जाती थी, इसलिए उस पूँजी से जो माल खरीद कर इंग्लैंड भेजा जाता था, उसके बदले में कुछ न आता था। यह पूँजी व्यापारी रेजिडेंटों की कोठियों में बाँट दी जाती थी। रेजिडेंट लोग खास दिन पर पड़ोस के जुलाहों की हाजिरी तलब करते और उन्हें रुपया अगाऊ दे देते। माल की दर रेज़िडेंट तय कर देते, जुलाहा न माने तो उसके घर पर पहरा बिठा दिया जाता। माल लाने में देरी हो तो चमौटी लिये चपरासी भेजा जाता जिसका खर्चा जुलाहे पर पड़ता था। रेगुलेशन बनाया गया था कि जो जुलाहा कम्पनी से अगाऊ ले, वह और किसी को माल न दे। जमींदारों और किसानों को हुक्म था कि व्यापारी रेजिडेंटों और उनके कारिंदों से अदब से बरतें और उन्हें जुलाहों के घर पहुँचने में बाधा न दें। सन् १८१३ से कम्पनी के सिवाय दूसरे अंग्रेज़ों को भी भारत में व्यापार करने की इजाजत मिल गई। ये खानगी व्यापारी चमौटी और शिकंजे का प्रयोग और भी खुल कर करते। यों पलाशी के बाद से अंग्रेज़ों ने व्यापार का जो नया तरीका निकाला था, वह सन् १८३३ तक जारी रहा।

§ ३. कारीगरी का नाश—गुलामी की ये यातनाएँ भोगने के बाद भारतीय कारीगरी को अब सर्वनाश का सामना करना था। भारत का विदेशी व्यापार अब पूरी तरह अंग्रेज़ों के हाथ में था। अठारहवीं शताब्दी से ही वे भारतीय माल को अपने देश में घुसने से रोकने लगे थे [६, ११ § ८]। नैपोलियन ने युरोप के सब बन्दरगाहों को अंग्रेज़ी माल के लिए बन्द कर दिया था।

तब से अंग्रेज़ों ने अपने कारखानों का फालतू माल भारत पर लादना शुरू किया। तो भी "सन् १८१३ तक भारतीय कपड़ा इंग्लैंड में अंग्रेज़ी कपड़े से ५०-६० फी सदी कम दाम पर भी नफे में बिक सकता था। तब उस पर ७०-८० फी सदी चुंगी या सीधी रोक लगा दी गई। ऐसा न होता तो पेसली और मांचेस्टर की मिलें शुरू में ही बन्द हो जातीं और फिर भाप की शक्ति से भी न चल सकतीं।"

इसके बाद चौथाई शताब्दी तक भारत में अंग्रेज़ी कपड़े पर २॥ फी सदी चुंगी रही, और ब्रितानिया में भारतीय पर १० से १००० फी सदी तक। सन् १८१६-१७ में भारतीय जुलाहों ने अपने देश की जनता को पहनाने के बाद १६६ लाख रुपये का कपड़ा बाहर भेजा। १८४६-४७ तक वह सारा निर्यात गायब हो गया, उलटा ४ करोड़ का कपड़ा इंग्लैंड से भारत को आया। सूरत ढाका और मुर्शिदाबाद की समृद्ध बस्तियाँ उजड़ गईं। ढाके की आबादी डेढ़ लाख से ३० हजार रह गई और उसे जंगल और मलेरिया ने आ घेरा।

कोई कोई भारतीय कारीगरी इस संहार के बीच भी डटी रही। मारवाड़ और गुजरात में रंगबिरंगी चुनरियाँ तैयार होती थीं। लड़कियाँ अपनी चपल अँगुलियों से कपड़े में गाँठें बाँध कर उसे एक रंग में रँगतीं, फिर नई गाँठें बाँध कर दूसरे रंग में; इस तरह एक कपड़े पर कई रंग चढ़ाये जाते और वह कपड़ा 'बाँधणी' कहलाता। भारत के ऐसे रेशमी 'बाँधणे' (रुमाल) फ्रांसीसियों को बहुत भाते और सन् १८५७ तक उनका व्यापार चमकता रहा। "यह भारत की मरती कारीगरियों में से अन्तिम थी।"

सन् १८४० तक कलकत्ते और मुम्बई में अच्छे जहाज बनते थे। मुम्बई के पारसियों ने इस व्यवसाय में नाम कमाया था। लेकिन इंग्लैंड में सन् १६५१ से १८४६ तक ऐसे "नाविक कानून" रहे कि इंग्लैंड में जो माल आये वह अंग्रेज़ी जहाज़ों में ही आय। जिन देशों के साथ इंग्लैंड की बराबरी की संधियाँ थीं, उनमें भी अंग्रेज़ी जहाज़ों को सुविधाएँ थीं। उन सुविधाओं से वञ्चित होने के कारण भारत में जहाज बनाने का काम जारी न रहा।

"भारत के जो लोग दस्तकारी से खाली होते गये; वे मुख्यतः कृषि में

गये।" यों जमीन पर बोझ बढ़ता गया और जंगलों और चरागाहों वाली जमीनें भी खेती में लगाई जाने लगीं।

§४. खिराज तथा राष्ट्रीय ऋण—भारतवर्ष को जीतने और काबू रखने का सब खर्चा तथा अपने व्यापार के लिए बचाई जाने वाली पूँजी तो ई० इं० कम्पनी ने भारत से वसूली ही, उसके अलावा भारतीय सेना को जब अंग्रेज़ों के स्वार्थ के लिए मिस्र जावा बरमा अफगानिस्तान चीन और ईरान भेजा तब उसका खर्चा भी भारत से लिया। अकेले आंग्ल-अफगानिस्तान युद्ध के लिए भारतीय जनता को १५ करोड़ रु० देना पड़ा। दूसरी तरफ, सन् १८५७ की भारतीय क्रान्ति को दबाने के लिए जो गोरी सेना विलायत से आई उसकी इंग्लैंड से चलने से छह महीने पहले तक की तनखाहें तथा इंग्लैंड की छावनियों में भारतीय सेवा के नाम से जमा सेना की १८६० तक की तनखाहें भी भारत ने दीं।

इन सब खर्चों बचत और अंग्रेज़ हाकिमों की भारी तनखाहों के बावजूद कम्पनी के समूचे शासन-काल में सरकारी व्यय से आय अधिक हुई। परन्तु ब्रितानवी सरकार का जो नियन्त्रण-वर्ग (बोर्ड आव कंट्रोल) लन्दन में था [६,१०§८], उसका खर्चा और कम्पनी की पूँजी पर डिविडेंड या मुनाफा भी भारत की जनता को देना पड़ता था। जिस साल सरकारी आमदनी खर्चे से कम हुई, या जब जब उसमें से मुनाफा देने की गुंजाइश न रही, तब तब कंपनी भारत के नाम पर ऋण लेती गई और उससे अपना मुनाफा पूरा करती रही। उस ऋण का सूद भारतीय जनता पर पड़ता गया। यों कम्पनी के शासन में हर साल लगभग ३०-३५ लाख पौंड इस लन्दन के खर्चे और मुनाफे के लिए भारत से इंग्लैंड को जाता रहा। यह कुल मालगुजारी का लगभग $\frac{१}{६}$ होता था। अंग्रेज़ हाकिम और व्यवसायी जो अपनी निजी बचत भेजते वह अलग थी। इस खिराज की खातिर भारत पर जो ऋण लदता गया, वह सन् १८५८ में ६९५ लाख पौंड था।

यह खिराज सोने चाँदी के रूप में नहीं, प्रत्युत माल के रूप में प्रतिवर्ष जाता रहा। हमने देखा है कि ईस्ट इंडिया कम्पनी पहले मालगुजारी में से

बचत करके उससे कपड़ा खरीद कर विलायत भेजती थी। पीछे जब भारत के कारीगरों से खरीदने को कुछ न रहा, तब अन्न के रूप में यह जाने लगा। दूसरे देशों को भारत जितना माल भेजता उतना ही उनसे मँगाता भी था। पर इंग्लैंड को वह "आयात से निर्यात की अधिकता द्वारा खिराज देता" रहा। एक तो दस्तकारी की चीजों को अन्न दे कर खरीदना ही दरिद्रता का कारण था, दूसरे यह गुलामी का कर भी भारतीय जनता अन्न में चुकाने लगी। एक स्पष्टवादी अंग्रेज के शब्दों में "हमारी पद्धति स्पञ्ज के समान है जो गंगा-तट से सब अच्छी चीज़ों को चूस कर टेम्स-तट पर जा निचोड़ती है।" इस पद्धति का एक ही परिणाम हो सकता था—दुर्भिक्ष, बार बार दुर्भिक्ष।

§ ५. **गोरे कृषिव्यवसायी और भारतीय कुली**—उक्त कारणों से देश में ऐसे लोगों की बड़ी संख्या होती गई जो किसी भी शर्त पर मजदूरी करने को तैयार होते। उन्नीसवीं शताब्दी के शुरू से अनेक गोरे भारत में खेती-बाड़ी में पूँजी लगा कर उन सस्ते मजदूरों से लाभ उठाने लगे। बंगाल-बिहार में वे नील की खेती कराने लगे। सन् १८१३ से भारत में गोरी बस्तियाँ बसाने की बाकायदा कोशिशें होने लगीं। कोडुगु (कुर्ग) और नीलगिरि में काफी और सिनकोने की काश्त के लिए गोरों को माफी जमीनें दी गईं। नेपाल के अंग्रेज रेज़िडेंट ने वहाँ के कश्मीरी व्यापारियों द्वारा चीन से चाय की पौद मँगवा कर काठमांडू रेज़िडेंसी के बगीचे में रोपी। उसमें हिमालय के एक साधारण पौधे की कलम लगाने से भारतीय चाय का पौधा तैयार हुआ जो उस बगीचे में खूब पनपा। १८३१ तक यह परीक्षण सफल होने पर असम और कुमाऊँ में तथा पीछे कांगड़े में भी चाय की खेती के लिए गोरों को माफ़ी ज़मीनें दी गईं।

अपने देश में अनेक खनिजों की तरफ भारतीयों का ध्यान न गया था। बर्दवान प्रदेश की कोयले की खानें पहलेपहल १८१४ ई० में अंग्रेज़ों ने खुदवानी शुरू कीं।

गोरे कृषिव्यवसायियों के लाभ के लिए "प्रतिज्ञाबद्ध कुलीप्रथा" चलाई गई, जिसमें मजदूर पाँच बरस मजदूरी करने का ठहराव कर देते और उस ठहराव से भागना फौजदारी अपराध बना दिया गया था। भूखे मरते बेकारों को

सब्ज बाग दिखा कर उनसे ठहरावों पर अँगूठा लगवा कर इन व्यवसायियों के दलाल उन्हें ले जाते थे। एक बार ऐसे ठहराव में जो मजदूर फँस गया उसे ५ साल बाद कोई चारा न होने से फिर ठहराव करना पड़ता। ये मजदूर कुली कहलाते और यह कुली प्रथा गुलामी का नया रूप थी।

निलहे गोरे, किसानों पर पाशविक जुल्म करते। बंगाली लेखक दीनबंधु मित्र ने अपने नाटक 'नीलदर्पण' में उन जुल्मों का चित्रण किया। सन् १८५९-६० में निलहों के विरुद्ध किसानों ने एक साथ विद्रोह किया। उसके बाद से नील की खेती घटने लगी और उसमें कुछ सुधार हुए।

सोलहवीं सदी से युरोपी लोग अपने अमरीका आदि के उपनिवेशों में ज़लील मेहनत का काम लेने के लिए अफरीका के लोगों को पकड़ ले जाते थे। उन्नीसवीं सदी के शुरू तक अमरीकी उपनिवेश तो अफरीकी गुलामों से पट चुके थे और उनमें काम की तलाश करने वाले गोरे मजदूर भी काफी पैदा हो चुके थे। पर मारिशस त्रिनिदाद गियाना जैमेका आदि के खाँड पैदा करने वाले और अनेक दूसरे गोरे उपनिवेशकों का काम अभी गुलामों के बिना न चल सकता था। भारत के गोरे कृषिव्यसायियों के तजरबे से इन उपनिवेशों के गोरों को भी अब मालूम हो गया कि "स्वतन्त्र हिन्दुस्तानी हब्शी गुलाम से सस्ती जिन्स था"† जिससे १८२३ में अंग्रेज़ी पार्लिमेंट ने कानून बना कर अंग्रेज़ी उपनिवेशों में "प्रतिज्ञाबद्ध कुलियों" को ले जाना नियमित कर दिया। अंग्रेज़ ऐतिहासिकों का कहना है कि सन् १८३३ के लगभग अंग्रेज़ों का अन्तरात्मा गुलामी प्रथा के विरुद्ध जाग उठा और उस प्रथा को उठाने के कानून बनाये गये। पर वह तभी जागा था जब गुलामों से सस्ते भारतीय कुलियों की धारा साल-ब-साल अंग्रेज़ी उपनिवेशों में नियम से पहुँचने लगी थी।

§६. **भारत में अंग्रेज़ी उपनिवेशों का न पनपना**—भारत में गोरों को बसाने की कोशिशें सफल न हुई, क्योंकि अंग्रेज़ "अपना अन्तिम जीवन

† कैप्टेन कोलम्बो (१८७३)—स्लेव कैचिंग इन इंडियन ओशन (भारतीय समुद्र में गुलाम फाँसना), पृ० १००।

भारत में बिताना न चाहते" थे। उसका भी कारण यह था कि वे भारत में अपना समाज न खड़ा कर सके—वे भारतीयों का न तो अमरीका के मूल बाशिन्दों की तरह संहार कर सके, और न उन्हें अफरीकियों की तरह इतना रौंद सके कि भारत में स्वतन्त्र युरोपी समाज पनप सकता। ऐसा वे न कर सके इसका मूल कारण यह था कि भारतीय उनका कुछ न कुछ प्रतिरोध करते ही रहे—सौ बरस के युद्धों में हारते हुए भी वे कुछ न कुछ मुकाबला करते ही रहे, जिससे प्रत्येक युद्ध के अन्त में अंग्रेज़ों को सबक मिलता कि उन्हें और अधिक दबाना खतरनाक होगा।

§७. नमक का एकाधिकार—कम्पनी ने अपने शासन-काल में नमक पर बराबर एकाधिकार रक्खा, और "उत्पादन के खर्चे पर ३०० या २५० फी सदी का जालिमाना कर" लगाती रही। फलतः इंग्लैंड में जहाँ सन् १८५२ में नमक का भाव ३० शिलिंग प्रति टन था, वहाँ भारत में २१ पौंड प्रति टन था। इसी से इंग्लैंड से भारत को नमक का आयात भी होता रहा।

भारत अपना वार्षिक खिराज चुकाने को आयात से अधिक जो निर्यात भेजता था, उसे ढोने वाले जहाज वापसी यात्रा में खाली न आयँ इसलिए किसी बहुत सस्ती वस्तु से उन्हें भरना होता था। यों इंग्लैंड से भारत को नमक लाना आवश्यक था। नमक के एकाधिकार का आरम्भ तो अंग्रेज़ों की व्यापार के नाम पर लूट से हुआ था [६, ६ § ४], पर अब अंग्रेज़ों की भारत को निचोड़ने की जो पद्धति स्थापित हुई उसका आवश्यक जुज़ बन कर वह कम्पनी के शासन के बाद भी जारी रहा।

§८. नहरें और रेलपथ—गंगा-जमना दोआब अंग्रेज़ों के हाथ आने पर गवर्नर-जनरल मिंटो के शासन-काल में उनका ध्यान उसकी पुरानी नहरों की तरफ गया। हेस्टिंग्स के काल से जमना की नहरों का पुनरुद्धार किया जाने लगा। औकलैंड के शासन में गंगा नहर की खुदाई शुरू की गई और सन् १८५७ का युद्ध छिड़ने तक उसपर काम जारी था।

जमना की नहरों का सफल पुनरुद्धार होने से कावेरी-कोलरून की पुरानी नहरों की तरफ भी ध्यान गया। उन नहरों के पुनरुद्धारक सर आर्थर कौटन ने

पीछे गोदावरी और कृष्णा के मुहानों में भी आणीकट बना कर नहरें निकालीं। सिन्ध और पंजाब जीतने के बाद मुलतान-सिंध की पुरानी नहरों की भी रक्षा की गई।

सन् १८४५ से भारत में रेलपथ बनाने का अयोजन चला। ईस्ट इंडियन और ग्रेट इंडियन पेनिन्शुला नामक अंग्रेज़ों की रेल-कम्पनियों ने सरकार की सहायता से काम जारी किया। ईस्ट इंडियन रेलवे का क्षेत्र कलकत्ते से दिल्ली-कालका तक और ग्रेट इंडियन पेनिन्शुला का मुम्बई से झाँसी हो कर दिल्ली तक था। सरकार ने इन कम्पनियों से यह ठहराव किया कि इनकी पूँजी पर ५% से जितना कम मुनाफा होगा, उतना भारत सरकार देगी, और यदि अधिक होगा तो अधिक अंश का आधा सरकार लेगी। सन् १८५८ तक पाँच और कम्पनियाँ इन्हीं शर्तों पर खड़ी हो गईं।

§ ९. अंग्रेज़ी सरकार का कम्पनी से भारत को खरीदना— इंग्लैंड के कारखानेदारों को ईस्ट इंडिया कम्पनी का एकाधिकार अखरता था। वे चाहते थे कि कम्पनी हटाई जाय तो सब अंग्रेज़ खुल कर भारत में अपने व्यापार के लिए सुविधाएँ पायँ और बस भी सकें। सन् १८५३ में इस आन्दोलन ने ज़ोर पकड़ा। मार्च १८५८ में पार्लिमेंट ने "भारत में विशेषतः पहाड़ी जिलों ... में युरोपी बस्तियाँ बसाने और मध्य-एशिया में व्यापार-वृद्धि के उपाय सोचने को" एक कमिटी बैठाई। यह आन्दोलन चल ही रहा था कि भारत के स्वाधीनता-युद्ध के कारण कम्पनी को हटाने का बहाना मिल गया।

एलिनबरो के शब्दों में ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ में भारतवर्ष गिरवी था। ब्रितानवी सरकार ने उसे दाम दे कर छुड़ा लिया। लेकिन वे दाम उसने अपने पास से नहीं दिये। कम्पनी की पूँजी का मूल्य १२० लाख पौंड लगाया गया, जिसे धीरे धीरे भारत ने चुकाया। सन् १८७४ में इसमें से ४६ लाख पौंड बाकी रहा जो भारत के ऋण में शामिल कर दिया गया। उसके सिवाय कम्पनी का ६९५ लाख पौंड कर्जा तो भारत पर डाला ही गया। यों ईस्ट इंडिया कम्पनी के बजाय भारतवर्ष लन्दन के उन महाजनों के हाथ गिरवी रक्खा गया जिन्होंने इस भारतीय ऋण के ऋणपत्र खरीदे।

§१०. **भारत का घोरतम पतन**—उन्नीसवीं शताब्दी में समूचे भारतीय राष्ट्र ने पहली बार अपने को पूर्ण पराधीनता की दशा में अनुभव किया। वह भारत के घोरतम पतन का काल था, जब कि भारतीयों की विदेशी आधिपत्य को रोकने की प्रत्येक चेष्टा विफल हुई थी, और जनता का समूचा जीवन विदेशी के नियन्त्रण में चला गया था। भारतीयों की इन लगातार हारों के मूल कारण पीछे दिखाये जा चुके हैं [६,११§§४,५]। यहाँ हमें यह देखना है कि उन्नीसवीं शताब्दी के पहले साठ बरसों का तजरबा उनपर और क्या प्रकाश डालता है।

जनता में राजनीतिक चैतन्य का न रहना या मन्द पड़ जाना, विदेशी का मुकाबला करने की हिम्मत टूट जाना और विदेशी का उपकरण बनने में घृणा न अनुभव करना [६,८§२], भारत के इस पतन का एक मूल कारण था। गंगा-काँठे उड़ीसा आन्ध्र तमिळनाड गुजरात और सिंध जैसे प्रान्तों की, जिनमें १७वीं शताब्दी के पुनर्जीवन का प्रभाव दिखाई न दिया था [६,११§१], बात छोड़ दें। खास महाराष्ट्र की हम अफगानिस्तान से तुलना करें। महाराष्ट्र में सन् १८०२ में जैसे बाजीराव १म के पोते बाजीराव २य के बुलाने से अंग्रेज़ी सेना आई, वैसे ही अफगानिस्तान में १८३९ में अहमदशाह अब्दाली के पोते शाह शुजा के लिवा ले जाने से गई। उसके बाद दोनों प्रदेशों में जो घटनाएँ घटीं, उनमें कितना अन्तर है! अफगान अपने देश में विदेशी सेना को देख नहीं सके, न विदेशी के भाड़ैत सैनिक बने। उस सेना को बुलाने वाला अहमदशाह अब्दाली का पोता था तो क्या, उसे उन्होंने कुत्ते की मौत मार दिया और तब तक चैन न ली जब तक उसकी लाई सेना को निकाल न दिया। यहाँ मराठे इसी कारण किंकर्त्तव्यविमूढ हो कर बैठ गये कि स्वयं उनके पेशवा या नेता ने ही देशद्रोह किया था।

सन् १८०३ के दूसरे आंग्ल-मराठा युद्ध से ले कर १८४८-४९ के दूसरे आंग्ल-सिक्ख युद्ध तक केवल एक आंग्ल-नेपाल युद्ध के सिवाय प्रत्येक युद्ध में नेतृत्व का अभाव या नेताओं का विश्वासघात ही भारतीयों की हार का मुख्य कारण हुआ और प्रत्येक युद्ध में नेतृहीन सेना वीरतापूर्वक लड़ी। माधवराव

पेशवा ने १७६६-७२ ई० में जब भारत की सब शक्ति को एकमुख करके भारत से अंग्रेज़ों को निकालने के लिए लगाने का यत्न किया था, और फिर १७६२ में जब शाहआलम ने वैसा ही करने का सन्देश दे कर महादजी को पूने भेजा था, तब से वह विचार स्पष्ट रूप से भारत के लोगों के सामने था। यशवन्तराव होळकर ने १८०४-०५ में तथा अमरसिंह और भीमसेन थापा ने १८१४-१५ में फिर भारतीय राज्यों के नेताओं को उस आदर्श के लिए उठाने का यत्न किया, पर उन लोगों ने अपने अपने निकटवर्त्ती निजी स्वार्थ के सिवाय कुछ न देखा। रणजीतसिंह और मराठा राज्य उस अवसर पर उठते तो अपने को आने वाली विपत्ति से बचा सकते। १८४१-४२ में जब अफगानों ने अंग्रेज़ों की बड़ी सेना काट डाली, तब फिर पंजाब नेपाल और ग्वालियर राज्य के लिए उठ कर अपने को आने वाली विपत्ति से बचाने का बहुत ही अच्छा अवसर था। पर नौनिहाल की मृत्यु के बाद पंजाब का कोई नेता न था, नेपाल की बागडोर एक तुच्छ दुर्बलचित्त राजा के हाथ में थी और ग्वालियर राज्य के नेता भी बदहोश सोये हुए थे। हम देख चुके हैं कि १८५७ के स्वाधीनता-युद्ध के बीच भी किस प्रकार अनेक प्रदेशों की जनता उठना चाहती थी, पर वह जिनसे नेतृत्व की आशा करती वही लोग धोखा देते रहे।

ज्ञान में पिछड़ जाना भारतीयों की हार का एक और कारण था, सो भी हमने देखा है। साथ ही यह भी देखा है कि नये ज्ञान को अपनाने की योग्यता का अभाव न था, यदि ध्यान चला जाय तो वे नई बात को शीघ्र सीख लेते थे। सन् १७६३ में जैसे मीर कासिम के मुंगेर के कारखाने की बनी बन्दूकें अंग्रेज़ी बन्दूकों से अच्छी निकली थीं [६,११§३] वैसे ही १८४५ में फेरूशहर की लड़ाई में सिक्खों की तोपें हर बात में अंग्रेज़ी तोपों से बढ़िया निकलीं [१०,३ § १६] । इसी प्रकार युद्ध में सेना-संचालन की योग्यता या सामरिक प्रतिभा का भी भारतीयों में अभाव न था। आंग्ल-नेपाल युद्ध में अमरसिंह थापा और उसके साथियों का सेना-संचालन अंग्रेज़ों के सेना-संचालन से पिछड़ा न था। दूसरे आंग्ल-सिक्ख युद्ध में जिस शेरसिंह का गफ ने सामना किया, उस काल के अन्य अंग्रेज़ सेनानायकों का मत था कि युद्धकला में वह गफ से अधिक

कुशल था। तात्या टोपे की सामरिक प्रतिभा को देख कर तो उस काल के श्रेष्ठ युरोपी सेनानायक दाँतों तले उँगली दबाते थे। परन्तु इस प्रकार राष्ट्र में योग्यता और प्रतिभा के रहते हुए भी उस योग्यता और प्रतिभा को यथास्थान लगाने वाला नेतृत्व नहीं था--जिन लोगों के हाथ में राष्ट्र की आर्थिक राजनीतिक शक्ति थी वे स्वार्थलिप्त और बदहोश थे। यही भारत के इस घोर पतन का मूल कारण था।

इस कारण जिस गुलामी और दरिद्रता में भारतीयों को फँसना पड़ा, उसका प्रभाव उनके चरित्र पर पड़े बिना न रह सकता था। तो भी पहले स्वाधीनतायुद्ध के ज़माने तक भारत के साधारण लोगों का चरित्र उतना गिरा न था। ठगी प्रथा को उखाड़ने वाले कर्नल स्लीमैन ने लिखा था, "मैंने ऐसे सैकड़ों मौके देखे जब एक हिन्दुस्तानी की सम्पत्ति स्वाधीनता जीवन सब एक झूठ बोलने से बच सकते थे, पर उसने न बोला।"

§ ११. समाज-सुधार और ज्ञान-प्रसार के पहले प्रयत्न—कुछ विचारशील भारतीयों ने अपने देश की दुर्दशा के कारणों पर विचार किया और इस परिणाम पर पहुँचे कि भारतीयों के धर्म-कर्म और समाज-संघटन में सुधार और नये ज्ञान के प्रसार द्वारा ही अपने राष्ट्र को जागृत किया जा सकता है। बंगाल के राममोहन राय और महाराष्ट्र के बालशास्त्री जांभेकर का उल्लेख हो चुका है [१०,२§६]। राममोहन ने धार्मिक सामाजिक सुधार के लिए 'ब्राह्मसमाज' की स्थापना की। बालशास्त्री ने भी समाज-सुधार के प्रयत्न किये। भारत के पुराने ज्ञान के साथ युरोप के नये ज्ञान का समन्वय करके भारत की देशी भाषाओं में उसे उपस्थित करने को दोनों ने भारत के जागरण का विशेष मार्ग माना। इसी काल (१८१८) से बँगला में अखबार भी निकलने लगे। गवर्नर-जनरल हार्डिञ्ज के शासन-काल में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने बंगाल में शिक्षा फैलाने की विशेष चेष्टा की और अच्छे पाठ्य-ग्रन्थ तैयार किये।

अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना के बाद मराठों की जो पहली पीढ़ी आई उसमें बाळशास्त्री जांभेकर के अतिरिक्त गोपाल हरि देशमुख नामक सुधारक और विचारक हुआ (१८२३-१८९२)। गोपाल हरि का पिता अन्तिम पेशवा के सेनापति बापू गोखले की सेवा में रहा था, जिससे गोपाल का ध्यान बचपन से

गोपालराव देशमुख ने

ही मराठा राज्य के पतन की दशाओं की तरफ गया। उसने भारत में गहरे धार्मिक सामाजिक राजनीतिक उलटफेर की आवश्यकता देखी और २६ बरस की ही आयु में बड़ी पैनी और विचारमथक शैली में 'लोकहितवादी' नाम से मराठी में अपने पूरे सिद्धान्त प्रकाशित किये (१८४६ ई०)। अंग्रेजी राज से पैदा हुई भारत की दरिद्रता को दूर करने के लिए उसने स्वदेशी व्यवसाय स्थापित करने स्वदेशी वस्तुओं के बर्तने और अंग्रेज़ी माल के बहिष्कार का रास्ता पहलेपहल बताया। पर ऐसा नहीं प्रतीत होता कि लोकहितवादी का ध्यान भारत की पराधीनता के उस सीधे कारण—भारतीयों के अंग्रेज़ों के भाड़ैत बनने—की ओर भी गया हो, जिसे तभी उसका समवयस्क नानासाहब और उसके साथी पहचान रहे थे।

महाराष्ट्र और बंगाल के अन्य अनेक लोगों ने भी, जिनका प्रायः मैकाले पद्धति से पहले वाले अंग्रेज़ों के शिक्षा-प्रसार के प्रयत्नों से सम्बन्ध था, इस काल बड़े उत्साह से युरोप के नये विज्ञान सीख कर मराठी बँगला और हिन्दी में वैज्ञानिक ग्रन्थ लिखे। इनमें बापूदेव शास्त्री का गणित विषयक हिन्दी ग्रन्थ (१८५० ई०) मार्के का है। भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक वाङ्मय की यह धारा अच्छी चलती दिखाई दी। पर दूसरी ओर मैकाले की शिक्षापद्धति में अंग्रेज़ी साहित्य और कानून की शिक्षा पर तथा भारतीयों के अंग्रेज़ी बोलना-लिखना सीखने पर ज़ोर दिया जा रहा था, जिससे वे अंग्रेज़ों के अच्छे उपकरण बन सकें। कम्पनी के ऊँचे अधिकारियों के आदेश से सन् १८५७ में लन्दन युनिवर्सिटी (विद्यापीठ) के नमूने पर अंग्रेज़ी के माध्यम से परीक्षाएँ लेने वाली युनिवर्सिटियाँ कलकत्ता मद्रास और मुम्बई में स्थापित की गईं। भारतीय भाषाओं में विज्ञान-वाङ्मय की जो धारा चली थी, शिक्षा में अंग्रेज़ी का महत्त्व क्रमशः बढ़ते जाने से वह कुछ दूर जा कर छीज गई।

'लोकहितवादी' के स्वदेशी की पुकार उठाने के पाँच बरस बाद कावसजी नानभाई दावर ने मुम्बई में कातने बुनने की पहली नये ढंग की चक्की (मिल) खड़ी की (१८५४ ई०)।

§ १२. भारत-विषयक अध्ययन का उदय— बंगाल एशियाटिक

सोसाइटी की स्थापना [६, १० § २] के बाद से युरोपियों का भारत-विषयक अध्ययन तेज़ी से बढ़ा। उस संस्था की स्थापना से पहले सन् १७६७ में कोर्दो नामक फ्रांसीसी ने पहलेपहल यह पहचाना था कि संस्कृत यूनानी और लातीनी भाषाएँ सगोत्र हैं। कोलब्रुक ने संस्कृत व्याकरण गणित ज्योतिष आदि पर तथा चार्ल्स विल्किन्स ने भारत के पुराने लेखों पर ध्यान दिया। भारतीय पंडित अपने पुराने लेखों को पढ़ते न थे; पर यत्न करते तो सातवीं शताब्दी से इधर के लेखों को पढ़ सकते थे। सन् १७८५ में विल्किन्स ने बंगाल का एक पाल अभिलेख तथा राधाकान्त शर्मा ने अशोक की दिल्ली वाली लाट पर का बीसलदेव चौहान का लेख [७, ६ § ६] पढ़ लिया। उसके बाद विल्किन्स ने गया के पास का एक मौखरि अभिलेख पढ़ डाला, जिससे गुप्त युग की लिपि आधी पहचानी गई।

सन् १८०२ में नैपोलियन के एक अंग्रेज़ कैदी से श्लीगल नामक जर्मन ने पैरिस में संस्कृत सीखी। श्लीगल का समकालिक फ्रांसीसी फ्रांज़ बौप था। इन दोनों ने संस्कृत की ईरानी तथा युरोपी भाषाओं से तुलना कर तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की नींव डाली। इन भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से जाना गया कि इन्हें बोलने वाली जातियों के धर्म-कर्म देवगाथाओं प्रथाओं और संस्थाओं में भी बड़ी समानता थी, और यों आर्य नृवंश का पता चला। यह उन्नीसवीं शताब्दी की सबसे बड़ी खोजों में से एक थी। उक्त तुलनात्मक अध्ययनों से सन् १८४० के लगभग यह विचार जगा कि मानव समाज का क्रम-विकास होता आया है। यह विचार हमारी आधुनिक विचारपद्धति की प्रमुख आधार-शिला है।

अठारहवीं सदी में युरोपियों ने भारत के जो नक्शे बनाये थे, वे सब अंदाज़ से थे। अब सन् १८०२ में लैम्बटन को मद्रास की "आधार-रेखा" मापने पर लगाया गया, जिससे भारत की पैमाइश वैज्ञानिक ढंग पर शुरू हुई।

सिंहल में काम करने वाले टर्नर नामक अंग्रेज़ ने इसी काल पालि बौद्ध वाङ्मय की ओर युरोपियों का ध्यान खींचा। तिब्बत की यात्रा करने वाले हुनगारवी विद्वान् सोमा-दि-कौरोस ने तिब्बती बौद्ध वाङ्मय का और नेपाल के रेज़िडेंट हौगसन ने संस्कृत बौद्ध वाङ्मय का पता दिया।

सन् १८३४ तक इलाहाबाद किले की अशोक की लाट पर का समुद्र-गुप्त का लेख पूरा पढ़ा गया जिससे गुप्त युग की लिपि पूरी जानी गई। साँची भारहुत वेरूल आदि के अभिलेखों की छापों का इस बीच संग्रह किया गया था। पंजाब में सेनापति वेंतुरा [१०,१§१६] ने एक-दो पुरानी "ढेरियाँ" (भीटे) खुदवा कर स्तूपों के अवशेष निकाले थे, तथा बर्न्स आदि यात्रियों ने पंजाब और अफगानिस्तान से पुराने सिक्कों का संग्रह किया था। भारत के विभिन्न स्थानों में अशोक के जो अभिलेख हैं, उनकी छापों के मिलान से जेम्स प्रिन्सेप ने पहचान लिया कि उनमें से बहुत से एक ही हैं। उस लिपि के कुछ अक्षर गुप्त लिपि की सहायता से चीन्हे गये। अफगानिस्तान से पाये गये सिक्कों में अनेक यूनानियों के थे। उनके एक तरफ यूनानी लेख हैं, दूसरी तरफ उन्हीं के प्राकृत अनुवाद। यूनानी की सहायता से प्राकृत लेख पढ़े गये और यों धीरे धीरे मौर्य युग की ब्राह्मी लिपि सन् १८३७ तक समूची पहचान ली गई। यों भारतीय इतिहास के पुनरुद्धार की नींव पड़ी जिससे भारतीय राष्ट्र आज अपने को फिर पहचानने लगा है।

उन्नीसवीं शताब्दी के युरोप पर प्राचीन भारतीय आदर्शों का सीधा प्रभाव भी हुआ। जर्मन महाकवि गेटे (१७४६—१८३२ ई०) ने कालिदास की शकुन्तला को पृथ्वी और अन्तरिक्ष के माधुर्य का सार कहा, और शकुन्तला के नमूने के प्रक्रमपूर्ण रसमय जीवन का आदर्श युरोपी साहित्य में चला दिया। गीता और मनुस्मृति के विचारों को अनेक जर्मन दार्शनिकों ने अपनाया।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. "वे रैयत जो पहले समृद्ध थे ··· अब भारी सूद वाले ऋण में डूब" गये। "भूख से लाचार हो कर किसान खेती करने को बाधित होता था।" ई० इं० कम्पनी के शासन में यह दशा कैसे आई ?

२. "हर आदमी अपनी नजरों में गिर गया ··· आत्मनिर्भर ईमानदार व्यक्ति वाली मर्दानी चाल उसकी न रही।" उन्नीसवीं शताब्दी के भारत में यह दशा कैसे पैदा हुई ?

३. पलाशी युद्ध के बाद से १८३३ ई० तक भारत में अंग्रेजों का वाणिज्य-व्यापार किस तरीके से होता था ?

भारत की पुरानी कारीगरी का नाश उन्नीसवीं शताब्दी में किस प्रकार हुआ ?

५. अंग्रेज़ लेखक के इस कथन की व्याख्या कीजिए—"हमारी पद्धति स्पंज के समान है जो गंगा-तट से सब अच्छी चीज़ों को चूस कर टेम्स तट पर जा निचोड़ती है।"

६. "स्वतन्त्र हिन्दुस्तानी हब्शी गुलाम से सस्ती जिन्स था।" क्यों ? और ऐसा होने के क्या परिणाम हुए ?

७. भारत में चाय की खेती का आरम्भ कब कैसे हुआ ?

८. भारत में अंग्रेज़ी उपनिवेशों की स्थापना के लिए कब कौन से प्रयत्न किये गये ? वे सफल क्यों न हुए ?

९. अंग्रेज़ी शासन में भारत में इंग्लैंड से प्रतिवर्ष नमक का आयात क्यों होता रहा ?

१०. "ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ में भारत गिरवी था।" उससे छुटा कैसे ?

११. सन् १८०० से १८५९ तक कब कब किस किस ने भारत के मुख्य राज्यों के नेताओं को एक साथ उठ कर स्वतन्त्र होने का यत्न करने को पुकारा ? या कब एक साथ उठने के अच्छे अवसर आये ? वे कैसे विफल हुए ?

१२. भारत में स्वदेशी की पुकार पहलेपहल कब किसने उठाई ?

१३. भारत की पुरानी लिपियाँ कैसे पढ़ी गईं ?

१४. आर्य नृवंश का पता पहलेपहल कैसे मिला ?

१५. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए—(१) फेरूशहर की लड़ाई में सिक्खों की तोपें (२) 'लोकहितवादी' (३) बापूदेव शास्त्री।

अध्याय ७

विक्टोरिया युग

(१८५८—१९०१ ई०)

§१. विक्टोरिया युग—युरोप की विश्व प्रभुता—विक्टोरिया का प्रशासन इंग्लैंड में सन् १८३७ से उसकी मृत्यु—१९०१—तक रहा। वह अंग्रेज़ी साम्राज्य के चरम उत्कर्ष का युग था। १८७६ में विक्टोरिया ने महारानी के बजाय सम्राज्ञी पद धारण किया। वह एक नई लहर का सूचक था जिसकी तह में यह विचार था कि युरोपी लोगों की प्रभुता समूचे विश्व पर छा जायगी और

छा जानी चाहिए। इंग्लैंड ने साम्राज्य बनाने में युरोप के दूसरे देशों से कैसे बाजी मार ली थी सो हमने देखा है। नैपोलियन की अन्तिम हार के धक्के से सँभल कर फ्रांस सन् १८३० से फिर साम्राज्य की तलाश करने लगा। उसने तुर्की साम्राज्य का अलजीरिया और चीन साम्राज्य का हिन्दचीन प्रदेश जीत लिया और सुएज़ नहर बना कर मिस्र में प्रभाव जमाया। इतालिया और जर्मनी १९वीं शताब्दी के मध्य तक टुकड़ों में बँटे हुए थे। सन् १८६० के बाद ये दोनों राष्ट्र संघटित हुए, और तब ये भी साम्राज्य और उपनिवेशों की खोज करने लगे। अमरीका महाद्वीप के पुराने बाशिंदों का युरोप वालों ने संहार ही कर डाला और उनकी जगह पर अपने नये राष्ट्र खड़े कर लिये थे। अफरीका का तट युरोपियों के अधीन था और यह स्पष्ट था कि यदि वे भीतर घुसें तो वहाँ उनका मुकाबला करने वाला कोई न होगा। उत्तरी अफरीका नाम को तुर्की के साम्राज्य में था। एशिया महादेश में भारत जैसा पुरानी सभ्यता वाला देश न केवल युद्ध और राजनीति में प्रत्युत शिल्प और व्यापार में भी युरोप के मुकाबले में पस्त हो चुका था, और चीन ईरान और तुर्की बार बार पछाड़ खा चुके थे। युरोप के राष्ट्रों को अब यह स्पष्ट दिखाई देने लगा कि शीघ्र ही समूचे संसार पर उनकी प्रभुता हो जायगी। इस विश्वास के साथ वे एक दूसरे से होड़ करते हुए पुराने खोखले राज्यों पर गिद्धों की तरह झपटने लगे। प्रुशिया के राजा ने प्रायः सब छोटी छोटी जर्मन रियासतों को अधीन कर सन् १८७१ में जर्मन सम्राट् का पद धारण किया। उसी की नकल पर इंग्लैंड की महारानी १८७६ में भारत-सम्राज्ञी बनी।

भारत में विक्टोरिया के सीधे प्रशासन का काल यों दो अंशों में बँटता है, पहला १८५८ से ७६ तक, दूसरा १८७६ से १९०१ तक। इंग्लैंड के मंत्रि-मंडल में १८५८ से एक भारत-सचिव भी नियुक्त किया जाने लगा। उसकी सहायता को एक समिति (कौंसिल) रहती। भारत का गवर्नर-जनरल राज-स्थानीय (वाइसराय) भी कहलाने लगा। १८५८ से ७६ तक ये राजस्थानीय हुए—

कैनिंग १८५८–६२,　　एल्गिन १८६२–६३,

लौरेंस १८६४–६६, मेयो १८६६–७२,
नौर्थब्रुक १८७२–७६ ।

और सम्राज्ञी विक्टोरिया के ये—

लिटन १८७६–८०, रिपन १८८०–८४,
डफरिन १८८४–८८, लैंसडौन १८८८–६४,
एल्गिन १८६४–६६, कर्जन १८६६–१६०५ ।

§२. सन् ५७ के बाद का नीतिपरिवर्त्तन—सन् १८५७ के भारतीय क्रान्ति-युद्ध के तजरबे से अंग्रेज़ शासकों ने अपनी शासन-नीति को कई अंशों में बदल दिया ।

(१) उन्होंने गोरी फौज की संख्या बढ़ा दी और देसी की घटा दी, तथा यह निश्चय किया कि आगे से तोपखाने में देसियों को न लिया जाय । सन् १८५६ में भारत की सेना में २६० हजार देसी और ४५ हजार गोरे थे; सन् १८६१ में १२० हजार देसी और ७६ हजार गोरे रक्खे गये । आगे यही अनुपात रहा । इसके साथ ही हथियार कानून बना कर भारतीय जनता को निहत्था किया गया ।

(२) भारत में गोरी बस्तियाँ बसाने की कोशिश फिर जारी की गई । ऐसी बस्तियाँ किसी क्रान्ति-काल में हिन्दुस्तानियों को दबा रखने में सहायक होतीं । असम और नीलगिरि में गोरों को माफी जमीनें दी गईं ।

(३) देसी रियासतों को तोड़ने से क्रांति का प्रवाह उमड़ा था और उस प्रवाह के बीच ग्वालियर हैदराबाद आदि बची हुई रियासतों ने बाँध का काम दिया था । अतः अब निश्चय किया गया कि आगे से देसी रियासतों का ऊपरी रूप न बिगाड़ा जाय, पर "भीतर से अंग्रेज़ों की देखरेख जितनी पक्की हो सके, रक्खी जाय ।" इसी उद्देश से सुराष्ट्र राजस्थान और अन्य स्थानों में राजकुमारों और जागीरदारों के लिए स्कूल खोले गये जिनमें उन्हें बचपन से ही अंग्रेज़ी प्रभाव में रक्खा जा सके ।

(४) क्रान्ति के गुप्त संघटन का अंग्रेज़ों को कुछ पता न चला था । अब उन्होंने पुलिस और खुफिया पुलिस का पक्का संघटन किया ।

(५) क्रान्ति-युद्ध में मुसलमानों ने विशेष भाग लिया था। मेयो के काल से मुसलमानों को रियायतें दे कर राष्ट्रीय आन्दोलनों से खींचे रखने की नीति चलाई गई।

(६) रेलपथ बना कर भारत को लोहे के डंडों में जकड़ लेने की कोशिश की गई। मेयो के शब्दों में "भाप-जहाज और रेलपथ इंग्लैंड को हर साल भारत पर अपनी गिरिफ्त दृढतर करने में समर्थ बना रहे हैं।" "कार्यक्षम पुलिस, रेलपद्धति के विकास और सेना के हाथ में नई राइफलों द्वारा भारत १८७० ई० में पहले से कम खर्चीली सेना द्वारा काबू में रक्खा जा सकता है।" इसके अलावा सन् १८६६ में सुएज़ नहर के खुल जाने से युरोप से भारत का रास्ता बहुत छोटा हो गया। इस नहर को फ्रांसीसी इञ्जिनियर दि-लेसेप ने खोदा। उसने १८५४-५६ ई० में एक कम्पनी खड़ी की जिसके लिए तुर्की के सुलतान से नहर की जमीन ६६ साल के ठेके पर ले ली। तुर्की के सुलतान, मिस्र के खदीव (राज-प्रतिनिधि) तथा फ्रांसीसी महाजनों ने कम्पनी के हिस्सों का मुख्य भाग खरीदा। पीछे १८७५ ई० में अंग्रेज़ों ने खदीव के सब हिस्से तथा और भी हिस्से खरीद लिये।

(७) सन् १८३३ से गवर्नर-जनरल की शासन-समिति में एक कानून-सदस्य के शामिल होने से वही विधान समिति (लेजिस्लेटिव कौंसिल) बन जाती थी। सन् १८५३ से उसमें हर बड़े प्रान्त का एक अफसर और दो-चार और व्यक्ति शामिल किये जाने लगे थे। अब सन् १८६१ से उसमें गवर्नर-जनरल के पसन्द किये ६ से १२ तक सदस्य, जिनमें आधे गैरसरकारी होते, रक्खे जाने लगे। प्रान्तों में भी वैसी विधान-समितियाँ बनीं।

(८) थोड़ा-बहुत स्थानीय स्वशासन भारतीयों को दिया गया। १८७५-७६ में मुम्बई और कलकत्ता नगरों को स्वशासन दिया गया। १८८१ में प्रान्तीय सरकारों को सब नगरों गाँवों को स्वशासन देने का अधिकार दे दिया गया।

§ ३. **कृषक-स्वत्व कानून**—अंग्रेज़ों के ज़मीन-बन्दोबस्त से भारतीय किसान कैसे अपनी सम्पत्ति से वञ्चित होते गये, सो हमने देखा है। कौर्नवालिस का यह उद्देश न था। किन्तु अंग्रेज़ी कानून की दृष्टि में जो मालगुज़ारी देता

वही जमीन का मालिक था, क्योंकि इंग्लैंड में १८वीं शताब्दी के आरम्भ से ही जागीरदार ज़मीन के पूरे मालिक बन चुके थे। भारत में भी उस कानून के प्रयोग से ठेकेदार ज़मीन के मालिक और किसान निरे जोते बनते गये। इससे जनता में घोर कष्ट और असन्तोष फैलने लगा। सन् ५७ के बाद अंग्रेज़ शासकों ने उस असन्तोष को शान्त करने का कुछ यत्न किया। भारतीय परम्परा को थोड़ा-बहुत बचाने के लिए उन्होंने यह कल्पना की कि जमींदारों के स्वामित्व के साथ साथ किसानों के भी "दखीलकारी" या "मौरूसी" स्वत्व हैं, और इसके अनुसार सन् १८५६ से १८७३ तक कानून बनाये। किन्तु उन कानूनों से किसानों को कुछ राहत न मिली। जमींदारों और किसानों के सम्बन्ध जिन रिवाजों के अनुसार थे, वे अब टूट रहे थे। कानून की सहायता से अपनी आमदनी से निश्चिन्त हो जाने से ज़मींदार शहरों में बस रहे थे। इस दशा में रिपन ने अपने शासन-काल में किसानों को उनके स्वत्वों का एक अंश वापिस दिलाने की फिर कोशिश की। उसके प्रस्तावित कानून डफरिन के काल में स्वीकृत हुए।

सन् १८६१ में मध्य प्रान्त (नागपुर वर्धा जबलपुर सागर आदि के प्रदेश) की रचना करके वहाँ नया ज़मीन-बन्दोबस्त शुरू किया गया। उस प्रान्त में मराठा युग से मालगुज़ार चले आते थे, जिन्हें किसानों से बन्दोबस्त करने, कर वसूल करने, तालाब आदि बनवाने तथा किसानों को बेदखल करने के भी अधिकार थे, पर ज़मीन को बेचने या रहन रखने के अधिकार न थे। वे वास्तव में मालगुजारी वसूल करने वाले कर्मचारी थे, जिनके पद वंशानुगत हो गये थे। अंग्रेज़ हाकिमों ने अब उन्हें जमीन का मालिक मान लिया और उनकी माल-गुजारी इतनी बढ़ा दी कि वे भी किसानों का लगान बढ़ाये बिना न रहें।

रैयतवारी इलाकों के लिए सन् १८५५ में ही कम्पनी के डायरेक्टरों ने यह मान लिया था कि "सरकार का हक लगान नहीं, भूमिकर है"—अर्थात् ज़मीन के मालिक किसान ही हैं। इसके अनुसार १८६४ में भारत-सचिव ने आदेश दिया कि उपज में से लागत-खर्च काट कर वास्तविक आय पर ही कर लगाया जाय और वह उस आय के आधे से अधिक न हो। किन्तु इस आदेश

पर अफसरों को चलाने के लिए कोई कानून नहीं बना। जहाँ एक एक कलक्टर डेढ़ डेढ़ लाख किसानों से बन्दोबस्त करता और बिना कारण बताये मालगुजारी बढ़ा सकता था, तथा जहाँ किसान को उसके विरुद्ध न्यायालय में अपील करने का अधिकार भी न था, वहाँ इस आदेश का अमल में आना असम्भव था। जमींदारी इलाकों के जमींदारों पर सरकार ने जो बन्धन लगाये, रैयतवारी इलाकों के अपने अफसरों पर वे नहीं लगाये। परिणाम यह हुआ कि "५० फी सदी मालगुजारी सिर्फ कागजी सलाह रही। व्यवहार में समूचा लगान (अर्थात् मालिक का हक) लिया जाता रहा और अनेक बार मुनाफे का अंश भी।"

सन् १८६० में ठेठ हिन्दुस्तान में घोर अकाल पड़ा। सरकारी जाँच से मालूम हुआ कि अकाल अनाज की कमी से नहीं, प्रत्युत जनता में अनाज खरीदने की शक्ति न होने से हुआ। तब यह प्रस्ताव किया गया कि समूचे भारत में स्थायी बन्दोबस्त कर दिया जाय, "जिससे जमीन-मालिकों के स्वार्थ अंग्रेजी राज की स्थिरता में गड़ जायँ" और अकाल न पड़ें। इसपर अरसे तक विचार होता रहा। अन्त में सन् १८८३ में भारत-सचिव ने इसका निषेध कर दिया। सन् ५७ के क्रान्ति-युद्ध के बाद जनता की खुशहाली की खातिर सरकार अपनी आय छोड़ने को तैयार थी; पर बाद में जनता ने बराबर शान्तिमय प्रवृत्ति दिखलाई तो वैसे त्याग की ज़रूरत न रही।

§४. वलीउल्लाही और नामधारी—१८वीं शताब्दी में आर्थिक समानता की पुकार उठाने वाले शाह वलीउल्लाह का उल्लेख हो चुका है [६,११ § ५]। उसके सम्प्रदाय में १६वीं शताब्दी आरम्भ में बरेली का सैयद अहमदशाह प्रमुख व्यक्ति हुआ। अंग्रेज़ों ने उसके और उसके साथियों के मजहबी जोश को सिक्ख राज्य के विरुद्ध फेर दिया। सन् १८२६ में दिल्ली से बड़ा दल ले कर सिन्ध कन्दहार के रास्ते अहमदशाह पेशावर पहुँचा, और सीमा पर सिक्खों से लड़ता हुआ १८३१ में मारा गया। उसके अनेक अनुयायी सीमा पर ही रह गये। १८५७ के क्रान्तियुद्ध में दिल्ली प्रदेश के वलीउल्लाहियों की तरह उन्होंने भी भाग लिया। १८६३ में उन्होंने फिर सीमा पर लड़ाई छेड़ी। तभी यह पता चला कि उत्तर भारत में जगह जगह उनके

गुप्त केन्द्र हैं। तब कई षड्यन्त्र के मुकदमे चला कर उनके नेताओं को जेल भेजा गया। २०-९-१८७१ को बंगाल का चीफ जस्टिस कचहरी की सीढ़ियों पर मारा गया। ८-२-१८७२ को अंडमान जेल का निरीक्षण कर लौटते हुए गवर्नर-जनरल मेयो को एक पठान ने मार डाला। इसके बाद यह लहर ठंडी पड़ गई।

अंग्रेज़ों ने इन वलीउल्लाहियों को वहाबी कह कर भारतीय मुसलमानों की दृष्टि में गिराने का यत्न किया। १८वीं शताब्दी में अरब में अब्दुल वहाब नामक सुधारक हुआ था, जो खुदा के स्थान में मुहम्मद की उपासना को बुरा कहता और जिसके अनुयायियों ने मुहम्मद की कब्र उखाड़ फेंकी थी। अंग्रेज़ों का यह मिथ्या प्रचार इतना सफल रहा कि अब तक भारत के इतिहासों में इन मुस्लिम क्रान्तिकारियों को वहाबी कहा जाता है!

वलीउल्लाहियों के मुख्य नेताओं ने अपनी विचार-परम्परा जारी रखने के लिए सन् १८६७ में देवबन्द (जि० सहारनपुर) में एक मदरसा (विद्यालय) स्थापित किया।

इसी काल लुधियाना जिले में गुरु रामसिंह नामक सिक्ख सुधारक ने अंग्रेज़ी राज से पूरा असहयोग करने का प्रचार किया। रामसिंह के अनुयायी नामधारी या कूके कहलाये। सन् १८७१-७२ में कूकों ने अपने प्रदेशों से अंग्रेज़ी राज के सब चिह्न मिटा देने का प्रयत्न किया। गुरु रामसिंह को कैद कर बरमा भेजा गया और बहुत से कूके कैदी तोपों के मुँहों पर बाँध कर उड़ा दिये गये।

§५. भारत अंग्रेज़ी पूँजीशाही के शिकंजे में—हमने देखा है कि भारत की मालगुज़ारी में से ५ फी सदी नफे की गारंटी पा कर अंग्रेज़ पूँजीपतियों ने रेल-कम्पनियाँ खड़ी की थीं। नफे की गारंटी के कारण उन्होंने अत्यंत फिजूलखर्ची से लाइनें बनवाईं। जब कभी हिसाब में गबन के कारण उन्हें घाटा हुआ, तब भी उन्हें ५ फी सदी नफा तो अपने बेहोश मालिक भारतीय किसान की तरफ से दिलाया ही गया। मेयो के काल से कम्पनी-रेलों के अतिरिक्त सरकारी रेलें भी जारी की गईं।

भारत की पराधीनता से लाभ उठाने का दूसरा तरीका इसकी आयात-

चुंगी के नियंत्रण द्वारा था। सन् ५७ के बाद की आर्थिक कठिनाई में कैनिंग ने आयात पर थोड़ी सी चुंगियाँ बढ़ा दीं। किन्तु अंग्रेज़ व्यापारियों के दबाव से उसे वे चुंगियाँ दो बरस में ही घटानी पड़ीं। अगले "दस वर्ष में भारत का व्यापार बढ़ा, पर आयात-चुंगी की आय घटी। उस आय की मात्रा उपहासास्पद थी।" सूती धागों के आयात पर ३½ फी सदी और कपड़े के आयात पर ५ फी सदी चुंगी थी। उस काल तक कातने-बुनने की एक दर्जन मिलें मुम्बई में और २-३ कलकत्ते में खुल चुकी थीं। लंकाशायर के व्यापारियों को इतने से भी चिढ़ थी। सन् १८७५ में नौर्थब्रुक पर दबाव डाला गया कि इस ५ फी सदी चुंगी को भी हटा दे। तब नौर्थब्रुक ने इस्तीफा दे दिया।

भारतीय दस्तकारी का नाश होने पर बेकार जनता की सस्ती मजदूरी से भी अंग्रेज़ पूँजीपतियों ने लाभ उठाया। मेयो को आशा थी कि "भारत की सस्ती मज़दूरी अंग्रेज़ व्यवसायी के कर्तृत्व के लिए नया क्षेत्र उपस्थित करेगी।" चाय काफी सिनकोना जूट और नील की काश्त की सफलता का उल्लेख कर उसने कहा कि हमें जंगलों खानों और समुद्र की मछलियों पर भी ध्यान देना है, और इसलिए उसने जंगल भूगर्भ तथा समुद्री पर्यवेक्षाओं (सर्वे) के महकमे खोले। जिन कारबारों में अंग्रेज़ों की पूँजी लगी थी, उनकी पूँजी का नफा हर साल भारत से बाहर जाता।

भारत के खर्चे पर अंग्रेज़ों के हित के अनेक काम तथा भाड़ैत भारतीय सेना द्वारा अंग्रेज़ी साम्राज्य को बढ़ाने की चेष्टाएँ विक्टोरिया के राज में कम्पनी-राज से कई गुनी अधिक की गईं। वह भारत को लूटने का सब से सीधा तरीका था। उनके कारण भारत का ऋण बढ़ता गया। सन् १८६५ में भारत से इंग्लैंड तक समुद्र के भीतर पनडुब्बा तार लगाया गया और उसका सारा खर्चा भारत पर डाला गया। सन् १८५८ में कम्पनी की १२० लाख पौंड पूँजी और ६६५ लाख पौंड ऋण भारत का ऋण बना दिया गया था। विक्टोरिया के राज के पहले १६ सालों में वह ऋण दूना हो गया। उसके सूद और इंग्लैंड में भारत-सरकार के खर्चे के नाम पर भारत को १८७० के बाद १½ से २ करोड़ पौंड वार्षिक का माल आयात की अपेक्षा अधिक इंग्लैंड भेजना पड़ता। श्री

विक्टोरिया के राज के १२ बरसों में भारत से धन की वार्षिक निकासी चौगुनी हो गई और इस धारा की पूर्ति के लिए जनता के कर का बोझ ५० फी सदी बढ़ गया, जिसमें नमक-कर ही विभिन्न प्रान्तों में ५० से १०० फी सदी तक बढ़ा।

भारत न केवल कपड़ा और अन्य कारीगरी की चीजें अन्न दे कर खरीदता, प्रत्युत अपना यह खिराज भी अन्न और कच्चे माल से चुकाता। अनाज का निर्यात इस अरसे में वार्षिक ३० से ८० लाख पौंड मूल्य का हो गया। तेलहन और कच्चे चमड़े का निर्यात भी इसी तरह बढ़ा। तेलहन की खली सर्वोत्तम खाद होती है, इसलिए उसका निर्यात "जमीन की उपजाऊ शक्ति का निर्यात" था। कच्चे चमड़े के निर्यात का बढ़ना चमारों के कारबार के ह्रास का सूचक था।

यह पद्धति हमारे देश में इस रूप में अंग्रेज़ी जमाने के अन्त तक जारी रही। जाड़े के मौसम में गाँवों और मंडियों में अनाज का चुस्त चालान दिखाई देता। वह स्वतन्त्र व्यापार नहीं, प्रत्युत गरीब किसानों का अपना पेट काट कर गुलामी का खिराज देना होता था। इसलिए अकाल के सालों में भी वह "व्यापार" वैसो ही चुस्ती से चलता रहता। विदेशी व्यापार सब हुंडियों द्वारा होता है। भारत के जो व्यापारी माल बाहर भेजते, वे उन व्यापारियों से दाम पा कर हुंडियाँ दे देते जिन्होंने बाहर से माल मँगाया होता। लेकिन चूँकि मँगाया हुआ माल हर साल भेजे हुए माल से कम होता, इसलिए माल मँगाने वालों से भेजने वालों को पूरा मूल्य नहीं मिलता था। उस कमी के लिए लन्दन में भारत-सचिव हुंडियाँ निकालता, जिनका भुगतान भारत के खजानों से हो जाता था।

§ ६. **भारत द्वारा ब्रितानवी साम्राज्य-वृद्धि**—भारत के क्रान्ति-युद्ध के कारण भारत से सेना चीन जाते जाते रोकी गई थी। क्रान्ति-युद्ध समाप्त होते ही सन् १८६० में वह भेजी गई और भारत के खर्च से दूसरा अफीम-युद्ध लड़ा गया जिससे अंग्रेजों ने चीन के बन्दरगाहों पर अधिकार जमा लिया।

न्यूज़ीलैंड के मूल निवासी मावरियों के सरदारों से सन् १८४० में संधि कर अंग्रेज़ों ने वहाँ बसना शुरू किया था। मावरियों ने देखा कि अंग्रेज़ उन्हें

गुलाम बना डालेंगे तो अपना एक संघ बना कर अंग्रेज़ों के हाथ जमीन बेचना बन्द कर दिया। तब सन् १८६०-६१ में भारत से वहाँ सेना भेजी गई और दस बरस में मावरियों को कुचल दिया गया।

सन् १८६५ में भूटान से युद्ध हुआ जिससे (१) भूटान की तराई या "दुआर"† अंग्रेज़ों को मिले और (२) भूटान और सिकिम के बीच अंग्रेज़ी पच्चर घुस गया, जिसमें हो कर तिब्बत का सीधा रास्ता जाता है। दुआरों के प्रदेश में अब चाय-बागान हैं।

सन् १८६७ में ब्रितानिया ने अबीसीनिया से युद्ध किया। तब मुम्बई से एक सेना अबीसीनिया भेजी गई।

मेयो ने सन् १८७१-७२ में पूरबी सीमा के लुशाई पहाड़ियों के विरुद्ध सेना भेजी। दूसरी तरफ उसने ईरान की पूरबी सीमा, सीस्तान के दक्खिनी छोर से समुद्रतट के ग्वादर शहर तक, अंकित करा दी, जिससे कलात के साथ साथ लासबेला रियासत भी अंग्रेज़ी प्रभावक्षेत्र में आ गई। मेयो ने उनमें दस्तंदाजी करने को एक अफसर भेजा।

मलाया प्रायद्वीप में अंग्रेज़ १८वीं शताब्दी के अन्त से हस्तक्षेप कर रहे थे। सन् १८७४-७५ में भारत से फौज भेज कर उन्होंने सिंगापुर के उत्तर पेरक रियासत को धर दबाया। उससे पड़ोस की रियासतें भी वश में आ गईं।

§ ७. दूसरा आंग्ल-अफगान युद्ध—सन् १८७६ में उमड़ी साम्राज्य-लोलुपता की नई झोंक में ब्रितानिया के अमात्यों ने तय किया कि मध्य एशिया में रूस के साम्राज्य से अपनी सीमा भिड़ा दी जाय। यों दूसरा आंग्ल-अफगान युद्ध हुआ।

अफगानिस्तान के अमीर दोस्तमुहम्मद के मरने पर उसका बेटा शेरअली गद्दी पर बैठा था (१८६३ ई०)। सन् १८६६ तक वहाँ घरेलू लड़ाई चलती रही, पर अन्त में शेरअली सफल हुआ। भारत के अंग्रेज़ शासक उस काल

† हिमालय के भीतर जाने के घाट या रास्ते जो हिमालय के द्वार हैं, इस प्रदेश में होने से यह दुआरों का प्रदेश कहलाया।

भारतीय राज्यों में हस्तक्षेप न करने की उस नीति पर चल रहे थे जिसे उन्होंने सन् १८५७ के तजरबे से अपनाया था। इसलिए गवर्नर-जनरल लौरेंस ने उस झगड़े में दखल न दिया। पर उधर इसी बीच रूसी साम्राज्य भारत के नज़दीक पहुँच रहा था। सन् १८४६ में अंग्रेज़ों ने जब पंजाब जीता था, तभी रूसियों ने उत्तरी कास्पी सागर से सीर नदी के मुहाने अर्थात् अराल सागर तक जीत लिया था। १८५४ ई० में उन्होंने बलकाश के दक्खिन ईली का काँठा ले लिया था। सन् १८६४ से ६८ तक उन्होंने ईली और सीर के मुहानों के दक्खिन, फरगाना का एक अंश तथा बोखारा की समूची उज़बक सल्तनत, जिसमें ताशकन्द और समरकन्द भी थे, जीत ली। लौरेंस ने इसपर यह प्रस्ताव किया कि रूस और इंग्लैण्ड अपने अपने प्रभाव-क्षेत्र बाँट लें और रूस यदि उस रेखा से आगे बढ़े तो युद्ध हो। इसके अनुसार रूस ने अफगानिस्तान की तरफ वंक्षु नदी (आमू दरिया) को अपनी सीमा स्वीकार किया। इसके बाद सन् १८७३ में रूसियों ने कास्पी के पूरवी तट से बढ़ते हुए खीवा सल्तनत को, जो वंक्षु के मुहाने पर और इसलिए उस नियत सीमा से प्रायः ६०० मील उत्तर थी, जीत लिया। पर इस काल तक ब्रितानवी राजनेता अपनी नई जगी साम्राज्य-लोलुपता में अहस्तक्षेप की नीति को भूल रहे थे। लन्दन से भारत-सचिव ने वाइसराय नौर्थब्रुक को लिखा कि हरात और कन्दहार में अंग्रेज़ एजेंट रक्खे जायँ। नौर्थब्रुक को सो न जँचा और उसने इस्तीफा दे दिया। तब उन्होंने लिटन को भारत का वाइसराय बना कर भेजा।

लिटन ने कलकत्ते से सीधे अम्बाले आ कर अमीर शेरअली के पास सन्देश भेजा कि काबुल में अंग्रेज़ रेज़िडेंट रखना अभीष्ट है, और हरात में तो अंग्रेज़ कारिंदा रखना ही होगा। इस बातचीत के दौरान में ही वह अफगानिस्तान को घेरने भी लगा। अफगानों के देश की दक्खिनपूरवी सीमा सिबी है, जिसके उत्तरपच्छिम, बोलान दर्रे के उस पार, शालकोट ('कोइटा') * का खुला

* शालकोट नाम का पहला अंश मिट गया, और पिछला अंग्रेजी में 'कोइटा' या 'क्वेटा' बन गया। 'कोइटा' स्टेशन पर पहले बिश्वयुद्ध तक शालकोट नाम लिखा रहता था।

पठार मानो अफगान किले का दक्खिनी बुर्ज है। दर्रा बोलान तक कलात की सीमा थी। कलात लासबेला और बलोचिस्तान में अंग्रेज़ी कारिंदे दस्तन्दाजी कर ही रहे थे। दिसम्बर १८७६ में कलात और लासबेला के खानों तथा बलोच सरदारों से एक सन्धि पर हस्ताक्षर करा लिये गये जिससे अंग्रेज़ी सेना को बोलान के रास्ते 'कोइटा' में घुसने का मौका मिला और अंग्रेज़ "वस्तुतः कलात के मालिक बन गये।" पूरब तरफ लिटन ने कावग्नारी को कोहाट से कुर्रम दून में घुसने को भेजा, और उत्तरपूरब तरफ कश्मीर के महाराजा को शस्त्र दे कर उभाड़ा कि वह चितराल के रास्ते के दर्रे काबू कर ले। उसने गिलगित में अंग्रेज़ी एजेंसी स्थापित कर ली, और कश्मीर के दिवालिये राज के खर्च पर वहाँ तक तार की पाँत पहुँचा दी। उसी के शब्दों में उसका "लक्ष्य अफगान शक्ति को क्रमशः खंडित और कमजोर करना था।"

युद्ध की इन तैयारियों के बीच विक्टोरिया के सम्राज्ञी बनने के उपलक्ष्य में १ जनवरी १८७७ को दिल्ली में दरबार किया गया। तभी मद्रास और मैसूर प्रान्तों में घोर दुर्भिक्ष था, जिसमें बरस भर में ५० लाख मनुष्य भूख से तड़प तड़प कर मरते हुए यह दिखा गये कि अंग्रेज़ी साम्राज्य की नींव उनकी लाशों पर थी।

अंग्रेज़ी और रूसी साम्राज्यों के बीच अफगानिस्तान ईरान और तुर्की साम्राज्य थे। मिस्र से मोरक्को तक समूचा उत्तरी अफरीका पहले तुर्की साम्राज्य में ही था; बलकान प्रायद्वीप, पच्छिमी एशिया, अरब और ईराक भी तब उसके अधीन थे। इस काल बलकान प्रायद्वीप के युरोपी राष्ट्रों ने तुर्क साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह किया। उनकी सहायता को रूसी सेना कुस्तुन्तुनिया के दरवाजों पर आ पहुँची। रूस का कुस्तुन्तुनिया ले लेना अंग्रेज़ों के सुएज़ मार्ग के लिए खतरनाक होता, इसलिए उन्होंने अपना बेड़ा दरे-दानियाल में ला घुसेड़ा और तुर्की के सुल्तान से यह कह कर कि हम रूस से तुम्हारा बचाव करेंगे, गुप्त सन्धि की, जिसका सार यह था कि तुर्क साम्राज्य का एशियाई प्रदेश ब्रितानवी प्रभाव-क्षेत्र बन जायगा और तुर्की साम्राज्य का चिप्रोस ('साइप्रस') द्वीप अंग्रेज़ों को मिलेगा। अंग्रेज़ों ने माल्ता द्वीप में हिन्दुस्तानी फौज भी मँगा ली। जर्मनी की

मध्यस्थता से दोनों साम्राज्यों के बीच युद्ध होता होता रुका और बर्लिन में युरोपी राष्ट्रों की 'कांग्रेस' हुई (जून-जुलाई १८७८)। तुर्क साम्राज्य की बन्दरबाँट करना उस कांग्रेस का मुख्य उद्देश था। आरम्भ में ही प्रत्येक राष्ट्र के प्रतिनिधियों से यह ऐलान करने को कहा गया कि हम कोई गुप्त सन्धि करके नहीं आये हैं। ब्रितानवी मन्त्री डिज़रायली और सालिस्बरी ने वैसा ऐलान कर दिया। पर कुछ दिन बाद ही उनका भेद खुल गया। उनकी इस करतूत से खीझ कर फ्रांसीसी प्रतिनिधि सभा छोड़ जाने लगा। तब एक और गुप्त सन्धि द्वारा फ्रांस को मनाया गया, जिसका सार यह था कि (१) फ्रांस यदि तुर्क साम्राज्य का त्यूनिस प्रान्त दबा ले तो ब्रितानिया आपत्ति न करेगा (२) मिस्र के आर्थिक नियन्त्रण में फ्रांस का आधा हिस्सा रहेगा और (३) सीरिया में षड्यन्त्र करने का एकाधिकार फ्रांस को रहेगा।

माल्ता में हिन्दी सेना देख कर रूसियों ने सोचा उस सेना को अपने घर के नजदीक काम दिया जाय। इसलिए जिस दिन बर्लिन में सन्धि-सभा शुरू हुई, उसी दिन ताशकन्द से जनरल स्तोलतौफ ने काबुल को कूच किया। शेर-अली ने रूस से सन्धि कर काबुल में रूसी रेज़िडेंट रखना मान लिया, पर बर्लिन की सन्धि हो जाने पर स्तोलतौफ काबुल से लौट गया।

उसके लौट जाने पर लिटन अफगानिस्तान पर टूट पड़ा। अंग्रेज़ी सेना तीन तरफ से बढ़ी। एक टुकड़ी ने खैबर से बढ़ कर जलालाबाद ले लिया, दूसरी ने कुर्रम के रास्ते घुस कर पैवार घाटा छीन लिया, और तीसरी ने शालकोट से कूच कर कन्दहार जीत लिया। शेरअली तुर्किस्तान भाग गया और वहीं उसकी मृत्यु हुई। उसके बेटे याकूबखाँ ने २६-५-१८७६ को गन्दमक पर सन्धि की जिसके अनुसार अफगानिस्तान ने (१) अपनी विदेश-नीति अंग्रेज़ों को सौंप दी (२) काबुल में अंग्रेज़ रेज़िडेंट तथा हरात आदि नाकों में अंग्रेज कारिन्दे रखना माना और (३) पैवार घाटे सहित कुर्रम दून, 'कोइटा'-पिशीन, थल-छोटियाली और सिबी के इलाके अंग्रेज़ों को दे दिये। यह भी तय हुआ कि कन्दहार में अंग्रेज़ी सेना जाड़े तक ठहरेगी, बाकी इलाकों से लौट जायगी। गन्दमक की सन्धि से अफगानों की स्वतन्त्रता समाप्त हुई; वे अंग्रेज़ों के रक्षित

बन गये और उन्होंने अपने देश के दक्खिन-पूरबी ज़िले, जिनकी जनता शुद्ध पठान है, अंग्रेज़ों को दे दिये।

लेकिन विदेशी सेना को अपने देश में देखना अफगान फिर बरदाश्त नहीं कर सके। ३-९-१८७९ को विद्रोह कर उन्होंने रेज़िडेंट कावग्नारी को मार डाला। इसपर सेनापति रौबर्ट्स कुर्रम से शुतुरगर्दन घाटा पार कर चारासिआब पर अफगानों को हराते हुए काबुल आया और फौजी कचहरी बैठा कर ८७ अफगानों को फाँसी दिला दी। याकूबखाँ को नज़रबन्द कर मेरठ भेजा गया। फाँसियों से अफगान फिर भड़के और रौबर्ट्स को घेर लिया। कन्दहार से स्टिवर्ट ने आ कर उसे घेरे से निकाला। परन्तु अब अंग्रेज़ों ने अपने को फँसा पाया। वे सारे अफगानिस्तान को जीत न सकते थे और वहाँ कोई शासन खड़ा किये बिना लौटते तो १८४२ वाली घटनाएँ दोहराई जातीं। कन्दहार उन्होंने एक कठपुतले शासक के हाथ सौंप दिया था, पर बाकी इलाकों के लिए कोई शासक मिलता न था। लिटन ने रौबर्ट्स को आदेश भेजा कि "काबुल पहुँचते ही हमें उस चूहेदानी से निकालने का ढंग सोचना।" इस बीच शेरअली का भतीजा अब्दुर्रहमान, जो तब तक रूसी तुर्किस्तान में शरणागत था, अफगानिस्तान आया। लिटन ने उस "जंगल के बीच इस मेढ़े" को पा कर खैर मनाई। तभी लिटन का उत्तराधिकारी बना कर रिपन को भारत भेजा गया।

हरात शेरअली के बेटे आयूबखाँ के काबू में था। रिपन गन्दमक की सन्धि में से अफगानिस्तान में अंग्रेज़ कारिन्दे रखने की शर्त हटा कर, बाकी शर्तों को रखते हुए, अब्दुर्रहमान को अफगानिस्तान देने को तैयार था। अब्दुर्रहमान भी इतने से सन्तुष्ट था। उनकी बातचीत चल ही रही थी कि आयूब ने कन्दहार पर हमला कर जनरल बरोज़ को माईवन्द पर करारी हार दी (२७-७-१८८०)। रिपन ने तब रौबर्ट्स को कन्दहार भेजा और बाकी सेना काबुल से लौटा ली। रौबर्ट्स ने आयूब को हरा दिया। सन् १८८१ के शुरू में अंग्रेज़ी सेना कन्दहार भी खाली कर आई। अब्दुर्रहमान ने तब कन्दहार और हरात भी जीत लिये।

दूसरे आंग्ल-अफगान युद्ध के सिलसिले में सिबी तक रेलपथ पहुँचा

दिया गया।

§८. **मिस्र पर अंग्रेज़ी शिकंजा**—मिस्र के जिस खदीव के शासन-काल में सुएज़ नहर खुली थी, उसने अपनी फिजूलखर्जी से बड़ा कर्ज़ कर लिया था। उसने सुएज़ नहर के अपने हिस्से अंग्रेज़ों के हाथ बेच दिये और सन् १८७६ में अपने देश की मालगुजारी भी अपने फ्रांसीसी और अंग्रेज़ उत्तमर्णों के हाथ गिरवी रख दी। फ्रांस और इंग्लैंड के शासन के विरुद्ध मिस्रियों ने सन् १८८२ में अरबी पाशा के नेतृत्व में विद्रोह किया। फ्रांसीसी सरकार ने खर्च से और फ्रांसीसी खून बहुत गिरने से घबरा कर हार मान ली, तब अंग्रेज़ों ने भारत के खर्च पर और भारत से सेना भेज कर उस विद्रोह को कुचल दिया। तब से मिस्र पर अकेले ब्रितानिया का नियन्त्रण रहने लगा, नाम को तुर्की का आधिपत्य और खदीव का शासन बना रहा।

सूदान और सोमाली देश भी मिस्र के अधीन थे। वहाँ तभी 'महदी' के नेतृत्व में विद्रोह हुआ। मिस्री फौजें महदी के मुकाबले में हारीं और उनके साथ का अंग्रेज़ी तोपखाना छिन गया। जनरल गौर्डन को तब सूदान की राजधानी खार्तूम पर भेजा गया, लेकिन वह ११ हज़ार फौज के साथ कैद हो गया। सन् १८८४ के अन्त में उसे छुड़ाने को फिर चढ़ाई की गई, पर इस सेना के खार्तूम पहुँचने के दो दिन पहले सब कैदी मार डाले गये। अंग्रेज़ों ने सूदान तट के सुआकीम और सोमाली तट के ज़ैला, बर्बरा आदि गढ़ों में भारतीय सेना डाल कर सन्तोष किया।

§९. **रूस-अफगान-सीमा-निर्णय**—सन् १८८४ में रूसियों ने मर्व शहर जीत लिया जो अफगान सीमा से १५० मील पर है। इसपर अंग्रेज़ फिर बिदके। अन्त में यह ठहरा कि रूसी और अंग्रेज़ प्रतिनिधियों का सम्मिलित आयोग हरीरूद से आमू दरिया तक अफगानिस्तान की सीमा अंकित कर दे। यह आयोग सीमा पर पहुँचा तो रूसियों और अफगानों की छीनझपट जारी थी। रूसियों ने मर्व के सौ मील दक्खिन पंजदेह बस्ती अफगानों से छीन ली। इसी बीच भारत में रिपन की जगह डफरिन आ गया था और अमीर अब्दुर्रहमान उससे रावलपिंडी में भेंट कर रहा था। डर था कि अफगान रूसियों को रोकेंगे

तो रूसी हरात पर हमला करेंगे। कोइटा में डफरिन ने भारी सेना जमा की और अब्दुर्रहमान से पूछा कि हरात की रक्षा के लिए सेना भेजी जाय। अब्दुर्रहमान नहीं चाहता था कि अंग्रेज़ी सेना अफगानिस्तान में घुसे। इसलिए रूसी दक्खिन तरफ जहाँ तक बढ़ना चाहते थे वह सीमा उसने स्वयं मान ली।

§ १०. तीसरा आंग्ल-बरमी युद्ध——फ्रांस के हिन्दचीन ले लेने से वह बरमा राज्य का पड़ोसी बन गया था। अंग्रेज़ों के शिकंजे से बचने के लिए बरमा के राजा ने फ्रांस जर्मनी और इतालिया से व्यापारिक सन्धियाँ कीं। मन्दाले में फ्रांसीसी बैंक और फ्रांसीसी रेल खोलने की योजना बनी। अंग्रेज़ी सरकार ने फ्रांस पर दबाव डाल कर उसे तोड़ दिया। उसके बाद नवम्बर १८८५ में इरावती से अंग्रेज़ी बेड़ा ऊपर बढ़ा और दस दिन में उत्तरी बरमा को जीत लिया। बरमा के राजा को कैद कर रत्नागिरि भेजा गया। परन्तु देश जीतने के बाद अंग्रेज़ बरमा से सेना और पुलिस खड़ी न कर सके, और कई बरस तक बरमी लोग छापामार युद्ध करते रहे। भारत की सेना और खर्च से ही अंग्रेज़ों ने बरमा को दबाये रक्खा।

§ ११. राणाशाही की दूसरी पीढ़ी—नेपाल के जंगबहादुर की सन् १८७६ में मृत्यु होने पर उसके दो भाई बचे थे—रणोद्दीप और धीर-शमशेर। रणोद्दीप तब नेपाल का प्रधान मन्त्री और धीरशमशेर प्रधान सेनापति बना। डेढ़ बरस बाद युवराज त्रैलोक्यविक्रम ने राणाशाही का अन्त कर स्वतन्त्र होने का प्रयत्न किया, पर वह सफल नहीं हुआ और उसकी मृत्यु हुई (१८७८)। सन् १८८१ में फिर ५५ सरदारों ने मिल कर उठने की कोशिश की, पर वे भी पकड़े और मारे गये और उनके ब्राह्मण सहयोगी नेपाल से निर्वासित किये गये। १८८४ में धीरशमशेर चल बसा।

आंग्ल-नेपाल युद्ध के बाद से साम्राज्यलिप्सु अंग्रेज़ गोरखाली सैनिकों पर घात लगाये बैठे और उन्हें अपनी भाड़ैत सेना में भरती करने को तरसते थे [१०,१§२०]। पर जंगबहादुर द्वारा नेपाल में अपना पिट्ठू शासन खड़ा कर लेने पर भी उनकी वह आकांक्षा तृप्त न हुई थी। जंग अपनी सेना की सेवा अंग्रेज़ी साम्राज्य के लिए सौंपने को सदा तैयार रहता, पर अंग्रेज़ों को

उस रूप में नेपाली सेना पर भरोसा न था। वे चाहते थे अपनी भाड़ैत भारतीय सेना में नेपाली सैनिकों को सीधे भरती कर सकें। जंगबहादुर का बड़ा बेटा जगतजंग इसके विरुद्ध था। रणोद्दीप के बाद जगतजंग की ही प्रधान मंत्री बनने की बारी थी। उत्तराधिकार के क्रम में धीरशमशेर का सबसे बड़ा बेटा छठे और दूसरा तीसरा दसवें बारहवें स्थान पर थे। वास्तविक दशा में उनकी बारी शायद कभी न आती। धीर के बेटों का स्वार्थ यों जंगबहादुर के बेटों को निपटा देने में था, और अंग्रेज़ी सरकार का सहारा पाने के लिए वे उसे नेपाल में खुली सेना-भरती करने देने को तैयार थे। इस दशा में २५-११-१८८५ की रात उन्होंने अपने चाचा रणोद्दीप की, जो उन्हें बड़े स्नेह और भरोसे से अपने पास बिठा कर बात कर रहा था, एकाएक हत्या कर डाली और उसके और जंग के बेटों का भी काम तमाम कर दिया। धीर का बड़ा बेटा बीरशमशेर प्रधान मन्त्री बना।

रणोद्दीप की हत्या बीर के दो छोटे भाइयों खड्गशमशेर और चन्द्र-शमशेर ने स्वयं गोली मार कर की थी। दो बरस बाद इन्होंने अपने भाई बीर को भी निपटाने का यत्न किया, पर इनका भेद खुल गया। बीर ने खड्ग को कैद में डाला और चन्द्र को सावधान कर छोड़ दिया। सन् १८८८ में बहुत से नेपाली निर्वासितों ने नेपाल तराई पर चढ़ाई की। उन्होंने कहा हम राजा को कैद से छुड़ा कर राणाशाही वाली सनद रद्द करायेंगे। पर उन्हें हार कर लौटना पड़ा।

इसके बाद १६०० ई० तक बीरशमशेर ने निर्विघ्न शासन किया। उसकी मृत्यु पर उसका भाई देवशमशेर प्रधान मन्त्री बना। देव के विचार प्रगतिशील थे। वह नेपाल में प्रजा-प्रतिनिधियों की शासन-परिषद् स्थापित करने की बात भी करता था। वह कुछ ही मास शासन कर पाया था कि उसके सगे भाई चन्द्रशमशेर ने एक दिन उसे धोखे से पकड़ कर कैद कर लिया, और स्वयं प्रधान मन्त्री बन बैठा।

जंगबहादुर ने अंग्रेजी साम्राज्य के सहारे छल और हत्या से शासन हथियाने का जो नमूना चलाया था, उसके वंश के लोगों का आपसी बर्ताव भी

उसके साँचे में ढले बिना नहीं रह सकता था। और रणोद्दीप के तजरबे के बाद चूँकि उस पद्धति में प्रत्येक प्रधान मन्त्री को भी डर रहने लगा कि किसी भी दिन एकाएक मैं अपने सर्वस्व से हाथ धो सकता हूँ, इसलिए वह अपने शासन-काल में अधिक से अधिक धन प्रजा से चूस कर नेपाल के बाहर जमा करने और अंग्रेज़ी सरकार को प्रसन्न रखने के लिए अधिक से अधिक तत्पर रहने लगा।

§ १२. **सीमान्तों पर अग्रसर नीति का नया दौर**—सन् १८८५ में रूसी खतरे के नाम पर जो अतिरिक्त सेना खड़ी की गई उसे स्थायी कर के आगे बीस बरस तक भारत-सरकार ने सीमान्तों पर अग्रसर नीति जारी रक्खी। डफरिन के शासन-काल में सिन्ध-काँठे का रेल-पथ तैयार हुआ, अफगान कबीलों और चितराल के मामलों में दखल दिया जाने लगा, और गिलगित ले लेने की योजना बनी। बरमा के जीते जाने से लुशाई-चिन प्रदेश चारों तरफ से घिर गये।

लैन्सडौन के शासन-काल में अफगान कबीलों के झगड़ों से लाभ उठा कर झोब प्रदेश अंग्रेज़ी संरक्षण में लिया गया, मणिपुर और लुशाई के विद्रोह दबा कर लुशाइयों को निःशस्त्र किया गया, चितराल ने अपनी विदेश-नीति और सीमाओं की रक्षा भारत सरकार को सौंप दी, गिलगित में अंग्रेज़ अफसर बिठाया गया, तथा गिलगित के उत्तर तरफ हुञ्जा और नगर पर चढ़ाई कर उन्हें भी अधीन किया गया। इसी काल रूसी पामीर जीतने लगे, इसलिए पामीर के सीमा-निर्णय के लिए मिश्रित आयोग बैठाया गया। इस बीच सरहदी रेलपथ दर्रा बोलान के पार कोइटा और चमन तक, जो अफगानिस्तान की ज़मीन में था, पहुँच गया। तभी भारत सरकार ने चीन तिब्बत और अफगानिस्तान से सीमा-निर्णय किया। चीन के सीमा-निर्णय से कचीन प्रदेश और शान रियासतें अंग्रेजों की रक्षित हो गईं और तिब्बत के सीमा-निर्णय से सिकिम पूरी तरह अंग्रेज़ी आधिपत्य में आ गया। अमीर अब्दुर्रहमान ने मोहमन्द अफरीदी वज़ीरी और झोब इलाकों और चमन पर, जो सब पठान प्रदेश हैं, आधिपत्य छोड़ दिया, तथा चितराल दीर बाजौर और स्वात में

दखल न देना स्वीकार किया। उसने कहा, "ब्रितानिया अफगानिस्तान का कोई टुकड़ा चाहता नहीं, तो भी उड़ाने का कोई मौका चूकता नहीं; रूस की बनिस्बत इस दोस्त ने ज़्यादा ले लिया है।" उसने यह भी कहा कि कबीलों के इलाकों में युद्ध हुए बिना न रहेगा।

यह भविष्यवाणी लैन्सडौन के उत्तराधिकारी एल्गिन के शासन-काल में ही पूरी हो गई। सन् १८९५ के शुरू में चितराल में विद्रोह हुआ। गिलगित से एक अंग्रेजी टुकड़ी वहाँ भेजी गई, पर वह भी घेर ली गई। तब मलाकन्द और गिलगित से दो बड़ी फौजें भेज कर चितराल फिर जीता गया। इसी वर्ष अंग्रेजों ने कुर्रम नदी की दक्खिनी शाखा टोची की दून पर भी कब्जा कर लिया और चितराल में छावनी रखना तथा वहाँ तक सड़क और थाने बनाना तय किया। इससे सन् १८९७ में टोची से स्वात तक समूचा सीमान्त भड़क उठा। मलाकन्द से एक अंग्रेज सेनापति स्वातियों के खिलाफ तथा पेशावर से दूसरा अफरीदी-तीराह में घुसा। सन् १८५७ के बाद से भारत में यही सबसे कठिन युद्ध हुआ। तीराह की चढ़ाई से अफरीदी दबे नहीं, और उन्होंने फिर दिखा दिया कि पठान अपने इलाके में विदेशी सेना को देख नहीं सकते। इसीलिए एल्गिन के उत्तराधिकारी कर्ज़न ने खैबर कुर्रम और वज़ीरिस्तान से धीरे धीरे सेना लौटा ली और वहाँ स्थानीय लश्कर खड़े किये। १९०१ ई० में कर्ज़न ने उत्तरपच्छिमी इलाकों को पंजाब से अलग कर सीमाप्रान्त बना दिया, पर कोइटा से झोब तक के पठान प्रदेश उससे भी अलग कर तथाकथित बलोचिस्तान में रक्खे। १९०१ में ही अमीर अब्दुर्रहमान चल बसा और उसका बेटा हबीबुल्ला गद्दीनशीन हुआ।

§१३. टकसालों का बन्द किया जाना और विनिमय का नियन्त्रण—हमने देखा है कि वाइसराय नौर्थब्रुक के इस्तीफा देने का एक कारण यह भी था कि वह विलायती कपड़े पर से चुंगी हटाने को अन्याय समझता था। लिटन आते ही उस चुंगी को हटा देता, पर तभी चाँदी का भाव गिरने तथा मद्रास में घोर दुर्भिक्ष होने से भारत सरकार की आय बहुत गिर गई जिससे उसे रुकना पड़ा। तब भारत-सचिव ने उसे लिखा कि भारत में "पाँच और

मिलें काम जारी करने वाली हैं"—मानो कोई बड़ा अनर्थ होने वाला है—और सन् १८७६ में, जब आंग्ल-अफगान युद्ध जारी था, और दक्खिन में सन् १८७७ तथा उत्तर भारत में सन् १८७८ के दुर्भिक्षों के प्रभाव बाकी थे, लिटन ने ३० नंबर तक के कपड़े पर से चुंगी हटा कर भारतीय आय का वह स्रोत सुखा दिया। सन् १८८२ में रिपन ने नमक और शराब को छोड़ सब चीज़ों का आयात बिना चुंगी के कर दिया। डफरिन और लैन्सडौन के शासन में सामरिक खर्च की बढ़ती के कारण १८६४ में फिर सब आयात पर ५% चुंगी लगाई गई, पर साथ ही भारतीय मिलों के २० नंबर से ऊपर के कपड़े पर भी उतनी ही चुंगी बैठा दी गई। लंकाशायर के व्यवसायी इतने से सन्तुष्ट न हुए; इसलिए १८६६ में विदेशी और भारतीय बारीक और मोटे सभी कपड़े पर ३½% चुंगी कर दी गई।

एक तरफ आय के इस स्रोत का बलिदान किया जाता था, तो दूसरी तरफ अंग्रेज़ी साम्राज्य-लोलुपता के युद्धों का बोझ भारत पर पड़ता था। आंग्ल-अफगान-युद्ध के खर्च का ¼ तथा मिस्र-युद्ध के खर्च का ⅓ से कम ब्रितानिया ने दिया; बाकी सब भारत पर पड़ा।

इस बीच दुनिया में चाँदी की उपज अधिक होने से सन् १८७० से रुपये का भाव गिरने लगा था। उससे पहले १६वीं शताब्दी में रुपये का भाव बराबर दो शिलिंग था। रुपया सस्ता होने से उपज के दाम बढ़े और भारत के व्यापार-व्यवसायों को कुछ स्फूर्ति मिली। बन्दोबस्त-अफसरों ने उसी हिसाब से मालगुज़ारी बढ़ा दी, इसलिए सरकारी आय में कुछ फरक नहीं पड़ा। भारत को चाँदी की मन्दी से कोई कष्ट न होता, उलटा लाभ ही था। परन्तु भारत ब्रितानिया को हर साल जो खिराज देता था, उसका हिसाब ब्रितानिया चाँदी में गिनने को तैयार न था, वह उसे सोने के हिसाब से ही लेता रहा। इससे कठिनाई बढ़ी।

इस दशा में सन् १८७८ में लिटन ने प्रस्ताव किया कि रुपये का टकसालना परिमित कर, उसका दाम बढ़ाया जाय। यदि जनता को अपनी चाँदी टकसालों में ले जा कर मनचाही मात्रा में रुपये बनवाने का अधिकार रहता तो चाँदी और रुपये के दाम एक ही सतह पर रहते। किन्तु यदि जनता के

लिए टकसालें बन्द कर दी जायँ तो कम-ज़्यादा संख्या में रुपया बना कर सरकार रुपये का दाम ज़्यादा या कम कर सकती थी। लिटन इसी ढंग से रुपये का दाम बढ़ाना चाहता था। लेकिन रुपया सस्ता होने पर जो टैक्स बढ़ाये गये थे, वे रुपये को मँहगा करके फिर घटाये न जाते। यों लिटन का उद्देश था जनता से धोखे से अधिक कर वसूल करना। ब्रितानवी सरकार ने वैसा करने की स्वीकृति न दी। डफरिन ने फौजी खर्च की खातिर भारत का कर्ज़ बढ़ाया, जिससे विनिमय की दर भारत के खिलाफ और गिरी। तब उसने फिर लिटन वाले प्रस्ताव को दोहराया, पर ब्रितानवी सरकार ने फिर स्वीकृति न दी। लैन्सडौन और एल्गिन के काल में उजाड़ू फौजी खर्च की खातिर कर्ज़ और बढ़ गया; और रुपये का भाव गिरते गिरते १३·१ पेनी पर पहुँच गया। तब सन् १८९३ से १८९९ तक भारत-सरकार ने ब्रितानवी सरकार की सहमति से टकसालें बन्द कर दीं, और "११ आने के सच्चे रुपये को १६ आने का झूठा रुपया बना कर करदाता से धोखे से ४५ फी सदी अधिक कर वसूल करना" शुरू किया। तब से रुपया सांकेतिक सिक्का रह गया। उसमें अपने मूल्य के बराबर की चाँदी न रही, और उसका मूल्य पौंड के मूल्य पर निर्भर हो गया। भारत की मुद्रा के नियन्त्रण द्वारा भारतीय जनता के समूचे आर्थिक जीवन को वश में रखने का यह नया साधन अंग्रेज़ी सरकार ने अपने हाथ में ले लिया।

अबोध जनता ने समझा, हमारी किस्मत के फेर से मन्दी आ गई है और हमें पहले जितनी ही मालगुजारी देने के लिए अधिक अनाज बेचना पड़ता है! उसे क्या मालूम था कि यह मन्दी सरकार की ही लाई हुई थी, जो इस ढंग से दस-बारह करोड़ वार्षिक का अनाज किसानों से इस कारण अधिक वसूल करने लगी थी कि उसे अब विलायत को इतना खिराज अधिक देना पड़ता था। सन् १८९७-९८ से १९०१-२ तक भारत की कुल मालगुज़ारी रुपयों में प्रायः उतनी ही रही, पर पौंडों में ६४२½ लाख से ७६३½ लाख हो गई—और ये वर्ष वे थे जब सारे देश में लोग दुर्भिक्षों से तड़प तड़प कर मर रहे थे।

रुपये का दाम बढ़ने से लाखों किसानों के कर्ज़ भी बढ़ गये—"भारत के गरीब कर्ज़दार वर्ग के गले में बँधी पत्थर की चक्की का बोझ बढ़ गया" और

"उन समृद्ध वर्गों को लाभ हुआ जो जनता की मुसीबत पर जीते हैं।" और लाभ हुआ उन अंग्रेज़ नौकरों और व्यवसायियों को जो भारत से अपनी बचत या लाभ इंग्लैंड को भेजते थे। "पर यह लाभ भारतीय करदाता के खर्च पर— भारत में हर कर्ज़ को बढ़ा कर" हुआ। भारत के गरीबों की बचत चाँदी के तुच्छ गहनों के रूप में थी। "भारत सरकार के प्रस्ताव का अर्थ (था) गरीबों की उस बचत का ⅓ ज़ब्त कर लेना। रुपये का दाम कृत्रिम रूप से बढ़ने से किसानों के चाँदी के कँगने और बाजूबन्द लागत से कम पर बिकने लगे। यों एक कलम की मार से सरकार ने गरीबों का असल धन छीन लिया, जिससे कि वह अपने कर्ज़ (खिराज) को सुविधा से चुका सके।"

करों की इस चौमुखी वृद्धि के अलावा सन् १८७५ से १९०५ तक भूमिकर में साधारणतया ५० फी सदी बढ़ती हुई, और ज़मीन के मामलों में अमलों का हस्तक्षेप कानूनों द्वारा अधिकाधिक बढ़ाया गया। सन् १८७५ में भारत-सचिव सालिस्बरी ने लिखा था, "भारत का खून चूसना यदि ज़रूरी है तो नश्तर उन अंगों पर लगाना चाहिए जहाँ खून ज़्यादा है।" लेकिन यह सलाह अमल में नहीं आई, और कर का बोझ किसानों पर ही पड़ता रहा। १९वीं सदी के अन्त में भारत के निर्यातों और आयातों का अंतर करीब दो करोड़ पौंड वार्षिक रहा। यह खिराज अनाज के रूप में ही जाता रहा। भारतीय जनता की हालत तब यह थी कि देहात में मज़दूरी की दर दो आना रोज थी और "भूखे रहना बहुत कुछ आदत बन गया था।"

§ १४. भारत द्वारा ब्रितानवी साम्राज्यवृद्धि का नया दौर— हमने देखा है कि सन् १८८२-८४ में अंग्रेज़ सूदान को जीत न पाये थे। १८९६ में सेनापति किचनर ने मिस्र से नील के काँठे में ऊपर बढ़ कर समूचे सूदान को ले लिया। सूदान के उपरले हिस्से में फशोदा पर फ्रांसीसी सेना थी; वह अंग्रेज़ी सेना को बढ़ती देख हट गई, जिससे इंग्लैंड फ्रांस का युद्ध होता होता टला। सूदान के साथ सोमाली देश भी अंग्रेज़ों ने लेना चाहा, पर वहाँ एक मुल्ला ने उनका सामना किया जो १८९९ से १९२० ई० तक लड़ता रहा। उसके मुकाबले को सिक्ख सेना वहाँ रक्खी गई।

सन् १८९४-९५ में जापान ने चीन साम्राज्य को हरा कर तैवान (फौरमोसा) द्वीप ले लिया। चीन की यह कमज़ोरी देख युरोपी राष्ट्र "चीनी तरबूज की फाँकें काटने" लगे। चीन साम्राज्य का ८० फी सदी प्रदेश उन्होंने अपने "प्रभावक्षेत्रों" में बाँट लिया (१८९९)। अंग्रेज़ों ने सबसे बड़ी फाँक ली—याङ्चे नदी का समूचा काँठा अंग्रेज़ी प्रभावक्षेत्र माना गया। अपने देश की यह लांछना देख कर चीन में एक दल खड़ा हुआ जिसने युरोपियों को मार कर चीन से निकालना अपना ध्येय बनाया। ये अपने को 'ई हो तुआन' कहते; अंग्रेज़ी में इनके नाम का अनुवाद 'बौक्सर' (घूँसेबाज़) किया जाता। इन 'घूँसेबाज़ों' से बदला चुकाने को सन् १९०० में ब्रितानिया रूस और जर्मनी की सेनाएँ एक साथ चीन पर आ चढ़ीं। ब्रितानवी सेना भारत की ही थी। चीन को हराने और अनेक बर्बर कार्य करने के बाद इन्होंने उसे एक अरब रुपया हर्जाना देने और चीन के अनेक शहरों में इन राष्ट्रों की सेना रखने को बाधित किया। हर्जाने के बदले में कई बन्दरगाहों की आय गिरवी रक्खी गई।

ईरान की खाड़ी को १८५३ में अंग्रेज़ों को सब राष्ट्रों के जहाजों के लिए खोलना पड़ा था [१०, ४।४], तो भी वे वहाँ के तुर्क अरब और ईरानी सरदारों के झगड़ों में एकमात्र मध्यस्थ होने का—अर्थात् उस खाड़ी के आधिपत्य का—दावा करते थे। १८९८ में फ्रांस ने ओमन के सुलतान से मस्कत के ५ मील दक्खिनपूरब बन्दर जिस्सा ठेके पर ले लिया। यह खबर पाते ही कर्ज़न ने कलकत्ते से बेड़ा भेजा और सुलतान के महल पर गोलाबारी की धमकी दे कर फ्रांसीसियों का ठेका रद्द करा दिया। सन् १९०० में रूस का वैसा ही प्रयत्न विफल हुआ। उसी वर्ष जर्मनी ने अपनी बर्लिन-बगदाद रेलवे योजना के लिए ईरान खाड़ी पर कोवैत के शेख से ज़मीन लेनी चाही, पर अंग्रेज़ों ने लेने न दी।

हम देख चुके हैं कि दक्खिनी अफरीका में ओलन्देजों का उपनिवेश "केप कौलोनी" नैपोलियन के काल में अंग्रेज़ों ने छीन लिया था [१०,१।१२]। वहाँ के ओलन्देज़ उपनिवेशकों ने, जो बोअर कहलाते हैं, तब उत्तर हट कर ओरांज और नाताल उपनिवेश बसाये। अंग्रेज़ों ने नाताल भी ले लिया, तब वे वाल नदी के पार जा बसे। ओरांज और त्रांसवाल पर भी अंग्रेज़ों

ने आधिपत्य कर लिया, पर भीतरी शासन में बोअरों को स्वतन्त्रता रही। सन् १८८५ में दक्खिनी त्रांसवाल में सोने की खानें निकल आईं, तब बहुत से अंग्रेज़ भी वहाँ जा बसे। १८९५ में उन अंग्रेज़ों ने षड्यंत्र कर त्रांसवाल पर कब्जा करने की कोशिश की। बोअरों ने तब युद्ध ठाना और १८९९ ई० में नाताल और केप कौलोनी पर चढ़ाई कर अंग्रेजों को खदेड़ने लगे। उस दशा में भारतीय सेना वहाँ भेजी गई, जिसने लेडीस्मिथ का गढ़ बोअरों के हाथ न जाने दिया और नाताल को बचाया। यह युद्ध सन् १९०१ तक चलता रहा। उसी बीच महारानी विक्टोरिया की मृत्यु हुई। अंत में समूचे दक्खिनी अफ़्रीका पर अंग्रेजों का आधिपत्य हो गया।

§ १५. **नव जागरण का उदय**—हमने देखा है कि भारत के लोग युरोपियों से लगातार हार कर भी जब अपनी हार के कारणों की ओर न देख दूसरी बातों में उलझे रहते, तब रघुनाथ हरि नवलकर ने यह देखा-समझा था कि ज्ञान में पिछड़ जाना हमारी हारों का मूल कारण था [९,११§५]। उसी रघुनाथ हरि की परम्परा वाले कुछ व्यक्तियों ने पहलेपहल यह भी देखा कि भारत को अंग्रेजों ने भारतीय सेना द्वारा ही वश में कर रक्खा है [१०,४ §५; १०,५§१] और उस सेना को जगा कर क्रान्ति का पहला युद्ध लड़ा। उस युद्ध में भारत की जागृति के एक और अग्रदूत शाह वलीउल्लाह के अनुयायियों ने भी खुल कर योग दिया।

अंग्रेज़ों की पहली शिक्षा-पद्धति से जिन भारतीयों की आँखें खुलीं उनमें से भी कइयों का ध्यान अपने देश की दशा की ओर गया था। राममोहन राय, बाळशास्त्री जांभेकर, गोपाल हरि देशमुख और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर इन्हीं में से थे। इन्होंने समाज-सुधार और देसी भाषाओं द्वारा ज्ञान-प्रसार को भारत को उठाने का मुख्य मार्ग माना। राममोहन और गोपाल हरि ने यह भी कहा कि इस प्रकार देश के उन्नत होने पर स्वतन्त्रता भी प्राप्त होगी, पर उसे उन्होंने दूर की वस्तु माना था। गोपाल हरि ने स्वदेशी कारबार के विकास और विदेशी-वस्तु-बहिष्कार को भी देश की उन्नति का एक उपाय बताया था।

पर अधिकतर लोगों ने अंग्रेज़ी शिक्षा निजी लाभ के लिए पाई थी।

और मैकाले की शिक्षा-पद्धति ज्यों ज्यों बढ़ती गई त्यों त्यों उस शिक्षा द्वारा जनता की भाषाओं में ज्ञान पहुँचाने की बात बिसरती गई। सन् ५७ के क्रांति-युद्ध की विफलता से देश में जो गहरी पस्तहिम्मती छा गई, उससे अंग्रेज़ी शिक्षा पाये हुए अमला-वकील-वर्ग को, जो अंग्रेज़ी राज को अटल मानता और जिसकी हैसियत उस राज के कारण ही थी, विशेष बढ़ावा मिला। उस वर्ग की कई ऐसी संस्थाएँ, जो अंग्रेज़ों से पदों और अधिकारों की भीख माँगा करती थीं, सन् ५७ से पहले ही खड़ी हो गई थीं। क्रान्तियुद्ध के विफल होने के बाद अंग्रेज़ों के इशारे पर उस वर्ग के कुछ मुसलमानों ने अपने सहधर्मियों में यह लहर चलाई कि मुसलमान अंग्रेज़ी शिक्षा पाने और अंग्रेज़ों से सहयोग करने में पिछड़े न रहें। सन् ५७ में जब समूचा रुहेलखंड अंग्रेज़ों से लड़ रहा था, तब वहीं एक सैयद अहमद अंग्रेज़ों को बचाने में लगा था। वही सैयद अहमद इस नई लहर का नेता था, और उसने सन् १८७७ में वाइसराय लिटन से जो कि तब मुस्लिम अफगानों की स्वतन्त्रता हरने के प्रयत्न में लगा था, अलीगढ़ मुस्लिम कालेज की नींव रखवाई! हमने देखा है कि वलीउल्लाहियों ने क्रान्तियुद्ध विफल होने के बाद भी अंग्रेज़ी राज से मुठभेड़ जारी रक्खी और अपना मदरसा देवबन्द में स्थापित किया था। भारतीय मुसलमानों में देवबन्द और अलीगढ़ की विचारधाराओं का संघर्ष चलता रहा। नामधारियों के उठने से भी प्रकट हुआ कि भारत के स्वाधीनतावादियों ने हार न मानी थी।

यों क्रान्तिकारी भावना १८५९-६० के बाद भी बुझी नहीं। उसे फिर से जगाने व्यापक रूप देने और साथ ही १८५७-५९ की हार के कारणों को समझ कर ठीक उपाय करने का पहला दृढ प्रयत्न काठियावाड़ (सुराष्ट्र) के दयानन्द सरस्वती (१८२४-१८८३) ने किया। दयानन्द का पहला नाम मूल-शंकर था। वह बचपन से चिन्तनशील था। १३ बरस की आयु में शिवरात्रि का जागरण करते हुए शिवलिंग पर चूहे को कूदता देख वह हिन्दू धर्म के उपस्थित रूप के बारे में सोच में पड़ गया था। उसका ध्यान अपने देश की दुर्दशा की ओर गया। उसे संस्कृत की गहरी शिक्षा मिली, पर अंग्रेज़ी से अछूता रहा। २२ वर्ष की आयु में वह घर छोड़ प्रकाश की खोज में निकल

पड़ा। कुछ काल भटकने के बाद १८४७ में उसे नर्मदा के किनारे विद्वान् महाराष्ट्र साधुओं की संगत मिली जिनमें से एक ने उसे संन्यास-दीक्षा दी। १८५५ में गढ़वाल जाने का संकल्प कर वह हरद्वार आया जहाँ एक बूढ़े संन्यासी के सामने उसने अपने प्रश्न रक्खे। तब यह तय हुआ कि वह उस संन्यासी के पंजाबी शिष्य प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्द के पास मथुरा जा कर उन प्रश्नों को सुलझायगा। विरजानन्द (१७९७–१८६८) के अनेक शिष्यों ने तीसरे आंग्ल-मराठा युद्ध में और उसके बाद व्रज और उत्तरी राजस्थान में अंग्रेज़ों से टक्कर ली थी। पर गढ़वाल से उतर कर दयानन्द मथुरा के बजाय कानपुर चला गया, और दस मास उसके आसपास घूमने के बाद मार्च १८५७ में नर्मदा प्रदेश को रवाना हुआ। अगले तीन वर्षों के अपने भ्रमण और कार्य का ब्यौरा उसने कभी किसी को नहीं दिया, पर जान पड़ता है वह १८५५ या ५६ में क्रान्ति-संघटन के सम्पर्क में आ चुका था और उसके कार्य से रामेश्वरम् तक घूमा। क्रान्तियुद्ध की समाप्ति पर अक्टूबर १८६० में वह विरजानन्द के पास मथुरा पहुँचा। अढ़ाई वर्ष तक वे गुरु-शिष्य देश की दशा पर विचार करते रहे। अन्त में १८६३ में विरजानन्द ने गुरुदक्षिणा रूप में दयानन्द से यह वचन ले कर उसे विदा किया कि वह अपना जीवन लोककल्याण के लिए लगा देगा। अगले बीस बरस वह अनथक घूमता कार्य करता रहा, और अन्त में विष दिया जा कर शहीद हुआ।



स्वामी दयानन्द

दयानन्द ने राममोहन और गोपाल हरि की तरह यह तो पहचाना ही कि भारत के पुनर्जागरण के लिए गहरे धार्मिक सामाजिक संशोधन की तथा युरोप के सब नये ज्ञान और शिल्प को अपना लेने की आवश्यकता है। धार्मिक सामाजिक संशोधन के लिए उसने गोपाल हरि को साथ ले कर 'आर्यसमाज'

की स्थापना की। इसके अतिरिक्त उसने यह भी सोचा कि भारत को अपनी भाषाओं में नये ज्ञान का विकास करने, अपने राष्ट्रीय आदर्शों के परिपालन और राष्ट्रकर्मी तैयार करने के लिए राष्ट्रीय शिक्षापद्धति खड़ी करनी होगी तथा नया विज्ञान सीखने में ब्रितानिया के उठते हुए प्रतिद्वन्द्वी जर्मनी से सहायता मिलेगी। इस दृष्टि से उसने अपने कच्छी शिष्य श्यामजी कृष्ण वर्मा को युरोप भेजा। सन् ५७ की हार से हार न मानते हुए उसने खुल कर कहा—"कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है ··· ।" उसने गोपाल हरि" के 'स्वदेशी' मन्त्र को भी दोहराया। विदेशों से सामरिक ज्ञान पाने के लिए देश में जिम्मेदार और दृढ क्रान्तिकारी संघटन खड़ा करना आवश्यक था। श्यामजी कृष्ण वर्मा तथा शायद दयानन्द के राजस्थानी शिष्य कृष्णसिंह बारहट ने सबसे पहले वैसे संघटन की नींव डाली। उनका क्षेत्र पच्छिमी भारत रहा। देश गहरा सोया हुआ और अन्ध रूढियों से ग्रस्त था, इस कारण बहुत धीरे धीरे उनका कार्य आगे बढ़ा।

बाळशास्त्री जांभेकर का शिष्य दादाभाई नवरोजी (१८२४–१९१७) दयानन्द का समवयस्क था। उसने पहलेपहल अपने देश की आर्थिक दशा और दरिद्रता के कारणों को ठीक ठीक समझ कर उनपर प्रकाश डाला। इसी काल महेन्द्रलाल सरकार ने बंगाल में भारतीय विज्ञान-परिषद् की स्थापना की (१८७६) तथा बंगाली साहित्यकार बंकिमचन्द्र चटर्जी और मराठी लेखक विष्णुशास्त्री चिपळूणकर ने भी स्वाधीनता के आदर्श की खुल कर घोषणा की। बंकिम ने लिखा—"स्वदेशरक्षा ··· समस्त जगत् के हित का उपाय है। परस्पर के आक्रमण से सबके ··· अधःपतित होने पर कोई परस्वलोलुप पापिष्ठ जाति अधिकार हथिया ले तो पृथ्वी से धर्म और उन्नति लुप्त हो जायेंगे।" चिपळूणकर ने लिखा—"हमारी प्रस्तुत गरीबी का मुख्य कारण ··· विदेशी राज है ···। अंग्रेज़ों के मालिक बन बैठने से पहले यह देश सम्पन्न था और मुसलमानों का प्रशासन, जिसे जुल्मी कहा जाता है, आज के सुधरे प्रशासन से सौ गुना अच्छा था।" बंकिम ने वारन हेस्टिंग्स के काल के बंगाल में छापामार लड़ाई लड़ने वाले संन्यासियों के चरित से

कहानी बना कर आनन्दमठ नाम से स्वतन्त्रता के योद्धाओं का आदर्श अंकित किया (१८८२)। उस मठ के साधुओं से उसने काली-वन्दना के बहाने मातृभूमि की वन्दना 'वन्दे मातरम्' गीत से कराई। बंकिम की चलाई लहर की हलकी प्रतिध्वनि अन्य भारतीय भाषाओं में भी हुई। बंकिम के साथी प्रमथनाथ मित्र ने बंगाल में पहलेपहल क्रांति-टोलियों की नींव डाली।



बंकिमचन्द्र
(१८३८–१८९४ ई०)

संन्यासी सुधारकों और साहित्यिकों की चलाई यह लहर सन् ५७ का सा विस्फोट फिर न पैदा कर दे, ऐसी आशंका अंग्रेज़ शासकों को हुई। उन्होंने सोचा भारत की राजनीतिक आकांक्षाएँ प्रकट करने का नेतृत्व अंग्रेज़ों पर निर्भर अंग्रेज़ी बोलने वाले वकील वर्ग के हाथ में रहे तो इस लहर का बल टूटता रहेगा। इस दृष्टि से वाइसराय डफरिन की प्रेरणा से इटावे के भूतपूर्व कलक्टर ह्यूम ने, जो सन् ५७ में वहाँ से ओढ़नी ओढ़ कर बच निकला था, दिसम्बर १८८५ में "इंडियन नेशनल कांग्रेस" की स्थापना कराई। ह्यूम का कहना था कि "ब्रितानवी साम्राज्य को भविष्य में अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए" कांग्रेस जैसी संस्था की, जो भारतीय जनता में "बढ़ती हुई (साम्राज्यविरोधी) शक्तियों को निकाल देने के लिए सुरक्षा-कपाटी का काम करे, उस काल बड़ी आवश्यकता थी," अन्यथा "भयानक क्रांति का खतरा था।" बकौल डफरिन कांग्रेस के इन "भारतीय नेताओं के सामने यही आदर्श था कि भारत की विदेशी हमलों से ··· रक्षा ब्रितानवी सेना ही करती रहे; पर भीतरी मामलों का प्रबन्ध उन्हें गोरों की दस्तन्दाजी के बिना सौंप दिया जाय।" उनका "अग्रगामी पक्ष भी अधिक से अधिक प्रांतीय कौंसिलों का सुधार ही माँगता था।"

पर इसके साथ स्वाधीन राष्ट्रवाद की लहर भी चलती रही। श्यामजी कृष्ण वर्मा के अतिरिक्त चिपळूणकर के साथी बाल गंगाधर टिळक और

बंगाली संन्यासी विवेकानन्द (१८६३–१९०२) ने १८८५ के बाद उसे जारी रक्खा।†

मैकाले शिक्षापद्धति में अंग्रेज़ी साहित्य और कानून की शिक्षा का जितना महत्त्व था, स्वाधीन राष्ट्रवाद की लहर में नये विज्ञान के उपार्जन और उसे अपनी भाषाओं में दर्ज करने पर उतना ही बल दिया जाता था। इस प्रेरणा से अनेक भारतीयों ने नये विज्ञानों का उपार्जन किया और उस क्षेत्र में स्वतंत्र चिन्तन की ऊँची योग्यता दिखाई। १८९०–९५ के बीच इन विद्वानों के ज्ञान और चिंतन के पहले फल मराठी बँगला और हिन्दी में प्रकट हुए, जिनमें इतिहास के क्षेत्र में शंकर बालकृष्ण दीक्षित, हरप्रसाद शास्त्री और गौरीशंकर ओझा की कृतियाँ मार्के की थीं। सबसे बढ़ कर, इसी प्रसंग में नवम्बर १८९४ में जगदीशचन्द्र वसु ने संसार भर में पहलेपहल बिना तार के बिजली की लहर चला दिखाई। वह महान् आविष्कार था। भारत के लोग अपने पराभव के स्पष्ट कारणों को भी न देखते और उन्हें दूर करने के उपाय न करते थे, इससे युरोपियों ने यह परिणाम निकाला था कि भारतीय अपनी आँखों के सामने की वस्तुस्थिति को नहीं देख सकते, केवल दार्शनिक कल्पनाएँ कर सकते हैं। १८९४-९५ की इन वैज्ञानिक कृतियों से इस कल्पना की गलती पहलेपहल प्रकट हुई।

सन् १८९६-९७ में भारत में व्यापक दुर्भिक्ष फैला, जिसमें करीब १० लाख आदमी मरे। उस दुर्भिक्ष के बीच भी सीमान्त का खर्चीला युद्ध चलता रहा, और १४ करोड़ रुपये का अनाज इंग्लिस्तान गया। उसी साल मुम्बई में पहलेपहल प्लेग आई। जनता में घोर असंतोष था और वह अंग्रेज़ी शासन को ही अपने इन कष्टों का कारण अनुभव करने लगी थी। सरकारी अफसरों ने प्लेग के कारण लोगों के रहनसहन में दस्तन्दाजी की तो लोग और भी खीझे, और पूने में दो अंग्रेज मारे गये। तब सरकार ने दमन शुरू किया; टिळक को डेढ़ साल की कैद दी गई। श्यामजी को भारत छोड़ भागना पड़ा।

† देखिए परिशिष्ट ८।

सन् १६०० में दयानन्द के शिष्य मुंशीराम (१८५७–१६२६) ने राष्ट्रीय शिक्षा की नींव डालने के लिए पंजाब में एक 'गुरुकुल' की स्थापना की। दो बरस बाद वे इस संस्था को हरद्वार के पास कांगड़ी गाँव में ले आये। जैसा कि कहा जा चुका है [१०, ६§११] सन् १८५४ से भारतीय व्यवसायी नये कल-कारखाने भी स्थापित करने लगे थे।

§ १६. विधान-समिति तथा पंजाब भूमि हस्तान्तरण कानून—सन् १८६२ में अंग्रेज़ी पार्लिमेंट ने भारतीय विधानसमिति कानून (इंडियन कौंसिल्स ऐक्ट) बनाया। उसके अनुसार बड़े प्रान्तों की विधानसमितिओं में सदस्यों की संख्या बढ़ा कर २०-२१ कर दी गई, और उनमें आधे गैर-सरकारी सदस्य नगर-सभाओं ज़िला-सभाओं आदि की सिफारिश पर नामज़द किये जाने लगे। केन्द्रीय कौंसिल के १० गैर-सरकारी सदस्यों में से ४ प्रान्तीय कौंसिलों से चुन कर आने लगे। बहुपक्ष सब जगह सरकारी सदस्यों का ही रहा। पहले जब कोई नया कर लगाना हो तभी अर्थसचिव कौंसिल में प्रस्ताव लाता था। अब से आय-व्यय की वार्षिक कूत (बजट) पेश होने लगी, पर सदस्य उसपर विचार ही प्रकट कर सकते थे, उनके मत न लिये जाते थे। सदस्यों को प्रश्न पूछने का अधिकार भी दिया गया।

सन् १६०० में पंजाब भूमि हस्तान्तरण कानून बनाया गया। उसका प्रकट उद्देश यह था कि किसानों की ज़मीनें गैर-किसान महाजनों के हाथ न जाँय। पर उसमें किसान की परिभाषा यह न थी कि जो खेती करे, प्रत्युत किसान जातें कबीले और फिरके गिना दिये गये थे, और वह भी इस प्रकार कि प्रायः सभी मुसलमान और ईसाई 'किसान' थे, पर खेत-मजदूरी करने वाले हिन्दू अछूत भी 'किसान' न थे। यों जिस जात-पाँत को भारतीय सुधारक अपने समाज से निकालना चाहते थे, अंग्रेज़ों ने उसे आर्थिक जीवन में भी गाड़ दिया। मुसलमानों में जो अंग्रेज़ों पर आश्रित ज़मींदार-अमला-वकील वर्ग था, वह इस कानून से 'किसान' बना रहा। यों इस कानून का स्पष्ट परिणाम यह होने को था कि मुस्लिम किसानों को हिन्दू महाजनों से ऋण न मिले, ऋणदाताओं की संख्या घट जाने से उन्हें ऋण मँहगा मिले, और उनकी ज़मीनें मुस्लिम ज़मीं-

दार-अमला-वकील वर्ग के हाथ तेजी से जाती जायँ। सन् १८५७ के बाद से अंग्रेज़ों की भाड़ैत सेना की भरती मुख्यतः पंजाबी किसानों में से होती थी। वे किसान एक ऐसे वर्ग के वश में रहें जो अंग्रेज़ों की कृपा से ही पनपे, यह इस कानून का असल उद्देश था।

परिशिष्ट ६

जगदीशचन्द्र वसु और बेतार की बिजली

आज के सभ्य जगत् के दैनिक जीवन में बिना तार के चलने वाली बिजली का बड़ा महत्त्व है। उसके आविष्कार की कहानी संक्षेप में यों है।

सन् १८६४ में अंग्रेज़ गणितज्ञ क्लार्क मैक्सवेल ने हिसाब लगा कर बताया कि बिजली की भी लहरें होती होंगी, जो प्रकाश की लहरों की तरह आकाश (ईथर) में हो कर चलती होंगी। उसके बाद १८८७ में जर्मन वैज्ञानिक हेर्त्ज़ ने एक यन्त्र बना कर उससे बिजली की लहरें उठा कर दिखा दीं। वे लम्बी लहरें थीं, जिन्हें एक छोर से उठा कर दूसरे छोर पर पकड़ना सुगम न था, तो भी हेर्त्ज़ के आविष्कार ने दुनियाँ में हलचल मचा दी। (हेर्त्ज़ के काम को जगदीशचन्द्र वसु ने आगे बढ़ाया और अपने यन्त्र से बहुत छोटी तरंगें उठाईं जिनकी लम्बाई $\frac{1}{6}$ इंच थी।)

जब यह सिद्ध हो गया कि बिजली की लम्बी छोटी तरंगें होती हैं जो आकाश में चलती हैं तब यह सोचा जाने लगा कि उन तरंगों को यदि पकड़ा जा सके तो उनके द्वारा धातु के तार के बिना भी सन्देश भेजे जा सकेंगे। यह काम भी पहलेपहल जगदीशचन्द्र ने किया। सीसे की कच्ची धात के टुकड़े पर तार लगा कर उससे उन्होंने अपने यन्त्र से आकाश द्वारा भेजी बिजली-तरंग पकड़ी। पकड़ने वाले यन्त्र को उन्होंने कृत्रिम चक्षु कहा, क्योंकि चक्षु जैसे प्रकाश-तरंग को पकड़ती है वैसे यह बिजली-तरंग को पकड़ता था। नवंबर १८६४ में उन्होंने प्रेसिडेंसी कालेज कलकत्ते के प्रांगण में यह परीक्षण कर दिखाया। अपने साथी अध्यापक प्रफुल्लचन्द्र राय के कमरे से बिजली-तरंग

उठाई। उस कमरे का दरवाजा बन्द रक्खा, उसपर जगदीश के पुराने अध्यापक फादर लाफों पहरा देते रहे। आगे अध्यापक पेडलर के कमरे में एक पिस्तौल भरा रक्खा था। प्रफुल्लचन्द्र के कमरे से उठाई गई बिजली की लहर ने उस पिस्तौल को चला दिया।

तभी रूसी वैज्ञानिक पोपोव और इतालवी मार्कोनी भी ऐसे परीक्षणों में लगे थे। पोपोव ने कहते हैं ७ मई १८९५ को रूसी वैज्ञानिकों की एक सभा में अपने यन्त्र से विना तार के बिजली का सन्देश भेज दिखाया। मार्कोनी १८९५ की गर्मियों में पहलेपहल वैसा कर सके। जगदीशचन्द्र भी उस वर्ष अपने यंत्र से बराबर बिना तार के बिजली-सन्देश भेज कर दिखाते रहे। उनका यंत्र और सब यंत्रों से अच्छा था यह बात उस वर्ष (१८९५) इंग्लैंड की वैज्ञानिक पत्रिका 'इलेक्ट्रीशियन' में कही गई थी। उसी वर्ष ब्रितानवी जंगी बेड़े के प्रधान सेनापति सर हेन्री जैक्सन ने उस यंत्र को अपने बेड़े में लगवा लिया था। ५-२-१८९७ को वैज्ञानिक पत्रिका 'इलेक्ट्रिक इंजीनियर' में छपा था—"वसु की विद्युत्-तरंग पकड़ने के यंत्र की युक्ति तथा सब यंत्रों में उसका शीर्ष स्थान होना ... अत्यन्त चामत्कारिक है। आश्चर्य है कि इस यंत्र के निर्माण-कौशल को उन्होंने कभी छिपाया नहीं, पृथ्वी के लोगों को उससे काम लेने और आमदनी करने में कोई बाधा नहीं है।" पर मार्कोनी ने अपनी ईजाद १८९६ में इंग्लैंड जा कर "पेटंट" करा ली, अर्थात् उसपर अपना स्वत्व सरकारी दफ्तर में दर्ज करवा लिया, और उस स्वत्व को एक अंग्रेज़ कम्पनी को कुछ शर्तों पर दे दिया, जिसने इससे करोड़ों रुपये पैदा किये। गुलाम भारत अपने वैज्ञानिक के आविष्कार से कोई लाभ न उठा सका।



जगदीशचन्द्र वसु
(१८५८–१९३७)
[वसु विज्ञानमन्दिर कलकत्ता, श्री आत्माराम कानोडिया के सौजन्य से]

वसु ने अपने आविष्कार का विवरण पहले बँगला में लिखा था। बाद

में यह प्रश्न उठने पर कि बेतार बिजली का पहला आविष्कारक कौन है, उन्हें युरोप जा कर अपने लेख का अनुवाद देना पड़ा। उस बारे में सन् १६२१ में उन्होंने लिखा —" ... इस विषय की अदालत विदेश में है। वहाँ वाद-प्रतिवाद केवल युरोपी भाषा में ही गृहीत हो पाता है। (हमारे) राष्ट्रीय जीवन के लिए इससे बढ़ कर क्या अपमान हो सकता है ?" †

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. सन् १८५७ के तजरबे से भारत के अंग्रेज शासकों ने अपनी शासननीति में क्या परिवर्त्तन किये ?

२. अंग्रेजों के किये जमीन-बन्दोबस्त से भारतीय किसान अपने स्वत्वों से कैसे वञ्चित हुए ? उन्हें उनके स्वत्व वापिस दिलाने के लिए १९वीं शताब्दी उत्तरार्ध में कब क्या यत्न किये गये ? फल क्या हुआ ?

३. वलीउल्लाही कौन थे ? १९वीं शताब्दी में उनके कार्यों का परिचय दीजिए।

४. उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्ध में अंग्रेज पूँजीपतियों ने भारत का विदोहन (एक्स्प्लौयटेशन) कैसे किया ? उसका विवरण दीजिए।

५. विक्टोरिया युग में भारत के साधनों द्वारा ब्रितानवी साम्राज्य की वृद्धि कैसे हुई ? विवरण दीजिए।

६. दूसरा आंग्ल-अफगान युद्ध किन दशाओं में हुआ ? उसका परिणाम क्या हुआ ?

७. मिस्र अंग्रेजों के नियन्त्रण में कब कैसे आया ?

८. भारत की टकसालें किन दशाओं में क्यों जनता के लिए बन्द की गईं ? उस बन्दिश का परिणाम क्या हुआ ?

९. नेपाल में राणाशाही का विकास कैसे हुआ ? उससे नेपाली जनता के जीवन पर क्या प्रभाव हुआ ? और अंग्रेजी साम्राज्य को क्या लाभ हुआ ?

१०. सन् १८९७ का उत्तरपच्छिमी सीमान्त का युद्ध किन दशाओं में कैसे हुआ ? उसका परिणाम ?

११. सन् १८५७ के बाद भारत में स्वाधीन राष्ट्रवाद की लहर फिर कब कैसे चली ? उसमें और इंडियन नैशनल कांग्रेस की लहर में क्या अन्तर था ?

१२. बिना तार के बिजली-सन्देश भेजने का आविष्कार किन दशाओं में कब कैसे हुआ ?

---

† चारुचन्द्र भट्टाचार्य (१९४३)—जगदीशचन्द्रेर आविष्कार।

१३. सन् १६०० के पंजाब भूमि हस्तान्तरण कानून का स्वरूप और अभिप्राय स्पष्ट कीजिए।

१४. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए (१) गुरु रामसिंह (२) सर सैयद अहमद खाँ (३) न्यूजीलैंड में अंग्रेजी उपनिवेश स्थापित होना (४) सिंगापुर पर अंग्रेजी आधिपत्य-स्थापना (५) दूसरा अफीम युद्ध (६) "वहाबी" (७) "चीनी तरबूज की फाँकें काटना" (८) श्यामजी कृष्ण वर्मा (६) आनन्दमठ।

अध्याय ८

क्रान्तिकारी दलों का उदय

(१६०१–१६२० ई०)

§ १. **क्रान्ति-टोलियों की नींव पड़ना**—हमने देखा है कि १६वीं शताब्दी के अन्तिम अंश में स्वाधीन राष्ट्रवादी विभिन्न प्रान्तों में क्रान्तिकारी टोलियाँ संघटित करने लगे थे। पच्छिमी भारत में श्यामजी कृष्ण वर्मा ने उनका बीज बोया था। महाराष्ट्र राजस्थान पंजाब आदि में एक अभिनव-भारत-समिति की अनेक शाखाएँ स्थापित हुईं। बंगाल में प्रमथ मित्र ने संघटन आरम्भ किया था। १६०० ई० के बाद वहाँ सखाराम गणेश देउस्कर (१८६६–१६१२) और वारीन्द्र घोष ने भी उसे बढ़ाया। देउस्कर महाराष्ट्र थे, पर बँगला में लिखते थे। वारीन्द्र पहले बड़ोदे में थे। पंजाब में तभी स्वामी रामतीर्थ के साथियों शिष्यों ने भी वैसे संघटन में भाग लिया। श्यामजी ने युरोप जा कर पहले लन्दन से फिर पैरिस से अपने विचारों और संघटन को फैलाना जारी रक्खा। उन्हें वहाँ काठियावाड के सरदारसिंह राणा और मुम्बई की श्रीमती कामा का सहयोग मिला। इन्होंने विदेशी क्रान्तिकारियों से भी सम्पर्क बनाये। श्यामजी से छात्रवृत्तियाँ पा कर नासिक के विनायक सावरकर और दिल्ली के हरदयाल युरोप गये। हरदयाल के लौटने पर पंजाब का संघटन और बढ़ा।

§ २. **फारिस-खाड़ी और तिब्बत पर चढ़ाई**—साम्राज्य-लिप्सा की जो नई लहर ब्रितानिया में सन् १८७६ से उठी थी, उसका वेग १६०५ तक बना रहा। सन् १६०३ में वाइसराय कर्ज़न खुद फारिस-खाड़ी में गया और वहाँ

के मुख्य शहरों में अंग्रेज़ 'व्यापार-दूत' स्थापित किये। ईरान की भूमि में मिट्टी के तेल का पता मिला था। उसे निकालने का एकाधिकार अंग्रेज़ों ने ले लिया।

चीन के बोदे साम्राज्य का तिब्बत पर अधिकार ढीलाढाला था। पच्छिमी तिब्बत में सोने की खानें हैं। १६०३ में कर्ज़न ने कर्नल यंगहस्बैंड के अधीन एक सेना उत्तरी बंगाल से तिब्बत की चढ़ाई के लिए भेजी, जो तिब्बत के धनी मन्दिरों को लूटती हुई ३-८-१६०४ को ल्हासा जा पहुँची। तिब्बत का शासक दलाई लामा वहाँ से भाग गया था। उसके प्रतिनिधि ने सन्धि करके तिब्बत की विदेशी नीति अंग्रेज़ों को सौंप दी। ग्यांचे में अंग्रेज़ "व्यापार-दूत" और यातुङ् और गारतोक में व्यापार-निरीक्षक रखना भी स्वीकार किया।

§ ३. **वंग-भंग**—पुरातत्त्व-विभाग की स्थापना कर्ज़न का एक अच्छा कार्य था, अन्यथा "इस छोकरे से राजनीतिचारी" की याद उसके दमन के कार्यों और इतराये दिमाग के भाषणों से की जाती है। सन् १६०४ में उसने युनिवर्सिटियों पर सरकारी नियन्त्रण बढ़ाने को एक कानून जारी किया और फिर बंगालियों की जागती हुई राष्ट्रीयता को दबाने के लिए अक्तूबर १६०५ में बंगाल को तोड़ कर पूरबी बंगाल और असम का एक तथा पच्छिमी बंगाल और बिहार का दूसरा प्रान्त बना दिया, जिससे बँगला-भाषी क्षेत्र दो टुकड़े हो गया।

§ ४. **स्वदेशी आन्दोलन**—इसके जवाब में स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार और अंग्रेज़ी माल के बहिष्कार का आन्दोलन बंगाल में शुरू हो कर सारे भारत में फैल गया। बहिष्कार आन्दोलन के संचालक 'गरम दल' के कहलाते और उनके मुकाबले में कांग्रेस के नेता 'नरम दल' के। टिळक, अरविन्द घोष विपिनचन्द्र पाल आदि गरम दल के अगुआ थे। उनके अन्दोलन से स्वाधीनतावादी संघटन को पुष्टि मिली। स्वदेशी व्यवसायों राष्ट्रीय शिक्षणालयों और क्रान्तिकारी टोलियों की स्थापना और विस्तार उस संघटन के मुख्य रूप थे। इस लहर को विश्व-परिस्थिति ने भी पनपाया।

सन् १६०४ में रूस और जापान का युद्ध हुआ जिसमें जापान ने रूस को पछाड़ दिया। युरोप की विश्व-प्रभुता के विचार को इससे ज़ोर का धक्का लगा। १८६६ तक जापान भी एशिया के दूसरे राष्ट्रों की तरह था। तब से

1039

उसने युरोप के विज्ञान शिल्प और आर्थिक राजनीतिक संघटन को समझ कर अपनाना आरम्भ किया था। जापान की इस जीत से एशिया के देशों में बिजली की लहर सी दौड़ गई।

हरद्वार गुरुकुल में अब आधुनिक विज्ञान की शिक्षा भी हिन्दी में दी जाने लगी। उसकी देखादेखी बंगाल में भी "जातीय शिक्षा परिषद्" स्थापित हुई, जिसका जादवपुर (कलकत्ता) में स्थापित किया शिल्प और इंजिनीयरिंग विद्यालय हमारे देश में उस प्रकार की श्रेष्ठ संस्था रही है। १९०६ में वारीन्द्र ने विवेकानन्द के भाई भूपेन्द्रनाथ दत्त से मिल कर 'युगान्तर' पत्र जारी किया जो खुल कर स्वाधीन राष्ट्रवाद का प्रचार करने लगा। ढाके और कलकत्ते में अनुशीलन समितियाँ स्थापित हुईं (१९०६)। अगले दो बरस में ढाका समिति की ५०० शाखाएँ बंगाल और उत्तर भारत में खड़ी हो गईं। इन समितियों में युवक व्यायाम और स्वाध्याय के लिए जुटते थे। पुलिनबिहारी दास ढाका अनुशीलन समिति के मुख्य संचालक थे। इस लहर की जड़ में यह विचार था कि "हमें पूर्ण स्वाधीनता चाहिए ... फिरंगी की कृपा से मिले अधिकारों पर हम थूकेंगे ; हम अपनी मुक्ति स्वयं पायेंगे।" युरोप में श्यामजी और उनके साथियों ने इसका विशेष यत्न किया कि भारत के योग्य युवकों को समर-विज्ञान की ऊँची शिक्षा मिल सके।

कला वाङ्मय और विज्ञान में भी इस जागृति ने मौलिक कृतियों को उत्पन्न किया। उन्नीसवीं शताब्दी में पहाड़ी कलम [६,११ § ७] का अन्त होने के बाद से भारतीय कलाकारों की प्रतिभा पाश्चात्य शैली के सामने पराभूत सी रही थी। रविवर्मा नामक केरल चित्रकार ने पच्छिमी शैली में भारतीय कल्पनाओं को प्रकट करना चाहा, पर उनकी रचनाएँ भद्दी हुई थीं। सन् १९०३-४ में अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने नई चित्रण-शैली का विकास किया जो विदेशी शैलियों की अनेक बातें अपना लेने पर भी पूरी तरह भारतीय रही। रविवर्मा के 'शिव' और अवनीन्द्र के शिष्य नन्दलाल वसु के 'शिव' की तुलना से उन्नीसवीं शताब्दी के पिछले अंश और सन् १९०५–८ की भारतीय मनोवृत्तियों का अन्तर मानो आँखों के सामने आ जाता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के

बँगला और सुब्रह्मण्य भारती के तमिळ गीतों में उसी नई लहर की गूँज थी। भारती ने गाया—हम नाचेंगे, हम गायेंगे, हम आज स्वतन्त्र हैं। टिळक की वाणी मराठी वाङ्मय में जो नई जान फूँक रही थी, उसकी प्रतिध्वनि भारत की अन्य भाषाओं में भी सुनाई देती। विश्वनाथ काशीनाथ राजवाडे (१८६४–१९२६) और गोविन्द सखाराम सरदेसाई (१८६५–) की मराठा इतिहास-कृतियों के पहले अंश १८९७–१९०२ के बीच प्रकट होने लगे थे। बीसवीं शताब्दी की पहली चौथाई में उनकी परम्परा जारी रही। इन दो ऐतिहासिकों ने इतिहास का गहरा मनन करके स्पष्ट किया कि युरोपियों के मुकाबले में मराठों और अन्य भारतीयों के लगातार हारने के मूल कारण क्या थे। जगदीशचन्द्र वसु और प्रफुल्लचन्द्र राय (१८६१–१९४४) ने १८ सौ नब्बेओं में जो मौलिक वैज्ञानिक खोज आरम्भ की थी उसे स्वदेशी आन्दोलन के वातावरण से पुष्टि मिली। जगदीशचन्द्र ने विद्युत्-तरंगों-विषयक खोज को आगे बढ़ाने के साधन अपने पास न देखते हुए वनस्पति के जीवन पर ध्यान दिया और उस क्षेत्र में भी वैसी ही गहरी खोजें कीं। प्रफुल्लचन्द्र ने प्राचीन भारतीय रसायन-शास्त्र का मूल्य आँका और इतिहास टटोला। श्रीनिवास रामानुजन् (१८८७–१९२०) ने इसी अवधि में गणित की ऊँची खोजें कीं।

§५. **आंग्ल-रूसी समझौता**—जर्मनी अब प्रबल राष्ट्र हो उठा था। उससे हार कर फ्रांस ने सन् १८९३ में रूस से स्थायी मैत्री की सन्धि कर ली। जर्मन व्यवसायी दुनिया के बाज़ारों में अंग्रेज़ों को पछाड़ने लगे और जर्मन राजनेता विश्व-साम्राज्य के सपने देखने लगे। तुर्की के सम्राट् से मैत्री करके उन्होंने बर्लिन से बगदाद तक रेलपथ बनाने की योजना की। इससे अंग्रेज़ अत्यन्त आशंकित हो उठे और फ्रांस और रूस से अपना पुराना वैर भूल कर मैत्री की सन्धियाँ कर लीं (१९२५–०७)। इनके अनुसार ब्रितानिया और फ्रांस ने स्याम को तथा ब्रितानिया और रूस ने ईरान को अपने प्रभाव-क्षेत्रों में बाँट लिया। उत्तरी ईरान रूस का और दक्खिनी अंग्रेज़ों का प्रभाव-क्षेत्र माना गया। इस बँटवारे से "ईरान का गला घोंटना" शुरू हुआ। चीन साम्राज्य में से तिब्बत अंग्रेज़ों का और मंगोलिया रूसियों का प्रभावक्षेत्र माना गया।

§ ६. **मौर्ले मिंटो सुधार और दमन**—वंग-भंग के एक महीना बाद कर्जन ने भारत से विदा ली; उसका उत्तराधिकारी मिंटो आया। जौन मौर्ले तब भारत-सचिव था। मौर्ले और मिंटो ने 'दाहिने हाथ से दमन और बाएँ हाथ से शमन' का रास्ता पकड़ा।

मिंटो ने एक भाषण में सूचना दी कि भारतीयों को कुछ स्वशासनाधिकार दिये जायँगे, और साथ ही मुस्लिम रईसों को इशारा किया कि वे विशेष अधिकार माँगें। इशारा पाते ही आगाखाँ आदि कुछ जने उसके पास यह प्रार्थना ले कर पहुँचे (१-१०-१६०६) कि यदि देश के निर्वाचित प्रतिनिधियों को कुछ अधिकार देने हों तो मुसलमानों को अलग प्रतिनिधि चुनने दिया जाय। मिंटो ने इससे सहमति प्रकट की और उसके इशारे पर मुस्लिम लीग स्थापित की गई, जिसका पहला ध्येय था "भारतीय मुसलमानों में ब्रितानवी सरकार के प्रति राजभक्ति के भाव बढ़ाना"। सन् १६०७ में पंजाब में अजीतसिंह और लाजपतराय ने भूमि हस्तान्तरण कानून के बारे में किसानों को जगाने का यत्न किया। उन्हें कैद कर ६ मास बरमा में रक्खा गया। राष्ट्रीय आन्दोलन के उग्र होने पर नरम दल आन्दोलन का साथ न दे सका। दिसम्बर १६०७ में सूरत में कांग्रेस हुई; वहाँ दोनों दलों में मारपीट हो गई। गोपाल कृष्ण गोखले के नेतृत्व में नरम दल का कांग्रेस पर कब्ज़ा रहा; गरम दल अलग हो गया।

तमिळनाड में चिदम्बरम् पिल्ले ने एक स्वदेशी जहाज कम्पनी चलाई थी, जिसके जहाज तमिळ तट और सिंहल के बीच चलने लगे थे। १६०८ में सरकार ने चिदम्बरम् को जेल भेज कर कम्पनी यह कह कर तोड़ दी कि वह राजनीतिक उद्देश से चलाई गई है। कलकत्ते के एक अंग्रेज़ मजिस्ट्रेट ने एक युवक को बेंतों की सज़ा दी। खुदीराम वसु नामक युवक ने मुज़फ्फ़रपुर में बम द्वारा उस मजिस्ट्रेट को दण्ड देने का यत्न किया (२०-४-१६०८)। इस मामले में वारीन्द्र और उनके कई साथी पकड़े गये। टिळक को खुदीराम के पक्ष में लिखने पर छह बरस की कैद मिली। तभी प्रेस ज़ब्त करने का कानून बना, बंगाल के अश्विनीकुमार दत्त आदि नौ नेता निर्वासित किये गये, और अनुशीलन समितियाँ गैरकानूनी करार दी गईं। तब से वे गुप्त काम करने लगीं।

सन् १९०९ में अंग्रेज़ी पार्लिमेंट ने भारतीय शासन का नया कानून बनाया। उसके अनुसार केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान-समितियों की सदस्य-संख्या बढ़ाई गई, यद्यपि निर्वाचित बहुमत कहीं न किया गया और निर्वाचनाधिकार सम्पत्ति पर रक्खा गया। साथ ही मुसलमानों के प्रतिनिधि अलग चुनने की तजवीज़ की गई। विधान-सभाएँ मुख्यतः राष्ट्र के आर्थिक और राजनीतिक जीवन को नियमित करती हैं। इस कार्य के लिए साथ साथ रहने वाले लोगों को अपने साम्प्रदायिक विश्वासों के आधार पर अलग अलग प्रतिनिधि चुनने का यह अर्थ था कि मज़हबी विश्वासों के अन्तर को जनता के आर्थिक राजनीतिक जीवन में भी फैलाया जाय, जिससे भारतीय जनता में पक्की दराड़ पड़ जाय। (केन्द्रीय और प्रान्तीय शासन-समितियों में भी एक-एक दो-दो भारतीय सदस्य रखना तय हुआ।) उस काल लौर्ड रिपन जैसे अंग्रेज़ राजनेताओं को भी सन्देह था कि शासन-समितियों में भारतीयों को लेने से कैसे काम चलेगा। धीरे धीरे उन्होंने देख लिया कि हिन्दुस्तानी सिपाहियों को तरह 'नरम' हिन्दुस्तानी नेताओं को भी अंग्रेज अपना उपकरण मज़े में बना सकते हैं।



बाल गंगाधर टिळक
(१८५६-१९२०)
[श्री हरि विट्ठल तुलमुले के सौजन्य से]

इन सुधारों का प्रभाव क्रान्ति आन्दोलन पर नहीं पड़ा। दमन के कारण अनेक क्रान्तिकारियों को देश छोड़ना पड़ा। केरल के चम्पकरामन् पिल्लै ने १९०८ में युरोप की राह ली। सन् १९०९ के अन्त में पंजाब में धर-पकड़ हुई। अजीतसिंह तब अपने साथी सूफी अम्बाप्रसाद और शुजाउलहक के

साथ ईरान भाग गये। वहाँ उन्होंने ईरान पर आती अंग्रेज़ी और रूसी प्रभुता के विरुद्ध ईरानियों को जगाने की कोशिश की। दिल्ली के हरदयाल भी विदेश भागे, और मिस्र पहुँच कर वहाँ के युवकों में स्वाधीनता के विचार फैलाने लगे। विनायक सावरकर युरोप से भारत लौटते हुए पकड़े गये। सन् १९१०-११ में बंगाल के अतिरिक्त नासिक सातारा ग्वालियर और तिरुनेवली में क्रान्तिकारी षड्यन्त्रों के मुकदमे चले। इससे महाराष्ट्र और तमिळनाड के क्रान्ति आन्दोलन ठंडे पड़ गये और कलकत्ते के चौगिर्द भी शान्ति हो गई, पर पूरबी बंगाल की स्थिति में कोई फरक़ नहीं पड़ा। हरदयाल मिस्र से युरोप पहुँचे, और वहाँ से अमरीका-प्रवासी पंजाबी मज़दूरों में क्रान्ति के बीज बोने को रवाना हुए।

देसी भाषाओं की उन्नति का प्रयत्न भी जारी रहा। सन् १९१० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना हुई। उसी वर्ष गुंटूर में आन्ध्र युवक सम्मेलन ने माँग की कि भारत का भाषानुसार प्रान्त-विभाजन होना चाहिए।

§७. **वंग-भंग का रद्द होना**—नवम्बर १९१० में मिंटो की जगह हार्डिञ्ज वाइसराय बन कर आया। सन् १९११ के अन्त में सम्राट् जौर्ज (५म) ने भारत आ कर दिल्ली दरबार में वंग-भंग को रद्द करने की घोषणा की। असम और बिहार-उड़ीसा के प्रान्त बंगाल से अलग किये गये, तथा भारत की राजधानी कलकत्ते से दिल्ली बदली गई।

सन् १९११-१२ में पूरबी बंगाल को छोड़ भारत के सब प्रान्तों में ऊपरी शान्ति बनी रही। १९११ में उत्तरी अफरीका में तुर्क साम्राज्य का त्रिपोली (लिबिया) प्रान्त इतालिया ने धर दबाया। १९१२ में तीन बलकान राष्ट्रों ने मिल कर तुर्क साम्राज्य के युरोप वाले अंश को मुक्त कराया। भारत के मुसलमानों में इससे बेचैनी फैली और कुछ लोग घायल तुर्कों की शुश्रूषा के लिए तुर्की गये।

२३ दिसम्बर १९१२ को हार्डिञ्ज ने शाही जुलूस के साथ दिल्ली में प्रवेश किया। चाँदनी चौक में उसके हाथी पर बम फेंका गया जिससे वह बाल बाल बचा। क्रान्तिकारी दल ने मानो यह सूचना दी कि वंग-भंग के रद्द

होने से वह शान्त नहीं हो गया। इस घटना से दिल्ली षड्यन्त्र का मामला चला, जिसमें पूरबी बंगाल और उत्तर भारत के क्रान्ति-दलों का परस्पर संबंध प्रकट हुआ। उन्हें जोड़ा था रासविहारी वसु ने जो पकड़े नहीं गये।

§८. **दक्खिन अफरीका सत्याग्रह**—दक्खिन अफरीका में जो शर्तबन्द भारतीय 'कुली' गये [१०,६§५], उनमें से बहुत से शर्त से छूटने के बाद वहीं बस गये थे। दुकानदारी और अन्य धन्धों से भी वहाँ बहुत से हिन्दुस्तानी गये थे। युरोपियों को उनका स्वतन्त्र हो कर वहाँ बसना अखरता था। उन्होंने कानून बना कर खास इलाकों में हिन्दुस्तानियों को व्यापार करने जमीन लेने और घुसने तक से रोक दिया। इसपर १६१३ में मोहनदास करमचन्द गान्धी के नेतृत्व में हिन्दुस्तानियों ने सत्याग्रह किया। २५०० आदमी त्रांसवाल से नाताल में घुसे; उनके नेता गिरफ्तार किये गये; जगह जगह हड़तालें हुईं। अन्त में वहाँ की सरकार की ओर से जनरल स्मट्स ने गान्धी से समझौता किया और कानून में कुछ रद्दोबदल किया।

§९. **कोमागाता मारू**—अंग्रेजों की फौज और पुलिस की नौकरी में बहुत से पंजाबी बरमा मलाया और चीन जाते थे। इनके साथी-संगी दूसरे धन्धों के लिए भी वहाँ जाने और बसने लगे। अमरीका के पच्छिमी तट के राज्यों में तब नई ज़मीनें आबाद हो रही थीं। मेहनती पंजाबी मलाया और चीन से वहाँ पहुँचने लगे। वहाँ वे खेती की मजदूरी से फी आदमी पाँच सात रुपया रोज़ाना कमा लेते थे। १६११ में हरदयाल और सोहनसिंह भखना आदि के यत्न से सानफ्रांसिस्को में इन्हीं लोगों में एक 'गदर दल' स्थापित हुआ।

कैनेडा की सरकार ने ऐसा कानून बनाया जिससे भारतीय मज़दूरों का वहाँ जाना प्रायः असम्भव हो जाय। अंग्रेजी साम्राज्य में भारतीयों की कैसी दुर्गति है यह दिखलाने को पंजाब के बाबा गुरुदत्तसिंह ने जापानी जहाज कोमागातामारू किराये पर लिया और हाङ्काङ से पंजाबी श्रमियों को उसमें ले कर वंकोवर पहुँचे (२३-५-१६१४)। दो मास तक वह जहाज वंकोवर बन्दर पर खड़ा रहा, पर कैनेडा सरकार ने भारतीय श्रमियों को अपनी जमीन पर पैर नहीं रखने दिया और अन्त में एक जंगी जहाज गोलाबारी के लिए भेज कर

लौटने को बाधित किया ।

§ १०. **चीन की क्रांति, तिब्बत में अंग्रेज़ी दस्तन्दाजी**—सन् १९१२ में चीन में क्रान्ति हो कर साम्राज्य के स्थान में गणराज्य स्थापित हुआ । इससे पहले कि नया प्रजातन्त्र समूचे चीन-साम्राज्य में पैर जमा सके, रूसियों और अंग्रेज़ों ने उसकी फाँकें काट लीं । मंगोलिया का रूस की तरफ का बड़ा भाग चीन से अलग हो कर "बाहरी मंगोलिया" बन गया । अंग्रेज़ी सरकार ने भारत से तिब्बत और असम की सीमा की अबोर जाति के प्रदेश पर चढ़ाई कर उसे हथिया लिया, तथा १९१३-१४ में तिब्बत के मुख्य भाग को अपना रक्षित बना लिया । तब से तिब्बत में भारत की डाक-तार चलने लगी ।

चीन की जागृति का एक और परिणाम यह हुआ कि १९१३ से भारत से चीन को अफीम जाना बिलकुल बन्द हो गया ।

§ ११. **पहला विश्व-युद्ध**—सन् १९१४ में रूस फ्रांस और ब्रितानिया का, जो अपने को "मित्र राष्ट्र" कहते थे, जर्मनी से युद्ध ठन गया । जर्मन सेना फ्रांसीसी सेना को ढकेलती हुई पैरिस के ६० मील तक जा पहुँची, किन्तु वहाँ फ्रांसीसी डट गये । अफरीका के जर्मन उपनिवेशों (केन्या आदि) पर अंग्रेज़ों ने भारत से चढ़ाइयाँ कीं । युद्ध शुरू होते ही अंग्रेज़ी पार्लिमेंट ने निश्चय किया कि भारतीय सेना से इस युद्ध में पूरा काम लिया जाय और उसका पूरा खर्च भी भारत ही उठाय । इसके अनुसार युद्ध के शुरू के महीनों में दो लाख से ऊपर भारतीय सेना बाहर भेजी गई ।

पैरिस की ओर विफल हो कर जर्मन अक्तूबर-नवम्बर (१९१४) में इंग्लिश चैनल की ओर बढ़े । तट से २० मील तक वे पहुँच गये, पर तट को न पा सके । वहाँ उनकी बाढ़ जिस सेना ने रोकी, उसकी हरावल सिक्खों की थी । जैसा कि बाद में एक जर्मन विद्वान् ने लिखा, "फ्रांस की खन्दकों की दीवारें जिन बालू के बोरों से बनीं थीं वे बंगाल की चटकलों (जूट-कारखानों) में तैयार हुए थे, उन बोरों के पीछे से जो सैनिक गोलियाँ दागते थे, वे भारतीय थे ।"

अक्तूबर में तुर्की जर्मनी के पक्ष में मिल गया । भारतीय मुसलमान इससे भड़क न उठें ऐसा खटका हुआ, पर अंग्रेज़ों ने निज़ाम और आगाखाँ से

घोषणाएँ निकलवा कर तथा उग्रपन्थी मुसलमानों को नजरबन्द कर उन्हें शीघ्र शान्त कर दिया, और पीछे तो भारतीय मुस्लिम सेना को खास तुर्कों के साथ भी भिड़ाते रहे। अरब इराक फिलिस्तीन और सीरिया तब तक तुर्क साम्राज्य में थे, और मिस्र पर भी तुर्की का नाम का आधिपत्य था। भारत से तुरन्त एक सेना इराक (मेसोपोतामिया) को और एक मिस्र को भेजी गई। पहली सेना ने बसरा ले लिया। दक्खिनी ईरान में भारतीय सेना बढ़ाई गई, और कोइटा-नुश्की रेलपथ को ठीक ईरान की सीमा पर दुज़्दाप (ज़हीदन) तक पहुँचाने की योजना की गई।

फरवरी १९१५ में तुर्कों ने सुएज़ पर चढ़ाई की। वह विफल हुई, उलटा अप्रैल में 'मित्र सेना' दरे-दानियाल में घुसी। गालीपोली पर तुर्कों ने उसे रोके रक्खा।

बसरा वाली भारतीय सेना बगदाद के २५ मील तक जा पहुँची। वहाँ से तुर्कों ने उसे पीछे ढकेला और कुत-उल-अमरा पर आ कर चारों तरफ से घेर लिया। जनवरी १९१६ में गालीपोली से अंग्रेज़ी सेना को हटना पड़ा और अप्रैल में कुत में घिरी सेना ने हथियार रख दिये। पर १९१७ में अंग्रेज़ी भारतीय सेना ने कुत को वापिस ले कर बगदाद भी जीत लिया। यों सारा इराक तुर्क साम्राज्य से छिन गया।

तभी रूस की प्रजा और सेना के भीतर क्रान्ति का उबाल आ रहा था। १५ मार्च १९१७ को ज़ार (रूस-सम्राट्) ने गद्दी छोड़ दी और रूसी नरम दल के नेता करेंस्की ने गणराज्य स्थापित किया। लेकिन रूसी किसानों मज़दूरों और सैनिकों का गरम दल (बोल्शेविकी) इससे सन्तुष्ट न हुआ, और लेनिन के नेतृत्व में ७-११-१९१७ की क्रान्ति में उन्होंने सदियों की गुलामी से मुक्ति पाई। १५-१२-१९१७ को उन्होंने जर्मनों से सन्धि कर ली।

अमरीकियों ने 'मित्र राष्ट्रों' को युद्ध-खर्च के लिए बड़ा कर्ज़ दिया था। उनके हारने से वह रकम डूब जाती; इसलिए अप्रैल १९१७ में अमरीका भी उनकी तरफ से युद्ध में उतरा।

लौरेन्स नामक अंग्रेज कर्नल अरब फिरकों के अन्दर तुर्कों के विरुद्ध

षड्यन्त्र कर रहा था। उसने अरबों को तुर्कों से भिड़ा दिया, और अरबों के संरक्षक बन कर अंग्रेज़ों ने नवम्बर दिसम्बर १९१७ में फिलिस्तीन भी ले लिया।

रूसी साम्राज्य के टूटने पर मार्च १९१८ में जर्मन काले सागर और कौकासुस पर आ पहुँचे, और तुर्क ईरान में घुस कर भारत की ओर बढ़ने लगे। इधर दुज़्दाप तक रेलपथ तैयार हो चुका था। इस दशा में अंग्रेज़ भारतीय सेना को ले कर ईरान को रौंदते हुए जर्मनों तुर्कों के मुकाबले को बढ़े। कुछ काल के लिए उन्होंने बाकू भी ले लिया।

सन् १९१८ में लाखों की संख्या में ताज़ी अमरीकी सेना के फ्रांस में आने से जर्मन पक्ष दबने लगा। तभी फ्रांस ने तुर्की का सीरिया प्रान्त जीत लिया। ३० अक्टूबर १९१८ को तुर्की ने हथियार रख दिये। तब ११ नवम्बर को जर्मनी ने भी हथियार रक्खे।

भारत से कुल १३ लाख आदमी, जिनमें ८ लाख योद्धा थे, इस युद्ध के विभिन्न मोर्चों पर गये। किन्तु इनका काम सिर्फ सैनिक मजदूरों का था। अफसरों की माँग आने पर भारत में कई सामरिक विद्यालय खोले गये और उनमें कलकत्ता बम्बई के गोरे व्यापारियों के लड़कों को सिखा कर २३ हजार अफसर तैयार किये गये। भारत से युद्ध में भेजे गये ढोर-डंगर और सामान की कोई हद न थी।

इस युद्ध के बीच भारत का सामरिक खर्च २ से ३ करोड़ पौंड वार्षिक होता रहा। उस काल भारत सरकार की कुल मालगुजारी वार्षिक १० करोड़ पौंड से कम थी। दिसम्बर १९१५ में भारत में पहला युद्ध-ऋण उठाया गया। उसके बाद तो कई युद्ध-ऋण लिये गये।

प्रत्येक सरकार जो कागजी मुद्रा या दूसरी सांकेतिक मुद्रा चलाती है, उसकी खातिर सोने का रक्षित भंडार रखती है। भारत में टकसालें बन्द होने पर भारत का एक 'स्वर्ण मान भंडार' तथा एक 'कागज मुद्रा भंडार' लन्दन में रक्खा गया था। युद्ध-काल में इन भंडारों में से १३ करोड़ पौंड ब्रितानवी सरकार को उधार दिये गये। यदि ब्रितानिया हारता तो भारत में चलने वाले कागजी नोट निरे कागज रह जाते।

मार्च १९१७ में भारत-सरकार ने ब्रितानिया को युद्ध की खातिर १० करोड़ पौंड "दान" दे दिया। सितम्बर १९१८ में ४½ करोड़ पौंड का और "दान" देना तय हुआ। ये रकमें भारत में ही ऋणों द्वारा उठाई गईं। ऋण उठाने में काफी जोर-जबरदस्ती की गई। उन ऋणों से धनियों ने तो सूद पैदा किया, पर गरीब करदाताओं पर ३० बरस के लिए १० करोड़ वार्षिक सूद का बोझ बढ़ गया।

खर्च की दिक्कत के कारण सन् १९१७ में सरकार को विलायती कपड़े पर भी ७½ फी सदी चुंगी लगानी पड़ी। वैसे भी युद्ध के कारण भारत के व्यवसायों को कुछ बढ़ावा मिला। यों तो भारत ने सब तरह की रसद-सामग्री ब्रितानिया की मदद को भेजी, पर यहाँ लोहे की कीलें पेंच कमानियाँ तार के रस्से जैसी साधारण वस्तुएँ भी तैयार न हो सकती थीं। अंग्रेज शासकों ने देखा कि भारत में व्यवसायों को न पनपने देने की उनकी पुरानी नीति युद्ध जैसे काल में घातक हो सकती है, और तब से भारतीय पूँजीपतियों को अपने साथ लेने की नीति पकड़ी।

§१९. पहले विश्वयुद्ध-काल की क्रांति-चेष्टाएँ—युद्ध छिड़ते ही अमरीका के भारतीय गदर दल ने अपने सदस्यों को भारत भेजना प्रारम्भ किया। सबसे पहले आने वालों में एक युवक कर्त्तारसिंह था, जिसने अमरीका में वायुयान-इंजिनियरी सीखी थी। सरकार ने इन आगन्तुकों की नजरबन्दी के लिए भारत-प्रवेश-अध्यादेश (इंग्रेस इंटु इंडिया ऑर्डिनांस) निकाला।

सितम्बर १९१४ में ही हरदयाल इस्ताम्बूल पहुँचे और गदर दल का तरुण तुर्क दल से सम्बन्ध जोड़ा। यह तरुण तुर्क दल १९०५ में खड़ा हुआ था, और तुर्कों को मजहब की शृङ्खलाओं से मुक्त कर राष्ट्रीयता के आधार पर शक्तिशाली राष्ट्र बनाना चाहता था। भारत से जो मुस्लिम युवक १९११-१२ में तुर्की गये थे, वे भी इन तरुण तुर्कों के आदर्शों से प्रभावित हुए थे। तुर्की से हरदयाल जर्मनी गये, जहाँ जर्मन युद्ध-विभाग की देखरेख में एक "भारतीय राष्ट्रीय दल" काम करने लगा था। वीरेन्द्र चट्टोपाध्याय, चम्पकरामन पिल्लै, हरदयाल, तारकनाथ दास, बरकतुल्ला आदि इसके प्रमुख कार्यकर्त्ता थे।

अमरीका से डेढ़ दो हज़ार गदर दल वाले सितम्बर अक्तूबर १९१४ में भारत आये। रास्ते में चीन और मलाया की पंजाबी सेना में क्रांति के विचार फैलाते हुए इनमें से जो बच कर पंजाब पहुँच जाते, वे भारत की छावनियों में वही काम करते। इनका एक केन्द्र स्याम में रहा। स्याम की उत्तरी सीमा पर तब जर्मन इंजिनियर रेलपथ बनवा रहे थे, जिसमें पंजाबी मजदूर काम करते थे। उस रेलपथ से बरमा पर चढ़ाई करने की योजना थी, जिसे अमरसिंह नामक पंजाबी इंजिनियर ने बड़े उत्साह से हाथ में लिया।



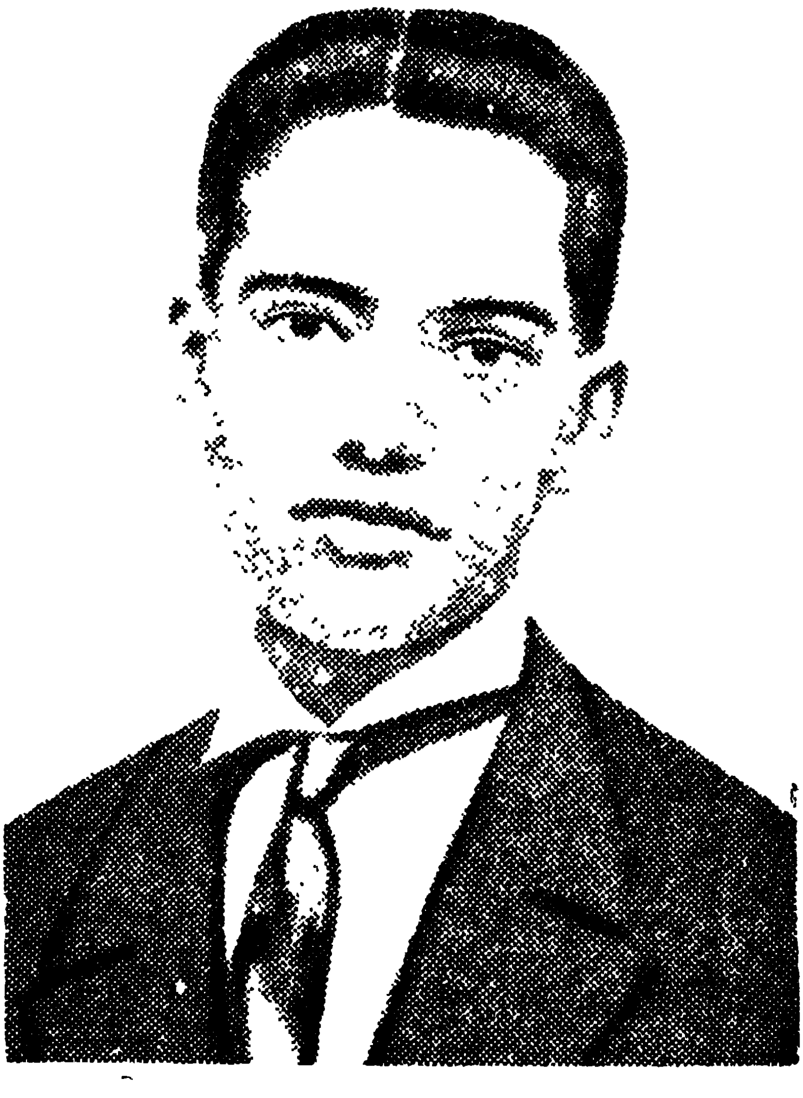
हरदयाल (१८८४–१९३९ ई०)
[स्वीडन में लिया गया चित्र, श्री हनुमन्तसहायजी के सौजन्य से]

गदर दल की ओर से कर्त्तारसिंह और विष्णु गणेश पिंगले, रासविहारी वसु का पता निकाल कर बनारस पहुँचे। वहीं बंगाल के क्रान्तिकारी नेता भी आये और कार्यक्रम निश्चित हुआ। तभी अली अहमद सिद्दीकी और हकीम फायम अली, जिन्हें तरुण तुर्कों से प्रेरणा मिली थी, रंगून पहुँचे, और गदर दल से मिल कर काम करने लगे। बंगाल की क्रांति-टोलियाँ खूब सुसंघटित थीं, पर सेना को अपने साथ मिला कर उठने की बात उन्होंने कभी सोची न थी, न सेना से उनका सम्पर्क था। पंजाब और राजस्थान के क्रांतिकारियों के सम्पर्क में आ कर रासविहारी और उनके साथी शचीन्द्रनाथ सान्याल ने क्रांति में भारतीय सेना के महत्त्व को जहाँ खूब समझ लिया, वहाँ

पंजाब और राजस्थान के क्रान्ति-दलों का बंगाल के दलों के साथ सम्बन्ध भी जोड़ दिया। रासविहारी स्वयं पंजाब जा बैठे।

इसके बाद बन्नू पेशावर से सिंगापुर तक तमाम सेनाओं में क्रांतिकारी कर्मी पहुँच गये, और सब सेनाओं की भीतरी हालत उन्होंने जान ली। भारत में तब गोरी फौज कुल १५ हजार थी। रंगून और सिंगापुर की पल्टनों में सरकार को कुछ गड़बड़ दीख पड़ी। रंगून की "बलोची" (पच्छिम पंजाबी) पल्टन में से २०० आदमी कैद किये गये और सिंगापुर की पंजाबी पल्टन की बदली कर दी गई।

फीरोजपुर और रावलपिंडी में तब भारत के सबसे बड़े शस्त्रागार थे। २१ फरवरी १९१५ को उनपर और लाहौर के शस्त्रागार पर देसी पल्टनें हमला करतीं, और उसके बाद जहाँ तहाँ देसी सेना उठ खड़ी होती। फरवरी में ही पंजाब पुलिस को इस मामले की भनक मिली। १९ फरवरी को शस्त्रागारों पर गोरी फौज का पहरा लगा दिया गया, और लाहौर अमृतसर में क्रांतिकारी अड्डों पर पुलिस ने छापे मारे। उन छापों में हथियारों के अतिरिक्त तिरंगे राष्ट्रीय झंडे और ऐलाने-जंग भी पकड़े गये। इससे देसी सेना की



कर्त्तारसिंह
[देशभक्त यादगार जलंधर के सौजन्य से]

हिम्मत टूट गई। लेकिन २१ फरवरी को सिंगापुर की सेना ने टापू पर अधिकार कर ही लिया। अंग्रेज़ी जंगी जहाजों ने आ कर सात दिन बाद टापू वापिस लिया। पंजाब में जोरों की धरपकड़ हुई और "भारत रक्षा कानून" जारी किया गया। क्रांतिकारियों ने सोचा उनके अपने दल के पास शस्त्र काफी होते तो वे स्वयं शस्त्रागारों पर पहला हमला कर देते। इसलिए उन्होंने कोशिशें जारी रक्खीं। कर्त्तारसिंह और पिंगले छावनियों के बीच पकड़े गये। उन्हें फाँसी चढ़ाया गया। इसके बाद इंग्लिस्तान से बहुत सी नई गोरी फौज भारत मँगा ली गई। आगे से भारतीय सेना बाहर भेजी जाती और गोरी भारत में रक्खी जाती।

अमेरिका से गदर दल के नेता रामचन्द्र ने ३० हजार राइफलों और जर्मन अफसरों के साथ एक जर्मन जहाज को जावा भेजने का प्रबन्ध किया था। वह जहाज १ जुलाई १९१५ को सुन्दरबन में पहुँचता। बंगाली क्रांतिकारियों की योजना थी कि बालेश्वर और चक्रधरपुर पर बंगाल-नागपुर रेलवे के तथा देवघर के पास अजय नदी पर ईस्ट इंडियन रेलवे के पुलों को उड़ा कर बरसात में वे बंगाल पर कब्जा लेंगे और जर्मन अफसर उन्हें सामरिक शिक्षा देने लगेंगे। पर वे शस्त्र अमरीकी सरकार ने पकड़ लिये। पीछे अंग्रेज़ों को इस भेद का पता मिलने पर कलकत्ता दल के नेता यतीन मुखर्जी और उनके साथी बालेश्वर के पास एक जंगल में खंदकों में लड़ते हुए मारे गये (९-९-१९१५)। यतीन के साथी नरेन्द्र भट्टाचार्य तथा रासविहारी वसु भारत से निकल गये। इन्होंने शांघाई और जावा के जर्मन दूतों और चीनी क्रांतिकारियों के सहयोग से फिर शस्त्र भेजने की चेष्टाएँ कीं, पर विफल। दिसम्बर १९१५ के बाद फिर कोई कोशिश नहीं हुई। सन् १९१५ से १७ तक इन कोशिशों के फलस्वरूप अनेक मुकदमे चले। पंजाब और बंगाल में सैकड़ों आदमियों को फाँसी और कालापानी मिला और कई हजार नजरबन्द किये गये। इसके बाद पूरबी बंगाल के सिवाय भारत के सब प्रान्तों में मुर्दनी छा गई। पूरबी बंगाल में जो १९०६ से १९१९ तक लगातार संघर्ष चलता रहा, और वहाँ के क्रान्तिकारियों ने पंजाब राजस्थान तक पहुँच कर वहाँ के क्रान्ति-दलों को सुगठित किया, इसका

श्रेय अनुशीलन समिति के पुलिनबिहारी दास और उनके अन्य साथी नेताओं को था।



पुलिनबिहारी दास
[श्री रवीन्द्रमोहन सेन के सौजन्य से]

सन् १९१५ में एक जर्मन-तुर्की-हिन्दी प्रतिनिधि-मंडल काबुल भी पहुँचा। महेन्द्रप्रताप, ओबेदुल्ला और बरकतुल्ला इसमें शामिल थे। इन्होंने आरजी आजाद हिन्द सरकार स्थापित की और अफगानों को भी उठाने की कोशिश की।

§ १३. **किसान जागरण, कांग्रेस-लीग समझौता**—सन् १९११ में बंगाल के कुछ जिलों में पहलेपहल "रैयत समितियाँ" खड़ी हुई थीं।

सन् १९१३ से मेवाड़ के बीजोल्याँ प्रदेश के किसानों ने लाग बेगार आदि के विरुद्ध संघर्ष छेड़ा था। पीछे युद्ध-ऋण वसूलने की कोशिश होने पर उनका संघर्ष गहरा हो गया। राजस्थान के कुछ क्रान्तिकारियों को मेवाड़ अजमेर की सीमा पर टाडगढ़ में कैद कर रक्खा गया था, जहाँ से वे निकल भागे थे। उन भागे हुओं में से एक ने विजयसिंह पथिक नाम धरके १९१६ से बीजोल्याँ के किसान संघर्ष का नेतृत्व किया।

क्रान्तिकारियों की कोशिशें बेकार हुई थीं, पर उनके बलिदानों से देश में कराह उठी जिससे दूसरे लोग भी कुछ करने को बेचैन होने लगे। अप्रैल १९१६ में टिळक ने पूने में 'स्वराज्य-संघ' की स्थापना की। दिसम्बर १९१६ में कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में नरम और गरम दल में मेल हो गया, और मुसलिम लीग ने भी उनके साथ मिल कर शासन-सुधारों की नई माँग

तैयार की। इस योजना में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को मान लिया गया।

गान्धी १९१५ के शुरू में भारत चले आये थे। १९१७ में उन्हें बिहार के लोग चम्पारन के निलहे [१०, ६९५] गोरों के जुल्मों की जाँच करने ले गये। वहाँ उन्हें ज़िले में न घुसने का हुक्म मिला, पर वे सत्याग्रह करके घुसे, जाँच हुई, और निलहों ने इंग्लिस्तान का रास्ता लिया। प्रतिज्ञाबद्ध कुली प्रथा की जाँच के लिए गान्धी ने अपने मित्र को फिजी भेजा। उसके बाद उन्होंने घोषणा की कि यदि वह प्रथा न उठाई जायगी तो वे सत्याग्रह शुरू करेंगे। तब हार्डिञ्ज के उत्तराधिकारी चेम्मफोर्ड ने उस प्रथा को उठा दिया (१९२०)। सन् १९१८ में खेड़ा और अहमदाबाद के किसानों और मजदूरों के कष्टों को दूर करने के लिए भी गान्धी ने सत्याग्रह का प्रयोग किया। उसी वर्ष वे इन्दौर में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति हुए। हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा होगी, यह विचार दयानन्द के काल—१८७३-७४—से चल रहा था, किन्तु द्राविड-भाषी प्रान्तों में भी हिन्दी का प्रचार कभी हो सकेगा यह सन्दिग्ध था। गान्धी ने इन्दौर में "दक्खिन भारत हिन्दी प्रचार" की नींव डाल दी।

§ १४, **मौंटेगू-चेम्सफोर्ड सुधार और जलियाँवाला कत्ले-आम**—१९१५ की क्रान्ति-चेष्टा दबाने के साथ ही भारत के शासकों ने समझ लिया कि और शासन-सुधार देने होंगे, और उन सुधारों की रूपरेखा मार्च १९१६ में बना ली। २० अगस्त १९१७ को भारत-सचिव मौंटेगू ने घोषणा की कि भारत में अंग्रेज़ी साम्राज्य के अन्तर्गत उत्तरदायी शासन धीरे धीरे स्थापित करना अंग्रेजी सरकार का लक्ष्य है। उस जाड़े में मौंटेगू भारत आया और नये वाइसराय चेम्सफोर्ड के साथ देश में घूमा।

तभी राउलट नामक जज की अध्यक्षता में एक कमिटी क्रान्तिकारियों को दबाने के उपाय सुझाने को बिठाई गई। सन् १९१८ में राउलट कमिटी ने जो रिपोर्ट दी उसका सार यह था कि न्यायालय में विचार किये बिना नज़रबन्द करने के जो विशेष अधिकार युद्ध-काल में भारत-रक्षा कानून द्वारा सरकार ने ले लिये थे, वे स्थायी कर दिये जायँ। इसके अनुसार केन्द्रीय विधान-समिति में दो कानूनों के मसविदे पेश किये गये। गांधी ने उन कानूनों के शान्तिमय

उल्लंघन की घोषणा की। ६-४-१६१६ को समूचे देश में हड़तालें और प्रदर्शन हुए। गान्धी मुम्बई से पंजाब जाते हुए गिरफ्तार कर मुम्बई वापिस भेजे गये। इसपर अहमदाबाद वीरमगाम और नडियाद में दंगे हो गये। अमृतसर में आन्दोलन के नेता गिरफ्तार हुए तो जनता ने कुछ सरकारी इमारतें जला दीं और ५ अंग्रेज़ों को मार डाला। कसूर (जि० लाहौर) और गुजराँवाले में भी वैसी घटनाएँ हुई। बात यह थी कि युद्ध-काल में पंजाब में भरती कराने और युद्ध-ऋण उठाने में जो ज़्यादतियाँ की गईं थीं उनसे जनता चिढ़ी हुई थी और मौका पाते ही उसका गुस्सा उबल पड़ा।

पंजाब में सौर तिथि का चलन है, और नया वर्ष वैशाख-संक्रान्ति (१३ अप्रैल) को शुरू होता है। उस उत्सव के दिन अमृतसर की घनी बस्ती के बीच जलियाँवाला बाग नामक तंग मैदान में सन्ध्या को सभा हो रही थी। जनरल डायर ने सौ देसी सिपाहियों और ५० गोरों के साथ उस बाग के एकमात्र दरवाजे को रोक लिया और निहत्थी भीड़ पर गोलियों की बौछार शुरू की, जिससे ४०० आदमी मरे और डेढ़ हज़ार घायल हुए। घायलों को वहीं कराहता छोड़ कर वह चला गया।

१५ अप्रैल से पंजाब में फौजी राज घोषित किया गया जो ११ जून तक जारी रहा। इस बीच जनता से सब वाहन छीन लिये गये और दो से अधिक आदमियों के इकट्ठा चलने की मनाही कर दी गई। अमृतसर की एक गली में लोगों को पेट के बल रेंगाया गया। लगभग हज़ार आदमियों पर फौजी अदालतों में मुकदमे चले, फाँसी और कालापानी की सज़ाएँ खुले हाथों दी गईं। खुली टिकटिकियाँ लगा कर लोगों को उनपर नंगा बाँध कर बेंत लगाये गये। गाँवों पर हवाई जहाजों से बम बरसाये गये। रेलगाड़ियाँ जनता के लिए शुरू में ही रोक दी गई थीं। बाहर से कोई आदमी पंजाब न जा सकता था, और न पंजाब की खबर बाहर जा पाती थी।

पंजाब की गाड़ियाँ खुलते ही कांग्रेस की ओर से एक कमिटी जाँच के लिए वहाँ गई। यह जाँच अभी जारी थी कि मौंटेगू-चेम्सफोर्ड योजना कानून बन गई। उसका सार यह था कि केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान-सभाओं में

निर्वाचित बहुमत होगा, निर्वाचन साम्प्रदायिक आधार पर होगा। केन्द्रीय सभा की सम्मति को मानना या न मानना गवर्नर-जनरल की इच्छा पर निर्भर होगा। प्रान्तीय सभाओं का शिक्षा आबकारी आदि विषयों पर नियन्त्रण रहेगा, जो 'हस्तान्तरित' कहलायेंगे; उन्हें चलाने वाले मंत्री उन सभाओं के चुने हुए होंगे। बाकी विषय, जैसे अमनचैन की रक्षा आदि, गवर्नरों के हाथ में 'रक्षित' रहेंगे।

इसके बाद युद्ध-काल के सब नजरबन्द तथा अधिकांश क्रान्तिकारी कैदी भी छोड़ दिये गये।

§ १५. मध्य एशिया में दस्तन्दाज़ी तथा अफगानिस्तान का स्वतन्त्र होना—सन् १९१८ में जर्मनों से छुट्टी पाते ही फ्रांसीसियों और अंग्रेज़ों ने रूसी गद्दारों पोलैंड और इस्तोनिया द्वारा रूस पर चढ़ाइयाँ शुरू करवाईं। इंग्लिस्तान ने इन चढ़ाइयों पर १० करोड़ पौंड खर्च किया। १९२० के अन्त तक रूसी क्रान्तिकारियों ने इन सब शत्रुओं को मार भगाया। उन्होंने एशिया में रूसी ज़ार-साम्राज्य के अन्तर्गत जो देश थे उनकी जनता को भी पुकार कर कहा था कि अपने यहाँ लोकतन्त्र स्थापित कर लो, तथा तुर्की ईरान चीन और अफगानिस्तान के बारे में ज़ारशाही रूस के इंग्लिस्तान से जो गुप्त और प्रकट समझौते थे, उन्हें प्रकाशित और रद्द कर दिया था। इसपर ताशकन्द में एक तुर्किस्तान गणराज्य उठ खड़ा हुआ, पर साथ ही बोखारा की सल्तनत भी स्वतन्त्र हो खड़ी हुई थी। अंग्रेज़ों ने भारत से मध्य एशिया में दखल दे कर वहाँ के बड़े ज़मींदारों और कठमुल्लों को उभाड़ कर क्रान्ति को रोकने की चेष्टा की। कोइटा नुश्की दुज़्दाप रेलपथ से उन्होंने भारतीय सेना को ईरान में घुसेड़ कर दुज़्दाप से मशहद तक ईरान की पूर्वी सीमा के साथ साथ सेना-चौकियाँ और मशहद में बड़ा फ़ौजी अड्डा बना लिया। मशहद से एक तरफ वे बोखारा की राजनीति में दखल देने लगे, दूसरी तरफ ईरान की उत्तरी सीमा के साथ अश्काबाद तक अपनी सेना-चौकियाँ बैठा लीं।

भारत से १९१५ में भागे क्रान्तिकारियों में से नरेन्द्र भट्टाचार्य ने अपना नाम मानवेन्द्रनाथ राय रख कर पहले मेक्सिको में शरण ली थी, फिर रूस पहुँच कर वहाँ के क्रान्तिकारियों से सहयोग आरम्भ किया था। रूसी क्रांति

के नेताओं ने अब राय को मध्य एशिया भेजा। तुर्की के साम्राज्य को अंग्रेज और उनके साथी जिस प्रकार रौंद रहे थे उससे खीझ कर भाड़ैत भारतीय सेना के बहुतेरे पंजाबी मुस्लिम सैनिक अब अंग्रेज़ों की सेवा छोड़ तुर्की की तरफ से लड़ने के लिए भाग रहे थे। राय ने इन भगोड़ा दलों को इकट्ठा किया, और रूसी क्रांति-सेना की सहायता से इन्हें और ईरानी देशभक्तों को शस्त्रसज्जित कर छापामार दल तैयार किया। इस दल की कार्रवाई से अंग्रेज़ों को अश्काबाद से मशहद तक की अपनी सेना-चौकियाँ उठानी पड़ीं, जिससे कास्पी सागर के पूर्वी तट के बन्दरगाह अस्त्राखान से, जिसका नाम क्रान्ति के बाद क्रास्नावोद्स्क (= लाल बस्ती) रख दिया गया था, मर्व तक का रेलपथ सुरक्षित हो गया, और उसके द्वारा मिट्टी का तेल और अन्य युद्ध-सामग्री मध्य एशिया को क्रांति-सेना के पास आसानी से पहुँचने लगी। ईरानी क्रान्तिकारियों ने इस बीच ईरानी जनता को भी अंग्रेज़ी कब्ज़े के विरुद्ध उभाड़ दिया था, जिससे खुरासान (मशहद प्रदेश) में अंग्रेज़ी सेना को रसद मिलना दूभर हो गया, और मशहद से दुज़्दाप तक की चौकियों पर भी छापे पड़ने लगे। अंग्रेज़ अपने भाड़ैत भारतीय सैनिकों के हाथ राइफल से ऊँचा कोई शस्त्र और सेना का कोई ऊँचा पद न देते थे। इस छापामार दल के रूसी अफसरों ने इन्हें मशीन-गनों और तोपों का उपयोग भी सिखाया, इनके हाथ में सब प्रकार के शस्त्रास्त्र और इन्हें योग्यतानुसार ऊँचे से ऊँचे पद सौंपे, तथा सदा इनसे भाई का सा बर्त्ताव किया। इस बात की चर्चा इन सैनिकों के उन साथियों में भी पहुँचने लगी जो तब तक अंग्रेज़ी सेवा में थे, जिससे और और लोग अंग्रेज़ी सेवा से भाग क्रांति-दल में आ मिलने लगे। इस दशा में स्थानीय जनता के असहयोग और छापामारों की कार्रवाई से परेशान हो कर तथा अपनी भाड़ैत भारतीय सेना को छूत से बचाने के लिए अंग्रेज़ों ने मशहद से दुज़्दाप तक की अपनी चौकियाँ भी समेट लीं। पर इसके बाद भी उन्होंने चितराल और गिलगित से बोखारा के क्रांति-विरोधियों के पास शस्त्रास्त्र भेजना जारी रक्खा। बोखारा सल्तनत के बड़े इमामों ने मध्य एशिया के सब मुल्लों द्वारा जनता को उभाड़ने का यत्न कर क्रांतिकारियों के विरुद्ध जिहाद की पुकार उठाई थी। दूसरी

तरफ, तुर्किस्तान के क्रांतिकारियों ने किसानों को ज़मींदारों के चंगुल से मुक्त कर अपनी ज़मीनों पर पूरे अधिकार का और स्वतन्त्रता का वचन दिया था। जनता ने और उसके साथ गाँवों के छोटे मुल्लों ने भी क्रान्ति का साथ दिया और बोखारा की सल्तनत समाप्त हुई।

इधर तरुण अफगानों की स्वतन्त्रता-भावना भी जाग उठी थी। अंग्रेज़ों का मित्र अमीर हबीबुल्ला मारा गया (२०-२-१९१९) और उसका बेटा अमानुल्ला गद्दी पर बैठा था।

मध्य एशिया में होता परिवर्त्तन और भारत में अशान्ति देख अमानुल्ला ने सोचा यह स्वाधीन होने का अच्छा अवसर है, और सीमा प्रान्त के पठान प्रदेश वापिस लेने के लिए खैबर पर चढ़ाई कर दी (३-५-१९१९)। वज़ीरिस्तान के पठानों ने भी विद्रोह किया। अंग्रेज़ों ने जलालाबाद और काबुल पर हवाई जहाजों से बम गिराये तथा खैबर और चमन की तरफ से अफगान प्रदेश में घुसना शुरू किया। तब २८ मई १९१९ को अमानुल्ला ने सन्धि की प्रार्थना की। सन्धि की बातचीत अढ़ाई बरस चलती रही। अन्त में अंग्रेज़ों ने देखा, अब वे अफगानिस्तान को दबाये रखना चाहें तो वहाँ क्रान्तिमार्गी रूस का प्रभाव और बढ़ेगा, इसलिए उसे विदेशी सम्बन्धों में पूरी स्वतन्त्रता दे दी (२२-११-१९२१)।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. सन् १९०४–०५ में जापान के रूस से जीतने का इतिहास में क्या महत्त्व है? उस जीत का प्रभाव भारत पर एशिया के अन्य देशों पर तथा विश्व पर क्या हुआ?

२. सन् १९०७ में भारतीय राजनीति में जो गरम और नरम पक्ष थे, उनकी दृष्टि में क्या अन्तर था? दोनों पक्षों का विकास कैसे हुआ था? १९०७ में उनके नेता कौन थे?

३. सन् १९०७ का आंग्ल-रूसी समझौता क्या था? किन दशाओं में वह हुआ?

४. साम्प्रदायिक निर्वाचन का अर्थ क्या है? उसमें क्या बुराई है? भारत में वह पद्धति कब कैसे चली?

५. ईरान के मिट्टी-तेल का एकाधिकार अंग्रेज़ों के हाथ पहलेपहल कब कैसे गया?

६. तिब्बत में आंग्ल प्रभाव कब कैसे स्थापित हुआ था?

७. पहले विश्व-युद्ध में "फ्रांस की खंदकों में जो बालू के बोरे थे वे भारतीय जूट के थे, उनके पीछे से जो सैनिक गोलियाँ दागते थे वे भारतीय थे।" क्यों? भारतीय सैनिक जर्मनों से लड़ने क्यों और किन दशाओं में गये थे? पहले विश्व-युद्ध में भारतीय सैनिकों ने अंग्रेजों की और क्या क्या सेवा की?

८. सन् १६१७ में विश्व इतिहास में कौन सी बड़ी घटना घटी?

९. पहले विश्वयुद्ध में भारतीय क्रान्तिकारियों ने भारत को स्वतन्त्र कराने की जो चेष्टाएँ कीं उनका विवरण लिखिए।

१०. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए (१) अनुशीलन समिति (२) सखाराम गणेश देउस्कर (३) सुब्रह्मण्य भारती (४) चिदरम्बरम् पिल्लै (५) अवनीन्द्रनाथ ठाकुर (६) खुदीराम वसु (८) अजीतसिंह (७) कोमागाता मारू (६) अरब वाला कर्नल लारेंस (१०) यतीन्द्र मुखर्जी (११) कर्त्तारसिंह (१२) पुलिनबिहारी दास (१३) चम्पारन में गांधी (१४) राउलट कानून (१५) दक्खिन भारत में हिन्दी प्रचार (१६) जलियाँवाला बाग (१७) अफगानिस्तान का स्वतंत्र होना।

११. मौंटेगू-चेम्सफोर्ड भारत-शासन-विधान की रूपरेखा क्या थी? किन बातों ने अंग्रेजी सरकार को वे शासन-सुधार देने का इरादा करने को प्रभावित किया था?

१२. मध्य एशिया में रूसी क्रांति का प्रभाव रोकने के लिए अंग्रेजों ने भारत से क्या क्या कार्रवाइयाँ कीं? परिणाम क्या हुआ?

१३. अफगानिस्तान ने अपनी विदेशी नीति अंग्रेजों को कब कैसे सौंप दी थी? कब कैसे उसे उस अंश में स्वतन्त्रता मिली?

अध्याय ६

गांधी युग

(१९२०—१९४१ ई०)

§१. **खिलाफत और असहयोग**—विश्व-युद्ध में अंग्रेजों और उनके मित्रों ने तुर्की साम्राज्य को तोड़ कर अरब को उससे अलग कर दिया और उसके इराक फिलिस्तीन सीरिया प्रान्तों को धर दबाया ही था, अब वे ठेठ तुर्की को भी दबा रहे थे। भारतीय मुसलमान १६वीं सदी से तुर्की के सुल्तान को इस्लाम का खलीफा मानते थे। खलीफा के साम्राज्य को टूटता देख वे क्षुब्ध होने

लगे। गान्धी ने उन्हें सरकार से असहयोग करने की सलाह दी। एक भारतीय खिलाफत कमिटी बन गई, जिसने मई १९२० में अंग्रेज़ी सरकार से असहयोग की घोषणा की।

दिसम्बर १९१९ में अमृतसर में कांग्रेस की बैठक हुई थी जिसने कांग्रेस को जनता की संस्था बनाने के लिए उसका नया संविधान बनाने का काम गांधी को सौंपा था। गांधी ने कांग्रेस को खिलाफत आन्दोलन का साथ देने और सरकार से असहयोग करने की सलाह दी। टिळक को यह पसन्द न था कि खिलाफत का साम्प्रदायिक आन्दोलन भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ टाँका जाय। पर १-८-१९२० को टिळक चल बसे। सितम्बर में कलकत्ते में कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में अंग्रेज़ी विधान-सभाओं स्कूल-कालेजों और अदालतों का बहिष्कार तय हुआ। विदेशी कपड़े का बहिष्कार होने पर स्वदेशी मिलों का कपड़ा काफी न होगा, इसलिए हाथ की कताई-बुनाई को बढ़ावा देने का निश्चय हुआ। दिसम्बर में गान्धी का बनाया नया संविधान भी, जिसमें कांग्रेस के प्रान्त भरसक भाषानुसार रक्खे गये थे, स्वीकार किया गया। कांग्रेस का ध्येय तब से "अंग्रेज़ी साम्राज्य के भीतर स्वशासन पाने" के बजाय "शांतिमय और उचित उपायों द्वारा स्वराज पाना" हो गया। नये संविधान और कार्यक्रम से कांग्रेस जनता की देशव्यापी संस्था बनने लगी। कांग्रेस की पुकार पर सरकारी स्कूलों कालेजों के विद्यार्थी उन्हें छोड़ने लगे और राष्ट्रीय विद्यापीठों की स्थापना हुई। अदालतें खाली तो न हुईं, पर उनका रोब जाता रहा। विधान-सभाओं में कांग्रेसी नहीं गये। असहयोग का अंतिम रूप कर-बन्दी होगा यह सब के मन में था। उसकी तैयारी के लिए ३० जून तक कांग्रेस के एक करोड़ सदस्य तथा स्वराज्य-कोश में एक करोड़ रुपया जमा करना तय हुआ।

जुलाई १९२१ में कराची में खिलाफत सम्मेलन में घोषणा की गई कि मुसलमानों के लिए अंग्रेज़ी फौज में रहना हराम है। कांग्रेस ने विदेशी कपड़े का पूरा बहिष्कार करना तय किया। उस प्रसंग में स्वयंसेवक घर घर से विदेशी कपड़ा इकट्ठा कर उसकी होली जलाते। सरकार ने ज़ोर का दमन जारी किया। कराची घोषणा की खातिर मुस्लिम नेता गिरफ्तार किये गये, तब कांग्रेस कार्य-

समिति के आदेश से देश भर में सभाएँ कर यह बात दोहराई गई कि किसी भी भारतीय का अंग्रेज़ी सरकार की नौकरी करना राष्ट्रीय गौरव और राष्ट्रहित के विरुद्ध है।

नवम्बर में प्रान्तीय कांग्रेस समितियों को सामूहिक सत्याग्रह करने का अधिकार दिया गया। चुनी हुई तहसीलों या जिलों में करबन्दी करना उस सत्याग्रह का मुख्य अंश होता। इसके बाद दमन और बढ़ा। दिसम्बर तक प्रायः ३० हज़ार सत्याग्रही जेलों में बन्द हो चुके थे।

सन् १६२१ के अन्त में अहमदाबाद में कांग्रेस हुई, जिसमें अगले संघर्ष के लिए महात्मा गांधी को अधिनायक नियत किया गया। वे सूरत जिले के बारडोली तालुके में कर-बंदी की तैयारी कर रहे थे। १ फरवरी १६२२ को उन्होंने वाइसराय रीडिंग को, जिसने अप्रैल १६२१ में चेम्सफोर्ड से कार्यभार लिया था, लिखा, "मैं आपसे अनुरोध करता हूँ कि आप देश की अहिंसात्मक हलचल में ··· सरकार की तटस्थता की घोषणा कर दें।··· यदि आप सात दिन के भीतर ऐसी घोषणा कर देंगे तो मैं तब तक के लिए सत्याग्रह मुलतवी कर दूँगा, जब तक सारे कैदी छूट कर नये सिरे से विचार न कर लें।"

यों गान्धी अब अपने साथी कैदियों को छुड़ाने को उत्सुक तथा सत्याग्रह मुलतवी करने को उनके साथ विचार करने को तैयार थे। विदेशी सरकार उनके इस झुकने से लाभ क्यों न उठाती और भला अपने विरुद्ध की जाती तैयारी में तटस्थ कैसे हो जाती? और वह भी उस दशा में जब कि उसके लिए ज्यादतियाँ करके—खास कर स्त्रियों पर बलात्कार करके—जनता को भड़का देना बहुत ही सुगम था? वही हुआ। वह हफ्ता बीतते बीतते गोरखपुर जिले के चौरीचौरा स्थान में उसी प्रकार भड़काई हुई जनता ने कुछ पुलिस को थाने में खदेड़ कर उस थाने को आग लगा दी। गान्धी ने इसपर सामूहिक सत्याग्रह बन्द कर दिया। १३ मार्च को गान्धी गिरफ्तार किये गये। उन्हें ६ साल की कैद दी गई।

§२. साम्प्रदायिक विद्वेष का उभड़ना—खिलाफत आन्दोलन द्वारा मुसलमानों की साम्प्रदायिक भावनाएँ अंग्रेजी शासन के विरुद्ध उभाड़ी

गई थीं; अंग्रेज़ों ने अब उन्हीं को फेर कर राष्ट्रीय आन्दोलन से टकरा दिया। इस काम में पंजाब का नया मुस्लिम जमींदार वर्ग जो अंग्रेजी कानून से ही खड़ा हुआ था [१०,७§१६] उनका विशेष सहायक हुआ। पंजाब की नई विधान-सभा में उस वर्ग की प्रधानता थी; उसका नेता फजले-हुसेन नये विधान के अनुसार मिनिस्टर बना था। उसने सरकारी नौकरियों के भी सम्प्रदाय-वार बँटवारे की नीति चलाई। सितम्बर १९२२ में मुलतान में हिन्दू-मुस्लिम दंगा हुआ। खिलाफत और कांग्रेस के नेता उसे शान्त न कर सके। उसके बाद फिसाद बढ़ता ही गया और सभी प्रान्तों में दंगे होते रहे।

इस बीच खिलाफत का विचित्र ढंग से अन्त हो गया। तुर्की के सुलतान ने ठेठ तुर्की का स्मिर्ना प्रान्त यूनान को देना मान लिया था। अंग्रेज़ों फ्रांसीसियों का जंगी बेड़ा तुर्की को घेरे पड़ा था, यूनान तो उनकी कठपुतली था। यूनानियों ने स्मिर्ना लेना चाहा तो तरुण तुर्कों ने कमाल अतातुर्क के नेतृत्व में उनका सामना किया, अंकरा में राष्ट्रीय विधान-सभा बुला कर तुर्क गणराज्य की नींव डाल दी, और रूस से गोला-बारूद की सहायता पा कर यूनानियों को मार भगाया (अक्तूबर १९२२)। तुर्की का सुलतान तब अंग्रेज़ों की शरण में भाग गया। राष्ट्रीय विधान-सभा ने उसके भतीजे को खलीफा बनाया, पर उसे कोई राजनीतिक अधिकार नहीं दिया। 'मित्र राष्ट्रों' ने तुर्की से सन्धि कर अपनी सेनाएँ हटा लीं (अक्तूबर १९२३)।

इसके बाद भारत से आगाखाँ और लन्दन में भारत-सचिव की कौंसिल के सदस्य अमीरअली ने तुर्की के प्रधान मन्त्री को लिखा कि "निर्वाचित प्रतिनिधियों की शक्ति कम करने को हम नहीं कहते, पर खलीफा की शक्ति मुसलमानों के मज़हबी मुखिया के रूप में शरीअत के अनुसार अक्षुण्ण रक्खी जाय।" कमाल अतातुर्क ने तुर्क राष्ट्र-सभा में यह दिखाते हुए कि इन हिन्दुस्तानी मुसलमानों की चिट्ठी अंग्रेज़ी में आई है, कहा, "आगाखाँ अंग्रेज़ों का खास कारिंदा है" और उसके द्वारा अंग्रेज़ों ने तुर्की को कमज़ोर बनाने की यह नई चाल चली है। ऐसे कारिंदों द्वारा वे तुर्की के भीतरी मामलों में दस्तन्दाज़ी न कर सकें, इस दृष्टि से तुर्क गणराज्य ने खिलाफत को मिटा देने का निश्चय

किया। ४ मार्च १९२४ को प्रातः दो बजे पहरेदारों ने खलीफा को जगा कर गद्दी पर बिठाया। तब उसको संविधान-सभा का आदेश सुनाया, और उसके अनुसार उसे गद्दी से उतार कर निर्वासित कर दिया। उसी दिन तुर्क मंत्रिमंडल में से धर्माधिकारी पद, तमाम मज़हबी मकतब और काज़ियों की कचहरियाँ उठा दी गईं। अगले वर्ष ईरान ने तुर्की का अनुसरण किया। अफगानिस्तान में अमीर अमानुल्ला ने भी वही राह पकड़ी।

५-२-१९२४ को गान्धी को जेल से छोड़ दिया गया। उन्होंने साम्प्रदायिक समझौते के लिए अनेक कोशिशें कीं; पर बेकार। वे उन्हीं मुस्लिम नेताओं से समझौते की बातें करते रहे जिनकी हैसियत अंग्रेज़ी शासन की बदौलत ही बनी थी और जिनका स्वार्थ उस शासन को तथा उसकी खातिर हिन्दू-मुस्लिम कलह को बनाये रखने में था! जब वे इन लोगों से विधान-सभाओं के स्थानों और सरकारी पदों के हिन्दुओं मुसलमानों में बँटवारे आदि के बारे में मोलभाव करते, तब एक तो अंग्रेज़ों के इन कारिन्दों का गौरव बढ़ता, दूसरे मानो जनता को यह बताया जाता कि स्वराज्य का तत्त्व ये स्थान और पद ही हैं तथा इनकी सम्प्रदाय-वार बाँट में कोई अनुचित लज्जास्पद बात नहीं है! यों गान्धी के साम्प्रदायिक एकता के इन प्रयत्नों से उलटा साम्प्रदायिक किचकिच बढ़ती गई। दिसम्बर १९२४ में मुस्लिम लीग की बैठक में खिलाफतियों—अर्थात् अंग्रेज़ों के विरुद्ध मुस्लिम आन्दोलन को जारी रखना चाहने वालों—की हार हुई और मुस्लिम लीग फिर से हिन्दुओं के विरुद्ध अंग्रेज़ों से विशेष अधिकार माँगने वाली संस्था के रूप में खड़ी हुई। खिलाफत के कई नेता भी उसमें जा मिले। १९२६ में हिन्दू-मुस्लिम दंगे अति पर पहुँच गये। उसके बाद युवक और मज़दूर आन्दोलन उठने से साम्प्रदायिक उन्माद कुछ उतरने लगा।

§३. **"स्वराज" पक्ष**—१९२२ के अन्त में चित्तरंजन दास ने कांग्रेस में "स्वराज पक्ष" खड़ा किया, जिसने विधान-सभाओं में जा कर "भीतर से असहयोग" करना तय किया। जो लोग १९२० में विधान-सभाओं में गये थे, उनमें से बंगाल के सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने मिनिस्टर बन कलकत्ता नगर को स्वशासन के अधिक अधिकार देने का कानून बनवाया था। उससे लाभ उठा

कर स्वराजियों ने कलकत्ते का शासन अपने हाथ में ले लिया। १९२५ में स्वयं कांग्रेस ने विधान-सभाओं के लिए चुनाव लड़ना तय किया, पर भीतर जा कर लगातार विरोध किया जाय कि अवसर अनुसार विरोध और सहयोग, इस प्रश्न पर कांग्रेसियों में विवाद बना रहा।

§४. **बीसवीं शताब्दी में अंग्रेज़ी पूँजीशाही द्वारा भारत का विदोहन**—हमने देखा है कि महायुद्ध काल में अंग्रेज़ों ने भारत में व्यवसाय स्थापित करने की आवश्यकता अनुभव की थी। युद्ध के बाद जापान ने अपना व्यापार बहुत बढ़ा लिया। भारत के कृषिप्रधान होने का लाभ तब इंग्लैंड के बजाय जापान को मिलने लगा। इस दशा में सन् १९२२ से भारत सरकार ने अपनी आयात-चुंगी नीति बदली, और व्यवसायों के संरक्षण के लिए एक टैरिफ़ बोर्ड (आयात-चुंगी समिति) नियुक्त की। भारतीय कपड़ा-मिलों की उपज पर सन् १८९४ से जो उपज-चुंगी (एक्साइज़ ड्यूटी) चली आती थी [१०, ७ § १३] वह १९२५ में हटाई गई। भारत में पूँजी लगाने वाले अंग्रेज़ व्यवसायियों ने भारतीय पूँजीपतियों को साथ लेना शुरू किया। उन्होंने देखा कि वैसा करने पर भी "अंग्रेज़ों का पुराना नियन्त्रण ज्यों का त्यों बना रहता है, क्योंकि हिन्दुस्तानी अपने मुनाफे भर से संतुष्ट हो जाते हैं, उन्हें प्रबन्ध में भाग लेने की इच्छा नहीं होती।"

इस बात को छोड़ कर अंग्रेज़ी साम्राज्य और पूँजीशाही द्वारा विक्टोरिया-युग में भारत के विदोहन-शोषण की जो पद्धति चल गई थी वह बीसवीं शताब्दी में भी जारी रही। १८९३-९९ में जैसे रुपये का विनिमय-मूल्य बढ़ाया गया था, वैसे ही १९२७ में फिर १ शिलिंग ४ पेनी से १ शि० ६ पेनी किया गया। १९२५ ई० तक भारत के आयात से निर्यात की अधिकता, जो भारत के खिराज को सूचित करती थी, वार्षिक ६७ करोड़ रुपये के लगभग अर्थात् नादिरशाह की लूट [९, ७ § १०] से कुछ अधिक रहने लगी थी।

§५. **अकाली और अन्य सत्याग्रह**—सन् १९१४ में विदेशों से जो सिक्ख भारत में विप्लव करने आये थे उनके विषय में अंग्रेज़ों ने सिक्ख गुरद्वारों के महन्तों से घोषणा करवा दी थी कि वे धर्मद्रोही हैं। १९२० में

जेलों से छूटने पर उन्हीं ने गुरद्वारों के सुधार के लिए संघर्ष खड़ा किया। यह सुधार चाहने वाले सिक्ख अपने को अकाली कहने लगे। १९२१ से २४ तक एक न एक प्रश्न को ले कर वे अहिंसात्मक लड़ाई चलाते रहे। उनके जत्थे लाठियों की मार और गोलियों की बौछार के सामने भी डटे रहते। इस संघर्ष के संचालन के लिए उन्होंने "शिरोमणि गुरद्वारा प्रबन्धक समिति" बना ली थी, जो गैरकानूनी करार दी गई, तो भी गुप्त रूप से संघर्ष चलाती रही। १९२५ में सरकार ने गुरद्वारा कानून बना कर गुरद्वारों को सिक्खों के निर्वाचित प्रतिनिधियों के हाथ सौंप दिया, तब यह संघर्ष शान्त हुआ। अकाली सत्याग्रह के नमूने पर देश में अनेक छोटे मोटे सत्याग्रह हुए। १९२८ में बारडोली के किसानों ने वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में लगान की बढ़ती के विरुद्ध सत्याग्रह किया जो सफल हुआ।

§ ९. क्रांति-दलों का फिर उठना, युवक और मजदूर जागरण—बीजोल्याँ का किसान आन्दोलन [१०,८§१३] इस बीच बराबर चलता रहा था। उससे सारे राजस्थान में जागृति हुई। विजयसिंह पथिक और उनके साथियों ने 'राजस्थान सेवा संघ' खड़ा कर उसके द्वारा जगह जगह किसानों को संघटित किया। कई राजाओं टिकानेदारों (जागीरदारों) को उनके कार्य में भीतरी सहानुभूति थी। किसानों और टिकानेदारों के बीच विवाद आने पर राजस्थान सेवासंघ वाले प्रायः समझौता कराने का यत्न करते, पर अंग्रेज़ी शासन के विरुद्ध खड़ा होने की भावना जगाते। अंग्रेज़ी सरकार ने अनेक रियासतों में अंग्रेज़ हाकिम भेज कर इस लहर को कुचलने का यत्न किया, सितम्बर १९२२ में 'भारतीय राज्यों में असन्तोषविरोधी रक्षा कानून' बनाया और अनेक स्थानों पर जलियाँवाला बाग से अधिक घिनौने कांड रचे। १९२३ के अंत तक सेवा-संघ के सब मुख्य कर्मी पकड़ लिये गये; उसके बाद भी जनता से टाकरे होते रहे।

पंजाब के "गदर" दल के कुछ लोग जहाँ अकाली संघर्ष के पीछे थे, वहाँ कुछ ने समूहवादी (कम्यूनिस्ट)† रूसी क्रांति से प्रेरणा पा कर

† कम्यूनिज़्म का मूल सिद्धान्त यह है कि उत्पत्ति के साधन व्यक्तिगत संपत्ति न

"किरती"* किसान संघटन के लिए प्रचार आरम्भ किया। मानवेन्द्रनाथ राय ने रूस में रहते हुए भारतीय क्रांतिचेष्टा को रूसी क्रांति की दिशा में फेरने का यत्न आरम्भ किया। बंगाल के क्रांतिदलों ने अपने को १९२१-२२ में पुनः संघटित किया।

रासबिहारी बसु के १९१५ के साथी शचीन्द्रनाथ सान्याल ने युक्तप्रांत (उत्तर प्रदेश) और पंजाब में अपने संघटन को "हिन्दुस्तान प्रजातंत्र मंडल" नाम से पुनर्जीवित कर उसका अनुशीलन-समिति [१०, ८ § ४] से सम्बन्ध जोड़ा। मंडल का उद्देश्य था "भारत के संयुक्त जनपदों का संघ प्रजातंत्र स्थापित करना।" उसके नेताओं ने यह भी सोचा कि २०-२५ बरस बाद फिर बड़ा युद्ध होगा, उस काल अंग्रेज़ों की भारतीय सेना को अपनी ओर मिलाने के लिए पहले से अपने आदमी उसमें भेजने होंगे, और उस सेना के संचालन के लिए क्रांतिकारी युवकों को अभी से शिक्षा दिलानी होगी। इसके लिए उन्होंने विदेशों में यत्न आरम्भ किया। रासबिहारी के प्रयत्न से जापान सरकार ने उनके दल द्वारा भेजे गये युवकों को ऊँची सामरिक शिक्षा देना मान लिया।

इस बीच बंगाल में कुछ युवकों ने त्रास के कार्य शुरू कर दिये। सरकार को दमन का मौका मिल गया। २५-१०-१९२४ को बंगाल सरकार ने एक अध्यादेश (आर्डिनांस) निकाल कर एकाएक नज़रबन्दियाँ शुरू कीं। युक्तप्रांत में हि० प्र० मंडल वालों ने भी त्रास के कार्य किये, जिससे उनके मुख्य केन्द्र पकड़ गये और सामरिक शिक्षा वाली योजना गड़बड़ा गई।

सार्वजनिक जीवन में भी कांग्रेसी और क्रांतिकारी आदर्शों का टाकरा होने लगा। कांग्रेस का ध्येय भी स्वराज था, पर उसका अर्थ किया जाता—"सम्भव हो तो अंग्रेज़ी साम्राज्य के भीतर, आवश्यक हो तो बाहर।" क्रांतिकारी पूर्ण स्वराज्य चाहते थे। उसके लिए सदा शान्तिमय साधनों तक परिमित रहना

हो कर समूह (कम्यून) की सम्पत्ति हों, इसलिए उसे समूहवाद कहना चाहिए। समूहयान शब्द और बेहतर होगा।

* पंजाबी 'किर्त' संस्कृत 'कृति' का रूपान्तर है। किरती = किर्तवाला, कर्मकर, श्रमी, मजदूर।

भी उन्हें न जँचता था। समझौतों से हिन्दू-मुस्लिम समस्या सुलझाने के बजाय वे संयुक्त निर्वाचन चाहते थे। इन उद्देशों से हि० प्र० मण्डल वालों ने १६२५ में "स्वाधीन भारत संघ" की और १६२६ में लाहौर में "नौजवान भारत सभा" की स्थापना की। उसकी देखादेखी समूचे देश में युवक सभाएँ स्थापित होने लगीं। तभी अनेक मजदूर-संघटन भी खड़े हुए।

"१६२७ के मध्य से दिगन्त पर फिर प्रकाश आने लगा।"* रीडिंग की जगह अर्विन वाइसराय हो कर आ चुका था (अप्रैल १६२६)। उसने घोषणा की कि भारत को नये शासन-सुधार देने के लिए एक आयोग (कमीशन) की नियुक्ति होगी। उसके अध्यक्ष का नाम साइमन होने से वह साइमन कमीशन कहलाया। दिसम्बर १६२७ में कलकत्ते में एक एकता-सम्मेलन हुआ, और मुस्लिम लीग ने उसकी बात मान कर विधान-सभाओं में मुसलमानों के लिए सुरक्षित स्थान रहने की शर्त्त पर संयुक्त निर्वाचन मान लिया। तभी कांग्रेस ने अपने मद्रास अधिवेशन में यह मन्तव्य पारित किया कि पूर्ण स्वतन्त्रता भारतीय जनता का ध्येय है। पर इसके साथ ही भारत का सर्वसम्मत संविधान-मसविदा बनाने के लिए सर्व-दल-सम्मेलन बुलाना तय किया, और यह प्रकट था कि वह पूर्ण स्वतन्त्रता वाला मसविदा न बनायगा। गान्धी ने कहा पूर्ण स्वतन्त्रता वाला मन्तव्य जल्दबाजी में बिना सोचे-समझे पारित किया गया है।

१६२८ में अधिकतर नजरबन्द छोड़ दिये गये। फरवरी १६२८ में साइमन कमीशन भारत आया। जहाँ जहाँ वह गया, जनता ने उसके बहिष्कार के प्रदर्शन किये। प्रदर्शनकारियों पर अनेक जगह लाठियों की मार पड़ी। उसके जवाब में क्रान्तिकारियों ने लाहौर में एक अंग्रेज अफसर को मृत्युदण्ड दिया। समूहवादियों (कम्यूनिस्टों) के कार्य के कारण उस वर्ष मजदूरों में बड़ी जागृति दिखाई दी। वर्ष के अन्त में कलकत्ते में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ जहाँ क्रान्तिमार्गियों ने फिर पूर्ण स्वाधीनता को ध्येय मनवाना चाहा। पर गान्धी के

* सुभाषचन्द्र वसु (१६३४)—इंडियन स्ट्रगल (भारतीय संघर्ष) पृ० १६४।

कहने से यह तय हुआ कि अंग्रेजी सरकार यदि एक बरस में भारत को साम्राज्य के भीतर उपराज्य (डोमीनियन) पद न दे तो कांग्रेस पूर्ण स्वाधीनता को लक्ष्य बना कर करबन्दी शुरू करेगी।

१६२६ में भारत भर के ३१ मजदूर नेताओं पर मेरठ में तथा भगतसिंह आदि हि० प्र० मण्डल के कुछ कर्मियों पर लाहौर में मुकदमा चलाया गया। लाहौर के अभियुक्तों ने राजनीतिक कैदियों से मनुष्योचित व्यवहार की माँग पर भूख-हड़ताल शुरू की, जिसमें यतीन्द्रनाथ दास ने ६२ दिन के अनशन के बाद प्राण त्याग दिये (१३-६-१६२६)। तभी बरमा में राजनीतिक कैदी भिक्खु विजय का १६४ दिन के अनशन के बाद देहान्त हुआ (१६-६-१६२६)। इन बलिदानों से देश में नई लहर उमड़ आई। भगतसिंह और यतीन दास दोनों उन युवकों में से थे जो १६२४ में सामरिक शिक्षा के लिए जापान भेजे जाने वाले थे। भगतसिंह सन् १६०६ में भारत से भागे हुए क्रान्तिकारी अजीतसिंह का भतीजा था।



यतीन्द्रनाथ दास

[यतीन दास का यह एकमात्र चित्र खुफिया पुलिस ने हवालात में लिया था। फोटो लेते वख्त यतीन ने अपना मुँह कुछ बनाया और हिला दिया था।—श्री किरण दास के सौजन्य से।]

दिसम्बर १६२६ में गान्धी अर्विन से यह जानने को मिले कि अंग्रेज़ी सरकार भारत को अपने साम्राज्य के भीतर उपराज्य पद देने को तैयार है कि नहीं। वे खाली हाथ लौटे। तब उस मास के अन्त में लाहौर में कांग्रेस ने भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता को अपना लक्ष्य घोषित किया। उसने यह भी कहा कि स्वाधीन भारत अंग्रेज़ी सरकार द्वारा भारत के नाम पर लिये गये ऋण को निष्पक्ष जाँच कराये विना स्वीकार न करेगा।

§ ७. अफगानिस्तान में राजक्रान्ति—अफगानिस्तान का अमीर

अमानुल्ला अपने देश के उन भागों को स्वतन्त्र कराने को बेचैन था जिन्हें अंग्रेजों ने दूसरे आंग्ल-अफगान युद्ध में दबा लिया था। उसने यह प्रयत्न आरम्भ किया कि उन इलाकों के पठान अंग्रेज़ों की सेना में भरती न हों। तब अंग्रेज़ों ने अमानुल्ला के सुधारों के विरुद्ध अपने कारिन्दों द्वारा अफगानों के साम्प्रदायिक भावों को उभाड़ा, और उसी कर्नल लारेंस को जिसने तुर्की के विरुद्ध अरबों को उभाड़ा था, अफगानिस्तान भेज वहाँ विद्रोह करा दिया (१९२८)। अमानुल्ला को देश छोड़ भागना पड़ा। पेशावर के एक होटल में काम करने वाले बच-ए-सक्का अर्थात् भिश्ती के बेटे ने काबुल की गद्दी हथिया ली। किन्तु छह मास के भीतर वहाँ फिर विद्रोह हुआ और सरदार नादिरखाँ काबुल जीत कर नादिरशाह नाम से गद्दी पर बैठा। उसने अपने देश में दृढ और प्रगतिशील शासन स्थापित किया और धीरे धीरे सुधार करने की नीति अपनाई, पर उसे अंग्रेज़ों से दब कर चलना पड़ा।

§८. नमक सत्याग्रह और गोलमेज़ सम्मिलनी—२६ जनवरी को समूचे भारत में महात्मा गांधी की लिखी यह स्वाधीनता-घोषणा पढ़ी गई—


महात्मा गांधी
दांडी यात्रा से ठीक पहले
की सन्ध्या को
[श्री नवीनचन्द्र गांधी
के सौजन्य से]

"स्वाधीन होना, अपने श्रमों का फल भोग करना और जीवन की आवश्यक वस्तुएँ पाना भारतीय जनता का अपरिहार्य अधिकार है। यदि कोई शासन जनता को इन अधिकारों से वंचित कर पीडित करता है, तो जनता का अधिकार है कि उसे बदल दे या उखाड़ दे। ... अंग्रेज़ी शासन ने भारत के लोगों को न केवल उनकी स्वाधीनता से वंचित किया, प्रत्युत जनता के विदोहन-शोषण पर अपनी नींव डाली है और भारत को आर्थिक राजनीतिक सांस्कृतिक और आध्यात्मिक पहलुओं से उजाड़ डाला है।

आर्थिक रूप से भारत को उजाड़ दिया गया

है। हमारी जनता से हमारी आय के अनुपात से बेहिसाब मालगुजारी वसूली जाती है। हमारी औसत आय दैनिक सात पैसा है; और हम जो भारी कर अदा करते हैं, उनमें से २० फी सदी किसानों से ली जाने वाली जमीन-मालगुज़ारी से और ३ फी सदी नमक-कर से आता है, जिसका कड़ा बोझ प्रायः गरीबों पर पड़ता है।

ग्राम-व्यवसाय ... नष्ट कर दिये गये हैं, जिससे किसान बरस में चार मास बेकार रहते हैं, और दस्तकारी के अभाव में उनकी बुद्धि कुंठित होती है।

आयात-निर्यात-चुंगी और मुद्रा-पद्धति को इस प्रकार चलाया गया है कि किसानों पर और बोझ लदें। आयात-चुंगी की दरों से ब्रितानवी कारखानेदारों का स्पष्ट पक्षपात प्रकट है। ... शासन अत्यन्त फिजूलखर्ची से (चलता है)। विनिमय-दर को और भी मनमाने ढंग से चलाया जाता है, जिससे देश से करोड़ों रुपये बाहर बहा करते हैं।

राजनीति में भारत का पद कभी इतना गिरा नहीं रहा जितना अंग्रेज़ी राज में। सुधारों से जनता को कोई असल राजनीतिक शक्ति नहीं मिली। हममें से बड़े से बड़ों को विदेशी के आगे झुकना पड़ता है। हमें अपने विचार प्रकट करने और परस्पर मिलने की स्वतन्त्रता नहीं है ...। (हमारी) शासन की प्रतिभा मार दी गई है ...।

हमारी कृष्टि को दबाते हुए, अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति हमें अपनी परिस्थिति से उखाड़ने की कोशिश करती और अपनी जंजीरों से चिपटे रहना सिखाती है।

हमें निहत्था करके आध्यात्मिक रूप से नामर्द बना दिया गया है, और हमारे देश पर कब्जा किये बैठी विदेशी सेना द्वारा ... हमें यह सुझाया जाता है कि हम स्वयं अपने देश और अपने घर-द्वार की ... रक्षा नहीं कर सकते। हमें विश्वास है कि यदि हम इस अमानुषी शासन को सहायता देना और कर देना बन्द कर दें और उत्तेजित किये जाने पर भी हिंसा के लिए न उभड़ें तो इसका अन्त निश्चित है ...।"

गांधी के १९२१ के साथी खिलाफती नेताओं ने, जो अब मुस्लिम लीगी थे, मुसलमानों से कहा कि इस संघर्ष में न पड़ो। पर जमियतुल-उलमा-ए-

हिन्द अर्थात् मुस्लिम धार्मिक विद्वानों की संस्था ने संघर्ष में जी जान से साथ दिया। मुस्लिम लीग अंग्रेज़ी-पढ़ों की संस्था थी, जमियतुल-उलमा पुराने ढर्रे के विद्वानों की संस्था जिसे वलीउल्लाही देशभक्तों ने स्थापित किया था।

गांधी सत्याग्रह के पहले अधिनायक नियत हुए। उन्होंने सबसे पहले नमक कानून तोड़ना तय किया, क्योंकि एक तो वह कर गरीबों के लिए स्वयं अभिशाप था, और दूसरे भारत का वार्षिक खिराज इंग्लिस्तान तक पहुँचाने की कल का वह ज़रूरी पुर्ज़ा था [१०, ६ § ७]। गान्धी ने सूरत जिले के समुद्र-तट के दांडी गाँव में नमक कानून तोड़ना तय किया, और उसके लिए १२-३-१६३० को ७६ साथियों के साथ अहमदाबाद के अपने साबरमती आश्रम से पैदल रवाना हुए। ६-४-१६३० को उन्होंने दांडी में मुट्ठी भर नमक चुगा और वह संकेत पाते ही भारत भर में नमक-कानून तोड़ा गया। जगह जगह गिरफ्तारियाँ हुईं और जनता पर गोलियाँ चलीं।

उधर बंगाल के एक त्रासवादी दल ने १८ अप्रैल की रात को चटगाँव में फौजी शस्त्रागार को लूट लिया। उसी रात बंगाल में नया अध्यादेश चलाया गया, और बंगाल के क्रांतिकारी नेताओं ने, जो १६२८ में जेलों से छुटे थे, अपने को फिर नज़रबन्द पाया।

२२ अप्रैल को पेशावर में जनता के जुलूस को गोलियों की मार से हटाने की कोशिश की गई। वीर पठान गोली खा कर गिरते गये, पर पीछे न हटे। चारसद्दा के खान अब्दुलगफ्फार खाँ जिन्हें वलीउल्लाहियों के सम्पर्क से जन-सेवा की प्रेरणा मिली थी, उन पठानों के नेता थे। उस प्रसंग में गढ़वाली सैनिकों को निहत्थी जनता पर गोली दागने को कहा गया। चन्दनसिंह के नेतृत्व में उन सैनिकों ने वैसा करने से इनकार किया। उन्हें फौजी कानून से सजाएँ दी गईं। पीछे पेशावर शहर को फौज के हाथ दे



खान अब्दुलगफ्फार खाँ
[श्री नवीन गान्धी के सौजन्य से]

दिया गया।

उधर गांधी ने सूरत जिले में धरासना के सरकारी नमकघर पर 'धावा' मारना तय किया। इसपर उन्हें गिरफ्तार कर जेल भेजा गया। इसके बाद विभिन्न प्रान्तों में अनेक कानूनों को तोड़ना और अंग्रेज़ी माल का बहिष्कार जारी रहा। गुजरात में बारडोली और बोरसद के और कर्णाटक में उत्तरी कन्नड तट के किसानों ने मालगुज़ारी देना बन्द कर दिया। बंगाल के मेदिनीपुर ज़िले में भी कर-बन्दी हुई। बंगाल में विदेशी कपड़े का आयात साल के अन्त में ६५ फी सदी तक गिर गया। जिन इलाकों में कर-बन्दी हुई थी, वहाँ समूचे गाँवों को घेर कर पीटना लूटना जलाना, अश्लील अत्याचार, किसानों से वसूली न होने पर जिस किसी राही से उसका माल छीन लेना और उससे कहना कि अमुक किसान से वसूल कर लो—ऐसे तरीकों से शासन चलाया गया। बोरसद में ३० वर्गफुट का एक पिंजरा १८ कैदियों के लिए हवालात का काम देता। दिनरात में केवल एक बार वह खोला जाता। बारडोली में गिरफ्तार किसानों को नपुंसक बनाने का डर दिखाया जाता। भारतीय पुलिस और सेना विदेशी के कहने पर ऐसे कार्य क्यों करती रही? बात यह थी कि साधारण पुलिस और सेना के दिल में काफी सहानुभूति थी, पर राष्ट्र के नेता इतनी दूर तक जाने को तैयार न थे कि उन्हें नौकरी छोड़ देने को कहते, और यदि उनका अधिकांश नौकरी छोड़ देता तो उससे उत्पन्न परिस्थिति की जिम्मेदारियाँ उठा लेते।

इस बीच सरकार ने भारत से ७३ व्यक्तियों को विभिन्न प्रान्तों और रियासतों का प्रतिनिधि कह कर लन्दन भेजा, और वहाँ पार्लिमेंट के १३ सदस्य इन लोगों के साथ शासन-सुधारों के विषय में बातचीत करने लगे। युरोप में बराबरी की हैसियत से खुली बातचीत मेज़ के चौगिर्द गोल दायरे में बैठ कर की जाती है, इसलिए यह गोलमेज़-सम्मिलनी कहलाई। १६-१-३१ को पहली गोलमेज़ सम्मिलनी को विसर्जित करते हुए ब्रितानिया के प्रधान मन्त्री ने नये शासन-विधान की रूपरेखा यों प्रकाशित की—भारत का केन्द्रीय शासन संघीय विधान-सभा के प्रति, जिसमें प्रान्तों और रियासतों के प्रतिनिधि होंगे, अंशतः

जिम्मेदार होगा; अंशतः इसलिए कि सामरिक और वैदेशिक तथा वित्तीय साख के मामलों में संघ-सभा का नियन्त्रण न चलेगा; और प्रान्तों को भीतरी मामलों में पूरी स्वतन्त्रता दी जायगी।

इसके बाद कांग्रेस कार्य-समिति के सब सदस्य छोड़ दिये गये। गान्धी और अर्विन की बातचीत चली और दोनों का समझौता हो गया। कांग्रेस ने संघ के ध्येय को माना, गोलमेज़-सम्मिलनी में अपना प्रतिनिधि भेजना स्वीकार किया, तथा सत्याग्रह और अंग्रेज़ी माल का बहिष्कार बन्द किया। सरकार ने सत्याग्रह-विरोधी अध्यादेश मुकदमे सजाएँ और जब्तियाँ रद्द कीं। पर गांधी ने राष्ट्र-नेता रूप में नहीं, एक पक्ष के नेता रूप में बात की। क्रान्तिकारी कैदियों और नजरबन्दों की तो बात दूर, उन सैनिकों को भी छुड़ाने की चर्चा तक उन्होंने न की जिन्होंने सत्याग्रही जनता पर गोली चलाने से इनकार किया था।

मार्च १९३१ में कराची में कांग्रेस की बैठक हुई। उससे ठीक पहले २३ मार्च को भगतसिंह और और उसके साथियों को फाँसी लगी। "उस काल भगतसिंह का नाम भारत में उतना ही प्रसिद्ध और प्रिय था जितना गान्धी का।"† कराची कांग्रेस ने गान्धी-अर्विन समझौता स्वीकार किया, और भारत के ऋण की निष्पक्ष जाँच की माँग की। उसने जनता के मूल अधिकारों के विषय में भी अपना मन्तव्य प्रकाशित किया जिसमें कहा गया कि समाज में अधिकतम आर्थिक समानता लाना कांग्रेस का ध्येय होगा तथा उसका अनुसरण करते हुए बड़े से बड़े पद का वेतन ५००) मासिक से अधिक न रक्खा जायगा। कांग्रेस के १५-१६ प्रतिनिधि गोलमेज़-सम्मिलनी में लेने को अंग्रेज़ सरकार तैयार थी, पर कांग्रेस ने गांधी को अपना एकमात्र प्रतिनिधि चुना। गांधी ने मुस्लिम लीग के नेता मुहम्मदअली जिना से इस आशा से पहले की तरह मोलभाव शुरू किया कि सम्मिलित माँग तैयार कर सकें। सुभाषचन्द्र

† पट्टाभि सीतारामय्या (१९३५)—हिस्टरी ऑफ़ दि कांग्रेस (कांग्रेस का इतिहास) पृ० ७६७।

वसु और दो राष्ट्रवादी मुसलमानों ने गांधी से कहा कि ऐसा व्यर्थ प्रयत्न करके राष्ट्र-विरोधियों की हैसियत बढ़ावें नहीं, प्रत्युत संयुक्त निर्वाचन के लिए राष्ट्रवादी हिन्दू-मुसलमानों की संयुक्त माँग दृढ़ता से उपस्थित करें। पर गान्धी तब उनकी बात का महत्त्व नहीं समझ सके।

तभी अर्विन से विलिंग्डन ने शासनभार लिया और समझौते की शर्तें टूटने लगीं। गान्धी गोलमेज़-सम्मिलनी में गये तो वहाँ भारतीय प्रतिनिधियों से एकमत माँग कराने के उनके सब जतन बेकार हुए। तब उन्हें अपनी भूल दिखाई दी। उन्होंने कहा—"मैंने पहले (सम्मिलनी के) सदस्यों की सूची पर विचार न किया था। अब देखता हूँ, वे राष्ट्र के चुने हुए नहीं, सरकार के चुने हुए हैं। भारत में जैसे पक्ष हैं उनकी तुलना में इसमें कुछ अत्यन्त स्पष्ट रिक्त स्थान हैं।... भारतीय प्रतिनिधिमण्डल का स्वरूप ही समझौता न होने का कारण है।" राष्ट्रवादी मुस्लिमों का कोई प्रतिनिधि वहाँ न था। कांग्रेस की तरफ से हिन्दू-मुसलमानों की अच्छी मण्डली वहाँ गई होती और उसने संयुक्त निर्वाचन आदि की संयुक्त माँग रक्खी होती तो वैसी दशा न होती। पर वहाँ जो हिन्दू मुस्लिम अछूत आदि दलों के "प्रतिनिधि" बना कर भेजे गये थे वे 'स्वराज्य' के लाभों के बँटवारे पर दुनियाँ के सामने अनथक किचकिच करते रहे। अन्त में अंग्रेज़ प्रधान मन्त्री राम्से मैकडौनल्ड ने उन झगड़ती बिल्लियों के बीच अपने को बन्दर रूप में पेश किया। गान्धी ने उस कार्रवाई को 'लाश चीरना' कहा। हिन्दुओं और अछूतों के बीच पच्चर ठोक देने की मैकडौनल्ड की कोशिश को देखते हुए उन्होंने कहा—"क्या अछूत सदा अछूत बने रहेंगे? अछूतपन ज़िन्दा रहे इससे तो मैं हिन्दुत्व का मर जाना पसन्द करूँगा। यदि मुझ अकेले को भी इसका मुकाबला करना पड़ा तो जान तक दे कर करूँगा।"

२८-१२-१९३१ को गान्धी वापिस मुम्बई पहुँचे। तब तक समझौता टूट चुका था। कांग्रेस ने फिर नमक-सत्याग्रह तथा अंग्रेज़ी माल का बहिष्कार चलाना तय किया। विलिंग्डन ने एकाएक दमन से उसे कुचलने का यत्न किया। गान्धी भी फिर जेल भेजे गये (४-१-१९३२)। आन्दोलन का

संचालन गुप्त रूप से होने लगा। गुजरात के किसान इस बार नहीं उठे, पर बंगाल में जनता-संघर्ष के साथ त्रास-प्रतित्रास जारी रहे। मई १६३२ में मुम्बई में हिन्दू-मुस्लिम दंगा शुरू हुआ जो छह सप्ताह चला। उससे आन्दोलन की रीढ़ टूट गई।

इस बीच अगस्त में राम्से मैकडौनल्ड की "साम्प्रदायिक पंचाठ*" प्रकाशित हुई। उसमें अछूतों के लिए पृथक् निर्वाचन भी था। गान्धी ने उसके विरोध में अपनी प्रतिज्ञानुसार आमरण उपवास शुरू किया। तब पूने में हिन्दू नेताओं का सम्मेलन हुआ, जिसमें उस पृथक् निर्वाचन को अंशतः बदल देने की बात सबने मान ली। सरकार ने भी उसे मान लिया।

तब तक सत्याग्रह आन्दोलन बहुत कुछ कुचला जा चुका था, पर बंगाल में संघर्ष बाढ़ पर था। उसे दबाने को वहाँ सेना भेजी गई और मेदिनीपुर ढाका चटगाँव आदि जिलों में प्रायः सैनिक शासन स्थापित किया गया।

मई १६३३ में गान्धी ने फिर उपवास शुरू किया; तब उन्हें जेल से छोड़ दिया गया। उन्होंने सत्याग्रह को तीन मास के लिए स्थगित करा के विलिंग्डन से समझौते की बात करनी चाही, पर विलिंग्डन ने इनकार किया। तब गान्धी ने यह तय किया कि सामूहिक सत्याग्रह बन्द कर व्यक्तिगत सत्याग्रह जारी रक्खा जाय। अगस्त के शुरू में उन्हें फिर एक साल की कैद दी गई। उन्होंने फिर अनशन किया और २३ अगस्त को छोड़ दिये गये। उन्होंने कहा, मैं साल भर अपने को कैदी मानूँगा, और तब तक केवल हरिजन (अछूत)-सेवा करूँगा। व्यक्तिगत सत्याग्रह भी कुछ देर बाद ठंडा पड़ गया। अप्रैल १६३४ में गांधी ने देश को सत्याग्रह बन्द करने की सलाह दी। कांग्रेस ने उसे मान कर विधान-सभाओं के चुनाव लड़ना तय किया। तब उसके सामने साम्प्रदायिक पंचाठ पर अपना मत देने का प्रश्न आया। कांग्रेस ने कहा वह उसे न स्वीकार करती, न ठुकराती है! इसका यह अर्थ था कि कांग्रेसी नेता

* पंचाठ = पंच का निर्णय। यह सुन्दर कश्मीरी शब्द भारत के संविधान में हिन्दी में अपना लिया गया है।

साम्प्रदायिक निर्वाचन को बुरा मानते हुए भी वैसा कहने को तैयार न थे।

§९. **सन् १९३५ का शासन-विधान और कांग्रेस का अंग्रेज़ी साम्राज्य से सहयोग**—१९३५ में भारत-शासन का नया विधान अंग्रेजी पार्लिमेंट से स्वीकृत हुआ। इसके अनुसार कहने को भारत के विभिन्न प्रान्त और रजवाड़ अपने भीतरी मामलों में स्वतन्त्र होने को थे और उन्हीं का संघ भारत-सरकार होती। भारतवर्ष की संघ-प्रजातन्त्र रूप में कल्पना पहलेपहल सन् १९२३-२४ में हिन्दुस्तान प्रजातन्त्र मंडल वालों ने की थी [ऊपर § ६] किन्तु उस संघ की इकाइयाँ भारत के परम्परागत जनपद (भाषा-प्रदेश) होते। अंग्रेजों के प्रस्तावित इस संघ में अंग्रेजी प्रान्त और रजवाड़े ज्यों के त्यों रहते तथा संघ की विधान-सभा में प्रान्तों की प्रजा के और रजवाड़ों के राजाओं के प्रतिनिधि होते। उस विधान-सभा का शासन पर पूरा नियन्त्रण न होता—समर-नीति और विदेश-नीति का चलाना तथा भारत की 'वित्तीय साख' बनाये रखना गवर्नर-जनरल के संरक्षित कार्य होते। भारत की वित्तीय साख कायम रक्खी जाती लन्दन के उन महाजनों के हित में जिनके हाथों में भारत गिरवी था। उनकी दृष्टि में वह साख तभी तक रहती जब तक भारत अपना सालाना खिराज देता चलता।

संघ के प्रान्त कहने को स्व-शासित होते, पर उनमें भी गवर्नरों के विशेष अधिकार थे, तथा मुख्य भृत्य-वृन्दों की नियुक्ति तथा उस नियुक्ति की शर्तें निश्चित करना अंग्रेजी सरकार के भारतसचिव के हाथ में था, और उनकी तनखाहें संरक्षित कर दी गई थीं। १९१९ के संविधान में कुल ७० लाख आदमियों को मत देने का अधिकार था ; इसमें ३६० लाख को दिया गया। सम्प्रदायों के अनुसार पृथक् निर्वाचन जारी रक्खा गया; असम और बंगाल में गोरे व्यापारियों को उनकी संख्या से बहुत अधिक स्थान दिये गये। छोटे सम्प्रदायों का संरक्षक अंग्रेज़ गवर्नरों को बनाया गया। संघ अथवा प्रान्तों की विधान-सभाएँ अंग्रेज़ व्यापारियों के अहित का कोई काम करें तो उसे रद्द करने के विशेष अधिकार गवर्नरों और गवर्नर-जनरल को दिये गये। भाषाजनपद-आन्दोलन की बात अंशतः मान कर सिन्ध और उड़ीसा पृथक् प्रान्त बनाये

गये। पहले सिन्ध मुम्बई प्रान्त के अन्तर्गत था और उड़ीसा बिहार के साथ टँका होता था। अप्रैल १९३६ में विलिंग्डन के स्थान में लिनलिथगो वाइसराय बन कर आया।

१९३७ के शुरू में नई प्रान्तीय विधान-सभाओं के चुनाव हुए। युक्त-प्रान्त बिहार मध्यप्रान्त उड़ीसा मद्रास और मुम्बई में, जहाँ बहुसंख्यक जनता हिन्दू है, कांग्रेस का बहुमत आया। मुस्लिम लीग अपने को कांग्रेस के मुकाबले में मुसलमानों की प्रतिनिधि संस्था कहती थी। पर बिहार उड़ीसा और मध्यप्रान्त के मुस्लिम स्थानों में से उसे एक भी न मिला, सब जगह स्वतन्त्र प्रतिनिधि चुने गये। युक्तप्रान्त मद्रास और मुम्बई के मुस्लिम स्थानों में से प्रायः आधे लीग ले सकी। सीमाप्रान्त में ३८% और असम में ३५% स्थान कांग्रेस को मिले। सीमाप्रान्त में जहाँ ८२% स्थान मुसलमानों के लिए रक्षित थे, मुस्लिम लीग एक भी न पा सकी। सिन्ध विधान-सभा के ६० स्थानों में से कांग्रेस ८ ले पाई, लीग एक भी नहीं। वहाँ मुख्य दल अल्लाबख्श का था जो पूर्णतः राष्ट्रवादी थे; पर उनके दल का भी अकेले बहुमत न हुआ। पंजाब की विधान-सभा में १९२१ से अंग्रेज़ों के खड़ किये हुए जमींदार वर्ग की प्रमुखता थी। उनमें मुस्लिमों के अतिरिक्त कुछ हिन्दू सिक्ख भी थे, अतः उन्होंने अपने दल का नाम 'एका-वादी' (यूनियनिस्ट) रक्खा था। राष्ट्रवादियों ने १९२१ से १९३६ तक पंजाबी किसानों को जगा कर उस वर्ग के मुकाबले में खड़ा करने की कोई चेष्टा न की थी, अतः अब भी उसकी प्रमुखता बनी रही।

बंगाल की स्थिति सबसे पेचीदा थी। बंगाल प्रान्त जैसा बना हुआ था उसकी जनसंख्या ५४½% मुस्लिम थी; उसकी विधान-सभा के २५० स्थानों में से २९ गोरे और अधगोरे व्यापारियों को दिये गये थे। पूर्वी बंगाल के किसान प्रायः मुस्लिम थे और उनके एक नेता इस वख्त फजलुल-हक थे। हक ने चाहा कि कांग्रेस उनके साथ मिल मुस्लिम क्षेत्रों में भी उम्मीदवार खड़े करे। बंगाल कांग्रेस के मुख्य नेता सुभाषचन्द्र वसु तब जेल में थे, और केन्द्रीय कांग्रेस-नेताओं की बंगाली राष्ट्रवादियों से पटती न थी, क्योंकि बंगाली प्रायः क्रान्तिवादी थे। इस दशा में कांग्रेस ने हक का साथ नहीं दिया। चुनाव होने

पर ११७ मुस्लिम स्थानों में से ३६ हक के "कृषक प्रजा पक्ष" को मिले, ४० मुस्लिम लीग को तथा ४१ स्वतन्त्र व्यक्तियों को। कांग्रेसी और उनके साथी ७८ चुने गये। हक ने तब फिर कांग्रेस के साथ सम्मिलित मन्त्रिमण्डल बनाने का प्रस्ताव किया, पर कांग्रेस-नेताओं ने उसे फिर नहीं माना। तब हक ने मुस्लिम लीग और गोरों से मिल कर मन्त्रिमण्डल बना लिया।

अप्रैल १९३७ से बरमा को भारत से अलग किया गया तथा भारत के प्रान्तों में नये मन्त्रिमण्डल बने। कांग्रेस पक्ष ने पहले मन्त्रि-पद लेने से इनकार किया, पर जुलाई में छह प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल स्थापित हुए। पीछे सीमाप्रान्त में भी कांग्रेसी बहुमत हो गया और कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बना, तथा असम में कांग्रेस का सम्मिलित मन्त्रिमण्डल बन गया। सिन्ध में भी अल्लाबख्श ने कांग्रेस से मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए सहयोग माँगा, पर उन्हें सहयोग नहीं मिला।

कांग्रेस ने अपने शासन में किसानों को राहत देने की तथा नशाबन्दी की कोशिशें कीं। न केवल सब सरकारी कामकाज प्रत्युत युवक-युवतियों की शिक्षा भी अंग्रेज़ी में ही चलती रही। प्रान्तीय 'स्वशासन' के भीतर अंग्रेज़ी सरकार द्वारा संघटित नियुक्त और संचालित पुराने भृत्यवृन्द का ढाँचा बना ही था। उसकी भारी तनखाहों पेंशनों में प्रान्तों की आमदनी का बड़ा अंश निकल जाता था। वह भृत्यवृन्द पिछली शताब्दी के भारतीय राज्यों के भीतर की अंग्रेज़ी आश्रित सेना की तरह प्रान्तीय स्वशासन की भीतर से रेढ़ मार सकता था। मन्त्रिगण यदि उस भृत्य-वृन्द में से राष्ट्र-पक्षपातियों को पहचान कर उन्हें महत्त्व के स्थानों पर बिठाने का, उनके द्वारा किन्हीं राष्ट्रीय आदर्शों को चरितार्थ करने का और उस भृत्यवृन्द में से निचले और गरीब वर्ग को अपनी तरफ मिलाने का प्रयत्न करते तो उनकी और गवर्नरों की आपेक्षिक शक्ति की परख होती। पर वैसा कोई प्रयत्न नहीं हुआ। यह प्रकट था कि कांग्रेसी मन्त्री अपने शासन में इस भृत्यवृन्द की शक्तियों का, खास कर पुलिस और सेना का, जितना कम प्रयोग करते, उतने ही शक्तिशाली बनते जाते। महात्मा गांधी इस बात की ओर बराबर ध्यान खींचते रहे। किन्तु मजहबी दंगों में कांग्रेसी मन्त्रियों ने

गोरी फौज तक बुलाई और उस फौज से जनता पर गोलियाँ तक चलवाई! उसके अतिरिक्त किसान और मज़दूर आन्दोलनों को काबू करने के लिए भी कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने अंग्रेज़ी सरकार के दमन-यन्त्र से काम लिया, जिसके कारण वे उस सरकार पर अधिक निर्भर होते गये। इस अवधि में मुस्लिम लीग ने कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के विरुद्ध बराबर आन्दोलन जारी रक्खा।

युक्त प्रान्त और बिहार में जो क्रान्तिकारी कैदी थे, उन्हें कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने आरम्भ में ही छोड़ दिया था, पर बंगाल में मुस्लिम लीग मन्त्रिमण्डल ने उन नजरबन्दों को स्वयं न छोड़ा जो १६३० से जेलों में थे। देश भर में उन्हें छुड़ाने के लिए ज़ोर की पुकार उठी, तब वे छोड़े गये।

फरवरी १६३८ में सिन्ध में अल्लाबक्श मन्त्रिमण्डल बनाने में सफल हुए। उन्होंने स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं में संयुक्त निर्वाचन चला दिया जो कि कांग्रेसी प्रान्तों में भी नहीं हुआ था। सिन्ध में मुस्लिम लीग भी खड़ी हुई और अल्लाबख्श पर बहुत दबाव डाला गया कि उसमें सम्मिलित हो जायँ, पर वे सिद्धान्त से न टले। कांग्रेस पक्ष ने तब भी यह कह कर उनका साथ न दिया कि मुसलमानों में उनका अनुसरण नहीं है। सच बात यह है कि अंग्रेज़ों के इशारे पर चलने वाले मुस्लिम अल्लाबख्श के साथ न थे, और उन प्रतिगामी मुस्लिमों का अल्लाबख्श जैसा सामना करने को तैयार थे, कांग्रेस को वैसा करने में झिझक थी। कांग्रेस-नेताओं की उस झिझक के कारण मुस्लिम लीग और शोख होती गई।

१६३८ में सुभाषचन्द्र वसु कांग्रेस के अध्यक्ष थे। १६३६ में वे फिर उस पद के लिए खड़े हुए और गांधी के विरोध के बावजूद चुने गये। किन्तु उन्हें शीघ्र बाद त्यागपत्र देना पड़ा और कांग्रेस से निकाल दिया गया। अपनी पहली अध्यक्षता में उन्होंने वैज्ञानिक मेघनाद साहा की प्रेरणा से देश के सामने यह विचार रक्खा कि देश के आर्थिक जीवन के विकास की योजना विचारपूर्वक बनाई जाय। उसके लिए उन्होंने कांग्रेस की ओर से एक योजना-समिति जवाहरलाल नहरू को प्रमुखता में नियुक्त की।

§१०. रजवाड़ों में जन-जागृति—सन् १६३०-३३ के नमक

सत्याग्रह और अन्य संघर्ष का प्रभाव देसी राज्यों पर भी हुआ था और अधिकांश राज्यों में 'प्रजामण्डल' या वैसी अन्य संस्थाएँ स्थापित हो गई थीं। १९३१ में कश्मीर की जनता अपने अधिकारों की माँग कर उठ खड़ी हुई। वह जनता ९१% मुस्लिम थी और कश्मीर का महाराजा हिन्दू, अतः अंग्रेज़ों के कारिंदों ने थोड़ा जतन करके जनता के उस आन्दोलन को साम्प्रदायिक रूप दे दिया। तभी अलवर राज्य की मेव प्रजा में भी आन्दोलन चला। उसकी जड़ में मेव कृषकों की बेचैनी तथा समूचे मेवात प्रदेश को, जो पंजाब के साथ टँके हुए गुडगाँवा ज़िले तथा अलवर और भरतपुर रियासतों में बँटा हुआ था, एक करने की आकांक्षा थी। पर मेव भी नव-मुस्लिम थे और अलवर का राजा और जागीरदार हिन्दू, अतः उनके आन्दोलन को भी अंग्रेज़ी राजनीतिक विभाग के कारिन्दों ने आसानी से साम्प्रदायिक बना दिया।

प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बन जाने पर तथा यह बात सामने आने पर कि भारतीय संघ में रजवाड़ों के प्रतिनिधि भी होंगे, सब रजवाड़ों में फिर ज़ोर की लहर चली। मैसूर और त्रावकोर में उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए संघर्ष चला। उड़ीसा राजस्थान पंजाब और काठियावाड़ की रियासती प्रजा ने बुनियादी अधिकारों के लिए लड़ाई छेड़ी। १९३९ में राजकोट जयपुर और उड़ीसा की रियासतों के संघर्ष ने उत्कट रूप धारण किया और हैदराबाद में जनता के मूल धार्मिक अधिकारों के लिए आर्यसमाज ने सत्याग्रह छेड़ा। राजकोट के आन्दोलन में गांधी और वल्लभभाई पटेल ने स्वयं भाग लिया, पर अंग्रेज़ी सरकार ने मुस्लिम लीग को उनके मुकाबले खड़ा कर आन्दोलन को विफल कर दिया। उड़ीसा की रियासतों से प्रजा को हज़ारों की संख्या में प्रवास करना पड़ा। हैदराबाद का सत्याग्रह सफल हुआ। जयपुर और अन्य रजवाड़ों में किये गये सत्याग्रह अन्ततः विफल हुए; मार्च १९३९ में गांधी ने उन्हें स्वयं बन्द कर दिया। महाराष्ट्र में औंध के राजा ने स्वयं उत्तरदायी शासन स्थापित किया और गाँव-पंचायतों की नींव पर राज्यसंस्था खड़ी करने की कोशिश की। कश्मीर का आन्दोलन सीमाप्रान्त के खान अब्दुलगफ्फारखाँ के प्रभाव से १९३९ में शुद्ध राष्ट्रीय बन गया। जोधपुर आदि कुछ राज्यों में १९४०-४१

तक भी आन्दोलन चलता रहा।

नेपाल के प्रधान मन्त्री चन्द्रशमशेर [१०,७§११] ने १६२६ तक शासन किया था। १६१०-११ में नेपाल के राजा ने तथा चन्द्र के भाई देवशमशेर ने स्वतन्त्र होने की चेष्टा की, पर वे हारे। चन्द्र ने प्रजा में किसी को चूँ भी करते पाया तो कुचल दिया; अपनी स्त्री पर भी चौकसी रक्खी! कहते हैं, उसने अपने २६ बरस के शासन में ५० करोड़ रुपया अपने सात बेटों के लिए नेपाल के बाहर जमा किया, भीतर उन्हें जो जागीरें दीं सो अलग। नवम्बर १६२६ में उसकी मृत्यु पर उसका भाई भीमशमशेर उत्तराधिकारी हुआ। वह शासन में कुछ सुधार करना चाहता था, पर १६३२ में उसकी विष से मृत्यु हुई, और सबसे छोटा भाई युद्धशमशेर प्रधान मन्त्री बना। १६३८ में नेपाल के भीतर और बाहर प्रजा का आन्दोलन उठा। पटने में नेपाली प्रजापरिषद् स्थापित हुई जिसका ध्येय था महाराजा की छत्रच्छाया में उत्तरदायी शासन स्थापित करना। शुक्रराज शास्त्री ने काठमांडू में गीता का प्रवचन कर भाषण-स्वतन्त्रता का अधिकार सिद्ध करना चाहा। उन्हें छह बरस की कैद मिली। अक्तूबर १६४० में नेपाल में बहुत सी गिरफ्तारियाँ कर एक मुकदमा चलाया गया, जिसके अंत में शुक्रराज सहित चार व्यक्तियों को मृत्यु, १३ को आजीवन कैद और २८ को ६ से २० बरस तक की कैद का दण्ड दिया गया। २६-१-१६४१ को शुक्रराज और धर्मभक्त को फाँसी दी गई, उनके दो साथी गोली से मारे गये। इन चारों की लाशों पर यह विज्ञापन चिपका कर कि नेपाल में विद्रोहियों की ऐसी गति होती है २४ घंटे प्रदर्शन किया गया!

§११. **गांधी युग में सामाजिक सांस्कृतिक प्रगति**—गांधी युग में सामाजिक सुधार को बड़ा बढ़ावा मिला। अछूतपन को मिटाना तो गांधी के कार्यक्रम का मुख्य अंश ही था। उसके अतिरिक्त हज़ारों आदमियों के जेल का पानी पी आने से भी हिन्दुओं की छूतछात बहुत कुछ घटी। स्त्रियों ने भी आन्दोलन में भाग लिया, जिससे उनपर लगे हुए निरर्थक सामाजिक बन्धन टूटने लगे।

गढ़वाल-कुमाऊँ में बेगार और कुली-उतार [१०, २ § ४] के विरुद्ध

सन् १६२१ भर ज़ोर का आन्दोलन चला। अलमोड़ा ज़िले में बागेश्वर में माघ-संक्रान्ति के दिन लोग सरयू में स्नान करते हैं और बड़ा मेला लगता है। जनवरी १६२२ में वहाँ हज़ारों पहाड़ी किसानों ने इकट्ठे हो कर प्रण किया कि आगे से हम बेगार और कुली-उतार न देंगे, और वहीं इकट्ठे हुए पटवारियों ने कुली-उतार विषयक सब कागज़ सरयू में बहा दिये। यों सौ बरस से चली आती वह गुलामी की प्रथा समाप्त हुई।

गान्धी युग में चन्द्रशेखर वेंकटरामन (१८८८-   ) बीरबल साहनी (१८६१-१६४६), मेघनाद साहा (१८६३-१६५६),२ सत्येन्द्र वसु, होमी भाभा आदि वैज्ञानिकों ने ऊँची मौलिक खोजें कीं। भाभा के सिवाय इन सब वैज्ञानिकों की मानसिक जागृति १६०५-११ के स्वदेशी आन्दोलन में हुई थी। मेघनाद साहा ने अनुशीलन-समिति में रह कर प्रेरणा तथा प्रफुल्लचन्द्र राय से शिक्षा पाई थी। रामन, साहा, वसु और भाभा की खोजें ज्योतिर्भौतिकी (astrophysics) या गणित के क्षेत्र में थीं जिनसे उस काल उगती हुई परमाणुभौतिकी की जड़ें पड़ीं।

गान्धी युग के आरम्भ में अनेक राष्ट्रीय विद्यापीठों की स्थापना से यह आशा लगी थी कि उनसे राष्ट्रीय शिक्षा की उन्नति और देशी भाषाओं में ऊँचे वाङ्मय के विकास में सहायता मिलेगी। वह आशा विफल हुई। १६३७ में रामन की वैज्ञानिक खोज का उल्लेख करते हुए महात्मा गान्धी ने कहा कि इस प्रकार की खोजें जब तक भारतीय भाषाओं में दर्ज न हों तब तक भारत की जनता को क्या लाभ, और कि मैंने जब राष्ट्रीय शिक्षा के कार्यक्रम को अपनाया था तब मुझे आशा थी कि उसके द्वारा यह होगा, पर मेरे साथियों ने इसे समझा नहीं, मेरी सुनी नहीं। गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा (१८६३-१६४७), वामनदास वसु (१८६७-१६३१), काशीप्रसाद जायसवाल (१८८१-१६३७) आदि विद्वान् जिन्होंने भारतीय दृष्टि से इतिहास तथा भौतिक आर्थिक सामाजिक परिस्थिति के अध्ययन को दयानन्द-बंकिम युग वाली या १६०५ वाली जागरण की लहर में शुरू किया था और इस युग में भी बहुत कुछ आगे बढ़ाया, वैसे अध्ययन को संघटित रूप से चलाने के लिए अनुरोध करते

रहे, पर उनकी पुकार उक्त वातावरण में बहरे कानों पर पड़ी। अपने इतिहास का ठीक अध्ययन और ठीक रूप में प्रस्तुत होना हिन्दू-मुस्लिम समस्या और अन्य आर्थिक सामाजिक समस्याओं को सुलझाने में भी सहायक होता, पर इस बात को भी देश के नेताओं ने नहीं देखा। धीरे धीरे सब राष्ट्रीय विद्यापीठ मिट या मुरझा गये।

हिन्दी लेखक प्रेमचंद (१८८०–१९३६) की कहानियाँ गांधी युग की विशेष उपज हैं। प्रेमचंद को मुख्यतः किसान जागरण से प्रेरणा मिली। बँगला कवि रवीन्द्रनाथ (१८६१–१९४१) और बँगला कहानी-लेखक शरच्चन्द्र चटर्जी की कृति स्वदेशी आन्दोलन में शुरू हुई थी, इस युग में भी जारी रही। कवि नजरुलइस्लाम का पद बँगला साहित्य में रवीन्द्र से दूसरे दर्जे पर माना गया। वे गांधी युग के कवि हैं, पर उनकी प्रेरणा शुद्ध क्रान्तिकारी है। गुजराती में स्वयं गांधी की बड़ी देन है। उन्होंने उसमें नई जानदार शैली चला दी।

चित्रकला की जो ठाकुर शैली स्वदेशी आन्दोलन के साथ उठी थी, उसके प्रवर्त्तक अवनीन्द्रनाथ ठाकुर का स्वयं यह कहना था कि गान्धी युग में आ कर उसकी कल्पनाओं में धुँधलापन आने लगा।

अभ्यास के लिए प्रश्न

खिलाफत और असहयोग आन्दोलन कैसे चले ? कैसे समाप्त हुए ?

२. असहयोग आन्दोलन की विफलता के बाद साम्प्रदायिक विद्वेष कैसे उभड़ा, १९२७ के अन्त में कैसे शान्त हुआ ?

३. उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेज शासकों की नीति भारत में नये कल-कारखाने न पनपने देने की थी। उन्नीस सौ बीसों में वह नीति क्यों किन दशाओं में बदली ?

४. "हिन्दुस्तान प्रजातन्त्र मंडल" का संघटन कब किसने किया ? उसका उद्देश्य और कार्य-पद्धति क्या थी ? अपनी प्रस्तावित पद्धति पर मंडल क्यों न चल सका ? वह किस अंश में सफल, किसमें विफल हुआ ?

५. २६ जनवरी १९३० को महात्मा गान्धी ने भारत के लोगों से स्वतन्त्रता की जो शपथ लिवाई, उसमें अंग्रेजी राज पर कौन से मुख्य अभियोग लगाये गये थे ?

६. सन् १९३० में चले सत्याग्रह-संघर्ष में १९३० से १९३४ तक क्या उतार-चढ़ाव

हुए ? अन्त में वह कैसे समाप्त हुआ ?

७. सन् १९३१ में महात्मा गान्धी ने संयुक्त निर्वाचन की माँग के लिए आग्रह क्यों न किया ? गोल-मेज सम्मिलनी में जा कर उन्होंने अपनी भूल किस अंश में पहचानी ?

८. १९३५ के शासन-विधान की रूपरेखा अंकित कीजिए। बंगाल में १९३७ में मुस्लिम लीगी मंत्रिमण्डल क्यों किन दशाओं में बना ?

९. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए (१) यतीन दास (२) बच्च-ए-सक्का (३) साइमन कमीशन (४) चन्दनसिंह गढ़वाली (५) गान्धी-अर्विन समझौता (६) काजी नजरुल-इस्लाम (७) सन् १९२१ वाले राष्ट्रीय विद्यापीठ (८) शरच्चन्द्र चटर्जी (९) हैदराबाद सत्याग्रह १९३८-३९ (१०) कश्मीर का राष्ट्रीय आन्दोलन (११) शुक्रराज शास्त्री (१२) कुली-उतार का अन्त (१३) चन्द्रशेखर वेंकटरामन।

अध्याय १०

आज़ाद हिन्द का उदय

(१९३९–१९४७ ई०)

§ १. **जापान और चीन**—बीसवीं शताब्दी के शुरू में जाग्रत जापान ने देखा कि रूस और इंग्लिस्तान अपना साम्राज्य फैलाते हुए चक्की के दो पाटों की तरह उसकी ओर बढ़े आ रहे हैं। उसने उन्हें रोकना तय किया और पहले इंग्लिस्तान से मैत्री रख रूस से युद्ध किया। पहले विश्वयुद्ध में भी उसने इंग्लिस्तान से मैत्री रख कर अपने पड़ोस के समुद्रों में जर्मनी द्वारा अधिकृत टापू और बन्दरगाह छीन लिये। किन्तु इस अवधि में उसने बराबर यह अनुभव किया कि उसका असल मुकाबला इंग्लिस्तान से ही होगा। जापान की आबादी बहुत घनी है। पर वहाँ के लोगों के लिए बाहर जा कर बसने को जो स्वाभाविक स्थान हैं वे सब प्रायः अंग्रेज़ों ने रोक रक्खे हैं, जिनमें वे गोरों के सिवाय दूसरों को आने नहीं देते। अंग्रेज़ों की शक्ति यदि जापान के सिर पर आ कर मँडराती थी तो एशिया के दूसरे देशों के सोये होने के कारण। एक अरसे तक जापान उन देशों के जागरण की उत्सुकता से राह देखता रहा।

१९११ में चीन में क्रान्ति होने पर आशा हुई कि चीन के बन्दरगाह युरोपी शिकंजे से शीघ्र छुटकारा पायेंगे। पर वहाँ प्रतिक्रान्ति हुई, अनेक सेना-सरदार अलग अलग प्रान्तों को दबोच बैठे और चीनी राष्ट्र के पुनरुत्थान के लिए उसमें जो भीतरी संशोधन अपेक्षित था उसकी प्रगति रुक गई। रूस में क्रान्ति हो कर समूहवादी शासन स्थापित होने पर चीनी क्रान्ति के प्रवर्त्तक सुँ-यत-सेन ने अपने साथियों को उससे सहयोग करने और उसी मार्ग पर चलने का उपदेश दिया। १९२७ में चीनी क्रान्तिकारी फिर उठे और सेना-सरदारों से प्रदेश छुड़ाते तथा याङ्चे नदी पर के अंग्रेज़ों के दबाये हुए बन्दरगाहों को स्वतन्त्र करते दक्खिन से उत्तर को बढ़े। यों जब ये समूचे चीन को स्वतन्त्र और एक करने वाले थे, तभी उनमें फूट पड़ गई और उनके एक नेता चियाङ्काई शेक ने समूहवादियों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। पंजाबी 'गदर' दल के कुछ कर्मी चीन में अंग्रेज़ों के भाड़ैत पंजाबी सैनिकों में प्रचार करते हुए चीनी क्रान्तिकारियों से सहयोग कर रहे थे। चियाङ ने उन्हें अंग्रेज़ों के हाथ सौंप दिया। चियाङ का प्रशासन धीरे धीरे स्वार्थी पूँजीपतियों का भ्रष्ट शासन बनता गया जो अपने देश की दशा में कुछ सुधार न कर सका। चीन के इस घरेलू युद्ध में दस बरस तक कोई निर्णय न हुआ। समूहवादियों ने माओचेतुंग के नेतृत्व में दक्खिन से उत्तरपच्छिम की यात्रा की और उत्तरपच्छिमी प्रान्तों में पैर जमा कर वहाँ अपना अलग शासन खड़ा कर लिया।

जापान ने जब देखा कि चीन के अपने को अंग्रेज़ी शिकंजे से छुड़ा सकने के कोई लक्षण नहीं हैं, तब उसने सोचा कि क्यों न उसे अपने नियंत्रण में ले ले। १९३१ में उसने मंचूरिया पर अधिकार कर लिया। फिर १९३७ में उसकी ठेठ चीन से लग गई। जापानी सेनाओं के चीन की दीवार लाँघने पर समूहवादियों ने चियाङ से अनुरोध किया कि घरेलू युद्ध बन्द कर मिल कर उनका सामना करें। वैसा ही हुआ। जापान ने चीन का पूरबी भाग बहुत सा ले लिया, तो भी वह समूचे चीन को न ले सका और युद्ध में उलझ गया। अनेक जापानी राजनेता अपनी उस विफलता से खीझ कर अचरज करते थे कि अंग्रेज जब भारत को आसानी से अधीन रक्खे हुए हैं तब हम

चीन को क्यों नहीं अधीन कर पाते। पर अंग्रेज़ों को भारत में जैसी भाड़ैत सेना मिल गई थी, वैसी चीन में जापानियों को न मिली थी।

§२. युरोप में युद्ध—१९१९ में कुचला गया जर्मन राष्ट्र १४ बरस बाद आडोल्फ हिटलर के नेतृत्व में फिर शक्तिशाली हो उठा और युरोप में जर्मनभाषी प्रदेशों को धीरे धीरे मिलाने लगा। प्रकट था कि इसके बाद वह पच्छिमी युरोप के दूसरे राष्ट्रों से विश्व-साम्राज्य में अपना हिस्सा माँगेगा। इस अंश में इतालिया की दशा भी उसके समान थी, इसलिए उन दोनों की सहयोग-सन्धि हो गई। हॉलैंड फ्रांस ब्रितानिया पर जर्मनी यदि चोट करता तो इन देशों का दक्खिनपूर्वी एशिया के अपने साम्राज्यों पर नियन्त्रण ढीला पड़ जाता और उन्हें वहाँ से खदेड़ने में जापान को सुविधा होती, इसलिए जापान भी जर्मनी का सहयोगी बना।

जर्मनी को फिर उठता देख ब्रितानिया और फ्रांस ने १९३९ में उसके विरुद्ध रूस से सहयोग-सन्धि की चेष्टा की, पर सफल न हुए। उलटा रूस और जर्मनी ने परस्पर अनाक्रमण-सन्धि कर ली। जर्मनी ने पोलैंड से अपना डानज़िग बन्दरगाह वापिस माँगा और न मिलने पर उसपर चढ़ाई कर दी (२-९-१९३९)। ब्रितानिया और फ्रांस ने जर्मनी से युद्ध की घोषणा की। दो सप्ताह में जर्मनों ने पोलैंड को कुचल डाला और रूस ने पोलैंड के रूसीभाषी प्रदेश तक, जिसे कि पोलैंड ने सन् १९१९-२१ में अंग्रेज़ों फ्रांसीसियों की सहायता से दबोच लिया था [१०,८ §१५], बढ़ कर जर्मनी से अपनी सीमा मिला दी।

अंग्रेज़ी सरकार ने युद्ध शुरू होने से पहले ही एक तरफ मिस्र और इराक में और दूसरी तरफ सिंगापुर में अपने साम्राज्य की रक्षा के लिए भारतीय सेना को भेज दिया था। उसने भारत और जर्मनी के बीच भी युद्ध की घोषणा कर दी, और भारत सरकार ने युद्ध-स्थिति को लक्ष्य में रख कर कुछ अध्यादेश (ऑर्डिनांस) निकाले। इसके प्रतिवाद में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने नवम्बर १९३९ में पदत्याग कर दिया और प्रान्तों के अंग्रेज़ गवर्नरों ने शासन अपने हाथ में ले लिया।

१९४० की गर्मियों में जर्मनों ने पच्छिम मुँह फेरा और बिजली की तेज़ी

से बढ़ते हुए हौलैंड बेलजियम और फ्रांस को दखल कर लिया। अंग्रेज़ी साम्राज्य की जो सेना फ्रांस-बेल्जियम की मदद को गई थी वह पिटती मार खाती डुंकिर्क बन्दरगाह से उलटे पाँव निकल भागी। फ्रांस की स्थल-सेना युरोप में श्रेष्ठ और उसकी अपनी सीमा पर बनाई हुई दुर्ग-पंक्ति अभेद्य मानी जाती थी। उसके ढह जाने से ब्रितानिया पर जर्मनों की चढ़ाई का हरदम खतरा दिखाई देने लगा। इतालिया भी तब जर्मनी की तरफ से युद्ध में कूद पड़ा। जापान ने पूर्वी एशिया में फ्रांस और हौलैंड के उपनिवेशों—हिन्दचीन और हिन्द-द्वीपों†—में विशेषाधिकार प्राप्त कर लिये।

§३. पाकिस्तान की माँग, भारतीय कांग्रेस में मतभेद और सांकेतिक असहयोग—भारत में मुस्लिम लीग ने मार्च १६४० में यह माँग पेश की कि भारत के उत्तरपच्छिमी और उत्तरपूर्वी भाग को, जहाँ की जनता में मुसलमान अधिक हैं, शेष भारत से अलग कर दिया जाय। उस प्रस्तावित मुस्लिम देश को वे कुछ अरसे से 'पाकिस्तान' कहने लगे थे। यह नाम और यह विचार कई बरस पहले इंग्लैंड की कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी में उपजा था। पंजाब अफ़गानिस्तान कश्मीर के नामों के पहले अंग्रेज़ी अक्षरों को जोड़ कर पाक शब्द गढ़ा गया था, और 'इंग्लैंड में बने' उस फसादी विचार को १६३५–३६ में प्रांतों के कांग्रेसी शासन के काल में उग्र रूप दिया गया था। अब खुल कर यह माँग की गई। स्पष्ट था कि इसके पीछे प्रेरणा अंग्रेजों की ही थी।

कांग्रेस ने अंग्रेज़ों के युद्धोद्योग से असहयोग दिखाने को अपने मंत्रि-मण्डलों से इस्तीफे तो दिला दिये, पर सेना के भरती-क्षेत्रों और कारखानों में युद्धोद्योग रोकने की कोई चेष्टा उससे न बन पड़ी। जो क्रांतिकारी और समूहवादी वैसी चेष्टा करते, वे नजरबन्द किये गये। बंगाल के प्रमुख क्रांतिकारी

† सुमात्रा से इरियान (न्यू गिनी) तक के द्वीपों को युरोपी लोग इन्दोनीसिया या इंसुलिन्दिया कहते हैं, जिसका शब्दार्थ है हिन्द-द्वीप। हिन्दी में वही शब्द बहुवचन में बर्ता जाना चाहिए, अथवा हिन्द-द्वीपावली कहना चाहिए।

जो १६२४ के जेलों में गये हुए १६२८ में और फिर '३० में गये हुए '३८ में निकले थे, यों '४० में फिर भीतर पहुँच गये। जनता में बड़ी बेचैनी थी कि जब विदेशों में ब्रितानवी साम्राज्य ऐसी मार खा रहा है, तब भी भारत में उसका दमनचक्र और हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष उभाड़ने की शरारत जारी है, और उसे हम रोक क्यों नहीं पाते।

दूसरी तरफ, फ्रांस के पतन के बाद अंग्रेजी साम्राज्य का अन्त निकट आता देख भारत के उन वर्गों में दूसरी तरह की बेचैनी फैली जिनकी सब शिक्षा-दीक्षा अंग्रेजी की थी और जिनकी समाज में हैसियत उस शिक्षा की या अंग्रेज़ी राज्यपद्धति की बदौलत थी। कांग्रेस की कार्यसमिति में भी यह मनोवृत्तियों का भेद प्रकट हुआ। जून-जुलाई १६४० में कार्यसमिति ने यह घोषणा की कि ब्रितानिया यदि भारत की स्वतन्त्रता को सिद्धान्ततः मान ले और फिलहाल केन्द्र में सब पक्षों की मिली-जुली ("राष्ट्रीय") सरकार और प्रान्तों में भी उत्तरदायी सरकारें फिर से स्थापित कर दे, तो कार्यसमिति युद्धोद्योग में पूरी सहायता देगी। यह घोषणा च० राजगोपालाचारी और जवाहरलाल नहरू की प्रेरणा से की गई। महात्मा गांधी और खान अब्दुलगफ्फारखाँ इसपर कार्यसमिति से अलग हो गये। अंग्रेज़ी सरकार ने इस घोषणा के उत्तर में कहा कि वह भारत को स्वशासन देने और केन्द्र में सर्व-पक्ष सरकार बनाने को तैयार है यदि भारत के विभिन्न पक्ष पहले आपस में एकमत हो जायँ। साथ ही उसने मुस्लिम लीग का रुख और उग्र करा दिया! कांग्रेसी और मुस्लिम लीगी नेताओं का वाग्युद्ध आगे दो साल तक बराबर चलता रहा जिसके फलस्वरूप १६४१ में देश में साम्प्रदायिक दंगों की बाढ़ आई रही।

जनता की ओर से प्रतिरोध की बराबर माँग थी, इसलिए महात्मा गांधी ने अंग्रेज़ों के युद्धोद्योग से सांकेतिक रूप से असहयोग प्रकट करने को व्यक्तिगत सत्याग्रह चलाया। उसमें भाग लेने वाले कहीं सड़क-हाट पर यह नारा लगा कर कि युद्ध में मदद देना पाप है, गिरफ्तार हो जाते। पर उनके इतना करने से भी दुनिया को यह पता मिलता रहा कि भारत के राष्ट्रवादी युद्ध में अंग्रेज़ों के साथ नहीं हैं, और अंग्रेज़ों के इस ढोंग की कि वे दुनिया की स्वतन्त्रता के

लिए लड़ रहे हैं, कलई खुलती रही।

इसी बीच सुभाषचन्द्र वसु देश के बाहर से स्वतन्त्रता का युद्ध चलाने के विचार से २६-१-१९४१ को एकाएक गायब हो गये और अंग्रेज़ों के कड़े पहरे में से निकल कर अफगानिस्तान और रूस के रास्ते जर्मनी जा पहुँचे।

§४. जर्मनी की रूस पर चढ़ाई—१९४०-४१ के जाड़े और '४१ के वसन्त में जर्मनों ने पूर्वी युरोप के प्रायः सब देशों पर आधिपत्य कर लिया। उत्तरी अफरीका के इतालवी साम्राज्यान्तर्गत लिबिया (त्रिपोली) देश से मिस्र में घुस कर वे सुएज़ नहर से आधी राह तक पहुँच गये। रूस और जापान में भी इस बीच अनाक्रमण-सन्धि हो गई थी। इसके बाद जब यह जान पड़ता था कि जर्मनी और उसके साथी अंग्रेजी साम्राज्य की गरदन पर पच्छिमी एशिया में अन्तिम चोट करेंगे, तब २२ जून १९४१ को हिटलर ने रूस पर एकाएक चढ़ाई कर दी। ब्रितानिया और रूस के बीच इससे हठात् मैत्री हो गई। संयुक्त राज्य अमरीका जो अब तक ब्रितानिया को युद्धसामग्री नकद दामों पर दे रहा था, अब उधार भी देने लगा और युद्ध में उतरने की तैयारी करने लगा। रूस और ब्रितानिया ने मिल कर ईरान को धर दबोचा और उसे दो हिस्सों में बाँट वहाँ अपनी सेनायें डाल दीं, जिससे इस रास्ते दोनों का सम्बन्ध बना रहे। भारत के समूहवादी जो अब तक कहते थे कि ब्रितानिया साम्राजिक युद्ध कर रहा है, अब कहने लगे कि वह 'लोक-युद्ध' में लगा है, अतः वे जेलों से छोड़े गये और अंग्रेजी सरकार से सहयोग करने लगे।

§५. पूर्वी एशिया में युद्ध—अमरीका को युद्ध में आता देख जापान ने पहल की और ७-१२-१९४१ को युद्ध में कूद प्रशान्त महासागर के बीचों-बीच हवाई द्वीप के पर्ल बन्दरगाह पर जो अमरीकी जंगी बेड़ा जापान पर चढ़ने को खड़ा था उसे एकाएक डुबा दिया। अमरीका और पच्छिम-युरोपी राष्ट्रों के अधीन पूर्वी एशिया के देशों—फिलिपीन, हाङ्काङ्, हिन्दचीन, हिन्द-द्वीपावली, मलाया—पर उसने एक साथ चढ़ाई की। मलाया-सिंगापुर को बचाने को ब्रितानिया ने अपने सबसे बड़े दो युद्ध-पोत भेजे, जो माना जाता था कि डुबाये ही नहीं जा सकते। जापानी वैमानिकों ने अपने विमान

सहित उनपर गिर कर अपने प्राणों की आहुति देते हुए उन्हें आन की आन में डुबा दिया और जापानी सेना सिंगापुर और मलाया में उतर उन्हें ले कर बरमा की ओर बढ़ी। १९४२ की गर्मियों तक उसे भी ले कर वह भारत के दरवाज़े तक आ पहुँची। मलाया और बरमा की लड़ाइयों में अंग्रेजों की भाड़ैत भारतीय सेना के अनेक दस्ते जापानियों से जा मिले और उस सेना का मुख्य अंश कैद हुआ। युरोपी राष्ट्रों की जो धाक एशिया के देशों में दो शताब्दियों से बैठी हुई थी, जापानियों ने उसे धूल में मिला दिया।

§ ६. **आज़ाद हिन्द फौज की नींव पड़ना**—पहले विश्वयुद्ध में जापानी अंग्रेजों के मित्र थे, और रासविहारी वसु जब जापान पहुँचे तब अंग्रेज़ों ने उन्हें जापान से माँगा था। पर जापानियों ने रासविहारी की देशभक्ति और वीरता से मुग्ध हो कर और यह जानते हुए उन्हें शरण दी थी कि ब्रितानवी साम्राज्य से एक दिन हमारा भी टाकरा होने को है। रासविहारी चीनी क्रान्तिकारियों के भी सम्पर्क में रहे; १९२३ में ही उनका यह अन्दाज़ था कि चार वर्ष बाद चीन वाले अंग्रेजों के शिकंजे से मुक्त होने के लिए बड़ा संघर्ष करने वाले हैं। उस संघर्ष के सफल न होने पर वे जापान के अंग्रेजों के विरुद्ध उटने की राह देखने लगे। उस अवसर से पूरा लाभ उठाने के लिए उन्होंने पूर्वी एशिया में स्वतन्त्र-भारत-संघ स्थापित किया। रासविहारी के कुछ अन्य साथी भी पूर्वी एशिया में इस संघ की ओर से कार्य करने आ गये। उनमें अनुशीलन समिति के सदस्य प्रफुल्ल सेन जो संन्यासी हो कर सत्यानन्द पुरी नाम से स्याम में आ बैठे तथा गदर दल के प्रीतमसिंह ज्ञानी प्रमुख थे। १९३७ में रासविहारी ने तोकियो में एक सम्मेलन किया जिसमें ये सब उपस्थित हुए, और सबने आगामी स्वतन्त्रता-युद्ध के बारे में अपना मार्ग निश्चित किया।

दूसरे विश्वयुद्ध में जापान के पड़ते ही इन्होंने जापान-सरकार से कहा कि आपके अधिकार में जो देश आयँ, वहाँ भारतीयों को शत्रु प्रजा न मान कर मित्र प्रजा माना जाय, और उनमें से तथा अंग्रेजों के भाड़ैत उन भारतीय सैनिकों में से जो कैद हों, स्व० भा० संघ को अपनी आज़ाद हिन्द फौज खड़ी

करने दिया जाय। जापान सरकार ने यह मान लिया और स्व० भा० संघ को मित्र सरकार का सा पद दे दिया। पूर्वी एशिया के ३० लाख भारतीयों की यों न केवल जान माल इज्जत सुरक्षित हो गई, प्रत्युत उन्हें ऐसी स्वतन्त्रता और प्रतिष्ठा मिली जैसी पहले अपने जीवन में कभी न मिली थी। जापानी सेना की टुकड़ियों के साथ स्व० भा० संघ के प्रचारक भारतीय सैनिकों से सम्पर्क करने जाने लगे। इस कार्य में भी सत्यानन्द पुरी और प्रीतमसिंह ज्ञानी ने प्रमुख भाग लिया।



रासविहारी वसु
(१८८५—१९४५ ई०)
[श्री जितेन्द्रनाथ सान्याल के सौजन्य से]

प्रीतमसिंह ने दिसम्बर १९४१ में उत्तरी मलाया में कैद हुए कप्तान मोहनसिंह को आज़ाद हिन्द फौज खड़ी करने की प्रेरणा दी और काम सौंपा। जनवरी १९४२ में मोहनसिंह ने आज़ाद हिन्द फौज के दो पहले जत्थे बना कर एक को बरमा मोर्चे पर भेजा और दूसरे को मलाया के भारतीय सैनिकों में प्रचार के लिए रक्खा। आज़ाद हिन्द फौज के शिक्षक सब भारतीय थे जो अब अंग्रेज़ी के बजाय हिन्दुस्तानी आदेश-शब्दों से अपनी सेना को चलाते थे। सेना के रूप में उसके प्रत्येक महकमे का संघटन किया गया। उस सेना में आरम्भ से ही यह विचार भरा जाता कि सब हिन्दुस्तानी भाई भाई और मानव स्वतन्त्रता के पूरे अधिकारी हैं, तथा खानपान आदि में जात-पाँत का कोई भेद नहीं रक्खा जाता रहा।

१५-२-१९४२ को सिंगापुर में अंग्रेज़ी सेना ने आत्मसमर्पण किया। जापानियों ने अंग्रेज़ों को भारतीयों से अलग कर कैदी बनाया और भारतीय सैनिकों की एक सभा कर उनसे कहा कि उनके साथ हारे हुए शत्रु का सा नहीं प्रत्युत भाइयों का सा बर्ताव किया जायगा, और उन्हें मोहनसिंह के जिम्मे सौंप दिया। मोहनसिंह ने तब उनमें से आ० हि० फौ० के लिए स्वेच्छा-सैनिक भरती

शुरू की। अंग्रेज कैदी शिविरों का प्रबन्ध भी जापानियों ने आ० हि० फौ० को सौंप दिया।

मार्च १९४२ में तोकियो में फिर एक भारतीय सम्मेलन किया गया। सत्यानन्द पुरी और प्रीतमसिंह ज्ञानी उसमें जाते हुए विमान-दुर्घटना के शिकार हुए। जून १९४२ में बंकोक में फिर एक बड़ा भारतीय प्रतिनिधि सम्मेलन हुआ। उसने स्व० भा० संघ द्वारा भारत की स्वतन्त्रता का युद्ध जारी रखने का समर्थन किया, संघ के सभापति रासबिहारी वसु की सहायता के लिए नई कार्यसमिति नियत कर दी, मोहनसिंह को आ० हि० फौ० का प्रधान सेनापति नियुक्त किया, और अपने युद्ध के संचालन के लिए सुभाषचन्द्र वसु को जर्मनी से बुलाना तय किया। सम्मेलन ने यह घोषणा की कि भारत एक और अविभाज्य है; यह निश्चय भी किया कि संघ जापान सरकार से युद्धसामग्री की जो सहायता लेगा वह उधार रूप में होगी। इस सम्मेलन के बाद स्व० भा० संघ की शाखाएँ समूचे पूर्वी एशिया में फैल गईं। सब जगह वे भारतीयों की भलाई के सब काम करतीं, उनमें शिक्षा फैलातीं तथा आत्मसम्मान भ्रातृभाव और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के भाव जगातीं।

§ ७. **क्रिप्स पेशकश और 'भारत छोड़ो' घोषणा**—इधर भारत में अंग्रेज़ों के दमनचक्र के मुकाबले में स्वयं कुछ न कर पाने से जनता की खीझ दिन-ब-दिन बढ़ती गई। १९४०-४१ से अनाज और अन्य अनेक वस्तुओं के यातायात बिक्री और मूल्य पर नियन्त्रण कर सरकार उन्हें युद्धक्षेत्रों में भेजने को खरीद रही थी। जनता को अन्नवस्त्र कठिनाई से मिलता। कांग्रेस ने कराची अधिवेशन (१९३१) में यह घोषणा की थी कि अंग्रेज़ों ने भारत पर मनमाने ढंग से जो ऋण लाद दिया था, स्वतन्त्र होने पर भारत उसकी निष्पक्ष जाँच करायगा और उचित अंश को ही स्वीकार करेगा। किन्तु अंग्रेज़ी सरकार अब जाँच का मौका दिये बिना ही भारत के सिर थोपे उस ऋण को स्वयं वसूल कर उसी के मूल्य से भारत से अन्न और युद्ध-सामग्री खरीद रही थी; जब वह ऋण पूरा वसूला जा चुका तब भारत से ऋण रूप में रसद-सामान खींचती रही। इस जबरदस्ती चुकाये गये और जबरदस्ती लिये

गये ऋण के मूल्य का माल जनता से खरीदने को विशाल संख्या में कागजी नोट छापे गये, जिनकी बाढ़ से वस्तुओं के दाम बढ़ते गये। भारत में चलने वाले कागज़ी नोटों के पीछे भारत का जो स्वर्ण-भण्डार था, वह पहले से ही लन्दन में रक्खा गया था और अब युद्धसामग्री की खरीद में खर्चा गया। यों युद्ध में अंग्रेज़ यदि हारते तो भारत में चलने वाले ये कागज़ी नोट निरे कागज़ की कीमत के रह जाते। जापानियों के बरमा पहुँचते पहुँचते अंग्रेज़ी सरकार ने उनकी चढ़ाई की आशंका से बंगाल से जनता के काम आने वाले धान के भंडार हटा लिये। उड़ीसा बिहार मद्रास और पूर्वी युक्तप्रान्त से भी अन्न-भंडार और सामान हटाने और पुलों रेलमार्गों बिजलीघरों पानीकलों आदि को तोड़ कर हट आने की योजनाएँ हाकिमों के पास भेजी जा रही थीं, जिनमें पीछे रहने वाली जनता को क्या कष्ट होगा इसकी तनिक भी परवा न की गई थी।

यह सब चलता था कि मार्च १९४२ में ब्रितानिया का दूत स्टैफर्ड क्रिप्स भारत के नेताओं से बात करने दिल्ली आया। उसकी पेशकश यह थी कि भारत के नेता जापान के विरुद्ध युद्ध में पूरा सहयोग दें तो युद्ध के बाद भारत को ब्रितानवी साम्राज्य में उपराज्य (डोमोनियन) पद दिया जायगा और अभी केन्द्र में सर्व-पक्ष सरकार बना दी जायगी। पर भारत की जनता अंग्रेज़ी साम्राज्य को बचाने के लिए जापानियों से लड़ने को तैयार न थी। अतः गान्धी क्रिप्स की पेशकश को दिवालिया बैंक की बाद की तारीख की हुंडी कह कर बातचीत में सम्मिलित होने से इनकार कर दिल्ली से चले आये। पर जवाहर-लाल नहरू और उनके विचार के वे नेता जो अंग्रेज़ों की हार और जापान-जर्मनी की जीत की आशंका से चिन्तित थे तथा जिनका गान्धी से मतभेद जुलाई १९४० से प्रकट हो चुका था, बातचीत करते रहे। अंग्रेज़ी सरकार ने देखा कि उन नेताओं के साथ होने से भी वह भारत की जनता से युद्ध में उससे अधिक सहयोग न पा सकेगी जितना वह ज़ोर-ज़ुल्म से ले ही रही है, इसलिए बातचीत का सिलसिला तोड़ दिया।

इसके बाद गान्धी की प्रेरणा से मई में कांग्रेस की महासमिति ने यह घोषणा की कि अंग्रेज भारत छोड़ चले जायँ—वे भारत में बने रहेंगे तो जापानी

उन्हें निकालने के नाम पर भारत पर चढ़ाई कर सकते हैं। ८ अगस्त की अपनी बैठक में उसने जनता को पुकारा कि इस घोषणा को चरितार्थ करने को संघर्ष छेड़ दे। मुख्य नेता तो अगले सवेरे तक पकड़ लिये गये, पर जनता जगह जगह उठ खड़ी हुई। अनेक स्थानों पर प्रदर्शन करते हुए वह गोलियों की मार से भी नहीं टली और सभी जगह उसने छातियों पर गोलियाँ झेलीं। अंग्रेज़ों के युद्धोद्योग में बाधा पहुँचाने को उसने यातायात संचार-साधनों और युद्ध-सामग्री को नष्ट करने का मार्ग पकड़ा। पूर्वी युक्तप्रान्त और बिहार में तथा बंगाल के मेदिनीपुर ज़िले में संघर्ष का सबसे अधिक ज़ोर रहा। पूर्वी युक्तप्रान्त से असम-बरमा सीमान्त तक जाने वाली अवध-तिरहुत रेलवे उस काल युद्ध की दृष्टि से सबसे महत्त्व की प्रणाडी थी। उसे जनता ने उखाड़ फेंका। जनता आशा कर रही थी कि बरसात बाद जापानी और आजाद हिन्द फौज भारत पर चढ़ाई करेंगे, इसलिए अक्तूबर नवम्बर तक संघर्ष पूरे ज़ोर पर रहा। उसके बाद धीरे धीरे वह ढीला पड़ता गया।

§ ८. **आ० हि० फौ० में संकट खड़ा होना**—अगस्त १६४२ की भारत की घटनाओं के समाचार मलाया पहुँचने पर मोहनसिंह ने एक नया दल भारत से सम्पर्क करने को बरमा मोर्चे पर भेजा। सीमा पर पहुँचने पर इस दल का एक व्यक्ति जो मोहनसिंह का अति विश्वस्त था, आ० हि० फौ० के अत्यन्त गोपनीय क़ागज लिये हुए अंग्रेज़ों से जा मिला। जापानी इसके बाद आ० हि० फौ० के साथ बर्त्तने में कुछ सावधानी करने लगे।

शुरू अक्तूबर में आ० हि० फौ० की सब इकाइयों का अगुआ दल बरमा भेजा गया जिससे वह नवम्बर-दिसम्बर में आने वाली बड़ी सेना के लिए प्रबन्ध कर रक्खे। पर इधर मोहनसिंह और उनके साथियों ने कई छोटी बातों को ले कर जापानियों से बिगाड़ ली। जापानी जंगी जहाज जब सिंगापुर से आ० हि० फौ० को बरमा ले चलने को तैयार खड़े थे, तब मोहनसिंह ने सेना को चलने का आदेश न दिया और स्व० भा० सं० की कार्यसमिति ने इस्तीफा दे दिया। रासबिहारी ने कहा कि मैं उन सब छोटी उलझनों को सुलझा दूँगा और मोहनसिंह से आग्रह किया कि सेना के कुछ मुख्य अफसरों को मेरे पास भेजो तो मैं

उन्हें स्थिति को पूरी तरह समझा दूँ। पर मोहनसिंह ने किसी भी अफसर को उनसे मिलने न दिया। इसपर स्व० भा० संघ के सभापति की हैसियत से रासविहारी ने मोहनसिंह को जो सेनापति ('जनरल') का पद दिया था, वह छीन कर मोहनसिंह की गिरफ्तारी का आदेश दिया। मोहनसिंह ने पहले से ही वैसी आशंका से अपने साथियों को कह रक्खा था कि आ० हि० फौ० को तोड़ देना। सो उन लोगों ने अपने शस्त्र इकट्ठे कर रख दिये, बिल्ले जला दिये, सैनिक शिक्षा बन्द कर दी और अपने को युद्ध-कैदी बनाने के लिए पेश किया। जापानियों ने उन्हें कैदी बनाने से इनकार किया।

१९४१-४२ के पाँच महीनों में जापानियों ने दक्खिनपूरबी एशिया से चार शताब्दी पुरानी पच्छिमी युरोप की प्रभुता उखाड़ फेंकी थी। किन्तु एशिया में युरोपी शक्ति की धुरी अंग्रेज़ों का भारतीय साम्राज्य था, जिसके किनारे पहुँच कर वे रुक गये थे। अंग्रेज़ और अमरीकी उस वक्त जापान के मुकाबले को तैयार न थे। भारत के पूर्वी सीमान्त से भी कभी कोई बड़ा शत्रु आ सकता है यह बात अंग्रेजों ने कभी सोची भी न थी। १९४२ की गर्मियों में वे बंगाल उड़ीसा आन्ध्र और तमिळ तट तथा असम से लखनऊ तक के प्रदेश को छोड़ कर झाड़खंड से राजस्थान तक मध्यमेखला के पहाड़ी प्रदेशों में छापेमारी लड़ाई की योजनाएँ बना रहे थे। भारतीय समुद्र में भी उनका कोई प्रबल बेड़ा न था जिससे अंग्रेज़ों को अपने अफरीकी साम्राज्य के लिए भी ऐसा खतरा दिखाई दिया कि उन्होंने मदगस्कर द्वीप में, जो जर्मनों के वशंवद फ्रांसीसियों के हाथ में था, अपनी सेना उतार दी (मई '४२)। अमरीकियों ने पहली मार खाते ही अपने महान् कारखानों से अमित युद्धसामग्री बनाना शुरू कर दिया था। इसे ले कर प्रशान्त महासागर के एक एक टापू को जीतते हुए जापान तक पहुँचना उनके लिए एक रास्ता था। पर केवल इससे वे जापान को हरा न सकते यदि भारत से भी अंग्रेज़ों के पैर उखड़ गये होते तथा यहाँ की भाड़ैत सेना और खेतों खानों कारखानों की उपज उन्हें प्राप्त होने के बजाय उनके विरुद्ध खड़ी हो गई होती।

अपने देश से ५००० मील पर भारत की सीमा पर पहुँच कर जापानियों

को भी दिखाई दिया कि भारतीयों के पूरे सहयोग के बिना वे भारत के २००० मील के फैलाव में आगे बढ़ते नहीं जा सकते। भारतीय क्रान्तिकारियों ने जापान और भारत का वैसा सहयोग स्थापित कर १९४२ में ही भारत पर चढ़ने का यत्न किया, जब कि भारत की जनता भी उनकी राह देख रही थी। पर वह दुर्लभ अवसर उन्हें इस कारण चूकना पड़ा कि वे आ० हि० फौ० के संघटन और संचालन के लिए भी उन लोगों पर निर्भर थे जो कल तक अंग्रेज़ों के भाड़ैत थे और जो ऐन मौके पर डगमगा गये कि कहीं हम जापानियों के भी हथियार न बन जायँ! १९२३-२४ में भारतीय क्रान्तिकारियों ने जापान से सम्पर्क करके जो तैयारी शुरू की थी [१०,९§६], यदि तुच्छ त्रास और प्रदर्शन के कार्यों में पड़ कर उसे बिगाड़ न लेते, तो एक तो अब उनके पास अपने अनुभवी सेनानायक तैयार होते—भगतसिंह और यतीन दास इस वक्त आजाद हिन्द फौज का संचालन कर रहे होते—और दूसरे, जापानी राजनेताओं और भारतीय क्रान्तिकारियों ने इस प्रकार एक दूसरे के उद्देश्यों को समझा हुआ और आपसी सब समस्याओं को सुलझाया हुआ होता कि अब वे यों रुकने को विवश न होते।

§१०. आ० हि० फौ० का पुनःसंघटन और आज़ाद हिन्द सरकार की स्थापना—मलाया में हारी अंग्रेज़ों की भारतीय सेना में जगन्नाथ भोंसले, लोकनाथन, अनिल चटर्जी आदि कई अफसर मोहनसिंह से जेठे थे, जो आ० हि० फौ० के विघटन के विरोधी थे। रासविहारी ने इनकी सहायता से फरवरी १९४३ तक नई आ० हि० फौ० खड़ी कर ली। उक्त नायकों के अतिरिक्त शाहनवाजखाँ, मुहम्मद ज़मान कियानी और एहसान कादिर ने इस बार के संघटन में प्रमुख भाग लिया। नई फौज में दनादन भरती होने लगी। अप्रैल १९४३ से लक्ष्मी स्वामिनाथन् ने स्त्रियों का एक जत्था बनाना शुरू किया, जिसे लड़ाई और परिचर्या दोनों की शिक्षा दी जाने लगी। बाद में वह झाँसी-रानी जत्था कहलाया।

अपनी ढलती आयु और २७ बरस से देश के बाहर रहने के कारण रासविहारी के लिए इस सेना का नेतृत्व करना शक्य न था, इसलिए उन्होंने

सुभाषचन्द्र वसु को जर्मनी से बुलाया। सुभाष फिर अपनी जान हथेली पर लिये एक जर्मन पनडुब्बी से मदगस्कर और फिर जापानी पनडुब्बी से पिनाङ पहुँचे। तोकियो हो कर वे सिंगापुर वापिस आये जहाँ रासविहारी ने उन्हें स्वतन्त्र भारत संघ का नेतृत्व सौंपा; तब से वे 'नेताजी' पद से प्रसिद्ध हुए। २१ अक्तूबर १९४३ को सिंगापुर में, जिसके नाम में प्राचीन भारतीय उपनिवेश सिंहपुर की याद बनी है, स्व० भा० संघ का बड़ा सम्मेलन जुटा कर आरज़ी आज़ाद हिन्द सरकार की स्थापना की घोषणा यों की गई—"... चूँकि हिन्दुस्तान के सब नेता जेलों में हैं और देश के भीतर लोग ... निहत्थे हैं, अतः अब पूर्वी एशिया के स्वतन्त्र भारत संघ का कर्त्तव्य है कि वह आरज़ी आज़ाद हिन्द सरकार बना ले। आरज़ी सरकार को इसका हक है और वह इसकी माँग करती है कि हिन्दुस्तानी उसके तईं वफ़ादार रहें। ... वह भारत के लोगों को भरोसा दिलाती है कि उन्हें ... समान अधिकार प्राप्त होंगे ... हम हिन्दुस्तान के लोगों का आवाहन करते हैं कि हमारे झंडे के नीचे इकट्ठे हों ...।" सुभाषचन्द्र ने आरज़ी सरकार के प्रमुख रूप में शपथ ली। चार दिन बाद आज़ाद हिन्द सरकार ने ब्रितानिया और अमरीका के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की।

§१०. **बंगाल दुर्भिक्ष**—१९३९ में सुभाष कांग्रेस से निकाले गये थे, पर बंगाल प्रान्तीय कांग्रेस में उन्हीं का बहुपक्ष था। कांग्रेस के अध्यक्ष ने बंगाल कांग्रेस को स्थगित कर नई प्रान्तीय कांग्रेस खड़ी करने का जतन किया। तब बंगाल में दो कांग्रेसें हो गईं और विधान-सभा के कांग्रेसी सदस्य भी दो टोलियों में बँट गये। उधर फ़ज़लुल-हक़ की भी मुस्लिम लीग से बहुत दिन न पटी। दिसम्बर १९४१ में हक ने सुभाष के बड़े भाई शरच्चन्द्र की सहायता से नया सम्मिलित मन्त्रिमण्डल बनाया। शरत् को इसके शीघ्र बाद भारत सरकार ने नज़रबन्द कर दिया। १९४२ में अंग्रेज बरमा से हटते हुए अराकान का सब अनाज नष्ट करते आये थे, फिर बंगाल से भी उन्होंने सब अन्न-भंडार हटा लिये। यों बंगाल की स्थिति बड़ी नाजुक हो गई। मार्च १९४२ में गवर्नर ने हक को इस्तीफा देने को बाधित किया और उसके बाद धींगाधांगी से मुस्लिमलीगी मन्त्रिमण्डल स्थापित किया। प्रान्त में अनाज पहले ही कम था,

जो था उसे भी भ्रष्ट मन्त्रिमण्डल के कृपापात्र नफाखोरों ने रोक कर बहुत महँगा कर दिया। आज़ाद हिन्द सरकार की ओर से सुभाषचन्द्र वसु ने बरमा और स्याम का चावल बंगाल भेजने का प्रस्ताव किया। किन्तु अंग्रेजी सरकार ने वह न माना और ३५ लाख आदमी भूख से तड़प कर तथा १२ लाख बीमारी से मरने दिये।

बंगाल की तरह सिंध में भी गवर्नर ने अक्तूबर १९४२ में अल्लाबख्श को प्रधानमन्त्री पद से हटा कर मुस्लिमलीगी मन्त्रिमण्डल स्थापित कराया। सात मास बाद अल्लाबख्श की हत्या की गई। पीछे उनके भाई मौलाबख्श ने राष्ट्रवादी मुस्लिमों का पक्ष बनाया, पर उन्हें भी कांग्रेस पक्ष का समर्थन न मिला।

बंगाल दुर्भिक्ष की चर्चा फैलने से भारत में अंग्रेजी राज की बड़ी बदनामी हुई तो लिनलिथगो को वापिस बुला कर भारत के तत्कालीन प्रधान सेनापति वेवल को गवर्नर-जनरल बनाया गया। वेवल ने ऐसा उपाय किया कि बंगाल के गाँवों से भूखे मरते लोग कलकत्ते न आने पायँ।

§ ११. **आज़ाद हिन्द फौज की भारत चढ़ाई**—आ० हि० फौ० की बागडोर थामते ही सुभाषचन्द्र ने उसे 'चलो दिल्ली' का मन्त्र और 'जय हिन्द' का नारा दे कर रवाना किया और स्वयं भी रंगून आ टिके। बरमा के जापानी सेनापति के साथ उन्होंने तय किया कि आ० हि० फौ० अपने सेना-नायकों के मातहत रहेगी और उसका नियमन अपने फौजी कानून से होगा, जापानी सेना के साथ वह भारत के जिस जिस अंश को मुक्त कराती जायगी उसपर तिरंगा फहरायगा और उसका शासन मेजर-जनरल अनिल चटर्जी करेंगे। उन्होंने और उनकी प्रेरणा से जापानी सेनापति ने भी अपने सैनिकों को आदेश दिया कि भारत की भूमि पर कोई भी सैनिक लूटमार या बलात्कार करने लगे तो उसे फौरन गोली मार दी जाय।

१९४२-४३ में अमरीकी युद्धसामग्री और सेना भारत में बराबर जुट रही थी। '४३ में जापानी बेड़े और वायु-बेड़े को प्रशान्त के मोर्चे पर जाना पड़ा और बरमा पर लगातार हवाई मार पड़ती रही जो बड़ी चढ़ाई की तैयारी थी। अंग्रेज-अमरीकियों की समूची पूर्वी एशिया की चढ़ाई का संचालन लुई

मौंटबाटन कर रहा था। उनकी मुख्य सेना असम के पूर्वी छोर से इरावती दून में उतर कर म्यितचीनः ('म्यितकिना') से रंगून तक रेलपथ के साथ बढ़ने को थी। मणिपुर, लुशाई-चिन और अराकान से दूसरी सेनाएँ उसका साथ देने को थीं। इस चढ़ाई के लिए जब पूर्वी असम में पूरी सेना जुट गई, और विमानों से एक अंग्रेजी सेना म्यितचीनः के जंगल में उतर चुकी, तब मार्च १९४४ में आजाद हिन्द और जापानी सेना ने मणिपुर पर चढ़ाई की। उनका लक्ष मणिपुर से ब्रह्मपुत्र पहुँच कर असम वाली समूची सेना को पीछे से घेर लेना था।

मणिपुर नदी की दून में दक्खिन से उत्तर बढ़ते हुए जापानी सेना तथा शौकत अली मलिक के आदेश में आ० हि० फौ० की टुकड़ी बिशनपुर ले कर इम्फाल के पास तक पहुँच गई। दूसरे जत्थे मग्घरसिंह और अजमेरसिंह के नेतृत्व में मणिपुर राज्य के उत्तर घूम कोहिमा पर आ डटे। मु० ज़० कियानी की ब्रिगेड ने तभी पूरब से हमला किया। मणिपुर राज्य को यों घेरने में उनका तुरत का लक्ष यह था कि वहाँ जो १½ लाख भारतीय सेना पूरे साज-सामान के साथ थी, उसे हरा कर आ० हि० फौ० में मिला लिया जाय।



सुभाषचन्द्र वसु
सिंगापुर में लिया गया चित्र

शाहनवाज़ के मातहत एक ब्रिगेड को अराकान और चिन पहाड़ों का मोर्चा सौंपा गया, जिससे मणिपुर में लड़ती सेना का पीछे का रास्ता सुरक्षित रहे। प्रेमसिंह रतूड़ी के नेतृत्व में इसके पहले जत्थे ने कलादन नदी की दून से भाड़ैत अफरीकी सेना को मार भगाया और चटगाँव पहाड़ी जिले में तिरंगा फहरा दिया। चिन मोर्चा सबसे कठिन था। लुशाई और चिन एक ही नृवंश के लोग हैं। चिन अंग्रेजों का पक्ष लिये हुए थे। छिंद्विं ('चिन्दविन') नदी पर कलेव के

अपने अड्डे से चिन पहाड़ों के भीतर तक आ० हि० फौ० को अपना रसद-बारूद सिर पर ढो कर ले जाना पड़ता था। उस दशा में वे कई बार जंगली घास खा कर गुज़र करते रहे, पर मोर्चा हाथ से न जाने दिया।

इम्फाल को आजाद हिन्द और जापानियों ने चार मास घेरे रक्खा। अंग्रेजों ने भी वहाँ अपनी पूरी शक्ति लगा दी। एक पूरे सेना-विभाग को उन्होंने विमानों से कुमुक रूप में ला उतारा। अन्त में मूसलाधार वर्षा से घेरने वालों को हटना पड़ा। उस वर्षा से सड़कों के बह जाने पर, रसद के बिना, कीचड़ मच्छर मक्खियों से भरे जंगलों में से, शत्रु विमानों की लगातार मार में, ज्वर पेचिश और घावों से पीडित आजाद हिन्द दस्ते जब पैदल वापिस लौटे, तब अनेक बार शत्रु ने पर्चे फेंक कर उन्हें हथियार रखने का सन्देश दिया, पर वे अपने नेताजी के आदर्श से नहीं टले।

§१२. इरावती की लड़ाइयाँ—सुभाष अपनी सेना को मोर्चे पर भेजने के बाद उसके लिए खर्चा जुटाने और आज़ाद हिन्द सरकार को हर पहलू से पुष्ट करने में जी-जान से लग गये थे। उनकी पुकार पर अनेक भारतीयों ने अपना सर्वस्व दे दिया। हबीब नामक सेठ ने करोड़ से अधिक की अपनी सब सम्पत्ति दे दी। आज़ाद हिन्द सरकार ने एक राष्ट्रीय बैंक खोला जिसे मुक्त भारत में चलाने को मुद्रा निकालने का काम दिया। सब मिला कर आज़ाद हिन्द सरकार ने ८ करोड़ रु० अपनी सेना और अन्य कार्यों के लिए जमा किया। सितम्बर १९४४ में सुभाष अपनी लौटती सेना से येऊ में मिले। सेना में तब भी पूरा उत्साह था और नई भरती जारी की गई।

उधर जिस अंग्रेजी सेना के दस्ते मार्च १९४४ में उत्तरी बरमा में उतरे थे, वह जनवरी १९४५ में मध्य बरमा पहुँच रही थी, जहाँ मन्दले के सामने इरावती पच्छिम घूम कर छिंद्विं से मिलने को झुकती है। आक्याब और रामरी द्वीप में भी अंग्रेजी सेना उतर चुकी थी। इस दशा में आ० हि० फौ० के दूसरे विभाग (डिवीज़न) को इरावती घाटों की रक्षा सौंपी गई। शाहनवाज़, प्रेम सहगल और गुरबख्शसिंह ढिल्लों यहाँ उसके प्रमुख नायक थे। अपनी लड़ाई का आधार उन्होंने पोपा पहाड़ी पर रक्खा जो इरावती के निचले घुमाव में

महत्त्व का नाका है। २९ फरवरी को जब शत्रु के अग्रिम दस्ते पोपा के पूरब मित्थिला ("मिकतिला") पर पहुँचे, तब तक सुभाष वहीं थे। जैसा कि उन्होंने कहा, इस लड़ाई का अभिप्राय यह था कि "आ० हि० फौ० के शहीद अपनी वीरता की ऐसी कहानी और परम्परा छोड़ जायँ कि आने वाली पीढ़ियाँ उसपर अभिमान कर सकें।" बरमा के आकाश पर तब शत्रु का पूरा राज था। अंग्रेजी सेना दिन में विमानों तोपों टंकों के संहारे बढ़ती और रात को कँटीले तारों में घिरी रहती। जापानी और आजाद हिन्द सेना दिन में खेतों जंगलों में लुकती और रात को बिना रोशनी के चल कर छोटे शस्त्रास्त्र से शत्रु पर हमले करती।

५-३-१९४५ को अंग्रेजों ने मित्थिला ले लिया। जापानी एक मास तक उसे वापिस लेने को हमले करते रहे। मित्थिला चले जाने के बाद मध्य बरमा में प्रतिरोध जारी नहीं रह सकता था, पर जापानियों ने बरमा के पहाड़ी प्रदेश—अराकानयोमा और पगूयोमा—में अन्त तक लड़ना तय किया। अंग्रेजों ने अपने शासनकाल में बरमियों को कभी सेना में स्थान न दिया था; जापानियों ने उन्हें पहलेपहल आधुनिक युद्धकला की शिक्षा दी थी। मार्च १९४५ में बरमी जनरल औं सां को जापानियों ने बरमी सेना के साथ अराकानयोमा के मोर्चे पर भेजा। औं सां अपनी सेना के साथ थ्येतम्यो पहुँच कर जापानियों पर उलट पड़े! जापानियों ने उनका विद्रोह दबाने को आ० हि० फौ० से सहायता माँगी, पर आ० हि० फौ० ने बरमियों पर शस्त्र चलाने से इनकार किया। बरमी विद्रोह से बरमा में जापानी प्रतिरोध की कमर टूट गई, पर इस दशा में भी मित्थिला पोपा और मग्वै के मोर्चों पर वे और आ० हि० फौ० अप्रैल तक लड़ते रहे। अन्त में जब शत्रु ने मित्थिला के सौ मील दक्खिन बढ़ कर उन्हें घेर लिया, तब वे पीछे हटे। कुछ दस्ते शत्रु की पाँतों को चीरते निकल गये, कुछ ने वीर गति प्राप्त की, और कुछ ने अन्तिम गोली चुकने तक लड़ कर इसलिए हथियार रक्खे कि आ० हि० फौ० की कहानी भारत पहुँच जाय। लौटती आ० हि० फौ० को औं सां ने पूरी सहायता दी।

जापानी सेना का एक अंश पगूयोमा में चला गया जहाँ वह जुलाई

अन्त तक लड़ता रहा। शेष सेना को मौलम्यैं ('मोलमीन') हटने का आदेश मिला। २३-४-१६४५ को उन्होंने रंगून खाली किया। सुभाष झाँसी-रानी जत्थे की बरमा वाली सैनिकाओं को उनके घर पहुँचा कर, शेष को और प्रेमसिंह रतूड़ी के आदेश में ६०० सैनिकों के "जाँबाज़" जत्थे को साथ ले कर तथा ५००० के एक दस्ते को मे० जन० लोकनाथन् के आदेश में अंग्रेजों के आने तक रंगून में व्यवस्था रखने का भार दे कर २४ अप्रैल की रात वहाँ से चले। सिताङ नदी से पहले ही उनकी सब सवारियाँ शत्रु-विमानों ने नष्ट कर दीं; तब मोलम्यैं तक वे पैदल गये। रंगून छोड़ते हुए उन्होंने कहा था—"हम अपनी लड़ाई के पहले दौर में हार गये हैं··· अभी हमें कई दौरों में लड़ना है।" सो वे नई लड़ाई की तैयारी में बंकोक और मलाया में वहाँ की आ० हि० फौ० को तैयार करते रहे। युरोप में ७-५-१६४५ को जर्मनों ने हथियार रख दिये, तो भी सुभाष का कहना था कि "पूर्वी एशिया के युद्ध का अन्तिम परिणाम चाहे जो हो, वह युद्ध लम्बा और कड़ा होगा।" प्रशान्त के एक एक टापू में जापानी अन्तिम दम तक लड़ रहे थे।

मणिपुर कोहिमा से लौटा आ० हि० फौ० का पहला विभाग प्यिंमनः ("प्यिनमना") में था। उसमें जो बीमार न थे, उनका 'त्त' जत्था बना कर कर्नल ठक्करसिंह के आदेश में रक्खा गया था। शत्रु के रंगून ले लेने तक वह लड़ता रहा। अन्त में ठक्करसिंह अपने हजार योद्धाओं के साथ पूरब हट कर शत्रु-गांतो और पहाड़ों जंगलों में से रास्ता काटते मोलम्यैं जा निकले और वहाँ से बंकोक। वे लोग शुरू १६४४ से चलने लगे थे, २७-५-१६४५ को बंकोक पहुँचे। मलाया से मणिपुर हो कर बंकोक तक उनकी युद्धयात्रा की कहानी सामरिक इतिहास में अनूठी है।

§ १३. दूसरे विश्व-युद्ध का अन्त—जर्मनी से युद्ध समाप्त होने पर जून १६४५ में कांग्रेस कार्यसमिति जेलों से छोड़ दी गई और वाइसराय वेवल ने घोषणा की कि वह अपनी शासन-समिति भारत के राजनीतिक पक्षों के नेताओं से बनाने को तैयार है, बशर्ते कि वे पूर्वी एशिया के युद्ध में सहयोग दें और कि उस समिति में सवर्ण हिन्दुओं के प्रतिनिधि रूप में कांग्रेस के और

मुसलमानों के प्रतिनिधि रूप में मुस्लिम लीग के बराबर प्रतिनिधि होंगे। इस आधार पर भारतीय नेताओं से बातचीत करने को वेवल ने शिमले में उन्हें बुलाना तय किया। इसपर सुभाषचन्द्र वसु ने सिंगापुर रेडियो पर कांग्रेसी नेताओं से कहा कि कांग्रेस का अपने को केवल सवर्ण हिन्दुओं का प्रतिनिधि मान कर और युद्धोद्योग में सहायता का वचन दे कर शिमला सम्मिलनी में जाना आत्महत्या के समान होगा, और कि यदि कांग्रेसी नेता वैसा करेंगे तो भी पूर्वी एशिया के भारतीय आज़ाद हिन्द सरकार के अधीन युद्ध जारी रक्खेंगे ही। इसपर भी कांग्रेस के नेता शिमला सम्मिलनी में शामिल हुए ही। फल भी कुछ न निकला, क्योंकि मुस्लिम लीग ने आग्रह किया कि शासन-समिति में जो मुसलमान लिये जायँ वे उसी के आदमी हों। अंग्रेजी सरकार को कांग्रेस का सहयोग लेने की गरज होती तो मुस्लिम लीग से वैसा आग्रह न करवाती; उसे केवल यह देख लेना और दिखा देना था कि कांग्रेस अपनी हार मान कर कहाँ तक झुकने को तैयार है।

जुलाई के पहले सप्ताह में ब्रितानिया में निर्वाचन हुए। विन्स्टन चर्चिल इस युद्ध में प्रधानमन्त्री रहा था और पहले विश्व-युद्ध में भी ब्रितानिया को जिताने में उसका बड़ा हाथ था। पर ब्रितानिया के लोग युद्धजनित अवस्थाओं से थक और ऊब चुके थे, उन्होंने चर्चिल पक्ष को हटा कर बड़े बहुमत से मजदूर पक्ष को पदासीन किया।

उधर अमरीकियों ने सीधी लड़ाई से ऊब कर परमाणु बम नामक अत्यन्त संहारक अस्त्र का प्रयोग शुरू किया। सब पदार्थ परमाणुओं से बने हैं यह स्थापना प्राचीन भारतीय और यूनानी दार्शनिकों ने की थी। उनका विचार था परमाणु के खंड नहीं हो सकते। पर हमारे सांख्य दार्शनिकों का कहना था कि परमाणु भी गुणों या शक्तियों का समुच्चय है। आधुनिक वैज्ञानिक १९वीं शताब्दी के अन्त तक परमाणु को अखंड्य तथा पदार्थ और शक्ति को भिन्न भिन्न मानते रहे। पर तब उन्हें इसके प्रमाण मिले कि परमाणु भी विद्युत्-शक्तिकणों का समुच्चय है। उन शक्तिकणों को अलग करने के परीक्षण होने लगे। १९३९ में युद्ध शुरू होते होते जर्मन वैज्ञानिक ओटो हान

को परमाणु में ग्रथित शक्तिकणों के विशरण में सफलता मिली। एक एक परमाणु में शक्ति का विशाल समुच्चय है। हान ने हिटलर से कहा कि हमें आगे परीक्षणों के लिए साधन जुटा दीजिए तो दो वर्ष में परमाणु-विशरण से छुटनेवाली इस शक्ति को जोत कर इससे चलनेवाला बम तैयार कर देंगे। पर हिटलर को जल्दी थी; हान छह मास में परमाणु बम तैयार करने का वचन देते तो हिटलर को साधन जुटाना मंजूर था, नहीं तो नहीं! हान की एक यहूदी शिष्या इस खोज में उनके साथ थी। जर्मनी में यहूदियों का दमन चल रहा था जिससे उसे देश छोड़ना पड़ा। अंग्रेज-अमरीकियों ने उसके ज्ञान का लाभ उठाया। जर्मन परीक्षणशालाओं में जब बमवर्षा के कारण काम न हो सका तभी अमरीका ने अपने वैज्ञानिकों को खुले हाथ सहायता दे कर उन्हें परीक्षणों पर जुटा दिया। २ दिसम्बर १६४२ को इतालवी वैज्ञानिक ऐनरिको फेर्मी ने शिकागो की परीक्षणशाला में काम करते हुए परमाणु-विशरण-जनित शक्ति को नियन्त्रित कर उससे काम लेने का रास्ता दिखा दिया। उस दिन से परमाणुशक्ति युग का आरम्भ हुआ। अमरीकियों ने उस शक्ति का पहला उपयोग संहारक बम तैयार करने में किया। उन बमों द्वारा जो विस्फोट-तरंग चलती वह बड़े क्षेत्र में सभी प्राणियों को नष्ट या पंगु कर देती। ५ और ६ अगस्त १६४५ को अमरीकियों ने जापान के दो नगरों—हिरोशिमा और नगासाकी—पर वैसे बम फेंक उन्हें मटियामेट कर दिया।

अमरीकी मंचूरिया पर भी अधिकार न कर लें इस डर से रूस ने जापान से युद्ध छेड़ मंचूरिया पर चढ़ाई की (६-८-४५)। निरीह जनता का संहार होते देख १५-८-१६४५ को जापान ने हथियार रख दिये। अगले दिन सुभाषचन्द्र सिंगापुर से बंकोक आये। जापान से यह घोषणा की गई कि १८-८-४५ को तोकियो आते हुए तैवान (फारमोसा) द्वीप में विमान गिरने से उनकी मृत्यु हुई।

युद्ध में चीन अंग्रेजों का मित्र रहा था। पर हाङ्काङ से जापानी सेना हटते ही अंग्रेजों ने वहाँ झट अपनी सेना डाल दी कि चीनी अपने उस बन्दरगाह को वापिस न ले लें। हिन्दचीन और हिन्दद्वीपों से जापानियों

के हटने पर वहाँ के राष्ट्रवादियों ने, जिन्हें जापानियों ने अपने शासन में अच्छी युद्ध-शिक्षा और जाते वक्त शस्त्रास्त्र दे दिये थे, अपना गण-राज्य स्थापित कर स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। ये देश पहले फ्रांस और हौलैंड के अधीन थे। अंग्रेज़ों ने इनमें तुरंत भाड़ैत भारतीय सेना भेजी जिससे कि वह फ्रांस और हौलैंड की सेनाएँ वहाँ पहुँचने तक नये गणराज्यों को कुचल दे या दबाये रक्खे। फ्रांस और हौलैंड स्वयं जर्मनी द्वारा रौंदे जा चुके थे, पर अब वे अमरीका से पाये शस्त्रास्त्रों द्वारा अपना साम्राज्य वापिस लेना चाहते थे। हिन्द-द्वीपों में जो भारतीय सेना भेजी गई उसमें से कुछ वहाँ के देशभक्तों से जा मिली, और कुछ को जब उनपर गोली चलाने को कहा गया तब उसने आसमान की ओर गोलियाँ चलाईं। वहाँ संघर्ष जारी रहा। ब्रितानिया की "समाजवादी" मजदूर सरकार ने जिस तत्परता से हाङकाङ को हथियाया और हिन्दचीन और हिन्दद्वीपों में युरोपी साम्राज्य बनाये रखने को भाड़ैत भारतीय सेना भेजी, उससे स्पष्ट हुआ कि इंग्लिस्तान के मजदूर नेता भी दूसरे अंग्रेज़ों से किसी तरह कम साम्राज्यलिप्सु नहीं हैं। उनके समाजवाद का केवल यह अर्थ है कि साम्राज्य की लूट को ब्रितानिया के मजदूर भी पूँजीपतियों के बराबर भोगें।

दूसरे विश्व युद्ध में भारत सरकार प्रतिवर्ष कई अरब रुपया युद्ध पर खर्च करती रही। इसके अतिरिक्त अंग्रेज़ों ने भारत पर थोपा हुआ अपना ४६६ करोड़ रु० का ऋण चुका लिया तथा १७३० करोड़ रुपये का माल ऋण रूप में जबरदस्ती ले लिया। वह भारत का स्टर्लिंग (पौंड) पावना कहलाया।

§ १४. **नौसेना-विद्रोह**—आज़ाद हिन्द फौज के जो नायक अंग्रेज़ों के हाथ पड़े, उन्हें उन्होंने सैनिक कानून से दण्ड देने की तैयारी की। उसे देख जनता में उनके पक्ष में अनायास लहर उमड़ पड़ी, जिससे स्थान स्थान पर प्रदर्शन हुए और उन्हें छुड़ाने की माँग की गई। नवम्बर १९४५ में दिल्ली के लाल किले में आ० हि० फौजियों का पहला मुकदमा शुरू हुआ। उससे आ० हि० फौ० सम्बन्धी घटनाएँ जैसे जैसे प्रकाश में आईं, वैसे वैसे देश में वह लहर उत्कट होती गई। कलकत्ते में विद्यार्थी और मज़दूर प्रदर्शनकारी

गोलियों की बौछार से भी पीछे न हटे। अन्य शहरों में भी वैसे प्रदर्शन होने लगे। १९४२ के बाद यह जनता का दूसरा उत्थान था। आ० हि० फौ० के नायकों में मुस्लिम अधिक थे। भारत के अनेक कैदी-शिविरों में आ० हि० फौजियों को लाने के बाद अंग्रेज़ों ने उनमें फिर से हिन्दू-मुस्लिम भेदभाव खड़ा करने की जी तोड़ कोशिशें कीं; सब बेकार। इन बातों का भारत की मुस्लिम जनता पर भी प्रभाव हुआ। इसलिए जनता के इस उत्थान में हिन्दू मुस्लिम सब दिल से साथ थे जिससे साम्प्रदायिक विद्वेष फैलाने का कृत्रिम आन्दोलन फीका पड़ गया। अन्त में जनवरी १९४६ में पहले तीन अभियुक्तों को नाम की सजा दे कर छोड़ दिया गया। किन्तु और मुकदमे चलते रहे, और ११ फरवरी को एक अभियुक्त को सात साल की सजा सुनाई जाने पर कलकत्ते में फिर संघर्ष शुरू हुआ जो सात दिन चला।

उसी प्रसंग में १८ फरवरी को मुम्बई में भारतीय नौसैनिकों ने शान्तिमय विद्रोह किया। उन्होंने जंगी जहाजों पर से अंग्रेजी झंडे उतार कर कांग्रेस और मुस्लिम लीग के झंडे फहरा दिये, और आ० हि० फौजियों को छोड़ने तथा हिन्दद्वीपों से भारतीय सेना लौटाने की माँग की। नौ-सेना का विद्रोह कलकत्ता विशाखापट्टन मद्रास और कराची में भी फैल गया; वायुसेना का कुछ अंश भी उसमें सम्मिलित हुआ; मुम्बई में तीन लाख मिल-मजदूरों ने सहानुभूति में हड़ताल की। हड़तालियों को दबाने को भारतीय सेना बुलाई जाती तो वह भी उनसे मिल जाती इसलिए गोरी सेना से हड़तालियों पर गोलियाँ चलवा कर २५० को मारा गया। कराची में हड़ताली नौसैनिकों को दबाने का यत्न किया गया तो उन्होंने भी अपने जहाजों से गोलाबारी आरम्भ की।

सेना और जनता के इस एक साथ उत्थान को आगे मार्ग दिखाने वाले कोई सैनिक-राजनीतिक नेता भारत में न थे। यों १९वीं शताब्दी के भारत में नेतृत्व के अभाव की जो कमजोरी बार बार प्रकट हुई थी [१०,६§१०], वह अब फिर वैसे ही स्पष्ट रूप में दिखाई दी जैसे १८५७ में राजस्थान में दी थी [१०,५§४(३)]। कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों के नेताओं ने केवल एक बार सहमत हो कर इस उत्थान की निन्दा की। कांग्रेस के नेताओं ने भारत

को स्वतन्त्र कराने के लिए सेना को अपने साथ लेने की कभी कल्पना न की थी [१०,६§८]। सो अब उन्होंने और उनकी देखादेखी मुस्लिम लीग के नेताओं ने नौसैनिकों से अनुरोध किया कि आत्मसमर्पण कर दें, जिसपर २३ फरवरी को नौ-सैनिकों ने हड़ताल समाप्त कर समर्पण कर दिया। पर आज़ाद हिन्द फौज की जिस छूत ने उन्हें जगाया था वह आगे और फैलती ही गई। अगले महीनों में जबलपुर में सेना के लेखकों और बिहार में पुलिस के छोटे कर्मचारियों ने हड़तालें कीं।

तभी कश्मीर में नया आन्दोलन चला। कश्मीर राज्य गुलाबसिंह को सन् १८४६ में अपनी गद्दारी के पुरस्कार में तथा ७५ लाख रुपया नजराना दे कर मिला था [१०,३§१७]। कश्मीर के नेता शेख अब्दुल्ला ने कहा, ७५ लाख रु० से कश्मीरी जनता की पीढ़ी-दर-पीढ़ी को कोई खरीद नहीं सकता, और महाराजा अब कश्मीर छोड़े। अब्दुल्ला को इसपर जेल दी गई।

§ १५. **अंग्रेज़ों का भारत छोड़ने का संकल्प**—भारत में अंग्रेजी राज की नींव भाड़ैत भारतीय सेना पर पड़ी थी [९,८§२; १०,२§६; १०,५§§१,१०], भारत के बाहर भी अंग्रेजी साम्राज्य उसी के जोर पर खड़ा हुआ था [१०,१§१७; १०,३§§८,१३; १०,४§३; १०,७§§६,७,८,१०,१२,१४; १०,८§§२,१०,११,१५; ऊपर §२]। सेना और पुलिस में आज़ाद हिन्द फौज की छूत फैल जाने से १९४६ में वह नींव हिल गई। यदि इसके बाद भी अंग्रेज भारत में बने रहते तो कभी अकस्मात् बड़े विद्रोह में उन सबके एक साथ फँस जाने का खतरा होता। इसलिए उन्होंने भारत छोड़ने का इरादा किया। १८ फरवरी को भारतीय नौसेना की हड़ताल शुरू हुई थी; १९ फरवरी को ब्रितानिया के प्रधानमन्त्री एटली ने पार्लिमेंट में कहा कि ब्रितानवी मन्त्रिमण्डल के प्रतिनिधि भारत जा कर वहाँ के नेताओं से भारत को स्वतन्त्रता देने के बारे में बातचीत करेंगे।

भारत के पच्छिम तरफ अफरीका में और दक्खिनपूरब तरफ आस्ट्रेलिया में अंग्रेजों के बड़े उपनिवेश हैं। अफरीका के करोड़ों मूल निवासियों पर कई लाख गोरे प्रभुत्व जमाये हुए हैं। आस्ट्रेलिया का क्षेत्रफल समूचे भारतवर्ष से

पौने दो गुना है, पर उसमें गोरे उपनिवेशकों की आबादी एक करोड़ भी नहीं है। बाकी देश खाली पड़ा है, फिर भी अंग्रेज वहाँ गोरों के सिवाय और किसी को बसने नहीं देते। जापान से भारत तक एशिया का भूभाग संसार के सबसे घने बसे भागों में से है। इस भूभाग के देश यदि शक्त बन खड़े हों तो आस्ट्रेलिया में गोरों का एकाधिकार बना नहीं रह सकता और अफरीका में उनका साम्राज्य भी ज्यों का त्यों बना नहीं रह सकता। इस दशा में भारत से हट जाने का निश्चय कर लेने के बाद भी अंग्रेजों का स्वार्थ इसमें था और है कि जब तक बने एशिया के ये देश उठने न पायँ, इनमें मारकाट मची रहे और इनकी प्रगति में बाधाएँ पड़ती रहें। ब्रितानवी मन्त्रि-प्रतिनिधिमण्डल इसी नीति पर चला। उसने साम्प्रदायिक आधार पर राजनीतिक शक्ति बाँटने की किचकिच को फिर जगाया, साथ ही अंग्रेज़ शासक अपने नीचे के हिन्दू और मुस्लिम अमलों में विद्वेष उभाड़ने लगे। उनकी इस शरारत को रोकने का एकमात्र उपाय नौसेना-विद्रोह जैसी और घटनाओं को उपस्थित करना था, जिससे वे स्वयं फँस जाने के डर से भारत का अधिक बिगाड़ किये बिना यहाँ से हट जाते। पर जैसा कि हमने देखा है भारत की सेना और जनता चाहे इसके लिए तैयार थी, तो भी देश में ऐसे कोई नेता न थे जो उसका निदेशन-संचालन कर सकते। भारत के सार्वजनिक जीवन के जो नेता थे उनसे तो उलटा अंग्रेज़ों ने अपना खेल खूब खेलवाया।

§ १६. **सन् १९४६ के निर्वाचन**—१९४५-४६ के जाड़े में विधान-सभाओं के नये चुनाव भी हुए। मुस्लिम-बहुल प्रान्तों में से सीमाप्रान्त में शुद्ध कांग्रेसी बहुमत रहा। पंजाब में मुस्लिम स्थानों में से ७३ मु० लीग ले गई और २० पुराने 'एकावादियों' को मिले—उग्र सम्प्रदायवादी मु० लीग में चले गये और बाकी एकावादियों में बचे। हिन्दू स्थान इस बार सब कांग्रेस ने जीत लिये। १७५ की सभा में कांग्रेसी एकावादी और अकाली मिला कर ९३ थे, अतः उन्होंने सम्मिलित मन्त्रिमण्डल बनाया। सिन्ध में कुल ६० सदस्यों में से राष्ट्रवादी मुस्लिम और कांग्रेसी मिला कर ३०, मु० लीगी २७ तथा युरोपी ३ आये। अंग्रेज़ गवर्नर ने लीगियों और युरोपियों का सम्मिलित मन्त्रि-

मण्डल बनवाया। मार्च १६४६ में लीग दल में एक की घटी हो जाने से वह मन्त्रिमण्डल हार गया, तब भी गवर्ननर ने उसे बनाये रक्खा। बंगाल में ११३ मु० लीगियों के मुकाबले में स्वतन्त्र मुस्लिम केवल ६ आये; वहाँ लीगियों और युरोपियों का मिला कर बहुपक्ष रहा। हिन्दू-बहुल प्रान्तों में सब जगह कांग्रेस को बहुमत मिला; पर उनके मुस्लिम स्थानों में मु० लीगी पहले से अधिक चुने गये। दिसम्बर १६४६ में सिन्ध में फिर निर्वाचन कराया गया, तब वहाँ मु० लीगी बहुमत आया।

§१७. ब्रितानवी मन्त्रि-प्रतिनिधिमण्डल—मार्च १६४६ में तीन अंग्रेज मन्त्रियों का प्रतिनिधिमण्डल, जिसमें क्रिप्स भी था, भारत आया। उसने शिमले में अपने साथ बात करने को कांग्रेस और मु० लीग के नेताओं की सम्मिलनी बुलाई। यह बात तीनों पक्ष कहते थे कि भारत के भावी संविधान का निश्चय चुने हुए प्रतिनिधि करें, पर मु० लीग की माँग यह थी कि मुस्लिम-बहुल प्रान्तों की अलग संविधान-सभा बने। कांग्रेसियों और लीगियों के सहमत न होने पर अंग्रेज प्रतिनिधिमण्डल ने १६ मई को अपना निर्णय दिया। उसका सार यह था कि (१) भारत का संविधान प्रान्तीय विधान-सभाओं के सदस्यों द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि मिल कर बनायेंगे; (२) भारत का संघ होगा जिसके हाथ में देश की रक्षा विदेश-नीति और संचारसाधन रहेंगे; (३) शासन के बाकी सब कार्य स्वायत्त प्रान्तों और रजवाड़ों के अथवा उनके मंडलों के हाथ में रहेंगे, जिनका संविधान उनके प्रतिनिधि इन तीन मंडलों में बँट कर बनायेंगे—एक असम-बंगाल मंडल, दूसरा पंजाब-सिन्ध-बलोचिस्तान-सीमाप्रान्त मंडल, तथा तीसरा शेष भारत का मंडल; (४) रजवाड़े अपनी इच्छानुसार किसी मंडल में सम्मिलित हो सकेंगे, या स्वतन्त्र या ब्रितानवी साम्राज्य के अन्तर्गत रह सकेंगे; (५) इन मंडलों में बने संविधान के अनुसार प्रान्तीय निर्वाचन होने के बाद कोई प्रान्त अपनी विधान-सभा के निश्चय द्वारा एक मंडल से निकल कर दूसरे में जा सकेगा; ये मंडल यह भी निश्चय करेंगे कि इनका अपना कोई साझा संविधान हो या न हो; (६) भारत की संविधान-सभा और ब्रितानिया के बीच सन्धि द्वारा हुए निश्चय के अनुसार ब्रितानिया उसे शक्ति सौंप देगा;

(७) जब तक नये संविधान बनते हैं तब तक के मध्यवर्त्ती काल के लिए गवर्नर-जनरल की शासन-समिति कांग्रेस मु० लीग और अन्य राजनीतिक संस्थाओं के प्रतिनिधियों से बनेगी।

गांधी ने कहा—इन प्रस्तावों में इस दुखी देश का दुःख दूर करने का बीज है। मु० लीग ने इन्हें स्वीकार कर लिया अर्थात् उसकी पाकिस्तान की पुकार का यही अर्थ था कि वह भारत-संघ के भीतर उत्तरपच्छिमी और उत्तर-पूर्वी प्रान्तों की पूरी स्वायत्तता चाहती थी। पर कांग्रेस कार्यसमिति ननु-नच करती रही, क्योंकि उसे डर था कि उत्तरपच्छिमी और उत्तरपूर्वी संविधानमंडलों का मुस्लिम बहुपक्ष असम और सीमाप्रान्त के कांग्रेसी बहुमत को दबा कर उनके लिए ऐसा संविधान न बना दे जो उनकी इच्छा के प्रतिकूल हो, और उसे इसका भरोसा न था कि उसके बाद भी उन प्रान्तों में कांग्रेसी विचार के लोग अपनी विधान-सभाओं में बहुमत करके उन मंडलों से निकल सकेंगे। इसके अतिरिक्त मध्यवर्त्ती सरकार के विषय में भी कांग्रेस कार्यसमिति मोलतोल करती रही। उस विषय पर भी उसका और लीग का समझौता न होने पर अंग्रेज़ प्रतिनिधिमंडल ने अपनी पंचाट यों दी कि केन्द्रीय शासन-समिति में ५ कांग्रेसी हिन्दू, ५ मु० लीगी तथा ४ अन्य सदस्य होंगे जिनमें से एक कांग्रेसी हरिजन होगा। मु० लीग ने इस निर्णय को भी मान लिया; कांग्रेस ने नहीं माना, पर कहा कि हम संविधान-सभा में जायंगे और प्रान्तों का मंडलों में बाधित रूप से बँटवारा नहीं मानेंगे। मानो उसे न मान कर अंग्रेज़ों की इच्छा-विरुद्ध कोई संविधान बना कर चला सकने की शक्ति कांग्रेसी नेताओं के हाथ में थी! अंग्रेज़ प्रतिनिधि-मंडल यह घोषणा करके कि कांग्रेस के न मानने की इस दशा में सरकारी अफसरों की शासन-समिति बनेगी, जून के अन्त में वापिस चला गया। कांग्रेस के नेताओं ने वाइसराय वेवल से मोलभाव द्वारा उक्त योजना में थोड़ा फेरफार करवाने का जतन जारी रक्खा। वे अपनी एकाध छोटी मोटी बात मनवाने में सफल हुए तो मु० लीग ने समूची योजना को ठुकरा दिया और घोषणा कर दी कि केन्द्र में अकेली कांग्रेस की सरकार बनी तो हम 'सीधी चोट' करेंगे। इसके बाद अगस्त में कांग्रेस ने समूची योजना

को मान लिया और उसकी ओर से जवाहरलाल नहरू ने केन्द्रीय सरकार बनाना स्वीकार किया।

१६४५-४६ के जाड़े में आज़ाद हिन्द लहर ने हिन्दू-मुस्लिम एकता का अनूठा वातावरण पैदा कर दिया था। इधर तीन मास तक भारत के नेता अंग्रेज नेताओं के साथ बैठ कर स्वराज्य से प्राप्य शक्ति को साम्प्रदायिक आधार पर बाँटने की जो चर्चा और उसके बाद किचकिच करते रहे, उससे वह वातावरण नष्ट हो गया। जून १६४६ से फिर साम्प्रदायिक दंगे शुरू हो गये।

§ १८. **अंग्रेज़ों का भारत को तोड़ कर जाना**—एक ओर नहरू ने जिना की मिन्नत आरम्भ की कि मु० लीग भी केन्द्रीय सरकार में सम्मिलित हो जाय; दूसरी ओर १६ अगस्त से लीग 'सीधी चोट' लगाने लगी। कलकत्ते में जहाँ हसन सुहरावर्दी की प्रमुखता में मु० लीगी मंत्रिमंडल था उस दिन हड़ताल मनवाने के नाम पर लीगी स्वेच्छासेवकों के भेस में गुंडों के दल सरकारी वाहनों और साधनों के साथ निकल पड़े। लूटमार बलात्कार आग लगाना दिन-दहाड़े चल पड़ा। ये सब कार्य अत्यन्त पाशविक ढंग से किये गये। मुस्लिम लीगियों ने जैसा किया, हिन्दुओं ने भी पीछे 'संघटित' हो कर उसका वैसा ही जवाब दिया। तब पुलिस और फौज ने उन्हें दबाया। दोनों सम्प्रदायों के गरीबों पर मार पड़ी। आठ दिन तक संहार चलता रहा। शहर की नालियाँ लाशों से रुँध गईं। वाइसराय वेवल ने प्रान्तीय "स्वशासन" में दखल देने में असमर्थता प्रकट करते हुए एक अंगुली न हिलाई।

कलकत्ते की सड़कों पर जमा खून अभी धुला न था कि २ सितम्बर १६४६ को कांग्रेसी नेताओं ने केन्द्रीय सरकार में मन्त्रिपद सँभाले। अक्तूबर में पूर्वी बंगाल के नोआखाली कोमिल्ला जिलों में लूटमार शुरू हुई। १५ अक्तूबर को मु० लीग के प्रतिनिधि भी केन्द्रीय सरकार में सम्मिलित हुए, पर उन्होंने संविधान-सभा के बहिष्कार का अपना निश्चय न बदला और दंगे उभाड़ना जारी रक्खा। दिल्ली के पास ही मेवात प्रदेश में मुस्लिम मेवों और हिन्दू अहीरों जाटों की लड़ाई शुरू हो गई जिनमें केन्द्रीय मन्त्री और सरकारी अफसर विभिन्न पक्षों को भीतर भीतर से उभाड़ते और शस्त्रास्त्र देते। पूर्वी बंगाल से

भगाई कुछ स्त्रियाँ बिहार में देखी गईं तो वहाँ भी दंगे फूटे जिन्हें कांग्रेसी सरकार ने सैनिक कार्रवाई कर शीघ्र दबा दिया। बिहार की प्रतिक्रिया रावलपिंडी और हजारा ज़िलों में हुई।

६ दिसंबर १९४६ से दिल्ली में संविधान-सभा बैठने वाली थी। उससे पहले समझौते के लिए नहरू और जिना को लन्दन बुलाया गया, पर वहाँ भी वे समझौता न कर सके। अंग्रेज़ प्रधानमंत्री ऐटली ने घोषणा की कि भारत की जनता के एक बड़े भाग के प्रतिनिधियों—अर्थात् मु० लीगियों—के सहयोग विना यदि कोई संविधान बनेगा तो उसे अंग्रेजी सरकार न मानेगी। इधर केन्द्रीय मंत्रिमंडल के लीगी मन्त्री अपने कांग्रेसी साथियों से सीधे मुँह बात भी न करते। फरवरी में अर्थमन्त्री लियाकतअलीखाँ ने नये साल के आय-व्यय की जो कूत तैयार की उसमें पूँजीपतियों के मुनाफे पर काफी कर बैठा दिया। अधिकतर पूँजीपति हिन्दू थे, वे इससे घबड़ा उठे। दंगों को अंग्रेज हाकिम उभाड़ रहे थे, वाइसराय वेवल की भी उनमें शह प्रतीत होती थी। अंग्रेज़ चले जायँ तो शान्ति हो जायगी यह भी दिखाई देता था। इस दशा में कांग्रेसी नेता किसी भी मूल्य पर अंग्रेज़ों और मुस्लिम लीगियों से छुटकारा पाना चाहने लगे। ऐटली ने उन्हें सान्त्वना देते हुए लुई मौंटबाटन को भारत का अन्तिम वाइसराय बना कर भेजने की घोषणा की। उसका लक्ष्य था भारत के ऊबे हुए नेताओं से जल्दी विभाजन मनवा लेना।

पंजाब में 'एकावादी'-कांग्रेसी सम्मिलित मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध मु० लीग बराबर आन्दोलन कर रही थी, जिसे गवर्नर और अंग्रेज़ अमले शह दे रहे थे। पंजाब कांग्रेस तब भी आपसी झगड़ों में उलझी थी। इस दशा में ३-३-१९४७ को मुख्य मन्त्री खिज़रहयातखाँ को इस्तीफा देना पड़ा और लीगी मन्त्रिमण्डल बना। उसी दिन से पंजाब में दंगे शुरू हो गये। ८ मार्च को कांग्रेस कार्यसमिति ने माँग की कि पंजाब का विभाजन कर पश्चिमी मुस्लिम-बहुल अंश से पूर्वी हिन्दू-बहुल अंश को अलग किया जाय। बंगाल में बसे हुए मारवाड़ी हिन्दू पूँजीपतियों ने बंगाल-विभाजन की माँग उठाई, जिसका कांग्रेस-नेताओं ने समर्थन किया। १९०५ में बंग-भंग से स्वदेशी आन्दोलन उठा था, अब स्वयं कांग्रेसी नेताओं ने

वंग-भंग की माँग की ! उन्होंने अब समझ लिया था कि भारत का विभाजन तो हम रोक सकेंगे नहीं, इसलिए देश का जितना अधिक अंश हमें मिल सके उतना अच्छा । मई जून १९४६ में वे मु० लीग की इतनी माँग भी मानने को तैयार न थे कि भारत-संघ के भीतर मुस्लिम-बहुल प्रान्तों को स्वायत्तता दी जाय । पर सात महीनों की 'सीधी चोट' से, जिसमें निरी गुंडई के सिवाय कुछ न था, वे देश का बँटवारा मानने को झुक गये ।

२४ मार्च को मौंटबाटन ने शासनसूत्र सँभाला । उसने कांग्रेस की नई माँग पर कान दिया और अंग्रेज़ों से भारत को शीघ्र छुड़वा देने का भरोसा दिलाया बशर्त्ते कि वे भारत का विभाजन मान जायँ । कांग्रेस और मु० लीग के नेताओं ने तब मौंटबाटन की पंचाठ मान ली । कांग्रेस नेताओं ने देश का और मु० लीग नेताओं ने बंगाल पंजाब का विभाजन माना । इसे विधिवत् करने के लिए कुछ रस्मी कार्रवाइयाँ तय की गईं । गान्धी तब बंगाल में थे । मौंटबाटन ने उन्हें बुला कर खबर दी कि वल्लभभाई पटेल, जवाहरलाल नहरू और राजगोपालाचारी देश का विभाजन मान चुके हैं तो उनके मुँह से निकला—सर्वनाश हो गया !* पर उनसे कुछ करते न बना ।

विभाजन काल में मध्य पंजाब में मारकाट न हो इसके लिए 'दूध की राखी बिल्ली' के सिद्धान्त के अनुसार एक अंग्रेज सेनापति के आदेश में सीमासेना रक्खी गई । सीमाप्रान्त का बहुमत १९४६ के चुनाव में मु० लीग के विरुद्ध प्रकट हो चुका था, पर पच्छिमी पंजाब के भारत से अलग हो जाने पर सीमाप्रान्त भारत में कैसे रहता ? अतः वहाँ फिर जन-मत लेना तय हुआ । अब्दुलगफ्फारखाँ ने कहा कि मत इस प्रश्न पर न लिया जाय कि

---

* तारकनाथ दास (१९५०)—'ऐन ऐग्ज़ाइल्स व्यू' (निर्वासित का मत), दि पीपुल (अंग्रेज़ी साप्ताहिक), दिल्ली, ३-९-१९५० । जैसा कि डा० दास ने बताया है, उन्होंने यह वृत्तान्त अमरीकी विदेश विभाग के अधिकारियों द्वारा दर्ज समकालिक विवरण के आधार पर लिखा है । 'सर्वनाश हो गया' ये हिन्दी शब्द गान्धीजी के मुँह से सुन कर अमरीकियों ने ज्यों के त्यों दर्ज किये हैं ।

हम भारत के साथ रहें कि पाकिस्तान के, प्रत्युत इसपर कि पाकिस्तान में जायँ कि अलग पख्तूनिस्तान (पठान-देश) में रहें। उनकी किसी ने न सुनी। इसके अतिरिक्त अंग्रेज़ गवर्नर और अमले बराबर मु० लीग का पक्ष ले रहे थे, इसलिए पठानों ने मतगणना का बहिष्कार किया। बंगाल में भी शरच्चन्द्र वसु ने प्रस्ताव किया कि बंगाल एक राज्य बना रहे और वह पीछे चाहे तो भारत या पाकिस्तान के साथ मिल जाय। जिना ने यह प्रस्ताव मान लिया, गान्धी ने भी इसे असीसा, पर कांग्रेस कार्यसमिति ने न माना।

निश्चित रस्मों को पूरा करके १५ अगस्त १९४७ तक अंग्रेज़ों का भारत छोड़ना तय हुआ। पाकिस्तान का गवर्नर-जनरल इंग्लिस्तान के सम्राट् ने जिना को बनाया, भारत में वह पद कांग्रेस नेताओं के अनुरोध पर मौंटबाटन को ही सौंपा गया, क्योंकि अंग्रेज़ गवर्नर-जनरल के द्वारा वे रजवाड़ों के राजाओं को अपने प्रभाव में लाना चाहते थे। पाकिस्तान के हिन्दू और भारत के मुस्लिम अमलों को छूट दी गई कि वे चाहें तो दूसरे देश की सेवा में चले जायँ। पर पाकिस्तान की हिन्दू जनता से कांग्रेसी नेता अन्त तक कहते रहे कि अपने स्थान पर डटे रहो। १०-११ अगस्त को जब पच्छिमी पंजाब से हिन्दू और पूरबी पंजाब से मुस्लिम पुलिस सेना और अमले हटाये जाने लगे तब वहाँ की असहाय निहत्थी हिन्दू और मुस्लिम जनता पर बड़े अधिकारियों मुस्लिम लीगी और कांग्रेसी नेताओं तथा सरकारी अमलों द्वारा उभाड़े और शस्त्र पाये हुए गुंडों के दल टूट पड़े और अपने सहधर्मी पुलिस और सैनिकों की सहायता से उसे हज़ारों की संख्या में घेर कर मारने जलाने लगे। जहाँ अंग्रेज़ सेनापति की सीमा-सेना थी, वहाँ शेखूपुरे में १५००० और गुरदासपुर जिले की शकरगढ़ तहसील में २०००० आदमी एक स्थान में यों घेर कर मारे गये। जलती बस्तियों की इस मारकाट के बीच १५ अगस्त १९४७ को कांग्रेसी नेताओं को दिल्ली और मुस्लिम लीगी नेताओं को कराची की राजगद्दी पर बिठा कर अंग्रेज़ भारत छोड़ चले गये। कुछ बड़े अंग्रेज़ अधिकारी इन नये गद्दी पर बैठने वालों को सहारा देने तथा इनसे अपना कार्य करवाने को रह गये।

§ १९. अंग्रेज़ी राज के लेनदेन का हिसाब तथा उसकी विरासत—भारतीय कांग्रेस ने पूर्ण स्वतन्त्रता का लक्ष्य अपनाने पर भारत के ऋण की निष्पक्ष जाँच की माँग की थी [१०, ६ § ८], पर अंग्रेज़ों ने दूसरे विश्वयुद्ध में भारत की जनता से न केवल वह सारा ऋण प्रत्युत १७ अरब ३० करोड़ का और माल भी उधार वसूल लिया था [ऊपर §§७,१३]। भारत को छोड़ते हुए यहाँ के सब अंग्रेज कर्मचारियों की जीवन भर की तनखाहों पेन्शनों का हिसाब उस उधार में से काट देने की उन्होंने भारत के नये शासकों से माँग की, जिसे इन्होंने चूँ किये विना मान लिया। भारत में अंग्रेज़ों की जो सम्पत्ति अंग्रेज़ी राज में मुफ्त जागीरें पा कर और भारतीय जनता के विदोहन से बनी थी [१०,२ § ११; १०, ६ §§ २, ५; १०,७§§२, ५], उसे भी ज्यों का त्यों बनाये रखने का नये शासकों ने वचन दिया।

महात्मा गान्धी के नेतृत्व में कांग्रेस के नेता कहा करते थे कि अंग्रेज़ी ज़माने का "शासन अत्यन्त फ़िज़ूलखर्ची से चलता है" और कि हमारे हाथ में उसके आने पर बड़े से बड़े सरकारी कर्मचारी का वेतन ५००) मासिक से अधिक न रक्खा जायगा [१०, ६ § ८]। अब उन्होंने उस बात को भी छोड़ दिया और अंग्रेज़ी शासन का ढाँचा ज्यों का त्यों बनाये रखना तय किया। बेशक, रुपये का मूल्य १९३१ की अपेक्षा १९४७ में बहुत गिर चुका था। पर जनता की आमदनियाँ उसी अनुपात से नहीं बढ़ी थीं। युद्ध-काल में अंग्रेज़ों के युद्धोद्योग में सहायता देने वाले ठेकेदारों व्यवसायियों चोरबाज़ारियों और बड़े सरकारी कर्मचारियों के हाथ में खूब पैसा आया था, और उसी से वस्तुओं के दाम बढ़े थे। शासन का खर्चा घटाने से दाम फिर घटते। पर नये शासकों ने वैसा न कर अपने को जनता के बजाय अधिक पैसे वाले वर्ग में रख लिया, जिससे युद्ध-काल वाली मँहगी टिकी रही।

१९३९ में अंग्रेज़ी सरकार से असहयोग करने से ले कर १९४६ के निर्वाचनों तक कांग्रेस के नेता यह भी कहते रहे थे कि अंग्रेज़ी राज के जो भारतीय कर्मचारी जनता को पीडित करते हैं, शासन हाथ में आने पर उन्हें हम दण्ड देंगे। अंग्रेज़ों से भारत का शासन-सूत्र पाते हुए उन्होंने उस वचन

से भी टलने का निश्चय कर लिया।

अंग्रेज़ी ज़माने के शासन-ढाँचे में कोई गहरा परिवर्त्तन अथवा राजकर्मचारियों की छाँट करने को दृढ शक्ति की आवश्यकता होती। देश के शासन का अन्तिम आधार जनता की भावनाओं के बाद अपनी सेना होती है। भरोसे की सेना होने से शासन के दूसरे विभागों में परिवर्त्तन भी सुकर होता। उस काल आज़ाद हिन्द फौज वालों की देशभक्ति और तजरबे तथा उस फौज का जैसा प्रभाव भारतीय सेना पर पड़ा था उससे लाभ उठा कर भारत की नई राष्ट्रीय सेना खड़ी करने का बढ़िया सुयोग दिखाई देता था। पर देश के नेताओं ने उससे आँखें फेरे रक्खीं। १९४६ के निर्वाचनों तक में उन्होंने आ० हि० फौज की लोकप्रियता से लाभ उठाया था। प्रान्तीय कांग्रेसों ने तब अनेक शिविर खोल दिये थे जिनमें आ० हि० फौ० वालों से स्वयंसेवकों को शिक्षा दिलाई और अभ्यास कराया जाता। किन्तु शासन हाथ में आता दिखाई देने पर उन्होंने उनसे भारत की सेना को शिक्षा दिलाने और उसका नव-संघटन कराने का संकल्प नहीं किया, और भारत की नई सेना में अंग्रेज़ी राज वाली सेना की परम्परा बनाये रखना तय किया।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. जापान दूसरे विश्व-युद्ध में क्यों पड़ा?

२. सन् १९४० में जर्मनों के हौलैंड फ्रांस जीत लेने से (क) दक्खिनपूरबी एशिया पर क्या प्रभाव हुआ? (ख) भारतीय कांग्रेस में कैसा मतभेद खड़ा हुआ?

३. जापानी १९४२ में भारत-सीमा तक कैसे पहुँचे? अंग्रेजी सरकार ने उनके भारत चढ़ आने की आशंका से १९४२ में उनके मुकाबले की क्या योजना बनाई थी?

४. आज़ाद हिन्द फौज की नींव कैसे पड़ी?

५. क्रिप्स पेशकश क्या थी? अंग्रेजी सरकार ने उस पेशकश को क्यों लौटा लिया?

६. आजाद हिन्द फौज १९४२-४३ में भारत को मुक्त कराने क्यों न आ सकी? उसके उसी वर्ष न आ सकने का इतिहास पर क्या प्रभाव हुआ? क्या दशाएँ होतीं तो वह १९४२ में आंग्ल-अमरीकी कमजोरी का लाभ उठा सकती?

७. सन् १९४३ का बंगाल दुर्भिक्ष मनुष्य-निर्मित कहा जाता है। क्यों?

८. आज़ाद हिन्द फौज की भारत चढ़ाई का विवरण लिखिए।

९. भारत-सीमा से लौटने के बाद बरमा में आज़ाद हिन्द फौज और जापानियों के आंग्ल-अमरीकियों से युद्ध का संक्षिप्त वृत्तान्त लिखिए।

१०. ब्रितानिया की मजदूर सरकार ने १९४५-४७ में ब्रितानवी साम्राज्य बनाये रखने में कहाँ तक तत्परता दिखाई ? प्रमाण सहित लिखिए।

११. सन् १९४६ का नौसेना विद्रोह किन दशाओं में हुआ ? क्यों शीघ्र समाप्त हुआ ? उसका फल क्या हुआ ?

१२. अंग्रेजों ने १९४७ में भारत क्यों छोड़ा ? और क्यों तोड़ा ?

१३. भारत का विभाजन कैसे हुआ ? मुस्लिम लीग ने उसे पहले किस रूप में माँगा था ? उस माँग के अनुसार कार्य क्यों नहीं हुआ ? कांग्रेसी नेताओं ने विभाजन कैसे मान लिया ?

१४. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए—(१) सुँयत सेन (२) चियाङ काइ शेक (३) सन् १९४० का व्यक्तिगत सत्याग्रह या सांकेतिक असहयोग (४) झाँसी-रानी जत्था (५) पौंड पावना (६) परमाणु बम (७) पख्तूनिस्तान (८) १९४२ की 'भारत छोड़ो' पुकार और संघर्ष (९) अंग्रेज मजदूर नेताओं का समाजवाद।

११. अभिनव भारत पर्व

(१९४७—   )

अध्याय १

अंग्रेज़ी राष्ट्रपरिवार में खण्डित भारत का गणराज्य

§१. **विभाजन के पहले प्रत्यक्ष परिणाम—(अ) जनोच्छेद—** विभाजन काल में पंजाब और पड़ोसी प्रान्तों में जो जनोच्छेद शुरू हुआ वह बाद के महीनों में भी चलता रहा। अमृतसर फीरोजपुर के पच्छिम की समूची और सिन्ध की अधिकांश हिन्दू जनता जो शताब्दियों के मुस्लिम शासनों में वहाँ टिकी रही थी इन महीनों में उखड़ गई; उसी प्रकार पूरवी पंजाब की समूची और उनके पास-पड़ोस की बहुत सी मुस्लिम जनता भी। मारकाट और बलात्कार के तरीकों में मनुष्य ने पशुओं को मात कर दिया। प्रायः दस लाख आदमी मारे गये जिनकी लाशें सड़कों पर और बस्तियों में महीनों सड़ती रहीं। लगभग १½ करोड़ मनुष्य दोनों राज्यों से उखड़ कर बेघरबार हो गये। इनके उखड़ने के कारण दोनों राज्यों का आर्थिक सामाजिक ढाँचा जड़ से हिल गया। पच्छिम से आने वाले हिन्दुओं में अधिकांश शहरी व्यापारी और बुद्धिजीवी थे। इधर से जाने वाले मुसलमान प्रायः मज़दूर कारीगर वर्ग के थे। उत्तरी राजस्थान के बहादुर मेव कृषकों को राजपूत जागीरदारों ने उखाड़ डाला, उनकी ज़मीनें वीरान हो गईं। इस जनोच्छेद में गरीबों और भले आदमियों पर ही अधिक मार पड़ी। बंगाल में इस काल मारकाट उतनी नहीं हुई, पर वहाँ भी लाखों लोग बेघरबार हुए। सन् १९५० के पहले महीनों में पूरवी बंगाल और पड़ोस के प्रान्तों के बीच भी इसी तरह लाखों की संख्या में लोगों की आने जाने वाली धाराएँ चलीं। पूरवी बंगाल से चलने वाली धारा तब से

पाकिस्तान की भीतरी दशा के अनुसार कभी कभी बीच में रुक जाती और कभी फिर जारी हो जाती है।

(इ) **कश्मीर का झगड़ा**—भारत के रजवाड़े अंग्रेज़ों की कठ-पुतलियाँ थे। अंग्रेज़ी सेना के चले जाने पर उनकी कोई टेक न रही और उनमें से अधिकांश ने विभाजन से पहले ही अपनी भूमि-स्थिति के अनुसार भारत या पाकिस्तान में मिलना मान लिया। कश्मीर के राजा ने अपनी स्थिति को न समझा और स्वतन्त्र रहने की सोची। उसने अपनी उत्तरपच्छिमी सीमा के गिलगित प्रदेश का फौजदार बना कर एक अंग्रेज़ को भेजा। पाकिस्तान ने १५ अगस्त के बाद कश्मीर के सब रास्ते रोक कर माल का जाना बन्द कर दिया और राज्य की दक्खिनी सीमा पर धावे शुरू किये। राजा ने तब जनता का सहयोग लेने के लिए शेख अब्दुल्ला को जेल से छोड़ा। अक्तूबर में गिलगित के अंग्रेज़ फौजदार ने विद्रोह कर वह इलाका दबा लिया। तभी अंग्रेज़ और अमरीकी साहसिक सेनानायकों के नेतृत्व में पाकिस्तानी धावामार राज्य की पच्छिमी सीमा से घुसे और रास्ते की बस्तियों में लूटमार मचाते हुए दोमेल तक, जहाँ जेहलम और कृष्णगंगा का मेल होता है और मुज़फ्फराबाद की बस्ती है, बेरोकटोक बढ़ आये। उसे लूट जला कर वे ठेठ कश्मीर दून के द्वार बारामूला तक पहुँच गये। वहाँ प्रत्येक घर का कोना कोना लूटने और प्रत्येक युवती के धर्षण में लग जाने से उनकी बाढ़ रुक गई। कश्मीर के राजा ने अपने राज्य को भारत में मिलाने का सन्देश भेजा और जन-नायक अब्दुल्ला ने भी भारत से सहायता माँगी। भारतीय सेना ने विमानों से श्रीनगर उतर कर शीघ्र ही धावामारों को बारामूला के आगे ऊरी तक धकेल दिया। वह उन्हें समूचे राज्य से भी शीघ्र निकाल देती, पर तभी मौंटबाटन की प्रेरणा से भारत के मन्त्रियों ने इस मामले को ले कर "संयुक्त राष्ट्र संघ" की सुरक्षा समिति में फ़रियाद की (१-१-१९४८)।

"संयुक्त राष्ट्र संघ" दूसरे विश्वयुद्ध के बाद विजेता राष्ट्रों ने मिल कर बनाया है। उसका ध्येय संसार के सब राष्ट्रों की प्रतिनिधि-संस्था बनना है। परन्तु युद्ध की समाप्ति से पहले ही विजेता 'मित्र' राष्ट्रों में आपसी ईर्ष्या आरम्भ

हो गई और रूस को पच्छिमी राष्ट्र अर्थात् अमरीका ब्रितानिया फ्रांस अपना प्रतिद्वन्द्वी मानने लगे। सुरक्षा समिति संयुक्त राष्ट्र संघ की कार्यसमिति है और उक्त चार तथा चीन ये पाँच बड़े राष्ट्र उसके स्थायी सदस्य हैं, दूसरे सदस्य बारी से चुने जाते हैं। पाँच बड़े राष्ट्रों में से कोई एक भी सुरक्षा समिति के किसी निश्चय का प्रतिषेध कर सकता है, अर्थात् उसका कोई भी निश्चय इन पाँचों की सहमति होने पर ही कार्यान्वित होता है। ऐसी दशा में बड़े राष्ट्रों की आपसी खींचातानी रहते हुए भी संयुक्त राष्ट्र संघ उनके लिए एक दूसरे पर अंकुश तथा शान्ति-रक्षा में सहायक का काम देता है। उसमें बहुमत अंग्रेज-अमरीकियों और उनके पिछलग्गुओं का ही है। आरम्भ में तो एशिया अफरीका के छोटे राष्ट्र उन्हीं के इशारे पर चला करते थे।

मई १६४८ में सुरक्षा-समिति ने कश्मीर मामले की जाँच और उस बारे में समझौता कराने के लिए एक आयोग नियुक्त कर दिया जिसमें अधिकतर अमरीकी और उनके साथी थे जो कश्मीर पहुँच कर वहाँ की सामरिक राजनीतिक स्थिति की जाँच करने लगे।

१६४८ में कश्मीर का युद्ध मन्द गति से चलता रहा। गिलगित के दक्खिनपूरब स्कर्दू [७,२ऽ§४,८,१०] के गढ़ में कश्मीर की सेना नौ मास तक लड़ती रही, पर उसके पास कोई रसद कुमुक या आदेश भी न पहुँचने से १५ अगस्त १६४८ को उसे समर्पण करना पड़ा। १-१-१६४६ से भारत सरकार ने युद्ध थामने की सन्धि कर ली।

भारत की इस फरियाद को कि पाकिस्तान ने कश्मीर पर आक्रमण किया है और आक्रमक को वहाँ से हटाया जाय, राष्ट्र-संघ ने अनसुना किये रक्खा। उलटा कश्मीर आयोग की देखरेख के बीच पाकिस्तान-अधिकृत इलाके में और सेना आती गई। आयोग ने यह सुझाव दिया कि कश्मीर की सारी जनता का मत इस बारे में लिया जाय कि वह भारत में सम्मिलित होना चाहती है कि पाकिस्तान में, और कि इस जनमत के प्रबन्ध के लिए एक अमरीकी सेनापति को पंच बनाया जाय। उस पंच की नियुक्त हो गई (मार्च १६४६) और उसने जनमत के प्रबन्ध के लिए कई हजार अमरीकी सेना

कश्मीर में लाने की तैयारी की। इधर भारत पाकिस्तान के अधिकारियों ने एक बार आपस में मिल कर बातचीत करना तय किया तो आयोग ने उनका मिलना रोक दिया, तथा आयोग के अधिकारियों की अनेक अनुचित करतूतें और श्रीनगर से पाकिस्तान को चोरी से कीमती माल पहुँचाने की कोशिशें पकड़ी गईं। भारत सरकार ने तब देखा कि अमरीका का अभिप्राय बिल्लियों के झगड़े में बन्दर बन कर स्वयं कश्मीर को हड़पने का है, और ऐसी पंचाट को नहीं माना (मार्च १६५०)। तब सुरक्षा-समिति की ओर से मध्यस्थ भेज कर टालमटोल की जाती रही। राष्ट्र-संघ के इस रुख को देखते हुए कश्मीर के लोकनेताओं ने निश्चय किया कि कश्मीर की जनता अपने भाग्य का निर्णय स्वयं कर ले और इस उद्देश से १६५१ में वहाँ की सब वयःस्थ प्रजा का मत ले कर संविधान-सभा का निर्वाचन कराया।

इस सभा ने १६५२ में यह निश्चय किया कि कश्मीर में अंग्रेज़ों द्वारा स्थापित राजवंश [१०, ३ § १६] न रह कर निर्वाचित सदरे-रियासत होगा। १६५३ में अनेक प्रमुख अमरीकियों ने कश्मीर के मुख्य मन्त्री शेख अब्दुल्ला को बहकाया कि संविधान-सभा द्वारा कश्मीर के 'स्वतन्त्र राज्य' होने का निश्चय करा लें तो उसे अमरीका से भरपूर सहायता मिलती रहेगी। अब्दुल्ला के इस बहकावे में आ जाने पर साथी मन्त्रियों ने उनका साथ छोड़ दिया जिससे अब्दुल्ला को इस्तीफ़ा देना पड़ा। तब बख्शी गुलाम मुहम्मद मुख्य मन्त्री नियुक्त हुए और शेख अब्दुल्ला को अमरीकी षड्यन्त्र में लिप्त होने के कारण नज़रबन्द किया गया (६-८-१६५३)। संयुक्त राष्ट्र संघ में कश्मीर का मामला उसी तरह लटकता आ रहा है। इस बीच कश्मीर की संविधान-सभा पूरा संविधान बना चुकी, कश्मीर के भारत के अन्तर्गत होने का निश्चय कर चुकी और उस संविधान के अनुसार कश्मीर में नये चुनाव भी हो चुके हैं।

(उ) गान्धी की हत्या—महात्मा गान्धी के साथ उनके मुख्य अनुयायी साथियों का मतभेद १६४० से शुरू हो कर १६४७ तक कैसे बढ़ता गया था सो हमने देखा है [१०,१०§§३,७,१७,१८]। अगस्त १६४७ के

बाद गान्धी अपने को अकेला अनुभव करते हुए अन्य साथियों को ढूँढने लगे। भारत के विभाजन को रद्द कराना और पंजाब-सिन्ध में होते हुए जनोच्छेद को रोकना उनका ध्येय था। पंजाब के रास्ते में दिल्ली को भी दंगों से ग्रस्त देख वे वहाँ रुक गये। जनवरी १६४८ तक उन्होंने दिल्ली और पास-पड़ोस में ऐसी दशा ला दी कि वहाँ से उखड़े हुए मुसलमान वापिस आ कर रह सकें और बेखटके घूम सकें। तब वे पच्छिमी पंजाब जाने की तैयारी करने लगे जिससे वहाँ से उखड़ कर आये हुए हिन्दुओं को वापिस ले जा कर बसाने का उपाय कर सकें।

किन्तु देश के बहुत लोगों की यह धारणा थी कि हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष उभाड़ने और देश के विभाजन की सारी ज़िम्मेदारी गान्धी पर ही थी। ऐसे लोगों के एक दल ने गान्धी की हत्या का षड्यन्त्र किया, जिसकी सूचना सरकार को २०-१-१६४८ के लगभग मिली। ३०-१-१६४८ को प्रातः गान्धी ने आज़ाद हिन्द फ़ौज के नेता शाह-नवाज़ को दिल्ली से रावलपिंडी इस अभिप्राय से रवाना किया कि मेरे पच्छिमी पंजाब आने से पहले उचित तैयारी कर रक्खें। पर उसी दिन सन्ध्या को सरकार को पूर्व-सूचना मिली होने के बावजूद गान्धी की हत्या हो गई।

(ऋ) रजवाड़ों का मज्जन—अनेक रजवाड़ों के १६४७ में ही भारत में मिल जाने की बात कही जा चुकी है। पर कुछ राजाओं ने जब स्वयं यह न देखा कि हमारे पीछे अब कोई टेक नहीं है तब उनकी प्रजा उठ खड़ी हुई। जूनागढ़ उड़ीसा टिहरी-गढ़वाल आदि में इस तरह की लहरें चलीं। टिहरी की प्रजा राजकीय दफ्तरों पर कब्जा करने लगी तो राजा ने अपनी पुलिस को उसे रोकने भेजा, पर पुलिस भी प्रजा से जा मिली। भारत के गृहमन्त्री वल्लभभाई पटेल ने काठियावाड़ राजस्थान मध्य भारत और पूर्वी पंजाब की छोटी छोटी रियासतों के और उसी प्रकार त्रावंकोर और कोचि का संघ बना कर उनके राजाओं में से एक एक का राजप्रमुख नियत होना उनसे मनवा लिया; बाकी बहुत सी रियासतों को प्रान्तों में मिला दिया। विन्ध्य प्रदेश और हिमाचल प्रदेश की छोटी छोटी रियासतें मिला कर दो

प्रान्त बना दिये।

हैदराबाद के निज़ाम ने एक अरसे तक स्वतन्त्र रहने का और पुर्त्तगाली सरकार से गोवा बन्दरगाह खरीद लेने का भी यत्न किया। रज़ाकार नाम के उग्र साम्प्रदायिक मुस्लिम दल ने वहाँ के शासन पर अधिकार कर हिन्दू प्रजा पर, जो भारत में मिलना चाहती थी, अत्याचार आरम्भ किये। अंग्रेज़ और पाकिस्तानी उनके पास छिपे छिपे और नभपथ से शस्त्रास्त्र पहुँचाने लगे। उस दशा में भास्कर त्र्यम्बक रणदिवे के नेतृत्व में वहाँ के समूहवादियों ने किसान प्रजा को उभाड़ कर निज़ाम और जागीरदारों का शासन उखाड़ अपनी पंचायतें स्थापित करना शुरू किया। तब ब्रितानवी सरकार का यह रुख हो गया कि भारत सरकार भले ही हैदराबाद को ले ले। १२ सितम्बर १९४८ को भारत सरकार ने हैदराबाद पर चढ़ाई कर वहाँ रज़ाकार गुंडई का अन्त किया, और हैदराबाद भी भारत-संघ में सम्मिलित हुआ।

(ऌ) **पख्तून संघर्ष**—हमने देखा है कि भारत का विभाजन निश्चित होने पर सीमाप्रान्त के पठानों ने चाहा था कि उनके प्रदेश को अलग स्वतन्त्र इकाई बनने दिया जाय [१०,१०§१८]। पाकिस्तान की स्थापना के सात दिन बाद ही गवर्नर-जनरल जिना ने सीमाप्रान्त के कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल को, जिसके मुख्य मन्त्री अब्दुलगफ्फारखाँ के बड़े भाई डा० खानसाहब थे, पदच्युत कर दिया। जून में अब्दुलगफ्फारखाँ को जेल में डाला गया। अगस्त १९४८ में चारसद्दा में उनके लाल कुर्ती वाले अनुयायियों की एक सभा को जलियाँवाला बाग की तरह घेर कर पुलिस और सेना ने ३०० आदमियों को मार डाला और उनके घर जला दिये। पर पख्तून आन्दोलन इससे दबा नहीं। सीमाप्रान्त और तथाकथित बलोचिस्तान के पठान प्रदेश [१,१ § ५] दूसरे आंग्ल-अफगान युद्ध में अंग्रेज़ों ने अफगानिस्तान से ही छीने थे [१०,७ § ७]। इसलिए तथा उनके साथ जनता और भाषा की एकता के कारण अफगानिस्तान को भी पख्तूनों के इस संघर्ष में खुली सहानुभूति है। जनवरी १९५४ में अब्दुलगफ्फारखाँ को जेल से छोड़ा

गया। उनका पख्तूनिस्तान भाषा-जनपद को पाकिस्तान के भीतर स्वायत्त इकाई बनवाने का आन्दोलन अब (अगस्त १६५७) भी जारी है।

§२. **भारत गणराज्य का संविधान**—जून १६४८ में मौंटबाटन ने विदा ली और अंग्रेज़ी सरकार ने च० राजगोपालाचारी को भारत का गवर्नर-जनरल बनाया। भारत का संविधान बनाने के लिए जिस सभा को अंग्रेज़ चुनवा गये थे उसने "भारत को प्रभु लोकतन्त्रात्मक गण-राज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को ... न्याय ... स्वतन्त्रता और ... समता प्राप्त कराने ... तथा उनमें ... बन्धुता बढ़ाने के लिए" नवम्बर १६४६ में नया संविधान "अङ्गीकृत ... और ... आत्मार्पित" किया। उसके अनुसार २६ जनवरी १६५० से भारत गणराज्य बना और संविधान-सभा ने नये संविधान के अनुसार चुनाव होने तक श्री राजेन्द्रप्रसाद को आरज़ी राष्ट्रपति चुना। पर संविधान-सभा ने भारत के गणराज्य को अंग्रेज़ी "राष्ट्रपरिवार" का उपराज्य बनाये रखना ही तय किया।

नये संविधान की नींव प्रजा की राजनीतिक समता और स्वतन्त्रता के मूल अधिकारों पर रक्खी गई। उसमें प्रत्येक वयःस्थ भारतीय को मताधिकार दिया गया। तो भी उसमें "निवारक निरोध" अर्थात् न्यायालय से विधिवत् जाँच किये बिना नजरबन्द किये जाने का विधान अर्थात् राउलट कानून [१०,८§१४] का तत्त्व और शासक जब चाहें तब जनता का आपस में मिलना रोक देने का विधान भी रहा।

भारत का जो रूप अंग्रेज़ों ने बना दिया था, रजवाड़ों के मज्जन के अतिरिक्त वह वैसा ही रक्खा गया। यहाँ तक कि अंग्रेज़ी काल के युक्त प्रान्त को नया नाम उत्तर प्रदेश देते हुए यह ख्याल रक्खा गया कि उस नाम का पुराना अंग्रेज़ी संक्षेप (यू० पी०) ज्यों का त्यों रहे! स्वराज्य पाने के बाद भारत को पुराने भाषा-जनपदों के संघ का रूप देने का ध्येय जो १६२० से सामने था, वह चरितार्थ नहीं हुआ। यों एकभाषी प्रान्त न बनने से प्रान्तों के शासन और शिक्षा में अंग्रेज़ी की प्रधानता बनी रही। भारत संघ की भाषा हिन्दी मानी गई, पर संघ में भी राजकाज की भाषा कम से कम अगले १५

बरस तक अंगरेजी रक्खी गई ।

अंग्रेज़ी ज़माने में भारत के जिन प्रान्तों में बड़े जमींदार आदि थे, अंग्रेज़ों ने उनमें विधान-सभाओं के दो दो सदन और उपरले सदनों में ज़मींदारों आदि का प्रतिनिधित्व रक्खा था। कांग्रेसी सरकार यद्यपि ज़मींदारी-उन्मूलन को अपना ध्येय कहती, तो भी उन्हीं प्रान्तों में नये संविधान में भी दो दो सदन रक्खे गये, भले ही उपरले सदनों में धन के आधार पर प्रतिनिधित्व नहीं रहा। राष्ट्रपति का निर्वाचन भारत के सब राज्यों की विधान-सभाओं तथा केन्द्रीय संसद् के सब सदस्यों के मतों द्वारा करने की विधि रक्खी गई।

अंग्रेज़ों का छोड़ा हुआ पुराना शासनयन्त्र नौकरतन्त्र और न्यायपद्धति भी ज्यों की त्यों रही। उसे, पुराने अमलों के अधिकारों और वेतनों आदि को तथा अंग्रेज़ी ज़माने में बनाई या पाई हुई सम्पत्ति और अंग्रेज़ों के छोड़े हुए निहित स्वार्थों को ज्यों का त्यों बनाये रखने पर संविधान का सब से अधिक ज़ोर है। अंग्रेज़ अधिकारी जो बड़े बड़े वेतन लेते थे, नये भारतीय अधिकारियों के वेतन भी उसी पैमाने पर रक्खे गये। रजवाड़ों का मज्जन हो गया, पर उनके राजाओं को लगातार निजी थैलियाँ देश की मालगुज़ारी में से देना नियत हुआ। हमने देखा है कि बहुत से रजवाड़े देशद्रोह के लिए अंग्रेज़ों के दिये हुए पुरस्कार थे। उस पुरस्कार को नये संविधान ने जारी रखा।

§३. भारत के पड़ोस से हटते हुए पच्छिम-युरोपियों का संघर्ष—(अ) भारत-समुद्र पर अधिकार बनाये रखने के अंग्रेज़ों के पहले उपाय—भारत के विभाजन में सफल हो जाने से अंग्रेज़ों ने माना कि हम एशिया में अपना साम्राज्य अंशतः बचाये रख सकते हैं। सिंहल में भी कुछ शासन-सुधार उन्हें देने पड़े तो भी वहाँ उन्होंने अपनी स्थल और जलसेना रक्खे रक्खी। मालदिव द्वीपों को उन्होंने सिंहल से अलग कर अपनी सीधी रक्षा में ले लिया। सबसे बढ़ कर उन्होंने हिन्द महासागर और प्रशान्त महासागर के बीच की स्थल की गरदन को, जिसके दक्खिनी छोर पर सिंगापुर का द्वीप है, अपने हाथ रखना तय किया। इस प्रयोजन से उन्होंने नवम्बर

१९४७ में नेपाल के राणा तथा भारत की नई कांग्रेसी सरकार से सन्धि कर आठ बटालियन गोरखाली भाड़ैत सैनिकों को नेपाल और भारत से भरती कर ले जाने का अधिकार पा लिया। मलाया और सिंगापुर को उन्होंने इस तथा गोरी सेना द्वारा दबाये रखने का यत्न किया। मलाया की जनता में स्थानीय निवासियों के अतिरिक्त अब वहाँ बसे हुए चीनियों का बहुत बड़ा तथा भारतीयों का भी यथेष्ट अंश है। उन चीनियों का एक दल युद्ध-काल में जापानियों से मुठभेड़ करता रहा था। अब उसी के नेतृत्व में मलाया के क्रान्तिकारी दल ने स्वतन्त्रता का युद्ध छेड़ दिया। पिछले नौ बरस में इन्हें कुचलने के लिए अंग्रेज़ों ने एक तरफ़ नये से नये संहारक अस्त्र बरते, तो दूसरी तरफ़ उत्तरी कलिमन्थन (बोर्नियो) से मनुष्यमांस खाने वाले द्याक नामक जंगलियों को ला कर जंगलों में छोड़ा कि इन क्रान्तिकारियों को खा जायँ; साथ ही मलाया की जनता जो इन्हें सहायता देती थी उसे यहाँ तक दबाया कि जुलाई १९५३ में आदेश निकाला कि कोई परिवार सात दिन से अधिक का चावल अपने पास न रक्खे जिससे क्रान्तिकारियों को सहायता न मिले। पर यह सब करके भी वे मलाया के स्वतन्त्रता-संघर्ष को कुचल नहीं पाये।

(इ) बरमा फिलिस्तीन हिन्दद्वीपों से युरोपियों का हटना— अंग्रेज़ों ने सोचा था मलाया के साथ शायद बरमा को भी अधीन रख सकें, पर १९४७ के अन्त में उन्हें वहाँ से हटना पड़ा। बरमा को छोड़ते हुए उन्होंने उसके साथ यह ठहराव किया कि वहाँ ब्रितानवी सामरिक प्रतिनिधिमंडल रहेगा जो बरमियों को सामरिक शिक्षा देगा तथा जिसकी मार्फ़त ही बरमी सरकार युद्ध-सामग्री खरीदेगी। इस ठहराव से रुष्ट हो कर बरमी समूहवादियों और कुछ राष्ट्रवादियों ने विद्रोह किया (अप्रैल-जुलाई १९४८)। बरमा सरकार को यों उलझा देख अंग्रेजों ने भी वहाँ मारकाट बढ़ाने का उपाय किया। बरमा के दक्खिनपूरवी भाग में करेन लोग रहते हैं जो अधिकतर ईसाई बन चुके हैं। अंग्रेज़ों ने अपने शासन-काल में उनमें बरमियों के विरुद्ध भाव भरे थे। दूसरे विश्व-युद्ध में तुलक नामक अंग्रेज़ कर्नल को करेनों को जापानियों के विरुद्ध उभाड़ने के लिए गुप्त रूप से भेजा गया था। उसी तुलक ने अब कलकत्ते में

बैठ कर करेनों को उभाड़ने का षड्यन्त्र किया जिससे अगस्त १९४८ में वे लोग नई बरमा सरकार के विरुद्ध उठ खड़े हुए और वैसे ही घिनौने कार्य करने लगे जैसे भारत में मुसलिम लीगियों ने कराये थे। करेन प्रदेश में तेल के सोते और रांगे की खानें हैं जिनके ठेके अंग्रेज़ कम्पनियों के पास थे। सो उस प्रदेश को बरमा से अलग कर लेना इस विद्रोह का उद्देश था, और इसके लिए आस्त्रेलिया से शस्त्रास्त्रों के जहाज गुप्त रूप से बरमा तट पर लाये जा रहे थे। बरमा सरकार ने तुलक के साथियों को पकड़ लिया और भारत-स्थित ब्रितानवी राजदूत से माँग की कि तुलक को कलकत्ते से हटाया जाय। उसने भारत सरकार को इस बारे में कुछ न कहा, क्योंकि उसने देखा कि भारत का शासन तब तक अंग्रेज़ राजदूत के इशारे पर ही चल रहा था। बरमा में ये विद्रोह बरसों चलते रहे। १९५१ से बरमा सरकार उनपर काबू पाने लगी, पर उनका प्रभाव अभी तक बाकी है।

१९४८ में अंग्रेज़ों को पच्छिमी एशिया में फिलिस्तीन को भी छोड़ना पड़ा। उसकी कहानी विचित्र है। वहाँ प्राचीन काल में यहूदी लोग रहते थे जो उस काल में ही वहाँ से बिखर कर अनेक देशों में फैल गये थे। १९वीं शताब्दी में युरोप के यहूदियों में यह आन्दोलन चला कि हम फिर अपने पुराने देश में बस कर अपनी भाषा और कृष्टि को पुनर्जीवित करें। चूँकि एशिया में ब्रितानिया की शक्ति तब सबसे अधिक थी, इसलिए उन्होंने माना कि उसकी सहायता से ही हम अपना देश वापिस पा सकते हैं। इस दृष्टि से पहले विश्व-युद्ध में जर्मन यहूदियों तक ने भीतर भीतर ब्रितानिया का साथ दिया। युद्ध के बाद फिलिस्तीन अंग्रेज़ी सरकार के हाथ आया तो उसने वहाँ यहूदियों को बसाने की अपनी नीति की घोषणा की। उसका लक्ष्य था स्थानीय अरब मुस्लिमों की बहुसंख्या के मुकाबले में इन अल्पसंख्यक यहूदियों को खड़ा करते हुए अपने साम्राज्य की जड़ें जमाना। पर यहूदी लोग जो फिलिस्तीन में अपना स्वतन्त्र राष्ट्र खड़ा करना चाहते थे, अंग्रेज़ों के कठपुतली बनने को तैयार न हुए। उनका अंग्रेज़ी शासन के साथ संघर्ष होने लगा। क्रमशः वह संघर्ष इतना बढ़ा कि दूसरे विश्व-युद्ध में जब जर्मनी का अधिनायक हिटलर

यहूदियों का उन्मूलन करने में लगा था तब भी फिलिस्तीन के यहूदी अंग्रेजों से सहयोग करने के बजाय उनके विरुद्ध त्रास-संघर्ष करते रहे, और अंग्रेज़ उन्हें भारतीय या अरब सेना द्वारा दबाते रहे। अन्त में १६४८ में अंग्रेज़ों ने जब देखा कि उस देश को छोड़ना ही होगा तब पड़ोस के कई अरब देशों पर उनका दबदबा था, और उन्होंने फिलिस्तीन का इस प्रकार विभाजन किया कि यहूदियों और अरबों का झगड़ा जारी रहे जिससे अंग्रेज़ कभी एक कभी दूसरे पक्ष का साथ दे कर पच्छिमी एशिया में अपने स्वार्थों को सुरक्षित रख सकें। यहूदियों के नये देश का नाम इज़राइल हुआ।

मलाया में अंग्रेज़ों के टिके होने से हिन्दचीन या विएतनम में फ्रांसीसियों और हिन्दद्वीपों में ओलन्देज़ों को सहारा मिलता रहा। दोनों देशों के राष्ट्रवादी १६४५ में जापानियों के वहाँ से हटने के बाद से स्वतन्त्रता के लिए लड़ रहे थे, पर युरोपी शासक १६४६ तक अंग्रेज़ों की भाड़ैत भारतीय सेना का सहारा पा कर और उसके बाद अमरीकी शस्त्रास्त्र-सहायता पा कर उन्हें दबा रखने का जतन करते रहे। अन्त में २७-१२-१६४६ को हौलैंड ने हिन्दद्वीपों को आत्मप्रभुता सौंपी उनके साथ यह ठहराव करते हुए कि वे हौलैंड के राष्ट्रपरिवार में रहेंगे।

(उ) चीनी लोकतन्त्र का उत्थान—१६३७ से ४५ तक चीन के समूहवादी पक्ष और राष्ट्रीय पक्ष (कुओमिङताङ) ने मिल कर काम किया था। युद्ध-समाप्ति पर राष्ट्रीय पक्ष के नेता चियाङकाईशेक ने अमरीका से पाये शस्त्रास्त्रों के सहारे फिर समूहवादियों को कुचलने का यत्न किया। उस दशा में समूहवादी लोकसेना उत्तरपच्छिमी चीन के अपने आधार से प्रायः पैदल और खाली हाथ ही मंचूरिया को बढ़ी और वहाँ चियाङ की सेना से ही उसके शस्त्रास्त्र और वाहन छीनती हुई अपनी शक्ति बनाती गई। मंचूरिया ले कर वह ठेठ चीन में उत्तर से दक्खिन बढ़ी। यदि भारत में अंग्रेज़ अपनी भाड़ैत सेना के साथ होते तो वे उसके द्वारा इस लोक-सेना के रास्ते में कहीं न कहीं अवश्य आड़े आये होते। पर वह दशा अब नहीं थी। चीनी लोकसेना के हाथ जैसे जैसे जो प्रदेश आते गये वैसे वैसे उनमें किसानों को

ज़मींदारों से मुक्त कर ज़मीनों की मलकीयत दी गई, स्थानीय जनता की समितियों द्वारा पुराने राजकर्मचारियों के कार्य के लेखे की जाँच करवा उनमें से जिन्होंने जनता को लूटा या पीडित किया था उन्हें यथोचित दण्ड या शिक्षा दी गई, और भ्रष्टाचार और व्यभिचार की सफाई होती गई। सारा चीन यों उस जनसेना के अधिकार में आ जाने पर १ अक्तूबर १९४९ को चीनी लोकतन्त्र की स्थापना हुई।

चियाङकाईशेक अपनी सेना के बचे अंश के साथ तैवान (फ़ौरमोसा) भाग गया। १९४८ में वहाँ की जनता उसके शासन के विरुद्ध उठी। तब उसने २० हज़ार तैवानियों को मौत के घाट उतार दिया।

मंगोलिया मंचूरिया और ठेठ चीन को अपने शासन में लाने के बाद चीन की लोकतन्त्री सरकार ने शिङकियाङ अर्थात् सीता-तारीम काँठे पर ध्यान दिया। वहाँ के अनेक डाकू सरदारों को अंग्रेज़-अमरीकियों ने सहायता दे कर लोकसेना के सामने खड़ा किया। पर लोकसेना ने उस प्रदेश पर भी अधिकार कर लिया और बहुत से कज़ाक लुटेरों और अमरीकियों ने लदाख और ल्हासा के रास्ते कश्मीर और दार्जिलिङ पहुँच कर शरण ली। कश्मीर में उन "शरणार्थियों" के पास १९५२ तक अमरीकी नेता षड्यन्त्र करने आते रहे।

चीनी लोकसेना की बाढ़ से तिब्बत में बेचैनी फैलने लगी। वह चीनी आधिपत्य में होता हुआ भी १९०४–१३ से अंग्रेज़ों की भारत सरकार का रक्षित था तथा वहाँ भारतीय डाक-तार चलते और कुछ नगरों में भारतीय व्यापार-दूत थोड़ी सेना के साथ रहते थे [१०, ८ §§ २, १०]। भारत की कांग्रेसी सरकार ने यह मानते हुए कि अंग्रेज़ों के जिन स्वार्थों की खातिर यह व्यवस्था की गई थी, उनकी रक्षा करते चलना हमारा भी कर्त्तव्य है, एक अंग्रेज़ को ही तिब्बत में अपना प्रतिनिधि बना कर रक्खा था! जुलाई १९४९ में भारत सरकार का गुप्तचर-निदेशक (डिरेक्टर ऑफ़ इंटेलिजेंस) परामर्श के लिए अमरीका भेजा गया। अमरीका ने तिब्बत को स्वतन्त्र मानने का प्रस्ताव किया तथा दलाई लामा ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दूसरे राष्ट्रों से सहायता माँगी।

दिसम्बर १९४९ में भारत सरकार ने चीन की नई सरकार को वहाँ की सरकार मान लिया। फिर भी लन्दन में भारतीय ब्रितानवी और अमरीकी अधिकारी तिब्बत को "बचाने" के लिए परामर्श करते रहे और भारत सरकार का विदेशी विभाग अमरीकी सरकार को तिब्बत विषयक पूरी सूचनाएँ देता रहा। तिब्बती सेना को सहारा देने को अनेक अंग्रेज़-अमरीकी भारत के रास्ते तिब्बत गये। उधर जनवरी १९५० में चीन सरकार ने तिब्बत सरकार को सन्देश भेजा कि दोनों के भावी सम्बन्धों पर बातचीत करने को अपने प्रतिनिधि पेकिङ भेजें। फरवरी में वे प्रतिनिधि ल्हासा से भारत के रास्ते चीन को चले, पर भारत आ कर रुक गये। इस बीच तिब्बत को "बचाने" की कार्रवाइयाँ जारी रहीं।

१४ जनवरी १९५० को कोलम्बो में ब्रितानवी राष्ट्रपरिवार के राष्ट्रों की सम्मिलनी यह विचार करने को हुई कि दक्खिनपूरबी एशिया में लोकतन्त्री चीन के प्रभाव की बाढ़ को कैसे रोका जाय। वहाँ यह तय हुआ कि द० पू० एशिया के देशों की आर्थिक दशा सहायता और सहयोग द्वारा सुधारी जाय जिससे वे समूहवाद की ओर आकर्षित न हों। इसे कोलम्बो कार्यक्रम कहा गया और इसमें भाग लेने वाले राष्ट्रों के प्रतिनिधि तब से बराबर मिला करते हैं। भारत भी इनमें शामिल है। मई १९५० में अमरीकियों ने मनीला में चीन के विरुद्ध सामरिक कार्रवाई करने को अनेक राष्ट्रों की सम्मिलनी बुलाई; उसमें भी भारत के प्रतिनिधि गये।

ये कार्रवाइयाँ तथा तिब्बती दूतों को हिलते न देख अक्तूबर १९५० में चीन सरकार ने अपनी लोकसेना को तिब्बत पर चढ़ने का आदेश दिया। उसी वक्त, जैसा कि हम देखेंगे, चीनी स्वयंसेवक सेना कोरिया के युद्ध में भी उलझी थी। जाड़े के दारुओं† और हिमवर्षा के बीच किसी सेना का तिब्बत चढ़ना असम्भव लगता था, सो अमरीकियों ने माना कि चीनी झाँसा दे रहे

---

† दारु = बरफ़ीली हवा। यह हरद्वार प्रदेश का शब्द है जहाँ जाड़े में हिमालय से वैसी हवा रोज़ रात को नियम से बहती है।

हैं। किन्तु उसी जाड़े में चीनी लोकसेना ने तिब्बत में प्रवेश किया और वहाँ अनेक अंग्रेज़-अमरीकी षड्यन्त्री पकड़े; कुछ भारतीय सेना की सहायता से भाग आये।

१९५१ के मध्य तक शिङकियाङ और तिब्बत अंग्रेज़-अमरीकी षड्यन्त्र-जाल से पूरी तरह मुक्त किये गये।

(ऋ) नेपाल में राणाशाही का ढहना—नेपाल के प्रधान मन्त्री युद्धशमशेर [१०,९§१०] ने संघर्ष से थक कर और ज़माने का रुख देखते हुए दिसम्बर १९४५ में इस्तीफा दे दिया। तब भीमशमशेर के बेटे पद्म-शमशेर को राणों की तीसरी पीढ़ी में जेठा होने से वह पद मिला। नेपाल की जनता अब शासन-सुधारों के लिए खुली माँग करने लगी। पद्म भी अपने पिता की तरह सुधार करना चाहते और उन्होंने जून १९४७ में एक सुधार-समिति बनाई तथा भारत की नई कांग्रेसी सरकार से विधान के दो पंडित उसमें भाग लेने को बुलवाये। कानून के इन पंडितों ने जो शासन-योजना बनाई उसके अनुसार राणा वंश का ही व्यक्ति प्रधानमन्त्री होता और वह चाहे जब शासन-विधान को स्थगित कर सकता, पर उसके साथ कुछ जनता के प्रतिनिधि मन्त्री भी रहते। जनवरी १९४८ में वे सुधार घोषित किये गये। पर इस बीच पद्म की अपनी स्थिति कठिन हो गई थी। उनके चचेरे भाई—चन्द्रशमशेर के सात बेटे—उनके रास्ते में आड़े आये थे, क्योंकि उनके बड़े निहित स्वार्थ नेपाल की दशा ज्यों की त्यों बनाये रखने में थे [१०,९§१०]। मार्च १९४८ में पद्म दिल्ली गये, प्रकटतः यह देखने को कि भारत की नई सरकार से उन्हें क्या सहायता मिल सकती है। महीना भर वे वहाँ रहे, पर वहाँ उन्हें किसी ने न पूछा। अप्रैल '४८ में पद्मशमशेर ने निराश हो नेपाल लौटे बिना इस्तीफा दे दिया। तब चन्द्रशमशेर के जेठे बेटे मोहन ने नेपाल का शासन हाथ में लिया। सुधार-योजना रद्दी की टोकरी में फेंक दी गई।

उधर चीन में लोकतन्त्र स्थापित होने से राणाशाही को खतरा दिखाई देने लगा। तब १९५० के आरंभ में भारत-स्थित अमरीकी और अंग्रेज़ दूतों ने मोहनशमशेर से मिल उन्हें सहायता का आश्वासन दिया। फरवरी १९५० में

मोहन ने दिल्ली की यात्रा की। वहाँ भारत के नये राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री ने उनका बड़ा स्वागत किया, और भारत सरकार ने उनसे यह सन्धि की कि नेपाल विदेश से जो शस्त्रास्त्र मँगायगा, भारत उनके लिए खुली राह देगा। वे शस्त्र नेपाल की प्रजा को कुचलने को बर्त्ते जाने को थे।

पर नेपाल की प्रजा भी इस बीच क्रान्ति के लिए उमड़ रही थी। भारत में निर्वासित नेपालियों में से तीन सौ क्रान्तिकारियों को भारत-सरकार ने राणा सरकार के हाथ पकड़वा दिया। तो भी नवम्बर १९५० में जब कि चीनी लोकसेना तिब्बत पर चढ़ रही थी, नेपाल की प्रजा उठ खड़ी हुई, और भारत में निर्वासित नेपालियों के दलों ने आज़ाद हिन्द फौज में प्रशिक्षित नेपाली सैनिकों और सेनानायकों के नेतृत्व में कई ओर से रियासत पर चढ़ाई की। नेपाल के कैदी राजा ने काठमांडू के भारतीय दूतावास में फिर दिल्ली में शरण ली। भारत-सरकार ने तब बीचबिचाव किया, जिससे राणों और प्रजा के नेताओं का सम्मिलित मन्त्रिमण्डल बनाना तय हुआ, और फरवरी १९५१ में राजा त्रिभुवनवीरविक्रम ने वापिस आ कर शासन की अध्यक्षता अपने हाथ ली। पर राणाशाही को बचाये रखने का अर्थ गुंडई को वैधानिक पद देना था, क्योंकि राणाशाही का अर्थ ही यह था कि राणा परिवार का सबसे सफल गुंडा प्रधानमन्त्री हो [१०,३§२०; १०,७§११]। लोकतन्त्र में राणाशाही की कलम लगाने की चेष्टा विफल हुई। कुछ मास बाद ही प्रजा-नेता मन्त्रियों में से एक की हत्या की चेष्टा की गई, जिसमें राणा परिवार के कुछ व्यक्ति पकड़े गये। इसके बाद राजा ने सेना का नियन्त्रण अपने हाथ ले लिया, मोहनशमशेर ने विदा ली और राजा ने प्रजा-नेताओं में से अपने मन्त्री चुने।

(लृ) कोरिया का युद्ध—विश्व-युद्ध के अन्त में रूसियों ने जापानियों को कोरिया से निकाल दिया और स्थानीय जनता को ललकारा कि उठो और अपने देश को सँभालो। पीछे आपसी ठहराव के अनुसार उन्होंने ३८° उ० अक्षांश रेखा के दक्खिन का कोरिया का आधा भाग अमरीकियों को सौंप दिया। दक्खिन कोरिया पर अमरीकी आधिपत्य स्थापित होते ही आदेश

निकाला गया कि राजभाषा अंग्रेज़ी होगी और अन्तिम निर्णय अमरीकी अधिकारियों द्वारा होंगे। रूसी कुछ काल बाद उत्तर कोरियाइयों को शासन सौंप हट गये। अगस्त १६४८ में अमरीकी भी दक्खिन कोरिया को गणराज्य बना कर हट गये।

उत्तर और दक्खिन कोरिया में देश को एक करने की बातचीत होती रही। उत्तर कोरिया सरकार को अन्त में ऐसा लगा कि अमरीकियों के प्रभाव से दक्खिन के शासक अयुक्त अड़ंगे लगा रहे हैं। जून १६५० में उत्तर कोरियाई सेना ने दक्खिन कोरिया पर चढ़ाई की जो भारत की सितम्बर १६४८ की हैदराबाद पर चढ़ाई की तरह थी। उस चढ़ाई से प्रकट हुआ कि उत्तर कोरिया वाले आधुनिक युद्ध-संचालन में जहाँ पारंगत हो चुके हैं वहाँ दक्खिन वाले अपनी रक्षा स्वयं करना नहीं सीखे और अमरीकियों पर निर्भर हैं। जापान से अमरीकी सेना तुरत कोरिया में आ उतरी। उसके बाद अमरीका ने संयुक्त-राष्ट्र-सुरक्षा-समिति में यह मामला रक्खा और समिति ने उत्तरी कोरिया को आक्रमक घोषित कर सब राष्ट्रों से दक्खिन कोरिया की सहायता का अनुरोध किया। भारत को कश्मीर के मामले में सुरक्षा-समिति के न्याय के ढंग का काफी बुरा अनुभव हो चुका था और उत्तर दक्खिन कोरिया के विवाद का भारत सरकार ने कुछ भी अध्ययन न किया था, तो भी इन मामलों में भारत सरकार ने फौरन अमरीका का समर्थन किया।

विश्व-युद्ध में जापान से लड़ने वाले अमरीकी सेनापति मैकार्थर के अधीन कोरिया के लिए संयुक्त-राष्ट्र सेना बनी। भारत सरकार ने अपनी जनता का रुख देखते हुए उसमें भारतीय सेना दल तो नहीं पर शुश्रूषा दल भेजा। उत्तर कोरियाई कोरिया के लगभग दक्खिनी छोर तक पहुँच रहे थे जब कि मैकार्थर उस नई सेना के साथ युद्ध में उतरा। उत्तरी कोरिया के गाँवों बस्तियों पर अन्धाधुन्ध बममारी की गई, और जब सुरक्षा-समिति में सोवियत संघ ने प्रस्ताव रक्खा कि वैसी बममारी न की जाय तब भारत ने भी उसका विरोध किया।

मैकार्थर ३८° अक्षांश रेखा पर पहुँचने के बाद जब उत्तरी कोरिया

को भी जीतने को तैयार हुआ, तब चीन ने कहा कि उस दशा में हम उसे रोकेंगे। मैकार्थर के मंचूरिया की सीमा पर की यालू नदी पर पहुँचने पर चीनी स्वयंसेवक सेना युद्ध में उत्तरी और उसे फिर ३८° अक्षांश तक ठेल ले गई। संयुक्त राष्ट्र सेना जहाँ नये से नये शस्त्रास्त्रों से लैस थी, वहाँ चीनी स्वयंसेवकों के हाथों में प्रायः पहले विश्व-युद्ध काल के हथियार थे। पर चीनी जनता की सेना अपने देश की रक्षा के लिए जान हथेली पर रक्खे लड़ रही थी, इसलिए पच्छिमी सेना उसे हरा न सकी। सन् १९५१ में युद्ध में जिच पड़ी रही। अमरीकियों ने उत्तरी कोरिया के गाँवों झोंपड़ों पर बुरे से बुरे संहारक अस्त्र फेंके, पर फिर भी वे आगे न बढ़ सके, क्योंकि चीनी जनता ने अपने हाथों से श्रम कर मोर्चे के पीछे दस दस मील तक बड़ी सुरंगें बना दी थीं जिनमें उनके युद्धवाहन आते रहते, और फिर मोर्चे पर जो आमने सामने की लड़ाई होती उसमें अमरीकी उनका सामना न करते।

मैकार्थर के यालू से धकेले जाने के बाद से अमरीकी शक्ति की धाक टूटने लगी, बाद की जिच से वह और टूटती गई। तब भारत सरकार छोटी बातों में अमरीकी मत की उपेक्षा करने लगी और उसने युद्ध में बीचबिचाव का प्रस्ताव संयुक्त राष्ट्र संघ में रक्खा। १९५३ के मध्य में जा कर युद्धविराम की सन्धि हो सकी। युद्ध को निपटाने के लिए जो शान्ति-सम्मेलन होने को था, उसमें भारत को स्थान देना एशिया और युरोप के प्रायः सब राष्ट्रों को अभीष्ट था, पर अमरीका ने वैसा न होने दिया। युद्ध थमते ही दोनों पक्षों के कैदियों को लौटाना पहली बात होती। पर अमरीकियों ने कहा कि हमारे हाथ में जो कैदी हैं वे अपने देश को वापिस नहीं लौटना चाहते, "स्वतंत्र जगत्" में रहना चाहते हैं। अन्त में यह तय हुआ कि कैदियों के शिविरों में उनके अपने देश वाले उनसे मिल कर उन्हें समझा सकें और तब प्रत्येक कैदी की इच्छानुसार उसे भेजा जाय। तटस्थ राष्ट्रों का एक कैदी-परिवर्तन आयोग बनाया गया और कैदियों को थाती रूप में भारतीय सेना के हाथ सौंपा गया। इस प्रसंग में भारतीय सेना ने देखा कि दक्खिन कोरिया के कैदी-शिविरों में गुंडों के गुट्ट हैं, जिन्हें अमरीकी सेना के अधिष्ठान से आदेश मिलते हैं, और जो किसी भी

कैदी के अपने देश जाने की इच्छा प्रकट करने का रुख लेते ही उसे अत्यन्त पाशविक तरीकों से डराते हैं। अमरीकियों का अभिप्राय उन्हें दक्खिन कोरिया या तैवान की सेना में गुलाम सैनिक बना कर रखने का था। इस दशा में कैदियों का जैसे तैसे निपटारा कर तटस्थ राष्ट्र आयोग फरवरी १९५४ में विसर्जित हो गया। उसके बाद दक्खिन कोरिया के साथ अमरीका ने सामरिक सहायता ठहराव कर लिया, जिससे उत्तर दक्खिन कोरिया के मिलने की बात आज तक नहीं हो पाती।

(ए) उत्तरी हिन्दचीन की मुक्ति—हिन्दद्वीपों की तरह हिन्दचीन अथवा विएतनाम के क्रान्तिकारी संघटन विएतमिञ ने भी जापानियों के हटने के बाद फ्रांसीसी साम्राज्य के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया था। ब्रितानवी "समाजवादी" सरकार ने पहले भारतीय भाड़ैत सेना उन्हें दबाने को भेजी। १९४६ में उस सेना के लौट आने से विएतमिञ को कुछ राहत मिली, पर अमरीका से पाये हुए शस्त्रास्त्र द्वारा तथा उत्तरी अफरीका के अपने साम्राज्य और पच्छिमी जर्मनी के अधिकृत प्रदेश से खड़ी की हुई भाड़ैत सेना द्वारा फ्रांसीसी उसे कुचलने का यत्न करते रहे। विएतमिञ का अधिक ज़ोर हिन्दचीन के उत्तरी सीमा-प्रान्तों में था, जो चीन के साथ लगे हैं। चीन में लोकतन्त्र की स्थापना के बाद उसे वहाँ से शस्त्रास्त्र की सहायता मिलने लगी। सितम्बर १९५३ में विएतमिञ सेना फ्रांसीसी सेना को बुरी तरह हरा कर समूचा उत्तरी हिन्दचीन लेते हुए स्याम की सीमा तक जा पहुँची। अप्रैल १९५४ में उसने दियें-बियें-फू नामक स्थान में फ्रांस के श्रेष्ठ सेनापतियों द्वारा संचालित बड़ी सेना को आ घेरा। तब फ्रांस ने सन्धि की बात की, जिसके लिए जेनेवा (स्विटज़रलैंड) में चीन सहित १९ राष्ट्रों की सम्मिलनी हुई। कोरिया और हिन्दचीन दोनों की समस्याओं पर उसमें विचार हुआ। अन्त में जुलाई १९५४ में यह समझौता हुआ कि फ्रांसीसी १७° उ० अक्षांश रेखा के उत्तर का सारा प्रदेश विएतमिञ को दे कर हट जायेंगे तथा दो बरस बाद उत्तरी और दक्खिनी विएतनाम में चुनाव हो कर सारे देश का एक शासन खड़ा होगा। भारत ने जेनेवा की इस सम्मिलनी में तथा उत्तरी दक्खिनी विएतनाम के बीच शान्ति-स्थापना के निरीक्षण के लिए

तटस्थ राष्ट्रों का जो आयोग बना उसमें विशेष भाग लिया।

भारत की फ्रांसीसी बस्तियों में भी स्वाधीनता के लिए संघर्ष इस बीच जारी था। १९५४ में फ्रांस ने उन्हें भी भारत को सौंप दिया।

दक्खिनी विएतनाम में इसके बाद अमरीका ने दक्खिनी कोरिया की तरह अपनी रक्षित सरकार स्थापित कर (अक्तूबर १९५५) उससे उत्तरी विएतनाम के साथ चुनावों की बात करने से भी इनकार करा दिया, जिससे उस देश के दो टुकड़े मिल कर एक नहीं हो पाये।

(ऐ) ईरान का उठने का प्रयत्न और प्रतिक्रान्ति—अंग्रेज़ों ने भारतीय सेना के बल पर ही फारिस खाड़ी के प्रदेशों को वश में किया और वहाँ के मिट्टी के तेल पर एकाधिकार पाया था [१०,७§१४; १०,८§२]। १९५१ में ईरानी मजलिस (लोकसभा) ने प्रधानमन्त्री मुसद्दिक की प्रेरणा से अपने तैलकूपों को राष्ट्र की सम्पत्ति बनाना तय किया। ब्रितानिया में तब भी अपने को समाजवादी कहने वाली मजदूर पक्ष की सरकार थी। उसने ईरान-खाड़ी में जंगी जहाज भेज तथा ईरान की सीमा के पास अरब देशों में विमानों से छतरी सेना उतार ईरानियों को डराना चाहा, पर ईरानी अपने प्रधानमन्त्री मुसद्दिक के नेतृत्व में इन बन्दरघुड़कियों से नहीं डरे। अंग्रेज़ों को ईरान के तैलकूप तथा फारिस-खाड़ी पर की अबादान की तैल-शोधनी छोड़ जाना पड़ा।

उसके बाद वे ऐसी चेष्टा में लगे कि ईरानी स्वयं तेल न निकाल सकें और शोधनी को न चला सकें, उन्हें बाहर के किसी देश से इस कार्य में सहायता न मिल सके, तेल निकाल कर साफ कर भी लें तो उसे बाहर पहुँचाने के लिए जहाज न पा सकें। अंग्रेज़ कम्पनी ईरान सरकार को तेल की आय में से कुछ अंश देती थी। जब तक ईरानी स्वयं नये सिरे से सारे कारोबार को चला न लें तब तक के लिए उनकी वह आय बन्द हो गई। उस कठिनाई के काल में देश और मजलिस के भीतर के अनेक पक्षों को मुसद्दिक के विरुद्ध अंग्रेज़ और उनके साथी उभाड़ने भी लगे।

समूहवादी देशों के बाहर की दुनिया का मिट्टी-तेल का सारा कारबार

ब्रितानिया अमरीका और पच्छिम-युरोपी देशों की कुछ थोड़ी सी कम्पनियों के एकाधिकार में है। ईरान ने अपना तेल का कारबार चलाने के लिए एशियाई राष्ट्रों से सहयोग माँगते हुए कहा कि पच्छिम-युरोपी कम्पनियों का एकाधिकार तोड़ हम आपको सस्ता तेल देंगे। दूसरी तरफ पच्छिमी एकाधिकारी और उनकी सरकारें ऐसा जतन करने लगीं कि ईरान अपने तेल को स्वयं साफ न कर पाय और उसके अथवा अन्य कच्चे तेल की शोधनियाँ फारिस-खाड़ी से दूर ऐसे स्थानों में खोल ली जायँ जो आगामी युद्ध में सोवियत संघ की पहुँच के बाहर रहें। इस दशा में भारत सरकार ने नवम्बर १९५१ में और बाद अमरीकी और ब्रितानवी तेल-कम्पनियों के साथ उन्हें मुम्बई के पास और विशाखापटन में शोधनियाँ खोलने की असाधारण सुविधाएँ देते हुए ठहराव कर लिये। जैसा कि हम देखेंगे इन ठहरावों में भारत के अपने हितों स्वदेशी की नीति और जनता के लाभ का भी बलिदान किया गया।

मुसद्दिक ने ऐसा प्रयत्न भी किया कि ईरान के शासन में शाह का पद सांविधानिक राजा का ही हो। सेना में कुछ बड़े अधिकारी मुसद्दिक के कुछ शाह के पक्ष में थे। दूसरे पक्ष ने अमरीकी शस्त्रास्त्र की सहायता पा कर अगस्त १९५३ में शाह की आज्ञा से मुसद्दिक को कैद किया। उन्हें तीन बरस की कैद दी गई। ईरान और अमरीका के बीच परस्पर सामरिक सहायता की सन्धि हुई। १९५४ में ईरान ने अंग्रेज फ्रांसीसी ओलन्देज़ और अमरीकी कम्पनियों के एक समवाय को फिर अपने तेल का ठेका दे दिया। उस ठेके की शर्तें गुप्त रक्खी गई। उसी बरस सेना के ६०० अधिकारी कैद किये गये, जिन्हें फाँसी और लम्बी कैदों की सजाएँ दी गई।

(ओ) अरब देशों और अफरीका में उद्बोधन और संघर्ष— मिस्र और सूदान को अंग्रेजों ने भारतीय सेना द्वारा ही जीता और दबा कर रक्खा था [१०,७ §§ ८,१४]। अक्तूबर १९५१ में मिस्र ने ब्रितानिया को सूचना दी कि जिस पुरानी सन्धि के अनुसार सुएज़ नहर की रक्षा के लिए अंग्रेज़ी सेना रहती है, उसे बदलना होगा। जनवरी १९५२ में मिस्र की जनता अपने देश पर अंग्रेजों के नियन्त्रण के विरुद्ध उभड़ पड़ी। काहिरा और अन्य

स्थानों में प्रदर्शन और उपद्रव हुए जिनमें अंग्रेज़ी सम्पत्ति की काफी क्षति हुई। पीछे अंग्रेज़ों के दबाव से मिस्र के शाह फ़ारुक़ की सरकार ने उन उपद्रवों में भाग लेने वालों को कड़े दण्ड देना आरम्भ किया। २३ जुलाई १९५२ को मिस्री सेना के कुछ नेताओं ने, जो अपने को क्रान्तिकारी समिति रूप में संघटित कर चुके थे, शाह का महल घेरवा लिया। शाह को देश छोड़ भागना पड़ा। उसकी सब सम्पत्ति ज़ब्त की गई। उसके साथियों पिछली सरकारों के भ्रष्ट अधिकारियों और उन पुराने राजनेताओं को भी जिन्होंने अपने पद का दुरुपयोग किया था न्यायालयों में विचार कर दण्ड दिया गया। मिस्र के किसान जो फ़लाह कहलाते हैं बहुत ही दलित दशा में थे। उन्हें ज़मीदारों से मुक्त कर ज़मीनों का स्वत्व दिया गया।

प्रायः एक वर्ष तक अपने देश को इन भीतरी संशोधनों द्वारा शक्त बनाने के बाद क्रान्ति के नेताओं ने सुएज़ क्षेत्र की अंग्रेज़ी सेना के विरुद्ध छापेमारी का संघर्ष छेड़ा। नवम्बर १९५३ में सूदान में अंग्रेज़ी शासकों की योजनानुसार चुनाव हुए, जिनमें सूदान का मिस्र के साथ संगम चाहने वाले पक्ष की पूरी जीत हुई। जनवरी १९५४ से ठेठ अरब के यमन राज्य के साथ भी अदन की सीमा पर अंग्रेज़ों की मुठभेड़ चलने लगी, जो तब से अब (अगस्त १९५७) तक बीच बीच में रुक कर चलती ही है।

दिसम्बर '५३ से जुलाई '५४ तक दक्खिनपूरबी एशिया में पच्छिम-युरोपी साम्राज्य को जो धक्का लगा उससे मिस्र में सुएज़ से अंग्रेज़ी सेना को उठाने के संघर्ष को और बल मिला। अन्त में जुलाई-अक्तूबर १९५४ में अंग्रेज़ों ने मिस्र से यह सन्धि की कि सुएज़ से अंग्रेज़ी सेना २० मास में उठा ली जायगी।

दूसरे विश्व-युद्ध में अंग्रेज़ों ने पूरबी अफरीका के अपने उपनिवेशों से भी पहलेपहल भाड़ैत फ़ौज खड़ी की और भारत-बरमा-सीमा पर जापानियों और आज़ाद हिन्द फ़ौज़ से उसे लड़ाया था। अफरीकी सैनिकों में भाड़ैत वृत्ति दस बरस भी न टिकी; युद्ध में दूसरे मनुष्यों के मुकाबले में डट कर खड़े होने से उनका मनुष्यताभिमान जाग उठा। जिन अफरीकियों ने यों

शस्त्रास्त्र चलाना सीख लिया था उन्हों ने अपने देश लौट कर क्रान्ति का बीज डाला। पूरवी अफरीका के केन्या उपनिवेश के किकियु लोगों में मउ मउ नाम का क्रान्तिकारी संघटन खड़ा हो गया। अक्तूबर १९५२ में उसने गुलामी के विरुद्ध संघर्ष छेड़ा। अंग्रेज शासकों और उपनिवेशकों ने उसका भयंकर दमन किया। १९५३ में अंग्रेज़ सेनाधिकारी अपने सैनिकों को प्रति किकियु की हत्या के लिए ५ से १० शिलिंग इनाम देते थे। अक्तूबर १९५५ तक ११ हज़ार मउ मउ मारे जा चुके और ६० हज़ार कैद थे। मलाया के क्रान्तिकारियों की तरह वे अभी कुछ दबे प्रतीत होते हैं।

भारत में अंग्रेज़ी राज्य के ढहने के बाद से दक्खिन-अफरीका के युरोपी उपनिवेशक भी अपने भविष्य के बारे में शंकित हैं। वहाँ की सरकार ने अफरीकियों को दबा कर रखने तथा वहाँ बसे भारतीयों को निकालने के उद्देश से पार्थक्य (अपार्थाइड) नीति अपनाई है, जिससे गैर-युरोपी नियत क्षेत्रों में ही रह पाते और उनका सारा जीवन नियन्त्रित रहता है।

(औ) दक्खिनपूरवी एशिया और बगदाद की सामरिक सन्धियाँ —सन् १९४८ में अमरीका ने सोवियत संघ के मुकाबले के लिए युरोपी राष्ट्रों के साथ सामरिक गुट्ट बनाया जिसे उत्तर-अतलान्तिक-सन्धि-संघटन कहा गया। विभिन्न देशों में अपने फौजी अड्डे रखने और उन देशों को अपने साथ सामरिक गुट्टों में मिलाने की अमरीकी नीति तब से जारी है। १९५१ में अमरीका ने जापान को आंशिक स्वतन्त्रता देते तथा वहाँ अपने फौजी अड्डे रखने की शर्त करते हुए उससे सन्धि कर ली। जैसा कि हमने देखा है, १९५० के अन्त में मैकार्थर के यालू से धकेले जाने के बाद से भारत सरकार छोटी मोटी बातों में अमरीका की उपेक्षा करने की हिम्मत करने लगी थी। सो जापान वाली उस सन्धि पर भारत ने हस्ताक्षर नहीं किये।

१९५२ के अन्त में स्याम से गुप्त ठहराव कर तथा बरमा की प्रभुता की विडम्बना करते हुए अमरीकियों ने चियाङकाईशेक की कुछ सेना स्याम द्वारा बरमा के चीन से लगे सीमाप्रान्त में घुसेड़ दी, जो वहाँ लूटमार करती और अफीम के व्यापार को उभाड़ उसपर चुंगी वसूलती हुई रहने लगी।

स्याम के रास्ते अमरीकी उसे शस्त्रास्त्र पहुँचाते।

कोरिया में विफल होने के बाद १९५२-५३ के जाड़े में ही अमरीकियों ने पाकिस्तान में अड्डे बनाने की बातचीत शुरू की। १९५३ के अक्तूबर-दिसम्बर में अमरीका और पाकिस्तान की सामरिक सहायता सन्धि हो गई। यह सन्धि वेल्ज़ली की आश्रित सन्धियों [९,१०§४; १०,१§§२,५] की तरह है; अन्तर केवल इतना है कि उस ज़माने के भारतीय राज्य जो अंग्रेजों से संचालित सेनाएँ रखते वे उनका सारा खर्चा स्वयं उठाते थे, अब अमरीका अपने आश्रितों को शस्त्रास्त्र और खर्चे की "सहायता" देता है। वह "सहायता" व्यवसायों में पिछड़े हुए एशियाई राष्ट्रों की समूची अर्थनीति को पथभ्रष्ट कर अमरीकियों के हाथों में कर देती है अर्थात् उसके द्वारा एक तो देश के लिए उपयोगी व्यवसाय पनपने के बजाय अमरीकियों के युद्धोद्योग के लिए अपेक्षित व्यवसायों में जनता की शक्ति और देश के साधन लग जाते हैं, दूसरे, देश अपनी अर्थनीति में आत्मनिर्भर होने के बजाय अमरीका पर आश्रित हो जाता है। पाकिस्तान के साथ अमरीका की यह सन्धि होने पर भारत सरकार की आँखें खुलीं और उसने अपनी विदेश-नीति का रुख बदला कश्मीर में संयुक्त राष्ट्र संघ की तरफ से जो अमरीकी निरीक्षक थे, भारत के आग्रह पर उन्हें हटाना तय हुआ। ध्यान रहे कि १९५३ में कश्मीर में भी अमरीकी षड्यंत्रों का भंडाफोड़ हुआ था, और उसी वर्ष ईरान के शाह से भी सामरिक-सहायता-सन्धि कर अमरीकियों ने वहाँ मुसद्दिक को गिरवाया था।

तुर्की अतलान्तिक सागर से दूर है, तो भी वह उत्तर-अतलान्तिक-सन्धि-संघटन में है। फरवरी १९५४ में पाकिस्तान ने तुर्की के साथ सामरिक सहयोग की सन्धि कर ली जिससे वह अतलान्तिक संघटन में जुड़ गया।

फ्रांस और विएतमिञ के बीच समझौता होने के बाद विएतमिञ की प्रभाव-वृद्धि रोकने के लिए ८ सितम्बर १९५४ को मनीला में अमरीका ब्रितानिया फ्रांस आस्त्रेलिया न्यूज़ीलैंड फिलिपीन स्याम और पाकिस्तान इन आठ राष्ट्रों ने दक्खिनपूरबी-एशिया-सन्धि-संघटन के ठहराव पर हस्ताक्षर किये। इन आठ राष्ट्रों में से पाँच युरोपी हैं। प्रकट है कि इस सन्धि का उद्देश द०

पू० एशिया में पच्छिम-युरोपी साम्राज्य को बचाये रखना है। १६५४ में अमरीका ने दक्खिनी कोरिया और तैवान के साथ भी सामरिक सहयोग सन्धियाँ कीं।

फरवरी १६५५ में तुर्की और ईराक ने बगदाद में परस्पर सामरिक सहायता का ठहराव किया जो बगदाद ठहराव कहलाया। अप्रैल में ब्रितानिया और सितम्बर अक्तूबर में पाकिस्तान और ईरान भी उसमें सम्मिलित हो गये। अब अमरीका भी उसकी आर्थिक सामरिक समितियों में भाग लेने लगा है। स्पष्टतः इस ठहराव का उद्देश पच्छिमी एशिया में अंग्रेज-अमरीकी प्रभाव बनाये रखना है।

(अं) पंच शील और बांदुङ सम्मेलन—चीन में लोकतन्त्र स्थापित के बाद से अमरीका घोषणा कर रहा था कि उसे तोड़ देना उसका ध्येय है। एशियाइयों को एशियाइयों से लड़ा कर एशिया पर अपना दबदबा बनाये रखने की नीति की भी वह खुली चर्चा कर रहा था। १६५१ में भारत के कुछ पुराने स्वदेशी आन्दोलन और गान्धी युग वाले राष्ट्रकर्मी, जो अब शासन में सम्मिलित न थे, चीन की दशा देखने गये। उन्होंने लौट कर बताया कि गत दो वर्षों में चीन में कितना वास्तविक सुधार हुआ है और वह कैसी उन्नति की दशा में चल पड़ा है। उन्होंने यह आन्दोलन भी चलाया कि भारत तटस्थता और शान्ति की नीति अपनावे। शासक पक्ष (कांग्रेस) ने पहले तो अपने सदस्यों को उस आन्दोलन से दूर रहने को कहा, पर पीछे सारे देश की माँग पर उसने स्वयं वही मार्ग पकड़ा।

सन् १६५२ में भारत के इन शान्ति-आन्दोलकों ने पुकार उठाई कि नवम्बर १६४७ की वह त्रिपक्ष सन्धि जिसके अनुसार मलाया और हाङकाङ में ब्रितानवी साम्राज्य की सेवा के लिए गोरखाली भाड़ैत सैनिकों को भारत और नेपाल से अंग्रेज भरती कर ले जाते हैं [ऊपर (अ)], रद्द की जाय। भारत-सरकार ने पहले इसपर टालमटोल की, पर १६५३ में अपने को उस सन्धि से मुक्त करा लिया जिससे भारत की ज़मीन पर से अंग्रेज़ों के लिए भाड़ैत सैनिकों की भरती बन्द हुई। नेपाल से वैसी भरती अभी (१६५७) तक

जारी है, क्योंकि नेपाल के शासक अपने उन भाड़ैत सैनिकों की जीविका के लिए दूसरा कोई काम ढूँढ नहीं पाते। और उन नेपाली भाड़ैत सैनिकों को भारत अभी तक रास्ता देता है।

भारत के पड़ोसी बरमा का अपनी सेना के प्रशिक्षण तथा शस्त्रास्त्र खरीदने के लिए अंग्रेज़ प्रतिनिधिमण्डल रखने का ठहराव [ऊपर (इ)] जनवरी १९५४ में समाप्त हुआ। बरमा ने फिर वैसा ठहराव नहीं किया और अपने सेनानायकों को कहीं भी शिक्षा देने तथा किसी भी देश से शस्त्रास्त्र खरीदने की स्वतन्त्रता पा ली। इसके बाद १९५५ में उसने अपनी सीमा में घुसे हुए चियाङ्काईशेक के सैनिकों को भी निकाल बाहर किया। जनवरी १९५४ में अमरीकी उप-विदेशमन्त्री ने अपनी संसद् में स्पष्ट कहा कि एशिया पर अपना दबाव बनाये रखना अमरीका की नीति है। दूसरे विश्व-युद्ध के अन्त में केवल अमरीका के पास परमाणु बम थे। १९४९ तक रूस ने भी वैसे बम तैयार कर लिये, जिससे एशिया को दबाने के लिए अमरीका के उस अस्त्र का प्रयोग करने पर अंकुश लग गया। किन्तु दोनों महादेशों तथा ब्रितानिया में परमाणु-अस्त्र बढ़ाने की होड़ लग गई। उदजन परमाणु सब परमाणुओं से हलका है। उसके क्षरण (fusion) से पैदा होने वाली शक्ति भारी परमाणुओं के विशरण (fission) से जनित शक्ति से कहीं अधिक होती है। रूसी और अमरीकी वैज्ञानिकों ने उदजन का क्षरण भी कर लिया और उससे छूटने वाली शक्ति को बर्तने वाले अत्यन्त संहारक बम बनाये। अमरीकियों ने प्रशान्त महासागर के उन टापुओं में जिनका शासन उन्हें संयुक्त राष्ट्र संघ की ओर से युद्ध के बाद जापान से ले कर थाती रूप में सौंपा गया था, मार्च अप्रैल १९५४ में उदजन बमों के परीक्षण किये। ऐसे परीक्षणों से अनेक ऐसे तत्त्व वायुमंडल में छूटते हैं जो प्राणिमात्र के स्वास्थ्य के लिए गहरा खतरा उपस्थित करते हैं।

१९५० से '५३ तक नये चीन की शक्ति तथा अमरीका का एशिया में बर्त्ताव देख और अमरीका के पाकिस्तान से सामरिक सन्धि कर लेने के बाद भारत सरकार ने अपनी विदेश-नीति बदली और चीन के साथ पूरा समझौता

करते हुए तिब्बत के बारे में उससे सन्धि की (२९-४-१९५४) जिससे उसने तिब्बत पर चीन का पूरा आधिपत्य माना। इस सन्धि में दोनों देशों ने एक दूसरे की प्रादेशिक पूर्णता और प्रभुता का आदर करने, एक दूसरे पर अनाक्रमण, एक दूसरे के भीतरी मामलों में अहस्तक्षेप, एक दूसरे को समान मानने और लाभ पहुँचाने, तथा शान्तिपूर्वक साथ साथ रहने की नीति की घोषणा की। दो मास बाद चीन के प्रधान-मन्त्री चौ-एँ-लाइ भारत आये और तब दोनों देशों के प्रधान-मन्त्रियों ने उक्त "अन्तरराष्ट्रीय पंच शील" के अनुसार अपनी विदेश-नीति को चलाने के संकल्प की संयुक्त घोषणा की।

हमने देखा है कि जुलाई १९५४ में फ्रांस ने उत्तरी हिन्दचीन से और ब्रितानिया ने सुएज़ से अपनी सेनाएँ हटाना माना था। अगस्त १९५४ में हिन्दद्वीपों ने ओलन्देज़ राष्ट्रपरिवार से अपने को अलग कर लिया और पीछे उस ऋण को मानने से भी इनकार कर दिया जो ओलन्देज़ों ने अपने शासन में उनके नाम डाला था। भारत में अगस्त १९५४ में गोवा को मुक्त करने के लिए संघर्ष छिड़ा।

भारत बरमा और हिन्दद्वीप के प्रयत्न से अप्रैल १९५५ में जावा के बांदुङ नगर में एशिया अफरीका के २९ राष्ट्रों का सम्मेलन हुआ जिसमें उन सबने अपने को तथा अन्य राष्ट्रों को पच्छिम-युरोप के उपनिवेश की स्थिति से पूर्णतः मुक्त करने तथा संसार में शान्ति स्थापित करने के अपने संकल्प की घोषणा की।

मलाया के लम्बे संघर्ष के कारण अंग्रेज़ों को वहाँ भी कुछ शासन-सुधार देने पड़े। जुलाई १९५५ में उनके अनुसार पहले चुनाव होने पर जिस पक्ष का बहुमत आया उसने स्वतन्त्रता की माँग की। ३१ अगस्त १९५७ को अंग्रेज़ों ने उसे एक प्रकार की "स्वतन्त्रता" दे दी।

भारत में मई १९५५ में सर्व-पक्षीय गोवा-विमोचन समिति बनी, जिसने वहाँ सत्याग्रही भेजना आरम्भ किया। पर जुलाई में कांग्रेस-पक्ष उस समिति से अलग हो गया और पीछे कांग्रेसी सरकार ने सत्याग्रहियों के गोवा में घुसने पर स्वयं रोक लगा दी, क्योंकि अभी वह इस युद्ध के लिए तैयार न थी।

एशियाई अफरीकी राष्ट्रों के स्वतन्त्रता का मार्ग अपनाने पर पच्छिम-युरोपी राष्ट्र उन्हें शस्त्रास्त्र बेचने में शर्तें लगाने लगे। तब सितम्बर १९५५ में मिस्र और सीरिया ने पूर्वी युरोप के चेकोस्लोवाकिया से शस्त्र खरीदने का ठहराव किया। भारत के प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नहरू ने जून १९५५ में सोवियत सङ्घ की यात्रा की; दिसम्बर-जनवरी १९५५-५६ में सोवियत सङ्घ के प्रधानमन्त्री ने भारत की यात्रा की।

पच्छिमी एशिया के जुरदान राज्य में अंग्रेज़ों ने पहले विश्व-युद्ध के बाद १९२१ से एक अरब सेना-दल खड़ा किया था। उस सेना के अफसर प्रायः सब अंग्रेज़ रहे। १९३९ से उसका प्रधान सेनापति जौन ग्लुब था जो ग्लुब पाशा नाम से प्रसिद्ध था। सन् १९५४ की फ्रांसीसियों अंग्रेजों की हारों के बाद से जुरदान में सेना के अंग्रेज अफसरों को हटाने की माँग उठी। जुरदान के शाह ने पहले उस माँग को दबाया और दिसम्बर १९५५ में जुरदान को बगदाद सन्धि में सम्मिलित करना चाहा। तब वहाँ की प्रजा उठ खड़ी हुई। न केवल जुरदान बगदाद सन्धि में सम्मिलित न हुआ, प्रत्युत मार्च १९५६ में ग्लुब और उसके साथी अंग्रेज़ अफसरों को भी विदा होना पड़ा। पर अप्रैल १९५७ में अमरीका ने शाह को 'सहायता' दे कर वहाँ लोक-पक्ष को फिर दबा दिया।

अप्रैल १९५६ में सिंहल के चुनावों में प्रगतिशील पक्ष का बहुमत आया। उसने सिंहल से अंग्रेजों के जलसैनिक और नभसैनिक अड्डे हटाने के अपने संकल्प की घोषणा की, जिसके अनुसार ब्रितानिया नई सन्धि कर उन अड्डों को अब हटा रहा है।

मिस्र के पूर्वी युरोप से व्यापार-सम्बन्ध बढ़ाने पर पच्छिम-युरोपी राष्ट्रों ने उसपर आर्थिक दबाव डालना शुरू किया। तब जुलाई १९५६ में मिस्र ने अंग्रेजों फ्रांसीसियों की सुएज नहर कम्पनी [१०,७ § २] को एकाएक अपने राष्ट्र की सम्पत्ति बना लिया। अक्तूबर में इज़राइल फ्रांस और ब्रितानिया ने सुएज़ पर चढ़ाई की। मिस्रियों को पीछे हटना पड़ा, पर उन्होंने छापामार युद्ध के लिए तैयार हो कर पच्छिमी एशिया में अंग्रेज़ी तेल-कम्पनियों की नल-पाँत

जगह जगह तोड़ दी और सुएज़ में जहाज डुबा कर उसका रास्ता बन्द कर दिया। दूसरे विश्वयुद्ध के काल से खास अरब में अमरीकी कम्पनियाँ तेल निकालती हैं और उनकी भी बड़ी नल-पाँतें वहाँ से भूमध्यसागर तक फैली हैं। अरब छापामारों द्वारा उनके उड़ाये जाने से अपनी बड़ी हानि देख अमरीका न केवल युद्ध से अलग रहा, प्रत्युत उसने तीनों आक्रमकों को रोकने के लिए दबाव डाला। संयुक्त-राष्ट्र-संघ ने आक्रमकों को हट जाने को कहा। वहाँ भारत ने भी दृढता से मिस्र का पक्ष लिया। अन्त में उन्होंने अपनी सेनाएँ सुएज़ से हटा लीं।

सन् १९५४ से भारत ने विश्व-राजनीति में जो तटस्थता और शान्ति की नीति अपनाई है उससे उसकी संसार भर में प्रतिष्ठा बढ़ी है। बांदुङ सम्मेलन एशिया अफरीका के नये उत्थान का प्रतीक बन गया। पर पच्छिम-युरोपी देशों ने गत चार सौ वर्षों में एशिया अफरीका पर अपना जो सामरिक आर्थिक बौद्धिक शिकंजा कसा था, वह अभी पूरा नहीं टूटा है।

§४. "भारत पर अमरीकी परछाँहीं"*—स्वदेशी अर्थात् अपने देश को आर्थिक पहलू में आत्मनिर्भर बनाने का आदर्श भारतीय देशभक्तों के सामने १८४९ से था [१०,६§११]। १९३८ में सुभाषचन्द्र वसु ने कांग्रेस की योजना-समिति इसी उद्देश्य से बनाई [१०, ९ § ९]। अंग्रेज़ों ने भारत में मुफ्त ज़मीनें पा कर, भारत की लूट की पूँजी लगा कर तथा भारतीय मजदूरों का विदोहन-शोषण कर जो बहुत से कारोबार खड़े कर लिये थे [१०,२§११; १०,६§५; १०,७§§२,५], देश के स्वतन्त्र होने पर उनकी क्या स्थिति होगी यह प्रश्न भी उस योजना-समिति के सामने आया। तब उसने इस बारे में कहा—"भारत में अंग्रेज़ी ज़माने में कृषि खनिज और औद्योगिक धन्धों में विदेशी पूँजी लगने से उन विदेशियों का भारत के आर्थिक-राजनीतिक

* ल० नटराजन् (१९५२)—अमेरिकन शैडो ओवर इंडिया (भारत पर अमरीकी परछाहीं) २य संस्करण १९५६ से इस परिच्छेद का शीर्षक और बहुत से तथ्य तथा उद्धरण लिये गये हैं।

जीवन पर अंशतः नियन्त्रण हो गया है जिससे राष्ट्र का आर्थिक विकास रुका और पथभ्रष्ट हुआ है। ... ये विदेशी धन्धे ... विशेष कर वे जिनमें देश की दुर्लभ प्राकृतिक सम्पद् का उपयोग होता है, राज्य द्वारा युक्त मुआवज़ा दे कर ले लिये जाने चाहिएँ।" यों स्वराज्य मिलने पर विदेशी धन्धों के राष्ट्रीयकरण का आदर्श देश के सामने था।

पहले विश्व-युद्ध के बाद भारत में पूँजी लगाने वाले अंग्रेज़ों ने बड़े भारतीय पूँजीपतियों के साथ क्यों कर गठबन्धन किया था, सो हम देख चुके हैं [१०,६§४]। दूसरे विश्व-युद्ध के बाद जब अमरीकी पूँजी विदेशों में जाने लगी तब ये भारतीय पूँजीपति उसके साथ मिल उसे भी भारत में लाने का जतन करने लगे। पर अमरीकियों ने दबाव डाला कि भारत अपनी राष्ट्रीयकरण नीति बदले तब अमरीकी पूँजी आयगी। इस दशा में दिसम्बर १६४७ में प्रधानमन्त्री ज० नहरू ने कहा कि हमारी सरकार "विदेशी पूँजी और शिल्पीय (टेक्निकल) सहायता का स्वागत करेगी।" तभी बंगाल के मुख्य मन्त्री विधानचन्द्र राय ने अमरीका से लौट कर कहा कि अमरीकी भारत में पूँजी लगाने को तैयार हैं बशर्ते कि उन्हें भारत सरकार की राष्ट्रीयकरण नीति और औद्योगिक झगड़ों को निपटाने की नीति से सुरक्षा पाने की तसल्ली हो जाय। फरवरी १६४८ में श्री नहरू ने संसद् में घोषणा की कि "यथाशक्य विद्यमान व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण न होगा।" मार्च अप्रैल में अमरीकियों की तसल्ली कराने के लिए भारतीय मज़दूर-संघटनों के हजारों कर्मी जेलों में डाले गये— इनमें पचहत्तर बरस बूढ़े सोहनसिंह भखना जैसे देशभक्त भी थे [१०,८§६]। ६-४-१६४८ को संसद् ने यह व्यवसाय-नीति संकल्प पारित किया कि केवल रेलें और शस्त्रास्त्र-कारखाने सरकारी स्वत्व में रहेंगे, बिजली पर राज्य का नियन्त्रण रहेगा, दस बरस तक और कोई राष्ट्रीयकरण नहीं होगा। इसकी व्याख्या में कहा गया कि भारत-सरकार ने "विदेशी पूँजी और चतुराई का स्वागत करने की बुद्धिमत्ता पहचान ली है।" इस वर्ष भारत-सरकार ने अमरीकी और अंग्रेज फौलाद-सलाहकार रक्खे, तीन अमरीकी कम्पनियों को व्यावसायिक पर्यवेक्षाएँ सौंपी। तो भी नई अमरीकी पूँजी भारत में लगने को

न आई।

१९४९ में अमरीकी राष्ट्रपति ने कहा कि हम अपने "नुक्ता ४ कार्य-क्रम" के अनुसार भारत की सहायता को तैयार हैं। अमरीका के इस कार्यक्रम का उद्देश यह है कि अमरीका को "अपने व्यवसायों और युद्ध के लिए अपेक्षित कच्चा माल जिन देशों में पाया जाता है उनके जीतने और शासन करने का भार उठाये बिना वह प्राप्त होता रहे।" इसके लिए उन देशों के खेतों और खानों की उपज बढ़ाने में और उस उपज को बन्दरगाहों तक लाने के परिवहन-साधनों में अमरीकी अपनी पूँजी लगाते हैं। उन देशों का ध्यान उस कच्चे माल के उत्पादन पर ही लगा रहे, अपने अन्य व्यवसायों का विकास वे न करें, यह भी नुक्ता ४ कार्यक्रम का अंश है। अमरीका को अन्न की तो आवश्यकता नहीं, क्योंकि वहाँ भरपूर अन्न होता है। पर उसे भारत की जूट और तेलहन तथा अभ्रक धाऊ (मेंगनीज़)† आदि दुर्लभ खनिज चाहिएँ। १९४८ में अमरीकियों का कहना था कि "हमारी आठ आवश्यक जिन्सें केवल भारत से आतीं, पन्द्रह और का ८०% भारत से ही आता है।" धाऊ फौलाद बनाने के लिए लोहे में मिलाई जाती है, इसलिए उसका बड़ा महत्त्व है। १९४७ में अमरीका ने वह मुख्यतः भारत से ही खरीदी, पर सोवियत संघ से जहाँ प्रति डालर २० सेर के भाव खरीदी, वहाँ भारत से ३८ सेर के भाव! यह 'ला दही' और 'ले दही' का फरक था। भारत कच्चा माल ही पैदा करते रहे और व्यवसायों में आत्मनिर्भर न हो तो अमरीका को उसका माल यों सस्ता मिलता रहे। तो भी नुक्ता ४ कार्यक्रम से अमरीकी पूँजी के भारत आने की आशा होने पर भारत के शासक उसकी अगवानी करने लगे।

१९४९ में प्रधानमन्त्री ने एक अमरीकी को अपना व्यावसायिक सलाहकार नियुक्त किया, दो अमरीकी कम्पनियों को बिजली-सामान के कार-

† धाऊ जबलपुर मंडला भांडारा जिलों की खदानों से निकलती, और उस प्रदेश के हिन्दी-भाषी और मराठी-भाषी दोनों अंशों में इसी नाम से परिचित है। इस जानकारी के लिए मेरे मित्र व्यौहार राजेन्द्रसिंह जी को धन्यवाद॥

खानों के लिए पर्यवेक्षाएँ सौंपीं, एक को बिहार और उत्तरप्रदेश में ५० करोड़ रुपये के नलकूप लगाने का और एक को बिजली-तार कारखाना खोलने और बीस साल तक सरकार का सलाहकार रहने का ठेका दिया। ४-३-१९४९ को उन्होंने कहा—शस्त्रकारखानों परमाणु-शक्ति और रेलों के सिवाय राष्ट्रीयकरण की बात अनिश्चित काल के लिए टल गई, "कुछ वस्तुओं का राज्य द्वारा प्रबन्ध या—आप उसे वैसा कहना चाहो तो—राष्ट्रीयकरण होगा ; अन्यों को, चाहे वे बुनियादी घुंडी-व्यवसाय हों तो भी हम दस बरस तक न छुएँगे, इसका यह अर्थ नहीं कि दस के बाद छुएँगे ही।" फिर ६ अप्रैल को संसद् में घोषणा की—"विद्यमान विदेशी कारबारों पर कोई ऐसे बन्धन लगाने का ... सरकार का इरादा नहीं जो भारतीय कारबारों पर न लगें। ... विदेशी कारबारियों को नफा कमाने की पूरी इजाज़त होगी ... नफा बाहर भेजने की सुविधाएँ जारी रहेंगी ...।" जुलाई १९४९ में विदेशी कारबारों को संरक्षण-चुंगी में भी देसियों से समानता दी गई। विदेश से आने वाले माल पर संरक्षण-चुंगी इसलिए लगाई जाती है कि जनता को वह माल भले ही महँगा मिले, पर नये उठते देसी व्यवसाय पनप सकें। बड़े अमरीकी पूँजीपतियों को वह सुविधा देने का यह अर्थ था कि भारत की जनता पर बोझ डाल और देसी व्यवसायियों की हानि कर उन्हें ऊँचा नफा कमाने का अवसर दिया गया। फिर २१-८-१९४९ को उन्हें और भरोसा दिलाते हुए प्रधानमन्त्री ने कहा—"घुंडी व्यवसायों को पहले राज्य-स्वत्व में लेने की योजना रहने तथा अनेक कांग्रेसी नेताओं के अब तक चिल्लाने के बावजूद हमने उनके बारे में कुछ नहीं किया, और उस विचार को कम से कम दस बरस के लिए मुलतबी कर रहे हैं।" संसद् के अप्रैल १९४८ के संकल्प के अनुसार जो यह नियम था कि घुंडी-व्यवसायों की कम्पनियों में ५१% पूँजी भारतीय हो, सितम्बर १९४९ में सरकार ने उसे भी ढीला कर दिया।

भारत के इतना झुकने पर अमरीका ने पहली कृपा यह की कि उसे अपनी रेलों के सुधार के लिए विश्व-बैंक से ३½ करोड़ डालर ऋण ४% सूद पर दिला दिया। विश्व-बैंक न्यूयौर्क में है और उसपर अमरीकियों का

नियन्त्रण है। युद्ध के बाद अंग्रेजी सरकार ने उसके ४० करोड़ डालर के हिस्से भारत को लिवा दिये थे, जिनके मूल्य में से ८ करोड़ दिया जा चुका है। वहाँ से जो ऋण मिलता उसपर अनेक बन्धन रहते और बैंक-अधिकारियों की देखरेख में ही उसका विनियोग किया जाता है। सो इस ऋण से अमरीका में ही रेल-एंजिन खरीदे गये, जो जर्मन जापानी और ब्रितानवी एंजिनों से दूने दामों के थे। सितम्बर '४६ में बैंक ने भारत को ७२ लाख का दूसरा ऋण ट्रैक्टर खरीदने को दिया, वे ट्रैक्टर भी वहीं खरीदे गये और बहुत से निकम्मे निकले।

दिसम्बर १६४६ में नई दिल्ली में हिन्द-अमरीकी सम्मिलनी हुई। उसमें अमरीकियों ने कहा कि भारत सरकार बाजाब्ता ठहराव करे तब हम अपनी पूँजी यहाँ लगायँ। केवल प्रधानमन्त्री की घोषणाओं पर वे कैसे भरोसा करते, क्योंकि जो व्यक्ति एक बार अपने घोषित आदर्शों से पूरा पलट गया, वह फिर न पलट जायगा इसका क्या पता?

भारत-सरकार इसके बाद और झुकती गई। जून १६५० में वित्तमन्त्री ने घोषणा की कि १-१-१६५० के बाद डालर-क्षेत्र से ला कर भारत में लगाई हुई पूँजी और उसके पुनर्विनियुक्त नफे को उसके स्वामी जब चाहें भारत से वापिस ले जा सकेंगे। मार्च १६५३ में उस पूँजी के बढ़े हुए बाज़ार-मूल्य के लिए भी यह सुविधा दी गई। भारत का धाऊ का भंडार छीजता देख १६४८ में सरकार ने उसके निर्यात की सीमा नियत कर दी थी, १६५० में वह फिर हटा दी।

दिसम्बर १६५० में भारत सरकार ने देश के अन्न-कष्ट को देखते अमरीका से २० लाख टन अनाज लम्बे उधार पर माँगा। २८ दिस० १६५० को उसके नुक्ता ४ कार्यक्रम अनुसार सहायता पाने के लिए ठहराव किया। इस ठहराव की शर्तें ये हैं कि अमरीका जिस कार्य के लिए सहायता देगा, उसमें भारत सरकार भी अनुकूल रकम लगायेगी; उस कार्य के लिए आने वाले अमरीकी विज्ञों के लिए दफ्तर-खर्च मार्गव्यय आदि भी देगी; भारत किसी और देश से जो शिल्पीय सहायता ले या माँगे उसकी सूचना अमरीका को देगा,

इत्यादि। इस ठहराव और बाद में किये हुए इसके परिशिष्टों से अमरीकी 'विज्ञों' को भारत-सरकार के विभिन्न महकमों को अपनी अभीष्ट दिशा में चलाने और अपना हथियार बनाने का साधन मिल गया। उनका वास्तविक उद्देश भारत को अपने व्यवसाय-विकास के मार्ग से हटा कर वह कच्चा माल पैदा करने में लगाये रखना है "जिसपर अमरीका की शान्तिकालीन अर्थव्यवस्था और युद्धकालीन शक्ति निर्भर" † है। १९५२ के अन्त तक भारत में नुक्ता ४ वाले ११४ अमरीकी विज्ञ थे, जिनमें से प्रत्येक का ऊपरी खर्चा १००००) वार्षिक भारत देता था। यह भी देखा गया कि "हमारे पास अपने प्रशिक्षित विज्ञ" उनसे बेहतर थे, और "अनेक (अमरीकी) विज्ञों की रिपोर्टों का कोई क्रियात्मक उपयोग न था, अनेक भारत की दशा समझने में असमर्थ थे।" * अनेक जासूसी भी करते।

१९४८-४९ में भारत से अमरीका को धाऊ का निर्यात १॥ लाख टन था। १९५३-५४ में इन विज्ञों के कार्य की बदौलत १० लाख टन हो गया। उस वर्ष अमरीका-सरकार ने अपने देश में घटिया धाऊ जिस भाव खरीदी, भारत की बढ़िया उससे आधे भाव पर ली। १९५४ में भारतीय धाऊ का भाव ३०% और गिरा कर उसने अगले युद्ध की दृष्टि से अपना भण्डार भरा। यों अमरीका नुक्ता ४ में जो "सहायता" भारत को देता है, उससे भारत की अर्थनीति को वश में करने के अतिरिक्त हज़ारों गुना नफा कमाता है। वह "सहायता" मछली पकड़ने के काँटे पर लगाया हुआ सतुआ है।

१६ मार्च १९५१ को भारत सरकार ने अमरीका के साथ "परस्पर सुरक्षा सहायता कार्यक्रम" के अनुसार ठहराव किया। इस कार्यक्रम में अमरीका उन देशों को शस्त्र बेचता या उधार देता है जो समूहवादी देशों से युद्ध की तैयारी में उसके साथी बनना मानें। जून '५१ में अमरीका ने भारत

† अमरीका के विदेशी कार्य-निदेशक हैरोल्ड स्टासन की दिसम्बर १९५३ की उक्ति, नटराजन् पृ० १०३ पर उद्धृत।

* भारत के कृषि-मंत्री के आर्थिक परामर्शदाता डा० स० र० सेन की अगस्त १९५२ की उक्ति, वहीं पृ० १०२ पर उद्धृत।

को अन्न उधार देना माना। अमरीका में तब अन्न के जो दाम थे, उनसे ११½% अधिक दामों पर २½% सूद पर, बदले में दुर्लभ युद्धोपयोगी कच्चा माल देने की शर्त पर वह अन्न मिला। उसका आधा अमरीकी जहाजों में ही लाने की शर्त भी थी, आधे से अधिक उनमें आया, और अमरीकी जहाजों ने तब अपना ढुवाई-भाड़ा एकाएक २½ गुना कर दिया।

अक्तूबर '५१ में जब कि ईरान अपने तेल को पच्छिमी एकाधिकारियों के चंगुल से छुड़ाने को जी-जान से लड़ रहा था, भारत सरकार ने दो अमरीकी और एक ब्रितानवी कम्पनी से भारत में तेल-शोधनियाँ खोलने की बातचीत शुरू की [ऊपर § ३ ऐ]। उनसे शोधनियाँ खोलने और तेल की खोज के लिए बंगाल-बिहार की पर्यवेक्षा करने के ठहराव असाधारण शर्तों पर किये गये। इन कम्पनियों को ७५% विदेशी पूँजी लगाने की इजाज़त और १० के बजाय २५ वर्ष तक राष्ट्रीयकरण न होने का वचन दिया गया, बाद भी होगा तो "उचित मुआवज़ा" दे कर। दूसरी तरफ ये जब चाहें अपना कारबार समेट पूँजी वापिस ले जा सकतीं और नफा तो बाहर भेज ही सकती हैं। इनके लिए कच्चे तेल और यन्त्र-सामान के आयात पर हलकी चुंगी और अन्य अनेक सुविधाएँ दी गईं। यह भी ठहरा कि ये अपनी उपज भारत में उसी भाव बेच सकेंगी जिसपर विदेश से आने वाला माल बिकता होगा, अर्थात् भारतीय उपभोक्ता को देश में ये शोधनियाँ होने का कोई लाभ न होगा, और अमरीकी पूँजीपति अपने पूँजी-विनियोग की बदौलत भारत की जनता से प्रति वर्ष ऊँचे मुनाफे रूप में खिराज वसूल कर अपने देश भेजते रहेंगे। प्रत्येक देश अपने तट पर माल ढोने का काम अपने जहाजों के लिए रक्षित रखता है। पर इन शोधनी-कम्पनियों से जो ठहराव किये गये उनके आधार पर ये भारत के एक बन्दरगाह से दूसरे तक तेल ले जाने से भी भारतीय जहाजों को वञ्चित रखती हैं।

इस सबसे बढ़ कर पते की बात यह कि १९४८ में एक अमरीकी कम्पनी को भारत सरकार ने भारतीय कोयले से तेल निकालने के कारबार की सम्भाव्यता जाँचने का काम सौंपा था। उसकी विवरणी के आधार पर १८-९-५१

को संसद् में सूचना दी गई कि कोयले से तेल निकालने का कारखाना भारत में लाभ के साथ खोला जा सकता, और पूँजी पर ११% नफा कमाते हुए मोटर-पैट्रोल तथा विमानों का गैसोलीन ।।=)५ पाई और ।।।)४ पाई प्रति गैलन पैदा किया जा सकता है। यह व्यवसाय पूरा भारतीय साधनों पर निर्भर होता और इससे देश का शुद्ध आर्थिक विकास होता। किन्तु विदेशियों के लाभ के लिए इसे मुलतवी रक्खा गया। मुम्बई और विशाखापटन में तेल-शोधनियाँ खोलने में अमरीकियों का यह अभिप्राय भी था कि इससे "तेल-शोधनियों का फ़ारिस-खाड़ी के पूरब बिखरना हो जायगा जो युद्ध-दृष्टि से उपयोगी होगा। ... युद्ध की दशा में शोधित तेल ले जाने वाले जहाजों को पनडुब्बियों का डर इससे बहुत घट जायगा। यह ठहराव इसका भी नया प्रमाण है कि विश्व-युद्ध होने पर भारत अमरीका की तरफ़ होगा।"*

बंगाल-बिहार की तेल-पर्यवेक्षा के लिए इन कम्पनियों से जो ठहराव किये गये उनकी शर्त्तें गुप्त रक्खी गई हैं।

जनवरी १९५२ में नुक्ता ४ कार्यक्रम के अनुसार पहला "हिन्द-अमरीका-शिल्प-सहयोग ठहराव" हुआ। जून १९५२ से देश की व्यापारी संस्थाएँ इन ठहरावों के विरुद्ध पुकार उठाने लगीं। एक गान्धीवादी नेता ने कहा—भारत-सरकार ने अपना समूचा शासनयन्त्र अमरीका के हाथ सौंप उसका विज्ञापक कारिन्दा बन जाना मान लिया है, अमरीकी अधिकारी भारत के कानून से भी मुक्त रहते हुए भारत में स्वेच्छया घूम सकेंगे; "यह अमरीकियों के लिए पहले भारत में व्यापारी बन फिर भारत का राजनीतिक कर्त्ता धर्त्ता बन जाने का और भारत के लिए गुलामी का पट्टा है।"† पर नहरू सरकार अपने पथ से न टली। नवम्बर में उसने एक और वैसा ठहराव किया; १९५३ में तेल-शोधनियों और तेल-खोज के और ठहराव किये। अप्रैल १९५३ में संसद्

*न्यूयौर्क टाइम्स १-१२-१९५१ की टिप्पणी, वहीं पृ० ८०-८१ पर उद्धृत।

† कि० घ० मशरूवाला की उक्ति, साप्ताहिक 'दिल्ली टाइम्स' १४-९-१९५२ में उद्धृत।

में बताया गया कि अमरीका से जो अन्न उधार आया है उसमें से १० लाख बुशल ऐसा है जो मनुष्य के खाने योग्य नहीं है। फिर भी मई '५३ में भारत के प्रधानमन्त्री ने अमरीका से तीन बरस के लिए २० करोड़ डालर वार्षिक सहायता माँगी, और अमरीकियों की तसल्ली कराने को कहा कि भारत में समूहवादियों की जो थोड़ी-बहुत स्थिति बनी है सो इस कारण कि हिटलर का रूस से युद्ध होने पर अंग्रेज़ी सरकार ने भारतीय समूहवादियों को बढ़ावा दिया था†। अक्तूबर १९५३ में एक अंग्रेज़ आलोचक ने लिखा—"भारतीय कांग्रेस ने अंग्रेज़ों के जाने के बाद अनेक विषयों में मत बदला है...भारत का राष्ट्रीयकरण नीति से पीछे हटना भी वैसी ही तेज़ी से हुआ है। स्वराज्य के बाद का राष्ट्रीयकरण का प्रलाप मर चुका है।"* शुरू दिसम्बर '५३ में भारत सरकार ने अमरीकी फोर्ड निधि के चुने हुए सात विश भारतीय ग्रामोद्योगों की उन्नति का मार्ग बताने को बुलाये।

जैसा कि हमने देखा है, जब पाकिस्तान ने भारत का अनुसरण कर अक्तूबर-दिसम्बर १९५३ में अमरीका के साथ परस्पर-सुरक्षा-सहायता ठहराव कर लिया, तथा साथ ही कोरिया और हिन्दचीन में अमरीकी शक्ति की धाक टूट गई, तब भारत-सरकार ने मुश्किल से आँखें खोलीं। पर उसके बाद भी २४-१२-५३ को उसने भारतीय रेलों के सुधार के लिए तीसरा शिल्प-सहयोग ठहराव किया, और उसके अनुसार जापानी एंजिनों से दूने से अधिक दाम के अमरीकी एंजिन खरीदे और बंगाल में तेल-खोज के लिए अमरीकी कम्पनी से नया ठहराव किया जिसकी शर्तें गुप्त रक्खीं।

इस बीच यह देखा गया था कि भारत में लगी अमरीकी पूँजी ब्रितानवी पूँजी से भी अधिक धन बाहर खींच ले जाती है। १९४७-४८ में ब्रितानवी-नियन्त्रित भारतीय कम्पनियों का नफा जहाँ ६·८% था वहाँ अमरीकी-नियन्त्रित

† न्यूयौर्क १९-५-५३ का समाचार, अमृत बाज़ार पत्रिका, इलाहाबाद, १८-५-१९५३ में।

* नटराजन पृ० ६५-६६ पर उद्धृत।

का २१·३%, और व्यापार में लगी अमरीकी पूँजी का ४१·३%। १६५०-५१-५२ में भारत में लगी अमरीकी पूँजी का नफा क्रमशः ५२%, ३६% और ३३% हुआ था। यह भी देखा गया कि भारत के अपने बहुतेरे शिल्प-विज्ञान-विज्ञ बेकार बैठे हैं या गलत स्थानों पर लगाये गये हैं। ऐसा भी हुआ कि किसी अमरीकी "विज्ञ" ने भारत के बेकार बैठे विज्ञ से योजना तैयार करवा के यहाँ की सरकार को दी।

इस दशा में भारतीय वैज्ञानिकों ने भी अपनी सरकार को जगाने के लिए पुकार उठाई। २६-१२-५३ को मेघनाद साहा ने कहा—"भारत सरकार ने देश की अद्‌भुत प्राकृतिक सम्पद् के विकास का कार्य सात साल में कुछ नहीं किया ··· अपने देश के वैज्ञानिकों और शिल्पियों में से अधिकांश का उपयोग नहीं कर पाई। ··· यह झिझक टूटनी चाहिए, जनता की भीतरी शक्ति को संघटित करने के मार्ग निकलने चाहिएँ।" अगले दिन चं० वें० रामन ने कहा—"हमें अंग्रेज़ी शासन से विरासत में पाये अपने आत्मक्षुद्रता-भाव से छुटकारा पाना होगा। हमारी दृष्टि में मन्त्री तो भारतीय होने चाहिएँ, परन्तु सब प्रकार की समस्याओं पर हम विदेशी विज्ञों का मार्गदर्शन माँगते हैं बजाय अपनी भीतरी शक्ति का विकास करने के। ··· बड़ी इमारतें खड़ी करना, मँहगी यन्त्रसामग्री और उसे लगाने को मँहगे विज्ञ और फिर उनकी गलतियाँ सुधारने को नये मँहगे विज्ञ बाहर से मँगाना, यह ··· न होना चाहिए।"†

किन्तु वैज्ञानिकों की पुकार भी बड़े मन्त्रियों ने एक कान से सुन कर दूसरे से निकाल दी। साहा ने कोयले से तेल निकालने के कारखाने की फिर याद दिलाई थी, जिसपर विचार करने को मई १६५४ में सरकार ने समिति नियुक्त की। उस समिति ने रिपोर्ट दी कि वैसा कारखाना तुरत खुलना चाहिए। वह रिपोर्ट भी दबा कर रख दी गई। इस बीच अंग्रेज़-अमरीकी तेल-कम्पनियों से और ठहरावों के लिए बातचीत की जाती रही। भारत ने विश्व-बैंक से जो छह ऋण अब तक औसत ४¾% सूद पर पाये हैं, उनके

† कलकत्ते और अहमदाबाद से प्रेस ट्रस्ट औफ़ इंडिया के समाचार।

कारण अमरीकी व्यापारियों का हमारी अर्थनीति पर काफी नियन्त्रण है। सितम्बर १९५५ में संसद् की अन्दाज़-समिति ने जो विवरणी पेश की, उससे पता चला कि मशीन-औजारों के कारखाने का काम जिन स्विस विज्ञों को तथा विशाखापटन बन्दरगाह का काम जिन फ्रांसीसी विज्ञों को सरकार ने सौंपा था, उनसे भी धोखा खाया है।

भारत के सूत्रधार १९४७ के बाद अपने देश को अमरीकियों के हाथ जैसे सौंपते गये, उससे भारत अमरीकी गुलामी में फँस गया होता यदि १९५४ में उसका शक्तिशाली पड़ोसी चीन उसके साथ पंच शील के आधार पर सन्धि कर उसे बचा न लेता। उसके बाद भारत ने चीन रूस और पूरबी युरोप के देशों से व्यापार-सन्धियाँ भी कीं। १९५५ में भारत सरकार ने सोवियत-संघ से मध्यप्रदेश के भिलइ नामक स्थान में फौलाद-कारखाना तथा मुम्बई के पास शिल्प-संस्था खोलने के लिए उधार-सहायता पाने का ठहराव किया। फिर १९५६ में सोवियत ने भारत को व्यवसाय-विकास के लिए २½% सूद पर ५५ करोड़ रु० का ऋण १२ वर्ष के लिए देने की पेशकश की, जिसकी तफसील की बात अभी (अगस्त-सितम्बर '५७ में) हो रही है। पर अमरीकी शिल्प-सहयोग ठहराव भी जून १९५७ में पुनर्जीवित किया गया है। यों अब भारत के नेता दोनों पक्षों से सम्बन्ध रखते और सहायता लेते हुए अपने देश को सुरक्षित मान रहे हैं।

§ ५. **भूमि-स्वत्व-सुधार और भूदान**—राष्ट्रीय आन्दोलन का मुख्य सहारा देश के किसान थे। स्वराज्य आने पर उनकी न्याय पाने की माँग की उपेक्षा न की जा सकती थी। ज़मीन को जोतने बोने वाला जब तक ज़मीन का स्वामी न हो और उपज बढ़ाने में अपना लाभ न देखे तब तक देश की आर्थिक शक्ति भी जाग नहीं सकती। इसलिए देश के नेताओं के हाथ में शासन आने पर उन्हें सबसे पहले भूमि-स्वत्व-सुधार की ओर ध्यान देना पड़ा।

कुमाऊँ-गढ़वाल को छोड़ कर उत्तर प्रदेश में जमींदारों के नीचे आठ प्रकार के काश्तकार थे। वहाँ जमींदारी-उन्मूलन कानून १९५० में पारित हो

कर १-७-१९५२ से लागू हुआ। जमींदारों की जो 'सीर' अर्थात् बाप-दादा से चली आती और 'खुदकाश्त' ज़मीन थी वह उनके पास रहने दी गई और उसके वे 'भूमिधर' कहलाये। बाकी ज़मीन राज्य ने ऋणपत्रों के रूप में उसके लगान का दस गुना मुआवज़ा दे कर ले ली। उस ज़मीन को जोतने बोने वाले जिन काश्तकारों ने लगान की दस गुनी उसकी कीमत दे दी वे 'भूमिधर' बन गये। जब तक कीमत न दी वे 'सीरदार' रहे। भूमिधर और सीरदार दोनों सरकार को लगान देते हैं, पर भूमिधर सीरदार से आधा देता है। इस पद्धति से सरकार सब किसानों को भूमिधर अर्थात् भू-स्वामी बनाने का जतन कर रही है।

प्रकट है कि इस पद्धति में पुराने ज़मीदारों ने अधिक से अधिक जमीन को अपनी सीर और खुदकाश्त बनाये रखने की कोशिश की, और उसके लिए कानून या ज़ोर-ज़बरदस्ती से जितने किसानों को बेदखल कर सके, किया। इस प्रक्रिया में अनेक जगह ज़मींदारों किसानों के संघर्ष भी हुए। यदि व्यक्ति की अधिकतम ज़मीन की सीमा नियत की गई होती तो ऐसा कम होता, पर सरकार इस बारे में टालमटोल करती रही। दूसरे, बहुतेरे बड़े ज़मींदारों की जायदादें उन्हें अंग्रेज़ी राज की सेवा की बदौलत, बहुतों को १८५७–५९ में किये देशद्रोहों के पुरस्कार रूप में मिली थीं। उनका मुआवज़ा गद्दारी का पुरस्कार था जो जनता से वसूल कर दिया गया। अंग्रेज़ी ज़माने के ज़मींदार इस पुरस्कार को पा कर जनता के ऊपर नया धनिक वर्ग बन खड़े हो गये। जो भी हो, ज़मींदारी उन्मूलन से कुछ सुधार तो हुआ ही। जमींदारों किसानों के बीच के बिचवानिये इसके द्वारा लुप्त हो गये।

सन् १९५३ तक भारत के प्रायः सब राज्यों में इसी नमूने के भूमि-स्वत्व-सुधार कानून बन चुके, कुछ में बन रहे थे। केवल एक कश्मीर में अधिकतम भू-सम्पत्ति की सीमा नियत कर उससे अधिक सब ज़मीन ज़मीदारों से बिना मुआवज़ा ले कर किसानों को बाँटी गई, जिससे कश्मीरी जनता में नया जीवन जाग उठा। वह उत्साह से वैयक्तिक और सामूहिक प्रयत्न से अपनी दशा सुधारने लगी और जान दे कर भी अपनी भूमि की रक्षा को

तैयार हुई ।

ज़मीन की चकबन्दी अर्थात् छोटी छोटी खेत सम्पत्ति को इकट्ठा करना दूसरा सुधार था । इसमें पंजाब सबसे आगे रहा ।

भारत के योजना-मन्त्री अर्थशास्त्री गुलज़ारीलाल नन्दा के कथनानुसार भूमि-स्वत्व-सुधार के कानून बड़ी मन्द गति से बने, उन्हें कार्य में परिणत करने को यथेष्ट शासन-प्रबन्ध नहीं किया गया; वे कानून स्वयं भीतर से कमज़ोर हैं । "विद्यमान भू-सम्पत्ति की अधिकतम सीमा नियत करने का विधान बहुत थोड़े राज्यों में बना; जहाँ बना है वहाँ भी उसके चरितार्थ होने में न के समान प्रगति हुई ।" यों "भूमि-हीन खेत-मजदूरों के लिए ... (उन विधानों द्वारा) कुछ नहीं किया जा सका" † ।

हमने देखा है किस प्रकार तेलंगाना में समूहवादियों की प्रेरणा से किसानों ने स्वयं भूमि-स्वत्व-सुधार आरंभ कर दिया था [ऊपर § १ अ] । अन्य राज्यों में भी सरकार को टालमटोल करते देख वे स्वयं कार्य आरम्भ न कर दें इसका खतरा था । इस दशा में महात्मा गान्धी के अनुयायी विनोबा भावे ने ज़मींदारों से उनकी फालतू भूमि का दान माँगना आरम्भ किया, जिसे भूदान-यज्ञ कहा गया । १८-४-१९५१ से उन्होंने तेलंगाने से ही अपनी भूदान-यज्ञ की पैदल यात्रा आरम्भ की । तब से आज तक उनकी वह यात्रा जारी है । भारत के प्रायः सब राज्यों में वे घूम चुके और लाखों एकड़ भूमि जमा कर चुके हैं जिसे भूमि-हीन खेत-मजदूरों में बाँटा जा रहा है ।

§ ६. पाँच-बरसी योजनाएँ—सुभाषचन्द्र वसु ने कांग्रेस से योजना-समिति नियुक्त करवा के उसके द्वारा आर्थिक उन्नति का कार्यक्रम जब पेश कराया [१०, ६ § ६], तब से वह आदर्श देश के सामने था । १९४४-४५ में भारत के बड़े और छोटे व्यवसायियों तथा गान्धीवादियों ने अपनी अपनी योजनाएँ निकालीं ।

† कांग्रेस महासमिति को दी विवरणी; प्रेस ट्रस्ट ऑफ़ इंडिया का ३१-८-१९५७ का समाचार ।

दूसरे विश्वयुद्ध में अंग्रेज़ों ने भारत से १७ अरब ३० करोड़ रुपये का ऋण ज़बरदस्ती वसूला था [१०,१०§§७,१३]। उस ऋण को वसूलते हुए जनता को सान्त्वना देने को उन्होंने यह चर्चा छेड़े रक्खी कि युद्ध के बाद जब वह धीरे धीरे चुकाया जायगा तब उससे भारत को समृद्धि देने वाले अमुक अमुक कार्य किये जायँगे और उन कार्यों के नक्शे भी बनाये। ये कार्य मुख्यतः अनेक नदियों पर उनके मैदान में उतरने के स्थानों के निकट पहाड़ी प्रदेशों में बाँध और ताल बनाने के हैं, जिससे उन नदियों में आने वाली बाढ़ों को रोका जा सके और उनसे सिंचाई के लिए नहरें तथा उनके प्रपातों से बिजली निकाली जा सके। ये सब नक्शे और योजनाएँ कांग्रेसी शासन को अंग्रेज़ी शासन से उत्तराधिकार में मिलीं और इनपर कार्य आरम्भ हुआ।

सन् १९५१ में भारत सरकार ने १९३८ वाले विचार को पुनर्जीवित कर भारत के लिए पाँच-बरसी योजना बनाना तय किया। १९५२ में वह योजना भारतीय संसद् द्वारा पारित हुई। इस योजना की अवधि अप्रैल १९५१ से मार्च १९५६ तक थी। केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारें इस अवधि में अपनी मालगुज़ारी में से तथा ऋण ले कर जितनी रकम उत्पादक कार्यों में लगाने को थीं वह सब इसमें गिन ली गई, तथा जितने युद्धोत्तर निर्माण-कार्य आरम्भ हो चुके थे वे सब सम्मिलित कर लिये गये। उन कार्यों में से झाड़खंड और बंगाल में दामोदर दून के बाँध आदि, उड़ीसे में महानदी पर हीराकुद का बाँध तथा सतलज के शिवालक में प्रवेश के स्थान पर, जहाँ वह कोहनी की सी आकृति बनाती है उससे ठीक पहले, भाखरा का बाँध उल्लेखनीय हैं।

योजना बनाने से यह लाभ हुआ कि कौन कार्य देश की दृष्टि से पहले होना चाहिए कौन पीछे इसपर विचार किया गया और सब निर्माण-कार्यों में एकसूत्रता आ गई। शिक्षा स्वास्थ्य आदि सामाजिक सेवाओं पर शासन इस अवधि में जितना खर्चा करता वह भी उत्पादक कार्यों में लगने वाली पूँजी के रूप में गिना गया। योजना के दो उद्देश्य माने गये, एक तो देश की उपज बढ़ाना, तथा दूसरे उपज के बँटवारे में विषमताओं को भरसक दूर करना।

यह कूता गया कि इस पाँच-बरसी योजना में २० अरब ६९ करोड़

रु० की पूँजी शासन द्वारा उत्पादक कार्यों में लगाई जायगी, जिसमें से ६२२ करोड़ की कृषि सिंचाई और शक्ति (विद्युत्) उत्पादन के और ४६७ करोड़ की परिवहन और संचार (रेल तार बन्दरगाह आदि) के आयोजनों पर, १७३ करोड़ की व्यवसायों पर, तथा ३४० करोड़ की सामाजिक सेवाओं पर लगेगी। व्यवसायों में से (१) कोयला (२) लोहा और फौलाद (३) खनिज तेल (४) जहाज (५) विमान तथा (६) टेलिफोन-तार और बेतार बिजली का सामान इन छह के लिए सरकार की विशेष जिम्मेदारी मानी गई। बाकी व्यवसाय खानगी क्षेत्र में गिने गये।

देखना चाहिए कि इस राजकीय पूँजी-विनियोग में ४४·५% कृषि पर, २४% परिवहन पर और केवल ८·३% व्यवसायों पर करना तय किया गया। १९४४-४५ वाली योजनाओं में व्यवसायों को प्रथम स्थान दिया गया था। गान्धीवादी योजना में भी, जो ग्रामों पर केन्द्रित थी, कृषि पर ३२·८%, परिवहन पर ११·२% और व्यवसायों पर ३६·५% विनियोग सोचा गया था। पर १९५१-५२ में भारत अमरीकी परछाँहीं में ग्रस्त था, और अमरीकियों का कहना था कि अपक्क-व्यवसाय (अंडर-डेवलप्ड) देशों को कृषि पर ही ध्यान देना चाहिए। सो इसका प्रभाव हमारी योजना पर भी पड़ा। और तो और, २१ अरब रु० की विनियोग-योजना बनाते हुए यह भी किसी ने न देखा कि लोहे-फौलाद के नये कारखाने की आवश्यकता हमारे देश को होगी। १९५३ में जा कर वह आवश्यकता देखी गई; तब एक जर्मन कम्पनी से उसके लिए ठहराव किया गया, और रूरकेला (उड़ीसा) में वह कारखाना खोलना तय हुआ। पीछे सोवियत सरकार के सहयोग से भिलाइ में और एक अंग्रेज कम्पनी द्वारा आसनसोल के पास दुर्गापुर में भी फौलाद कारखाने खोलने के ठहराव हुए।

१९५०-५१ में भारत के समूचे राष्ट्र की सारी आय ९० अरब रु० कूती गई थी। खण्डित भारत की आबादी ३५ करोड़ ६६ लाख है। यों प्रति मुंड वार्षिक आय २५२) हुई। उत्पादक कार्यों में पूँजी का विनियोग आय बढ़ाने का मुख्य उपाय है। आशा की गई कि पहली पाँच-बरसी योजना

के अन्त में १९५५-५६ में भारत की आय एक खरब रु० हो जायगी। भारत की आबादी प्रतिवर्ष १¼% बढ़ रही है। यों १९५५-५६ तक प्रति मुंड आय में १०½% वृद्धि हो कर उसके २७८) तक पहुँच जाने की आशा लगाई गई।

१९५३ में यह देखा गया कि योजना के २½ वर्ष जारी रहने के बावजूद देश में बेकारी बढ़ ही रही है। तब २१९ करोड़ की और पूँजी का विनियोग ऐसे छोटे कार्यों में करना तय किया गया जिनसे लोगों को जल्दी काम मिल सके। यों पूरी योजना २२८५ करोड़ की हो गई।

पहली योजना की समाप्ति पर योजना-आयोग ने उसका जो सिंहावलोकन किया है, उसका सार यों है। कुल राजकीय विनियोग २२८५ करोड़ के बजाय १९६० करोड़ रु० का ही हो सका, जिसमें विदेशी सहायता १८८ क० थी। इस अवधि में खेती की उपज-वृद्धि २९·८%, मिल-कपड़े की ३७·२% तथा दोचाकियों (बाइसिकलों) की ४२९% हुई। राष्ट्रीय आय वृद्धि १७·५% तथा प्रति मुंड आय वृद्धि १०·५% हुई। किन्तु राष्ट्रीय आय की वृद्धि मुख्यतः १९५३-१९५४ में दो अच्छी मानसूनों के कारण अच्छी फसलें हो जाने से हुई; बाद खेती-उपज में घटी हुई। नवम्बर १९५५ में भारत के वित्तमन्त्री ने बताया कि पहली योजना की अवधि में ४०-५० लाख नये रोज़गार रचे गये, पर उसी बीच देश की श्रमि-संख्या ९० लाख बढ़ी, जिससे ४०-५० लाख नये बेकार हुए।† यों बेकारी को पहली योजना किसी तरह न घटा सकी, और सबसे अधिक बेकारी भूमिहीन खेत-मजदूरों में है। १९५४-१९५५ की सरकारी पर्यवेक्षाओं के अनुसार भारतीय खेत मजदूर की प्रति व्यक्ति वार्षिक आय १०४) है; वे वर्ष में ७३ दिन पूरा काम पाते हैं, और उनमें से ४५% ऋण-ग्रस्त हैं।

राष्ट्रीय आयवृद्धि के विषय में विचारणीय यह है कि वह कहाँ तक वस्तुतः जनता के हाथ में आई या केवल बड़े धनियों की आय-वृद्धि है। देश की अर्थ-शक्ति बड़े अंश में विदेशियों के हाथ में है, फिर भी विदेशी

---

† हिन्दुस्तान स्टैंडर्ड, दिल्ली, ३-११-५५।

पूँजी को और निमन्त्रित किया जा रहा है। अपने वैज्ञानिकों और शिल्पियों की योग्यता इस अवधि में बहुत कुछ बेकार रही। वे वैज्ञानिक "देश की आवश्यकताएँ समझते हैं, पर राजनीतिक नेताओं और बड़े व्यापारियों के बारे में वह बात नहीं कही जा सकती"।†

ऐसी योजना की सफलता जनता के हार्दिक सहयोग तथा ईमानदार योग्य और लगन वाले सरकारी कर्मचारियों द्वारा प्रबन्ध पर निर्भर होती। जनता का सहयोग जनता के यह अनुभव करने पर निर्भर है कि हमारे श्रम का लाभ वस्तुतः और न्यायपूर्वक हमें मिलेगा। कर्मचारि-वृन्द ईमानदार और लगन वाला न हो तो करोड़ों की पूँजी बरबाद कर सकता है। अंग्रेज़ी जमाने का शासन-ढाँचा ज्यों का त्यों चला आने से दुर्भाग्य से भारत का सरकारी कर्मचारि-वृन्द वैसा ही है। इसीलिए १९४७–५६ के सरकारी कार्यों में बहुत अधिक गबन और बरबादी हुई है।

२१-१२-५४ को लोकसभा ने यह संकल्प पारित किया कि भारत की अर्थ-नीति का लक्ष्य समाजवादी नमूने का—अर्थात् धनी निर्धन के बहुत कम भेद वाला—समाज है। इधर १९५६ से दूसरी योजना भी चालू हो गई है जिसमें ३४ अरब राजकीय विनियोग का लक्ष्य तथा व्यवसाय-वृद्धि पर भी ध्यान है।

समाजवादी लक्ष्य के बारे में यह जानना चाहिए कि जैसा हमारे "समाज में धन का अत्यन्त स्थूल असमान बँटवारा है"* वैसा उन देशों में भी नहीं जो अपना लक्ष्य समाजवाद नहीं कहते। एक ओर हमारे खेत-मजदूर की आय ८।।=) ८ पा० मासिक, दूसरी ओर हमारे राष्ट्रपति का वेतन १०,०००) मासिक! दूसरे, अंग्रेज़ी साम्राज्य-काल की लूट से विदेशियों और उनके साथी भारतीयों ने जो बड़ी बड़ी सम्पत्तियाँ यहाँ बना लीं, उन्हें छूने

† अंग्रेज वैज्ञानिक जे० डी० बर्नाल की उक्ति, भारत सरकार के निमन्त्रण पर भारत की विज्ञानशालाएँ देखने के बाद। हिन्दुस्तान स्टैंडर्ड, दिल्ली १७-१२-५४।

* डा० विधानचन्द्र राय के शब्दों में। हि० स्टैंडर्ड, २२-५-५५।

तक की हिम्मत हमने अभी तक नहीं दिखाई। साम्राजिक लूट के सामने घुटने टेक कर समाजवाद खड़ा नहीं हो सकता। तीसरे, विदेशी पूँजी भारत में पहले ही अनुपात से अधिक है, सरकार उसे और बढ़ा रही है। यह समाजवाद से ठीक उलटी बात है। विदेशी पूँजीपतियों के साथ भारत के बड़े पूँजीपति और बड़े अमले मिल कर हमारी सारी अर्थनीति का नियन्त्रण करते हैं। चौथे, जैसा कि दूसरी पाँच-बरसी योजना का ढाँचा बनाने वाले अर्थशास्त्रियों ने कहा है, हमारे देश में 'अनुरूप (शासन-) संघटन का अभाव विकास के बड़े कार्यक्रम में गम्भीरतम बाधक" है, "विद्यमान शासन-यन्त्र की सहज शासन-प्रबन्ध-विषयक कठिनाइयाँ कार्यक्षम आयोजन में सबसे बड़ा बाधक सिद्ध होंगी" तथा "कार्यक्षम शासन-संघटन ··· बिना कृषि और ग्रामव्यवसायों का उचित विकास तो विशेष कर असम्भव सा होगा।"*

हमारी सरकार दाय-कर (•एस्टेट-ड्यूटी) धन-कर और व्यय-कर के जरिये धनियों के फालतू धन में से कुछ लेते हुए असमानताएँ घटाने का जतन कर रही है। इस प्रकार वसूला हुआ धन यदि राष्ट्र के सच्चे हितैषी सेवकों द्वारा राष्ट्र के हित में विनियुक्त हो तो समाजवाद की दिशा में कुछ प्रगति हो सकती है। किन्तु भारत का विद्यमान राजकर्मचारि-वृन्द जैसा है उसके हाथ में जा कर इस धन का राष्ट्रीयकरण न होगा, नौकरशाहीकरण होगा।

§ ७. कांग्रेस शासन की दशाब्दी—सन् १६४७ से खण्डित भारत के प्रान्तों और केन्द्रीय संघ का शासन कांग्रेस पक्ष के हाथ में था ही। १६५१-५२ के जाड़ों में नये संविधान के अनुसार पहले निर्वाचन हुए। उनमें भी अधिकतर प्रान्तों में कांग्रेस का शुद्ध बहुपक्ष आया, और पटियाला-और-पूर्वी-पंजाब-रियासत-संघ के सिवाय सभी जगह वह अपने मन्त्रिमण्डल बना सकी। कुल दिये गये मतों में से ४३°/₀ कांग्रेस के पक्ष में पड़े। विरोधी मत अनेक पक्षों में बँट जाने के कारण प्रभावशाली नहीं हुए। निर्वाचनों के बाद राजेन्द्रप्रसाद फिर राष्ट्रपति तथा जवाहरलाल नहरू फिर प्रधानमन्त्री चुने

† हिं० स्टैंडर्ड, १८-५-१६५५।

गये। पूर्वी-पंजाब-रियासत-संघ में भी फरवरी १६५४ से कांग्रेस पक्ष का शासन स्थापित हो गया। नवम्बर १९५६ में, जैसा कि हम देखेंगे, राज्यों का पुनः-संघटन हो कर बहुत कुछ भाषानुसार राज्य बने। फरवरी-मार्च १९५७ में सारे भारत में दूसरी बार चुनाव हुए। इनमें केरल में समूहवादियों का बहुमत आने से उनकी सरकार बनी, बाकी सब राज्यों और संघ में फिर कांग्रेसी सरकारें बनीं, तथा फिर वही राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री चुने गये। यों कांग्रेस पक्ष का शासन एक दशाब्दी चल चुका है और अभी आगे भी चलेगा। उसके कुछ कार्यों का व्यौरा पीछे दिया गया है; यहाँ अन्य पहलुओं का सिंहावलोकन करना है।

हमने देखा है कि भारत के नेताओं ने भारत की सेना को आज़ाद हिन्द फौज की परम्परा पर खड़ा करने के बजाय उसी साँचें में ढालना और उसी परम्परा पर खड़ा करना तय किया था जिसे क्लाइव और उसके साथियों ने बनाया था [१०,१० § १६]। स्थल सेना के बड़े नायक १६४७ से ही सब भारतीय हो गये, किन्तु बड़े अफसरों और सैनिकों के वेतन आदि का अन्तर अंग्रेज़ों की भाड़ैत भारतीय सेना वाला ही जारी रक्खा गया। उस सेना के नायक बनने के लिए शिक्षा भारत में ही दी जाने लगी। पर वह शिक्षा पाने वाले युवकों को ईस्ट इंडिया कम्पनी की भाड़ैत सेना का इतिहास अपना इतिहास कह कर पढ़ाया जाता है, उस सेना द्वारा ब्रितानवी साम्राज्य फैलाने के प्रयत्नों पर अभिमान करना और उसका मुकाबला करने वाले देशभक्तों को शत्रु कहना सिखाया जाता है! कान्होजी आंग्रे [६,७ § ६] को वे चांचिया कह कर, यशवन्तराव होळकर और अमरसिंह थापा को शत्रु कह कर और नानासाहब और तात्या टोपे को विद्रोही कह कर याद करते हैं! भारतीय सेना की बहुतेरी इकाइयों के नाम अंग्रेज़ी ज़माने वाले चले आते हैं, और वे इकाइयाँ अंग्रेज़ों की सेवा में लड़ी हुई अपनी पुरानी लड़ाइयों के बरस-दिन अब भी मनाती हैं। जनवरी १९५५ में पूने के पास खडकवासला में भारत के नये सेना-विद्यालय की ७ करोड़ रु० की लागत से बनी इमारत खोली गई। वह दूसरे विश्व-युद्ध में अंग्रेज़ी साम्राज्य की सेवा करते मारे गये

भारतीय भाड़ैत सैनिकों की यादगार है, और उसमें लुई मौंटबाटन के लाञ्छन, जो भारत के अंग्रेज़ जलसेनापति पिज़ी ने भेंट किये, स्थापित किये गये !

१६४७ के बाद नई बात इतनी हुई कि भारत ब्रितानिया के अलावा अमरीका से भी शस्त्रास्त्र खरीदने लगा और भारतीय सेनाधिकारी प्रशिक्षा पाने को अमरीका भी भेजे जाने लगे। भारत अंग्रेज़ी राष्ट्रपरिवार में है, इसलिए भारत के सेनाधिकारी अंग्रेज़ सेनाधिकारियों के साथ बराबर परामर्श करते हैं, भारतीय जलसेना की टुकड़ियाँ ब्रितानवी जलसेना के साथ अभ्यास करती हैं। भारत का मुख्य जलसेनापति अभी तक अंग्रेज़ है। भारत के रक्षा-संघटन के ६२ मर्मस्थान अभी तक विदेशी अधिकारियों के हाथ में हैं।† अंग्रेज़-अमरीकियों के लिए भारतीय सेना और शस्त्रास्त्र-कारखानों के सब मर्म खुले हैं। भारत के प्रधानमन्त्री के साथ भारतीय नभसेना के विमान में जा कर एक अमरीकी नभसेनाधिकारी ने लदाख के सीमा-प्रदेश के उस वक्त फिल्म-चित्र ले लिये जब कि अमरीकी एक ओर पाकिस्तान से और दूसरी ओर शेख अब्दुल्ला से षड्यन्त्र कर रहे थे! दिसम्बर १६५३ में पाकिस्तान और अमरीका का सामरिक सहयोग पक्का हो जाने के बाद भारतीय वैज्ञानिकों ने पुकार उठाई कि भारत के शस्त्रास्त्र-कारखानों में ब्रितानिया से शस्त्रास्त्र के आलेख्य (डिज़ाइन) न मँगा कर स्वयं बनाने चाहिएँ, तथा बारूद के लिए जो भारी रसायन बाहर से आते हैं उन्हें देश में बनाना चाहिए। वह पुकार भी अरण्य-रोदन हुई। इसके बाद मार्च १६५४ में भी अमरीकी नभसेनाधिकारी भारत में प्रशिक्षा दे रहे थे। फरवरी १६५५ में भारत में जल-पर्यवेक्षा (हाइड्रोग्राफिक सर्वे) का दफ्तर खोला गया, जिसका उद्देश यह है कि समुद्र और बड़ी नदियों के तटों धाराओं आदि में होते परिवर्त्तनों का लगातार पता रक्खा जाय। तब यह सूचना दी गई कि इस पर्यवेक्षा के आधार पर कुछ नक्शे भारत में बनेंगे, और बाकी पूरा ब्यौरा लंदन भेजा जाता रहेगा, जिससे ब्रितानवी जलसेनाधिष्ठान अपने नक्शों को

† ६-६-१६५७ को संसद में रक्षा-मन्त्री द्वारा दी सूचना।

अद्यानुरूप बनाये रख सके !

यों एक ओर जहाँ हम अंग्रेज़ी परम्परा बनाये रखने और अंग्रेज़ी जलसेना की यों सेवा करने का ज़िम्मा उठाये हुए हैं, वहाँ दूसरी ओर हमने अपनी आज़ाद हिन्द फौज की देशभक्ति और प्रशिक्षा से देश की रक्षा की मजबूत नींव डालने का काम न ले कर उसे नष्ट होने दिया। १६५३-५४ में दिल्ली शहर में दो हज़ार आ० हि० फौ० वाले झल्लीवाले (झल्ली या टोकरी में सामान ढोने की मजदूरी करने वाले) बन कर रोटी कमाते थे, पंजाब में १० हज़ार तथा राजस्थान और गढ़वाल-कुमाऊँ में भी हज़ारों वैसे व्यक्ति थे। न केवल इन्हें अपनाया नहीं गया, प्रत्युत बिहार में जिन पुलिस वालों ने १६४६ में हड़ताल की थी [१०,१०§१४] उनपर मुकदमा चलता रहा और उन्हें कांग्रेसी शासन में दण्ड दिये गये ! जिन चन्द्रसिंह ने १६३० में सत्याग्रहियों पर गोली चलाने से इनकार किया था [१०, ६ § ८] उन्हें स्थानीय चुनाव में इस कारण खड़ा नहीं होने दिया गया कि वे फौजी कानून में सज़ायाफ्ता थे !

अंग्रेज-अमरीकियों की विदेश-नीति का भारत के स्पष्ट विरुद्ध होना दिसम्बर १६५३ तक हठात् प्रकट हो जाने के बाद भी हमारा शासन उनके युद्धोद्योग में चुपके चुपके सहायता करता रहता है। दिसम्बर १६५४ में मुम्बई में एक चुंगी-निरीक्षक ने पूरबी से पच्छिमी एशिया को शस्त्र ले जाते दो अमरीकी जहाज रोक लिये; दिल्ली से विदेश-विभाग के एक बड़े अधिकारी को भेज कर उन्हें छुड़ा दिया गया ! नवम्बर १६५५ में कलकत्ते के बन्दरगाह से मलाया को युद्ध-सामग्री जाना जारी था।

अंग्रेज़ी जमाने के सेना-ढाँचे की तरह शासन का ढाँचा भी ज्यों का त्यों बना है। विदेशी शासन के लिए अपने देसी कर्मचारियों में जनता-पीडन देशद्रोह और स्वार्थ-साधन की भावनाएँ जगाना आवश्यक था। उन भावनाओं को जिन्होंने खुल कर दिखाया था ऐसे लोगों को जब देसी सरकार दण्ड न दे पाई और उलटा ऊँचे पद दिये, तब उन्होंने नई सरकार की कमज़ोरी और अपने पुराने अंग्रेज मालिकों की शक्ति का परोक्ष प्रभाव देख लिया और वे

और भी शोख और उद्दण्ड हो गये। एक तो उनके द्वारा अंग्रेज़ और उनके साथी जब चाहें हमारे शासन की रेढ़ मार सकते हैं। दूसरे, शासन में यों चापलूस ज़मानासाज़ तिकड़मी लोगों को बढ़ावा मिला और ईमानदार लोगों को दबना पड़ा, जिससे शासन की भ्रष्टता खुल कर बढ़ी। ऐसे कर्मचारियों का जनता के दुख-सुख के प्रति जड बने रहना स्वाभाविक है जिसके उदाहरण आये दिन मिलते हैं। ३ फरवरी १९५४ को प्रयाग में कुम्भ का स्नान था, जिसकी बहुत पहले से तैयारी थी और जिसके लिए ४० लाख यात्री आये। सरकार के बड़े अफसरों ने उस मेले की योजना बनाई। प्रयाग नगर में ही एक पुराने देशसेवक भी थे जिन्हें ऐसे मेलों में सेवा-संघटन का चालीस बरस का तजरबा था। उन्होंने अधिकारियों का ध्यान खींचा कि मेले के दिन एक ही वक्त जहाँ से अधिकतम भीड़ गुज़रेगी उस रास्ते को दुहरा न किया गया तो खतरा रहेगा, किन्तु उनकी सलाह किसी ने न सुनी। जैसे आज़ाद हिन्द फौज और अपने वैज्ञानिकों के तजरबे का नेताओं ने कोई मूल्य न माना था वैसे ही इनका भी नहीं माना। यात्रियों की भीड़ के लिए चलने की जगह का ठीक उपाय न हुआ, और मेले के दिन सवेरे जब कि देश भर के बड़े अधिकारी वहाँ उपस्थित थे, २००० स्त्री-पुरुष-बच्चे धक्के खा कर सड़क के किनारे एक गड्ढे में गिर कर कुचले और मारे गये! उनके शव भी गहनों के लिए लूटे जाते रहे! जुलाई १९५५ में गोरखपुर जिले में राप्ती नदी का मलोनी बाँध बाढ़ में टूटा। दो मास पहले से गाँव के मुखिया सरकार का ध्यान खींच रहे थे कि बाँध कमज़ोर है, बरसात में न टिकेगा, पर उनकी किसी ने न सुनी! ऐसे शासन और कर्मचारियों द्वारा अब समाजवाद स्थापित करने की आशा लगाई जा रही है!

शासन-ढाँचे को सुधारने का दूसरा उपाय है उस शिक्षा-पद्धति को सुधारना जिससे नये शासक तैयार होते हैं। २६ जनवरी १९३० को स्वाधीनता का प्रण लेते हुए लाखों भारतीयों ने महात्मा गान्धी के ये शब्द दोहराये थे कि "अंग्रेज़ी शिक्षापद्धति हमारी कृष्टि को दबाते हुए हमें अपनी परिस्थिति से उखाड़ने की कोशिश करती और अपनी जंजीरों से चिपटे रहना सिखाती

है" [१०,६ § ८]। किन्तु, जैसा कि राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद ने १६-११-५५ को कहा, "राष्ट्रीय क्षेत्र में अनेक वस्तुएँ ऐसी बदल गई हैं कि पहचानी नहीं जातीं, पर अंग्रेजों द्वारा सौ वर्ष पहले चलाई शिक्षा-पद्धति में कोई बुनियादी परिवर्त्तन नहीं हो पाया।"† उस पद्धति में परिवर्त्तन न होने से हमारे विद्यार्थियों का असन्तोष बीच बीच में उभड़ता रहा और तब शासकों ने अपने ही उन बच्चों को पुलिस की लाठियों गोलियों से दबाने का जतन किया। १९५३ से '५५ तक उत्तर प्रदेश के छात्रों में लगातार असन्तोष रहा। ३१-१०-५३ को लखनऊ के ५००० अनशनकारी छात्र जुलूस बना कर राज्य के मुख्य मन्त्री से मिलने को गये। मन्त्री उनसे न मिले, पर लौटते जुलूस को पुलिस ने घेरा और पीटा, कुछ छात्र मारे गये। तब सारी जनता उठ खड़ी हुई; शासकों ने उसे भी पुलिस के आतंक से दबाने का जतन किया। नवम्बर १९५३ में उत्तर प्रदेश के ५१ ज़िलों की प्रत्येक तहसील में उस आतंक के विरुद्ध प्रदर्शन हुए। कानपुर में छात्रों को बेतों की सजाएँ दी गईं। अन्त में छात्रों की कुछ माँगें मानी गईं, पर दो वर्ष बाद तक भी असन्तोष सुलगता रहा। अगस्त १९५५ में बिहार में वैसी ही दशा पैदा हुई। पटने में सात छात्र पुलिस की गोली से मारे गये, तब सारे राज्य में प्रदर्शन हुए, जनता पुलिस की वर्दी देखते ही भड़कने लगी, अन्त में पुलिस को कुछ दिन हटा लेने से शान्ति हुई। अंग्रेजी जमाने की शिक्षा-पद्धति और शासन-परम्परा जारी रहने से कितना असन्तोष है सो इससे प्रकट हुआ।

भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक वाङ्मय का विकास शिक्षा-पद्धति को सुधारने और जनता को जगाने का मुख्य उपाय है [९,११ § ५; १०,२ § ६; १०,६ § ११; १०,७ § १५; १०,९ § ११]। आर्थिक योजनाओं की सफलता भी अन्ततः इसपर निर्भर है कि जनता में विज्ञान कहाँ तक फैलता है। भारत के संविधान में हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का निश्चय होने के बाद तथा पाँच-बरसी योजना चलने पर भारत सरकार ने इस दिशा में कुछ प्रयत्न

† कोयम्बतूर का भाषण।

आरम्भ किया। वह विभिन्न विज्ञानों के लिए परिभाषाओं के कोश तैयार करा रही है, जिनकी सहायता से आगे चल कर विज्ञान-ग्रन्थों के अंग्रेज़ी से हिन्दी में अनुवाद किये जायेंगे। उसने भारतीय भाषाओं में साहित्य के प्रोत्साहन के लिए एक 'एकाडमी' (परिषद्) भी खोली है। भारतीय भाषाओं में मौलिक वैज्ञानिक वाङ्मय भी पैदा हो सकता है यह वह अब तक समझ नहीं पाई, और बालशास्त्री जांभेकर [१०,२ § ६] के काल से वैसे वाङ्मय के सृजन की जो परम्परा जारी है उसे अब तक देख नहीं पाई। इसीलिए उस परम्परा में जो लोग देश की सेवा कर रहे थे वे आज़ाद हिन्द फौजियों की तरह बेकार हैं। उनकी बजाय भारत-सरकार अप्रैल १६५५ में अमरीकी विज्ञों से हिन्दी पाठ्य-ग्रन्थ लिखाने के बारे में उपदेश ले रही थी!

राष्ट्रीय इतिहास की शिक्षा को सुधारना और उसके मौलिक अध्ययन का संघटन शिक्षा-सुधार तथा राष्ट्र के जागरण में विशेष सहायक होता। इसकी माँग १६२० से चली आती थी [१०,६ § ११]। गत दस बरसों में इस दिशा में हमारी सरकार का प्रयत्न शून्य है। पर दूसरे विश्व-युद्ध में भारतीय भाड़ैत सेना ने अंग्रेज़ी साम्राज्य की सेवा में क्या कुछ किया इसका इतिहास लिखवाने पर वह इस बीच २६ लाख रु० खर्च कर चुकी है।

सच्चे लोकतन्त्र में जनता की भाषा में शासन और शिक्षा होना आवश्यक है। भारत में वैसा तभी हो सकता था यदि प्रान्त या राज्य एक-भाषी होते। राष्ट्रीय आन्दोलन की यह माँग १६१० से थी [१०,८ § ६], पर कांग्रेस-नेता १६४७ से इससे टलने लगे। जनवरी १६४८ में कांग्रेस-कार्य-समिति ने निश्चय किया कि सारे भारत में ऊँची शिक्षा का माध्यम 'संघ-भाषा' होगी। भारत-संघ की भाषा वे हिन्दी को मानेंगे कि अंग्रेज़ी को यह तब तक स्पष्ट न हुआ था। इसपर महात्मा गान्धी ने कहा—"कांग्रेस ने २७ साल से यह तय कर लिया था कि देश में जितनी बड़ी बड़ी भाषाएँ हैं उतने प्रान्त होने चाहिएँ ... यह भी कहा था कि हकूमत हमारे हाथ में आते ही ऐसे प्रान्त बनाये जायेंगे। ... अगर भाषावार प्रान्त बन जाते हैं तो प्रान्तीय भाषाओं की भी तरक्की होती है। वहाँ के लोगों को हिन्दुस्तानी में तालीम

देना तो वाहियात है और अंग्रेज़ी में देना तो और भी वाहियात है।" †

गान्धी तो इसके पाँच दिन बाद मारे गये। तब सरकार ने एक आयोग बना कर उससे जनता को यह बतलाने का जतन किया और नेता स्वयं भी कहते रहे कि भाषावार प्रान्त बनें तो देश टुकड़े टुकड़े हो जायगा। तथ्य यह था कि भारत के पहले संविधान के अनुसार १९५० में जो २८ शासन-इकाइयाँ बनीं, भाषानुसार करने से वे १८ रह जातीं और प्रत्येक में भीतरी एकात्मकता होती। सो दक्खिन भारत में उत्कट आन्दोलन छिड़ा रहा। बँगला- और उड़िया-भाषी जो प्रदेश बिहार में टँके थे उनमें भी अपने भाषा क्षेत्रों से मिलने का आन्दोलन जारी रहा। तेलुगु या आन्ध्रभाषी प्रदेश की एक इकाई बनवाने के लिए गान्धी के साथी पोत्ति श्रीरामुलु ने अनशन आरम्भ किया। ५८ दिन के अनाहार के बाद १५-१२-१९५२ को उनके प्राण त्यागने पर जनता उभड़ पड़ी और करोड़ों की सम्पत्ति नष्ट हुई। उसके बाद १९५३ में आन्ध्र राज्य बनाया गया और अन्य राज्यों के बारे में विचार के लिए राज्य-पुनर्गठन-आयोग की नियुक्ति की गई। उसके सुझावों को बहुत कुछ मानते हुए १-११-१९५६ से नये राज्य बनाये गये, जिसमें दक्खिन भारत का नक्शा तो प्रायः पूरा भाषानुसार हो गया, पर मराठी और गुजराती क्षेत्रों को मिला कर द्विभाषी मुम्बई राज्य ही रक्खा गया।

§८. पाकिस्तान की पहली दशाब्दी—११ सितम्बर १९४८ को मुहम्मद अली जिना की मृत्यु हुई, तब अंग्रेज़ी सरकार ने पूर्वी बंगाल के ख्वाजा नाज़िमुद्दीन को पाकिस्तान का गवर्नर-जनरल बनाया। १९४७ में पूर्वी पंजाब और पड़ोस से जो लाखों गरीब मुस्लिम किसान और कारीगर पाकिस्तान धकेले गये थे, उनमें से तो अधिकांश आज दस बरस बाद भी बड़ी दुर्दशा में हैं, पर दिल्ली लखनऊ और बिहार प्रदेशों से जो ज़मींदार-अमला-वकील वर्ग के अथवा गुजरात से जो बड़े व्यापारी पाकिस्तान गये, उन्होंने वहाँ के शासन और व्यापार-व्यवसाय में ऊँचे पद पा लिये।

† मो० क० गान्धी (२५-१-१९४८)—प्रार्थना-प्रवचन, खंड २, पृ० ३३८।

पाकिस्तान के पहले प्रधानमन्त्री लियाकतअली खाँ मेरठ के ही थे। धीरे धीरे पूर्वी बंगाल और पच्छिमी पंजाब के स्थानीय लोग इन उर्दूभाषियों की प्रभुता से खीझने लगे। पाकिस्तान की सेना मुख्यतः पच्छिम-पंजाबियों की ही है; उन्होंने शासन अपने हाथ लेने का प्रयत्न किया। जुलाई १९५१ में रावलपिंडी और अन्य स्थानों में पाकिस्तानी सेना के लगभग १००० बड़े छोटे सेनाधिकारी और सैनिक एकाएक गिरफ्तार किये गये। पंजाब और पूर्वी बंगाल के कुछ समूहवादी भी पकड़े गये। उनके मुखियों पर पाकिस्तान के शासन को उलटने के षड्यन्त्र का मुकदमा हैदराबाद-सिन्ध में बन्द कचहरी में चला कर उन्हें सज़ाएँ दी गईं। उसके बाद पाकिस्तानी सेना को पुनःसंघटित करने के लिए अखंडित भारत का अन्तिम अंग्रेज़ प्रधान सेनापति औकिनलेक पाकिस्तान में बैठा रहा।

१६ अक्तूबर १९५१ को रावलपिंडी की एक सभा में भाषण करते हुए प्रधानमन्त्री लियाकतअली खाँ की हत्या की गई। तब ख्वाजा नाज़िमुद्दीन प्रधानमन्त्री बने और गवर्नर-जनरल का पद लाहौर के गुलाम मुहम्मद को मिला।

पूर्वी बंगाल में उर्दूभाषी बिहारी और ठेठ-हिन्दुस्तानी मुस्लिमों के प्रभुत्व के तईं असन्तोष ने बँगला भाषा आन्दोलन का रूप धारण किया। फरवरी १९५२ में वह लहर प्रबल हो उठी। उसे दबाते हुए अधिकारियों ने ढाके में ८ विद्यार्थियों को गोली से मारा, बहुतों को गिरफ्तार किया (२०, २१-२-५२)। तब वह लहर और उभड़ी और प्रान्त भर में फैल गई।

अंग्रेज़ों ने भारतवर्ष के क्षेत्र में अपना दखल बनाये रखने को पाकिस्तान की रचना की थी। पर १९४७ से १९५२ तक अंग्रेज़ी साम्राज्य के पैर एशिया और उत्तरी अफरीका से जिस तेजी से उखड़ते गये, उससे अंग्रेज़ों की यहाँ दखल देने की क्षमता टूटती गई, और इसी से १९५१-५२ में पाकिस्तान की जनता उठती दिखाई देने लगी। किन्तु तभी एक नई शक्ति ने इस 'शून्य' में प्रवेश किया।

१९५३ के आरम्भ से पच्छिमी पंजाब में उग्र धर्मान्धता की

लहर उठी। पंजाब के गुरदासपुर ज़िले में बटाला शहर के पास कादियाँ गाँव है। वहाँ के मिर्ज़ा गुलाम अहमद (१८३८–१६०८) ने इस्लाम की नई व्याख्या और नये रूप में प्रचार किया था। वे रूढिवाद के विरोधी थे और इस्लाम की जो स्थापनाएँ आधुनिक बुद्धिवादियों को युक्त नहीं लगतीं उनकी उदार आलंकारिक व्याख्या करते थे। मिर्ज़ा गुलाम अहमद ने अपने को मुसलमानों का महदी (नेता, पैगम्बर) बताया, उनके अनुयायी अहमदी या कादियानी कहलाये। पुराने मुसलमान उन्हें दगाबाज़ और काफ़िर कहते। फिर भी कादियानी इस्लाम के उत्कट प्रचारक रहे; साथ ही अंग्रेज़ी साम्राज्य के अत्यन्त खैरख़्वाह। सो इन कादियानियों के विरुद्ध अब एकाएक ज़ोर की लहर उठी जिसकी विशेष माँग यह थी कि पाकिस्तान के कादियानी विदेश-मंत्री ज़फरुल्ला को उस पद से हटाया जाय। इस बीच पंजाब में अन्न-कष्ट भी था। कादियानियों के जान-माल पर हमले होने लगे। इस दशा में मार्च १६५३ में लाहौर में फौजी कानून लगाया गया और पंजाब का मन्त्रिमंडल बदला गया। अप्रैल में गवर्नर-जनरल ने प्रधान मन्त्री नाज़िमुद्दीन को भी पदच्युत कर बगुड़ा (पूर्वी बंगाल) के मुहम्मदअली को, जो तब तक अमरीका में पाकिस्तान के दूत थे, वह पद दिया। नवम्बर १६५३ में लाहौर में उपद्रवों की जाँच करने वाले न्यायालय में यह प्रकट हुआ कि किस प्रकार दो केन्द्रीय मन्त्री कादियानी-विरोधी उपद्रवों को उभाड़ते रहे और उनके लिए अमरीकी पैसा मिलता रहा। सो ये उपद्रव और मुहम्मदअली की नियुक्ति पाकिस्तान में अमरीकी शक्ति के उदय की सूचक थी। हमने देखा है कि १६५२ में कोरिया में विफल होने के बाद से अमरीकी पाकिस्तान की ओर ध्यान देने लगे थे। सो अप्रैल १६५३ में उन्होंने अपनी पसन्द का प्रधानमन्त्री यहाँ खड़ा कर लिया जिसके द्वारा बाद में पाकिस्तान को अपने सामरिक गुट्टों में मिलाया। हम देख चुके हैं कि ईरान को भी वे १६५३ में ही अपनी लपेट में लाये और कश्मीर को भी उसी वर्ष हड़पना चाहते थे।

पाकिस्तान की संविधान-सभा इस बीच संविधान नहीं तैयार कर पाई थी। नवम्बर १६५३ में उसने निश्चय किया कि पाकिस्तान "इस्लामी गण-

राज्य" होगा।

८ से १४ मार्च १६५४ को बंगाल में निर्वाचन हुए। पूर्वी बंगाल के लोग मुस्लिम लीग के शासन से ऊब चुके थे। वहाँ उसके मुकाबले को दो नये पक्ष खड़े हुए थे, एक फजलुल-हक [१०, ६ § ६; १०, १० § १०] के नेतृत्व में कृषक-श्रमिक-समिति, दूसरा मौलाना अब्दुल हमीद भाशानी और हसन सुहरावर्दी [१०, १० § १८] के नेतृत्व में अवामी (= जनता की) मुस्लिम लीग। इन दोनों ने 'संयुक्त मोर्चा' बना लिया। इस मोर्चे की २१ माँगें थीं जिनमें से मुख्य थीं—बँगला को उर्दू के बराबर राजभाषा बनवाना, पूर्वी बंगाल के लिए पूरा स्वायत शासन, भारत जाने (अर्थात् पूर्वी से पच्छिमी बंगाल जाने) के लिए पासपोर्ट की पद्धति हटाना, जमींदारी को बिना मुआवज़ा दिये उठाना, अमरीकी सामरिक गुट्टों से निकलना, संयुक्त निर्वाचन पद्धति, संविधान-सभा को तोड़ कर वयःस्थ मताधिकार के आधार पर नई सभा चुनवाना, आदि। निर्वाचनों में जनता को अपना मत प्रकट करने का अवसर मिला तो वह अपने विदोहकों शोषकों के खिलाफ उभड़ पड़ी। पूर्वी बंगाल के कारखानों के मालिक बाहर के थे, स्थानीय मजदूरों की बड़ी दुर्दशा थी, उन्हें उर्दू-भाषी बिहारी मजदूरों चौकीदारों आदि द्वारा भी दबाया गया था। २४ मार्च को चटगाँव के कर्णफूली-कागज़-कारखाने में दंगा हुआ जिसमें उसके चार अधिकारी मारे गये। सुहरावर्दी इससे पहले कराची पहुँच चुके थे। विभाजन-काल में ये अपनी बड़ी सम्पत्ति की सँभाल के लिए कलकत्ते रहे थे; पीछे पाकिस्तान पहुँचने पर इन्हें कोई बड़ा पद न मिला था। अब अवामी मुस्लिम लीग द्वारा ये फिर आगे आये और संयुक्त मोर्चे की जीत हुई दिखाई देने पर केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल को भी बदलने की माँग की, पर प्रधान मन्त्री मुहम्मद-अली ने कहा कि वह परिवर्त्तन १६५५ में सारे पाकिस्तान में संसद् के चुनाव होने पर ही होगा। संयुक्त मोर्चे की माँग सामरिक गुट्टों को छोड़ने की भी थी, पर सुहरावर्दी उस बारे में कराची जा कर चुप रहे। २ अप्रैल को चुनाव के अन्तिम परिणाम निकले। ३०६ स्थानों में से २२४ संयुक्त मोर्चे को और केवल ६ मु० लीग को मिले। फजलुल-हक मुख्य मन्त्री

नियत हुए। उन्होंने यह भी कहा कि भारतवर्ष का विभाजन जिन्होंने कराया वे देश के शत्रु थे।

कराची के शासक और वहाँ का अमरीकी दूत पूर्वी बंगाल के इस मन्त्रिमण्डल को गिराने के उपाय सोचने लगे। १५ मई को नारायणगंज (जि० ढाका) की आदमजी जूट मिल में गैर-बंगाली मजदूरों ने, जिन्हें शस्त्र दिये गये थे, बंगाली मजदूरों से झगड़ा किया और एक घंटे में एक हज़ार से अधिक को काट गिराया! ढाके के मन्त्रिमण्डल ने अपराधियों को पकड़वाने का यत्न किया, पर केन्द्रीय सरकार उसपर उलटा बंगाली मजदूरों के नेताओं का दमन करने के लिए दबाव डालने लगी। केन्द्रीय सरकार के बुलाने पर हक २५ मई को कराची गये। ३० मई को वे लौट रहे थे कि गवर्नर-जनरल ने उनके मन्त्रिमण्डल को पदच्युत कर इस्कंदर मिर्ज़ा को पूर्वी बंगाल का गवर्नर बना भेजा। प्रधानमन्त्री ने हक को पाकिस्तान का देशद्रोही कहा। गवर्नर-जनरल ने हक को पदच्युत करने से पहले सुहरावर्दी से भी परामर्श कर लिया था। इस्कंदर मिर्ज़ा तब तक पाकिस्तान के रक्षामन्त्री थे और अमरीका और तुर्की के साथ सामरिक संधियाँ इन्हीं ने की थीं। मिर्ज़ा ने हक और उनके कई साथी मन्त्रियों को कैद किया और दो मास तक घोर दमन जारी रक्खा।

सितम्बर १९५४ से इस दमन के विरुद्ध पुकार उठने लगी। संविधान-सभा ने गवर्नर-जनरल से प्रान्तीय मन्त्रिमण्डलों की पदच्युति का अधिकार छीन लिया। २३ अक्तूबर को प्रधानमन्त्री मुहम्मदअली को अपनी अमरीका-यात्रा अधूरी छोड़ कराची लौटना पड़ा। उसके अगले दिन गवर्नर-जनरल ने आपातिक दशा की घोषणा कर संविधान-सभा को भी तोड़ दिया, और नया मन्त्रिमंडल बनाया जिसमें इस्कंदर मिर्ज़ा को बंगाल से बुला कर गृहमन्त्री रक्खा और सीमाप्रान्त के डा० खानसाहब को भी लिया। मिर्ज़ा ने कहा—"अब देश में कोई गड़बड़ न होगी, हुई तो मैं दबा दूँगा ··· अनेक पिछड़े देश लोकतन्त्र के लिए तैयार नहीं हैं ··· पाकिस्तान में कुछ काल के लिए नियन्त्रित लोकतन्त्र रहना चाहिए ··· यदि जनता बुरी सरकार चुनती है तो उसे अपने को नष्ट करने से रोकने वाला कोई होना चाहिए।" अर्थात् अब पिछड़े पाकिस्तान में

अमरीकी-नियन्त्रित शासन चलने को था। दिसम्बर में ह० सुहरावर्दी को भी मन्त्रिमण्डल में लिया गया। यों बंगाल में अपने साथी संयुक्त मोर्चे वालों का दमन जारी रहते सुहरावर्दी ने केन्द्रीय सरकार से हाथ मिला लिया।

नवम्बर १९५४ में केन्द्रीय सरकार ने घोषणा की कि पच्छिमी पाकिस्तान की एक इकाई बनाई जायगी। बहावलपुर रियासत की विधान-सभा इसके पक्ष में न थी इसलिए उसे विसर्जित किया गया। सिन्ध का मन्त्रिमण्डल भी इसी कारण पदच्युत किया गया। बाद में पंजाब और सीमाप्रान्त के मन्त्रिमण्डल भी एक इकाई के विरोध के कारण बदले गये। २७-२८ मार्च १९५५ को गवर्नर-जनरल ने अध्यादेश निकाल कर पच्छिमी पाकिस्तान को एक इकाई बनाने के लिए सब शक्तियाँ अपने हाथ में ले लीं। काबुल और जलालाबाद में पख्तूनों ने इसके प्रतिवाद में पाकिस्तानी झंडे जलाये। जनता का मत लिये बिना एक इकाई बनाने का अब्दुलगफ्फारखाँ विरोध करते रहे, पर उनके भाई डा० खानसाहब इसके पक्ष में रहे।

संविधान-सभा के विसर्जन के बारे में न्यायालयों में विवाद चलता रहा। अन्त में अप्रैल '५५ में न्यायालय ने फैसला किया कि गवर्नर-जनरल का विसर्जन का आदेश तो वैध था, पर कोई न कोई संविधान-सभा रखनी होगी। तब ग० ज० ने फिर आदेश निकाला कि प्रान्तीय विधान-सभाओं द्वारा चुने हुए ८० सदस्यों की संविधान-सभा होगी। यों बंगाल की जनता द्वारा चुनी वह विधान-सभा जिसे एक साल पहले दबा दिया गया था, संविधान-सभा के लिए अपने प्रतिनिधि चुनने को जब पुनर्जीवित की गई, तब प्रान्त का शासन भी उसके नेताओं के हाथ वापिस दिया गया (६-६-५५)। संयुक्त मोर्चे से अवामी लीग अलग हो ही चुकी थी। फजलुल-हक के सुझाव पर अबू हसन सरकार, जो सदा मुस्लिम लीग और भारत-विभाजन के विरोधी तथा राष्ट्रवादी रहे थे, मुख्य मन्त्री नियत हुए। प्रधानमन्त्री मुहम्मदअली को अपने को भी संविधान-सभा के लिए चुनवाना था, इसलिए उन्होंने हक से समझौता कर लिया।

पूर्वी बंगाल के अनुशीलन समिति वाले देशभक्त [१०,८ §§ ४, ६, ७,

१२; १०, ९ § ६; १०, १० § ६] भारत-विभाजन के बाद भी अधिकतर अपने स्थानों पर डटे कठिनाइयों और दमन का सामना करते रहे थे। यह बहुत कुछ उनकी प्रेरणा और बलिदान का प्रभाव था जो पूर्वी बंगाल की जनता ने मुस्लिम लीग को उखाड़ फेंका था। ३१ मई १९५४ से जारी हुआ दमन भी उन्होंने बहादुरी से झेला। उनमें से एक प्रसिद्ध नेता सतीन सेन को प्रान्त को स्वशासन वापिस मिलने से कुछ ही सप्ताह पहले (२५–३–५५) ढाका जेल से मौतखलास† किया गया था।

२३–६–५५ को नई संविधान-सभा के चुनाव हुए। मुस्लिम लीग के ३६, अवामी मु० लीग के १३ और संयुक्त मोर्चे के २५ प्रतिनिधि चुन कर आये, बाकी सदस्य सरहदी इलाकों से चुने जाने को थे।

केन्द्रीय सरकार बनाने के लिए तीनों पक्षों में मोलभाव आरम्भ हुआ। अन्त में मुस्लिम लीग ने संयुक्त मोर्चे के साथ मिल सरकार बनाई। पर संविधान-सभा के मुस्लिम लीगी पक्ष में मुहम्मद अली एकमात्र बंगाली थे; उस पक्ष ने उनके बजाय चौधरी मुहम्मदअली जलंधरी को अपना मुखिया चुना (७–८–५५)। यों बगुड़ा के मुहम्मदअली जो अमरीकियों द्वारा पाकिस्तान रंग-मंच के प्रधान पात्र बनाये जा कर सवा बारह मास अपने प्रदेश की जनता का घोर दमन करते रहे, २८ मास बाद जनता का सहारा न पाने से उस रंग-मंच से विदा हुए, और चौ० मुहम्मदअली जलंधरी प्रधानमन्त्री बने। फजलुल-हक गृहमन्त्री हुए। पूर्वी बंगाल के दो हिन्दू भी मन्त्रिमण्डल में लिये गये। इस बीच गवर्नर-जनरल गुलाम मुहम्मद के बीमार रहने से इस्कन्दर मिर्ज़ा स्थानापन्न ग० ज० नियुक्त हुए थे (५–८–५५)। मिर्ज़ा ने चाहा था तीनों पक्षों की सम्मिलित सरकार बने, पर अवामी मुस्लिम लीग अलग रही। सुहरावर्दी अब कानून-मन्त्री रहने के बजाय संविधान-सभा में विरोधी पक्ष के नेता हुए। २१–९–५५ को गुलाम-मुहम्मद के इस्तीफा देने पर मिर्ज़ा स्थायी गवर्नर-जनरल बने।

---

† जेल से ऐसी हालत कर के छोड़ने को कि बाहर आते ही मृत्यु हो जाय, बंगाली क्रान्तिकारी मौतखलास करना कहते रहे हैं।

पाकिस्तान के सामने अब सबसे पहला कार्य संविधान बनाने का था। उसके बारे में मुख्य प्रश्न ये थे कि (१) पूर्वी बंगाल को कितनी स्वायत्तता मिले और बँगला भाषा का क्या पद हो ? (२) राज्य में हिन्दू मुस्लिम प्रजा की स्थिति समान हो या नहीं, निर्वाचन साम्प्रदायिक हों कि संयुक्त ? (३) पच्छिमी पाकिस्तान एक इकाई हो या नहीं ? इसके अतिरिक्त सामरिक गुट्टों में सम्मिलित होने न होने की समस्या भी थी। फजलुलहक के पक्ष ने मुस्लिम लीग को सहयोग दिया तो बंगाल की स्वायत्तता और बँगला के राजभाषा होने की बात काफी मनवा कर ही, किन्तु अन्य बातों में वे स्वयं झुकते गये। लोकतन्त्रवादी आशा करते थे कि बँगला की तरह वे पंजाबी पश्तो और सिन्धी को भी शासन और शिक्षा में उचित पद दिलायेंगे, जो कि भाषावार प्रान्त होने से ही हो सकता था, एक इकाई से नहीं। वह आशा उन्होंने पूरी न की। दूसरी तरफ सुहरावर्दी जिन्होंने कानून-मन्त्री रहते हुए एक-इकाई विधान का मसविदा बनाया था, अब उसका ढीला-ढाला विरोध करने लगे !

२३-६-५५ को पाकिस्तान बगदाद ठहराव में सम्मिलित हो गया [ऊपर § ३ (औ)], जिसका यह अर्थ हुआ कि संयुक्त मोर्चा पक्ष मुस्लिम लीग की विदेश-नीति को भी न बदल सका। फिर ३०-६-५५ को संविधान-सभा ने पच्छिम-पाकिस्तान-एक-इकाई विधान पारित कर दिया। १४ अक्टूबर को वह एक इकाई बन गई, लाहौर उसका मुख्य स्थान रक्खा गया, डा० खानसाहब मुख्य मन्त्री हुए। दूसरी ओर, ढाके में अवामी मुस्लिम लीग के सम्मेलन में यह निश्चय हुआ कि उसका नाम केवल अवामी लीग किया जाय, उसे हिन्दुओं के लिए भी खोल दिया जाय। इस अंश में उसने लोकतन्त्री रुख दिखाया।

पच्छिम-पाकिस्तान की नई विधान-सभा के लिए ज़िला-बोर्डों आदि से प्रतिनिधि चुने जाना तय हुआ। मु० लीग की अब ऐसी दशा हो चुकी थी कि यदि वह कोई उम्मीदवार खड़े करती तो उनके मुकाबले में उसी के अनेक सदस्य लीग से इस्तीफे दे स्वतन्त्र रूप से खड़े हो जाते। इस दशा में उसने कोई उम्मीदवार खड़े न किये; जो खड़े हुए स्वतन्त्र रूप से। जनवरी

१९५६ में वे चुनाव हुए।

८-१-५६ को पाकिस्तान के संविधान का मसविदा प्रकाशित हुआ। उसके अनुसार पाकिस्तान ब्रितानवी राष्ट्रपरिवार के भीतर "इस्लामी गण-राज्य" होने को था; उसका राष्ट्रपति मुसलमान ही होगा; केन्द्रीय संसद् का एक ही सदन होगा, जिसमें पूर्व पश्चिम के आधे आधे सदस्य होंगे; मंत्रिमंडल संसद् के तईं उत्तरदायी होगा ; उर्दू और बँगला राजभाषाएँ होंगी जो बीस बरस बाद अंग्रेजी का स्थान लेंगी। निर्वाचन-पद्धति का निश्चय करना संसद् के हाथ छोड़ा गया। बंगाल अवामी लीग ने और संयुक्त मोर्चा पक्ष ने भी इस संविधान-मसविदे का प्रतिवाद किया। उनकी दृष्टि में राष्ट्रपति और गवर्नरों को बहुत अधिकार दिये गये थे, प्रान्तों को स्वायत्तता नहीं मिली थी। पर २९–२–५६ को संविधान वैसा ही पारित हो गया। २३-३-५६ को पाकिस्तान इस्लामी गणराज्य बना और संविधान सभा ने इस्कन्दर मिर्ज़ा को, जो मुर्शिदाबाद के नवाबों [९, ८ §§ १, ११; ९, ९ § २] के वंशज हैं, राष्ट्रपति चुना। नये संविधान के अनुसार पहले चुनाव होने तक संविधान-सभा ही संसद् बन गई। फज़लुल-हक पूर्वी बंगाल के गवर्नर नियुक्त हुए।

अबू हसन सरकार ने अपने शासन में जनता का हित करने का भरसक जतन किया, पर उनके पक्ष ने केन्द्रीय शासन और संविधान-सभा में जो जनता की आशाएँ पूरी नहीं कीं उससे बंगाल में भी उनका मन्त्रिमण्डल डावाँडोल होने लगा। पाकिस्तान के इस्लामी गणराज्य बनने और उसका राष्ट्रपति मुस्लिम ही होने के निश्चय से पूर्व बंगाल के हिन्दुओं की हैसियत नीची हो गई और उन्हें सुरक्षा का भरोसा न मिला। उन्होंने और कई छोटे प्रगतिशील पक्षों ने संयुक्त मोर्चे का साथ छोड़ दिया। ६-९-५६ को ढाके में संयुक्त मोर्चे की बजाय अवामी लीग की सरकार बनी।

अप्रैल-मई '५६ में पच्छिम-पाकिस्तान में डा० खानसाहब ने 'रिप-ब्लिकन पार्टी' (गणराज्य पक्ष) खड़ी की। बहुत से मुस्लिम लीगी उसमें जा मिले। विधान-सभा में मुस्लिम लीग के बजाय रिपब्लिकन पक्ष का बहुमत हो गया। पाकिस्तान संसद् के अधिकांश मुस्लिम लीगी सदस्य और अन्त में चौ०

मुहम्मद अली के सब साथी मु० लीगी मन्त्री भी रिपब्लिकन पक्ष में चले गये। रिपब्लिकन पक्ष पुराने प्रधानमन्त्री को बनाये रखने को तैयार था, पर उस दशा में चौ० मुहम्मदअली ने स्वयं इस्तीफा दे दिया (६-६-१९५६)। तब रिपब्लिकन पक्ष और अवामी लीग के सहयोग से हसन सुहरावर्दी के प्रधान-मन्त्रित्व में नई सरकार बनी।

नये संविधान के अनुसार पहले चुनाव करना पाकिस्तान के सामने अब प्रमुख कार्य हुआ। इसलिए सुहरावर्दी ने अक्तू० '५६ में ही निर्वाचन-पद्धति कानून पारित कराया। रिपब्लिकन पक्ष, जिसमें प्रायः पुराने मु० लीगी ही हैं, साम्प्रदायिक निर्वाचन ही चाहता था। सो यह निश्चय हुआ कि पूर्वी पाकिस्तान में संयुक्त पद्धति से और पच्छिमी में सम्प्रदायवार चुनाव हों। पीछे सुहरावर्दी ने रिपब्लिकन पक्ष को मना लिया कि समूचे पाकिस्तान के लिए संयुक्त निर्वाचन पद्धति हो, और संसद् ने वैसा निश्चय कर दिया (अगस्त '५७)।

किन्तु प्रधानमन्त्री बनने के बाद सुहरावर्दी विदेश-नीति के बारे में अपनी अवामी लीग के पहले निश्चयों से ठीक उलटे रास्ते पर चले। उन्होंने मिस्र पर अंग्रेजों की चढ़ाई के वक्त और उसके बाद बढ़ बढ़ कर अंग्रेज़-अमरीकियों की ऐसी खुशामद की जिससे आत्माभिमानी पाकिस्तानियों का सिर नीचा होने लगा। तब पूर्वी अवामी लीग के अध्यक्ष मौ० भाशानी और उनके बहुसंख्यक साथी अवामी लीग से अलग हो गये। २७-५-१९५७ को पूर्वी पच्छिमी पाकिस्तान के सभी जनता-हितैषियों—खान अब्दुल गफ्फार खाँ, मौ० भाशानी आदि—ने मिल कर कौमी अवामी पार्टी (राष्ट्रीय जनता पक्ष) की स्थापना की। विदेशी सामरिक गुट्टों और भीतरी शोषकों से जनता को मुक्त कराना, पच्छिमी पाकिस्तान में भी भाषावार प्रान्त बनवाना आदि इस पक्ष के ध्येय हैं। सुहरावर्दी ने १९४६ में संयुक्त बंगाल में अमलों और गुंडों के सहयोग से जनता को कुचलने की जो पद्धति बर्ती थी [१०, १० : १८], उसी पद्धति से उन्होंने इस नये उठते पक्ष को भी कुचलने का यत्न किया।

इस बीच पच्छिम पाकिस्तान की विधान-सभा में मुस्लिम लीग और रिपब्लिकन पक्षों के बीच एक दूसरे के सदस्यों को फोड़ कर या अन्य छोटे

पक्षों को साथ ले कर अपना पक्ष बढ़ाने की रस्साकशी जारी थी और उसमें ऐसी स्थिति आ गई कि कौमी अवामी पार्टी के दस सदस्य जिस पक्ष का साथ दें उसकी जीत हो। इस दशा में सितम्बर १६५७ में रिपब्लिकन पक्ष ने प्रधानमन्त्री सुहरावर्दी की अनुमति से कौमी अवामी पक्ष का सहयोग यह वचन दे कर पाया कि हम पच्छिम पाकिस्तान की एक इकाई तोड़ कर भाषा-वार प्रान्त बनाने का विधान विधानसभा और राष्ट्रीय संसद् में लायेंगे। किन्तु इसके बाद सुहरावर्दी ने अपने सहयोगी रिपब्लिकन पक्ष के इस कार्य के विरुद्ध खुला प्रचार शुरू कर दिया, जिससे रिपब्लिकनों ने राष्ट्रीय संसद् में उनका साथ छोड़ना तय किया। राष्ट्रपति मिर्जा ने यह देखते हुए कि संसद् में सुहरावर्दी का बहुपक्ष नहीं रहेगा, उनसे इस्तीफा दिलाया (११-१०-१६५७) और ऐसा प्रयत्न किया कि सब मुख्य पक्षों की सम्मिलित सरकार बन जाय। एक सप्ताह बाद रिपब्लिकन पक्ष मुस्लिम लीग और कृषक-श्रमिक पक्ष के सहयोग से सरकार बनी जिसमें प्रधानमन्त्री का पद मुस्लिम लीग के इस्माइल चुन्दरीगर को, जो जन्म से गुजराती हैं, दिया गया। मुस्लिम लीग का सहयोग पाने के लिए रिपब्लिकन नेताओं ने यह मान लिया कि संयुक्त निर्वाचन पद्धति हटाने को शीघ्र नया विधान बनाया जाय तथा पच्छिम पाकिस्तान के भाषावार प्रान्त बनाने का प्रस्ताव नये संविधान के अनुसार समूचे पाकिस्तान में पहले निर्वाचन नवम्बर १६५८ में हो जाने तक टाल रक्खा जाय! इस समझौते से रिपब्लिकन पक्ष के अधिकतर सदस्य असन्तुष्ट हैं, इसलिए नये मन्त्रिमण्डल की स्थिति भी अभी डगमग है।† *

† यह परिच्छेद सितम्बर १६५७ में लिखा गया तब सुहरावर्दी नई उठती कौमी अवामी पार्टी को कुचलने का यत्न कर रहे हैं यहाँ कहानी समाप्त की गई थी। किन्तु इसके छपते छपते कहानी आगे बढ़ कर ऐसी मंजिल पर जा पहुँची जहाँ उसका स्वरूप स्पष्टतर दिखाई देने लगा, इसलिए उसे भी कह दिया गया है।

* छपते छपते खबर आई है कि संयुक्त निर्वाचन पद्धति हटाने के प्रस्ताव पर रिपब्लिकन पक्ष का सहयोग न मिलने से चुन्दरीगर मंत्रिमंडल को ११-१२-५७ को इस्तीफा देना पड़ा। —प्रकाशक

पाकिस्तान के दो पहलू एक दूसरे से इतने दूर और विभिन्न हैं कि दोनों में एक सा लोकमत खड़ा होना बहुत कठिन है। पाकिस्तान सर्वथा अस्वाभाविक रचना है। पंजाब और बंगाल के मैदान जो उसे बनाने के लिए अनहोनी हिंसा से तोड़े गये, भूमि जनता भाषा इतिहास और आर्थिक जीवन को देखते हुए स्वाभाविक इकाइयाँ थे। खण्डित बंगाल से बने पाकिस्तान के एक पहलू और खण्डित पंजाब के साथ बने हुए दूसरे पहलू में हज़ार मील का अन्तर है। उन दोनों पहलुओं की जनता में यदि कोई एकता है और उनका यदि कोई साझा इतिहास है तो भारतवर्ष के अंश रूप में ही, उनपर जो साझी भाषा उर्दू लादी जा रही है वह उनमें से किसी की नहीं प्रत्युत ठेठ हिन्दुस्तान की भाषा है। ऐसी दशा में पाकिस्तान में समान राष्ट्रीयता की कोई बुनियाद नहीं जिसपर कि उसका सार्वजनिक जीवन खड़ा हो सके। हमने देखा है कि अंग्रेज़ साम्राज्यलिप्सुओं ने यह अस्वाभाविक रचना इस सारे देश की प्रगति में लगातार रुकावट डालते रहने के लिए ही खड़ी की थी और उनका वह प्रयोजन इसके द्वारा बखूबी सिद्ध हो रहा है। समूचे भारतवर्ष की जनता को अपनी सेना शस्त्रास्त्र और विदेशों में रक्खे जाने वाले दूतावासों का जितना बोझा उठाना पड़ता, अब उससे दूना बोझ उठाना पड़ रहा है। फिर दोनों में झगड़ा बनाये रख कर साम्राज्यलिप्सु दोनों के सामरिक खर्चे को और बढ़ाते चलते हैं। इससे यदि पाकिस्तान में टिकाऊ शासन खड़ा न हो पाय और वहाँ की जनता भारत की जनता से भी अधिक दुर्दशा में रहे तो इससे साम्राज्यलिप्सुओं का क्या आता जाता है?

जिस ज़मींदार-अमला-वकील वर्ग द्वारा अंग्रेज़ों ने पाकिस्तान की रचना की थी, पिछले दस साल उसी का वहाँ बोलबाला रहा और उसने मुस्लिम जनता को खूब चूसा है। सिन्ध में ज़मींदारों ने पुश्तैनी किसानों को ज़मीनों से भरसक उखाड़ा है; वहाँ नहरों वाली नई ज़मीनें भूतपूर्व पंजाबी सैनिकों के लिए रक्षित की गई हैं। कपड़ा-मिलमालिकों ने १९५२ से '५५ तक तीन साल में अपनी पूँजी के बराबर आय कर ली। "विधान-सभाओं में ऐसी बातें खुलती रही हैं कि किस प्रकार सिन्ध के एक नेता ने २००० एकड़ सरकारी

ज़मीन अपने लिए ले ली, ५० पाकिस्तान विधान-सभा के १३ सदस्यों ने बसों ट्रकों के २०० रास्ते आपस में बाँट लिये, एक चोटी के राजकर्मचारी ने १० हज़ार एकड़ सरकारी ज़मीन स्वयं खरीद ली।" भारत में भी इस दशाब्दी में ऐसी बातें हुई हैं, पर पाकिस्तान में अधिक खुल कर ढिठाई के साथ हुई हैं। भारतवर्ष के सबसे अच्छे गेहूँ और चावल उपजाने वाले इलाके पाकिस्तान में गये, फिर भी वहाँ अन्न काफी नहीं होता, क्योंकि किसानों की दुर्दशा है। मालगुजारी का ६०% सेना और युद्ध-सामान पर खर्च हो रहा है; अमरीकी सहायता में मिली युद्धसामग्री अलग। यों पाकिस्तान की अर्थनीति विदेशियों की गाड़ी में जुत कर अपनी जनता को कुचल रही है। पर सेना का प्रबन्ध वहाँ बढ़िया है। पच्छिमी पंजाब के सैनिक और विमान-चालक संसार के श्रेष्ठ सैनिकों और वैमानिकों में से हैं। विदेशी उन्हें भाड़ैत बना कर उनसे अपना अभीष्ट सिद्ध करा रहे हैं। जब तक वहाँ की जनता उठ कर अपने देश की शक्ति को अपने हित में नहीं लगाती, तब तक स्वयं उसके लिए और उसके पड़ोसियों के लिए भी खतरा बना है।

§९. **उपसंहार**—अत्यन्त निकट अतीत की घटनाओं की परम्परा और प्रभाव हमारे वर्त्तमान जीवन में अधिक प्रकट रूप से जारी है, इसलिए उनकी कुछ अधिक विस्तार से विवेचना की गई है। हम अपनी वर्त्तमान दशा को अपने अतीत की परम्परा में देखते हुए ही ठीक समझ सकते हैं। और अपनी दशा को सुधारने के लिए पहले उसे ठीक ठीक समझना आवश्यक है। यह "भारतीय इतिहास का उन्मीलन" आशा है पाठकों के लिए अपने देश का स्वरूप समझने में सहायक होगा और आगे के मार्ग को आलोकित करेगा।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. एक दर्जन कागज जोड़ कर ४८"×५०" आकार का बड़ा कागज बना लीजिए। उस पर दो दो इंच दूरी पर खड़ी और एक एक इंच दूरी पर पड़ी लकीरें खींच कर ४२ पड़े और २२ खड़े खाने बना लीजिए। बायें किनारे पर पड़े खानों में १९४७ से '५७ तक प्रत्येक वर्ष की एक एक तिमाही का नाम क्रमशः ऊपर से

नीचे भर लीजिए। सबसे उपरली पड़ी रेखा के ऊपर खड़े खानों में बाएँ से दाहिने इस अध्याय के एक एक परिच्छेद का, और जहाँ परिच्छेदों के खंड हैं वहाँ एक एक खंड का, शीर्षक भर लीजिए। अब इस अध्याय को फिर पढ़ते हुए प्रत्येक घटना को जिस तिमाही में वह हुई उसमें अनुरूप शीर्षक के नीचे लिखते जाइए।

२. उक्त खाके को देख कर

(क) विचार कीजिए कि घटनाओं का प्रभाव एक दूसरी पर कैसे हुआ।

(ख) एक एक वर्ष का संक्षिप्त घटना-विवरण लिखिए।

३. इस कागज़ के नीचे और कागज़ जोड़ कर और पड़े खाने बना लीजिए। दाहिनी तरफ कुछ खड़े खाने भी बढ़ा लीजिए। सितम्बर १९५७ के बाद की घटनाओं को अखबारों से पढ़ते हुए इसी प्रकार दर्ज करना जारी रखिये। जिन नई घटनाओं को आप २१ खड़े खानों के शीर्षकों में से किसी के नीचे न रख सकें उनके लिए दाहिनी ओर नये शीर्षक बना लीजिए।

इस ग्रन्थ के पहले संस्करण पर

प्रामाणिक सम्मतियाँ

[इस ग्रंथ का पहला संस्करण १६३८–४० में दो भागों में **इतिहास-प्रवेश** अथवा **भारतीय इतिहास का दिग्दर्शन** नाम से प्रकाशित हुआ था। उसपर कुछ प्रामाणिक विद्वानों की सम्मतियाँ यहाँ दी जाती हैं।]

राष्ट्रपति डा० **राजेन्द्रप्रसाद**— ...अपने ढंग की नई पुस्तक... इस प्रकार के इतिहास की जरूरत थी।

स्व० महामहोपाध्याय डा० **गौरीशंकर हीराचन्द ओझा**— ...अपने देश के इतिहास की यह सुशृंखलित क्रमबद्ध कहानी इतनी रोचक बनी है कि फिर फिर पढ़ने को जी चाहता है।

Sri *K. M. Munshi*— ... will supply the need for a national history.

Dr. *Sampurnanand,* Chief Minister U. P.—An excellent book ... as may be expected from the author of such distinction. The maps and illustrations add considerably to its value.

The late *Dr. Benoy Kumar Sarkar,* leading Indian sociologist of his day—The style is wonderfully lucid. And undoubtedly most readers will feel that your treatment of history introduces them to men and women of flesh and blood. The importance you have attached to the economic, social and cultural topics deserves the widest recognition ...

Prof. *K. A. Nilakantha Sastri,* leading historian of South India (who learnt Hindi for reading this book)—

"I am now in a position to tell you that I have read every line of all the books including the ITIHAS PRAVESHA you were good enough to send me some time ago. If you will allow me to say so I have been struck by the wide range and the great precision of your learning. I find myself in perfect agreement with most of your criticisms of the way in which history has been written and the suggestions for the way in which it ought to be written. I appreciated particularly your emphasis on the expansion and spread of Indian culture, and on the various points of contact between Hinduism and Islam in the course of their eventful history. Your books and addresses are the first in any Indian language that I have read which carry conviction to me that it is both possible and necessary to tell our history to our people from their standpoint in our own language. I have been trying to do off and on just a little in this direction and you have shown to me how very much more important this work is than I was apt to belive....

Itihas Pravesha ... I have no hesitation in saying that it is the best book on Indian history of that size I have so far come across in any language. The book is written from a standpoint which is patriotic without being chauvinistic. In the amount of attention it gives to historical geography and in the sense of proportion that dominates the whole book as well as in the choice of topics and the order in which they are treated we see

clearly the amount of careful and patient thought that the author has bestowed on the book. The work deserves to be traslated into every Indian langage and I hope will be widely used in our schools and colleges.

Dr. Suniti Kumar Chatterji, foremost Indian linguist and culture-critic, Emertius Professor of Indian Linguistict, Calcutta University, and Chairman, Bengal Legislative Council, in reviewing the book in the *Calcutta Review* for February 1941, wrote thus:—This is a remarkably well-planned and well-written dook on Indian history, and from almost all points I consider it to be the most up-to-date, most comprehensive and most satisfactory work of its type on the subject I have ever read. Conceived in a thoroughly scientific spirit and executed with a thoroughness and conscientiousness that would do honour to the erudition and industry of any scholar anywhere in the world, this book gives an admirable survey...of the history and culture of the Indian people which will be read with profit and pleasure by both the specialist and the general reader. Mr. Jayachandra Vidyalankar, apart from his own papers and books on various aspects of Indian history and culture, in which he has established his place in the front rank of investigators in Indology....Mr. Vidyalankar has shown in the present work that he has control of minutiae of detail with a vastness of outlook : he possesses a wide vision as well as a keen insight which does not lose the forest in the trees and does not neglect the

apparently trivial and unimportant things. Like a true scientist, he both analyses and forms a synthesis—he knows how to break as well as to build...

The author is not, however, a dry-as-dust analyst or reviewer, with his scientific attitude as his only redeeming feature : he has infused in his creation the warmth of his presonal sympathy as an Indian who loves his land and his people with both their greatness and weakness. He is not of that ilk who cannot start the work of analysis and investigation unless it is on a corpse —unless they have the lifeless specimen pinned on the dissection table. Under his clear-viewed analysis or his masterly diagnosis or dissection, the subject contiues to be living... It is, in fact, a scientific history of India written from the point of view of India and Indians only (and, it may be added, from the point of view of its connexions with or bearings on humanity as a whole), and not for the glorification of this or that group or party, of the "Aryan" or the "Moslem" or of the white man with his self-imposed "burden"... And it is a history not for Indians only but for the whole world to read. ... Professedly, it is a hitstory written from the "Indian point of view," Mr. Vidyalankar and other Indian workers in the field, as well as the Indian lay public, are fed up with the imperialistic standpoint. What this "Indian point of view" realy is, has been discussed by scholars like Rai Bahadur Hiralal...and no one in any other country with

the purest scientific biaslessness can take exception to it. Mr. Vidyalankar's book is also conceived and executed in that Indian point of view : science and truth first and last, and subservience to ideas of group-superiority or of exaltation of groups nowhere; in fact, a statement and an appraisement of all the good and the bad that go to make up Indian history and Indian culture.

Mr. Vidyalankar rightly takes the history of India as an uninterrupted process from pre-historic times to our days and he does not divide the history of India into three water-tight compartments labelled "Hindu", "Mohammadan" and "British" ...

... one feels a rare pleasure at the author's wide range of infomation, his skill in marshalling facts and his all-embracing catholicity, with its under-current of a great and a deep human sympathy (and not a superficial nationalistic bias) for the people the story of whose deeds and achievements he unfolds ... Ample justice has been done to the cultural history of India in chapters giving survey of the cultural forces at work in each period. And it is gratifying to note that the question of Greater India—India's cultural and colonial expansion—has not been neglected either, as it is an integral part of India's history.

The story is brought down to the year of its publication, and in recent events when political, racial and communal strifes, wrangles and complications are bringing

about the greatest amount of confusion among a population covering a fifth of the human race, Mr. Vidyalankar has succeeded in giving a detailed and dispassionate survey.

A word of special praise is due to the careful selection of the illustrations which embrace racial types, views of architectural remains, coins and inscriptions and plans. They give an illustrated commentary on the whole story, unfolding in pictures the history of a great country and its great civilization...

I think scholars will have to admit that Mr. Vidyalankar has remarkably well acquitted himself. He has written his book in Hindi, the true national language of India, her representative modern speech...it is not yet a...cultural language or a language of science ... Works like the present one are really helping to establish Hindi as a speech of science and culture. His Hindi is one of the best I have read in a modern writer—he writes beautiful Hindi prose—terse, vigorous, to the point, and withal picturesque. A book like this should have wide publicity not only in the whole of India but also in the world at large...

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल—आपके ऐतिहासिक युग-विभाग के मर्म पर विचार करने के बाद मेरी यह सम्मति है कि अपने देश की पाठ्यपुस्तकों में यदि इस प्रकार के वैज्ञानिक और सत्य से भरे हुए कालविभाग का आश्रय लिया जाय तो जहाँ एक ओर छात्रों में अपनी सूझ से देखने की क्षमता उत्पन्न होगी, वहाँ दूसरी ओर फिरकेबन्दी का नाश हो कर शुद्ध राष्ट्रीय वा भारतीय पद्धति से इतिहास का अनुशीलन जारी हो जावेगा।